पं. श्रीराम शर्मा आचार्य वाङ्मय

समस्त विश्व को भारत के अजस्त्र अनुदान

सम्पादक

ब्रह्मवर्चस

प्रकाशक

अखण्ड ज्योति संस्थान, मथुरा

विराट गायत्री परिवार एवं उसके संस्थापक-संरक्षक एक संक्षिप्त परिचय

इतिहास में कभी-कभी ऐसा होता है कि अवतारी सत्ता एक साथ बहुआयामी रूपों में प्रकट होती है एवं करोड़ों ही नहीं, पूरी वसुधा के उद्धार-चेतनात्मक धरातल पर सबके मनों का नये सिरे से निर्माण करने आती है। परमपूज्य गुरुदेव पं. श्रीराम शर्मा आचार्य को एक ऐसी ही सत्ता के रूप में देखा जा सकता है जो युगों-युगों में गुरु एवं अवतारी सत्ता दोनों ही रूपों में हम सबके बीच प्रकट हुई, अस्सी वर्ष का जीवन जीकर एक विराट् ज्योति प्रज्ज्वलित कर उस सूक्ष्म ऋषि चेतना के साथ एकाकार हो गयी जो आज युग परिवर्तन को सन्निकट लाने को प्रतिबद्ध है। परमवंदनीया माताजी शक्ति का रूप थीं जो कभी महाकाली, कभी माँ जानकी, कभी मां शारदा एवं कभी माँ भगवती के रूप में शिव की कल्याणकारी सत्ता का साथ देने आती रही है। उनने भी सूक्ष्म में विलीन हो स्वयं को अपने आराध्य के साथ एकाकार कर ज्योतिपुरुष का एक अंग स्वयं को बना लिया। आज दोनों सशरीर हमारे बीच नहीं है किन्तु, नूतन सृष्टि कैसे ढाली गयी, कैसे मानव गढ़ने का साँचा बनाया गया, इसे शान्तिकुंज, ब्रह्मवर्चस, गायत्री तपोभूमि, अखण्ड ज्योति संस्थान एवं युगतीर्थ आँवलखेड़ा जैसी स्थापनाओं तथा संकल्पित सृजन सेनानी गणों के, वीरभद्रों की करोड़ों से अधिक की संख्या के रूप में देखा जा सकता है।

परमपूज्य गुरुदेव का वास्तविक मूल्यांकन तो कुछ वर्षों बाद इतिहासविद, मिथक लिखने वाले करेंगे किन्तु, यदि उनको आज भी साक्षात कोई देखना या उनसे साक्षात्कार करना चाहता हो तो उन्हें उनके द्वारा अपने हाथ से लिखे गये उस विराट परिमाण में साहित्य के रूप में युग संजीवनी के रूप में देख सकता है जो वे अपने वजन से अधिक भार के बराबर लिख गये। इस साहित्य में संवेदना का स्पर्श इस बारीकी से हुआ है कि लगता है लेखनी को उसी की स्याही में डुबा कर लिखा गया हो। हर शब्द ऐसा जो हृदय को छूता मन को, विचारों को बदलता चला जाता है। लाखों करोड़ों के मनों के अंतःस्थल को छू कर उसने उनका कायाकल्प कर दिया। रूसो के प्रजातंत्र की, कार्ल मार्क्स के साम्यवाद की क्रांति भी इसके समक्ष बौनी पड़ जाती है। उनके मात्र इस युग वाले स्वरूप को लिखने तक में लगता है कि एक विश्वकोश तैयार हो सकता है, फिर उस बहुआयामी रूप को जिसमें वे संगठनकर्ता, साधक, करोड़ों के अभिभावक, गायत्री महाविद्या के उद्धारक, संस्कार परम्परा का पुनर्जीवन करने वाले, ममत्व लुटाने वाले एक पिता, नारी जाति के प्रति अनन्य करुणा बिखेरकर उनके ही उद्धार के लिए धरातल पर चलने वाला नारी जागरण अभियान चलाते देखे जाते हैं, अपनी वाणी के उद्बोधन से एक विराट गायत्री परिवार एकाकी अपने बलबूते खड़े रहते दिखाई देते हैं तो समझ में नहीं आता, क्या-क्या लिखा जाय, कैसे छन्दबद्ध, लिपिबद्ध किया जाय, उस महापुरुष के जीवनचरित को।

आश्विन कृष्ण त्रयोदशी विक्रमी संवत् १९६७ (२० सितम्बर १९११) को स्थूल शरीर से आँवलखेड़ा ग्राम जनपद आगरा जो जलेसर मार्ग पर आगरा से पंद्रह मील की दूरी पर स्थित है, में जन्मे श्रीराम शर्मा जी का बाल्यकाल-कैशोर्य काल ग्रामीण परिसर में ही बीता। वे जन्मे तो थे एक जमींदार घराने में, जहाँ उनके पिता-श्री पं. रूपकिशोर जी शर्मा आसपास के दूर-दराज के राजघरानों के राजपुरोहित, उद्भट विद्वान, भागवत कथाकार थे किन्तु, उनका अंतःकरण मानव मात्र की पीड़ा से सतत विचलित रहता था। साधना के प्रति उनका झुकाव बचपन में ही दिखाई देने लगा। जब वे अपने सहपाठियों को, छोटे बच्चों को अमराइयों में बिठाकर स्कूली शिक्षा के साथ-साथ सुसंस्कारिता अपनाने वाली आत्मविद्या का शिक्षण दिया करते थे। छटपटाहट के कारण हिमालय की ओर भाग निकलने व पकड़े जाने पर उनने संबंधियों को बताया कि हिमालय ही उनका घर है एवं वहीं वे जा रहे थे। किसे मालूम था कि हिमालय की ऋषि चेतनाओं का समुच्चय बनकर आयी यह सत्ता वस्तुतः आगले दिनों अपना घर वहीं बनाएगी। जाति-पाँति का कोई भेद नहीं। जातिगत मूढ़ता भरी मान्यता से ग्रसित तत्कालीन भारत के ग्रामीण परिसर में एक अछूत वृद्ध महिला की जिसे कुष्ठ रोग हो गया था, उसी के टोले में जाकर सेवाकर उनने घरवालो का विरोध तो मोल ले लिया पर अपना व्रत नहीं छोड़ा।

उस महिला ने स्वस्थ होने पर उन्हें ढेरों आशीर्वाद दिये। एक अछूत कहलाने वाली जाति का व्यक्ति जो उनके आलीशान घर में घोड़ों की मालिश करने आता था, एक बार कह उठा कि मेरे घर कथा कौन कराने आएगा, मेरा ऐसा सौभाग्य कहाँ। नवनीत जैसे हृदय वाले पूज्यवर उसके घर जा पहुँचे एवं कथा पूरे विधान से कर पूजा की, उसको स्वच्छता का पाठ सिखाया, जबकि सारा गाँव उनके विरोध में बोल रहा था।

किशोरावस्था में ही समाज सुधार की रचनात्मक प्रवृत्तियाँ उनने चलाना आरम्भ कर दी थीं। औपचारिक शिक्षा स्वल्प ही पायी थी किन्तु, उन्हें इसके बाद आवश्यकता भी नहीं थी क्योंकि जो जन्मजात प्रतिभा सम्पन्न हो वह औपचारिक पाठ्यक्रम तक सीमित कैसे रह सकता है। हाट-बाजारों में जाकर स्वास्थ्य-शिक्षा प्रधान परिपत्र बाँटना, पशुधन को कैसे सुरक्षित रखें तथा स्वावलम्बी कैसे बनें, इसके छोटे-छोटे पैम्फलेट्स लिखने, हाथ की प्रेस से छपवाने के लिए उन्हें किसी शिक्षा की आवश्यकता नहीं थी। वे चाहते थे, जनमानस आत्मावलम्बी बने, राष्ट्र के प्रति स्वाभिमान उसका जागे, इसलिए गाँव में जन्मे इस लाल ने नारी शक्ति व बेरोजगार युवाओं के लिए गाँव में ही एक बुनताघर स्थापित किया व उसके द्वारा हाथ से कैसे कपड़ा बुना जाय, अपने पैरों पर कैसे खड़ा हुआ जाय, यह सिखाया।

पंद्रह वर्ष की आयु में वसंत पंचमी की वेला में सन् १९२६ में उनके घर की पूजा स्थली में, जो उनकी नियमित उपासना का तब से आगार थी, जबसे महामना पं० मदन मोहन मालवीय जी ने उन्हें काशी में गायत्री मंत्र की दीक्षा दी थी, उनकी गुरुसत्ता का आगमन हुआ अदृश्य छायाधारी सूक्ष्म रूप में। उनने प्रज्ज्वलित दीपक की लौ में से स्वयं को प्रकट कर उन्हें उनके द्वारा विगत कई जन्मों में संपन्न क्रिया कलापों का दिग्दर्शन कराया तथा उन्हें बताया कि वे दुर्गम हिमालय से आये हैं एवं उनसे अनेकानेक ऐसे क्रियाकलाप कराना चाहते हैं, जो अवतारी स्तर की ऋषि सत्ताएँ उनसे अपेक्षा रखती हैं। चार बार कुछ दिन से लेकर एक साल तक की अवधि तक हिमालय आकर रहने, कठोर तप करने का भी उनने संदेश दिया एवं उन्हें तीन संदेश दिए- १. गायत्री महाशक्ति के चौबीस-चौबीस लक्ष के चौबीस महा- पुरश्चरण जिन्हें आहार के कठोर तप के साथ पूरा करना था। २. अखण्ड घृतदीप की स्थापना एवं जन-जन तक इसके प्रकाश को फैलाने के लिए समय आने पर ज्ञानयज्ञ अभियान चलाना, जो बाद में अखण्ड ज्योति पत्रिका के १९३८ में प्रथम प्रकाशन से लेकर विचार-क्रांति अभियान के विश्वव्यापी होने के रूप में प्रकटा तथा ३. चौबीस महापुरश्चरणों के दौरान युगधर्म का निर्वाह करते हुए राष्ट्र के निमित्त भी स्वयं को खपाना, हिमालय यात्रा भी करना तथा उनके संपर्क से आगे का मार्गदर्शन लेना।

यह कहा जा सकता है कि युग निर्माण मिशन, गायत्री परिवार, प्रज्ञा अभियान, पूज्य गुरुदेव जो सभी एक दूसरे के पर्याय हैं, की जीवन यात्रा का यह एक महत्वपूर्ण मोड़ था, जिसने भावी रीति-नीति का निर्धारण कर दिया। पूज्य गुरुदेव अपनी पुस्तक 'हमारी वसीयत और विरासत' में लिखते हैं कि "प्रथम मिलन के दिन समर्पण सम्पन्न हुआ। दो बातें गुरु सत्ता द्वारा विशेष रूप से कही गई, संसारी लोग क्या करते हैं और क्या कहते हैं, उसकी ओर से मुँह मोड़कर निर्धारित लक्ष्य की ओर एकाकी साहस के बलबूते चलते रहना एवं दूसरा यह कि अपने को अधिक पवित्र और प्रखर बनाने की तपश्चर्या में जुट जाना- जौ की रोटी व छाछ पर निर्वाह कर आत्मानुशासन सीखना। इसी से वह सामर्थ्य विकसित होगी जो विशुद्धतः परमार्थ प्रयोजनों में नियोजित होगी। वसंत पर्व का यह दिन गुरु अनुशासन का अवधारण ही हमारे लिए नया जन्म बन गया। सद्गुरु की प्राप्ति हमारे जीवन का अनन्य एवं परम सौभाग्य रहा।"

राष्ट्र के परावलम्बी होने की पीड़ा भी उन्हें उतनी ही सताती थी जितनी कि गुरुसत्ता के आदेशानुसार तपकर सिद्धियों के उपार्जन की ललक उनके मन में थी। उनके इस असमंजस को गुरुसत्ता ने तोड़कर परावाणी से उनका मार्गदर्शन किया कि युगधर्म की महत्ता व समय की पुकार देख सुन कर तुम्हें अन्य आवश्यक कार्यों को छोड़कर अग्निकाण्ड में पानी लेकर दौड़ पड़ने की तरह आवश्यक कार्य भी करने पड़ सकते हैं। इसमें स्वतंत्रता संग्राम सेनानी के नाते संघर्ष करने का भी संकेत था। १९२७ से १९३३ तक का समय उनका एक सक्रिय स्वयं सेवक-स्वतंत्रता सेनानी के रूप में बीता, जिसमें घरवालों के विरोध के बावजूद पैदल लम्बा रास्ता पारकर वे आगरा के उस शिविर में पहुँचे, जहाँ शिक्षण दिया जा रहा था, अनेकानेक मित्रों-सखाओं-मार्गदर्शकों के साथ भूमिगत हो कार्य करते रहे तथा समय आने पर जेल

भी गये । छह-छह माह की उन्हें कई बार जेल हुई । जेल में भी ये जेल के निरक्षर साथियों को शिक्षण देकर व स्वयं अंग्रेजी सीखकर लौटे । आसन- सोल जेल में ये श्री जवाहर लाल नेहरू की माता श्रीमती स्वरूपरानी नेहरू, श्री रफी अहमद किदवई, महामना मालवीय जी, देवदास गाँधी जैसी हस्तियों के साथ रहे व वहाँ से एक मूलमंत्र सीखा जो मालवीय जी ने दिया था कि जन-जन की साझेदारी बढ़ाने के लिए हर व्यक्ति के अंशदान से-मुट्ठी फण्ड से रचनात्मक प्रवृत्तियाँ चलाना । यही मंत्र आगे चलकर एक घण्टा समयदान बीस पैसा नित्य या एक दिन की आय एक माह में तथा एक मुट्ठी अन्न रोज डालने के माध्यम से धर्मघट की स्थापना का स्वरूप लेकर लाखों-करोड़ों की भागीदारी वाला गायत्री परिवार बनाता चला गया, जिसका आधार था प्रत्येक व्यक्ति की यज्ञीय भावना का उसमें समावेश ।

स्वतंत्रता की लड़ाई के दौरान कुछ उग्र दौर भी आये, जिनमें शहीद भगतसिंह को फाँसी दिये जाने पर फैले जन आक्रोश के समय श्री अरविन्द के किशोर काल की क्रांतिकारी स्थिति की तरह उनने भी वे कार्य किये, जिनसे आक्रान्ता शासकों के प्रति असहयोग जाहिर होता था । नमक आन्दोलन के दौरान ये आततायी शासकों के समक्ष झुके नहीं, वे मारते रहे परन्तु, समाधि स्थिति को प्राप्त राष्ट्र देवता के पुजारी को बेहोश होना स्वीकृत था पर आन्दोलन से पीठ दिखाकर भागना नहीं । बाद में फिरंगी सिपाहियों के जाने पर लोग उठाकर घर लेकर आये । जरारा आन्दोलन के दौरान उनने झण्डा छोड़ा नहीं जबकि, फिरंगी उन्हें पीटते रहे, झण्डा छीनने का प्रयास करते रहे। उनने मुँह से झण्डा पकड़ लिया, गिर पड़े, बेहोश हो गये पर झण्डे का टुकड़ा चिकित्सकों द्वारा दाँतों में भींचे गये टुकड़े के रूप में जब निकाला गया तब सब उनकी सहनशक्ति देखकर आश्चर्य चकित रह गये । उन्हें तब से ही आजादी के मतवाले उन्मत्त श्रीराम मत्त नाम मिला। अभी भी आगरा में उनके साथ रहे या उनसे कुछ सीख लिए अगणित व्यक्ति उन्हें मत्त जी नाम से ही जानते हैं। लगानबन्दी के आँकड़े एकत्र करने के लिए उनने पूरे आगरा जिले का दौरा किया व उनके द्वारा प्रस्तुत वे आँकड़े तत्कालीन संयुक्त प्रान्त के मुख्य मंत्री श्री गोविन्द वल्लभ पंत द्वारा गाँधी जी के समक्ष पेश किये गये । बापू ने अपनी प्रशस्ति के साथ वे प्रामाणिक आँकड़े ब्रिटिश पार्लियामेण्ट भेजे, इसी आधार पर पूरे संयुक्त प्रान्त के लगान माफी के आदेश प्रसारित हुए । कभी जिनने अपनी इस लड़ाई के बदले कुछ न चाहा उन्हें सरकार ने अपना प्रतिनिधि भेजकर पचास वर्ष बाद ताम्रपत्र देकर शांतिकुज में सम्मानित किया । उसी सम्मान व स्वाभिमान के साथ सारी सुविधाएँ व पेंशन उनने प्रधान मंत्री राहत फण्ड, हरिजन फण्ड के नाम समर्पित कर दीं । वैरागी जीवन का, सच्चे राष्ट्र संत होने का इससे बड़ा प्रमाण क्या हो सकता है ?

१९३५ के बाद उनके जीवन का नया दौर शुरु हुआ, जब गुरुसत्ता की प्रेरणा से वे श्री अरविन्द से मिलने पाण्डिचेरी, गुरुदेव ऋषिवर रवीन्द्रनाथ टैगोर से मिलने शांति निकेतन तथा बापू से मिलने साबरमती आश्रम, अहमदाबाद गये । सांस्कृतिक आध्यात्मिक मोर्चे पर राष्ट्र को कैसे परतंत्रता की बेड़ियों से मुक्त किया जाय, यह निर्देश लेकर अपना अनुष्ठान यथावत् चलाते हुए उनने पत्रकारिता के क्षेत्र में प्रवेश किया जब आगरा में 'सैनिक' समाचार पत्र के कार्यवाहक संपादक के रूप में श्री कृष्णदत्त पालीवाल जी ने उन्हें अपना सहायक बनाया। बाबू गुलाब राय व पालीवाल जी से सीख लेते हुए सतत स्वाध्यायरत रह कर उनने अखण्ड ज्योति नामक पत्रिका का पहला अंक १९३८ की वसंत पंचमी पर प्रकाशित किया । प्रयास पहला था, जानकारियाँ कम थीं अत: पुन: सारी तैयारी के साथ विधिवत् १९४० की जनवरी से उनने परिजनों के नाम पाती के साथ अपने हाथ से बने कागज पर पैर से चलने वाली मशीन से छापकर 'अखण्ड ज्योति' पत्रिका का शुभारंभ किया जो पहले तो दो सौ पचास पत्रिका के रूप में निकली, किन्तु क्रमश: उनके अध्यवसाय घर-घर पहुँचाने, मित्रों तक पहुँचाने वाले उनके हृदय स्पर्शी पत्रों द्वारा बढ़ती-बढ़ती नवयुग के मत्स्यावतार की तरह आज दस लाख से भी अधिक संख्या में विभिन्न भाषाओं में छपती व एक करोड़ से अधिक व्यक्तियों द्वारा पढ़ी जाती है ।

पत्रिका के साथ-साथ 'मैं क्या हूँ' जैसी पुस्तकों का लेखन आरम्भ हुआ, स्थान बदला, आगरा से मथुरा आ गये, दो-तीन घर बदलकर घीयामण्डी में जहाँ आज अखण्ड ज्योति संस्थान है, आ बसे । पुस्तकों का प्रकाशन व कठोर तपश्चर्या, ममत्व विस्तार तथा पत्रों द्वारा जन-जन के अंत: स्थल को छूने की प्रक्रिया चालू रही । साथ देने आ गयीं

परमवंदनीया माताजी भगवती देवी शर्मा, जिन्हें भविष्य में अत्यधिक महत्वपूर्ण भूमिका अपने आराध्य इष्ट गुरु के लिए निभानी थी। उनके मर्मस्पर्शी पत्रों ने, भाव भरे आतिथ्य, हर किसी को जो दुखी था-पीड़ित था, दिये गये ममत्व भरे परामर्श ने गायत्री परिवार का आधार खड़ा किया, इसमें कोई सन्देह नहीं। यदि विचारक्रांति में साहित्य ने मनोभूमि बनायी तो भावात्मक क्रांति में ऋषियुगल के असीम स्नेह ने ब्राह्मणत्व भरे जीवन ने शेष बची भूमिका निभायी।

'अखण्ड ज्योति' पत्रिका लोगों के मनों को प्रभावित करती रही, इसमें प्रकाशित 'गायत्री चर्चा' स्तम्भ से लोगों को गायत्री व यज्ञमय जीवन जीने का संदेश मिलता रहा, साथ ही एक आना से लेकर छह आना सीरज की अनेकानेक लोकोपयोगी पुस्तकें छपती चली गयीं। इस बीच हिमालय के बुलावे भी आये, अनुष्ठान भी चलता रहा जो पूरे विधि विधान के साथ १९५३ में गायत्री तपोभूमि की स्थापना, १०८ कुण्डी यज्ञ व उनके द्वारा दी गयी प्रथम दीक्षा के साथ समाप्त हुआ। गायत्री तपोभूमि की स्थापना के निमित्त धन की आवश्यकता पड़ी तो परम वंदनीया माताजी ने जिनने हर कदम पर अपने आराध्य का साथ निभाया, अपने सारे जेवर बेच दिये, पूज्यवर ने जमींदारी के बाण्ड बेच दिये एवं जमीन लेकर अस्थायी स्थापना कर दी गयी। धीरे-धीरे उदारचेताओं के माध्यम से गायत्री तपोभूमि एक साधना पीठ बन गयी। २४०० तीर्थों के जल व रज की स्थापना वहाँ की गयी, २४०० करोड़ गायत्री मंत्र लेखन वहाँ स्थापित हुआ, अखण्ड अग्नि हिमालय के एक अति पवित्र स्थान से लाकर स्थापित की गयी जो अभी तक वहाँ यज्ञशाला में जल रही है। १९४१ से १९७१ तक का समय परमपूज्य गुरुदेव का गायत्री तपोभूमि, अखण्ड ज्योति संस्थान में सक्रिय रहने का समय है। १९५६ में नरमेध यज्ञ, १९५८ में सहस्रकुण्डी यज्ञ करके लाखों गायत्री साधकों को एकत्र कर उनने गायत्री परिवार का बीजारोपण कर दिया। कार्तिक पूर्णिमा १९५८ में आयोजित इस कार्यक्रम में दस लाख व्यक्तियों ने भाग लिया, इन्हीं के माध्यम से देश भर में प्रगतिशील गायत्री परिवार की दस हजार से अधिक शाखाएँ स्थापित हो गयीं। संगठन का अधिकाधिक कार्यभार पूज्यवर परमवंदनीया माताजी पर सौंपते चले गये एवम् १९५९ में पत्रिका का संपादन उन्हें देकर पौने दो वर्ष के लिए हिमालय चले गये, जहाँ उन्हें गुरुसत्ता से मार्गदर्शन लेना था, तपोवन नंदनवन में ऋषियों से साक्षात्कार करना था तथा गंगोत्री में रहकर आर्ष ग्रन्थों का भाष्य करना था। तब तक वे गायत्री महाविद्या पर विश्वकोश स्तर की अपनी रचना गायत्री महाविज्ञान के तीन खण्ड लिख चुके थे, जिसके अब तक प्रायः पैंतीस संस्करण छप चुके हैं। हिमालय से लौटते ही उनमें महत्वपूर्ण निधि के रूप में वेद, उपनिषद्, स्मृति, आरण्यक, ब्राह्मण, योगवाशिष्ठ, मंत्र महाविज्ञान, तंत्र महाविज्ञान जैसे ग्रन्थों को प्रकाशित कर देव संस्कृति की मूल थाती को पुनर्जीवन दिया। परमवंदनीया माताजी ने उन्हीं वेदों को पूज्यवर की इच्छानुसार १९९१-९२ में विज्ञान सम्मत आधार देकर पुनर्मुद्रित कराया एवं वे आज घर-घर में स्थापित हैं।

युग निर्माण योजना व 'युग निर्माण सत्संकल्प' के रूप में मिशन का घोषणा पत्र १९६३ में प्रकाशित हुआ। तपोभूमि एक विश्वविद्यालय का रूप लेती चली गयी तथा अखण्ड ज्योति संस्थान एक तपःपूत की निवास स्थली बन गया, जहाँ रहकर उनने अपनी शेष तप साधना पूरी की थी, जहाँ से गायत्री परिवार का बीज डाला गया था। तपोभूमि में विभिन्न शिविरों का आयोजन किया जाता रहा, पूज्यवर स्वयं छोटे-बड़े जन सम्मेलनों, यज्ञायोजनों के द्वारा विचार क्रांति की पृष्ठभूमि बनाते रहे, पूरे देश में १९७०-७१ में पाँच १००८ कुण्डी यज्ञ आयोजित हुए। स्थायी रूप से विदाई लेते हुए एक विराट सम्मेलन (जून १९७१) में परिजनों में विशेष कार्य भार सौंप, परम वंदनीया माताजी को शांतिकुंज, हरिद्वार में अखण्ड दीप के समक्ष तप हेतु छोड़ कर स्वयं हिमालय चले गये। एक वर्ष बाद वे गुरुसत्ता का संदेश लेकर लौटे एवं अपनी आगामी बीस वर्ष की क्रिया पद्धति बतायी। ऋषि परम्परा का बीजारोपण, प्राण प्रत्यावर्त्तन संजीवनी व कल्प साधना सत्रों का मार्गदर्शन जैसे कार्य उनने शांतिकुंज में सम्पन्न किये।

सर्वाधिक महत्वपूर्ण स्थापना अपनी हिमालय की इस यात्रा से लौटने के बाद ब्रह्मवर्चस शोध संस्थान की थी, जहाँ विज्ञान और अध्यात्म के समन्वयात्मक प्रतिपादनों पर शोध कर एक नये धर्म वैज्ञानिक धर्म के मूलभूत आधार रखे जाने थे। इस सम्बन्ध में पूज्यवर ने विराट्
क्षमता के जागरण तक साधना से सिद्

लिए एक विराट ग्रन्थागार बना व एक सुसज्जित प्रयोगशाला। वनौषधि उद्यान भी लगाया गया तथा जड़ी बूटी, यज्ञविज्ञान तथा मंत्र शक्ति पर प्रयोग हेतु साधकों पर परीक्षण प्रचुर परिमाण में किये गये। निष्कर्षों ने प्रमाणित किया कि ध्यान साधना मंत्र चिकित्सा व यज्ञोपैथी एक विज्ञान सम्मत विधा है। गायत्री नगर क्रमश: एक तीर्थ, संजीवनी विद्या के प्रशिक्षण का एकेडमी का रूप लेता चला गया एवं जहाँ ९-९ दिन के साधना प्रधान, एक-एक माह के कार्यकर्त्ता निर्माण हेतु युग शिल्पी सत्र सम्पन्न होने लगे।

कार्यक्षेत्र में विस्तार हुआ। स्थान-स्थान पर शक्तिपीठें विनिर्मित हुईं, जिनके निर्धारित क्रियाकलाप थे- सुसंस्कारिता, आस्तिकता संवर्धन एवं जन जागृति के केन्द्र बनना। ऐसे केन्द्र जो १९८० में बनना आरंभ हुए थे, प्रज्ञा संस्थान - शक्तिपीठ-प्रज्ञामण्डल-स्वाध्याय मंडल के रूप में पूरे देश व विश्व में फैलते चले गये। ७६ देशों में गायत्री परिवार की शाखाएँ फैल गयीं, ४६०० से अधिक भारत में निज के भवन वाले संस्थान विनिर्मित हो गये, वातावरण गायत्रीमय होता चला गया।

परमपूज्य गुरुदेव ने सूक्ष्मीकरण में प्रवेश कर १९८५ में ही पाँच वर्ष के अंदर अपने सारे क्रिया कलापों को समेटने की घोषणा कर दी। *इस बीच कठोर तप साधना कर मिलना-जुलना कम कर दिया तथा क्रमश: क्रिया कलाप परमवंदनीया* माताजी को सौंप दिये। राष्ट्रीय एकता सम्मेलनों, विराट दीप यज्ञों के रूप में नूतन विधा को जन-जन को सौंप कर राष्ट्र देवता की कुण्डलिनी जगाने हेतु उनने अपने स्थूल शरीर छोड़ने व सूक्ष्म में समाने की, विराट से विराटतम होने की घोषणा कर गायत्री जयन्ती २ जून १९९० को महाप्रयाण किया। सारी शक्ति वे परमवंदनीया माताजी को दे गये व अपने व माताजी के बाद संघशक्ति की प्रतीक लाल मशाल को ही इष्ट आराध्य मानने का आदेश देकर ब्रह्मबीज से विकसित ब्रह्मकमल की सुवास को देव संस्कृति दिग्विजय अभियान के रूप में आरंभ करने का माताजी को निर्देश दे गये।

एक विराट श्रद्धांजलि समारोह व शपथ समारोह जो हरिद्वार में सम्पन्न हुए, में लाखों व्यक्तियों ने अपना समय समाज के नव निर्माण, मनुष्य में देवत्व के उदय व धरती पर स्वर्ग लाने का गुरु सत्ता का नारा साकार करने के निमित्त देने की घोषणा की। परमवंदनीया माताजी द्वारा भारतीय-संस्कृति को विश्वव्यापी बनाने, गायत्री रूपी संजीवनी घर-घर पहुँचाने के लिए पूज्यवर द्वारा आरम्भ किये गये युगसंधि महापुरश्चरण की प्रथम व द्वितीय पूर्णाहुति तक विराट अश्वमेध महायज्ञों की घोषणा की गयी। वातावरण के परिशोधन, सूक्ष्मजगत के नव निर्माण एवं सांस्कृतिक व वैचारिक क्रांति के निमित्त सौर ऊर्जा के दोहन द्वारा विशिष्ट प्रयोगों के माध्यम से विशिष्ट मंत्राहुतियों द्वारा सम्पन्न किये गये इन अश्वमेधों ने सारी विश्ववसुधा को गायत्री व यज्ञमय, वासंती उल्लास से भर दिया। स्वयं परमवंदनीया माताजी ने अपनी पूर्व घोषणानुसार चार वर्ष तक परिजनों का मार्गदर्शन कर सोलह यज्ञो का संचालन स्थूल शरीर से किया व फिर भाद्रपद पूर्णिमा १९ सितम्बर १९९४ महालय श्राद्धारंभ वाली पुण्य वेला में अपने आराध्य के साथ एकाकार हो गयी। उनके महाप्रयाण के बाद दोनों ही सत्ताओं के सूक्ष्म मे एकाकार होने के बाद मिशन की गतिविधियाँ कई गुना बढ़ती चली गयीं एवं जयपुर के प्रथम अश्वमेध यज्ञ (नवम्बर ९२) से छब्बीसवें अश्वमेध यज्ञ शिकागो (यू. एस. ए. जुलाई ९५) तक प्रज्ञावतार का प्रत्यक्ष रूप सबको दीखने लगा है।

गुरुसत्ता के आदेशानुसार सतयुग के आगमन तक १०८ महायज्ञ देवसंस्कृति को विश्वव्यापी बनाने हेतु संपन्न होने हैं। युग संधि महापुरश्चरण की अंतिम पूर्णाहुति उसी के बाद होगी। प्रथम पूर्णाहुति नवम्बर १९९५ में कार्तिक पूर्णिमा के अवसर पर युगपुरुष पूज्यवर की जन्मभूमि आँवलखेड़ा में मनायी जा रही है। उनके द्वारा लिखे गये समग्र साहित्य के वाङ्मय का जो सत्तर खण्डों में फैला है, विमोचन भी यहीं सम्पन्न हो रहा है। विनम्रता एवं ब्राह्मणत्व की कसौटी पर खरे उतरने वाले वरिष्ठ प्रज्ञापुत्र ही उनके उत्तराधिकारी कहे जायेंगे, यह गुरुसत्ता का उद्घोष था एवं इस क्षेत्र में बढ़ चढ़कर आदर्शवादी प्रतिस्पर्धा करने वाले अनेकानेक परिजन अब उनके स्वप्नों को साकार करने आगे आ रहे हैं। 'हम बदलेंगे-युग बदलेंगे' का उद्घोष दिग-दिगन्त तक फैल रहा है एवं इक्कीसवीं सदी-उज्ज्वल भविष्य, सतयुग की वापसी का स्वप्न साकार होता चला जा रहा है, यह स्पष्ट दिखाई दे रहा है।

भूमिका

भारत जिसमें कभी तैंतीस कोटि देवता निवास करते थे, जिसे कभी स्वर्गादपि गरीयसी कहा जाता था, एक स्वर्णिम अतीत वाला चिर पुरातन देश है जिसके अनुदानों से विश्व-वसुधा का चप्पा-चप्पा लाभान्वित हुआ है । भारत ने ही अनादि काल से समस्त संसार का मार्ग-दर्शन किया है । ज्ञान और विज्ञान की समस्त धाराओं का उदय, अवतरण भी सर्वप्रथम इसी धरती पर हुआ पर यह यहीं तक सीमित नहीं रहा-यह सारे विश्व में यहाँ से फैल गया । सोने की चिड़िया कहा जाने वाला हमारा भारतवर्ष जिसकी परिधि कभी सारी विश्व-वसुधा थी, आज अपने दो सहस्र वर्षीय अंधकार युग के बाद पुनः उसी गौरव की प्राप्ति की ओर अग्रसर है । परम पूज्य गुरुदेव ने जन-जन को उसी गौरव की जानकारी कराने के लिए यह शोध प्रबन्ध १९७३-७४ में अपने विदेश प्रवास से लौटकर लिखाया एवं यह प्रतिपादित किया कि देव संस्कृति ही सारे विश्व को पुनः वह गौरव दिला सकती है जिसके आधार पर सतयुगी संभावनाएँ साकार हो सकें । उसी शोध प्रबंध को सितम्बर १९९० में पुनः दो खण्डों में प्रकाशित किया गया था । इस वाङ्मय में उस शोध प्रबंध के अतिरिक्त देव संस्कृति की गौरव-गरिमा परक अनेकानेक निबंध संकलित कर उन्हें एक जिल्द में बाँधकर प्रस्तुत किया गया है ।

"सा प्रथमा संस्कृति विश्वास।" यह उक्ति बताती है कि हमारी संस्कृति, हिन्दू संस्कृति देव संस्कृति, ही सर्व प्रथम वह संस्कृति थी जो सभी विश्व भर में फैल गयी । अपनी संस्कृति पर गौरव जिन्हें होना चाहिए वे ही भारतीय यदि इस तथ्य से विमुख होकर पाश्चात्य सभ्यता की ओर उन्मुख होने लगें तो इसे एक विडम्बना ही कहा जायगा । इसी तथ्य पर सर्वाधिकार जोर देते हुए पूज्यवर ने लिखा है कि जिस देश का अतीत इतना गौरवमय रहा हो, जिसकी इतनी महत्त्वपूर्ण सांस्कृतिक पुण्य परम्पराएँ रहीं हों, उसे अपने पूर्वजों को न भुलाकर अपना चिन्तन और कर्तृत्व वैसा ही बनाकर देवोपम स्तर का जीवन जीना चाहिए । वस्तुतः सांस्कृतिक मूल्य ही किसी राष्ट्र की प्रगति अवगति का आधार बनते हैं । जब इनकी अवमानना होती है तो राष्ट्र पतन की ओर जाने लगता है । सांस्कृतिक मूल्यों की प्रतिष्ठापना धर्मतंत्र से ही संभव है । धर्मतंत्र का अपना महत्वपूर्णस्थान संस्कृति. के उत्थान में रहा है । जब-जब यह परिष्कृत रहा है, तब-तब इसने राष्ट्र ही नहीं, विश्व भर की समस्त सभ्यताओं को विकास मार्ग दिखाया है । आज भी ऐसे परिष्कृत धर्मतंत्र की ही आवश्यकता है । यह परिष्कृत धर्मतंत्र विज्ञान सम्भव उन प्रतिपादनों पर टिका है जो संस्कृति के प्रत्येक निर्धारण की उपयोगिता प्रतिपादित करते हैं । इन्हीं सब का विवेचन इस खण्ड में है ।

पुरातन भारत का ज्ञान-विज्ञान आज के वैज्ञानिक युग की उपलब्धियों को भी चुनौती देने में सक्षम हैं । हमारी वैदिक संस्कृति में वह सब है जो आज का अणु विज्ञान हमें बताता है । इस धरोहर को भले ही हमने भुला दिया हो किन्तु वह हमें सतत याद दिलाती रहती है वेदों की अपनी विज्ञान सम्मत सूत्र शैली के माध्यम से । हमारी संस्कृति की जितनी मान्यताएँ हैं उन्हें पूज्यवर ने विज्ञान की कसौटी पर कस कर प्रमाणों के साथ उनको आज के विज्ञ समुदाय के समक्ष रखा है ताकि पाश्चात्य प्रभाव में पनप रही पीढ़ी कहीं उन्हें एक दम भुला न दे ।

हमारे स्वर्णिम अतीत पर एक दृष्टि डालते हुए इस खण्ड में यह सब विस्तार में लिखा गया है कि प्रवज्या-तीर्थ यात्रा के माध्यम से हमारी संस्कृति का विस्तार प्राचीन काल में कहाँ-कहाँ तक हुआ था । अमेरिका, लातिनी अमेरिका, मेक्सिको, जर्मनी, जिसे यूरोप का आर्यावर्त कहा जाता है, मिश्र से लेकर दक्षिण अफ्रीका तक, कम्पूचिया, लाओस, चीन, जापान आदि देशों में स्थान-स्थान पर ऐसे अवशेष विद्यमान हैं जो बताते हैं कि आदिकाल में वहाँ भारतीय संस्कृति का ही साम्राज्य था । इसके लिए परमपूज्य गुरुदेव ने विभिन्न पाश्चात्य विद्वानों का हवाला देकर हमारे पुराने-शास्त्र ग्रन्थों के उद्धरण के साथ विस्तृत

विवेचन किया है । यह विस्तार मात्र धार्मिक ही नहीं था अपितु, विश्व राष्ट्र की आर्य-व्यवस्था, शासन संचालन-व्यवस्था, कला, उद्योग, शिल्प आदि सभी में भारतीय-संस्कृति का योगदान रहा है । मॉरीशस, आस्ट्रेलिया, फिजी व अन्य प्रशांत महासागर के छोटे-छोटे द्वीप, रूस, कोरिया, मंगोलिया, इण्डोनेशिया, श्याम देश आदि के विस्तृत उदाहरणों से हमें भारतीय संस्कृति के विश्व संस्कृति होने की एक झलक मिलती है । अन्यान्य सभी देशों में भारतीय संस्कृति के अस्तित्व का परिचय देते हुए यह खण्ड प्रवासी भारतीयों के संगठनों की जानकारी हमें विस्तार से देता है जो विदेश में भारत की एक बहुमूल्य पूँजी के रूप में बैठे सांस्कृतिक दूत का कार्य कर रहे हैं । भारतीय संस्कृति इन्हीं के माध्यम से कभी विश्वभर में फैली थी, आज भी विश्व में इन्हीं के द्वारा फैलेगी ।

भारतीय संस्कृति के विराट विस्तार एवं वृहत्तर भारत जो कभी था व कभी आगे चलकर बनेगा, उसकी जानकारी पाने पर प्रत्येक को अपने देश की एतिहासिक परम्परा व सांस्कृतिक विरासत पर गौरव होता है व अपने कर्त्तव्य का ज्ञान भी कि हम कैसे इसे अक्षुण्ण बनाए रख सकते हैं । निश्चित ही देव संस्कृति के विश्व संस्कृति के रूप में विस्तार की जानकारी देने में यह खण्ड महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाएगा, ऐसा हमारा विश्वास है ।

—ब्रह्मवर्चस

अनुक्रमणिका

समस्त विश्व को भारत के अजस्र अनुदान

२. स्वर्णिम अतीत पर एक दृष्टि २.१

३. भारतीय संस्कृति का विराट विस्तार ३.१

देव संस्कृति की गौरव-गरिमा

मानवी उत्कर्ष : संस्कृति के विकास पर निर्भर

सभ्यता और संस्कृति इस युग के दो बहु-परिचर्चित विषय हैं। आस्थाओं और मान्यताओं को संस्कृति और तदनुरूप व्यवहार, आचरण को सभ्यता की संज्ञा दी जाती है। दुनिया मे जितनी जातियाँ हैं उतनी सभ्यतायें और संस्कृतियाँ भी हैं किन्तु यदि भारतीय दर्शन को निरीक्षक मानकर विश्लेषण करें तो पता चलता है कि सभ्यता और संस्कृति एक नही हो सकती। मानवीय सभ्यता या संस्कृति कहें या चाहे जो भी नाम दें मानवीय दर्शन सर्वत्र एक ही हो सकता है, मानवीय संस्कृति केवल एक हो सकती है दो नहीं क्योकि विज्ञान कुछ भी हो मानवीय प्रादुर्भाव का केन्द्र बिन्दु और आधार एक ही हो सकता है। इनका निर्धारण जीवन के बाह्य स्वरूप भर से नहीं किया जा सकता। संस्कृति को यथार्थ स्वरूप प्रदान करने के लिए अन्ततः धर्म और दर्शन की ही शरण में जाना पड़ेगा।

संस्कृति का अर्थ है— मनुष्य का भीतरी विकास। उसका परिचय व्यक्ति के निजी चरित्र और दूसरो के साथ किये जाने वाले सद्व्यवहार से मिलता है। दूसरो को ठीक तरह समझ सकने और अपनी स्थिति तथा समझ धैर्यपूर्वक दूसरो को समझा सकने की स्थिति भी उस योग्यता में सम्मिलित कर सकते हैं, जो संस्कृति की देन है।

आदान-प्रदान एक तथ्य है जिसके सहारे मानवी प्रगति के चरण आगे बढ़ते-बढ़ते वर्तमान स्थिति तक पहुँचे है। कृषि, पशुपालन, शिक्षा, चिकित्सा, शिल्प-उद्योग विज्ञान, दर्शन जैसे जीवन की मौलिक आवश्यकताओ के सम्बन्धित प्रसग किसी क्षेत्र या वर्ष की वपौती नहीं है। एक वर्ग की उपलब्धियों से दूसरे क्षेत्र के लोग परिचित हुए हैं। परस्पर आदान-प्रदान चले हैं और भौतिक क्षेत्र में सुविधा सम्वर्धन का पथ-प्रशस्त हुआ है। ठीक यही बात धर्म और संस्कृति के सम्बन्ध में ही है। एक ने अपने सम्पर्क क्षेत्र को प्रभावित किया है। एक लहर ने दूसरी को आगे धकेला है। लेन-देन का सिलसिला सर्वत्र चलता रहा है। मिलजुल कर ही मनुष्य हर क्षेत्र में आगे बढ़ा है। इस समन्वय से धर्म और संस्कृति भी अछूते नहीं रहे हैं। उन्होंने एक-दूसरे को प्रत्यक्ष एवं परोक्ष रूप से प्रभावित किया है।

अब दुनिया में कोई ऐसी नस्ल नही बची जो पूरी तरह रक्त शुद्धि का दावा कर सके। जातियों के बीच प्रत्यक्ष-परोक्ष रूप में बेटी व्यवहार चलते रहे हैं और नस्लों के मूलरूप मे आश्चर्यजनक परिवर्तन हो गया है। भारत वंशी लोगों के रक्त में आर्य और द्रविड़ रक्त का सम्मिश्रण इतना अधिक हुआ है कि दोनों से मिलकर एक तीसरी अथवा संयुक्त जाति बन गई है। इसी प्रकार एक सभ्यता पर दूसरी सभ्यता के निकट आने का भारी प्रभाव पड़ा है। भारत मे पिछले एक हजार वर्ष से मुस्लिम और ईसाई सभ्यताएँ आती रही हैं। उनके पूर्ण अनुयायी कितने बने यह बात पृथक है। सामान्य जनमानस ने उनका बहुत कुछ प्रभाव ग्रहण किया है। प्रचलित भारतीय पोशाक ऐसी नहीं है, जिसे दो हजार वर्ष पुरानी कहा जा सके। इसी प्रकार रीति-रिवाजों एवं मान्यताओं मे भी अनजाने ऐसे तत्वो का समावेश होता रहा है, जिसे खुले मन से न सही हिचकिचाहट के साथ-समन्वय स्वीकार किया जा सके।

यह सभ्यताओ का समन्वय एवं आदान-प्रदान उचित भी है और अनावश्यक भी। कट्टरता के इस कटघरे में मानवी विवेक को कैद रखे रहना असम्भव है। विवेक दृष्टि जाग्रत होते ही इन कटघरो की दीवारें टूटती हैं और जो रुचिकर या उपयोगी लगता है, उसका बिना किसी प्रयास या दबाब के आदान- प्रदान चल पड़ता है। इसकी रोकथाम के लिए कट्टरपन्थी प्रयास सदा से हाथ-पैर पीटते रहे हैं, पर यह कठिन ही रहा है। हवा उन्मुक्त आकाश में बहती है। सर्दी गर्मी का विस्तार व्यापक क्षेत्र मे होता है। इन्हें बन्धनों मे बॉधकर कैदियों की तरह अपने ही घर में रुके रहने के लिए बाधित नहीं किया जा सकता। सम्प्रदाओ और सभ्यताओ में भी यह आदान-प्रदान अपने ढंग से चुपके-चुपके चलता रहा है। भविष्य में इसकी गति और भी तीव्र होगी।

धर्म और संस्कृति दोनो ही सार्वभौम हैं, उन्हें सर्व जनीन कहा जा सकता है। मनुष्यता के टुकड़े नही हो सके। सज्जनता की परिभाषा में बहुत मतभेद नही हैं। शारीरिक संरचना की तरह मानवी अन्तःकरण की मूल सत्ता भी एक ही प्रकार की है। भौतिक प्रवृत्तियॉ लगभग एक-सी है। एकता व्यापक है और शाश्वत। पृथकता सामयिक है और क्षणिक। हम सब एक ही पिता के पुत्र है। एक ही धरती पर पैदा हुए हैं। एक ही आकाश के नीचे रहते है। एक ही सूर्य से गर्मी पाते है और बादलो के अनुदान से एक ही तरह अपना गुजारा करते है फिर कृत्रिम विभेद से बहुत दिनों तक बहुत दूरी तक किस प्रकार बॅधे रह सकते हैं? औचित्य को आधार मानकर परस्पर आदान-प्रदान का द्वार जितना खोलकर रखा जाय उतना ही स्वच्छ हवा और रोशनी का लाभ मिलेगा। खिड़कियॉ बन्द रखकर हम अपनी विशेषताओ को न तो सुरक्षित रख सकते हैं और न स्वच्छ हवा और खुली धूप से मिलने वाले लाभो से लाभान्वित हो सकते है। संकीर्णता अपनाकर पाया कम और खोया अधिक जाता है।

एकता की दिशा मे हम आगे बढ़ें तो इसमे पूर्वजो के प्रति अनास्था नही वरन् श्रद्धा की ही अभिव्यक्ति है। पूर्वज अपने पूर्वजो की विरासत को कृतज्ञता-पूर्वक स्वीकार करते हुए भी अपने बुद्धिबल और बाहुबल से नये अनुभव एकत्रित करते, लाभ कमाते और साधन जुटाते रहे हैं। इसमें पूर्वजों को सन्तोष ही हो सकता है, साथ ही गर्व भी। अपनी सन्तान पर कोई अभिभावक यह बन्धन नहीं लगाता कि हम उसे अधिक यश या कौशल अर्जित नही करना चाहिए। बन्धन लगाना तो दूर है— समझदार अभिभावक अपने से अधिक प्रगति करने के लिए अपने उत्तराधिकारियों को उत्साहित करते हैं, ऐसी दशा मे पूर्वजो की तुलना मे एकता के क्षेत्र में हम कुछ कदम और आगे बढ़ सके तो इसमें असमंजस की कोई बात नही है। इसमें पूर्वजों की अवज्ञा जैसा कोई प्रश्न उठता नही। पिताजी यदि ६० वर्ष जियें और बेटा ७० वर्ष जी सके तो इसमें दुःख मानने की कोई बात नही है। सदाशयता, शालीनता, एकता और विवेकशीलता की दिशा में मानवी प्रगति के इतिहास में एक अच्छी कड़ी और जोड़ देना ही कहा जा सकता है।

अब राष्ट्रवाद के दिन लदते जा रहे है। देशभक्ति के जोश को अब उतना नही उभारा जाता है, जिसमे अपने ही क्षेत्र या वर्ग को सर्वोच्च ठहराया जाय अथवा विश्व विजय करके ही झण्डा फहराने का उन्माद उठ खड़ा हो। ऐसी पक्षपाती और आवेशग्रसित देशभक्ति अब विचारशील वर्ग मे नापसन्द की जाती है और विश्व नागरिकता की वसुधैव कुटुम्बकम् की बात को महत्त्व दिया जाता है। विश्व एकता के सिद्धान्त को मान्यता मिली है और राष्ट्रसंघ बना है। इस दिशा में प्रगति के चरण धीमे उठ रहे है, यह चिन्ता का विषय है। अपेक्षा यही की जाती है कि संसार की व्यापक समस्याओ का समाधान विश्व एकता के बिना और किसी प्रकार सम्भव न हो सकेगा। एक भाषा, एक राष्ट्र, एक सस्कृति अपनाकर ही उज्जवल भविष्य की स्थापना हो सकती है। यह तथ्य मानवी विवेक ने स्वीकार कर लिया है और विभेद उभारने वाले तत्वों को अमान्य ठहराया जा रहा है। सभ्यता और सस्कृति के क्षेत्र में ऐसी ही व्यापक एकता उत्पन्न करने का वातावरण बनाना होगा। राष्ट्रवाद सम्प्रदायवाद की तरह साम्यदावाद की कट्टरता को भी अगले दिनो क्रमशः अधिक शिथिल करते चलने की आवश्यकता पड़ेगी। नैतिक और आध्यात्मिक मूल्यो की स्थापना के लिए ऐसे एकतावादी विवेक को जागृत करने की आवश्यकता है, जिसमे अपने ही पक्ष को सर्वोपरि ठहराये जाने का

आग्रह न हो। अपने पराये का भेदभाव न करके औचित्य, न्याय, तथ्य और विवेक को ही जब मान्यता दी जायेगी तो फिर उपयोगिता स्वीकार करने की मनःस्थिति बन जायेगी तब जहाँ से भी जितनी मात्रा में तथ्य दृष्टिगोचर होगा स्वीकार किया जायेगा। इसके लिए किसी को खेद मनाने की आवश्यकता न होगी कि हमारी अमुक मान्यताओं को सर्वांश में जागृत विवेक ने स्वीकार नहीं किया। पिछला पैर उठाकर ही अगला पैर आगे रखा जाता है। लम्बी मंजिल इसी प्रकार पूरी होती है। आगे बढ़ना है तो पीछे का पैर अपने स्थान पर जमाये रहने का आग्रह नहीं चल सकता ।

अंग्रेजी में संस्कृति का अर्थ बोधक शब्द है 'कलचर' इसका तात्पर्य है— सभ्यता, रहन-सहन एवं सोचने-विचारने का तरीका। अपने नाम, रूप धन, परिवार, क्षेत्र भाषा आदि की तरह की अपने रहन-सहन की पद्धति भी लोगों को प्रिय लगती है। यह प्रियता बहुधा पक्षपात के रूप में बदल जाती है। जो अपने को श्रेष्ठ दूसरों को निकृष्ट मानने की तरह है। अपने परिकर एवं सरंजाम के सम्बन्ध में भी वैसी मान्यता बन जाती है। इसमें पूर्वाग्रह और पक्षपात का गहरा पुट रहता है। यद्यपि वह लगता ऐसा है मानो सत्य अपने ही हिस्से में आया है और दूसरे सभी गलत सोचते और झूठ बोलते हैं। अन्यान्य मतभेदों की तरह संस्कृति सम्बन्धी मतभेद भी एक है, जिसके लिए बहुत वार भयंकर युद्ध होते रहे । व्यक्तिगत जीवन में भी विद्वेश घृणा, आक्रमण, प्रतिरक्षा जैसी विडम्बनाएँ अनेक बार संस्कृति के नाम पर भी खड़ी होती रही है और उनमें मनुष्य जाति को धन, जन, नीति, सद्भावना, शांति और सुरक्षा की दृष्टि से भारी हानि उठानी पड़ी है। इस प्रकार जहाँ संस्कृति का मूल अस्तित्व व्यक्ति और समाज के कल्याणकारी तत्व पर आधारित है, वहाँ उसके प्रति अत्युत्साह और दुराग्रह में विद्वेष के विष बीज भी कम मात्रा में भरे हुए नही है । योरोप में ईसाई धर्म के प्रति और एशिया में इस्लाम धर्म के प्रति अत्युत्साह ने जिस निष्ठुरता का परिचय दिया है उससे उन संस्कृत प्रेमियो का गौरव बढ़ा नहीं। उन धर्मों की गरिमा अन्तःकरण की गहराई में प्रवेश न कर सकी । यद्यपि बहुतों ने भयभीत होकर अथवा लोभ लाभ की दृष्टि से उन्हें स्वीकार अवश्य कर लिया।

संस्कृति शब्द को सभ्यता से पृथक् रखा जा सके तो अर्थ का अनर्थ होने से बच सकता है। धर्म और सम्प्रदाय के सम्बन्ध में भी यही बात होनी चाहिए। धर्म एक चीज है और सम्प्रदाय दूसरी। सम्प्रदायवाद धर्म तत्व का समर्थक ही हो यह आवश्यक नहीं। बहुत-सी रिवाजें एवं मान्यताएँ हो सकती हैं, जो प्राचीन होने के साथ-साथ लोकप्रिय बन गई हों और अनेकों व्यक्ति उसके समर्थक अनुयायी हों, इतने पर भी उनका बहुत-सा पक्ष भावना के मूल सिद्धान्तों से मेल न खाता हो। भारतीय समाज को ही लें। जाति-पांति के नाम पर ऊँच-नीच की भावना और नर-नारी की असमानता की मान्यता गहराई तक लोगों के मनों में उतर गई है। नीति और न्याय की दृष्टि से उसका तनिक भी औचित्य नहीं है। फिर भी परम्परागत अभ्यास के कारण उसकी जड़ें इतनी नीची चली गई है, जो काटे नही कटतीं। इसी प्रकार हिन्दू धर्म में अथवा अन्य धर्मों में ऐसे ही प्रचलन हो सकते हैं। देवताओं के सामने पशु बलि चढ़ाया जाना, धर्म की मूल मान्यताओं से, उच्चस्तरीय आदर्शों से मेल नही खाता फिर भी उसे अनेक धर्मों में मान्यता प्राप्त है।

जिस प्रकार सम्प्रदाय को धर्म कलेवर भर कह सकते हैं वैसे ही सभ्यताओं में संस्कृति के कुछ तत्व झांकते हुए देखे जा सकते हैं। वस्त्र, आभूषण, वेश-विन्यास देखकर किसी व्यक्ति के सम्बन्ध में बहुत कुछ जानकारियां मिल सकती है। फिर भी उस आवरण को पूरा व्यक्तित्व नही कहा जा सकता। धर्म एक तत्व विज्ञान है, जिसमे उत्कृष्ट चिन्तन और आदर्श कर्तव्य की दिशा में मनुष्य को अग्रगामी बनाने के लिए कुछ नीति-नियमो का निर्धारण है। सम्प्रदाय उस दृष्टिकोण को मानने वाले समुदाय के रहन-सहन का तरीका है। यह तरीका मात्र आदर्शों से ही प्रेरित नहीं होता वरन् परिस्थितियो, साधनों एवं परम्पराओं पर आधारित होता है। उसमे तत्व के सिद्धान्त भी किसी मात्रा मे घुले-मिले हो सकते हैं, पर कोई समूचा सम्प्रदाय समूचे धर्मतत्व का प्रतिनिधित्व नही करता। उसमें दूसरी चीजो का भी समावेश हो सकता है। किसी सम्प्रदाय का कट्टर अनुयायी सच्चे अर्थों मे धर्मात्मा भी होगा यह नही कहा जा सकता। ठीक इसी प्रकार अनेकानेक सभ्यताओं में भी मानवी संस्कृति की

झलक मिल सकती है पर कोई सभ्यता पूरी तरह सुसंस्कृत होने का दावा नही कर सकती। यदि ऐसा ही होता तो फिर पृथकता से लेकर विरोध तक के ऐसे तत्व कही दिखाई न पड़ते, जिनसे टकराव की स्थिति पैदा होती हो।

संस्कृति देश और जाति में पैदा नही हो सकती। वह मानवी है और सार्वभौम है। दूसरे अर्थों में उसे मनुष्यता--मानवी गरिमा के अनुरूप उच्चस्तरीय श्रद्धा सद्भावना कह सकते है। इसके प्रकाश में मनुष्य परस्पर स्नेह-सौजन्य बन्धनों में बंधते है। सहिष्णु बनते है। एक-दूसरे के निकट आते और समझने का प्रयत्न करते है। विभेद की खाई पाटते है, पर सभ्यताओ के सम्बन्ध मे ऐसा नही कहा जा सकता । वे क्षेत्रों, जातियों, मान्यताओ और परिस्थितियो का कलेवर ओढ़े रहने से स्पष्टतः एक-दूसरे से बहुत हद तक पृथक् दीखती है और कितनी ही बातों में उनके बीच साधारण मतभेद भी है। सभ्यताएँ टकराती हैं। एक सभ्यता के अनुयायी दूसरे लोगो को अपने झण्डे के तले लाने के लिए उचित ही नही अनुचित उपाय भी काम मे लाते है। अपनी सभ्यता को दूसरो की सभ्यता के आक्रमण से बचाने के लिए लोग सुरक्षा के लिए भारी प्रयत्न करते हैं। ऐसे उपाय सोचते हैं, जिनसे परस्पर घुलने-मिलने और परस्पर आदान-प्रदान के अवसर न आने पावे। धर्मो के बीच कट्टरता इस हद तक देखी जाती है कि दूसरे धर्म के पूजा उपचारो मे सम्मिलित होने पर प्रतिबन्ध रहता है। इसी प्रकार एक सभ्यता वाले लोगो को दूसरी सभ्यता वालों के वेश-विन्यास तक को अस्वीकार करते हैं। विचारो की तुलनात्मक समीक्षा करने की तो उनमे गुन्जायश ही नही रहती। अपना सो सर्वश्रेष्ठ, दूसरो का सो निकृष्टतम। यही अहंकार बुरी तरह छाया रहता है। सभ्यतानुयायी और धर्मावलम्बी कहलाने वाले व्यक्ति ही इसी पक्षपात के सर्वाधिक शिकार पाये जाते है।

संस्कृति सौन्दर्योपासना है। एक भाव भरी उदात्त दृष्टि रहे तो वन, उपवनो, नदी, तालाबों, प्राणियों, बादलो जैसी सामान्य वस्तुओं को जब सौन्दर्य पारखी दृष्टि से देखा जाता है तो अन्तरात्मा में आह्लाद उत्पन्न करती है। श्रद्धा के आरोपण से पत्थर मे भगवान पैदा होते हैं। सांस्कृतिक चिन्तन से हम इस ससार को भगवान का विराट स्वरूप और अपने कलेवर को ईश्वर मन्दिर जैसा पवित्र अनुभव कर सकते। जहाँ ऐसी दृ होगी, वहाँ दूसरों से सद्व्यवहार करने और अप उत्कृष्टता बनाये रखने की ही आकांक्षा बनी रहेगी औ उसे जितना कार्यान्वित करना बन पड़ेगा, उतना ह अपना और दूसरों का सच्चा हित साधन बन पड़ेगा सुसंस्कृत दृष्टिकोण अपनाकर मनुष्य अपने देवत्व क विकसित करने और वातावरण को सुख शांति से भरा पूरा बनाने में आशाजनक सफलता प्राप्त कर सकत है।

विचारक इलियट ने अपने ग्रन्थ 'संस्कृति क पर्यवेक्षण' में लिखा है-- संस्कृति का स्वरूप मानवी उत्कृष्टता के अनुरूप आचरण करने के लिए विवश करने वाली आस्था है। जिसका अन्तःकरण इस मे जितनी गहराई तक रंगा हुआ है, वह उतना ही सुसंस्कृत है।

विश्व की प्रथम संस्कृति

भारतीय संस्कृति एक ऐसी विश्व-संस्कृति है, जो मनुष्य को सच्चे अर्थो में मनुष्य बनाने की क्षमता से ओत-प्रोत है। वह उच्चस्तरीय विचारणा जिससे व्यक्ति अपने आप में सन्तोष और उल्लास भरी अन्त.स्थिति पाकर सुख और शान्ति से भरा-पूरा जीवन जी सके भारतीय तत्वज्ञान मे कूट-कूटकर भरी है। वह आदर्शवादी क्रिया पद्धति जो सामूहिक जीवन में आत्मीयता, उदारता, सेवा स्नेह-भावना, सहिष्णुता और सहकारिता का वातावरण उत्पन्न करती है। भारतीय संस्कृति के शिक्षण की मूलधारा है। इस महान तत्व ज्ञान का अवगाहन भारतीय प्रजा चिरकाल तक करती रही और उसके फलितार्थ इस रूप में सामने आये कि यहाॅ के नागरिको को समस्त संसार मे देव पुरुष कहा गया है और जिस भूमि मे ऐसे महामानव उत्पन्न होते है, उसे स्वर्ग के नाम से सम्बोधित किया गया ।

यहाॅ के तेतीस कोटि नागरिको को विश्व में तेतीस कोटि देवताओं के नाम से पुकारा जाता था और जब भी भारत भूमि का स्मरण किया जाता था उसे स्वर्गादऽपि गरियसी ही कहा जाता था। यहाॅ के निवासी प्रेम, सदाचरण, सुव्यवस्था और समृद्धि का सन्देश और मार्ग दर्शन लेकर विश्व के कोने-कोने मे पहुँचे तथा शान्ति और प्रगति के साधन जुटाने का

नेतृत्व करते रहे। इतिहासकार इस तथ्य को भुला न सकेंगे कि भारत ने केवल अपने देश को समुन्नत बनाया वरन् समस्त विश्व को शान्ति और प्रगति के लिए सहयोग एवं मार्ग-दर्शन प्रदान किया। इस देश के नागरिकों की यह भूमिका इसीलिए संभव हो सकी कि उन्होंने महान् भारतीय संस्कृति को हृदयंगम किया था। उसका महत्व समझा था और स्वीकार किया था कि यही दार्शनिक पथ प्रदर्शन मानव-जीवन के लिए श्रेष्ठतम है। इस आस्था को क्रियान्वित करने की सुदृढ़ निष्ठा ही हमारी ऐतिहासिक महिमा तथा गरिमा का एक मात्र कारण है।

भारतीय संस्कृति किसी वर्ग, सम्प्रदाय या देश, जाति संकीर्ण परिधियो मे बँधी हुई साम्प्रदायिक मान्यता नहीं है न किसी व्यक्ति विशेष या शास्त्र विशेष को आधार मानकर उसकी रचना की गई है। सार्वभौम्य मानवीय आदर्शों के अनुरूप उसका सृजन हुआ है और देशकाल पात्र के अवरोध से उसमें हेर-फेर करना पड़े ऐसी त्रुटि नहीं रखी गई है। उसे निःसंकोच सार्वभौम, सर्वकालीन और शाश्वत कहा जा सकता है। दूसरे शब्दो में, भारतीय संस्कृति को हम विश्व मानव के सदैव प्रयोग में आ सकने योग्य चिन्तन प्रक्रिया एवं कार्य पद्धति भी कह सकते हैं। इस स्वरूप के कारण ही उसे भूतकाल में समस्त संसार ने देखा, सराहा और स्वीकार किया था। भविष्य मे भी जब इसे अनैतिक भगदड़ से दुःखी होकर मानव जाति को किसी सन्तुलित दर्शन की आवश्यकता पड़ेगी तो उस आवश्यकता की पूर्ति केवल भारतीय संस्कृति ही कर सकेगी।

कृति जो 'संस्कार' सम्पन्न हो--संस्कृति कहलाती है। इसका अर्थ भारतीय जीवन प्रणाली में प्रचलित षोडस संस्कारो मात्र से नही है। वह तो १६ अध्याय मात्र है, जो मनुष्य को थोडा-थोड़ा कर यह सोचने की प्रेरणा देते है कि उसका अन्तरंग जीवन क्यों, कैसे और किसलिए आविर्भूत हुआ। एक बौद्धिक प्राणी होने के नाते वह अपने उस उद्देश्य को बाह्य जीवन मे पूरा भी कर पा रहा है या नही? यदि नहीं तो उसे अब निश्चित ही आगे सोच-समझकर पग बढ़ाना चाहिए।

इस तरह १६ संस्कार जीवन के १६ मोड़ थे, जो प्रत्येक मुमुक्षु अर्थात् आत्म-कल्याण की इच्छा रखने वाले को पिछले जीवन मे हुए आलस्य, प्रमाद और पाप से सावधान—सचेत करते है और आगे के लिये दिशा निर्देशन भी। पर संस्कृति इन षोडश संस्कारों से भी बड़ी जीवन के प्रत्येक घड़ी, प्रत्येक कर्म मे नीति बनकर समाई रहती है। प्रत्येक आचरण जो आत्मा को प्रिय लगता है--आत्म-कल्याण की आवश्यकता को पूरी करता है— वहाँ तक संस्कृति का विस्तार है।

सभ्यता और संस्कृति दोनो शब्द साथ-साथ चलते है, पर दोनो के अर्थ में भारी भिन्नता है। इसी प्रकार धर्म और संस्कृति भी पर्याय से लगते हैं, किन्तु इनमें भी अन्तर है। सभ्यता किसी भी देश की हो सकती है और उसका सम्बन्ध, रहन-सहन, भाषा-वेश, पारिवारिक जीवन शिक्षा-दीक्षा आदि बहिर्मुखी व्यावहारिक पहलुओ से है और धर्म इससे ठीक विपरीत अर्थात् अन्तर्मुखी विकास के जितने भी साधन और अभ्यास है, वह सब धर्म के अन्तर्गत आते हैं। यतोऽभ्युदय—निश्रेयस सिद्धिः स धर्मः। जो निःश्रेयस और अभ्युदय की प्राप्ति कराये, वही धर्म है। धर्म के १० अङ्गों— श्रुति, क्षमा, दम, अस्तेय, शौच, इन्द्रिय निग्रह, बुद्धि, विद्या, सत्य और अक्रोध में से कई ऐसे लगते हैं, जो वहिर्मुखी जीवन से सम्बन्धित जान पड़ते है किन्तु यह सब साधनायें हैं, जो मनुष्य को आत्मसाक्षात्कार के लिए तैयार करती हैं, भले ही उससे बहिर्मुखी जीवन मे कुछ कठिनाइयाँ ही क्यों न आती हो।

सभ्यता और धर्म के समन्वय का नाम संस्कृति है। जिस तरह इड़ा और पिंगला के योग से सुषुम्ना का गंगा और जमुना के योग से त्रिवेणी का आविर्भाव होता है, उसी प्रकार संस्कृति धार्मिक परिप्रेक्ष्य मे तो अन्तर्मुखी जीवन के विकास की प्रेरणा देती है और सभ्यता के रूप में वाह्य जीवन को भी शुद्ध और ऐसा बनाती है, जिसमें एक मनुष्य किसी भी दूसरे प्राणी के हित का अतिक्रमण न करता हुआ धार्मिक लक्ष्य की ओर बढ़ता रहे।

'संस्कृति' का अर्थ है वह कृति-कार्य- पद्धति जो संस्कार सम्पन्न हो। ऊबड़- खाबड पेड़-पौधों को जिस प्रकार काट-छांटकर उन्हे सुरम्य और सुशोभित बनाया जाता है, वही कार्य व्यक्ति की उच्छृंखल मनोवृत्तियों पर नियन्त्रण स्थापित करके संस्कृति द्वारा सम्पन्न किया

जाता है। किसान जैसे भूमि को खाद, पानी जुताई, आदि से उर्वर बनाता है और बीज बोने से लेकर फसल तैयार होने तक उन पौधों को सींचने, संभालने, निराने, रखाने की अनेक प्रक्रियाएँ सम्पन्न करता है, वही कार्य संस्कृति द्वारा मानवीय मनोभूमि को उर्वर एवं फलित बनाने के लिए किया जाता है। अंग्रेजी में संस्कृति के लिये 'कलचर' शब्द आता है। उसका शब्दार्थ भी उसी ध्वनि को प्रकट करता है। अस्त-व्यस्तता के निराकरण और व्यवस्था के निर्माण के लिए जो प्रयत्न किये जायें, उन्हें कलचर कहा जा सकता है। संस्कृति का भी यही प्रयोजन है।

'संस्कृति' के साथ 'भारतीय' शब्द जोड़ कर उसे भारतीय संस्कृति कहा जाता है, इसका अर्थ उन पदार्थों या मान्यताओ को उन्ही की सम्पत्ति मान लेना नही है, जिनका कि नाम जोड़ दिया गया है। हिन्दुस्तान मे वर्जीनिया तम्बाकू पैदा नहीं होती है। चूँकि उसका आरम्भिक उत्पादन वर्जीनिया मे हुआ था इसलिए नामकरण उसी आधार पर हो गया । यह प्रतिवन्ध लगाने की बात कोई सोच भी नही सकता कि उस तम्बाकू का उपयोग या उत्पादन मात्र वर्जीनिया के लिए ही सीमित रखा जाय। भारतीय संस्कृति का उद्भव विकास, प्रयोग, पोषण, एवं विस्तार भारत से हुआ इसलिए उसे उस नाम से पुकारा जाता है तो यह उचित ही है पर इसका अर्थ यह नही माना जाना चाहिए कि उसका प्रयोग इसी देश के निवासियो तक सीमित था अथवा रहना चाहिए ।

यजुर्वेद ७/१४ मे एक पद आता है 'सा प्रथमा सस्कृति विश्ववारा' अर्थात् यह प्रथम संस्कृति है, जो विश्वव्यापी है। सृष्टि के आरम्भ में सम्भव है ऐसी छुट-पुट संस्कृतियों का भी उदय हुआ हो, जो वर्ग विशेष या क्षेत्र विशेष के लिए ही उपयोगी रही हो। उन सव को पीछे छोड़कर यह भारतीय संस्कृति ही प्रथम बार इस रूप में प्रस्तुत हुई कि उसे विश्व-संस्कृति कहा जा सके। हुआ भी यही—जब उसका स्वरूप सर्वसाधारण को विदित हुआ तो उसकी सर्वश्रेष्ठता को सर्वत्र स्वीकार ही किया जाता रहा और सर्वोच्च भी । फलस्वरूप वह विश्वव्यापी होती चली गई। इसी स्थिति का उपरोक्त मन्त्र-भाग से संकेत है। इतिहास न भी माने तो भी तथ्य के रूप में स्वीकार करना ही होगा कि विश्व संस्कृति माने जाने योग्य समस्त विशेषताएँ इस भारतीय संस्कृति में समग्र रूप से विद्यमान हैं ।

'विश्ववारा' शब्द का अर्थ होता है—विश्ववंकणोनीति: विश्ववारा अर्थात् जो समस्त संसार द्वारा वरण की जा सके—स्वीकार की जा सके वह 'विश्ववारा' दूसरे शब्दों में इसे सार्वभौम भी कह सकते हैं। संस्कृति के लिए दूसरा शब्द ब्राह्मण ग्रन्थों मे सोम आता है। सोम क्या है? अमृतम् वै सोम (शतपथ) अर्थात् अमृत ही सोम है। अमृत क्या है—ज्ञान और तप से उत्पन्न हुआ आनन्द। इस प्रकार भारतीय संस्कृति का तात्पर्य उस श्रद्धा से है, जो ज्ञान और तप की, विवेक युक्त सत्प्रयत्नों की ओर हमारी भावना और क्रियाशीलता को अग्रसर करती है। इस संस्कृति को जव, जहाँ, जितनी मात्रा में अपनाया गया है, वहाँ उतना ही भौतिक समृद्धि और आत्मिक विभूति का अनुभव आस्वादन किया गया।

आवश्यकता इस बात की थी कि राजनैतिक गुलामी से मुक्त होकर हम सांस्कृतिक दासता से भी मुक्त होने का प्रयत्न करते पर इस दिशा में कुछ किया ही नहीं जा सका, इसे अपना दुर्भाग्य ही कहना चाहिए। विदेशी आक्रमण के दिनों में यह स्वाभाविक था कि शासक लोग अपने पराधीनता पाश को चिरस्थायी बनाये रखने के लिए राजनैतिक, साम, दाम, दण्ड, भेद से भी अधिक प्रयत्न भावनात्मक दासता स्वीकार करने के लिए करते। ऐसा हुआ भी है । अपने तत्व-दर्शन को भ्रष्ट, विकृत और अनुपयोगी बनाने के लिए मुसलमानी समय मे पण्डितो और साधुओं द्वारा अनेक प्रकार की ऐसी भ्रान्तियाँ जोड़ी गई जो व्यक्ति को दिशा भ्रम ही करा सकती थीं सोचा यह गया होगा कि अनाचार के विरुद्ध संगठित विद्रोह न उठ खड़ा हो— इसलिए भाग्यवाद, सन्तोष की महत्ता, ईश्वर इच्छा, पलायनवाद, मायावाद, कर्म सन्यास जैसे तथ्यो को मिलाकर जनमानस को मूर्छित और कायर बना दिया जाय। इसी प्रकार अंग्रेजी शासन काल मे भारतीयो को काले अग्रेज बनाने के लिए अँग्रेजी शिक्षा

के साथ-साथ अँग्रेजी संस्कृति को भी घुला दिया गया ताकि भारतीय संस्कृति की महानता कहीं इस देशवासियो में फिर स्फुरणा पैदा न कर दे और चंगुल में आई शिकार फिर पंजे से छूटकर न भाग जाय।

लार्ड मेकाले का वह शिक्षा षड्यंत्र सर्वविदित है। जिसके अनुसार उन्होने अंग्रेजी शिक्षा का विस्तार करने में ही दृष्टि प्रधान रखी थी भारतीय प्रकारान्तर से अँग्रेजियत का वर्चस्व शिरोधार्य करलें और अँग्रेजी शासन चले जाने पर भी यहाँ के निवासी अपने आदर्शो का उद्गम अँग्रेजी सम्भावना को ही मान कर उसके समर्थक तथा अनुयायी बने रहें । समय बीत गया अब हमें चेतना चाहिए था, पर उस जाग्रति की ओर ध्यान ही नहीं दिया जा रहा जो समस्त जागृतियो का मूलभूत स्रोत है

भारतीय संस्कृति की अपनी अनौखी विशेषताएँ हैं। सच तो यह है कि 'संस्कृति' शब्द के साथ जुड़ी हुई विशेषताओं को पूरा कर सकने में समस्त कसौटी पर कसे जाने पर खरी सिद्ध होने में एक भारतीय संस्कृति ही समर्थ है। अन्य संस्कृतियाँ तो मात्र सभ्यता हैं। सभ्यता किसी देश, काल एवं परिस्थितियों को ध्यान मे रखकर विनिर्मित की जाती है और उसकी सीमा उतने ही दायरे में सीमित रहती है। हर परिस्थिति और देश काल के लिए समान रूप से उसका उपयोग नहीं हो सकता, क्योंकि उसमें सैद्धान्तिक कम और व्यावहारिक तथ्य अधिक होते है। व्यवहार तो ऋतुओं के परिवर्तन के साथ ही बदल जाता है, आयु का हेर-फेर भी व्यवहार बदलने को विवश कर देता है। ऐसी दशा में व्यवहार व्यवस्थाओ की प्रधानता के आधार पर बनी हुई सभ्यताएँ सार्वदेशिक अथवा सर्वकालीन हो ही कैसे सकती है, अँग्रेजी सभ्यता भारत के लिए उपयुक्त बैठ सकती है इसमे पूरा सन्देह है।

भारतीय सस्कृति महान ही नही वरन् वह बेजोड़ भी है। उसके आचरण व्यवहारों के विशुद्ध रूप को देखें। मध्यकालीन विकृतियो की घुसपैठ को उसमें से हटा दे तो निस्सन्देह वह व्यवहार व्यवस्था भी उतनी उच्च कोटि की सिद्ध होगी कि वैयक्तिक व्यवहार और सामाजिक संगठन की परिष्कृत शैली सामने आ जाय और हम उन जंजालों से बच जायें जो व्यष्टि और समष्टि को उद्विग्न बनाकर विनाश की ओर धकेलते चली जा रहे है । संस्कृति की उत्कृष्टता का तो कहना ही क्या—उसे मानवीय ही नहीं दैवी संस्कृति कह सकते हैं । नर-पशु को नर-नारायण के रूप में विकसित कर सकने की सारी सम्भावनाएँ इस दार्शनिक ढाँचे के अन्तर्गत विद्यमान हैं, जिन्हें किसी समय भारतीय संस्कृति के नाम से पुकारा जाता था और सब यदि वह शब्द किसी को अरुचिकर हो तो उसका नाम विश्व संस्कृति भी दिया जा सकता है।

धर्म, अध्यात्म, ईश्वर, जीव, प्रकृति, परलोक, पुनर्जन्म, स्वर्ग, नरक, कर्म, अकर्म, प्रारब्ध, पुरुषार्थ, नीति, सदाचरण, प्रथा, परम्परा, शास्त्र, दर्शन आदि मान्यताओ के माध्यम से भारतीय संस्कृति मनुष्य के चरित्रवान, संयमी कर्त्तव्यपरायण, सज्जन, विवेकवान्, उदार और न्यायशील बनने की प्रेरणा करती है। सब में अपनी आत्माओ को समाया देखकर सब के साथ अपनी पसन्द जैसा सौम्य सज्जनता भरा व्यवहार करना सिखाती है और बताती है कि भौतिक सफलताएँ तथा उपलब्धियाँ न मिलने पर भी विचार एवं कर्म की उत्कृष्टता के साथ जुड़ी हुई दिव्य अनुभूति मात्र का अवलम्बन करके अभावग्रस्त परिस्थितियों में भी आनन्दित रहा जा सकता है। अधिकार की अपेक्षा कर्त्तव्य की प्राथमिकता आलस्य और अवरुद का अन्त और प्रचण्ड पुरुषार्थ में निष्ठा-अपने लिए कम दूसरों के लिए ज्यादा यही तो भारतीय संस्कृति के मूल आधार हैं, जिन्हें शास्त्र और पुराणो के विभिन्न कथोपकथनों द्वारा पृष्ठ -भूमियों मे प्रतिपादित किया गया है। यह मनुष्य को पूर्ण मनुष्य बनाने की एक नृतत्व विज्ञान, मनोविज्ञान, नीति शास्त्र और समाज विज्ञान की एक परिष्कृत एवं समन्वित चिन्तन प्रक्रिया है, जिसे भारतीय संस्कृति के नाम से जाना पहचाना जाता है।

व्यक्ति और समाज की विश्वव्यापी समस्याओं का समाधान करने के लिए उस संस्कृति का आश्रय लिए बिना और कोई मार्ग नही, जिसे भारतीय संस्कृति कहा जाता रहा है और दूसरे शब्दों में उसे विश्व संस्कृति भी कह सकते है।

भारतीय संस्कृति–मानवी संस्कृति

अति प्राचीन काल में संस्कृति का सूर्य भारत में उगा और उसका प्रकाश देश, क्षेत्र की सीमा में अवरुद्ध न रह कर समस्त संसार में फैला। ऋषि-कल्प महामनीषियो के गम्भीर अनुसंधान का भागीरथ-तप जिस महान संस्कृति की ज्ञान-गंगा का धरती पर अवतरण करने में सफल हुआ , उसे भारतीय संस्कृति कहा जाता है।

इसका अर्थ उसकी परिधि अथवा उपयोगिता भारत देश की सीमा क्षेत्र में सीमित कर देना नही है। वह असीम है, सावभौम एवं सर्वजनीन है। उसे मानव संस्कृति या विश्व संस्कृति ही कहना चाहिए। निर्माताओ का चिन्तन सुविस्तृत था । वे जो सोचते थे वह देश, काल, वर्ग की सीमाओ से बहुत आगे की बात होती थी । विश्व मानव विराट विश्व, ब्रह्म एवं वसुधैव कुटुम्बकम् से कम की बात उन्होने कभी सोची ही नहीं। इससे कम भी कुछ हो सकता है यह उन्हे कभी रुचा ही नहीं ।

गंगा हिमालय से निकली अवश्य पर उसका कार्यक्षेत्र एवं अनुदान उस छोटे क्षेत्र मे सीमाबद्ध होकर, नहीं रहा । भारतीय संस्कृति के नाम से किसी को यह भ्रम नही होना चाहिए कि यह भारतवासी या भारतवंशी लोगों की रुचि एवं आवश्यकता को ध्यान में रखकर बनाई गई है। उसमें उन्ही तत्वों का समावेश है, जो देशकाल की सीमा से ऊँची है और शाश्वत एवं सनातन समझे जा सकते हैं। सनातन धर्म शब्द का तात्पर्य उन्ही आस्थाओ से है, जो मानवी प्रगति की अविच्छिन अंग रही हैं और जिन्हें अपनाये रहने पर सुख-शान्ति की दिशा में क्रमशः आगे ही बढ़ते रहा जा सकता है।

नागपुरी संतरे, भुसावली, केले, लखनऊ के खरबूजे , मथुरा के पेड़े चुनार के बर्तन आदि अनेक नामकरण उनके उद्‌गम स्रोत का परिचय देने भर के लिए किये गये हैं। किसी को यह भ्रम नही करना चाहिए कि वे सन्तरे, केले, खरबूजे आदि उन्ही स्थानों के निवासियों के उपयोग में आने के लिए हैं, अन्यत्र कहीं उनकी उपयोगिता नही । विज्ञान के क्षेत्र में अनेक महत्वपूर्ण इकाईयों और सिद्धान्तों के नाम उनके शोधकर्त्ताओ के नाम पर ही रखे गये हैं, पर उनकी सार्वभौमिक उपयोगिता असंदिग्ध है। वर्जीनिया तम्बाखू अब संसार भर में उगाई और प्रयोग लायी जाती है। अरबी घोड़ों की नस्ल संसार भर मे पैदा होती है और काम मे लाई जाती है। भारतीय संस्कृति नाम उसके भारत में विकसित होने के कारण ही पड़ा है, वस्तुतः उसे मानवी संस्कृति नाम देना ही उचित है।

संस्कृति शब्द का अर्थ है परिष्कृति । कच्ची और अनगढ़ वस्तुओं को कुशलतापूर्वक सँभाल-सुधार कर उसे आकर्षक एवं उपयोगी बनाया जाता है। इस सुधार प्रक्रिया को संस्कृति कहा जायेगा।

अनगढ़ वस्तुओं को सुन्दर एवं उपयोगी बनाना भौतिक संस्कृति है। मानवी चेतना पर चढ़े जन्म-जन्मान्तरों के पशु संस्कारों के निवारण का नाम मानवी संस्कृति है। माली अपने पेड़-पौधों को काट-छाँटकर इस स्तर का बनाता है, जो उसके जंगली स्वरूप से बहुत कुछ भिन्न होते हैं। लुहार धातुओं को, मूर्तिकार पत्थर को, दर्जी कपड़ों को, शिक्षक छात्रों को, सरकस का शिक्षक भयंकर जानवरों को जो रूप जो स्तर प्रदान करते है, उसे सभ्यता कह सकते हैं । मनुष्य की आस्थाओ को अमुक मान्यताओ एवं प्रथाओं के आधार पर परिष्कृत बनाने की पद्धति को संस्कृति कहा जाता है। अनगढ़ आदिम नर-पशु को नर-नारायण बना देने का श्रेय मानवी संस्कृति को ही दिया जाता है। इतिहास साक्षी है कि अनादि काल से भारतीय संस्कृति विश्व मानव को देवत्व की दिशा मे बढ़ाने की अति महत्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह करती रही है।

आइए, भारतीय संस्कृति की कुछ मान्यताओ का पर्यवेक्षण करें और देखे कि कोई कुशल माली उद्यान के पेड़- पौधो को सम्भाल, सुधारकर उन्हें सुरम्य उद्यान के रूप में जिस तरह विकसित करता है, उसी तरह मनुष्य को देवत्व की दिशा मे अग्रसर करने के लिए, अपूर्णता से पूर्णता तक पहुँचाने के लिए यह दिव्य संस्कृति उपयोगी है या नही? उसमें व्यक्ति को सुविकसित और समाज को समुन्नत बनाने की क्षमता विद्यमान है या नही ? विश्व को अगले ही दिनो एक सार्वभौम सर्वजनीन सस्कृति की आवश्यकता पड़ेगी,

वह प्रयोजन इससे सधेगा या नहीं ? मानवीय विकास अब एकता की आवश्यकता अनुभव कर रहा है। एक विश्व भाषा, एक विश्व धर्म, एक विश्व संस्कृति, एक विश्व राष्ट्र-बनाये बिना काम चल नहीं सकेगा। बिखराव, विभाजन और बिलगाव की हानियाँ क्रमशः अधिक अच्छी तरह समझी जा रही है। एकता की प्रतिक्रिया से जो सुखद सम्भावनाएँ प्रस्तुत हो सकती हैं उसमें सन्देह की गुंजायश रह नहीं गई है। अस्तु द्रुत गति से घूमने वाले प्रगति चक्र के बिलगाव को निरस्त करके सर्वतोमुखी एकता का तथ्य भी अपने साथ लेकर चलना होगा। इस सार्वभौम एकता की एक अति महत्वपूर्ण कड़ी संस्कृति है। विश्व-विवेक को जब इसकी खोज-बीन करनी पड़े तो बना बनाया, पका-पकाया सब कुछ मिल जायगा। तत्वदर्शी महामनीषियों ने एक ऐसी संस्कृति का अब से लाखों करोड़ों वर्ष पूर्व निर्माण किया था, जिसे बिना देश, काल, वर्ग, वर्ण का भेद किये मानवी आदर्शों की स्थापना के लिए समान रूप से अपनाया और सर्वतोमुखी लाभ उठाया जा सके।

भारतीय संस्कृति की सबसे बड़ी विशेषता है, विचार स्वातंत्र्य। उसमें प्रत्येक विचार पद्धति को विकसित होने और पनपने देने की छूट है। आस्तिकवाद और नास्तिकवाद दोनों ही उसमें पनपते हैं। भक्तिवाद की विशाल परम्परा है पर चार्वाक के नास्तिकवाद को भी बहिष्कृत नहीं किया है। वेदान्त मे आत्मसत्ता को परमात्मा का प्रतीक माना गया है। सांख्यकार ईश्वर की असिद्धि मुक्त कंठ से स्वीकार करते है। जैन धर्म और बौद्ध धर्म मे ईश्वर को स्वीकारा नही गया। इतने पर भी वे सब भारतीय संस्कृति के सम्मानित सदस्य हैं। चेतना के विभाजन की व्याख्या मे काफी मतभेद है त्रैत, द्वैत और अद्वैत की दार्शनिक मान्यताएँ ईश्वर, जीव, प्रकृति की व्याख्याएँ अलग-अलग ढंग से करती है। उनके मतभेद प्रत्यक्ष हैं। ईश्वर की स्वरूप कल्पना मे इतनी छूट कि उसकी आकृति हर व्यक्ति अपनी रुचि के अनुरूप विनिर्मित कर सकता है। किसी समय भारत में तैंतीस कोटि मनुष्यों की जनसंख्या थी। देवताओं की संख्या भी ठीक इतनी ही थी। इसका तात्पर्य हुआ, हर मनुष्य का एक इष्टदेव। प्रथाओं, पूजा पद्धतियों, व्रतों, मान्यताओ की अनेकता और विभिन्नता सर्वविदित है।

मोटी दृष्टि से इसे बिखराव माना जा सकता है पर वस्तुतः ऐसी बात है नहीं। यहाँ विचार स्वातन्त्र्य की सर्वोपरि मान्यता है और सत्य की शोध के लिए हर प्रयोग की गुंजायश है। विचार विकास को अवरुद्ध नहीं किया गया है और दार्शनिक मान्यताओं को पत्थर की लकीर भी नहीं ठहराया गया है। जो जाना जा चुका, वह अन्तिम नही है। बात को कई तरह से सोचा परखा जाना चाहिए। अभिव्यक्तियों और प्रयोगो पर तब तक प्रतिबंध नहीं होना चाहिए, जब तक कि वे नैतिक और सामाजिक मर्यादाओं का उल्लंघन न करती हों।

भारतीय संस्कृति को बौद्धिक प्रजातंत्र कह सकते हैं। प्रजातंत्र में नागरिक को लेखन, भाषण, निर्वाह, धर्म आदि के भौतिक अधिकारों की मान्यता दी गई है। विचार क्षेत्र को भी ठीक इसी तरह की मान्यता केवल भारतीय धर्म ने ही प्रदान की है। अन्य धर्म एक ही पैगम्बर और एक ही धर्मशास्त्र और एक ही विधान को मान्यता देते हैं। अन्य प्रकार से सोचने वालों का दमन करते है। यह अधिनायकवाद हुआ। इससे विवेक और चिन्तन के विनाश की सम्भावनाएँ समाप्त होती हैं। भारत में वैज्ञानिक ढंग से विचार स्वातंत्र्य की छूट दी है और कहा है कि नित्य की शोध, पूर्व मान्यताओ से विपरीत जाती है तो उसे पूर्वजों की अवहेलना नही, चिंतन की प्रगति माना जाना चाहिए। यहाँ जन साधारण के विवेक पर विश्वास रखा गया है और स्वीकार किया गया है कि जन मानस की प्रबुद्ध चेतना स्वतः अपनी विवेक बुद्धि से काम लेगी और जो अनुपयुक्त है, उसे अस्वीकार कर देगी। प्रजातन्त्र मे भी यही होता है। चुनाव में कोई भी पार्टी कुछ भी कार्यक्रम लेकर खड़ी हो सकती है। जन-विवेक समझ से जिन्हें उपयुक्त समझता है, उन्हें चुनता है। ऐसी ही उदार स्वतन्त्रता भारतीय संस्कृति ने दर्शन और धर्म क्षेत्र मे देकर बिखराव का खतरा तो उठाया है पर मानव जाति की—इस समस्त विश्व की प्रगति के लिए विचार स्वातंत्र्य के आधार पर सत्य की शोध को चलने देने की आवश्यकता को सर्वप्रथम मान्यता देते हुए अनेकान्तवादी सहिष्णुता का परिचय दिया है।

एक उद्यान में कई तरह के पौधे और फूल उगते हैं। इस भिन्नता से बगीचे की शोभा ही बढ़ती है। यही बात विचार उद्यान के सन्दर्भ में स्वीकार की जा सकती है। इससे अनेक प्रयोग परीक्षणों के लिए गुँजायश रहती है और सत्य को सीमाबद्ध कर देने से उत्पन्न अवरोध की हानि नहीं उठानी पड़ती है। इस दृष्टिकोण के कारण नास्तिकवादी लोगों के लिए भी भारतीय संस्कृति के अंग बने रहने की छूट है, जबकि उनके लिए धर्मो के द्वार बन्द हैं ।

भारतीय संस्कृति की दूसरी विशेषता है कर्मफल की मान्यता। पुनर्जन्म के सिद्धान्त में जीवन को अवांछनीय माना गया है और मरण की उपमा वस्त्र परिवर्तन से दी गई है। कर्मफल की मान्यता नैतिकता और सामाजिकता की रक्षा के लिए नितान्त आवश्यक है। मनुष्य की चतुरता अद्भुत है। वह सामाजिक विरोध और राजदंड से बचने के अनेक हथकंडे अपनाकर कुकर्मरत रह सकता है। ऐसी दशा में किसी सर्वज्ञ-सर्वसमर्थ सत्ता की कर्मफल व्यवस्था का अंकुश ही उसे सदाचरण की मर्यादा में बाँधे रह सकता है। परलोक की, स्वर्ग नरक की, पुनर्जन्म की मान्यता यह समझाती है कि आज नहीं तो कल, इस जन्म में नहीं तो अगले जन्म में कर्म का फल भोगना पड़ेगा। दुष्कर्म का लाभ उठाने वाले यह न सोचें कि उनकी चतुरता सदा काम देती रहेगी और वे पाप के आधार पर लाभान्वित होते रहेंगे। इसी प्रकार जिन्हें सत्कर्मों के सत्परिणाम नहीं मिल सके हैं, उन्हें भी निराश होने की आवश्यकता नहीं है। अगले दिनों वे भी अदृश्य व्यवस्था के आधार पर मिल कर रहेंगे।

संचित, प्रारब्ध और क्रियमाण कर्म समयानुसार फल देते रहते हैं। इस मान्यता को अपनाने वाला न तो निर्भय होकर दुष्कर्मों पर उतारू हो सकता है और न सत्कर्मों की उपलब्धियों से निराश बन सकता है। अन्य धर्म जहाँ अमुक मत का अवलम्बन अथवा अमुक प्रथा प्रक्रिया अपना लेने मात्र से ईश्वर की प्रसन्नता और अनुग्रह की बात कहते हैं, वहाँ भारतीय धर्म में कर्मफल की मान्यता को प्रधानता दी गई है और दुष्कर्मों का प्रायश्चित करके समाज को पहुँचाई गई क्षति की पूर्ति कर देने को कहा गया है।

अमुक धर्मकृत्यों से पाप-नाश की बात भारतीय संस्कृति में भी फलश्रुति की तरह कही गई है पर उसका प्रयोजन पापवृतियों के शमन होने मात्र का है। पापदण्ड से बचने से तो दुष्कर्मों के लिए उल्टा प्रोत्साहन मिलता है और धर्म का मूल उद्देश्य ही समाप्त होता है। इसी प्रकार अमुक उपासना कृत्यों के जो पुण्य-फल बताये गये हैं, वे पुण्यवृत्ति बढ़ने या पुण्यकर्म बढ़ने और पुण्यफल मिलने के आधार पर ही हैं। उससे सत्कर्मों की तुलना में पूजाकृत्यों को अधिक सरल बताकर इस भटकाव में डालने की बात नहीं है कि जब छुटपुट धर्मकृत्यों में ही लौकिक और पारलौकिक लाभ मिल सकते हैं तो तप त्याग की कष्टसाध्य प्रक्रिया क्यों अपनाई जाय ? संचित, क्रियमाण और प्रारब्ध कर्मों के प्रतिपादन में—ईश्वरीय सत्ता को कर्मफलदात्री शक्ति के रूप में भारतीय संस्कृति ने मनुष्यों को अति महत्वपूर्ण प्रेरणा यही दी है कि वे नैतिक एवं सामाजिक मर्यादाओं के पालन में न केवल लोकमत और शासनतन्त्र वरन् आत्मिक और दैवी विधान के आधार पर भी बँधे हुए हैं। कहना न होगा कि यह आस्थाएँ व्यक्ति को उत्कृष्ट और समाज को आदर्श बनाने में असाधारण योगदान प्रस्तुत करती है।

भारतीय संस्कृति में जीवात्मा को परमात्मा का पवित्र अंश माना गया है। उसके लिए शारीरिक कलुष एवं मानसिक कल्मषों के भव-बन्धनों से छूटकर उदात्त दृष्टिकोण अपनाना एवं जीवनमुक्ति प्राप्त करना—चरम लक्ष्य ठहराया गया है। उत्कृष्ट चिंतन के आधार पर स्वर्गीय मनःस्थिति एवं परिस्थिति बनाने के लिए कथा अलंकारों का सुविस्तृत साहित्य रचा गया है। ब्रह्मविद्या का तत्व ज्ञान आत्मवत् सर्वभूतेषु की, परद्रव्येषु लोष्टवत् की, मातृवत् परदारेषु की, मान्यताओं को हृदयंगम करने की प्रेरणा देता है। और इन्हें कहने-सुनने भर का बात समझा जाय तब तो बात दूसरी है, अन्यथा यदि निष्ठापूर्वक व्यवहारिक जीवन में यह आदर्श उतरने लगे तो सर्वत्र सतयुगी दृश्य उपस्थित हो सकते हैं।

परमात्मा को इष्टदेव माना गया है। इष्ट का अर्थ है 'लक्ष्य'। जीवन को क्षुद्रता की परिधि से निकलकर ईश्वर के समान उदात और पवित्र होना चाहिए, इसी

स्थिति को प्राप्त करना जीवन लक्ष्य बताया गया है। इसमे जीवात्मा को क्रमशः महानआत्मा, देवात्मा और परमात्मा बनने की दिशा में अग्रसर करने वाली उत्कृष्टता को अपनाने की प्रेरणा है। निराकार ईश्वर को अन्तःकरण की सद्‌भावनाओं मे चिन्तन की पवित्रता और कर्मों की श्रेष्ठता में परिलक्षित होना बताया गया है। साकार ईश्वर यह विराट विश्व है। कृष्ण ने अर्जुन और यशोदा को, राम ने कौशल्या और काकभुशुण्डि को अपना यही विराट रूप दिखाया था। शिव लिंग और शालिग्राम की गोल मटोल प्रतिमाएँ इस विश्व ब्रह्माण्ड को ईश्वर का दृश्यमान रूप मानने और प्राणियों के साथ सद्व्यवहार करने एवं पदार्थों का सदुपयोग करने की प्रेरणा देती है। चित्र-विचित्र देवताओ की आकृति अलंकारिक रूप से अनेक सत्प्रवृत्तियो की ही प्रतीक-प्रतिष्ठापनाएँ षोडषोपचार पंचोपचार के पूजा विधानो में प्रकारान्तर से सद्‌भावनाओं और सतप्रवृत्तियों के विकसित करने की ही दिशा दी गई है। सब मिलाकर भारतीय संस्कृति की व्याख्या विवेचना करने वाली आध्यात्मिक एवं धार्मिक मान्यताएँ जन साधारण को अधिक आदर्शवादी, अधिक पवित्र और अधिक लोकोपयोगी बनने की ओर ही अग्रसर करती है।

भारतीय संस्कृति में धर्म और सभ्यता को सर्वथा पृथक् रखा गया है। धर्म के दस लक्षण भगवान मनु ने बताये है, योगशास्त्र मे उन्हें यम-नियम कहा गया है। सभ्यता में प्रथा परम्परा के प्रचलनो की गणना होती है। धर्म शाश्वत है अर्थात् वैयक्तिक और सामाजिक सदाचार के आधार मूल सिद्धान्त सनातन हैं। प्रथा परम्पराएँ सामयिक है। स्मृतिकार समयानुसार उनमें हेर-फेर करते रहे हैं। यह परिवर्तन प्रचलन आवश्यकतानुसार सदा ही होता रहेगा। धर्म और सभ्यता को अन्य धर्मानुयायी अन्तरङ्ग उद्देश्य एक ही है। वह है व्यक्तित्वों को उत्कृष्टतम स्थिति तक पहुँचाने और उसे लोकमंगल के लिए अधिकाधिक त्याग बलिदान करने के लिए प्रशिक्षित करना।

योग और तप के फलस्वरूप अनेका नेक ऋद्धि-सिद्धियाँ मिलने के बात कही गई है। उन्हें जादूगरी के चमत्कारी दुःखो की तरह बाल-विनोद की श्रेणी मे तो नही गिना जाना चाहिए, पर इतना निश्चित है कि महामानवों की भूमिका में परिपक्व हुए मनुष्यो के व्यक्तित्व एवं कर्तृत्व इतने महान होते है कि उनसे असंख्य मनुष्य अनुकरणीय प्रेरणा प्राप्त करते हैं और ऊँचे उठते हैं। इतिहास के पृष्ठ उनकी उत्कृष्टता की अनन्त काल तक भूरि-भूरि प्रशंसा करते है। अपने साथ अपने समय और साथियों का गौरव बढ़ने वाले इन देवात्माओ को ऋद्धि-सिद्धि सम्पन्न कहा जाय तो इसमें अत्युक्ति की कोई गुँजायश नही है।

भारत में जब उसकी महान संस्कृति को व्यावहारिक रूप से अपनाया जाता था, तब यहाँ का प्रत्येक परिवार नर-रत्नों की खदान था। महामानवो का मूल्य करोड़ों रुपयो के लागत से बनने वाले उद्योग प्रतिष्ठानों की अपेक्षा कही अधिक होता है। कोई देश धन सम्पत्ति के आधार पर ही विकासवान नहीं मान लिया जाता उसका असली बल तो राष्ट्रीय चरित्र और महामानवो का बाहुल्य ही होता है। प्राचीन भारत मे भले ही आज जितनी साधन-सुविधा का, धन सम्पदा का बाहुल्य न रहा हो पर उस समय यहाँ घर- घर में जन्मने वाले नर-रत्नों से न केवल इस देश का गौरव बढ़ा था वरन् उनके सत्प्रयत्नो से समस्त संसार ने असीम लाभ उठाया था।

भारतीय जीवन की पारिवारिक आदर्शवादिता देखते ही बनती थी। पिता माता को सन्तुष्ट रखने मे राम, भीष्म, श्रवणकुमार, सत्यवान, जैसे तथा भ्रातृ प्रेम में राम- भरत, पाण्डवों जैसे, मित्रता निर्वाह में कृष्ण-सुदामा कृष्ण- अर्जुन, राम-सुग्रीव, जैसे पतिव्रत-धर्म-निर्वाह में सीता, सावित्री, शैव्या, गान्धारी, दमयन्ती, अनुसूया, सुकन्या जैसे, पत्नी व्रत पालन मे-राम, लक्ष्मण, अर्जुन, शिवाजी जैसे लोगों की भरमार रही है। सन्तान को आदर्श बनाने में शकुन्तला, कुन्ती, सुभद्रा, मदालसा, गङ्गा, सीता आदि ने जो भूमिका निवाही उसकी सराहना किये बिना नही रहा जा सकता। परोपकार के लिए-शिवि, दधीचि, हरिश्चन्द्र, भागीरथ आदि के त्याग कितने प्रेरणाप्रद थे? राजकुमार बुद्ध और राजकुमार महावीर ने राजपाट छोड़कर लोकहित के लिए किस प्रकार साधु जीवन अपनाया? इन परम्पराओं के अनेकों उदाहरण मौजूद हैं। प्रचारक नारद, साहित्य सृजेता व्यास, स्वास्थ्य विज्ञानी चरक, सुश्रुत, वाणभट्ट, ज्योतिर्विज्ञानी-आर्यभट्ट, भास्कराचार्य, रसायनवेत्ता

नागार्जुन जैसे असंख्य महामनीषियो ने अपने- अपने क्षेत्र मे लोकोपयोगी कार्यों की संलग्नता के आदर्श उपस्थित किये थे।

महान ऋषि मुनियों में विश्वामित्र, वशिष्ठ, जमदग्नि, कश्यप, भारद्वाज, कपिल, कणाद, गौतम, जैमिनी पाराशर, याज्ञवल्क्य, कात्यायन, गामिल, पिपलाद, शुकदेव, श्रृंगी, कण्व, लोमश, धौम्य, जरुत्कार, बैशम्पायन, जैसे सहस्त्रो महामानवो ने अपने आदर्श चरित्र और महान कर्तृत्व से विश्वमानव की कितनी सेवा-साधना की इसका स्मरण करने मात्र से हमारी छाती गर्व से फूल उठती है।

आद्यशङ्कराचार्य, कुमारिल भट्ट, नानक, गोविन्द सिंह ज्ञानेश्वर, तुकाराम, समर्थ, चैतन्य, सूर, तुलसी, मीरा, कबीर, दयानन्द, विवेकानन्द आदि की सन्त परम्परा ने युग चेतना का किस प्रकार संचार किया था? यह किसी से छिपा नही है। ध्रुव प्रहलाद जैसे बालक तब घर-घर मे पैदा होते थे। जनक जैसे राजा कृषिकार्य से अपना गुजारा करते थे और राज्यकोष की पाई-पाई प्रजाहित में खर्च करते थे। कर्ण, अशोक, हर्ष, मान्धाता वाजिश्रवा, भामाशाह, जैसे उदार दानी अपनी सम्पदा का सत्प्रयोजनो के लिए समय-समय पर सर्वमेध करते रहे हैं। धर्म हेतु प्राण होमने वाले बलिदानी वीरो में गोरा, बादल जोरावर, फतेसिंह, अभिमन्यु जैसे बालक तक पराक्रम दीखते थे। रानी लक्ष्मीबाई, दुर्गावती, कर्मावती, जैसी नारियॉ तलवार लेकर अनीति से निपटने के लिए अद्भुत् शौर्य दिखाती थी । परशुराम और चाणक्य जैसे ऋषियों ने अनीति से जूझने के लिए योजना बनाई थी। वशिष्ठ से लेकर बन्दा बैरागी गुरुगोविन्द सिंह, रामदास, गांधी तक ने धर्मतन्त्र की तरह राजतन्त्र को भी विकृत न होने देने के लिए साहसिक भूमिका निबाही थी।

कोई क्षेत्र ऐसा बचा न था जिसमें महामानवों का बाहुल्य दृष्टिगोचर न होता हो। आदर्शवादियों के नाम गिनाना असंभव है। जब घर-घर में नर-रत्नों और महामानवों का उत्पादन होता था और उन चन्दन वृक्षो से सारा वातावरण ही महक रहा था तो गणना किस किस की की जाय? वर्षा होती है तो सर्वत्र हरियाली उगी दीखती है। भारतीय संस्कृति की तुलना अमृत वर्षा से की जाती है, वह जहाँ भी गिरेगी वही नयनाभिराम जीवनदायिनी हरीतिमा उत्पन्न करती रहेगी।

आज आदर्शवादिता कहने सुन भर की वस्तु रह गई है। उसका उपयोग कथा प्रवचनों और स्वाध्याय सत्सँगों तक ही सीमित है। व्यवहार में उतारने की आवश्यकता नही समझी जाती और जीवन सिद्धान्त के रूप मे उसे नहीं अपनाया जाता फलतः इस विश्व संस्कृति का सृजनकर्ता भारत में आज उन लाभों से वञ्चित हो रहा है। जो प्राचीन काल में उसे व्यवहार में उतारने वाले हमारे महान पूर्वजों द्वारा उठाये जाते रहे हैं। आदर्शों की दुहाई देने और प्रचलनो की लकीर पीटने से कुछ बनता नही। इन दिनों वैसा ही हो रहा है अस्तू दीपक तले अंधेरा होने जैसी उपहासास्पद स्थिति बन रही है। आज तो हमारा मुंह यह कहकर बन्द कर दिया जाता है कि जब आपकी संस्कृति इतनी महान है तो उनके अनुयायी होते हुए भी आप इस दुर्दशाग्रस्त स्थिति में क्यों पड़े हैं?

हो यह रहा है कि संस्कृति की चर्चा मात्र पर्याप्त मान ली गई है उसके अवतरणो को तो ओढ़े रखा गया हैं पर आत्मा को बहिष्कृत कर दिया गया है। औषधि का माहात्म्य बताने या उसकी शीशी पूजने से तो रोग दूर नही होता । लाभ उठाना हो तो उसका सेवन किया जाना चाहिए। आवश्यकता इस बात की है कि सांस्कृतिक आदर्शों को व्यावहारिक जीवन में प्रवेश मिले, तत्व ज्ञान को आस्थाओ मे सम्मिलित किया जाय और उसे कार्यपद्धति मे उतारने दिया जाय। यही तो उसका प्रयोजन है। यदि भारतवासी या अन्य किसी देश के निवासी इस सांस्कृतिक का आदर्शवादिता को अपना सके तो वे देखेंगे कि व्यक्ति और समाज की सर्वतोमुखी प्रगति की दिशा में अग्रसर करने की कितनी संभावनाएँ विद्यमान है। प्रयोग न करने पर लाभ न मिले तो इसका दोष औषधि पर कहाँ आता है?

भारतीय संस्कृति में समाज-व्यवस्था को चार भागों में बाँटा गया है और व्यक्तिगत जीवन के चार विभाजन किये गये हैं। इस विभाजन-मर्यादा को वर्णाश्रम धर्म कहते हैं। हिन्दू धर्म का दूसरा नाम वर्णाश्रम धर्म भी हैं।

समाज की आवश्यकताओं की शिक्षा, सुरक्षा, सम्पत्ति और श्रमनिष्ठा प्रमुख है। इन्हीं के आधार पर, सामूहिक प्रगति एवं सामाजिक सुव्यवस्था को ध्यान में रखकर हर व्यक्ति अपना व्यवसाय एवं कार्यक्रम निर्धारित करे। यह कार्य रुचि और योग्यता के आधार पर ही अपनाये जा सकते हैं। शिक्षा प्रयोजनों में संलग्न व्यक्तियों को ब्राह्मण, सुरक्षा के लिए कटिबद्ध शासकीय कार्यकर्ता क्षत्रिय, कृषि पशुपालन, शिल्प उद्योगों में निरत वैश्य और समाज को शारीरिक मानसिक श्रम का सीधा लाभ देने वाले श्रमिक वर्ग को शूद्र कहा गया है। यह विशुद्ध कार्य विभाजन है और इसमें रुचि एवं योग्यता को आधार माना गया हैं, इसमें ऊँच-नीच की कोई बात नही है। वंश परम्परा में व्यवसाय पद्धति जुड़ी रहने से उसमें जन्मजात प्रवीणता उत्पन्न होती है, इसलिए यह सुविधाजनक माना गया है कि वंश परम्परा के साथ-साथ व्यवसाय परम्परा भी चलती रहे पर यह कोई बंधन या प्रतिबंध नही है। गुण कर्म स्वभाव के आधार पर वर्ण-व्यवस्था बनती है अस्तु उसमें आवश्यकतानुसार परिवर्तन भी होते रहते हैं। एक जाति या व्यक्ति अपनी कार्य पद्धति बदलकर दूसरी जाति का बन सकता है।

समाज व्यवस्था के लिए कार्य विभाजन की तरह जीवन अवधि के भी भारतीय सांस्कृतिक चार विभाजन प्रस्तुत करती है। ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास इनमें से दो व्यक्तिगत उत्कर्ष के लिए और दो सामाजिक विकास के लिए निर्धारित हैं। आधा जीवन शक्ति संवर्धन और भौतिक उत्पादन में लगाना चाहिए। शारीरिक और मानसिक क्षमता के विकास की पच्चीस वर्ष की आयु को ब्रह्मचर्य कहते हैं। पच्चीस से पचास वर्ष की आयु में भौतिक उत्पादन बढ़ाकर समृद्धि का अभिवर्धन करना चाहिए। आवश्यकतानुसार इसी आयु मे विवाह किया जा सकता है और पीढ़ियों को सुसंस्कृत बनाने के साधन हों तो सीमित सन्तानोत्पादन की भी छूट है। गृहस्थ इसी अवधि का नाम है। यह व्यक्तिगत जीवन में संलग्न आयुष्य का पूर्वार्ध हुआ। जब लोग शतायु होते थे तब यह विभाजन २५+२५=५० का था।

जीवन का आधा भाग उत्तरार्ध विशुद्ध रूप से लोक मंगल में नियोजित रखे जाने की शास्त्रमर्यादा है। ढलती आयु में वानप्रस्थ धारण किया जाय और घर परिवार को आवश्यक मार्गदर्शन सहयोग देते हुए अधिकांश समय समाज सेवा में लगाया जाना चाहिए। इसी मान्यता के आधार पर प्राचीन काल मे सुयोग्य, सुशिक्षित, अनुभवी एवं भावना सम्पन्न लोकसेवी बिना किसी वेतन पारिश्रमिक के मिलते थे और समाज कल्याण के असंख्यों क्रिया-कलाप इस वर्ग द्वारा सुसंचालित किये जाते थे। समुन्नत समाज के लिए यह बहुत बड़ा आधार है कि उसे सुयोग्य और सस्ते समाज सेवी प्रचुर परिमाण में उपलब्ध हो। वानप्रस्थ परम्परा ने ही भारत की आन्तरिक महानता बढ़ाई थी और इसी कारण समस्त विश्व मे यहाँ के महामानवो की सेवा सहायता उपलब्ध हो सकती थी।

शरीर अधिक थक जाने पर परिव्रज्या का, पर्यटन का कार्य कठिन पड़ता है और बादलों की तरह सुदूर क्षेत्रों मे जाकर सेवा साधना के विभिन्न कार्यक्रमो को चलाया जा सकना संभव नही होता, तब एक स्थान पर कुटी आश्रम बनाकर साधना-शिक्षा, स्वाध्याय आदि के लिए विद्यालय, चिकित्सालय, ग्रन्थरचना, योगसाधना, सत्संग, परामर्श जैसे कार्यों को हाथ मे लिया जाता है। संक्षेप में परिव्राजक लोकसेवियों को वानप्रस्थ एवम् ब्राह्मण कहा जाता है और आश्रमवासी साधुओं को संन्यासी आश्रम अधिष्ठाता सन्तमहन्त की कार्यपद्धति अपनानी होती है।

कहना न होगा कि वानप्रस्थ और संन्यास की जीवन अवधि में देश के अत्यन्त महत्वपूर्ण व्यक्तित्व अपनी समूची सामर्थ्य को मानवी उत्कर्ष में नियोजित करते थे तो उसका परिणाम देव समाज के रूप मे, स्वर्गीय परिस्थितियो के रूप में प्रस्तुत होना ही चाहिए। इन लोकसेवियों के निर्वाह के लिए कहीं से वेतन आदि का प्रबंध नहीं था। घर-घर मे अतिथि सत्कार की धर्म परम्परा प्रचलित थी। साधु ब्राह्मणो को भोजन, वस्त्र जैसे निर्वाह साधन प्रस्तुत करना प्रत्येक सद्गृहस्थ अपना परम पवित्र कर्तव्य मानता था और उसका अवसर मिलने पर अपने सौभाग्य को सराहता था। सम्पन्न लोग इन लोकसेवियों के लिए धर्मशाला एवम् देवालयो मे विश्वास स्थान बनाते थे। अन्न क्षेत्र आदि की विशेष व्यवस्था करते थे। ब्रह्म भोज की, साधु ब्राह्मणो को समय-समय पर दान देने की परम्परा

इसी दृष्टि से प्रचलित हुई ताकि उस आधार पर लोकसेवियों को निर्वाह के साधन-सुविधा और सम्मान के साथ मिल सकें। यदि कहीं इस प्रकार की निर्धारित पूर्व व्यवस्था न होती तो वे विना सङ्कोच हर घर को अपना घर मानकर भोजन के समय रोटी भी माँग लेते थे। भिक्षा को इसी आधार पर ग्राह्य एवम् देय माना गया है, अन्यथा समर्थ व्यक्ति के लिए स्वार्थ साधन के हेतु माँगी हुई भिक्षा तो प्रत्यक्ष ही आत्मसम्मान के लिए सर्वथा विरुद्ध और अग्राह्य ही ठहराई जा सकती है।

आज साधु ब्राह्मणो की जो दुर्गति है, भिक्षा व्यवस्था की जो स्थिति है, धर्मशाला और अन्य क्षेत्रों का जैसा दुरुपयोग होता है, उसे देखकर हर धर्मप्रेमी को केवल दुःख ही हो सकता है। ७ लाख गाँवों मे यदि वर्तमान ५६ लाख साधु सेवा-प्रयोजनो के लिए चले गये होते तो हर गाँव को आठ समाजसेवी मिलते और वहां की अनेकों सार्वजनिक सेवा सत्प्रवृत्तियाँ आकाश चूमतीं और सर्वतोमुखी प्रगति का पथ प्रशस्त करती दिखाई पड़तीं।

भारतीय संस्कृति में प्रतीक पूजा का प्रचलन है। मूर्तियों में नदी, पर्वतों, वृक्षों, पशु-पक्षियो में यहाँ तक कि चूल्हे, चक्की, ऊखल, फसल, जैसे उपकरणों की पूजा का प्राविधान रखा गया है। स्थूल दृष्टि से यह सब जड़पूजा का उपहासास्पद प्रयोग प्रतीत होता है। किन्तु वस्तुतः वैसा है नही। सूक्ष्म तक पहुँचने के लिए स्थूल का प्रयोग किया जा सकता है। कीटाणुओं और जीवाणुओं को खुली आँख से नही देख पाते तो उसके लिए माइक्रोस्कोप का प्रयोग करते हैं। भाव-संवेदनाएँ अति सूक्ष्म होती हैं, उनका स्मृति एवं जागृति के लिए उपकरणों का प्रयोग किया जाता है तो उसे उचित एवम् आवश्यक ही माना जाना चाहिए।

ज्ञान वृद्धि के लिए पुस्तक की आवश्यकता पड़ती है। विचार अभिव्यक्ति के लिए लेखनी का उपयोग करना पड़ता है। विचार सूक्ष्म हैं उनकी कोई आकृति नही बन सकती है पर लेखनी से लिपिबद्ध करके उन्हें मूर्तिमान बना दिया जाता है। इन लिखे पृष्ठों को पढ़ने से उन्हीं भावों के साथ पाठक का सम्बन्ध स्थापित हो जाता है, जो लेखक के मन मस्तिष्क में थे। इस प्रकार कागज पर लिखे अक्षर सर्वथा स्थूल होते हुए भी अभीष्ट चिन्तन के आदान-प्रदान का माध्यम बन जाते हैं। प्रतीक पूजा की उपयोगिता इस आधार पर सहज ही समझी जा सकती है।

निराकारवादी भी कई प्रकार के प्रतीकों का उपयोग अपनी श्रद्धाभिव्यक्ति के लिए करते हैं। ईसाइयों में क्रूम के चिन्ह का सम्मान है। मुसलमान काबा की तरह मुँह करके नमाज पढ़ते हैं और हज जाकर 'सगे असवद' और बोसा लेकर अपनी यात्रा को सफल मानते हैं। सगे असवद पत्थर ही तो है। ताजिये निकालने और मसजिद को खुदा का घर मानने की मान्यता भी प्रतीक पूजा कही जा सकती है। रूस मे लैनिन का शरीर सुरक्षित रखा गया है और उसका दर्शन करने विश्व भर के लोग पहुँचते हैं। राष्ट्रीय झण्डे का सम्मान और अभिवादन किया जाता है। बुद्धिवादी लोग भी अपने पूर्वजों के चित्र टाँगते हैं और उनका सम्मान करते हैं। आर्य समाजी और फारसी अग्नि पूजा करते है। बच्चों को 'क' कबूतर 'ख' खरगोश पढ़ाया जाता हैं और गिनती सीखने के लिए बाल-फ्रेम की गोलियाँ का प्रयोग होता हैं। किन्डर गार्टन पद्धति में लकड़ी के टुकड़े जोड़कर अक्षरों की शक्ल बनाने की विधि शिक्षण-प्रक्रिया में सम्मिलित रखी गई हैं। इन्हें भी कहने वाले प्रतीक पूजा कह सकते है। पर इससे किसी को कोई हानि नही होती और न प्रयोगकर्ताओ को उपहासास्पद ठहराया जाता हैं।

भारतीय धर्म में प्रतीत पूजा के माध्यम से उपयोगी उपकारी पदार्थों शक्तियों एवं व्यक्तियों के प्रति कृतज्ञता व्यक्त की जाती हैं और उसमें जो श्रेष्ठता सन्निहित है उसके प्रति सम्मान व्यक्त करने एवं अपनाने का भाव है। यह सोचना व्यर्थ है कि प्रतीक पूजा वाले इतने मूर्ख हैं जो प्रतिमाओं को ही देवता या परमेश्वर मान लेते होंगे। मूर्ति खण्डित हो जाने पर उसे जल प्रवाह कर देते हैं और उसके स्थान पर नई प्रतिभा स्थापित करते हैं। नवरात्रि में देवी की भाद्रपद में गणेश की प्रतिमाएँ स्थापित की जाती हैं और धूमधाम के साथ किसी जलाशय में विसर्जित कर दी जाती हैं। यदि उन प्रतीको को ही भगवान या देवता माना जाता तो उन्हें इस प्रकार प्रवाहित करने की धृष्टता

करने की बात कोई सोच नहीं सकता था। हर कोई जानता है कि प्रतीक-प्रतीक ही है, उनके माध्यम से भावनाओ के उभारने भर का प्रयोजन सिद्ध किया जाता है। वेद, कुरान, बाइविल, ग्रन्थसाहब आदि ग्रन्थों के प्रति हर धर्म में श्रद्धा सम्मान भरी अभिव्यक्ति होती है। यह छपे कागजों का नहीं अनके ग्रन्थों में लिखे विचारों का ही सम्मान हैं। भारतीय संस्कृति में प्रतीक पूजा को इसी दृष्टि से स्थान दिया गया है। उसमें न तो उपहास की कोई बात है और न जड़ पूजा पर आक्षेप करने की यह उत्कृष्ट चिन्तन को दिशा देने की सरल सुबोध एवं सर्वोपयोगी प्रक्रिया है।

तीर्थों की स्थापना कई दृष्टियों से हुई है। देशाटन से अपने प्रदेश की स्थिति का प्रत्यक्ष ज्ञान जनजीवन की विभिन्न परिस्थितियों की प्रतिक्रिया तथा समाधान जानकारी विभिन्न वर्गों और क्षेत्रों की उन्नति अवनति एवं विविधिताओं की तुलनात्मक समीक्षा जैसे आधार सामने आने से व्यवहारिक ज्ञान में इतनी वृद्धि होती है, जितनी पुस्तकों से किसी भी प्रकार सम्भव नही हो सकती । स्कूली छात्रों को पर्यटन की सरकारी सुविधा मिलती है और उन्हें इसके लिए प्रोत्साहित किया जाता है। इसी ज्ञान वृद्धि की आवश्यकता तीर्थ यात्रा के माध्यम से होने वाले देशाटन द्वारा सम्भव होती है।

तीर्थ यात्रा में पैदल यात्रा का माहात्म्य बताया गया है। धर्मोपदेश करती हुई टोलियाँ एक स्थान से दूसरे स्थानों को जाती थीं और रास्ते में पड़ाव देखकर गाँव में प्रगतिशील प्रेरणाएँ भरती और उपयोगी मार्गदर्शन करती थीं। पिछले दिनों सन्त बिनोवा की भूदान यात्रा प्रसिद्ध रही है । उससे समाज को कितना लाभ एवं प्रकाश मिला यह सर्वविदित है। प्राचीन काल की तीर्थ यात्राओ का स्वरूप लगभग इसी से मिलता-जुलता था।

तीर्थों मे दूरदर्शी मनीषी विद्वानों के आश्रम थे और वहाँ के पवित्र वातावरण मे कुछ दिन ठहरकर तीर्थ-यात्रियों को अपनी जीवन समस्याओं के समाधान मे सहायक उपयोगी चिन्तन एवं दृष्टिकोण को समझने अपनाने का अवसर मिलता था। तत्वदर्शी ऋषिकल्प विद्वानो के सत्संग परामर्श का असाधारण लाभ तीर्थ यात्रियों को मिलता था। वे भी अपनी योजनाएँ इन यात्रियों के माध्यम से व्यापक बनाने में एक जगह बैठे-बैठे भारी सफलता प्राप्त कर लेते थे।

पारिवारिक शील-शिक्षा के लिए संस्कारों का और सामाजिक सुव्यवस्था बनाये रहने के लिए त्यौहारो के सामूहिक समारोहों का प्रचलन भारतीय संस्कृति का अविच्छिन्न अंग बना हुआ है। माता के गर्भ में आने से लेकर मरण पर्यन्त प्रत्येक व्यक्ति के सोलह संस्कार होते थे। इस धर्म समारोह में सम्बन्धित व्यक्ति की तथा इससे सम्बन्धित व्यक्तियों को ऐसा प्रशिक्षण दिया जाता था कि व्यक्तित्व को उत्कृष्ट रखने के साथ-साथ पारिवारिक उत्तरदायित्वों का निर्वाह भी ठीक प्रकार होता रहे। धर्मानुष्ठानों मे भावनात्मक वातावरण बन जाता है। उस उत्साह भरी मनः स्थिति में दिया गया शिक्षण धर्म परम्पराओ से अधिक प्रभावशाली और चिरस्थायी होती है। यह निश्चित है।

वर्तमान परिस्थितियों में १६ संस्कारों का प्रचलन तो कठिन है पर १० आसानी से हो सकते है।

(१) पुंसवन—गर्भवती के आहार-विहार मे सतर्कता रखने की आवश्यकता, उपयोगिता एवं व्यवस्था का शिक्षण।

(२) नामकरण—शिशु-पालन एवं उनकी शारीरिक मानसिक विकास के लिए आवश्यक जानकारियों का पूरे परिवार को प्रशिक्षण।

(३) अन्नप्राशन—दुर्बल पेट होने के कारण बालकों के लिए खाद्य पदार्थ सम्बन्धी तथा खिलाने सम्बन्धी आवश्यक ज्ञान का परिचय।

(४) मुण्डन—शिक्षा स्थापन एवं उसके साथ जुड़े हुए विचार विज्ञान के महत्त्व का पूरे परिवार को उद्बोधन।

(५) विद्यारंभ—अक्षरारंभ समारोह के साथ-साथ शिक्षा संबंधी सामयिक निर्देश।

(६) यज्ञोपवीत—मानवी उत्तरदायित्वो को कंधे पर उठाने की शपथ दिलाते हुए गुण कर्म स्वभाव मे आदर्शवादिता के समावेश का सर्वतोन्मुखी प्रशिक्षण।

(७) विवाह—संयुक्त जीवन निर्वाह एवं परिवार निर्माण तथा संचालन के तथ्य, सूत्र और उत्तरदायित्वों की शिक्षा एव प्रतिज्ञा।

(८) वानप्रस्थ—ढलती आयु को लोक मंगल के लिए समर्पण ।

(९) अन्त्येष्टि—मृत शरीर का अग्निहोत्र में समापन और मृतक के छोड़े उत्तरदायित्वों के निर्वाह का कुटुम्बियो को उद्बोधन।

(१०) मरणोत्तर श्राद्ध—मृतक की छोड़ी सम्पत्ति का असमर्थ कुटुम्बियों की निर्वाह व्यवस्था के लिए रखकर शेष को सत्प्रयोजनो के लिए समापन।

स्मरण रहे कमाऊ बच्चे अपने पसीने की कमाई पर ही सन्तोष करते थे और पैतृक सम्पत्ति को हराम की कमाई समझकर उसे स्वर्गीय आत्मा की सद्गति विकास के लिए श्रद्धापूर्वक पुण्य प्रयोजनो में लगा देते थे। इसी दान प्रक्रिया को श्राद्ध कहा गया है।

त्यौहार यो तो ढेर है पर उनमे १० को प्रमुख मान कर उनका प्रचलन जारी रखा जा सकता है।

(१) सरस्वती का जन्म-दिन माघसुदी पंचमी, बसंत पर्व साहित्य और कला का विस्तार करने के लिए ।

(२) प्रहलाद के सत्याग्रह की विजय का दिन होली-फाल्गुन सुदी पूर्णिमा, सामूहिकता एवं स्वच्छता बढ़ाने के लिए ।

(३) रामजयन्ती, चैतसुदी नवमी, मर्यादा पुरुषोत्तम राम द्वारा प्रतिपादित मर्यादाओं से प्रकाश ग्रहण।

(४) गंगा जयन्ती-गायत्री जयन्ती, ज्येष्ठ सुदी १०, आदर्शवादी विवेकशीलता विकसित करने के लिए।

(५) व्यास पूर्णिमा-गुरु पूर्णिमा, आषाढ़ सुदी पूर्णिमा, सर्वतोमुखी अनुशासन का पर्व।

(६) उपनयन पर्व, श्रावणी, श्रावण सुदी पूर्णिमा, पशु प्रवृत्ति छोड़ने और मानवी आदर्श अपनाने की शपथ का हर वर्ष नवीनीकरण।

(७) जन्माष्टमी कृष्णजयन्ती—भाद्रपद वदी अष्टमी पूर्णपुरुष योगेश्वर कृष्ण की समाज निर्माण नीति का ऊहापोह।

(८) विजय दशमी—आश्विन सुदी दशमी, शौर्य पराक्रम एव संगठन का पर्व।

(९) लक्ष्मी जयन्ती—दीपावली, कार्तिकवदी अमावस्या अर्थ समस्याओं के समाधान का सामयिक चिन्तन।

(१०) गीताजयन्ती—मार्गशीर्ष सुदी एकादशी, कर्मयोग एवं कर्तव्य पालन की प्रधानता का उद्बोधन

इन पर्वों को यदि सामूहिक रूप से मनाया जाए तो समाज को सुविकसित बनाने के समस्त महत्त्वपूर्ण पर्वों पर प्रकाश डाला जा सकता है और जन साधारण को व्यक्तिवाद छोड़कर समाजवाद अपनाने के लिए प्रोत्साहित किया जा सकता है।

कुम्भ पर्व जैसे विशाल और स्थानीय धार्मिक मेले विशेष पर्वों पर आयोजित किये जाते हैं। इन्हें स्थानीय, क्षेत्रीय, प्रान्तीय एवं सार्वदेशिक धर्म सम्मेलन कहा जा सकता है। इन दिनों तो वे नदी-स्नान या देवदर्शन मात्र की लकीर पीटकर समाप्त हो जाने और मेले ठेले का मनोरंजन करते है। किसी समय वे विशालकाय धर्म-सम्मेलन थे। उनमें एकत्रित धर्माध्यक्ष उपस्थित जनसमूह को धर्म मंच से प्रस्तुत प्रेरणाओं के समाधान प्रस्तुत करते थे।

शिखा और सूत्र भारतीय धर्म के दो प्रतीक हैं। शिखा का अर्थ है सद्विचारों को शरीर के सर्वोच्च शिखर पर फहराना। जीवन भर आदर्शवादिता का आधिपत्य स्वीकार करना। यज्ञोपवीत का अर्थ है पशु प्रवृत्ति से विरत होकर देव संस्कृति अपनाने के लिए प्रयत्नशील रहने की घोषणा का प्रतीक, जिसे कंधे पर, हृदय पर, कलेजे पर और पीठ पर लपेटकर रखा जाता है। यज्ञोपवीत के नौ धागो मे विवेक, संयम, श्रमनिष्ठा, स्वच्छता, सज्जनता, कर्त्तव्य परायणता, सामूहिकता, उदारता, आवश्यकता को धारण करने की शिक्षा है। तीन ग्रन्थियों मे वैयक्तिक, पारिवारिक और सामाजिक उत्तरदायित्वो के निर्वाह की प्रेरणा है और बड़ी ग्रन्थियों में सर्वतोमुखी एकता की दिशा में बढ़ने का संकेत है।

इस प्रकार भारतीय संस्कृति में पग-पग पर पर्वों, त्यौहारो, संस्कारों, तीर्थो द्वारा शिक्षा ग्रहण करने और उसके परिपालन द्वारा व्यक्तित्व को उत्कृष्ट आदर्शवादिता की दिशा में ढालने की ऐसी व्यवस्था की गई है कि यदि निष्ठापूर्वक उन्हें अपनाया गया तो जीवन के उदात्त बनने मे कोई संदेह रह नही जाता।

भारतीय संस्कृति उत्कृष्टता का केन्द्र बिन्दु

भारत एक देश नहीं, मानवी उत्कृष्टता एवं संस्कृति का उद्गम केन्द्र है। हिमालय के शिखरों पर जमा बर्फ जल धारा बनकर बहता है, अपनी शीतलता पवित्रता से एक सुविस्तृत भू-भाग को सरसता एवं हरीतिमा युक्त कर देता है। भारत वर्ष धर्म और अध्यात्म का उदयाचल है, जहाँ से सूर्य उगता और सारे भू-मण्डल को आलोक से भर देता है। प्रकारान्तर से यह आलोक ही जीवन है, जिसके सहारे वनस्पतियाँ उगती, घटायें बरसती और प्राणियों में सजीवता की हलचलें होती हैं। 'डार्विन' ने अपने प्रतिपादन में मानव को बन्दर की औलाद कहा है। सचमुच यही स्थिति व्यवहार में रही होती यदि नीतिमत्ता, मर्यादा, सामाजिकता, सहकारिता, उदारता जैसे सद्गुण उसमें विकसित न हुए होते।

बीज में वृक्ष की समस्या विशेषताएँ सूक्ष्म रूप से कैद रहती है। किन्तु वे स्वतः विकसित नहीं हो पाती। वे प्रसुप्त ही पड़ी रहतीं, यदि अनुकूल परिस्थितियाँ न मिलतीं। प्रयत्नपूर्वक उसे अंकुरित, विकसित करके विशाल बनने की स्थिति तक पहुँचाना पड़ता है। मनुष्य के सम्बन्ध में भी तकरीबन यही बात है। सृष्टा ने उसे सृजा तो अपने हाथों से ही है एवं असीम सम्भावनाओं से परिपूर्ण भी बनाया है, पर साथ हीं इतनी कमी भी छोड़ी है कि विकास के प्रयत्न बन पड़ें, तो ही समुन्नत स्तर तक पहुँचने का अवसर मिलेगा।

प्रत्यक्ष है कि जिन्हें सुसंस्कारिता का वातावरण मिला वे प्रगति पथ पर अग्रसर होते चले गये। जिन्हें उससे वंचित रहना पड़ा वे अभी भी अन्य प्राणियों की तरह रहते और पिछड़ी परिस्थितियो में समय गुजारते है। इस प्रगतिशीलता के युग मे भी ऐसे वनमानुषों की कमी नही, जिन्हें बन्दर की औलाद ही नहीं, उसकी प्रत्यक्ष प्रतिकृति भी कहा जा सकता है। यह पिछड़ापन और कुछ नही, प्रकारान्तर से संस्कृति का प्रकाश न पहुँच सकने के कारण उत्पन्न हुआ अभिशाप भर है।

अन्य धर्म प्रचलनों की तुलना हमारी संस्कृति से नही की जा सकती। इसे किसी वर्ग, समुदाय, क्षेत्र या सम्प्रदाय की मान्यताओं के समर्थन में नही गढ़ा गया है, वरन् मानव की सार्वभौम सत्ता को उत्कृष्ट एवं प्रखर बनाने वाले सिद्धान्तों का समावेश करते हुए इस स्तर का बनाया गया है कि उसे हृदयंगम करने वाले आचरण में उतारने वाले देव मानवों की तरह जी सकें। आज विश्व की प्रगति की दिशा मे चल रही क्रमिक गतिशीलता के पीछे, जिस दिव्य अनुदान की झाँकी मिलती है, उसे पर्यवेक्षक एक स्वर से भारत की देव संस्कृति का अनुदान मानते और कृतज्ञतापूर्वक शत-शत नमन करते हैं।

भारत में जन्मने के कारण उसे भारतीय संस्कृति नाम मिल गया। यह एक संयोग मात्र है। इसमें किसी क्षेत्र विशेष के प्रति आग्रह या पक्षपात नही है। यदि यह सर्वप्रथम कही अन्यत्र उगी-उपजी होती तो संभवतः उसे उस क्षेत्र के नाम से पुकारा जाने लगता। उत्पादन करती भूमि के साथ उसके उपार्जनों का नाम भी जुड़ जाता है। इसे प्रचलन ही कहेगे। नागपुरी सन्तरे, लखनवी आम, असमी चाय, नागौरी बैल, अरबी घोड़े, मैंसूरी चन्दन का यह अर्थ नही कि वे उस क्षेत्र विशेष तक ही सीमित रहेगे। भारतीय संस्कृति को विश्व संस्कृति मानवी संस्कृति के रूप में ही जाना माना गया है। संसार के महामानवो ने उसका मूल्यांकन इसी दृष्टि से किया है। इतिहास के पृष्ठो पर इन तथ्यों का सुविस्तृत उल्लेख है कि इस देव संस्कृति का प्रवाह मलयज पवन की तरह समस्त संसार में बिखरा और उसने बिना किसी भेदभाव के हर क्षेत्र को समुन्नत एवं सुसंस्कृत बनाने में भारी योगदान दिया। किसी समय इस तत्वदर्शन को सर्वत्र जगद्गुरु, चक्रवर्ती, धरती को स्वर्ग जैसे नामों से कृतज्ञतापूर्वक स्मरण किया जाता था। इसे श्रेष्ठता के प्रति सहज श्रद्धा की स्वतः स्फुरणा कहा जा सकता है।

भारतीय संस्कृति की गरिमा सम्पन्नो, समर्थो, विद्वानो की प्रतिभा की चमत्कृति नही कही जा सकती, मध्यकालीन सस्कृति दबाव और प्रलोभनों के सहारे अगणित लोगो पर लदी और फैली है किन्तु देव संस्कृति के बारे में इस प्रकार उँगली उठाने की कही कोई गुंजाइश नही है। इसका तत्त्वदर्शन अपने आप मे अद्‌भुत और महान् है। उसे भावुक अभिव्यक्तियो में

(८) वानप्रस्थ—ढलती आयु को लोक मंगल के लिए समर्पण ।

(९) अन्त्येष्टि—मृत शरीर का अग्निहोत्र मे समापन और मृतक के छोड़े उत्तरदायित्वों के निर्वाह का कुटुम्बियो को उद्‌बोधन।

(१०) मरणोत्तर श्राद्ध—मृतक की छोड़ी सम्पत्ति का असमर्थ कुटुम्बियों की निर्वाह व्यवस्था के लिए रखकर शेष को सत्प्रयोजनो के लिए समापन।

स्मरण रहे कमाऊ बच्चे अपने पसीने की कमाई पर ही सन्तोष करते थे और पैतृक सम्पत्ति को हराम की कमाई समझकर उसे स्वर्गीय आत्मा की सद्‌गति विकास के लिए श्रद्धापूर्वक पुण्य प्रयोजनो मे लगा देते थे। इसी दान प्रक्रिया को श्राद्ध कहा गया है।

त्यौहार यो तो ढेर है पर उनमे १० को प्रमुख मान कर उनका प्रचलन जारी रखा जा सकता है।

(१) सरस्वती का जन्म-दिन माघसुदी पंचमी, बसंत पर्व साहित्य और कला का विस्तार करने के लिए ।

(२) प्रहलाद के सत्याग्रह की विजय का दिन होली-फाल्गुन सुदी पूर्णिमा, सामूहिकता एवं स्वच्छता बढ़ाने के लिए ।

(३) रामजयन्ती, चैतसुदी नवमी, मर्यादा पुरुषोत्तम राम द्वारा प्रतिपादित मर्यादाओ से प्रकाश ग्रहण।

(४) गंगा जयन्ती-गायत्री जयन्ती, ज्येष्ठ सुदी १०, आदर्शवादी विवेकशीलता विकसित करने के लिए।

(५) व्यास पूर्णिमा-गुरु पूर्णिमा, आषाढ़ सुदी पूर्णिमा, सर्वतोमुखी अनुशासन का पर्व।

(६) उपनयन पर्व, श्रावणी, श्रावण सुदी पूर्णिमा, पशु प्रवृति छोड़ने और मानवी आदर्श अपनाने की शपथ का हर वर्ष नवीनीकरण।

(७) जन्माष्टमी कृष्णजयन्ती—भाद्रपद वदी अष्टमी पूर्णपुरुष योगेश्वर कृष्ण की समाज निर्माण नीति का ऊहापोह।

(८) विजय दशमी—आश्विन सुदी दशमी, शौर्य पराक्रम एवं संगठन का पर्व।

(९) लक्ष्मी जयन्ती—दीपावली, कार्तिकवदी अमावस्या अर्थ समस्याओ के समाधान का सामयिक चिन्तन।

(१०) गीताजयन्ती—मार्गशीर्ष सुदी एकादशी, कर्मयोग एवं कर्तव्य पालन की प्रधानता का उद्‌बोधन।

इन पर्वों को यदि सामूहिक रूप से मनाया जाय तो समाज को सुविकसित बनाने के समस्त महत्त्वपूर्ण पर्वों पर प्रकाश डाला जा सकता है और जन साधारण को व्यक्तिवाद छोड़कर समाजवाद अपनाने के लिए प्रोत्साहित किया जा सकता है।

कुम्भ पर्व जैसे विशाल और स्थानीय धार्मिक मेले विशेष पर्वों पर आयोजित किये जाते हैं। इन्हें स्थानीय, क्षेत्रीय, प्रान्तीय एवं सार्वदेशिक धर्म सम्मेलन कहा जा सकता है। इन दिनों तो वे नदी-स्नान या देवदर्शन मात्र की लकीर पीटकर समाप्त हो जाने और मेले ठेले का मनोरंजन करते हैं। किसी समय वे विशालकाय धर्म-सम्मेलन थे। उनमे एकत्रित धर्माध्यक्ष उपस्थित जनसमूह को धर्म मंच से प्रस्तुत प्रेरणाओं के समाधान प्रस्तुत करते थे।

शिखा और सूत्र भारतीय धर्म के दो प्रतीक हैं। शिखा का अर्थ है सद्‌विचारों को शरीर के सर्वोच्च शिखर पर फहराना। जीवन भर आदर्शवादिता का आधिपत्य स्वीकार करना। यज्ञोपवीत का अर्थ है पशु प्रवृति से विरत होकर देव संस्कृति अपनाने के लिए प्रयत्नशील रहने की घोषणा का प्रतीक, जिसे कंधे पर, हृदय पर, कलेजे पर और पीठ पर लपेटकर रखा जाता है। यज्ञोपवीत के नौ धागों मे विवेक, संयम, श्रमनिष्ठा स्वच्छता, सज्जनता, कर्त्तव्य परायणता, सामूहिकता उदारता, आवश्यकता को धारण करने की शिक्षा है। तीन ग्रन्थियों मे वैयक्तिक, पारिवारिक और सामाजिक उत्तरदायित्वो के निर्वाह की प्रेरणा है और बड़ी ग्रन्थियों में सर्वतोमुखी एकता की दिशा में बढ़ने का संकेत है।

इस प्रकार भारतीय संस्कृति में पग-पग पर पर्वों, त्यौहारों, संस्कारो, तीर्थो द्वारा शिक्षा ग्रहण करने और उसके परिपालन द्वारा व्यक्तित्व को उत्कृष्ट आदर्शवादिता की दिशा मे ढालने की ऐसी व्यवस्था की गई है कि यदि निष्ठापूर्वक उन्हे अपनाया गया तो जीवन के उदात्त बनने में कोई संदेह रह नही जाता।

भारतीय संस्कृति उत्कृष्टता का केन्द्र बिन्दु

भारत एक देश नहीं, मानवी उत्कृष्टता एवं संस्कृति का उद्गम केन्द्र है। हिमालय के शिखरों पर जमा बर्फ जल धारा बनकर बहता है, अपनी शीतलता पवित्रता से एक सुविस्तृत भू-भाग को सरसता एवं हरीतिमा युक्त कर देता है। भारत वर्ष धर्म और अध्यात्म का उदयाचल है, जहाँ से सूर्य उगता और सारे भू-मण्डल को आलोक से भर देता है। प्रकारान्तर से यह आलोक ही जीवन है, जिसके सहारे वनस्पतियाँ उगती, घटायें बरसती और प्राणियों में सजीवता की हलचलें होती हैं। 'डार्विन' ने अपने प्रतिपादन में मानव को बन्दर की औलाद कहा है। सचमुच यही स्थिति व्यवहार में रही होती यदि नीतिमत्ता, मर्यादा, सामाजिकता, सहकारिता, उदारता जैसे सद्गुण उसमे विकसित न हुए होते।

बीज में वृक्ष की समस्या विशेषताएँ सूक्ष्म रूप से कैद रहती है। किन्तु वे स्वतः विकसित नही हो पातीं। वे प्रसुप्त ही पड़ी रहती, यदि अनुकूल परिस्थितियाँ न मिलती। प्रयत्नपूर्वक उसे अंकुरित, विकसित करके विशाल बनने की स्थिति तक पहुँचाना पड़ता है। मनुष्य के सम्बन्ध में भी तकरीबन यही बात है। सृष्टा ने उसे सृजा तो अपने हाथों से ही है एवं असीम सम्भावनाओ से परिपूर्ण भी बनाया है, पर साथ ही इतनी कमी भी छोड़ी है कि विकास के प्रयत्न बन पड़ें, तो ही समुन्नत स्तर तक पहुँचने का अवसर मिलेगा।

प्रत्यक्ष है कि जिन्हें सुसंस्कारिता का वातावरण मिला वे प्रगति पथ पर अग्रसर होते चले गये। जिन्हे उससे वचित रहना पड़ा वे अभी भी अन्य प्राणियो की तरह रहते और पिछड़ी परिस्थितियों में समय गुजारते है। इस प्रगतिशीलता के युग में भी ऐसे वनमानुषो की कमी नही, जिन्हे बन्दर की औलाद ही नही, उसकी प्रत्यक्ष प्रतिकृति भी कहा जा सकता है। यह पिछड़ापन और कुछ नहीं, प्रकारान्तर से संस्कृति का प्रकाश न पहुँच सकने के कारण उत्पन्न हुआ अभिशाप भर है।

अन्य धर्म प्रचलनों की तुलना हमारी संस्कृति से नही की जा सकती। इसे किसी वर्ग, समुदाय, क्षेत्र या सम्प्रदाय की मान्यताओं के समर्थन में नही गढ़ा गया है, वरन् मानव की सार्वभौम सत्ता को उत्कृष्ट एवं प्रखर बनाने वाले सिद्धान्तों का समावेश करते हुए इस स्तर का बनाया गया है कि उसे हृदयंगम करने वाले आचरण में उतारने वाले देव मानवों की तरह जी सकें। आज विश्व की प्रगति की दिशा में चल रही क्रमिक गतिशीलता के पीछे, जिस दिव्य अनुदान की झाँकी मिलती है, उसे पर्यवेक्षक एक स्वर से भारत की देव संस्कृति का अनुदान मानते और कृतज्ञतापूर्वक शत-शत नमन करते है।

भारत में जन्मने के कारण उसे भारतीय संस्कृति नाम मिल गया। यह एक संयोग मात्र है। इसमें किसी क्षेत्र विशेष के प्रति आग्रह या पक्षपात नहीं है। यदि यह सर्वप्रथम कहीं अन्यत्र उगी-उपजी होती तो संभवतः उसे उस क्षेत्र के नाम से पुकारा जाने लगता। उत्पादन करती भूमि के साथ उसके उपार्जनों का नाम भी जुड़ जाता है। इसे प्रचलन ही कहेगे। नागपुरी सन्तरे, लखनवी आम, असमी चाय, नागौरी बैल, अरबी घोड़े, मँसूरी चन्दन का यह अर्थ नही कि वे उस क्षेत्र विशेष तक ही सीमित रहेंगे। भारतीय संस्कृति को विश्व संस्कृति मानवी संस्कृति के रूप में ही जाना माना गया है। संसार के महामानवों ने उसका मूल्यांकन इसी दृष्टि से किया है। इतिहास के पृष्ठो पर इन तथ्यो का सुविस्तृत उल्लेख है कि इस देव संस्कृति का प्रवाह मलयज पवन की तरह समस्त संसार में बिखरा और उसने बिना किसी भेदभाव के हर क्षेत्र को समुन्नत एवं सुसंस्कृत बनाने में भारी योगदान दिया। किसी समय इस तत्वदर्शन को सर्वत्र जगद्गुरु, चक्रवर्ती, धरती को स्वर्ग जैसे नामों से कृतज्ञतापूर्वक स्मरण किया जाता था। इसे श्रेष्ठता के प्रति सहज श्रद्धा की स्वतः स्फुरणा कहा जा सकता है।

भारतीय संस्कृति की गरिमा सम्पन्नो, समर्थों, विद्वानों की प्रतिभा की चमत्कृति नही कही जा सकती, मध्यकालीन संस्कृति दबाव और प्रलोभनो के सहारे अगणित लोगो पर लदी और फैली है किन्तु देव संस्कृति के बारे में इस प्रकार उँगली उठाने की कही कोई गुंजाइश नही है। इसका तत्त्वदर्शन अपने आप मे अद्भुत और महान् है। उसे भावुक अभिव्यक्तियो में

अमृत, पारस, कल्प वृक्ष जैसे अलंकारिक नाम देकर सम्मानित किया जाता रहा है। अपनाने पर उपलब्ध होने वाले परिणामों और फलितार्थों की महत्ता को देखते हुए इस प्रकार की मान्यता सहज ही बनती चली गई है। श्रेष्ठता किसी वर्ग या क्षेत्र विशेष की बपौती नही है। उसे समस्त मानवता की सर्वमान्य गौरव-गरिमा का श्रेय मिलना चाहिए और औचित्य को ग्रहण करने की सत्यानुयायी विवेकशीलता को उसे बिना किसी हिचक के मान्यता प्रदान करनी चाहिए। ऐसा होता भी है। संसार भर में ऐसे विवेकवानों की भारी संख्या विद्यमान रही है और है, जो एक स्वर से भारत की नर्सरी मे उगी और विश्व उद्यान मे स्थान-स्थान पर पनपी देव संस्कृति को उत्कृष्टता की अधिष्ठात्री मानते है और कहते हैं कि इसके अनुसरण मे हर दृष्टि से हित ही हित है।

पूर्वजो की गरिमा का श्रेय उनके वशधरों को विशेष रूप से मिलता है यह सर्व विदित है। इसी प्रकार यह भी स्पष्ट है कि उसे दुर्गति ग्रस्त न होने देने से ही सम्मानित रूप मे बनाये रहने की जिम्मेदारी भी उन्हे अन्य लोगों की तुलना मे अधिक गम्भीरतापूर्वक समझनी और निभानी चाहिए। श्रेष्ठता की इसलिए अवहेलना की जाये कि पुरातन हो चली, बुद्धि संगत नही है। शाश्वत सत्यों का सदा समर्थन होना चाहिए। उनके साथ अतीत का इतिहास भी जुड़ गया है। इसलिए अपेक्षाकृत उसे और भी अधिक श्रद्धा मिलनी चाहिए क्योंकि इस प्रतिपादन ने पिछले लम्बे समय से मनुष्य को दिशा देने और सेवा साधना करने की प्रशस्ति पाई है। इसी दृष्टि से उस समुदाय विशेष के लिए पूर्वजो की थाती को सुरक्षित और जीवन्त रखने का धर्म कर्तव्य पालन करने का विशेष दायित्व माना जाता है।

निष्पक्ष विवेक, विश्व विवेक का कर्तव्य है कि देव संस्कृति की गरिमा और उपयोगिता को बिना झिझक के स्वीकारें किन्तु ऐसा करने पर निकटवर्ती लोगों का पूर्वाग्रह बुरा मानेगा । यदि ऐसा अन्यत्र न बन पड़े तो भी इन उत्तराधिकारियों की विशेष रूप से जागरुकता बरतनी चाहिए कि ऐसी महान् धरोहर धूमिल न होने पाये जिसने पिछले दिनो मानवता की महान् सेवा की है और जिससे भविष्य में विश्व को शान्ति और प्रगति मे महान् योगदान मिलनें की सम्भावना है।

कोई बात कितनी ही महान् क्यों न हो, यदि वह व्यवहार में न उतरे चिन्तन पर न छाई रहे, तो पुस्तकों में सीमाबद्ध रहने पर उपेक्षित होते-होते वह विस्मृति के गर्त में जा गिरेगी और अपना अस्तित्व गंवा देगी।

'संस्कृति' दर्शन व परम्परा का एक समुच्चय है। अध्यात्म और धर्म का जोड़ा है। अध्यात्म आस्था को एवं धर्म व्यवहार को कहते हैं। मान्यताएँ क्रियाकलापों में भी उतरनी चाहिए। देव संस्कृति के अनुयायियों चाहे वे भारत में बसे हो अथवा प्रवासियों के रूप में सुदूर देशों में, उनका यह कर्तव्य है कि यदि वे उसकी गरिमा को स्वीकार करते है तो इतना और करें कि उनके आहार-विहार, प्रथा-प्रचलन रीति-रिवाज, कला-सज्जा, संभाषण, शिष्टाचार आदि में भी उसकी झलकी दिखा सके।

पश्चिम को प्रगतिशील मानना हो और उनका अनुकरण करना हो तो इस तथ्य पर गौर करना चाहिए कि वे अपनी संस्कृति को ईसाई धर्म से भी अधिक प्यार करते थे । गर्म देशों में रहते हुए भी वे ठण्डे मुल्को की पोशाक पहनते व उससे अपना गौरव मानते थे । संस्कृति की अवधारणा एवं निर्वाह—आत्म गौरव का एक महत्त्वपूर्ण पक्ष है।

संसार का सामान्य क्रम प्रकृति-प्रेरणा के अनुरूप चल रहा है। प्राणी समुदाय की चेष्टाएँ उसी ढर्रे मे गतिशील रहती है। पर मनुष्य की स्थिति अन्य सभी प्राणियो से भिन्न है। वह कर्म प्रधान है, उच्चस्तरीय पुरुषार्थ सम्पन्न प्राणी है। विकास की असीम सम्भावना होते हुए भी मनुष्य के शरीर में वासना, मन में तृष्णा तथा अन्तराल में अहन्ता और वातावरण मे निकृष्टता, प्रचलन में पशु-प्रवृत्तियों का बाहुल्य रहने से खतरा यह बना रहता है कि मानवी गरिमा असुरता के चंगुल मे फँसकर कही उस देवोपम सौभाग्य को दुर्भाग्य में न बदल दे। प्रगति की सम्भावनाओं से वह विमुख न हो जाय । आकर्षणों के जाल-जंजाल मे फँसकर कही सुरदुर्लभ सुयोग को नरक की सरचना में न लगा बैठे।

पतनोन्मुखी प्रवाह से बचकर उत्थान की दिशा मे अग्रसर होने तथा उन महान् सम्भावनाओं को साकार कर सकने के लिए अभीष्ट परिमाण मे साहस एवं

विवेक का होना आवश्यक है। इन गुणों के सहारे एकाकी अपने बलबूते प्रगति पथ की ओर बढ़ सके इसके लिए अतिरिक्त शिक्षा चाहिए। ऐसी शिक्षा जो मानव के संचित कुसंस्कारों को दबाने तथा प्रसुप्त दैवी तत्वों को उभारने में समर्थ हो सके, संस्कृति कहलाती है। संस्कृति अर्थात् व्यक्तित्व को परिष्कृत तथा सुविकसित करने वाली विद्या। इसके दार्शनिक पक्ष को 'अध्यात्म' और व्यवहार को 'धर्म' कहते हैं। दोनों के समन्वय से परिपूर्ण स्तर की जीवन-शिक्षा की व्यवस्था बनती है। चिन्तन और स्वभाव में उतरकर यह जीवन विद्या मनुष्य को महान् बनाती है। ऐसी विशेषताओं से सुसम्पन्न मनीषियों को सांसारिक आकर्षण प्रभावित नही कर पाते । संसार के पतनोन्मुखी प्रवाह की उल्टी दिशा में वे मछली की भाँति धार को चीरते हुए आगे बढ़ते हैं।

भौतिकी की जानकारी को शिक्षा कह सकते हैं एवं आत्मिकी के रहस्यों का उद्‌घाटन करने वाली को विद्या। शिक्षा के सहारे मनुष्य बुद्धिमान, चतुर बनता है तथा अनेको प्रकार के सुविधा-साधनों को उपलब्ध करने में सफल रहता है। निर्वाह क्रम ठीक प्रकार चलता रहे इसके लिए शिक्षा आवश्यक है। किन्तु आन्तरिक व्यक्तित्व का विकास विद्या के बिना सम्भव नहीं। आत्मिक क्षेत्र की विभूतियाँ प्राप्त करनी हों तो उस विद्या का अवगाहन करना होगा, जो जीवन के स्वरूप को समझाती तथा मानवी गरिमा के अनुरूप उपलब्धियो का सदुपयोग करने की प्रेरणा देती है। विद्या को इसीलिए अमृत कहा गया है। इस दृष्टि से शिक्षा का जितना महत्त्व है, विद्या का उससे भी अधिक है। सस्कृति के अवगाहन से ऐसी ही विद्या का अवतरण होता है, जो व्यक्तित्व को सुसंस्कारी तथा परिपूर्ण बनाती है। प्राचीन काल मे शिक्षा और विद्या दोनों को ही समान महत्त्व दिया जाता था तथा गुरुकुलों मे इन दोनों का ही समग्र समन्वय था। बुद्धि की प्रखरता पर जितना जोर दिया जाता था, उतना ही व्यक्तित्व के सुसंस्कारीकरण पर। वह शिक्षण अधूरा माना जाता था, जिसमें एकांगी शिक्षा का समावेश रहता था। चरित्र निष्ठा, प्रामाणिकता तथा सुसंस्कारिता की कसौटी पर कसने के उपरान्त ही छात्र को परीक्षा में सफल घोषित किया जाता था। आज जैसी छात्र को मात्र विषय विशेष का विज्ञ तथा चतुर बनाने वाली एकांगी शिक्षण व्यवस्था नहीं थी। ऐसी सर्वांगपूर्ण शिक्षण व्यवस्था का ही प्रतिफल था कि देश नर-रत्नों का भण्डार था। देश, जाति, धर्म और संस्कृति के लिए अपना सर्वस्व न्यौछावर करने वाले व्यक्तित्वों की कमी नहीं थी।

जीवन विद्या का अवगाहन करने वाले इस संस्कृति शिक्षण की उपेक्षा होने तथा एकांगी शिक्षा को अधिक महत्त्व देने की परम्परा का आरम्भ होते ही अनेकानेक समस्याएँ सामने आयी। चरित्र की तुलना में चतुरता को अधिक महत्त्व देने वाली शिक्षा के कारण विज्ञ तो बढ़ते गये। पर उन सुसंस्कारी व्यक्तित्वों की कमी पड़ती गई जिन पर समाज और देश का भविष्य अवलम्बित है। विद्या की उपेक्षा का परिणाम सामने है। संसार में बुद्धिमानों की—विशेषज्ञों की कमी नही है। साधनों का बाहुल्य है पर अशान्ति और असन्तोष की ज्वाला में समस्त मानव जाति जल रही है। लोभ, मोह और अहन्ता के त्रिविध राक्षसो ने मनुष्य का सुख-चैन सब कुछ छीन लिया है। विरले ही ढूँढने पर मिलेंगे जो यह कह सके कि हम जीवन से सन्तुष्ट है अन्यथा अधिकांश स्वार्थों की आपाधापी मे—कोल्हू के बैल की भाँति पिल रहे हैं। दूसरो का—मनुष्य जाति का भविष्य सोचने वाले उदार—भावनाशी मुश्किल से ढूँढने पर मिलेंगे। संकीर्ण स्वार्थों के कारण मनुष्य अनुदार-निष्ठुर बनता जा रहा है तथा अपनी उस आन्तरिक सदाशयता को गँवाता जा रहा है, जिसके द्वारा समाज एवं देश का विकास होता है। इन परिस्थितियों में संस्कृतिनिष्ठ शिक्षण की आवश्यकता और भी बढ़ जाती है।

संस्कृति के अवगाहन से ही मनुष्य आत्म समीक्षा करने तथा व्यक्तित्व को सुसंस्कारो से अलंकृत कर पाने में समर्थ हो पाता है। संसार मे अवांछनीय प्रचलनों की भरमार है। पतन-पराभव के तत्वों का बाहुल्य है। आन्तरिक दृढ़ता तथा सिद्धान्तनिष्ठा के अभाव मे उनसे अपने को अप्रभावित रख पाना कठिन पड़ता है। अधिकांश तो पतनोन्मुखी प्रवाहों में कूड़े-करकट की भाँति बहते रहते हैं। पर संस्कृति का पल्ला पकड़ने वाले अपना मार्ग स्वयं बनाते तथा उस

प्रवाह में बहने से इन्कार कर देते हैं। सद्गुणों से अभिपूरित होने के कारण वे इसी पृथ्वी पर देवताओं की भाँति रहते हुए दिव्य जीवन जीते हैं। विद्या का महत्त्व न समझने—उसे हृदयंगम न करने वाले-वातावरण से दूर रहने—स्वाध्याय सत्संग की उपेक्षा करने वालों को सुसंस्कारी बनने का लाभ नही मिलता। जिसे विद्या-लाभ नहीं मिला वह उच्च शिक्षित होते हुए भी नर-पशुओं जैसा जीवन औरअन्ततः दुर्गति का अधिकारी बनता है। ऐसे नर-पामरों की इन दिनों संसार में कमी नही है, जिनकी मस्तिष्कीय प्रखरता मानव जाति के विनाश का कुचक्र रच रही है। उन शिक्षितों को भी इसी श्रेणी में रखना होगा, जो समाज में अराजकता तथा अव्यवस्था और अपराध कृत्यों को बढ़ावा देते हैं अथवा उन कुकृत्यों में संलग्न हैं। संस्कृतिविहीन इन शिक्षितों से भला समाज और देश को क्या लाभ मिल सकता है?

संस्कृति को समझने के लिए सद्ग्रन्थो का स्वाध्याय आवश्यक है किन्तु उसे जीवन मे उतारने—स्वभाव का अंग बनाने के लिए श्रेष्ठ व्यक्तित्वो का सान्निध्य एवं सत्परम्पराओं का वातावरण उपलब्ध करना पड़ता है। छोटे बालको का विकास अभिभावक अपना उदाहरण प्रस्तुत करते हुए करते है। घर के सभी सदस्यों को अपना स्वभाव—व्यवहार ऐसा बनाना पड़ता है, जिसका अनुकूल प्रभाव बालकों पर पड़े। अन्यथा कोरा वाणी का शिक्षण प्रभावी नही हो पाता। बालकों का अन्तत् अनुकरण प्रिय होता है। संस्कृति की प्रथम कक्षा परिवार है तथा विद्या का आरम्भिक पठन-पाठन परिवार रूपी पाठशाला से ही शुरू होता है। परिवार के सभी सदस्यों को अपनी गरिमा बढ़ाने और बालको का हित साधने की दृष्टि से सज्जनोचित रीति-नीति अपनानी पड़ती संस्कृति की दूसरी कक्षा गुरुगृह मे होती है। वहाँ पढ़ने-पढ़ाने से भी अधिक लाभ दिव्य वातावरण का मिलता है। शिक्षा तो कक्षाओं में हो सकती किन्तु संस्कृति का उपार्जन करने के लिए अभीष्ट स्तर का वातावरण चाहिए। प्राचीन गुरुकुलो में ऐसी ही व्यवस्था रहती थी। वहाँ निवास करते हु. अध्ययन करने वाले शिक्षार्थी को संस्कारवान बनाने का ध्यान विशेष रूप से रखा जाता था।

बालकों के लिए गुरुकुल देव संस्कृति को अभ्यास में उतारने के लिए आवश्यक अंग माने गये थे। प्राचीन कालीन ऋषि इस मनोवैज्ञानिक तथ्य से भली भाँति परिचित थे कि सुसंस्कारी स्वभाव मात्र पुस्तको के सहारे नहीं बनता। उसके लिए प्रखर व्यक्तित्वों का सान्निध्य और सामुदायिक प्रचलनो में समाविष्ट सज्जनोचित परम्परायें चाहिए। गुरुकुलों में ऐसी ही सर्वांगपूर्ण व्यवस्था थी। सुसंस्कारों को अभ्यास में उतारने योग्य वातावरण तथा व्यक्तित्वों का सानिध्य मिल सके तो आज भी छात्रों को श्रेष्ठ-व्यक्तित्व के रूप में ढाल सकना सम्भव है।

प्रायः लोग अर्थकारी शिक्षा को महत्त्व देते है। व्यक्तित्व को समुन्नत बनाने वाली विद्या की ओर उपेक्षा बरती जाती है। इस भूल के कारण व्यक्तित्व पर पिछड़ापन लदता है और ऐसे व्यक्तित्वों के बाहुल्य से समाज के अध.पतन का मार्ग प्रशस्त होता है। समाज के मूर्धन्य विज्ञजनों का कर्तव्य है कि वे अर्थ-उपार्जन क्षमता संवर्धन एवं क्रिया-कौशल सिखाने वाली शिक्षा की तरह उस विद्या के विस्तार एव विकास का प्रबन्ध करे, जिससे आत्मकल्याण और लोककल्याण के उभय पक्षीय प्रयोजन सधते हो। शिक्षा और संस्कृति के दोनो सुयोग एक साथ बन सके तो सर्वोत्तम अन्यथा दोनो को स्वतन्त्र रूप मे विकसित होने दिया जाय एवं परस्पर पूरक बनाया जाय। शिक्षा के साथ विद्या का समावेश अधिक प्रभावी एवं सरल है। मनीषियों ने समय-समय पर अपने ढंग से संगीत, साहित्य, कला को इस प्रकार ढाला है कि वातावरण उनकी इच्छित सस्कृति के अनुरूप ढल गया। मनुष्य को सुसंस्कृत बनाने के लिए ऋषियों ने गुरुकुल आरण्यक चलाये तथा आश्रम बनाये। उस महान् प्रक्रिया को अस्त-व्यस्त नही होने देना चाहिए, न ही निरुद्देश्य समझा जाना चाहिए। इन दिनो सस्कृति परिपोषण की उपेक्षा होने से ही सर्वतोमुखी अध.पतन के दृश्य दृष्टिगोचर हो रहे है तथा समस्याये बढ रही है।

जन्म से सभी नर-पशु होते हैं। संस्कार सम्पादन से मनुष्य गौरवशाली बनता है। आत्मीयता के विस्तार से व्यक्ति ऋषि बनता है तथा सेवा-साधना के लिए समर्पित होने के उपरान्त जीवन मुक्ति देवता कहलाता है। यह सस्कृति की तीन कक्षाएँ हैं। जो इनमें से एक मे भी प्रविष्ट नहीं हुआ, उसे नर-पामरों की श्रेणी में ही गिनना चाहिए। शरीर की शोभा स्वच्छता सुगठित स्वास्थ्य एवं वस्त्रालंकारों से होती है किन्तु व्यक्तित्व को प्रखर एवं समर्थ बनाने में देव संस्कृति का ही प्रमुख योगदान होता है। असुर संस्कृति इसके सर्वथा विपरीत है। दर्शन और व्यवहार तो उसका भी है पर उसे अपनाने पर मनुष्य दैत्य बनता और उस मार्ग पर बढ़ते-बढ़ते नर-पिशाच की श्रेणी में जा पहुँचता है। दानवी सस्कृति के अनुयायी रावण, हिरण्यकश्यप से लेकर हिटलर, मुसोलिनी, नादिरशाह, चंगेज खाँ अनेको हुए हैं, पर वे दूसरो की आँखों में चकाचौंध उत्पन्न करने वाली विडम्बना मात्र जुटा सके। अन्ततः अपना, अपने सम्बन्धियों का और समूचे समाज का सर्वनाश करने की आत्म-प्रताड़ना और लोकभर्त्सना के ही अधिकारी बन सकें।

जिस प्रकार शरीर के लिए अन्न, वस्त्र, निवास की आवश्यकता है। बुद्धि की प्रखरता के लिए स्कूली शिक्षा जरूरी है, उसी प्रकार जीवन को सफल सार्थक बनाने के लिए व्यक्तित्व में देव संस्कृति का समाविष्ट होना आवश्यक है। नर-पशु पेट प्रजनन के लिए जीते है। नरमानवों को आदर्श और उद्देश्यो का ध्यान रहता है। वे न्यूनतम मे गुजारा करते है। आय-व्यय मे कटौती करके बचाये हुए समय चिन्तन, धन एवं प्रभाव वर्चस्व को परमार्थ में लगाते हैं। सुसंस्कृत बहुपठित या बहुश्रुत को नही वरन् उसे कहते है, जिसने आदर्शों को अपने चरित्र और चिन्तन का अभिन्न अंग बना लिया है। अपने को ऐसा ढाल लिया हो, जिसके सम्पर्क मे आने वाले भी उसी प्रकार ढलते चले जांय। कहना न होगा कि ऐसे व्यक्तित्वों की उत्पत्ति उच्चस्तरीय सांस्कृतिक मूल्यो की पुनर्प्रतिष्ठापना से ही सम्भव है।

देव संस्कृति को पुनर्जीवित किया जाय

अति प्राचीन काल मे भारतीय समाज ज्ञान-विज्ञान के क्षेत्र में उच्च शिखरों पर पहुँच गया था और सभ्यता तथा संस्कृति की दृष्टि से अपना देश अति विकसित था, इस तथ्य को अब विदेशी लोग भी स्वीकार करते है। अभी भी भारतीय समाज और राष्ट्र को ऊँचा उठाने वाली प्रतिभा का अपने देश में अभाव नही है, फिर भी इस विडम्बना को क्या कहें जो प्रगति और उन्नति के लिए पश्चिम की ही ओर निहारती तथा उसीका अनुकरण करने के लिए लालायित रहती है। विरासत के रूप में भारतीय संस्कृति के जो अवशेष अभी भी बचे हुए या जीवन्त हैं, उनकी उपेक्षा कर उपलब्ध तथ्यों को कवि कल्पना मानने तथा हलके स्तर के आयातित ज्ञान विज्ञान मे ही अर्थवेत्ता खोजने की प्रवृति आत्मविस्मृति ही नही आत्म-प्रवंचना का भी परिचय देती है।

भारतीय शास्त्रो में उल्लेख मिलता है कि प्राचीन समय में यहाँ विमानों का प्रचलन था। भारतीय वैज्ञानिक विमानों का आविष्कार करने में सफल हो गये थे। इस तरह के उल्लेख जहाँ कही भी आये है, उन्हें स्वीकार करने के स्थान पर तथाकथित पढ़ा-लिखा शिक्षित समुदाय इस विवरण का उपहास ही उड़ाया करता था। इस तथ्य का मजाक ही किया जाता था और कहा जाता था कि मनुष्य भी कहीं आकाश मे पशु-पक्षियों की तरह उड़ सकता है ? कैसा बचकाना विचार है। लेकिन जब वायुयान का आविष्कार कर लिया गया, तब कही जाकर लोगो ने यह माना कि ऐसा भी सम्भव है और प्राचीन ग्रन्थो, इतिहास के इन विवरणो की सत्यता को झिझकते-झुझुकते किया।

सौ-डेढ़ सौ वर्ष पूर्व की बातों को जाने भी दे, सोचा जा सकता है कि उस समय भारतीय मानस शताब्दियो से चली आ रही दासता से आक्रान्त था। उस पर गुलामी का प्रभाव था। फलस्वरूप स्वतन्त्रता में साँस लेने वालो की अपेक्षा गुलामी की घुटन मे रहने के कारण लोगो का आत्मविश्वास घटा था और हम इस सन्ताप की अग्नि मे बराबर झुलसते रहे थे कि हमारे पास वैज्ञानिक प्रतिभा का अभाव है। लेकिन अब तो स्वतन्त्र हुए करीब छत्तीस वर्ष हो चले। फिर भी प्राचीन संस्कृति के प्रति भारतीय ज्ञान-विज्ञान के प्रति इतनी उदासीनता या उपेक्षा क्यों है कि उसी लीक पर चला जा रहा है।

उत्तर में यही कहा जा सकता है कि भारत स्वतन्त्र भले ही हो गया हो, परन्तु यहाँ के नागरिकों में अपनी संस्कृति के प्रति गौरव का भाव अभी तक जागृत नहीं हो सका है। यही कारण है कि लोग न केवल पश्चिमी सभ्यता का अन्धानुकरण करना श्रेयस्कर समझते हैं बल्कि वहीं के जीवन-दर्शन, वहीं की मान्यताओं और वहाँ के विचारकों का प्रतिपादन भक्ति भाव से ग्रहण करते अपनाते हैं। पश्चिमी संस्कृति के प्रति इसी मुग्ध भाव के कारण अपनी प्रतिभा का मौलिक विकास करने के स्थान पर पश्चिमी ज्ञान-विज्ञान को श्रेष्ठ मानकर अपनी संस्कृति के प्रति हीनता की दृष्टि पनपने लगी है। अन्यथा यह सिद्ध करने के पर्याप्त प्रमाण हैं कि भारतीय संस्कृति और सभ्यता प्राचीन काल में आधुनिक सभ्यता व संस्कृति की अपेक्षा बहुत अधिक उन्नत और विकसित थी।

किन्हीं दूसरे कारणों से आई गुलामी ने उन कड़ियों को तोड़ भले ही दिया हो और इस कारण ज्ञान विज्ञान की वह प्राचीन धारा टूट भले गई हो, पर अभी मृत नही हुई है। उसे पुनर्जीवित किया जा सकता है और अपनी प्रतिभा के मौलिक उपयोग द्वारा उसी गौरवास्पद स्थिति को प्राप्त किया जा सकता है। प्रश्न उठता है कि भारतीय सभ्यता और संस्कृति के गौरवपूर्ण तथा महान होने के क्या प्रमाण हैं ? तथ्यो और प्रमाणो के तो ढेर लगाये जा सकते हैं तथा लगाये भी गये हैं। उन सबको यहाँ प्रस्तुत करने की गुंजायश नहीं है। लेख के कलेवर को दृष्टिगत रखते हुए कतिपय उदाहरण और विद्वानों के उद्धरण देना ही पर्याप्त होगा।

सभ्यता और ज्ञान-विज्ञान की विभिन्न धाराओं में से एक भवन निर्माण कला को ही लिया जाए। हजारो वर्ष पूर्व भवन निर्माण कला तथा नगरो का विकास अपने देश में प्रगति के चरम को छू चुका था। इस सन्दर्भ में प्रसिद्ध वास्तुकलाविद् ई. वी. हैवेस ने कहा है, भवन निर्माण के लिए आजकल जो प्रविधियाँ प्रचलित हैं, वे बहुत अधूरी हैं। निश्चित ही यूरोप ने वास्तुकला के क्षेत्र में अद्भुत प्रगति की है परन्तु वह अभी तक भारत की वास्तुकला के स्तर को छू नहीं पाया है। लगभग दो हजार वर्ष विनिर्मित अजन्ता एलोरा की गुफाएँ तथा उनके भित्ति चित्र, उन्ही दिनो बनाये गये भव्य मन्दिर और प्रासादों में दृष्टिगोचर होने वाली श्रेष्ठतम कलाकारिता को देखकर दाँतों तले अंगुली दबाकर रह जाना पड़ता है।

भारत ने न केवल वास्तुकला तथा नगर निर्माण के क्षेत्र मे चमत्कारी प्रतिभा को खरादा निखारा, वरन् चिन्तन द्वारा ऐसे सिद्धान्तों का निर्माण भी किया जिनके आधार पर आज भी उसी स्तर को प्राप्त किया जा सकता है। प्रगति के वही शिखर छुऐ जा सकते हैं। यद्यपि भारत की ज्ञान सम्पदा का अधिकांश भाग विदेशी आक्रमणकारियों द्वारा जलाये गये ग्रन्थालयों तथा मारे गये अपने-अपने क्षेत्र के प्रतिभा सम्पन्नों के कारण नष्ट हो गया है। फिर भी अब तक १४१ ऐसे ग्रन्थों का पता लगाया जा चुका है, जिनमें वास्तुकला और शिल्प शास्त्र का विस्तृत विवेचन हुआ है। 'विश्वकर्म प्रकाश' मानसार तथा भोजदेव कृत 'समरांगण' 'सूत्राधार' आदि ग्रन्थ अब भी बड़ी सुलभता से प्राप्त होते हैं। इनके सम्बन्ध मे विशेषज्ञों का कहना है कि इन ग्रन्थों में प्रतिपादित सिद्धान्तो का विवेचन पढ़कर ही विस्मय विमुग्ध रह जाना पड़ता है।

अंकविज्ञान एक और देन है भारत की, जिसका उपयोग तो सारा विश्व अब भी धड़ल्ले से कर रहा है। आधुनिक प्रौद्योगिकी मूलतः अंकगणित पर ही आधारित है। उसके बिना उद्योग-धन्धो व व्यवसाय रोजगार का काम एक दिन भी नही चल सकता और गणित के अंकों का आविष्कार सर्वप्रथम भारत में ही हुआ। इस सम्बन्ध में प्रसिद्ध पश्चिमी विद्वान जी. वी. हालस्टेड ने इस विश्व को इसके लिए भारत का ऋणी बताते हुए कहा है, हिन्दुओ के द्वारा किये गये शून्य के आविष्कार ने मानव जाति की बुद्धि और शक्ति की प्रगति में अभूतपूर्व योगदान दिया है।

भारत ने आध्यात्मिक क्षेत्र में तो विश्व को अनेकानेक अनुदान दिये हैं। भौतिक क्षेत्र मे भी इतनी चमत्कृत कर देने वाली सफलताएँ अर्जित की है कि उनकी आज की वैज्ञानिक उपलब्धियो से तुलना की जाए तो प्रतीत होगा कि आज का विज्ञान तो उन्हें दोहरा भर रहा है। जैसे पशचिमी वैज्ञानिको से सैकड़ो वर्ष पूर्व आर्यभट्ट ने यह पता लगाया था कि पृथ्वी घूमती है और सूर्य स्थिर है तथा यह भी कि २४ घण्टे में पृथ्वी सूर्य की एक परिक्रमा लगा लेती है। अब से

दो हजार वर्ष पूर्व विक्रमादित्य के समय में अपना देश नक्षत्र विद्या के क्षेत्र में उन तथ्यों को खोज चुका था जो पश्चिमी वैज्ञानिकों को सैकड़ों वर्ष बाद मालूम हुए। एक इतिहासकार ने अपने एक निबन्ध में यह बात बड़े ही सुन्दर ढंग से कही है, जिस समय गैलीलियो के प्रतिपादन को न्याय की तराजू पर तोला जा रहा था तथा परम्परागत धारणाओं को टूटने से बचाने के लिए उसे मृत्यु दण्ड सुनाया जा रहा था, तब भारतीय वैज्ञानिक अपनी वेधशाला में बैठे हुए इन निष्कर्षों से सैकड़ों कदम आगे की खोज कर रहे थे।

पेड़ की शाखा से एक फल टूटकर गिरता देख पृथ्वी की आकर्षण शक्ति का पता लगाने के लिए न्यूटन की प्रतिभा के आज भी गीत गाये जाते हैं, परन्तु यह कोई नई खोज न थी। न्यूटन से पाँच सौ वर्ष पहले ही भास्कराचार्य ने अपने 'सिद्धान्त शिरोमणि' ग्रन्थ में लिख दिया था कि पृथ्वी का कोई आधार नहीं है, वह अपनी ही शक्ति से स्थिर है। पृथ्वी में आकर्षण शक्ति है, इसीलिए वह आकाश मे फैंकी हुई भारी वस्तुओं को अपनी ओर खींचती है। इस तथ्य को सर्वप्रथम उद्घाटित करने का श्रेय भी भास्कराचार्य को ही जाता है कि पृथ्वी गोल है समतल नहीं।

वास्तुकला विज्ञान, अंकगणित, ज्योतिष तथा भूगोल के क्षेत्र में ही नही, वरन् साहित्य, संगीत और अन्य कलाओं में भी भारतीय प्रतिभा ने निष्णात दक्षता प्राप्त की थी। भारतीय साहित्य शास्त्र विश्व का सर्वाधिक विकसित साहित्य शास्त्र है। अन्य किसी भी भाषा का साहित्य इतना समृद्ध और सामर्थ्यपूर्ण नही है जितना कि संस्कृत भाषा का। रस, सम्प्रदाय, अलंकार, रीति ध्वन्यात्मकता तथा गत्यात्मकता के सिद्धान्तों की जितनी गहन और जितनी सूक्ष्म अभिव्यक्ति संस्कृत तथा अन्य भारतीय भाषाओं में हुई है, उतनी अन्य भाषाओं में अन्यत्र कहीं भी दिखाई नही देती। लेकिन साहित्य का आधुनिक विद्यार्थी इन सबके अध्ययन से वंचित ही रह जाता है। भारतीय भाषाओं के आधुनिक लेखक प्राचीन मनीषियो द्वारा अगाध परिश्रम से खोजे तथा निर्धारित किये गये मानदण्डों की अपेक्षा फैशन के तौर पर पश्चिमी साहित्य के मानदण्डो की वैसाखियो का सहारा लेना ही अधिक उचित समझते है। यह प्रवृत्ति जिस गति से बढ़ती जा रही है, उसे देखते हुए यह चिन्ता होना स्वाभाविक ही है कि कही कालान्तर में इन प्राचीन ग्रन्थों को पढ़ने वाले भी रह जायेगे अथवा नहीं।

साहित्य के क्षेत्र में ही नहीं भारतीय ज्ञान-विज्ञान की उन समस्त क्षेत्रों के सम्बन्ध में स्थिति चिन्ताजनक है, जिनमें असंख्यों प्रतिभाओं ने अपना जीवन होम कर अनिर्वचनीय उपलब्धियाँ अर्जित की हैं । चूँकि यह सारी ज्ञान सम्पदा देवभाषा संस्कृत में लिपिबद्ध की गई है, इसलिए संस्कृत को मृतभाषा घोषित करने के साथ ही इस ज्ञान सम्पदा की भी सहज उपेक्षा होने लगी। इसमें कोई सन्देह नहीं कि विदेशी शासकों ने इस देश में अपने पैर जमाते ही इस तथ्य को जान लिया कि संस्कृत का प्रचलन रहा तो देश की जनता का सोया हुआ आत्मगौरव कभी भी जाग सकता है। इसलिए उन्होंने जान बूझकर संस्कृत के अध्ययन व अध्यापन को निरुत्साहित किया और इसके साथ ही जन-मानस में उत्पन्न होने लगी हीनता, हताशा तथा कुण्ठा। मुगल काल से भी अधिक बुरी परिस्थितियाँ ब्रिटिश काल में रहीं। उस समय तो फिर भी ज्ञान सम्पदा में नया कुछ जोड़ने के लिए भारतीय प्रतिभा को प्रोत्साहन मिलता था, किन्तु ब्रिटिश काल में यत्किंचित प्रोत्साहन तो क्या उल्टे निरुत्साहित और निराश करने का उपक्रम चल पड़ा।

अब तो भारत स्वतंत्र है। अब तो वैसी कोई विवशता नही है, फिर क्या कारण है कि अभी भी भारतीय समाज में अपनी संस्कृति के प्रति गौरव का भाव जागृत नहीं हो पा रहा है। खेद है कि इस दिशा में कोई ध्यान देने की आवश्यकता ही अनुभव नही की जाती। ऐसी बात नही है कि भारत के पास प्रतिभा का अभाव हो। प्रतिभाओं के लिए उर्वर भारत भूमि अभी भी इतनी वीर प्रसूता है कि तथ्यो के प्रकाश में भारत प्रतिभाओ के विकास की दृष्टि से प्रथम क्रम मे आता है। संयुक्त राष्ट्र संघ द्वारा हाल ही मे किये गए एक सर्वेक्षण के अनुसार कुशल इन्जीनियर, टैकनिशियन और डॉक्टर तैयार करने में भारत अन्य सभी देशो से अग्रणी है। लेकिन कमी यही है कि हम अपनी प्रतिभा के साथ विरासत मे मिली ज्ञान सम्पदा को जोड़ने मे अभी तक समर्थ नही हो सके हैं या फिर इसकी आवश्यकता अनुभव नही करते।

उत्तर मे यही कहा जा सकता है कि भारत स्वतन्त्र भले ही हो गया हो, परन्तु यहाँ के नागरिको में अपनी संस्कृति के प्रति गौरव का भाव अभी तक जागृत नही हो सका है। यही कारण है कि लोग न केवल पश्चिमी सभ्यता का अन्धानुकरण करना श्रेयस्कर समझते है बल्कि वही के जीवन-दर्शन, वही की मान्यताओ और वहाँ के विचारकों का प्रतिपादन भक्ति भाव से ग्रहण करते अपनाते है। पश्चिमी संस्कृति के प्रति इसी मुग्ध भाव के कारण अपनी प्रतिभा का मौलिक विकास करने के स्थान पर पश्चिमी ज्ञान-विज्ञान को श्रेष्ठ मानकर अपनी संस्कृति के प्रति हीनता की दृष्टि पनपने लगी है। अन्यथा यह सिद्ध करने के पर्याप्त प्रमाण है कि भारतीय सस्कृति और सभ्यता प्राचीन काल में आधुनिक सभ्यता व संस्कृति की अपेक्षा बहुत अधिक उन्नत और विकसित थी।

किन्हीं दूसरे कारणों से आई गुलामी ने उन कड़ियों को तोड़ भले ही दिया हो और इस कारण ज्ञान विज्ञान की वह प्राचीन धारा टूट भले गई हो, पर अभी मृत नही हुई है। उसे पुनर्जीवित किया जा सकता है और अपनी प्रतिभा के मौलिक उपयोग द्वारा उसी गौरवास्पद स्थिति को प्राप्त किया जा सकता है। प्रश्न उठता है कि भारतीय सभ्यता और संस्कृति के गौरवपूर्ण तथा महान होने के क्या प्रमाण है ? तथ्यो और प्रमाणों के तो ढेर लगाये जा सकते है तथा लगाये भी गये हैं। उन सबको यहाँ प्रस्तुत करने की गुंजायश नही है। लेख के कलेवर को दृष्टिगत रखते हुए कतिपय उदाहरण और विद्वानो के उद्धरण देना ही पर्याप्त होगा।

सभ्यता और ज्ञान-विज्ञान की विभिन्न धाराओं मे से एक भवन निर्माण कला को ही लिया जाए। हजारों वर्ष पूर्व भवन निर्माण कला तथा नगरो का विकास अपने देश में प्रगति के चरम को छू चुका था। इस सन्दर्भ में प्रसिद्ध वास्तुकलाविद् ई. वी. हैवेस ने कहा है, भवन निर्माण के लिए आजकल जो प्रविधियाँ प्रचलित हैं, वे बहुत अधूरी हैं। निश्चित ही यूरोप ने वास्तुकला के क्षेत्र में अद्‌भुत प्रगति की है परन्तु वह अभी तक भारत की वास्तुकला के स्तर को छू नही पाया है। लगभग दो हजार वर्ष विनिर्मित अजन्ता एलोरा की गुफाएँ तथा उनके भित्ति चित्र, उन्ही दिनों बनाये गये भव्य मन्दिर और प्रासादों में दृष्टिगोचर होने वाली श्रेष्ठतम कलाकारिता को देखकर दाँतो तले अंगुली दबाकर रह जाना पड़ता है।

भारत ने न केवल वास्तुकला तथा नगर निर्माण के क्षेत्र में चमत्कारी प्रतिभा को खरादा निखारा, वरन् चिन्तन द्वारा ऐसे सिद्धान्तो का निर्माण भी किया जिनके आधार पर आज भी उसी स्तर को प्राप्त किया जा सकता है। प्रगति के वही शिखर छुऐ जा सकते हैं। यद्यपि भारत की ज्ञान सम्पदा का अधिकांश भाग विदेशी आक्रमणकारियो द्वारा जलाये गये ग्रन्थालयों तथा मारे गये अपने-अपने क्षेत्र के प्रतिभा सम्पन्नों के कारण नष्ट हो गया है। फिर भी अब तक १४१ ऐसे ग्रन्थों का पता लगाया जा चुका है, जिनमे वास्तुकला और शिल्प शास्त्र का विस्तृत विवेचन हुआ है। 'विश्वकर्म प्रकाश' भानसार तथा भोजदेव कृत 'समरांगण' 'सूत्राधार' आदि ग्रन्थ अब भी बड़ी सुलभता से प्राप्त होते है। इनके सम्बन्ध में विशेषज्ञों का कहना है कि इन ग्रन्थो मे प्रतिपादित सिद्धान्तो का विवेचन पढ़कर ही विस्मय विमुग्ध रह जाना पड़ता है।

अंकविज्ञान एक और देन है भारत की, जिसका उपयोग तो सारा विश्व अब भी धड़ल्ले से कर रहा है। आधुनिक प्रौद्योगिकी मूलतः अंकगणित पर हं आधारित है। उसके बिना उद्योग-धन्धो व व्यवसाय रोजगार का काम एक दिन भी नही चल सकता और गणित के अंको का आविष्कार सर्वप्रथम भारत मे ही हुआ। इस सम्बन्ध में प्रसिद्ध पश्चिमी विद्वान जी. वी. हालस्टेड ने इस विश्व को इसके लिए भारत का ऋणी बताते हुए कहा है, हिन्दुओं के द्वारा किये गये शून्य के आविष्कार ने, मानव जाति की बुद्धि और शक्ति की प्रगति में अभूतपूर्व योगदान दिया है।

भारत ने आध्यात्मिक क्षेत्र मे तो विश्व को अनेकानेक अनुदान दिये हैं। भौतिक क्षेत्र में भी इतनी चमत्कृत कर देने वाली सफलताएँ अर्जित की है कि उनकी आज की वैज्ञानिक उपलब्धियो से तुलना की जाए तो प्रतीत होगा कि आज का विज्ञान तो उन्हें दोहरा भर रहा है। जैसे पश्चिमी वैज्ञानिको से सैकड़ों वर्ष पूर्व आर्यभट्ट ने यह पता लगाया था कि पृथ्वी घूमती है और सूर्य स्थिर है तथा यह भी कि २४ घण्टे में पृथ्वी सूर्य की एक परिक्रमा लगा लेती है। अब से

दो हजार वर्ष पूर्व विक्रमादित्य के समय में अपना देश नक्षत्र विद्या के क्षेत्र में उन तथ्यो को खोज चुका था जो पश्चिमी वैज्ञानिकों को सैकड़ों वर्ष बाद मालूम हुए। एक इतिहासकार ने अपने एक निबन्ध में यह बात बड़े ही सुन्दर ढंग से कही है, जिस समय गैलीलियो के प्रतिपादन को न्याय की तराजू पर तोला जा रहा था तथा परम्परागत धारणाओं को टूटने से बचाने के लिए उसे मृत्यु दण्ड सुनाया जा रहा था, तब भारतीय वैज्ञानिक अपनी वेधशाला में बैठे हुए इन निष्कर्षों से सैकड़ों कदम आगे की खोज कर रहे थे।

पेड़ की शाखा से एक फल टूटकर गिरता देख पृथ्वी की आकर्षण शक्ति का पता लगाने के लिए न्यूटन की प्रतिभा के आज भी गीत गाये जाते हैं, परन्तु यह कोई नई खोज न थी। न्यूटन से पाँच सौ वर्ष पहले ही भास्कराचार्य ने अपने 'सिद्धान्त शिरोमणि' ग्रन्थ में लिख दिया था कि पृथ्वी का कोई आधार नही है, वह अपनी ही शक्ति से स्थिर है। पृथ्वी में आकर्षण शक्ति है, इसीलिए वह आकाश में फैंकी हुई भारी वस्तुओं को अपनी ओर खींचती है। इस तथ्य को सर्वप्रथम उद्घाटित करने का श्रेय भी भास्कराचार्य को ही जाता है कि पृथ्वी गोल है समतल नहीं।

वास्तुकला विज्ञान, अंकगणित, ज्योतिष तथा भूगोल के क्षेत्र में ही नही, वरन् साहित्य, सगीत और अन्य कलाओं में भी भारतीय प्रतिभा ने निष्णात दक्षता प्राप्त की थी। भारतीय साहित्य शास्त्र विश्व का सर्वाधिक विकसित साहित्य शास्त्र है। अन्य किसी भी भाषा का साहित्य इतना समृद्ध और सामर्थ्यपूर्ण नही है जितना कि संस्कृत भाषा का। रस, सम्प्रदाय, अलंकार, रीति ध्वन्यात्मकता तथा गत्यात्मकता के सिद्धान्तों की जितनी गहन और जितनी सूक्ष्म अभिव्यक्ति संस्कृत तथा अन्य भारतीय भाषाओं मे हुई है, उतनी अन्य भाषाओं में अन्यत्र कही भी दिखाई नही देती। लेकिन साहित्य का आधुनिक विद्यार्थी इन सबके अध्ययन से वचित ही रह जाता है। भारतीय भाषाओं के आधुनिक लेखक प्राचीन मनीषियो द्वारा अगाध परिश्रम से खोजे तथा निर्धारित किये गये मानदण्डों की अपेक्षा फैशन के तौर पर पश्चिमी साहित्य के मानदण्डों की वैसाखियों का सहारा लेना ही अधिक उचित समझते है। यह प्रवृत्ति जिस गति से बढ़ती जा रही है, उसे देखते हुए यह चिन्ता होना स्वाभाविक ही है कि कही कालान्तर में इन प्राचीन ग्रन्थों को पढ़ने वाले भी रह जायेंगे अथवा नही।

साहित्य के क्षेत्र में ही नहीं भारतीय ज्ञान-विज्ञान की उन समस्त क्षेत्रों के सम्बन्ध में स्थिति चिन्ताजनक है, जिनमें असंख्यों प्रतिभाओं ने अपना जीवन होम कर अनिर्वचनीय उपलब्धियाँ अर्जित की हैं । चूँकि यह सारी ज्ञान सम्पदा देवभाषा संस्कृत में लिपिबद्ध की गई है, इसलिए संस्कृत को मृतभाषा घोषित करने के साथ ही इस ज्ञान सम्पदा की भी सहज उपेक्षा होने लगी। इसमें कोई सन्देह नहीं कि विदेशी शासकों ने इस देश में अपने पैर जमाते ही इस तथ्य को जान लिया कि संस्कृत का प्रचलन रहा तो देश की जनता का सोया हुआ आत्मगौरव कभी भी जाग सकता है। इसलिए उन्होने जान बूझकर संस्कृत के अध्ययन व अध्यापन को निरुत्साहित किया और इसके साथ ही जन-मानस में उत्पन्न होने लगी हीनता, हताशा तथा कुण्ठा। मुगल काल से भी अधिक बुरी परिस्थितियाँ ब्रिटिश काल में रहीं। उस समय तो फिर भी ज्ञान सम्पदा में नया कुछ जोड़ने के लिए भारतीय प्रतिभा को प्रोत्साहन मिलता था, किन्तु ब्रिटिश काल में यत्किंचित प्रोत्साहन तो क्या उल्टे निरुत्साहित और निराश करने का उपक्रम चल पड़ा।

अब तो भारत स्वतंत्र है। अब तो वैसी कोई विवशता नही है, फिर क्या कारण है कि अभी भी भारतीय समाज में अपनी संस्कृति के प्रति गौरव का भाव जागृत नही हो पा रहा है। खेद है कि इस दिशा मे कोई ध्यान देने की आवश्यकता ही अनुभव नही की जाती। ऐसी बात नही है कि भारत के पास प्रतिभा का अभाव हो। प्रतिभाओ के लिए उर्वर भारत भूमि अभी भी इतनी वीर प्रसूता है कि तथ्यो के प्रकाश मे भारत प्रतिभाओं के विकास की दृष्टि से प्रथम क्रम मे आता है। संयुक्त राष्ट्र संघ द्वारा हाल ही मे किये गए एक सर्वेक्षण के अनुसार कुशल इन्जीनियर, टैकनिशियन और डॉक्टर तैयार करने मे भारत अन्य सभी देशो से अग्रणी है। लेकिन कमी यही है कि हम अपनी प्रतिभा के साथ विरासत मे मिली ज्ञान सम्पदा को जोड़ने मे अभी तक समर्थ नही हो सके हैं या फिर इसकी आवश्यकता अनुभव नही करते।

उत्तर मे यही कहा जा सकता है कि भारत स्वतन्त्र भले ही हो गया हो, परन्तु यहाँ के नागरिकों में अपनी संस्कृति के प्रति गौरव का भाव अभी तक जागृत नही हो सका है। यही कारण है कि लोग न केवल पश्चिमी सभ्यता का अन्धानुकरण करना श्रेयस्कर समझते हैं बल्कि वही के जीवन-दर्शन, वही की मान्यताओ और वहाँ के विचारको का प्रतिपादन भक्ति भाव से ग्रहण करते अपनाते है। पश्चिमी संस्कृति के प्रति इसी मुग्ध भाव के कारण अपनी प्रतिभा का मौलिक विकास करने के स्थान पर पश्चिमी ज्ञान-विज्ञान को श्रेष्ठ मानकर अपनी संस्कृति के प्रति हीनता की दृष्टि पनपने लगी है। अन्यथा यह सिद्ध करने के पर्याप्त प्रमाण है कि भारतीय संस्कृति और सभ्यता प्राचीन काल मे आधुनिक सभ्यता व संस्कृति की अपेक्षा बहुत अधिक उन्नत और विकसित थी।

किन्ही दूसरे कारणो से आई गुलामी ने उन कड़ियो को तोड़ भले ही दिया हो और इस कारण ज्ञान विज्ञान की वह प्राचीन धारा टूट भले गई हो, पर अभी मृत नही हुई है। उसे पुनर्जीवित किया जा सकता है और अपनी प्रतिभा के मौलिक उपयोग द्वारा उसी गौरवास्पद स्थिति को प्राप्त किया जा सकता है। प्रश्न उठता है कि भारतीय सभ्यता और संस्कृति के गौरवपूर्ण तथा महान होने के क्या प्रमाण है ? तथ्यों और प्रमाणो के तो ढेर लगाये जा सकते हैं तथा लगाये भी गये हैं। उन सबको यहाँ प्रस्तुत करने की गुंजायश नही है। लेख के कलेवर को दृष्टिगत रखते हुए कतिपय उदाहरण और विद्वानो के उद्धरण देना ही पर्याप्त होगा।

सभ्यता और ज्ञान-विज्ञान की विभिन्न धाराओं मे से एक भवन निर्माण कला को ही लिया जाए। हजारो वर्ष पूर्व भवन निर्माण कला तथा नगरो का विकास अपने देश में प्रगति के चरम को छू चुका था। इस सन्दर्भ में प्रसिद्ध वास्तुकलाविद् ई वी. हैवेस ने कहा है, भवन निर्माण के लिए आजकल जो प्रविधियाँ प्रचलित हैं, वे बहुत अधूरी हैं। निश्चित ही यूरोप ने वास्तुकला के क्षेत्र में अद्भुत प्रगति की है परन्तु वह भी तक भारत की वास्तुकला के स्तर को छू नही है। लगभग दो हजार वर्ष विनिर्मित अजन्ता की गुफाएँ तथा उनके भित्ति चित्र, उन्ही दिनो बनाये गये भव्य मन्दिर और प्रासादों में दृष्टिगोचर होने वाली श्रेष्ठतम कलाकारिता को देखकर दाँतों तले अंगुली दबाकर रह जाना पड़ता है।

भारत ने न केवल वास्तुकला तथा नगर निर्माण के क्षेत्र में चमत्कारी प्रतिभा को खरादा निखारा, वरन् चिन्तन द्वारा ऐसे सिद्धान्तो का निर्माण भी किया जिनके आधार पर आज भी उसी स्तर को प्राप्त किया जा सकता है। प्रगति के वही शिखर छुऐ जा सकते है। यद्यपि भारत की ज्ञान सम्पदा का अधिकांश भाग विदेशी आक्रमणकारियो द्वारा जलाये गये ग्रन्थालयों तथा मारे गये अपने-अपने क्षेत्र के प्रतिभा सम्पन्नों के कारण नष्ट हो गया है। फिर भी अब तक १४१ ऐसे ग्रन्थों का पता लगाया जा चुका है, जिनमे वास्तुकला और शिल्प शास्त्र का विस्तृत विवेचन हुआ है। 'विश्वकर्म प्रकाश' मानसार तथा भोजदेव कृत 'समरांगण' 'सूत्राधार' आदि ग्रन्थ अब भी बड़ी सुलभता से प्राप्त होते हैं। इनके सम्बन्ध मे विशेषज्ञो का कहना है कि इन ग्रन्थों में प्रतिपादित सिद्धान्तो का विवेचन पढ़कर ही विस्मय विमुग्ध रह जाना पड़ता है।

अंकविज्ञान एक और देन है भारत की, जिसका उपयोग तो सारा विश्व अब भी धड़ल्ले से कर रहा है। आधुनिक प्रौद्योगिकी मूलतः अंकगणित पर ही आधारित है। उसके बिना उद्योग-धन्धो व व्यवसाय रोजगार का काम एक दिन भी नही चल सकता और गणित के अंको का आविष्कार सर्वप्रथम भारत मे ही हुआ। इस सम्बन्ध मे प्रसिद्ध पश्चिमी विद्वान जी. वी हालस्टेड ने इस विश्व को इसके लिए भारत का ऋणी बताते हुए कहा है, हिन्दुओ के द्वारा किये गये शून्य के आविष्कार ने मानव जाति की बुद्धि और शक्ति की प्रगति मे अभूतपूर्व योगदान दिया है।

भारत ने आध्यात्मिक क्षेत्र मे तो विश्व को अनेकानेक अनुदान दिये है। भौतिक क्षेत्र में भी इतनी चमत्कृत कर देने वाली सफलताएँ अर्जित की हैं कि उनकी आज की वैज्ञानिक उपलब्धियों से तुलना की जाए तो प्रतीत होगा कि आज का विज्ञान तो उन्हें दोहरा भर रहा है। जैसे पश्चिमी वैज्ञानिको से सैकड़ों वर्ष पूर्व आर्यभट्ट ने यह पता लगाया था कि पृथ्वी घूमती है और सूर्य स्थिर है तथा यह भी कि २४ घण्टे मे पृथ्वी सूर्य की एक परिक्रमा लगा लेती है। अब से

दो हजार वर्ष पूर्व विक्रमादित्य के समय मे अपना देश नक्षत्र विद्या के क्षेत्र में उन तथ्यों को खोज चुका था जो पश्चिमी वैज्ञानिकों को सैकड़ों वर्ष बाद मालूम हुए। एक इतिहासकार ने अपने एक निबन्ध में यह बात बड़े ही सुन्दर ढंग से कही है, जिस समय गैलीलियो के प्रतिपादन को न्याय की तराजू पर तोला जा रहा था तथा परम्परागत धारणाओं को टूटने से बचाने के लिए उसे मृत्यु दण्ड सुनाया जा रहा था, तब भारतीय वैज्ञानिक अपनी वेधशाला में बैठे हुए इन निष्कर्षों से सैकड़ों कदम आगे की खोज कर रहे थे।

पेड़ की शाखा से एक फल टूटकर गिरता देख पृथ्वी की आकर्षण शक्ति का पता लगाने के लिए न्यूटन की प्रतिभा के आज भी गीत गाये जाते हैं, परन्तु यह कोई नई खोज न थी। न्यूटन से पाँच सौ वर्ष पहले ही भास्कराचार्य ने अपने 'सिद्धान्त शिरोमणि' ग्रन्थ में लिख दिया था कि पृथ्वी का कोई आधार नही है, वह अपनी ही शक्ति से स्थिर है। पृथ्वी में आकर्षण शक्ति है, इसीलिए वह आकाश में फैंकी हुई भारी वस्तुओं को अपनी ओर खीचती है। इस तथ्य को सर्वप्रथम उद्घाटित करने का श्रेय भी भास्कराचार्य को ही जाता है कि पृथ्वी गोल है समतल नही।

वास्तुकला विज्ञान, अंकगणित, ज्योतिष तथा भूगोल के क्षेत्र में ही नहीं, वरन् साहित्य, संगीत और अन्य कलाओं में भी भारतीय प्रतिभा ने निष्णात दक्षता प्राप्त की थी। भारतीय साहित्य शास्त्र विश्व का सर्वाधिक विकसित साहित्य शास्त्र है। अन्य किसी भी भाषा का साहित्य इतना समृद्ध और सामर्थ्यपूर्ण नहीं है जितना कि संस्कृत भाषा का। रस, सम्प्रदाय, अलंकार, रीति ध्वन्यात्मकता तथा गत्यात्मकता के सिद्धान्तों की जितनी गहन और जितनी सूक्ष्म अभिव्यक्ति संस्कृत तथा अन्य भारतीय भाषाओं में हुई है, उतनी अन्य भाषाओ में अन्यत्र कही भी दिखाई नही देती। लेकिन साहित्य का आधुनिक विद्यार्थी इन सबके अध्ययन से वंचित ही रह जाता है। भारतीय भाषाओं के आधुनिक लेखक प्राचीन मनीषियों द्वारा अगाध परिश्रम से खोजे तथा निर्धारित किये गये मानदण्डों की अपेक्षा फैशन के तौर पर पश्चिमी साहित्य के मानदण्डो की बैसाखियों का सहारा लेना ही अधिक उचित समझते हैं। यह प्रवृत्ति जिस गति से बढ़ती जा रही है, उसे देखते हुए यह चिन्ता होना स्वाभाविक ही है कि कही कालान्तर में इन प्राचीन ग्रन्थों को पढ़ने वाले भी रह जायेगे अथवा नही।

साहित्य के क्षेत्र में ही नहीं भारतीय ज्ञान-विज्ञान की उन समस्त क्षेत्रों के सम्बन्ध में स्थिति चिन्ताजनक है, जिनमें असंख्यों प्रतिभाओं ने अपना जीवन होम कर अनिर्वचनीय उपलब्धियाँ अर्जित की हैं। चूँकि यह सारी ज्ञान सम्पदा देवभाषा संस्कृत में लिपिबद्ध की गई है, इसलिए संस्कृत को मृतभाषा घोषित करने के साथ ही इस ज्ञान सम्पदा की भी सहज उपेक्षा होने लगी। इसमें कोई सन्देह नहीं कि विदेशी शासकों ने इस देश में अपने पैर जमाते ही इस तथ्य को जान लिया कि संस्कृत का प्रचलन रहा तो देश की जनता का सोया हुआ आत्मगौरव कभी भी जाग सकता है। इसलिए उन्होंने जान बूझकर संस्कृत के अध्ययन व अध्यापन को निरुत्साहित किया और इसके साथ ही जन-मानस में उत्पन्न होने लगी हीनता, हताशा तथा कुण्ठा। मुगल काल से भी अधिक बुरी परिस्थितियाँ ब्रिटिश काल में रहीं। उस समय तो फिर भी ज्ञान सम्पदा में नया कुछ जोड़ने के लिए भारतीय प्रतिभा को प्रोत्साहन मिलता था, किन्तु ब्रिटिश काल में यत्किंचित प्रोत्साहन तो क्या उल्टे निरुत्साहित और निराश करने का उपक्रम चल पड़ा।

अब तो भारत स्वतंत्र है। अब तो वैसी कोई विवशता नही है, फिर क्या कारण है कि अभी भी भारतीय समाज में अपनी संस्कृति के प्रति गौरव का भाव जागृत नहीं हो पा रहा है। खेद है कि इस दिशा में कोई ध्यान देने की आवश्यकता ही अनुभव नही की जाती। ऐसी बात नही है कि भारत के पास प्रतिभा का अभाव हो। प्रतिभाओं के लिए उर्वर भारत भूमि अभी भी इतनी वीर प्रसूता है कि तथ्यों के प्रकाश में भारत प्रतिभाओ के विकास की दृष्टि से प्रथम क्रम में आता है। संयुक्त राष्ट्र सघ द्वारा हाल ही मे किये गए एक सर्वेक्षण के अनुसार कुशल इन्जीनियर, टैकनिशियन और डॉक्टर तैयार करने में भारत अन्य सभी देशो से अग्रणी है। लेकिन कमी यही है कि हम अपनी प्रतिभा के साथ विरासत में मिली ज्ञान सम्पदा को जोड़ने मे अभी तक समर्थ नही हो सके हैं या फिर इसकी आवश्यकता अनुभव नही करते।

आवश्यकता अनुभव की जाय तो समर्थता भी अर्जित हो सकती है। लेकिन यह तभी सम्भव होगा जब अपनी संस्कृति के प्रति गौरव का भाव जागृत किया जाए। दुनियाँ मे कोई ऐसा देश नही है, जिसे अपनी प्राचीन सस्कृति से मोह न हो, जो उसके प्रति गौरवान्वित न रहता हो। एक भारत ही ऐसा है जो अपने पुरखों की निन्दा, भर्त्सना और उपेक्षा कर रहा है। प्रत्यक्ष करने वाले भी हैं और परोक्ष करने वाले भी। विदेशी पश्चिमी सभ्यता की अन्धी नकल और अपनी सस्कृति के प्रति कुछ भी जानने की उत्सुकता का अभाव, उपेक्षा नही तो और क्या है? आवश्यकता इस बात की है कि अपने गौरवपूर्ण अतीत का अध्ययन किया जाय, उसके प्रगतिशील तत्वों को अपनाया जाये और मौलिक प्रतिभा का विकास किया जाए, तभी भारत विश्व मे आत्मसम्मान के साथ जी सकेगा।

भारतीय संस्कृति को विश्व संस्कृति का पर्याय माना गया है। सभ्यता का विकास इसी के गर्भ में से हुआ जिसने ज्ञान की अनेकानेक विधाओ को जन्म देकर समस्त विश्व को अपने अनुदानो से सिक्त किया। किसी देश, जाति, धर्म, सम्प्रदाय, वर्ग अथवा समाज विशेष तक सीमित न रहकर यह सम्पूर्ण मानव जाति के विकास एवं कल्याण के लिए पथ प्रदर्शन करती रही है।

जब तक इस देश के नागरिक अपनी सांस्कृतिक विशेषताओ को समझते और उन्हें अपने आचरण मे उतारते रहे यहाँ एक से बढ़कर एक नर-रत्न, महापुरुष पैदा होते रहे, भौतिक समृद्धि और सामाजिक सुख-शान्ति की निर्झरिणी बहती रही। इस संस्कृति के ढाचे मे ढले हुए नर-रत्न अपने प्रकाश से समस्त विश्व को आलोकित करते थे। अपनी गौरव गरिमा के कारण वे विश्व भर में वन्दनीय थे। अतीत के इतिहास पर दृष्टि डालने पर यह पता चलता है कि यहाँ के नर-नारियों ने अपनी महान् सांस्कृतिक परम्परा को जीवन्त बनाये रखने के लिए त्याग बलिदान से मुक्ति अविस्मरणीय भूमिका निभाई है, जिसका अवलोकन कर मस्तक श्रद्धा से झुक जाता है। पारिवारिक एवं सामाजिक आदर्शों, देश जाति धर्म संस्कृति के लिए मर मिटने वालो की शृंखला मे अनेको नाम ध्रुव तारे की भाँति अपनी अमर कृति के साथ इतिहास के पन्नों में अभी भी चमकते हैं।

हर परिवार सांस्कृतिक आदर्शों से अनुप्राणित था। पिता और पुत्र के बीच कैसे सम्बन्ध थे? इसका उदाहरण देखना हो तो रामायण तथा इतिहास के पन्नों को पलटना होगा। विमाता के कहने पर १४ वर्ष तक के लिए जाने वाले राम, माता-पिता की तीर्थ यात्रा की इच्छा की पूर्ति के लिए उन्हें काँवर में बिठाकर कष्ट साध्य श्रम करने वाले श्रवण कुमार, पिता के दान कर देने पर मृत्युलोक के लिए सहर्ष प्रस्थान करने वाले नचिकेता के चरित्र को पढ़ने पर अन्तरात्मा पुलकित हो उठती है। भाई का भाई के प्रति क्या कर्तव्य है इसका बोध राम, लक्ष्मण और भरत के जीवन-चरित्र के अवलोकन पर होता है। शत्रुता होते हुए कौरवों को जब यक्षो ने बन्दी बना लिया तो युधिष्ठिर ने भ्रातृत्व प्रेम से वशीभूत होकर उन्हें छुड़वाया। सच्चे मित्र का क्या कर्तव्य होता है? इसको श्रीकृष्ण ने सुदामा और अर्जुन के प्रति निर्वाह करके दिखाया था।

पति-पत्नी के बीच कैसे सम्बन्ध होने चाहिए इसके उदाहरण भारतीय नर-नारियो ने पग-पग पर उपस्थित किए है। सीता, सावित्री, गान्धारी दमयन्ती, सुकन्या, शैव्या, अनुसूया जैसी पतिव्रता नारियो की कथाएँ आज भी घर-घर सुनाई जाती है। पर स्त्री के प्रति माता, भगिनी और पुत्री का भाव रखने वाले चरित्रों की भी कमी नही है। शिवाजी द्वारा सुन्दर यवन कन्या को सम्मानपूर्वक सुरक्षित उसके घर पहुँचा देना, अर्जुन द्वारा इन्द्र सभा की सर्व श्रेष्ठ सुन्दरी उर्वशी का प्रणय प्रस्ताव अस्वीकार कर देना, रूप गर्विता देवयानी को कच द्वारा वापिस लौटा देने, जैसे उज्ज्वल चरित्र के अगणित उदाहरण मिलते है।

अपने आप को तपश्चर्या की अग्नि में आहुति दे देने वाले, पर सतत् विश्व मानव के उत्कर्ष मे सलग्न ऋषियों की जीवनियाँ पढ़ने पर अन्तरात्मा उनके चरणो में पुष्पांजलि समर्पित करने को कहती है। वशिष्ठ, विश्वामित्र, कपिल, कणाद, कश्यप, जमदग्नि भारद्वाज, गौतम, पाराशर, याज्ञवल्क्य, जैमिनी गोभिल, पिप्पलाद, शुकदेव, कात्यायन, शख, जरत्कारु, लोमश, शृंगी धौम्य, वैशम्पायन आदि ऋषियो ने अपने को तिल-तिल जलाकर ससार के लिए प्रकाश उत्पन्न किया। प्रसुप्त

अन्तरात्मा को जगाने और सद्भाव युक्त सत् प्रेरणाएँ उभारने के लिए अपनी ज्ञान धारा को सूत-शौनक निरन्तर प्रवाहित करते थे। धर्म कथाएँ एवं गाथाएँ उदात्त भावनाओं को उछालने का काम करती थी। धर्म और संस्कृति के लिए मर मिटने वालों के भी अनेकों साहस भरे उदाहरण मौजूद है। धर्म मर्यादा की रक्षा के लिए वन्दा वैरागी का खौलते तेल के कढ़ाव में कूद जाना, हकीकतराय का हँसते-हँसते सिर कटा देना, गुरुगोविन्द सिंह के बालको का दीवारों मे चिने जाने के लिए तैयार हो जाना आदि घटनाएँ संकीर्ण स्वार्थो के दल-दल में लिप्त देशवासियों को लानत देती है। उन्हें उनसे उबरने और महानता की ओर अग्रगमन की प्रेरणा देती हैं।

यहाँ के निवासी सुख-साधन, धन-सम्पदा के संग्रह को नही आत्म शक्ति सम्पादन और उस परमार्थ प्रयोजनों मे सदुपयोग को जीवन की सार्थकता मानते रहे है। गौतम बुद्ध अपने सुख-सौभाग्य पर लात मारकर अज्ञान में डूबे हुए संसार का पथ प्रदर्शन करने के लिए घर छोड़कर निकल पड़े। महावीर ने संयम और अहिंसा का पाठ पढ़ाने के लिए अपना सम्पूर्ण जीवन ही उत्सर्ग कर दिया। भागीरथ राजसुख को त्यागकर दीर्घकाल तक प्यासी पृथ्वी को तृप्त करने के लिए पावन गगा के अवतरण के लिए तप करते रहे। व्यास जी ने ससार को धर्म ज्ञान देने के लिए अष्टादश पुराणों की रचना में अपना जीवन खपा दिया। आदि कवि वाल्मीकि ने रामायण की रचना कर मानव जाति को कर्तव्य पथ पर अग्रसर होने के लिए प्रेरित किया। रोग-पीड़ितों के कष्ट निवारण के लिए चरक, सुश्रुत वागभट्ट, धन्वन्तर प्रभृति ऋषि जीवन भर जड़ी-बूटियों धातुओ, विषों आदि का अन्वेषण करते रहे। परिणामतः उन्होने एक सर्वागपूर्ण चिकित्सा शास्त्र का आविर्भाव किया। ज्योतिर्विद्या की महान् खोज का, आकाशस्थ ग्रह-नक्षत्रो का मानवी स्वास्थ्य और पृथ्वी के वातावरण पर क्या प्रभाव पड़ता है का श्रेय इन ऋषियो को ही है। सूर्य सिद्धान्त, मकरकन्द, ग्रहलाघव जैसे महत्त्वपूर्ण दुर्लभ ग्रन्थ ज्योतिर्विज्ञान के गूढ़ रहस्यो पर प्रकाश डालते है। बिना किसी वैज्ञानिक यन्त्र के अन्तरिक्ष विद्या के विकास में उन्हें कितना श्रम करना पड़ा होगा, यह सोचकर आश्चर्य होता है।

आज धर्म और अध्यात्म के नाम पर पाखण्ड फैलाने वाले तथाकथित साधु-ब्राह्मणों की कमी नहीं है जो इनकी आड़ में अपने स्वार्थों के लिए जन श्रद्धा का शोषण करते और अश्रद्धा को बढ़ावा देते हैं पर भारतीय संस्कृति में साधु-ब्राह्मणों की एक गौरवपूर्ण परम्परा रही है। साधुता और ब्राह्मणत्व का एक मात्र आदर्श था। जनमानस के अन्तरंग को उत्कृष्ट बनाने के लिए अपनी सामर्थ्य को सतत् नियोजित किए रहना। दयानन्द, शंकराचार्य, कुमारिल भट्ट, समर्थ रामदास, तुकाराम, चैतन्य महाप्रभु, कबीर, विवेकानन्द सिख धर्म के दस गुरु आदि असंख्यों धर्मगुरु लोक मंगल के कार्य में जीवनपर्यन्त घोर परिश्रम और परिभ्रमण करते रहे। उन्होने लोक सेवा को जीवन मुक्ति से कही अधिक महत्त्व दिया। भगवान बुद्ध जब अपनी लीला समाप्त करने लगे तो उनके शिष्यों ने पूछा "आप तो अब मुक्ति के लिए प्रयाण कर रहे है। बुद्ध ने उत्तर दिया" जब तक संसार का एक भी प्राणी भव बन्धन मे बँधा हुआ है, तब तक मुझे मृत्यु की कामना नही होगी। मानव जाति के उत्कर्ष के लिए मे बारम्बार जन्म लेता रहूँगा। भगवान बुद्ध के ये शब्द धर्म पथ का अवलम्बन लेने वालो को अध्यात्म के वास्तविक लक्ष्य का बोध कराते है। स्वामी दयानन्द योग साधना के लिए हिमालय गये किन्तु कुछ समय बाद उन्हे ईश्वरीय प्रेरणा हुई कि लोक सेवा को अपनाये बिना योग साधना का लक्ष्य पूरा नहीं होता। साधना के उपरान्त वापिस लौटे तो उन्होने अपना सम्पूर्ण जीवन ही सव्याप्त अज्ञानान्धकार को मिटाने मे खपा दिया। महात्मा शब्द को सार्थक करने वाले गाँधी जी द्वारा देश के नवनिर्माण के लिए किया गया तप कभी भुलाया न जा सकेगा। पांडित्य और विद्वता की सार्थकता आचरण मे है, महामना मालवीय और लोकमान्य तिलक इसके प्रत्यक्ष प्रमाण थे।

देश की बागडोर संभालने और शासन चलाने वालों का चरित्र कैसा होना चाहिए, इसके अनेकों उदाहरण भारतीय सस्कृति मे भरे पड़े है। राजा जनक अपने गुजारे के लिए स्वय हल चलाते थे। राजाकोष मे से धन अपने लिए नही प्रयुक्त करते थे। महर्षि

विश्वामित्र को जब यज्ञीय लोकहित के कार्य के लिए धन की आवश्यकता पड़ी तो राजा हरिश्चन्द्र ने समस्त कोष ही सौंप दिया। छत्रपति शिवाजी ने विपुल सम्पत्ति समर्थ गुरु रामदास के चरणों में अर्पित कर दी और स्वयं उनके आज्ञानुसार एक ट्रस्टी की भाँति राज्य सम्पत्ति की देख-रेख करते और शासन की व्यवस्था संभालते रहे। महाराणा प्रताप राजसुख की परवाह न करके जीवन भर स्वतन्त्रता संग्राम के धर्म युद्ध में लड़ते रहे। चाणक्य राज्य मन्त्री होते हुए भी एक फूँस की झोपड़ी में गरीबी का जीवन जीते रहे। अपने निर्वाह के लिए राज्य-कोष से कुछ भी नहीं लेते थे। इन शासकों की जीवन गाथाएँ त्याग-बलिदान की घटनाएँ पढ़ने से हृदय गदगद हो उठता है।

आज की भांति जिनके पास धन सम्पत्ति होती थी। उसे सात पीढ़ियों तक के लिए तिजोरी में बन्द रखने की संकीर्ण परम्परा नही थी। एक हाथ से कमाने और न्यूनतम गुजारे से बचे अतिरिक्त धन को दूसरे हाथ से सहर्ष समाज के लिए देने की उदारता अपनायी जाती थी। भामाशाह ने जीवन भर की कमाई अथाह सम्पत्ति को निस्पृह भाव से राणाप्रताप को धर्म युद्ध के लिए दे दी। स्वतन्त्रता संग्राम में धन की आवश्यकता पड़ी तो राजा महेन्द्र प्रताप ने अपनी जमींदारी की सम्पूर्ण सम्पत्ति ही दे डाली। 'सी. आर. दास' वकालत से हजारों रुपये कमाते थे पर वह सारा का सारा और कितनी ही बार कर्ज लेकर भी सार्वजनिक आवश्यकताओ की पूर्ति करते थे। जमुना लाल बजाज ने अपनी सारी सम्पत्ति गाँधी जी के चरणो मे सौंप दी और स्वय स्वतन्त्रता संग्राम के एक सच्चे सेनानी की भाँति काम करते रहे।

राजाराम मोहन राय, ईश्वर चन्द्र विद्या सागर, गोपाल कृष्ण गोखले, महादेव गोविन्द रानाडे, गणेश शंकर विद्यार्थी, श्रद्धानन्द, सर्वदानन्द, हैडगेवार के जीवन चरित्र में भारतीय संस्कृति की उज्ज्वल झाँकी देखी जा सकती है। सन् १८५७ से लेकर स्वाधीनता के हिंसात्मक सग्राम के क्रान्तिकारी भगतसिंह, आजाद, बिस्मिल, सुभाष, खुदीराम सरीखे असंख्यों वीरों और १९२१ से लेकर १९४७ तक की अहिंसात्मक राज्य क्रान्ति में अगणित व्यक्तियों ने जो त्याग किये हैं उनकी गाथाएँ पढ़ते सुनते हुए भुजाएँ फड़कने लगती हैं।

मानवता के उत्कर्ष में भारतीय नारियाँ भी पीछे नही रही हैं। पुरुष के कंधा से कंधा मिलाकर वे जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण भूमिका सम्पादित करती रही है। वेदों के मन्त्र दृष्टा जिस प्रकार विश्वामित्र, वशिष्ठ आदि ऋषि हुए है वैसे ही ऋषिकाएँ स्त्रियाँ भी हुई हैं। ऋग्वेद में ऐसी अनेकों विदुषियों का उल्लेख मिलता है। गोधा घोष, विश्ववारा, अपाला, जुहु, अदिति सरमा, रोमशा, लोपामुद्रा शास्वती, सूर्या, सावित्री आदि ब्रह्मवादिनी स्त्रियाँ न केवल वेद मन्त्रों की दृष्टा थीं वरन् समय-समय पर उन्होंने यज्ञादि में आचार्य के गुरुतर पद का भली भाँति निर्वाह किया। मनु की पुत्री इड़ा प्रकाण्ड याज्ञिक थी। उसने अपने पिता का यज्ञ स्वयं सम्पन्न कराया। महाभारत के शान्ति पर्व के अध्याय ३० में सुलभा नामक एक विदुषी का वर्णन है, जिसने शास्त्रार्थ मे जनक जैसे ब्रह्मज्ञानी के छक्के छुड़ा दिए थे। भागवत में स्वधा की पुत्री यमुना और धारिणी का वर्णन है। वे विज्ञान विद्या में निष्णात थी। भारती देवी नामक महिला से शंकराचार्य को भी मात खानी पड़ी। प्रश्नों के उत्तर के लिए उन्हें समय की मोहलत मांगनी पड़ी। ज्ञान ही नही धर्म युद्ध मे भी नारियो ने ऐतिहासिक भूमिका निभाई। चित्तौड़ की रानियाँ, बूँदी की रानी दुर्गावती, झांसी की रानी लक्ष्मीबाई, चॉद बीबी आदि के पराक्रम से युक्त घटनाओ को पढ़ने से रोमांच हो आता है।

भारत की सांस्कृतिक गौरव गाथा से इतिहास के असंख्यो पन्ने भरे पड़े हैं। यहाँ घर-घर मे ऐसे नर-रत्न पैदा होते रहे हैं, जिनके उज्ज्वल चरित्र प्रकाश स्तम्भो की भाँति आज भी गिरी मनुष्य जाति के पथ प्रदर्शन के लिए प्रकाशमान हो रहे है। यह स्थिति इस देश मे इसलिए बनी रही कि ऋषि प्रणीत संस्कृति के प्रति जन-जन में गम्भीर आस्था थी, सांस्कृतिक आदर्शों की रक्षा को हर व्यक्ति अपनी प्रतिष्ठा का प्रश्न और जीवन से भी अधिक मूल्यवान मानता था। इस स्थिति के उलटते ही देश का पतन और पराभव आरम्भ हुआ और परतन्त्रता के पास में लम्बी अवधि तक बँधना

पड़ा, जिसके संस्कार स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद भी बने हुए हैं।

अपनी सांस्कृतिक गरिमा धूमिल न होने पाये

मैकक्रिडल नामक पाश्चात्य विचारक ने सिकन्दर के आक्रमणों पर एक पुस्तक लिखी है, जिसमें उसने मैगस्थनीज के इंदिक ग्रन्थ का उद्धरण दिया है। इस पुस्तक में उल्लेख है कि जब सिकन्दर भारत पर आक्रमण करने के लिए निकला, तब उसके गुरू अरस्तू ने उसे आदेश दिया कि भारत से लौटते समय दो उपहार लाना—एक गीत तथा दूसरा कोई एक दार्शनिक सन्त। सिकन्दर जब वापस लौटने लगा तो उसने अपने ओनियोक्रोटस नामक एक सैनिक को आदेश दिया कि भारत के किसी सन्त को ढूँढ़कर ससम्मान ले आओ। सैनिक 'दण्डी स्वामी' जिसका उल्लेख ग्रीक भाषा में 'डैडीमीग' के रूप में हुआ है—सो मिला। दण्डी स्वामी से सिकन्दर के दूत ने मिलकर कहा—आप हमारे साथ चलें, सिकन्दर महान् आपको मालोमाल कर देंगे। अपार वैभव आपके चरणों में होगा। अपनी सहज मुस्कान मे दण्डी स्वामी ने उत्तर दिया—हमारे रहने के लिए शस्य-श्यामला भारत की पावन भूमि, पहनने के लिए बल्कल वस्त्र, पीने के लिए गंगा की अमृत धार तथा खाने के लिए एक पाव आटा पर्याप्त है। हमारे पास संसार की सबसे बड़ी सम्पत्ति आत्मधन है। इस धन की दृष्टि से दरिद्र तुम्हारा सिकन्दर हमें क्या दे सकता है ? शक्ति एवं सम्पत्ति के दर्प से चूर सिकन्दर ने सैनिक की वार्तालाप को जब सुना तो विस्मित रह गया। अहंकार चकनाचूर हो गया। आध्यात्मिक सम्पदा के धनी इस देश के समक्ष नतमस्तक होकर चला गया।

मैक्समूलर ने एक पुस्तक लिखी है—'इण्डिया ह्वाट कैन इट टीच अस।' इस पुस्तक को पढ़ने से उनकी भारत के प्रति अगाध श्रद्धा भाव का पता लगता है। वे लिखते हैं कि—"मै विश्वभर में उस देश को ढूँढ़ने के लिए चारों दिशाओं मे दृष्टि दौड़ाऊँ, जिस पर प्रकृति देवी ने अपना सम्पूर्ण वैभव, पराक्रम एवं सौन्दर्य मुक्त हाथो से लुटाकर उसे पृथ्वी का स्वर्ग बना दिया है तो मेरा इशारा भारत की ओर होगा। यदि मुझसे पूछा जाय कि अन्तरिक्ष के नीचे वह कौन-सा स्थल है, जहाँ मनुष्य ने अपने अन्तराल में सन्निहित ईश्वर प्रदत्त उदात्त भावों को पूर्णरूपेण विकसित किया है तथा जीवन की गहराई में उतारकर कठिनतम् समस्याओं पर विचार किया है, उनमें अधिकांश को सुलझाया है, जिसे जानकर 'कांट एवं प्लेटो जैसे दार्शनिकों से प्रभावित मनीषी भी आश्चर्यचकित रह जांय तो मेरी उगुली सहज ही भारत की ओर उठेगी और यदि मै अपने आपसे प्रश्न करूँ कि हम यूरोपवासी जो अब तक केवल ग्रीक यहूदी एवं रोमन विचारों में पलते रहे है। किस साहित्य से वह प्रेरणा ले सकते है, जो हमारे अन्तरंग जीवन को परिशोधित करे—उसे उन्नति की ओर अग्रसर करे—व्यापक एवं विश्व-जनीन बनाये—सही अर्थो में मानवीय गुणों से सुसम्पन्न करे जिससे हमारे पंचभौतिक जीवन को ही नही, हमारी सनातन आत्मा को भी प्रेरणा मिले तो पुनः मेरी उंगली भारत की ओर उठ जायेगी।"

प्रकृति-सौन्दर्य, सम्पदा एवं आत्मिक विचार सम्पदा का धनी यही वह देश है, जिसके ज्ञान सागर में डुबकी लगाकर जर्मनी का प्रसिद्ध दार्शनिक शोपेनहाबर कह पड़ा कि—"विश्व के सम्पूर्ण साहित्यिक भण्डार में किसी ग्रन्थ का अध्ययन मानव विकास के लिए इतना उपयोगी एवं ऊंचा उठाने वाला नही है, जितना कि उपनिषदों की विचारधारा का अवगाहन। इस सागर में डुबकी लगाने से मुझे शान्ति मिली है तथा मृत्यु के समय मे भी शान्ति मिलेगी।

सम्प्रदाय, मजहब, जाति, वर्ग एवं राष्ट्रीय दीवारो से निकल कर मानवी सिद्धांतो एवं विश्व-बन्धुत्व को प्रोत्साहन देने वाली यहाँ की ज्ञान सम्पदा ने प्रत्येक धर्म एवं मजहब के व्यक्तित्वो को प्रभावित किया है। औरंगजेब का भाई दाराशिकोह उपनिषदो के एक बार रसास्वादन के उपरान्त उसकी मस्ती में इतना डूबा कि निरन्तर छै माह तक काशी के पडितों को बुलाकर उनकी व्याख्या सुनता रहा। दूसरों को भी उसका लाभ

मिले—यह सोचकर उसने १६५६ मे स्वयं फारसी मे उपनिषदो का अनुवाद किया। दाराशिकोह के इस भाषान्तर को फ्रेंच के विद्वान 'एन्क्विटिल ड्यूपैरो' ने पढ़ा। उसकी रुचि इतनी बढ़ी कि सभी प्रमुख प्राच्य शास्त्रो, वेदो, उपनिषदो का अध्ययन कर डाला। फारसी अनुवाद के आधार पर उसने १८०१ मे इनका लैटिन भाषा मे अनुवाद किया। दाराशिकोह का फारसी अनुवाद एवं इन्क्विटिल का ईसाई अनुवाद अब भी मुस्लिम एवं ईसाई जगत मे अत्यन्त श्रद्धा के साथ पढ़ा जाता है।

भारत जो प्रकृति की क्रीड़ास्थली है, जिसको प्रकृति ने अपने प्राकृतिक सौन्दर्य से विशेष रूप से सँवारा है। जहाँ गंगा, जमुना एवं गोदावरी की धाराये सम्पूर्ण देश को अपने भौतिक एवं आध्यात्मिक अनुदानो से सिक्त करती है। हिमालय के शिखरो से दैवी चेतना का सतत् प्रवाह चलता है। जहाँ ऋषियों की आध्यात्मिक एवं वैचारिक सम्पदा अब भी वातावरण मे गुंजित होती है। वही देश जो कभी 'स्वर्गादऽपि गरीयसी' से सम्बोधित किया जाता था। आज आत्म विस्मृति मे पड़ी अपनी गौरव गरिमा को भूल चुका है। इस देश के तैतीस करोड़ नागरिक कभी तेतीस करोड देवताओ के रूप मे जाने जाते थे। यह आध्यात्मिक विचारधारा की ही परिणति थी, जिसने चिंतन एवं चरित्र मे, व्यक्तित्व मे उतरकर देवतुल्य बना दिया। देव मानवो को जन्म देने वाली प्राकृतिक एवं आध्यात्मिक वातावरण से ओत-प्रोत इस पावन भूमि मे अब भी वे विशेषताये मौजूद है—जिनका अवलम्बन लेकर मनुष्य को देवोपम बनाया जा सके।

इस देश के पास ऋषियो की विरासत वैचारिक पूँजी है और साथ मे प्रकृति का अनुदान भी जिसने प्राच्य से लेकर पाश्चात्य तक हिन्दू, मुसलमान, सिक्ख, ईसाई सभी मतावलम्बियो को प्रभावित किया है। मैक्समूलर से लेकर दाराशिकोह तक की श्रद्धा इसके प्रति समय-समय पर प्रकट होती रही है। आवश्यकता भारतीय मानस की तमिस्रा को तोडने की है, जो तमस् मे सोया पडा है। आत्म-विस्मृति को तोडने के लिये व्यापक स्तर पर विचार-क्रान्ति की मशाल जलानी होगी। आलस्य एवं प्रमाद की जड़ता में डूबी जन-चेतना को उस गर्त से निकलने के लिए व्यापक स्तर पर अभियान छेड़ना होगा।

भारतीय संस्कृति में समन्वय की अद्‌भुत विशेषता रही है। यही कारण है कि युगों-युगों के घात-प्रतिघात के बावजूद भी वह अपना अस्तित्व बनाये हुए है। अपनी विशालता एवं महानता के कारण वह सदा दूसरी संस्कृतियो को अपने भीतर समाहित करती रही हैं। कितने ही आक्रमणकारी, आततायी आये—कितनी ही जातियो का यहाँ आवागमन हुआ किन्तु यह अक्षुण्ण बनी रही। जो कभी विजय का गान गाते, यहाँ उत्साह में झूमते हुए आये थे, वे इस सस्कृति के विशाल समुद्र मे विलीन हो गये। उन्हें इससे पृथक् करना सम्भव नही।

उनमे से प्रत्येक की कोई न कोई भाषा, धर्म अथवा सस्कृति रही होगी, प्रत्येक की कुछ अपनी आदतें रही होगी, अपने विचार एवं रीति-रिवाज भी रहे होंगे—लिखित-अलिखित उनका कुछ साहित्य रहा होगा किन्तु इनमे किसी भी वस्तु या विचार का अब कोई अलग अस्तित्व नही है। मुसलमानो के आगमन से पूर्व यहाँ जितनी जातियाँ, चाहे वे यवन हो, हूण हो या तुर्क, मंगोल हों या यूनानी, सभी इस सस्कृति के सागर में समाकर एकरूप हो गयी। भारत की सांस्कृतिक महानता मे दूसरी जातियों का भी महान योगदान है। 'यह ऐसी सास्कृतिक रसायन' है, जिसमे विभिन्न संस्कृतियों के रस समाहित हैं।

एकता एवं समन्वय की विशेषता की भावाभिव्यक्ति महाकवि रवीन्द्रनाथ टैगौर ने अपनी एक कविता मे इस प्रकार की है—"यह भारत देश महानता का केन्द्र है। ओ मेरे हृदय ! इस पवित्र तीर्थ मे श्रद्धा से अपनी आँखे खोलो। किसी को भी ज्ञात नही है कि किसके आमन्त्रण पर मनुष्यता की कितनी ही धाराये तीव्र वेग से प्रवाहित होती हुई कहाँ-कहाँ से आयी और इस महासमुद्र मे समा गयी। आर्य, अनार्य, द्रविण और चीनी वंश के लोग यहाँ है। शक, हूण, पठान और मगोल जैसी जातियाँ आयी और सभी एक शरीर मे समाकर एक हो गयी। इस देश के हृदय मे प्रवाहित रक्त मे सबका स्वर ध्वनित हो रहा है।

न केवल इनकी संस्कृतियो की विशेषताओ को अपनाया वरन् अपनी सास्कृतिक विशेषताओं का लाभ भारत ने समस्त विश्व को दिया। कभी उसने अपनी महानता द्वारा सम्पूर्ण विश्व का नेतृत्व किया और ज्ञान-विज्ञान की अनेकानेक विद्याओ से विश्व को परिचित कराया। अपनी सांस्कृतिक गौरव-गरिमा, चरित्रनिष्ठा, ज्ञान के प्रति अगाध श्रद्धा मानव मात्र को एकता के सूत्र मे बाँधने वाले तत्व ज्ञान ने 'मैक्समूलर' जैसे यूरोपीय विद्वान को नतमस्तक किया और यह कहने पर बाध्य किया कि "विश्व को शान्ति, एकता, समता और शुचिता का सन्देश देने मे कोई देश समर्थ हो सकता है तो वह भारत ही होगा। भारत का तत्व ज्ञान मनुष्य के व्यावहारिक जीवन मे समाविष्ट हो सके तो इस भू-मण्डल पर स्वर्गीय परिस्थितियो का दिग्दर्शन कर सकना सम्भव है। मेरा विश्वास है कि जब कभी भी ससार को एकता के सूत्र में अबद्ध किये जाने के प्रयत्न होगे तो इसके लिए भारतीय तत्वज्ञान से ही दिशा एवं प्रेरणा लेनी होगी।"

कभी इस देश का ज्ञान यहाँ के निवासियों के चरित्र मे झलकता था अर्थात् ज्ञानवाणी की चर्चाओं तक सीमित न रहकर व्यवहार का अंग बना था। फलस्वरूप तेतीस करोड़ व्यक्तियों का यह देश तेतीस करोड़ देवताओ के रूप मे प्रख्यात था। स्वर्णिम युग के उस गौरव से विभूषित इस देश की वर्तमान स्थिति पर विचार करते है तो भारी निराशा होती है तथा इस बात पर शक होता है कि विश्व का नेतृत्व करने वाला क्या यही वह देश है, जिसने विश्व बसुन्धरा में कभी अपने ज्ञान एवं विज्ञान की जानकारियो से सुख-समृद्धि एव शान्ति की गंगा बहाई थी।

सर्वविदित है कि ज्ञान की सार्थकता आचरण में है। उसकी उपयोगिता आचरण की शुद्धि मे है। कभी वह चरित्र की निर्मलता, पवित्रता एवं श्रेष्ठता के साथ जुडकर विश्व भर मे अपनी ध्वजा-पताका फहराने मे समर्थ बना। आज वही चरित्रनिष्ठा को खोकर चर्चा एव वाक्-विलास का साधन मात्र बनकर रह गया है। ज्ञानराशि के उत्तराधिकारी होते हुए देशवासियों के आचरण मे भारी गिरावट आई है। गीता, उपनिषद, वेद जैसे ज्ञान के अगाध स्रोत हमारे पास है। अनेको शास्त्र एवं पुराण हमें उपलब्ध है। ऋषियो के ज्ञान-विज्ञान का संचित कोष हमें विरासत के रूप में प्राप्त है, जो दूसरे देशो मे इतने विपुल परिमाण मे अनुपलब्ध किन्तु आज उनके उपदेशों पर चलने की हममें शक्ति नहीं है। "एक ही ब्रह्म फैलकर अनेक हो गया।" यह सूक्ति तो प्रत्येक को याद है किन्तु हमारा आचरण इसके विपरीत हो गया है। आडम्बरों, रूढ़ियो, जाति-पाँति, रीति-रिवाजों मे इतने ग्रस्त हैं कि उपरोक्त ज्ञान काम नही आता। "एकोऽहम् बहुस्यामि" की दुहाई देने वाले मनुष्य-मनुष्य के बीच भेद करते देखे जाते है तो भारी निराशा होती है और ज्ञान की पवित्रता पर शक होने लगता है।

पतन का दूसरा कारण बना मिथ्या अहंकार। मनीषियो का मत है कि कोई भी संस्कृति परस्पर आदान-प्रदान से ही समृद्ध बनती है। सबसे अलग कूपमण्डूक में रहकर जीने वाले समाज की संस्कृति स्वभावतः सीमित और संकीर्ण होगी, जबकि अपने में दूसरो की विशेषताओं को समाहित करने वाली सस्कृति अपनी सम्पन्नता बढ़ाती जाती है। संसार से रूठकर ज्ञान के मिथ्या अहंकार में ग्रस्त अलग बैठने का भाव ही संस्कृति को ले डूबता है। विश्व की अनेकों सस्कृतियाँ परस्पर साँस्कृतिक विनिमय रुक जाने के कारण ही काल के गर्भ में समा गई। उनका कोई चिन्ह अब शेष नही रहा। जिन्होने आदान-प्रदान के लिए अपने दरवाजे खुले रखे वे अक्षुण्ण बनी रही। संस्कृति का सर्वाधिक विकास सम्पर्क से होता है। पिछला इतिहास इस बात का साक्षी है। भारत से ज्ञान एवं विज्ञान का आलोक बिखेरने के लिए समय-समय पर परिव्राजक विश्व के अनेक देशो मे जाते रहे। दूसरे देशवासियों को भी इसका लाभ मिला। परिव्राजक अपने साथ दूसरी संस्कृतियो मे समाहित ज्ञान की अनेकानेक धाराओ को अपने साथ लाते थे। सर्वांगीण प्रगति मे भौतिक एवं आध्यात्मिक समृद्धि मे सास्कृतिक विशेषताओं के आदान-प्रदान का विशेष योगदान रहा।

कालान्तर मे यह परम्परा टूट गई। प्रगति के इस युग में नित नई ज्ञान की शाखाओ का आविष्कार हो रहा है। उसका लाभ भी तभी मिल पाता है जब परस्पर सम्पर्क का अनवरत् क्रम बना रहे। पिछले अन्धकार युग में हमने अपने ज्ञान के अहंकार मे विश्व

से सम्पर्क तोड़ लिया। आध्यात्मिक ज्ञान की दृष्टि से समर्थ होते हुए भी भौतिक ज्ञान की उपेक्षा करने से प्रगति क्षेत्र मे पिछड़ गये। पश्चिमी देशो ने भौतिक क्षेत्र मे प्रबल पुरुपार्थ किया और समुन्नत होते गये। उनके ज्ञान का लाभ लेने से हमने इन्कार कर दिया और भौतिक प्रगति को जीभर कोसा। फलस्वरूप भौतिक दृष्टि से हम उतने ही पिछड़ते चले गये।

बीसवी सदी के इस भौतिकवादी युग मे जबकि सम्पूर्ण विश्व की निगाहें भारत की ओर लगी है, उसे अपनी चरित्र निष्ठा को जागृत करना होगा। भौतिक क्षेत्र मे उस देश ने अपने पिछले पूर्वाग्रहो को छोड़कर नई करवट ली है। प्रगति के लिये भी उसने नया प्रयास किया है और तदनुरूप सफलताये भी पाई है। परस्पर सम्पर्क से दूसरो के ज्ञान का लाभ मिला और भौतिक प्रगति का मार्ग प्रशस्त हुआ है। विकास मार्ग का एक अवरोध समाप्त हुआ। दूसरा कदम उठाना होगा—देश मे चरित्र निष्ठा को जगाने का।

यह सम्भव हो सके तो भारतीय संस्कृति एवं उसका तत्व ज्ञान अब भी विश्व को दिशा देने मे सक्षम है। विश्व को एकता, समता एव शुचिता में आवद्ध करने मे अपनी संस्कृति पूर्णत· समर्थ है। देश मे इन दिनो आयी वैचारिक एवं आध्यात्मिक क्रान्ति की लहर इसी वात का सकेत देती है कि भारत अपने सास्कृतिक गौरव-गरिमा को प्राप्त करने के लिए इस युग सक्राति काल मे प्रयत्नशील रहे तो अगले दिनो वह न केवल अपने अतीत के गौरव को वापस लायेगा वरन् समस्त विश्व का नेतृत्व करेगा।

नव निर्माण में देव संस्कृति की भूमिका

देव संस्कृति चिरपुरातन समय से ही समूचे विश्व के हर क्षेत्र एवं समुदाय को सद्भावनाओं और सत्प्रवृतियो से अनुप्राणित करने मे समर्थ रही है। यदि विश्व को आज की परिस्थितियों में एक सूत्र में बाँधने की बात सोची जाय तो एक ही सस्कृति 'विश्व सस्कृति' की बात मस्तिष्क मे आती है। ऐसा स्वरूप देव संस्कृति का ही बनता है, जो सारे विश्व की अनेकानेक सस्कृतियों के उपयोगी एवं महत्वपूर्ण अशो का समुच्चय है। इस दृष्टि से भारतीय संस्कृति ही ऐसी है, जिसे अनायास ही मानवी संस्कृति—देव परम्पराओं के उत्कृष्टतम् स्वरूप की मान्यता मिल सके।

भारत भूमि की परम्परागत महानता मात्र इतने तक ही सीमित नही रही है कि यहाँ के निवासी समर्थ, सुसस्कृत एवं समृद्ध भर थे। यदि बात इतनी छोटी होती तो इस प्रकार के उदाहरण अन्यत्र भी खोजे जा सकते थे। अपनी-अपनी परिधि में अपने-अपने ढंग से सभी उत्कर्ष अभ्युदय के प्रयत्न करते एव योग्यता परिस्थिति के अनुरूप सफल भी होते रहते। कौन कितना सफल हुआ-अन्तर मात्र इतने का रहा। परिणामो मे इस अनुपात से अन्तर तो रहेगा, पर तथ्यो एवं प्रयासो को असाधारण एवं अनुपम नही कहा जा सकता। भारत भूमि को 'स्वर्गाऽपि गरीयसी' इसलिए कहा जाता है उसके अपने कुछ मौलिक निर्धारण एव प्रयास थे। इनमे सर्वोपरि यह था कि जो पाया जाय उसे बिना अपने पराये का भेदभाव किये बाँटा-बिखेरा जाय। इस विभाजन-वितरण में विशेषतया अधिक जरूरतमन्दों को प्राथमिकता देने की नीति का पूरा-पूरा समावेश किया गया। सूर्य की ऊर्जा, बादलों की सरसता एवं वायु की सजीवता बनकर इस धरती पर निवास करने वाले मनुष्यो को नही वरन् समूचे जीव जगत् को सुखी समुन्नत बनाने मे अपनी क्षमता लगाती है, फलतः कृतज्ञता भरा सम्मान भी पाती है।

स्वर्ग लोक के निवासियों की सम्पदा उन्ही के काम आती है। धरती वाले उसे वैभव का लाभ कहाँ उठा पाते है ? देवताओं में देने की प्रवृत्ति तो है, पर साथ ही है यह इस स्तर की कि जो अनुनयपूर्वक माँगे, उसी को अनुग्रह रूप में दिया जाय। बिना माँगे स्वत विपन्नता को तलाशना एवं बिना याचना के उस विपमता को निरस्त करने के लिए जा पहुँचना यह विशेपता धरती के देवमानवो मे ही पाई जाती है। व्यवहार मे इसे तब देखा जाता है, जब कभी भूकम्प, दुर्भिक्ष, बाढ़, अग्नि काण्ड, महामारी, दुर्घटनायें सामने आती हैं। अनेकों भावनाशील उस समय अपनी सहायता लेकर सकटग्रस्तों की सहायता को दौड़ते हैं।

यही एक प्रमुख कारण है कि देवमानवो की मन-स्थिति एवं जीवन चर्या को सुरदुर्लभ कहा गया है। इस आनन्द से वंचित रहने के कारण देवता धरती पर उतरते और मानव जन्म लेकर अपने को कृतकृत्य

करते हैं। भारत भूमि को 'स्वर्गाऽपि गरीयसी' इसी दृष्टि से कहा जाता रहा है कि इस पर जन्मे और बढ़े व्यक्ति सदा से यह ध्यान रखते रहे कि उन्हें हर स्तर का वैभव प्रचुर परिमाण मे कमाना तो है, अकेले खाना नहीं है। वरन् जो भी कुछ हाथ में है, उसे अपने से अधिक अभाव ग्रस्तों को प्राथमिकता देते हुए व्यापक क्षेत्र मे वितरित करना है।

अतीत के विभूतिवानो-देवमानवों की इस विशेषता का सर्वविदित प्रमाण यह भी है कि उनने अपने देश के कोने-कोने में सुसंस्कारिता का वैभव बढ़ाने में कोई कमी न रखी। इसके अतिरिक्त समस्त वसुधा को अपना कुटुम्ब मानकर कष्ट साध्य यात्रायें करते हुए वे वहाँ जा पहुँचे, जहाँ पिछड़ेपन का अनुपात-अपेक्षाकृत अधिक था। इतिहास साक्षी है कि अभ्युदय का वातावरण बनाने के लिए विश्व के कौने-कौने मे इस भूमि की प्राणवान् आत्माये पहुँचती और वहाँ सर्वतोमुखी प्रगतिशीलता का वातावरण बनाती रही हैं। बादलों की गरिमा इसीलिए है कि वे जहाँ भी पहुँचते है, सरसता का उपहार देते है। सूर्य की वन्दना इसीलिए है कि उसका सम्पर्क क्षेत्र गर्मी और रोशनी से रहित रह नहीं सकता। भारत के देवमानवो ने विश्व को जो अजस्र अनुदान दिये हैं, उनका कृतज्ञतापूर्वक अनन्तकाल तक स्मरण किया जाता रहेगा।

दुर्भाग्यवश मध्यकाल के अन्धकार युग ने इस 'स्वर्गादपि गरीयसी' भारतभूमि की सारी विशेषताओ का अपहरण कर लिया। पतन और पराभव ही पल्ले रह गया। अब हम दानी नही, मात्र याचक बनकर रह गये हैं। शासन, अर्थ, शिक्षा, विज्ञान आदि भौतिक क्षेत्रो मे ही नही वरन् संस्कृति की दृष्टि से भी भारत वर्ष अव आया तक भर है। निर्यातक बनाने की स्थिति तो अभी तक नही बन पाई। इस दृष्टि से ईसाई मिशन निर्यातक होने का गौरव प्राप्त करते हैं। इस देश के साधु-बाबा, धर्म प्रचारक और दूसरे लोग कभी विदेश जाते है तो लालच की आँखें और याचना की झोली भर लेकर बाहर पहुँचते हैं। बहाने बनाने के हजार रास्ते हैं। माँगने के लिए भी अनेको सच्चे-झूठे कारण एवं पाखण्ड खड़े किये जा सकते है। दृष्टि तो वही रही, जिसके कारण उनके प्रति जन साधारण की श्रद्धा घटती और प्रभावोत्पादक सामर्थ्य मिटती है।

सर्वविदित है कि भौतिकवादी दृष्टिकोण और सम्पन्नता के दुरुपयोग मे नैतिक मूल्यों का बुरी नरह ह्रास किया है। फलतः स्नेह सहयोग में भारी कमी आयी है। स्वार्थपरता और निष्ठुरता बढ़ने से सारा प्रचलन ही उलट गया है। विषाक्त वातावरण ने जन जीवन को अनिश्चित, अशान्त और आतंकित कर दिया है। इन दिनो समृद्धि तो निश्चित रूप से बढ़ी है पर साथ ही यह भी स्पष्ट है कि पूर्वजों की स्वल्प साधनो वाली स्थिति की तुलना मे वह अत्यन्त तुच्छ और कष्टकारक बनकर रह गयी है। इस व्यापक विपन्नता को दूर करने के लिए भारत अभी भी इस स्थिति मे है कि पूर्वजो के प्रतिपादनो और निर्धारणो से विश्व मानव को अवगत करते हुए वह यह सुझाये कि विनाश के कगार पर खड़ी सभ्यता को पीछे लौटाने एवं शान्ति पूर्वक जीने का क्या तरीका हो सकता है ?

निस्सन्देह भारत बहुत कुछ खो चुका। उसके पास जो भी कुछ बचा है अत्यन्त अस्त-व्यस्त और नष्ट-भ्रष्ट है। फिर भी उसके कुछ टुकड़े ऐसे हैं, जिन्हे अभी भी डूबते को तिनके के सहारे की तरह प्रयुक्त किया जा सकता है उदाहरणार्थ, संयुक्त परिवार पद्धति, पतिव्रत धर्म, जीवित और मृतक पूर्वजो के लिए, चरण स्पर्श, श्राद्ध और तर्पण जैसे माध्यमो से कृतज्ञता ज्ञापन, परलोक पर विश्वास से नीति-नियन्त्रण, परमार्थ के लिए अशंदान, प्राणियो के प्रति करुणा, स्वल्प मे सन्तोष जैसे अनेकों प्रचलन ऐसे है कि उन्हे विश्व व्यवस्था मे सुनियोजित रूप से प्रचलित करने की बात नये सिरे से, नये प्रयत्नो से उठाई जा सके तो भारत वैसा ही श्रेयाधिकारी हो सकता है जैसा कि समर्थ प्रभुता सम्पन्न राष्ट्र अपनी शस्त्र सम्पदा व साधनो के माध्यम से वर्चस्व प्राप्त कर रहे हैं। आवश्यकता मात्र समर्थता एवं प्रभुत्व की परिभाषाएँ बदलने की है। यह पुरुषार्थ यदि किया जाना है, तो वर्तमान प्रतिकूल परिस्थितियो मे ही। यह असंभव नही, पूर्णरूपेण ससम्भव है।

वैभव न सही, दिशा दे सकनें वाला आलोक अभी भी पूर्वजों की तिजोरियों मे भरा पड़ा है और उसका प्रमाण परिचय अभी भी अपने टूटे झोपडो मे, अपने अस्तित्व को ज्यो का त्यों जीवित रखे है। यह

बपौती भी इतनी मूल्यवान है कि इसे संसार की मण्डी में प्रस्तुत किया जा सके तो विचारशीलता इसका महत्व समझे बिना न रहेगी। इतना ही नहीं, उसे अपनाये जाने की भी पूरी-पूरी सम्भावना है, क्योंकि उस महान् अनुसरण के विकल्प मे एक ही मार्ग बच रहता है—"मनुष्य समुदाय द्वारा सामूहिक आत्महत्या का वरण किया जाना।"

आदर्शवादिता की बातें करना और व्यवहार में उन आदर्शों से ठीक विपरीत आचरण करना जितना निन्द्य और गर्हित है। सम्भवतः उतना बुरा अनैतिक कर्मों में प्रवृत्त होना भी नही है क्योंकि इस प्रकार का आचरण अनीतिपूर्ण तो होता ही है, उनसे सिद्धान्तों की बातें कहकर उसे ढकने दबाने की एक और अनैतिकता स्वभाव मे समाविष्ट हो जाती है। इसीलिए स्वामी विवेकानन्द ने कहा है, 'तुम आदर्शों की बात करो और उन्हें अपने व्यवहार मे न उतारो तो तुमसे चोर, डाकू और लुटेरे अच्छे, कम से कम कथनी और करनी का अन्तर तो नही होता।'

दुर्भाग्य से इन दिनों यह प्रवंचनापूर्ण स्थिति बहुत सघनता के साथ पाई जाती है। उदाहरण के लिए दहेज को ही लिया जाए। प्रत्येक व्यक्ति दहेज प्रथा की बुराइयाँ गिनाते नही थकता और पानी पी-पीकर इस कुरीति को कोसता है। इस विषय पर किसी से भी अपने विचार व्यक्त करने के लिए कहा जाए वह इसका अन्त अनिवार्य रूपेण चाहता प्रतीत होता है। लेकिन अधिकांश व्यक्ति जब अवसर आता है, तब मजबूरी के नाम पराये घर के अन्य किन्ही सम्बन्धितों का दबाव बताकर अपने लिए बचाव का रास्ता खोज लेते है और दहेज के लिए मुँह फाड़ने लगते हैं। इस दोहरी रीति-नीति को जीवन के अन्यान्य क्षेत्रों में भी स्पष्टतया देखा जा सकता है। ईमानदारी, परिश्रम, लगन, दायित्वनिष्ठा, कर्तव्य परायणता, उदारता आदि गुणों या आदर्शों की हर कोई सराहना करता है तथा उनका पालन आवश्यक बताता है किन्तु जब बात उनके पालन पर आती है तो लोग बगलें झाँकने लगते है।

आदर्शों के प्रति यह दोहरी और दोगली दृष्टि न हमारी संस्कृति का अंग रही है और न इस संस्कृति के प्रनेताओं में कही इस तरह का छद्म देखने में आया है। बल्कि इस तरह के हजारो उदाहरण हमारे सास्कृतिक इतिहास में भरे पड़े है। जिनमें लोगो ने आदर्शवादिता को पराकाष्ठा के स्तर पर पालन किया। आदर्शों के लिए हमारे मनीषियों ने एक अनूठा शब्द खोजा है-जीवन मूल्य। आदर्शों को जीवन मूल्य कहा गया है—अर्थात् जीवन का मूल्य देकर भी जिन पर दृढ़ रहा जाना चाहिए। मनुष्य को सबसे बढ़कर जीवन ही प्रिय है। संसार की समस्त सम्पदाओं की तुलना में वह जीवन को ही प्रधानता देता है। मनीषियो ने जीवन के ऊपर भी आदर्शों को प्रधानता दी है। यह विस्मय विमुग्ध कर देने वाली बात है कि जिस जीवन की तुलना मे सब कुछ तुच्छ है, वह जीवन आदर्शों के लिए बलि चढ़ाना श्लाघनीय समझा गया है।

आदर्शों की यह पराकाष्ठा ही हमारी संस्कृति की विशेषता रही है। भारतीय संस्कृति के इतिहास का पन्ना-पन्ना इस प्रकार के उदाहरणों से भरा पड़ा है। जिन लोगों ने इन आदर्शों के लिए अपने जीवन को भी दाँव पर चढ़ा दिया, उन्हें मनीषियों ने अवतार कहकर सम्बोधित किया एवं सराहा और पूजा है। पिता की आज्ञा का पालन करने के लिए भगवान राम द्वारा राजमहल मे उपलब्ध होने वाली सुविधाओ का त्याग कर जंगल मे वनवासी बनकर रहने लगने का उदाहरण विख्यात है। लक्ष्मण ने अपने भाई के प्रति कर्तव्य-पालन के लिए तमाम सुख सुविधाओ को छोड़ दिया। भ्रातृ-प्रेम का इतना अनूठा उदाहरण ससार के किन्ही अन्य देशो में मिलना दुर्लभ है। भरत द्वारा राज्य को धरोहर मानकर सम्हालने तथा स्वयं तापस वेश धारण कर जीवन व्यतीत करने का उदाहरण भी अपने ही जातीय इतिहास मे मिलता है।

सत्य के लिए अपना सारा जीवन, राजपाट आदि सब सुख-सुविधाएँ छोड़कर श्मशान में बिक जाने का हरिश्चन्द्र जैसा उदाहरण अन्यत्र नही मिलता। महारथी कर्ण और राजा बलि द्वारा दान धर्म की पराकाष्ठा को स्पर्श कर लेने का गौरवपूर्ण अध्याय भी अपने ही इतिहास में जुड़ा हुआ है। कर्ण जानते थे कि कवच-कुण्डल देने से वे मर सकते हैं, उनके लिए जीवन संकट उपस्थिति हो सकता है, परन्तु इन्द्र जब उनके सामने याचक बनकर उपस्थिति होते हैं और इन्द्र ही क्यों कोई भी क्यों न हो ? उनके लिए न करते

नही बनता। कर्ण के पिता सूर्य जब इस षड्यन्त्र का पर्दाफाश करते हुए अपने पुत्र को सचेत करते और व्यावहारिक बनने का उपदेश देते है तो कर्ण यही कहते है कि मै व्यावहारिकता का ही निर्वाह कर रहा हूँ। थोड़ी चीज देकर अधिक प्राप्त करना लाभदायक सौदा ही कहा जायेगा। यह नश्वर शरीर तो एक न एक दिन नष्ट होना ही है। आज होता है या कल होता है इससे क्या अन्तर पड़ता है। मैं इसके अमर कीर्ति प्राप्त कर रहा हूँ तो इसमे घाटे की क्या बात है ?

नियम और अनुशासन की मर्यादा तोड़ने पर राजा हँसध्वज ने अपने पुत्र को भी दण्डित करने से नही बख्शा। जब देश रक्षा के लिए हर युवक को युद्ध में जाने का निर्देश दिया और सभी युवा व्यक्ति रण-गण मे पहुँच गये तो उन्हे पता चला कि राजकुमार सुधन्वा इस अनुशासन मर्यादा का उल्लघंन कर अपनी नवविवाहित पत्नी के साथ प्रणय-लीला में उलझे हुए हैं। राजपुत्र होने के साथ-साथ सुधन्वा नव-विवाहित भी थे। हँसध्वज चाहते तो पुत्र को क्षमा कर सकते थे, परन्तु कर्तव्य सो कर्तव्य। नियम सो नियम। राजाज्ञा का उल्लघंन करने वालों को जो दण्ड दिया जाना घोषित किया गया था, वही दण्ड उन्होने अपने पुत्र को भी दिया। अनुशासन तोड़ने वालो के लिए गरम तेल मे डाल देने का दण्ड निर्धारित था, सो सुधन्वा को भी यही दण्ड दिया गया।

शरणागत की रक्षा करना भारतीय धर्म और सस्कृति का गौरव रहा है और इस गौरव को इतिहास पुरुषो ने बड़े से बड़ा त्याग कर भी स्थापित किया है। राजा शिवि ने अपनी शरण मे आये पक्षी की रक्षा के लिए उसका शिकार कर रहे बाज को अपनी जॉघ का मास खिलाकर अद्‌भुत शरणागत् वत्सलता के साथ-साथ उदार साहसिकता का भी परिचय दिया। मयूर ध्वज ने अपने पुत्र का मांस खिलाकर अभ्यागत की इच्छा पूरी की। इस तरह के प्रसंगो मे वैचित्र्य के साथ-साथ अस्वाभाविकता भी है, परन्तु जिन्होने मृत्यु के आर-पार देखा है उनके लिए इनमे कुछ भी विचित्र या अस्वाभाविक नही है। आदर्शों की पराकाष्ठा तक पहुँचने के लिए जो कुछ भी किया जाता है, वह व्यावहारिक है। जब जीवन क्षण भंगुर है और एक न एक दिन मर ही जाना है, शरीर को मिटना ही है तो क्यों न आदर्शों के लिए मरा जाय ? नियतिगत या स्वाभाविक मृत्यु की अपेक्षा किसी सिद्धान्त के लिए, आदर्श के लिए मरना अधिक स्तुत्य है।

मृत्यु का रहस्य समझने वालो के लिए उत्सर्ग उसी प्रकार है, जिस प्रकार सामान्य व्यक्ति लाखो रुपयों का पुरस्कार प्राप्त करने की आशा में एक दो रुपये का लाटरी टिकट खरीद लेता है। लाटरी के टिकट खरीदने पर लखपति बनने की सम्भावना तो फिर भी नगण्य-सी रहती है, किन्तु आदर्शों के लिए उत्सर्ग करने वाला व्यक्ति अपने प्राप्तव्य के सम्बन्ध मे शत-प्रतिशत निश्चिन्त रह सकता है। जिन लोगो ने आदर्शों के लिए उत्सर्ग किया, उनकी दृष्टि मे यद्यपि मरने के बाद किसी प्रकार की श्रेय कामना नही रही, फिर भी उनके लिए श्रेय सुरक्षित है। श्रेय नही भी मिले तो भी किसी उद्देश्य के लिए आत्मोत्सर्ग करने वाली बात से मिला आत्मसन्तोष कही नही जाता।

आदर्शों की यह पराकाष्ठा अपनी संस्कृति की धरोहर है। यदि इस पराकाष्ठा पर नही पहुँचा जा सके तो भी कम से कम कथनी और करनी मे साम्य तो रखा ही जा सकता है। हम भी इसी ऋषि परम्परा के अनुगामी है, उन नर-वीरो की सन्ताने है, यह ध्यान मे रखते हुए आदर्शों की प्रवंचना से तो बचा ही जाना चाहिए। इस छलना से बचकर ही अपनी संस्कृति *के प्रति गौरव भाव जागृत और जीवन्त रखा जा* सकता है।

सांस्कृतिक पुनरुत्थान—युग की परम आवश्यकता

सस्कृति मनुष्य के अन्तरंग को विकसित करती है। सभ्यता बहिरग जीवन को सॅवारती है। अन्तरंग एवं बहिरंग के सम्मिलित स्वरूप से प्रगतिशील जीवन का समग्र एवं स्वस्थ स्वरूप बनता है। व्यक्ति एव समाज के उत्थान-पतन मे इन दोनो की समन्वित भूमिका होती है। सस्कृति मनुष्य की प्रकृति का निर्माण करती है, विचार एवं चिन्तन को आधार देती है। सभ्यता से आकृति—बाह्य जीवन शैली विकसित होती

है। बहिरंग जीवन को संस्कृति को प्राण की संज्ञा दी जा सकती है। कलेवर का स्वरूप कैसा होगा यह अन्तरंग के प्राण तत्व के ऊपर निर्भर करता है। व्यक्ति अथवा समाज का स्वरूप व्यवहार एवं चरित्र कैसा होगा, यह इस बात पर निर्भर करता है कि जिस सांस्कृतिक परिवेश मे वे साँस ले रहे हैं, इसका स्तर कैसा है ? सभ्यताओं के उद्‌भव विकास एवं पराभव की घटनाओं मे सांस्कृतिक मूल्यों की ही प्रधान भूमिका होती है। सभ्यताओं का अपना कोई स्वतन्त्र अस्तित्व नही होता। वे तो संस्कृति के अनुरूप ढलती, बनती तथा परिवर्तित होती रहती है। स्पष्ट है कि सांस्कृतिक मूल्य ही समाज के मेरुदण्ड है—समाज को गढ़ने अथवा पराभव के गर्त में ढकेलने के प्रधान कारक है।

मनुष्य का चिंतन एवं चरित्र संस्कृति के अनुरूप ही बनता है। सस्कृति में जिस प्रकार के वैचारिक मूल्यों का समावेश होगा, व्यक्ति एवं समाज का वैसा ही स्वरूप होगा। वर्तमान समय मे समाज के ऊपर दृष्टिपात करने पर यह निष्कर्ष निकलता है कि चारित्रिक दृष्टि से मनुष्य का पतन इतना कभी नही हुआ। चोरी, डकैती, हिंसा, बलात्कार जैसे अपराधों में दिन प्रति-दिन वृद्धि होती जा रही है। दैनिक पत्र-पत्रिकायें इन्ही घटनाक्रमों से भरी रहती हैं। समाचार पत्र इनसे ही रंगे रहते हैं। उन्हें पढ़कर समस्त समाज के प्रति-मानव जाति के प्रति घृणा-सी हो जाती है। हर विचारशील आदर्श एवं सिद्धान्तनिष्ठ के मन में आक्रोश उभरता है। पर मात्र आक्रोश से घृणा करने से समाधान नही निकल सकता। उसके लिए समस्याओं की जड़ में प्रविष्ट होकर कारण एव निवारण ढूँढ़ने होंगे जो मनुष्य को अधःपतन की ओर अभिप्रेरित करते हैं।

प्रशासकीय स्तर के अनेकानेक प्रयासों की असफलता सामने है। यह समस्या एक राष्ट्र की न होकर विश्वव्यापी है। कानून की कठोर दण्ड व्यवस्था भी रोकथाम करने में अपनी असफलता व्यक्त कर रही है। पुलिस की सुरक्षा व्यवस्था अपनी असमर्थता का रोना रो रही है। बाह्य उपचार को रोकथाम की यह व्यवस्था तभी तक कारगर सिद्ध हो रही है, जब तक कि अपराधी पुलिस के शिकंजे में कठघरे के शेर के समान आबद्ध है। उससे बाहर निकलते ही नरभक्षी शेर जैसे और भी आक्रामक रुख अपना लेता है, उसी प्रकार अपराधी और भी जागरूक होकर अपराध कृत्य में वृद्धि करता है। बढ़ती हुई आग एवं छूत के रोग के समान नैतिक पतन का रोग समाज में बढ़ता ही जा रहा है। वर्तमान सभ्यता का यही स्वरूप है। जो समाज के सांस्कृतिक अवमूल्यन का नैतिक एवं वैचारिक पराभव का बोध कराता है।

गहराई से विचार करने पर पता लगता है कि समस्यायें व्यवहार की न होकर मूलतः संस्कृति की विचारों एवं चिन्तन की हैं। अतएव बाह्य प्रकट होने वाले अनैतिक आचरणों में सुधार करने के लिए वैचारिक और सांस्कृतिक स्तर पर ही प्रयास करने होंगे।

बुद्धि के विकास के साथ-साथ विचारों की सामर्थ्य का महत्व बढ़ा है साथ ही वैचारिक साधन-स्रोतो का भी विस्तार हुआ है। कभी सभ्यता अविकसित थी—साधनों का अभाव था। पर मानवी आस्था प्रबल होने के कारण समाज के प्रेरणा स्रोत ऋषि अपने श्रेष्ठ विचारों से समाज को दिशा देते थे। ऋषि परम्परा विलुप्त हुई। समाज आस्थावान कम बुद्धिमान अधिक बना। फलतः वैचारिक अनुदानो के केन्द्र बिन्दु ने करवट ली। उसका स्वरूप भी बदला। त्याग, बलिदान, सेवा, परमार्थ, करुणा, दया, उदारता, चरित्र, निष्ठा से भरी आदर्शनिष्ठ संस्कृति का स्थान उपभोग की संस्कृति ने लिया। बुद्धि ने नीति के स्थान पर अनीति को प्रोत्साहन दिया। वैचारिक अनुदान देने वाले विकसित साधनों ने भी बुद्धि की हाँ में हाँ मिलायी।

सबने एक स्वर से भौतिकवाद को, प्रत्यक्षवाद को महत्त्व दिया। चिंतन और चरित्र को उदार एवं उदात्त बनाने वाली परोक्ष किन्तु महत्त्वपूर्ण आध्यात्मिक विचारधारा की उपेक्षा हुई। फलतः उपभोग की भौतिक संस्कृति ही समाज का आदर्श बन गयी। समाज के मेरुदण्ड कहे जाने वाले विचारक, कलाकार, साहित्यकार, वैज्ञानिक, राजनेता सभी ने एक स्वर से समर्थन दिया। चारित्रिक उत्थान की सैद्धान्तिक बातें तो की गई पर व्यवहारिक स्तर पर रचनात्मक-कार्यक्रमों मे इस महती आवश्यकता को स्थान न मिल सका। फलस्वरूप समाजोत्थान के लिए मेरुदण्ड कही जाने

वाली आदर्शों एवं सिद्धान्तों से युक्त विचारधारा जिसे पुरातन भाषा में अध्यात्मिक अधुनातन में नैतिक सिद्धान्त कहा जा सकता है। उपेक्षित बनी रही, व्यवहारिक जीवन में न उतर सकी। सिद्धान्त एवं व्यवहार में एकरूपता का अभाव ही चारित्रिक एवं नैतिक संकट का कारण बना।

समस्याओं की गढ़ बनी भौतिकवादी संस्कृति ने सामाजिक एवं नैतिक मूल्यों को बुरी तरह रौंदा है। अब आवश्यकता पड़ी है कि इस स्थिति में आमूल-चूल परिवर्तन किया जाय। ऐसी संस्कृति का विकास करना, प्रसार करना आवश्यक है, जिसमें उदार एवं उदात्त विचारधारा का समावेश हो जो पदार्थ को नयी चेतना की महत्व दे। जो वस्तुओं का उपयोग तो सोने पर उपभोग को तिरस्कृत करे। इसके लिए कई स्तर पर प्रयास करने होंगे वर्तमान वैचारिक प्रवाह को ही उलटना होगा।

विश्वव्यापी नैतिक संकटों की वर्तमान स्थिति को देखते हुए अब आवश्यकता आ पड़ी है कि विचार एवं चिंतन शक्ति को नैतिक पुनरुत्थान में नियोजित किया जाय। यह कार्य आध्यात्मिक मूल्यों की प्रतिष्ठापना से ही सम्भव होगा।

वर्तमान मानवी चिन्तन का ढर्रा है—जैसे भी बने अधिकाधिक उपार्जन उपभोग करो। स्पष्ट है यह नीति, अनीति, अपराध एव अवांछनीयता को ही प्रोत्साहन देती है। प्रकारान्तर से यह कहा जाय कि वर्तमान अनेकानेक अपराधो में योगदान भौतिकवादी संस्कृति का है तो यह अत्युक्ति नही होगी।

अन्तरंग को विकसित करने वाली, चिन्तन एवं चरित्र को उदार एवं उदात्त बनाने वाली अध्यात्म संस्कृति को ही विकसित करना होगा। जिसके लिए प्रत्येक विचारशील जो वर्तमान नैतिक पराभव को देखकर दुखित है का योगदान होना आवश्यक है।

आज बुद्धिवाद का ही चारो और आधिपत्य नजर आता है। निरकुश भौतिकवाद की बाढ़ अपनी चरम सीमा पर है। मनुष्य छोटा बौना होता और सिकुड़ता चला जा रहा है। विलासिता के अतिरिक्त उसे कुछ सूझ ही नही पड़ता। दुष्प्रयोजनो मे निरत हमारी बुद्धि, चेष्टा और सम्पदा संसार मे नाटकीय वातावरण उत्पन्न करती चली जा रही है। इसका परिणाम किस दुःखद दुर्भाग्य मे होगा, उसकी कल्पना मात्र से सिहरन उठती, रोमांच हो उठता है।

जीवन और मृत्यु के निर्णायक चौराहे पर खड़ी मनुष्य जाति अपनी मनमर्जी करती रहे और हम मूक दर्शक बने देखते रहें, यह उचित नहीं लगता। इतिहास *साक्षी है कि विश्व की सर्वांगीण प्रगति में भारत ने* अपने विकास के आरम्भ से ही असाधारण योगदान दिया है। इस देश के देवमानव सदा से स्वयं को विश्व नागरिक मानते रहे हैं और क्षेत्र विशेष की परिधि मे अपने को सीमित न रखकर समस्त संसार की अवगति को प्रगति में बदलने के लिये भागीरथी प्रयत्न करते रहे हैं। इस देश में निर्वाह की समुचित सुविधाएँ रही हैं। रत्नगर्भा शस्य-स्यामला भारत भूमि के वरद् पुत्रों को कभी किसी प्रकार का अभाव दारिद्रिय नही रहा वे समस्त विश्व को अपना सेवा क्षेत्र मानकर सुदूर भूखण्डों की अत्यन्त कठिन यात्राएँ करते रहे हैं। इसे उन्होने साधना माना तथा अविकसित पड़े भूखण्डो के पिछड़ेपन को दूर करने के लिये अपने ज्ञान-विज्ञान का पूरा अनुदान प्रदान किया। वन्य-जीवों जैसे जीवन-यापन करने वाले मनुष्यों को उन्होने कृषि, पशुपालन, शिल्प, व्यवसाय परिवहन, शिक्षा, चिकित्सा, समाज-संगठन, धर्म संस्कृति आदि से परिचित कराया और उन प्रगति प्रयासों से उन्हें अभ्यस्त बनाकर सुविकसित स्तर तक पहुँचाया। ऐसे अनुदानों ने ही उसे संसार के कोने-कोने से जगद्गुरू का भाव भरा *सम्मान दिलाया। भारत वर्ष का चक्रवर्ती सांस्कृतिक* साम्राज्य विश्व-वसुधा के कोने-कोने तक छाया था। यह सब इसलिए सम्भव हो सका कि यहाँ के निवासी सीमित क्षेत्र में अपने स्वार्थों को सीमित नही रखे रहे वरन् उन्होने समस्त विश्व को अपना घर-परिवार और सार्वभौम सुख शान्ति को अपनी निजी प्रगति माना।

आज की स्थिति भूतकाल की अपेक्षा कहीं अधिक दुर्गति ग्रस्त है। संसार मे कही चैन नही, शान्ति नही, सन्तोष नही। उद्वेग और संक्षोभ से आज मनुष्य जाति का प्रत्येक सदस्य बेतरह जल रहा है। यदि आज हमारा चिन्तन पूर्व की तरह परिष्कृत रहा होता तो निस्सन्देह इस धरती पर स्वर्ग से कहीं अधिक सम्पन्नता और प्रसनता बिखरी पड़ी होती किन्तु हुआ उल्टा ही। समृद्धि बढ़ी पर सद्बुद्धि का लोप हो

गया। विकास के स्थान पर विनाश का ही पथ प्रशस्त हुआ है।

हमारी स्वयं की परिस्थिति विपन्न होते हुए भी अपनी सास्कृतिक धरोहर इतनी सम्पन्न है कि आज की स्थिति मे भी विश्व का दार्शनिक क्षेत्र में नेतृत्व करने मे सक्षम है। भारत का अध्यात्मक इतना उत्कृष्ट है कि उसे किसी देश, जाति और काल की सीमा मे नही बाधा जा सकता वरन् सार्वभौम सर्वकालीन और सार्वजनीन ही कहा जा सकता है। भटकाव को सही राह पर लाने की उसमे पूरी क्षमता है। संसार के अन्य देशो ने पिछले दिनो हमे बहुत कुछ दिया है। हम और कुछ तो नही पर उत्कृष्ट स्तर का तत्व दर्शन दे सकते है। जिससे भटकी हुई मानव जाति अपनी स्थिति एव दिशा धारा पर पुनर्विचार करने और दिशाप्रवाह बदलने हेतु तत्पर हो सके।

सस्कृतियो के संदेशवाहक परिस्थितिवश भिन्न-भिन्न देशो मे जा बसे होते है और अपने राष्ट्रीय कर्त्तव्यो का वे बड़ी निष्ठापूर्वक पालन भी करते है। इतने पर भी उन विभिन्न देशवासियो को अपनी आध्यात्मिक मान्यताओ एवं सांस्कृतिक एकता के क्षेत्र को व्यापक बनाये रहने मे कोई कठिनाई नही पड़ती। ईसाई धर्म रोम मे उगा और इस्लाम अरब मे पनपा। फिर भी उनके अनुयायी अनेक देशो मे बसे और वहाँ के वफादार नागरिक रहते हुये भी अपनी सास्कृतिक भावनाओ को व्यापक बनाये रखते है। जब भी अवसर मिलता है, वे मक्का, यरुशलेम आदि जा पहुँचते हैं। बौद्ध देशो के निवासी अभी भी गुरुभूमि भारत माता के दर्शन करने निरन्तर भारत आते रहते है। भावनात्मक एकता का दायरा असीम है। इस पर आधारित आत्मीयता तब तक बनी ही रहेगी जब तक कि मनुष्य श्रद्धा तत्व की सर्वथा तिलांजलि न दे दे।

भारत भूमि के निवासी राष्ट्रीयता की दृष्टि से अनेक देशो मे बसे है। वहाँ के वफादार नागरिक भी है। इतने पर भी आध्यात्मिक एवं सॉस्कृतिक एकता का तथ्य अपने स्थान पर यथावत् बना रहता है। भौगोलिक रेखा विभाजन का इस पर कोई असर नही पड़ना चाहिये।

कई भाई बड़े होने पर आजीविका कमाने के लिये सुदूर क्षेत्रों मे जा बसते है। फिर भी उनकी कौटुम्बिकता यथावत् बनी रहती है। बहुत दिनों तक मिलना-जुलना न बन पड़ने पर भी घर-परिवार की बात आती है तो दूरवर्ती होने पर भी वे ऐसे कदम उठाते है मानों मीलों दूरी के बावजूद एक-दूसरे से अलग नही हो पाये हों। इन भाइयो मे से किसी की मृत्यु हो जाय और उनके पीछे विधवा तथा बालकों के परिपोषण का प्रश्न आ पड़े तो दूरवर्ती होते हुये भी वैसी ही सहानुभूति दर्शाई जाती है मानो वे अभी भी उसी पुरातन घर परिवार के सदस्य बने हुए है, जिसमें कि जन्मे और खेले थे। इन कटुम्बियो के बीच रज-खुशी मे ही नही अन्य प्रकार से भी एक दूसरे को सहारा देने की बात सोचते है। वैसा कुछ न भी बन पड़े तो गहरी सहानुभूति तो रहती ही है। राम-लक्ष्म के बनवास भुगतने पर भरत और शत्रुघ्न प्राय· उस स्तर का तपसी जीवन जीते रहे। शरीर के दूर-दूर रहने पर भी आत्मीयता के आधार पर बनी निकटता, इसी सघन सवेदना के कारण टिकी रह पाती है।

सस्कृति का माता की तरह अत्यन्त विशाल हृदय है। धर्म सम्प्रदाय उसके छोटे-छोटे बाल-बच्चो की तरह जो आकृति-प्रकृति मे एक-दूसरे से अनभेद होते हुये भी माता की गोद मे समान रूप से खेलते है। भारतीय मूल व्यक्ति कही भी जा बसे, अपनी सॉस्कृतिक एकता एव आत्मीयता के बन्धन से मुक्त नही हो सकते। ये बन्धन इतने मजबूत है कि इन्हे मीलो की दूरी तो क्या, जन्म-जन्मान्तरो के साथ बदलती स्मृति भी तोड़ सकने मे समर्थ नही हो सकती।

भारत एक विचित्र राष्ट्र है। इसमे धर्म सम्प्रदायो जाति, विरादरियो प्रथा-परम्पराओ की बहुलता है। भाषाये भी ढेरो बोली जाती है। इनके प्रति परम्परागत रुझान के होते हुये भी सास्कृतिक एकता मे कोई अन्तर नही आता। मध्यकाल का ऐसा अन्धकार युग भी रहा है, जब जाति और परम्पराओ न सकीर्णता की दीवारे खडी की और अपने छोटे दायरे को ही वे सब कुछ मानने लगे। इन्ही दिनो जाति विद्वेष एव साम्प्रदायिक विग्रह भी पनपे थे। किन्तु एक ही धर्म सस्कृति के

लोग मात्र, प्रांत, भाषा, सम्प्रदाय, प्रथा प्रचलन जैसे छोटे कारणों को लेकर एक-दूसरे से पृथक् अनुभव करें, असहयोग दिखाये तो इसे दुर्भाग्यपूर्ण ही कहा जा सकता है।

आज वैसी बात नही रही। आज की विवेकशीलता उदार दृष्टिकोण अपनाती चली जा रही है। इसी कारण देवसंस्कृति के अनुयायी जाति-बिरादरी, भाषा-प्रान्त जैसे छोटे घेरो को तोड़कर एक महान् संस्कृति के अनुयायी कहने और कहाने में गर्व अनुभव करने लगे है। जिस प्रकार एकता का यह भाव देश भर में बढ़ा है, उसी प्रकार प्रवासी बन्धुओ मे भी यह भावना विकसित हुई है। अब हर विवेकवान की मान्यता यह बन चली है कि "देव संस्कृति के उत्तराधिकारी होने की मान्यता" भारतीय मूल के सभी विचारशीलो को एकता व आत्मीयता के सूत्र में बाँधे रहने, परस्पर पारिवारिकता बनाये रखने के लिये पर्याप्त समर्थ्यवान है।

यह दुर्भाग्य की बात है कि देव संस्कृति की गरिमा को उसके उत्तराधिकारी ही उपेक्षा के गर्त में धकेलते चले जा रहे हैं। संस्कृति को प्रथा प्रचलन की परिपाटी भर मान बैठना भूल है। इसके साथ एक महान् परम्परा जुड़ी है। उसे यदि सही रूप से समझाया व अपनाया जा सके तो अतीत जैसे गौरव, वातावरण और वैभव का पुनर्जीवित हो उठना सुनिश्चित है।

भारत भूमि के मूल निवासी, देवसस्कृति के अनुयायी प्रवासियो को यह आवश्यकता अनुभव करना चाहिये कि मध्यकालीन कुरीतियों, अन्धविश्वासो एवं धर्म के इस क्षेत्र मे घुस पड़ी अनेकानेक विकृतियों को बुहारने के पश्चात् जो शाश्वत और सत्य बच जाता है उसे न केवल मान्यता देने का वरन् जन-जन को अवगत कराने तथा व्यवहार मे उतारने का भाव भरा प्रयास किया जाय।

प्रवासी बन्धुओं को भिन्न परिस्थितियो मे भिन्न वातावरण मे एव भिन्न प्रकार के व्यक्तियों के बीच निर्वाह करना पडता है। स्वाभाविक है कि बहुसख्यक लोगों का दबाव अल्पसंख्यको पर आ पड़ता है। इन दिनों भारतीय सस्कृति की अवहेलना इसके अनुयायियों द्वारा ही किये जाने के कारण विदेशों मे इनका पक्ष और भी अधिक कमजोर पड़ा है। स्थिरता एव प्रोत्साहन का आधार न मिलने व सामने ईसाईयत जैसे प्रचलनों का दबाव पड़ने से गाड़ी उसी पटरी पर घूमने लगती है। प्रवासी भारतीय की हर पीढ़ी अपने पूर्वजो की तुलना मे देव सस्कृति के लिये कम रुचि दिखाती व उपेक्षा करती देखी जा सकती है। यदि यह क्रम चलता रहा तो बहुत शीघ्र प्रवासी बन्धु अपनी सांस्कृतिक आस्थाओं को खोते-खोते किसी दिन उन्हे पूर्णतया तिलाँजलि दे बैठेंगे।

होना यह चाहिये था कि ये प्रवासी बन्धु अपने-अपने देशो में राष्ट्रीय दृष्टि से से वहाँ के बफादार नागरिक रहते हुये वहाँ भारतीय संस्कृति के प्रतिनिधि बनकर रहते। अपने आपको संगठित करते अपरिचित व्यक्तियो को अपने प्रभाव के उपयोग द्वारा इस गरिमा से परिचित कराते। यदि ऐसा बन पड़ा होता तो सौ से भी अधिक राष्ट्रों मे से प्रवासी भारतीय इन देशो के असंख्य लोगों को इस महान् परम्परा का अनुयायी बनाने में सफल हो चुके होते किन्तु होता उल्टा रहा है। इनकी संख्या बढ़नी तो दूर घटी ही है। जबकि सर्वत्र जनसंख्या वृद्धि की बाढ़-सी आयी है।

भारतीय संस्कृति की महानता को देखते हुये विज्ञ समुदाय की यह मान्यता दिन-दिन सुदृढ़ होती जा रही है कि अगले दिनो समस्त विश्व की एक समन्वित सस्कृति होगी और उसका निर्धारण भारतीय सस्कृति के सिद्धान्तों एवं प्रचलनो के आधार पर होगा। ऐसी स्थिति मे इस महान् परम्परा से अनुयायियो का यह कर्तव्य हो जाता है कि न केवल उसके दर्शन, स्वरूप व्यवहार आदि से सर्व साधारण को परिचित कराये बल्कि इस प्रकार की जीवन चर्या स्वयं भी अपनाये, जिससे सिद्धान्त एव व्यवहार दोनो में एकरूपता आ सके।

एक चुनौती हर भारतीय धर्मानुयायी के लिए

कभी जाति और वर्ण का विभाजन सामाजिक कार्य व्यवस्था की सुविधा की दृष्टि से हुआ था न कि छोटे-बडे को ध्यान मे रखकर। वह लक्ष्य तो रहा नहीं, उल्टे विकृतियों ने जड जमा ली। सदियो से छुआ-छूत, ऊँच-नीच की भावना भारतीय समाज को खोखला

बनाती चली जा रही है, जिस कारण उसका एक बड़ा वर्ग कटकर अलग होता जा रहा है।

भारत में हिन्दू धर्मानुयायियो की सख्या में अन्य धर्मों की तुलना में औसतन कम बढ़ोतरी हुई है, जबकि मुस्लिम और क्रिश्चियन धर्म को मानने वालों की संख्या में औसतन उत्तरोत्तर वृद्धि हुई है। भारत की पहली जन गणना सन् १८८१ में हुई थी। उस समय हिन्दू और मुस्लिमो की जनसंख्या का औसत इस प्रकार था। कुल जनसंख्या में पिचहत्तर प्रतिशत हिन्दू थे और बीस प्रतिशत मुसलमान। शेष बौद्ध और ईसाई धर्म को मानने वाले थे। मुसलमानों की कुल संख्या ४ करोड़ ९९ लाख ५३ हजार थी। ६० वर्षो बाद सन् १९४१ में मुसलमानों की संख्या बढ़कर ९ करोड़ ४४ लाख ४० हजार अर्थात् देश की कुल जनसंख्या की लगभग २४ प्रतिशत हो गई, जबकि हिन्दुओं का औसत घटकर मात्र ६९ प्रतिशत रह गया।

सन् १८८१ और सन् १९४१ के मध्य अवधि मे मुस्लिम जनसंख्या मे ८९ प्रतिशत की तथा ईसाई जनसंख्या में ३१८ प्रतिशत की वृद्धि हुई, जबकि हिन्दू मात्र ४४ प्रतिशत ही बढ़े। इस तरह तुलनात्मक औसत वृद्धि की दृष्टि से १८८१ से १९४१ के ६० वर्षों मे पूरे भारत में ५३ हिन्दू प्रति हजार घटे और ४३ मुस्लिम प्रति हजार बढ़े।

हिन्दुस्तान, पाकिस्तान विभाजन के बाद १९५१ मे हिन्दू, मुस्लिम और ईसाईयों की कुल जनसंख्या में प्रतिशत इस प्रकार था—हिन्दू ८५ प्रतिशत, मुस्लिम ९.९१ प्रतिशत और ईसाई २.३५। सन् १९६१ की जनगणना मे हिन्दुओ का कुल प्रतिशत घटकर ८३.५० रह गया। जबकि मुसलमानों और ईसाईयों की कुल जनसंख्या के अनुपात में वृद्धि हुई। सन् १९६१ में मुसलमानों की जनसंख्या १०.७० प्रतिशत तथा ईसाइयो की २.४४ प्रतिशत थी। इस तरह १९६१ मे छत्तीस करोड़ पैसठ लाख एक हजार तीन सौ के लगभग हिन्दू, चार करोड़ ६९ लाख ३९ हजार ७४६ मुसलमान तथा एक करोड़ सात लाख २६ हजार चार सौ ईसाई थे। सन् १९७१ में जनसंख्या वृद्धि के औसत अनुपात में हिन्दुओं की संख्या और भी घटी। जनगणना रिपोर्टानुसार कुल जनसंख्या ८२.७२ प्रतिशत हिन्दू अर्थात् पैतालीस करोड़ चौबीस लाख छत्तीस हजार छः सौ तीस हिन्दू, ११.२० प्रतिशत मुसलमान अर्थात् ६ करोड़ चौदह लाख अठारह हजार २६९ तथा २.६७ प्रतिशत—एक करोड़ ४२ लाख २५ हजार ईसाई थे। इस क्रम में अभिवृद्धि के अनुसार अनुमान है कि १९८१ तक कुल ६८ करोड़ जनसख्या में हिन्दू, मुसलमान और ईसाइयो का प्रतिशत इस प्रकार है—हिन्दू ८२ प्रतिशत, मुसलमान १२ प्रतिशत और ईसाई ३ प्रतिशत।

उपरोक्त आँकड़े इस तथ्य का बोध कराते हैं कि मुस्लिम और ईसाइयों की तुलना में हिन्दू धर्मावलम्बियो की औसत अभिवृद्धि के अनुपात मे निरन्तर ह्रास हुआ है। समीक्षको का मत है कि हिन्दुओं के एक वर्ग ने हिन्दू धर्म से कटकर दूसरे धर्म ग्रहण कर लिए हैं।

मन बहलाव के लिए इस धर्म परिवर्तन का कारण कुछ भी बताया जा सकता है पर तथ्यान्वेषी जानते हैं कि ऊँच-नीच, छुआ-छूत की भावना के कारण निम्न वर्ग सदा अपने को तिरस्कृत और उपेक्षित समझता रहा। अपने ही भाइयो द्वारा विधर्मियो जैसा व्यवहार किए जाने के कारण ऐसे वर्ग के समक्ष धर्म परिवर्तन के अतिरिक्त दूसरा रास्ता नही बचता। दूसरे धर्म को मानने वाले इस कमजोरी का लाभ उठाते और अपनी सहिष्णुता का परिचय देकर धर्म परिवर्तन के लिए सहमत कर लेते है।

कुछ लोगों का मत है कि बलात् धर्म-परिवर्तन भी हिन्दू-धर्मावलम्बियो की सख्या में हुए ह्रास का एक कारण रहा है। विचार करने पर यह बात उतनी सच नही जान पड़ती। यह सच तो है कि इस तरह के कुचक्र समय-समय पर विभिन्न सम्प्रदायो को मानने वालों द्वारा चलाये जाते रहे हैं और सम्भवतः भविष्य में भी प्रचलित रहें। पर यह कुचक्र धर्म-परिवर्तन का उतना बड़ा कारण नही है जितनी कि स्वयं की कमजोरिया। इतिहास के पन्ने पलटने पर यह पता चलता है कि मुस्लिम आक्रान्ताओं आतताईयों द्वारा कितनी ही बार इस तरह के घिनौने प्रयास किए गये है, जिसमें अधिकांशतः उपेक्षित, तिरस्कृत और जाति तथा वर्ण को दृष्टि निम्न कहा जाने वाला वर्ग ही कटकर अलग हुआ। पर ऐसे साहसियों की भी कमी नही रही, जिन्होंने धर्म और संस्कृति के लिए हँसते-हँसते अपने

जीवन की बलि दे दी, पर झुके नही। धर्म-परिवर्तन की कीमत पर उन्होने प्राणदान की भीख स्वीकार न की। बन्दा बैरागी, जोरावर सिंह, गुरुगोविन्द सिंह ने जीवन उत्सर्ग कर दिया पर मुस्लिम धर्म को अंगीकार न किया। प्रश्न सिद्धान्तों का था। मध्यकालीन इतिहास के पृष्ठों में ऐसे उदाहरणों की कमी नही है। इसके विपरीत थोड़े जोर, दबाव और प्रलोभनों में आकर धर्म-परिवर्तन करने वालो के भी असंख्यों उदाहरण हैं। आतंक, जोर, जबरदस्ती का जमाना तो गया तो भी धर्म परिवर्तन का सिलसिला अभी भी बना हुआ है। ईसाई मिशनरियाँ विश्व मे द्रुतगति से बढ़ रही है। भारत में भी उनका विस्तार हुआ है। अपने कुचक्रों द्वारा उन्होने भी हिन्दू धर्म की छूत-अछूत रूपी कमजोरी का लाभ उठाया है। आये दिन समाचार पत्रो में यह प्रकाशित होता रहता है कि कितने ही व्यक्तियों ने ईसाई धर्म वरण कर लिया। अभी कल-परसों की ही घटना प्रकाश में आई है कि तमिलनाडु के मीनाक्षीपुरम् में अनेकों हिन्दुओं (हरिजनों) ने मुस्लिम धर्म अपना लिया।

धर्म-परिवर्तन की ये घटनाएँ हिन्दू धर्म पर लगी छुआ-छूत रूपी कालिमा की ओर संकेत करती हैं, जिसके कारण अछूत समझी जाने वाली जातियों में से बड़ी संख्या दूसरे धर्मों में जाकर विलीन हो गई। अपनों से तिरस्कार अपमान और उपेक्षा मिलने पर मनुष्य ठाँव वहाँ ढूँढता है, जहाँ उसे सम्मान— मानवोचित अधिकार प्राप्त हो। घर से वही लड़के भागते हैं और बागी बनते हैं, जिन्हें अपने परिवार मे स्नेह सम्मान नही मिलता। जहाँ अपनत्व होना जिनसे अपनापन जुड़ा होगा उन्हें विकट से विकट परिस्थितियों मे भी छोड़ते नही बनता। दुःख-कष्ट उठाकर भी मनुष्य उनसे जुड़ा रहता है। धर्म-परिवर्तन का कारण वस्तुतः भेदभाव एवं ऊँच-नीच की भावना ही रही है।

प्रगतिशीलता के इस युग मे समस्त विश्व एक मुहल्ले मे सिमटता जा रहा है। धर्म और संस्कृति को कलंकित करने वाली ऊँच-नीच, छुआछूत की संकीर्ण भावना अपने समाज में बनी रही तो प्रगति की दिशा में अग्रगमन कर सकना कतई सम्भव नही होगा। उल्टे भारतीय धर्मानुयायियो की सख्या मे धर्म-परिवर्तन जैसे कृत्यो से निरन्तर ह्रास ही होगा।

अध्यात्म के प्रति बढ़ती विश्व अभिरुचि को सही दिशा मिले

एकांकी भौतिक प्रगति मनुष्य को सुख शान्ति नही प्रदान कर सकती। चिन्तन, आचरण और दृष्टिकोण मे जिस श्रेष्ठता और शालीनता का समावेश होना चाहिए वह भौतिकवादी जीवन दर्शन को अपनाने से सम्भव नहीं है। आचरण की शुद्धता ही नही मनुष्य को आन्तरिक परितृप्ति भी अभीष्ट है। शान्ति, सन्तोष और आनन्द की त्रिवेणी में स्नान किये बिना जीवन नरक तुल्य बना रहता है और मरघट के पिशाच की भाँति असन्तोष की अग्नि में जलता रहता है। इन्द्रियों को विषयों में रस लेने की खुली छूट दे देने का प्रतिपादन करने वाली भौतिक विचारधारा की परिणति सबके सामने है। सुख सुविधाओं से सम्पन्न भौतिक सभ्यता प्रधान देशों मे मनुष्य का जीवन उनके लिए भारभूत बना हुआ है। वे ऐसी जीवन पद्धति जीने की कला की खोज में हैं, जो उन्हें स्थायी शान्ति, सन्तोष और आनन्द प्रदान कर सके।

स्वच्छन्दवादी भौतिक दर्शन के दुष्परिणाम उनके सामने है। चिन्ता, आशंका, निराशा, रोग एवं शोक से युक्त नारकीय जीवन की यन्त्रणा अब उन्हें विवश कर रही है कि अपनी गतिविधियों और मान्यताओं को बदले। विवशता की स्थिति में कभी भौतिकवादी दर्शन को अत्यधिक महत्त्व देने वालों का स्वाभाविक रुझान अध्यात्म और योग के प्रति अब बढ़ रहा है। इसे किसी व्यक्ति विशेष के प्रयासों का प्रतिफल नही युग की करवट अथवा युग परिवर्तन का संकेत समझा जा सकता है कि विश्व की सहज अभिरुचि अध्यात्म के प्रति जागृत हो रही है।

संसार के कितने ही देशों में भारतीय संस्कृति के स्थूल धर्म कलेवरो की स्थापना के प्रति जन उत्साह उमड़ा है। विविध धार्मिक संस्थाये भी उमड़े उत्साह को अभीष्ट दिशा मे नियोजित करने का प्रयास अपने-अपने स्तर पर कर रही है। उन्नीसवी सदी के अन्त मे भारतीय अध्यात्म दर्शन को विश्वव्यापी बनाने की दृष्टि से स्वामी विवेकानन्द के प्रयास पुरुषार्थ को भुलाया नही जा सकता। उसी का प्रतिफल है कि राम कृष्ण मिशन की स्थापना विदेशो मे भी हुई। अब

उसके कितने ही मठ एवं मन्दिर स्थान-स्थान पर बने हुए हैं। कैलीफोर्निया स्थित वेदान्त मन्दिर में हजारों की तादाद में गोरे भक्तो का जमघट रहता है। उन्हें पूजा, कीर्तन एवं भजन मे पूरी श्रद्धा भक्ति के साथ तन्मय देखा जा सकता है। दक्षिण कैलीफोर्निया के कितने ही स्थानो पर नव-निर्मित मन्दिरों मे स्वामी रामकृष्ण परम हस के विचारो का प्रसारण तथा योग अध्यात्म पर चर्चाएँ होती रहती हैं। उत्तरी कैलीफोर्निया में वेदान्त सोसायटी द्वारा निर्मित रामकृष्ण मन्दिर सैन फ्रॉसिस्को में अवस्थित है। मन्दिर अत्यन्त भव्य है तथा सर्व धर्म समभाव की पृष्ठभूमि पर बनाया गया है। हिन्दू मुसलिम तथा एंग्लो वास्तुकला का सजीव उपयोग निर्माण मे हुआ है। वैलोजी स्ट्रीट पर भी वेदान्त सोसायटी का मन्दिर है। मन्दिर के भीतरी कक्ष में एक भव्य सिंहासन पर रामकृष्ण परमंहस, विवेकानन्द, माता शारदा देवी, भगवान बुद्ध तथा ईसामसीह की प्रतिमाएँ हैं। सिंहासन के ऊपर सर्व धर्म समभाव का प्रतीत चिन्ह ॐ गोले में अंकित है। दर्शनार्थियों की भारी भीड़ यहाँ रहती है।

पिट्सवर्ग (पैंसिल्वेनिया) में प्रवासी भारतीयों एव अमेरिकी नागरिको की मदद से विशालकाय वेंकटेश्वर मन्दिर का निर्माण कुछ ही वर्षो पूर्व हुआ है। यह मन्दिर का निर्माण कुछ ही वर्षो पूर्व हुआ है। यह मन्दिर पिट्स वर्ग के बाहर एक पहाड़ी पर स्थित है। प्रकृति की छटा भी यहाँ अनुपम है जो अनायास ही आगन्तुको का ध्यान अपनी ओर आकर्षित करती है। मन्दिर के निर्माण मे लगभग एक करोड़ की राशि खर्च हुई है। मन्दिर का मूल ढाँचा तिरुपति के तिरुमल्लाई मन्दिर से मिलता-जुलता है। ८० प्रतिशत भारतीय आबादी वाले दो हजार की जनसख्या के क्षेत्र फ्लाशिग (न्यूयार्क) मे भी वेंकटेश्वर मन्दिर का निर्माण सन् १९७८ मे हुआ।

'हरे राम हरे कृष्ण मिशन' का प्रादुर्भाव विदेशो मे सन् १९६० के बाद हुआ। तब से लेकर अब तक कितने ही देशो मे प्रचारको ने मन्दिरो की स्थापना की है। अमेरिका के विभिन्न हिस्सो शिकागो, कैलीफोर्निया, न्यूयार्क, स्प्रिंगफील्ड, वाशिंगटन से लेकर अन्य कितने ही नगरों मे श्री राधाकृष्ण मन्दिरो की स्थापना हो चुकी हैं। गेरुआ धोती पहने, मृदंग-मंजीरे बजाते, गले में माला पहने, त्रिपुण्ड लगाये तथा लम्बी चुटिया धारे गोरे भक्तो को देखकर कभी-कभी शक होता है कि जैसे वृन्दावन की गलियो मे पहुँच गये हों। अमेरिका इंग्लैण्ड, कनाडा, स्विट्जरलैण्ड आदि देशो भी गोरे भक्तो की संख्या बढ़ रही है।

ध्यान और योग का प्रचार करने वाली कितनी ही धार्मिक संस्थाएँ विदेशों में कार्यरत हैं। उनके पाश्चात्य अनुयाईयों की संख्या भी तेजी से बढ़ रही है। 'डिवाइन लाईट मिशन' सन् १९७१ में प्रकाश में आया। ह्यूस्टन डेनवर, कौलोरेडो जैसें स्थानों पर उसके सत्संग भवनों में योगाभ्यास का शिक्षण दिया जाता है। अभ्यासियो मे अधिकांशतः अंग्रेज होते थे। स्विट्जरलैण्ड में भी उसकी शाखाएँ योग के प्रचार में लगी हुई हैं। भावातीत ध्यान के क्षेत्र में क्रान्ति मचाने वाले महेश योगी पश्चिमी इन्टेलीजेन्शिया के केन्द्र बने हुए हैं। शारीरिक स्वास्थ्य एवं मनोविकारों के परिशोधन का लक्ष्य लेकर चलने वाली यह ध्यान प्रक्रिया पश्चिमी वर्ग द्वारा अपनायी जा रही है। स्विट्जरलैण्ड उनका प्रमुख केन्द्र है। अन्याय देशो मे भावातीत ध्यान के छोटे-बड़े केन्द्र खुल रहे है। एक बड़ा वर्ग परमानन्द की खोज मे शारीरिक एवं मानसिक धरातलो को स्पर्श करने वाली ध्यान प्रक्रियाओं को सीखने मे रत देखा जा सकता है। इनमे से अधिकांश वे है जिनकी कभी भी धर्म और अध्यात्म मे आस्था नही रही। पर स्वच्छन्द जीवन के दुष्परिणामो से ऊबकर अध्यात्म की ओर मुड़े है। जे. कृष्णमूर्ति तथा स्वामी चिन्मयानन्द की विचारधारा एवं ध्यान प्रक्रिया के अभ्यासियो की संख्या को देखकर यह करना पड़ता है कि युग प्रवाह अब भौतिकता से ऊबकर आध्यात्मिकता की और मुड़ रहा है।

भारत आदि काल से ही अध्याय का सन्देश वाहक रहा है। समय समय पर उसके नर रत्नो ने कभी कुमार जीव, सघमित्रा जैसे बोद्ध भिक्षुको रूप मे तो कभी विवेकानन्द और रामतीर्थ जैसे आत्मज्ञानियों के रूप में विश्व के कोने मे भारतीय आध्यात्मज्ञान

और विज्ञान के प्रकाश को सर्वत्र फैलाया है। आज भी उसके पास ऋषियों की सांस्कृतिक विरासत योग और अध्यात्म के गूढ़ ज्ञान के रूप मे विद्यमान है। दुर्भाग्यवश उसका जो सही और स्वस्थ स्वरूप प्रस्तुत किया जाना चाहिए, वह नही किया जा रहा हो, प्रचलित और प्रख्यात 'योग' शब्द हठयोग की कुछ क्रियाओ, योगासनों तथा शारीरिक और मानसिक हलचलों तक सीमित होकर ही रह गया है, जबकि उसकी लक्ष्य है—व्यक्तित्व की पूर्णता एवं समग्रता का ऐसा योग, जो व्यक्तिगत चेतना का समष्टि चेतना के साथ तादात्म्य स्थापित कर दे, यही भारतीय अध्यात्म का मेरुदण्ड रहा है। क्रिया ही नही योग का वह दार्शनिक एवं तात्विक पक्ष भी विश्व के सामने आना चाहिए, जो मनुष्य के जीवन को पवित्र बनाता है तथा बहुमुखी विकास का मार्ग प्रशस्त करता है। पश्चिमी यूरोपीय देशों की बढ़ती अध्यात्म रुचि को सही दिशा दी ही जानी चाहिए। यह समय की मांग है। वर्तमान युग के भारतीय संतो एवं मनीषियों का यह नैतिक कर्तव्य है कि वह अध्यात्म की संजीवनी विद्या का सही स्वरूप विश्व के समक्ष प्रस्तुत करे।

सांस्कृतिक मूल्यों की प्रतिष्ठापना धर्म तंत्र से ही सम्भव होगी

किन्हीं देशो मे किन्ही अन्य माध्यमों से सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक परिवर्तन हुए हों परन्तु भारत मे कोई भी परिवर्तन धर्म तन्त्र का सहारा लिए बिना सम्भव नही हुआ है। इतिहास का पन्ना-पन्ना इस बात का साक्षी है। स्वामी विवेकानन्द ने भारतीय जनमानस के बारे मे यहाँ तक कहा है कि—यदि आपको भारत में नास्तिकवाद का भी प्रचार करना है तो लोग आपकी बात तभी सुनने को तैयार होंगे, जब आप उस विचार को धर्म का कलेवर देंगे।'

इन दिनो जिस सामाजिक, नैतिक और बौद्धिक क्रॉति की आवश्यकता अनुभव की जा रही है, उसका समर्थ माध्यम भी केवल धर्मतन्त्र ही हो सकता है क्योकि रूढ़ और प्रतिगामी होते हुए भी जनसाधारण के मन मस्तिष्क में धर्म का जो स्थान है, वह अन्य किसी तन्त्र, विचारधारा या दर्शन से सम्भव नही है। साथ ही ऐसा भी नही है कि भारत मे धर्मतन्त्र ऐसा निकम्मा है, जिसके माध्यम से जनमानस मे परिवर्तन न हो सके।

धर्मतन्त्र के माध्यम से जनमानस मे परिवर्तन करने की आश्यकता पूरी करने की हमारी देश मे पूरी सभावना है। इन दिनों यद्यपि धर्ममंच प्रतिगामी हाथो में है और उससे प्रतिगामी प्रेरणाये ही मिलती है फिर भी इतनी अधिक जनशक्ति और धनशक्ति इस तन्त्र मे लगी हुई है कि उसके सदुपयोग का प्रयत्न किया जाय तो सुखद परिवर्तन की आशा की जा सकती है। उदाहरण के लिए मन्दिरों को ही ले। भारत में गाँवो और शहरों की कुल संख्या छह लाख है। एक स्थान पर कम से कम एक मंदिर तो मानना ही चाहिए। यद्यपि मामूली गाँवो और कस्बों मे कई-कई देवताओ के कई-कई मन्दिर भी होते है फिर भी औसतन एक गाँव में एक का औसत भी मानें तो मन्दिरो की संख्या छः लाख होती है।

इन छः लाख मन्दिरो में कम से कम छः लाख पुजारी तो होगे ही, उनके परिवार भी हैं। इस प्रकार छः लाख परिवारो का श्रम-समय मन्दिरों मे ही लग जाता है।

इन छः लाख मन्दिरों मे सैकड़ो मन्दिर ऐसे है, जिनकी लागत लाखो मे नही करोड़ो मे है। लाखो की लागत वाले मन्दिर तो हजारो होगे। यदि एक मन्दिर की औसत लागत २० हजार भी मानी जाये तो छह लाख मन्दिरो की इमारत लागत १२०० करोड़ रुपये होती है। इसके अतिरिक्त मन्दिरो का खर्चा चलाने के लिए स्थाई फण्ड सर्वत्र है। किसी मन्दिर से कृषि लगी हुई तो किसी से मकान जायदाद। यह पूँजी भी कम से कम २० हजार तो मानी ही जा सकती है। इससे कम की ब्याज या आमदनी से छोटे मन्दिर का भी खर्च नही चल सकता है। इस प्रकार यह रकम भी निर्माण पूँजी के बराबर अर्थात् १२०० करोड़ हो जाती है। मन्दिरो का इमारती मूल्य और स्थिर पूँजी दोनो ही मिलाकर करीब २४०० करोड होते है।

इतने विशाल धन सम्पत्ति का उपयोग यदि ठीक तरह समाज के पुनरुत्थान मे हो सके तो उसके चमत्कारी सत्यपरिणाम सामने आ सकते है। माना कि

मन्दिरो की शक्ति का व्यर्थ स्थूल भौतिक प्रयोजनो के लिए नही किया जाना चाहिए—न किया जाय, पर बौद्धिक भावनात्मक सांस्कृतिक एव नैतिक विकास के कार्यक्रम भी क्या कम हैं? इन दिशाओ मे अभी बहुत काम होना है। देश जितना आर्थिक एवं भौतिक दृष्टि से पिछड़ा हुआ है उससे भी अधिक भावनात्मक दृष्टि से पिछडा हुआ है। उस पिछडेपन को दूर किया जा सके तो भौतिक एवं आर्थिक विकास की दशा मे भी कारगर कदम उठाये जा सकते है।

प्राचीनकाल मे जब मन्दिरो का निर्माण हुआ तो उनका प्रमुख उद्देश्य जनमानस में धार्मिकता की निष्ठा जमाना और उस निष्ठा को आगे बढ़ाना था। उस समय ऋषियो और मनीषियो के मस्तिष्क में ही प्रयोजन था किन्तु इन धर्म-संस्थानों के माध्यम से जनमानस मे धर्मधारण का जागरण एवं अभिवर्धन किया जाता रहे। मन्दिर एक प्रकार के धर्म-संस्थान है। प्राचीन काल मे ये धर्म-सस्थान मात्र देव पूजन के केन्द्र ही नही होते थे वरन् उनमे वे समस्त रचनात्मक प्रवृतियाँ भी पलती थी जो जन कल्याण के लिए आवश्यक थी। मन्दिर एक प्रकाश-स्तम्भ की तरह होते थे। अपने क्षेत्र मे मानवीय उत्कर्ष एवं कल्याण के सभी सम्भव आयोजन करना उनका उद्देश्य होता था। पुजारी या महन्त का एक मात्र उद्देश्य जनजीवन मे सत्प्रेरणाये उत्पन्न करने के लिए निरन्तर प्रयास करते रहना ही था। मन्दिर रूपी धर्म सस्था उन सभी सत्प्रवृत्तियों का केन्द्र रहती थी, जो उस समय की आवश्यकताओ के लिए अभीष्ट होती थी। जिस प्रकार शासन तन्त्र के कचहरी कार्यालय आदि होते है, उसी तरह धर्मतन्त्र के कार्यालय मन्दिर होते थे। भ्रमण करने वाले परिवाजक साधु-सन्त वहाँ ठहरते थे। अफसरों के दौरे के समय जो उद्देश्य डाक बंगलों और इन्सपैक्शन हाउसो से पूरा होता है, वही सुविधा मन्दिरों में परिवाजक साधुओं एवं धर्म प्रचारकों को मिलती थी।

आज मन्दिरों के कलेवर में कहाँ क्या होता है? से जानते हुए भी अधिक कुछ कहना आवश्यक नही । आवश्यक केवल इतनी भर है कि इस पवित्र स्था मे जो विकृतियाँ आ गई है, उन्हें दूर किया जाय र उनके आज के अनुपयोगी स्वरूप को पुन योगी बनाया जाय। आज की अव्यवस्था से क्षोभ होना अस्वाभाविक नही है। इस क्षोभ के आवेश में ही कई व्यक्ति मूर्ति पूजा एवं मंदिरवाद का खण्ड न करने लगे हैं। यह अनुचित तो है ही, असम्भव भी है। मूर्तिपूजा एवं मन्दिर संस्था की नींव अब इतनी गहरी जा चुकी है कि उसे उखाड़ने के लिए प्रयत्न करना अपनी शक्ति का अपव्यय करना ही होगा। विचार किया जाना चाहिए कि प्रत्यक्षतः कोई उपयोगिता नही दिखाई देने पर भी लोग इन धर्म-संस्थानों के प्रति इतने श्रद्धालु है कि अपना पेट काटकर इनके लिए साधन व्यवस्था जुटाते रहते है उपयोगी हो जाने पर तो और अधिक सहयोग मिल सकता है।

धर्ममंच मे लगीं जनशक्ति और उसकी निर्वाह-व्यवस्था का उपरोक्त विवरण तो एक अश मात्र है। मन्दिरों के अतिरिक्त आश्रमों, अखाडो साधु सन्तों की निर्वाह-व्यवस्था का एक बड़ा भाग अभी नही गिना है। उन सबको शामिल किया जाय तो कल्पना करना मुश्किल होगा कि जनमानस धर्म के प्रति कितना आस्थावान् और कितना श्रद्धा सम्पन्न है?

खेद है कि इस महत्वपूर्ण माध्यम का अभी सदुपयोग नही हो रहा है और जनमानस के निर्माण के अभाव में सारे प्रगति अधूरे पड़े है। अपने देश की, आज की स्थिति पर यदि गम्भीरता से विचार कि जाय तो प्रतीत होगा कि उसका सुधार धर्मतन्त्र के माध्यम से लोकशिक्षण के बिना सम्भव नही होगा। उदाहरण के लिए दरिद्रता को ही ले। दरिद्रता अभिशाप है और उसके कारण मनुष्य की स्थिरता और प्रगति में भारी बाधा पड़ती है। यह तथ्य सर्वमान्य है पर यही भी भुला नही देना चाहिए कि हाथ-पैर और मस्तिष्क रहते हुए भी यदि मनुष्य दरिद्र रहता है तो इसमें सबसे बड़ा कारण उसका मानसिक पिछड़ापन ही हो सकता है।

अपने समाज को व्याप्त कुरीतियों ने जितनी हानि पहुँचाई है, उतनी विदेशी दासता ने भी नही पहुँचाई होगी। बात को यो भी कहा जा सकता है कि लम्बी राजनैतिक पराधीनता का बहुत बड़ा कारण अपने सामाजिक ढाँचे और चिन्तन स्तर में खोखलापन घुस जाना ही रहा है अन्यथा इतनी बड़ी जनसंख्या का, इतनी सामर्थ्य और परम्परा का धनी देश इतने समय

तक इस प्रकार के उत्पीड़न और अपमान का शिकार नही रहता ।

जाति उपजातियों के आधार पर प्रचलित ऊँच-नीच और अपने-विराने की मान्यता ने एक समाज को अनेक समाजों में विभक्त करके रख दिया है। मत मतान्तरों और सम्प्रदायों ने एक ही धर्म के टुकड़े-टुकड़े करके फेक दिये हैं और एक ही संस्कृति के अनुयायियों के बीच गहरी खाइयाँ खोदकर खड़ी कर दी हैं। आधी जनसंख्या नारी वर्ग को प्रतिबन्धित और पद-दलित स्थिति में पटक दिये जाने के कारण समाज अर्धांग पक्षाघात से पीड़ित की तरह अपंग बन गया है। आधी जनसंख्या दुर्दशाग्रस्त स्थिति में रहे तो उसकी आर्थिक तथा सामाजिक परिस्थितियाँ दयनीय रहेंगी ही। पिछड़ी नारी प्रतिभा सम्पन्न पीढ़ियों का निर्माण कैसे कर सकेगी और कैसे उस पिछड़ेपन के रहते हुए परिवारों के वातावरण में हर्षोल्लास की अनुभूतियाँ जीवन्त रह सकेंगी

विवाह-शादियों में जितना खर्च होता है, उसके रहते आर्थिक स्थिरता बने रहना असम्भव ही है। जो कमाया जाता है वह शादियों में स्वाहा हो जाता है। वह पैसा बच सका होता और पूँजी बनकर प्रगति के आधार खड़े करता तो आज अपने देश में हर खुशहाली दृष्टिगोचर होती, पर इस दुर्भाग्य को क्या कहा जाय कि शादियों में होने वाले अपव्यय के रूप मे हमारे उपार्जन का अधिकाधिक भाग होली की तरह जलता रहता है। मृतकभोज अलन-चलन, देवी-देवता भिक्षुकों की सेना द्वारा खड़े किये जाने वाले नित नये आडम्बर सब मिलकर समाज पर इतना अधिक आर्थिक दवाव डालते है कि उत्पादन प्रयत्नों की उपलब्धि जलते तवे पर पानी की बूँदों के समान भाप बनकर उड़ जाती हैं।

जाति-उपजाति छूत-अछूत, वर्ग सम्प्रदायों के खाई-खन्दक हमे एक जाति, एक राष्ट्र की तरह सुगठित और सशक्त नहीं बनने देगे और भीतर की दुर्बलतायें बार-बार उभर-उभर कर आती रहेंगी। अस्तु सशक्तता बढ़ाने के लिए पौष्टिक भोजन जुटाने की तरह यह भी आवश्यक है कि भीतर ही भीतर खोखलापन उत्पन्न कर रही बीमारियो का उपचार किया जाय अन्यथा वलिष्ठता उत्पन्न करने की विशालकाय तैयारी रक्त में घुली बीमारी से उत्पन्न होने वाले दुष्परिणामों की तरह उज्जवल भविष्य की सम्भावनाओं को कभी भी मूर्तिमान नहीं होने देगी।

दरिद्रता की तरह शिक्षा की कमी भी अपने पिछड़ेपन का एक बड़ा कारण है, यह स्मरण रखा जाना चाहिए कि सरकारी स्कूलों की योजना से अशिक्षा का अन्मूलन सम्भव न हो सकेगा। उसके लिए भी भावनात्मक वातावरण बनाना होगा और जिस तरह लोग अपने पुरुषार्थ से रोटी कमाते हैं, सरकार से माँगने नही जाते, उसी प्रकार अपनी और अपने परिवार की शिक्षा-व्यवस्था जुटाने की आवश्यकता जब अनिवार्य समझी जायेगी तो अन्य दैनिक साधन जुटाने की तरह ही शिक्षा का प्रबन्ध स्वतः किया जायेगा।

चाहे दरिद्रता हो चाहे अशिक्षा। सभी दुर्बलताएँ मनुष्य के पिछड़े हुए चिन्तन एवं दृष्टिकोण की प्रतिक्रिया हैं। यदि इस वस्तु स्थिति को समझ लिया जाय तो पत्ते सींचने के साथ-साथ जड़ सींचने की आवश्यकता भी अनुभव की जायेगी और वह ठोस आधार हस्तगत हो जायेगा। जिससे व्यापक दुःख दैन्य से स्थाई मुक्ति मिल जायेगी। अस्तु जनमानस में विवेकशीलता उत्पन्न करना अपने युग का सबसे महत्त्वपूर्ण कार्य है। यदि सोचने की सही दिशा और कार्य करने की सही शैली उपलब्ध हो सके तो हर मनुष्य अपने साधनों में ही समुचित उपार्जन कर सकता है और आगे बढ़ने का रास्ता निकाल सकता है तथा अपनी एवं समाज की समस्याओ के समाधान मे समुचित योगदान दे सकता है। ऐसी स्थिति मे दरिद्रता जैसी अनेकों समस्याओं को अपने बलबूते पर ही हल किया जा सकता है यदि इस तथ्य की ओर ध्यान दिया जा सके तो प्रतीत होगा कि आर्थिक उन्नति की तरह ही सोचने की परिष्कृत एवं प्रगतिशील पद्धति से जनसाधारण को परिचित कराया जाना भी उतना ही आवश्यक है और उतना ही महत्त्वपूर्ण है। इस आवश्यकता को अनुभव करने के वाद इसकी पूर्ति के लिए अविलम्ब व्यवस्था जुटाई जानी चाहिए।

कहना नही होगा कि यह आवर्श्यकता प्रभावपूर्ण लोकशिक्षण से ही पूरी हो सकती है। विचारणीय यह कि कि भारत के लोकमानस में मानवतावादी सद्भावनों और सत्यप्रवृत्तियो की स्थापना किस

पृष्ठभूमि पर हो सकती है, उन्हें उपयोगी गतिविधियाँ अपनाने के लिए किस आधार पर सहमत किया जा सकता है। यहाँ यह तथ्य ध्यान में रखा जाना चाहिए कि अपने देश की तीन चौथाई जनता अशिक्षित है और आबादी की दृष्टि से प्रायः तीन चौथाई जनता छोटे देहातो मे ही रहती है। आज की अपनी जनसंख्या ६० करोड़ मे से करीब ५१ करोड़ अशिक्षित तथा उतने ही देहाती है— यही है असली भारत। शिक्षितों को उपयोगी जानकारियाँ देने के लिए पुस्तकें पत्रिकाएँ है तो शहरी लोगों के लिए सभाये, संस्थायें अपने-अपने ढंग से काम करती रहती हैं। समस्या ५१ करोड़ लोगो की हैं, जिनके लिए प्रगति का मार्गदर्शन करने वाले उपयुक्त माध्यमों का खटकने वाला अभाव सामने खड़ा है।

धर्म भारतीय जनता का प्रिय विषय भी है। अस्तु, बात का सिलसिला उसी से जोड़कर वैसे ही उदाहरण प्रस्तुत करते हुए वे तथ्य हृदयंगम कराये जा सकते है, जिन्हें आज की स्थिति मे समझाना और अपनाया जाना आवश्यक है। पहले भी इस तरह के कई प्रयोग सफलतापूर्वक किये जा चुके हैं समर्थ गुरु रामदास ने महाराष्ट्र भर करीब ८०० हनुमान मन्दिर स्थापित किये थे और उनके माध्यम से छत्रपति शिवाजी की सेना के लिए रसद एव सैनिको की आवश्यकता पूरी की जाती थी। उन मन्दिरो मे सेवा पूजा करने वाले महन्त वस्तुतः समर्थ गुरु की धर्म सेना के सैनिक मात्र थे। वे भगवान हनुमान के पूजन, वन्दन, आरती, प्रसाद की व्यवस्था करते थे, पर साथ ही यह भी जानते थे कि अधर्म के नाश और धर्म की रक्षा के लिए अपना सर्वस्व होम देने वाले अंजनीकुमार की कृपा केवल उसे ही मिलेगी, जो उनके आदर्शों को अपनायेगा। हर पुजारी, हर हनुमान भक्त उन दिनों हनुमान का अनुयायी बनने और असुरता के शासन को उखाड़ने मे लगा हुआ था।

गुरुगोविन्द सिंह ने सिक्ख सम्प्रदाय के गुरुद्वारों को सैनिक छावनियों के रूप मे विकसित किया था। वहाँ कीर्तन पाठ पूजन आरती प्रसाद आदि सब कुछ होता था पर साथ ही यह उद्देश्य हर सिक्ख के मस्तिष्क में भरा था कि उन्हे अनीति के विरुद्ध संघर्ष करना है और असुरी नृशंसता को परास्त करके धर्मराज्य की स्थापना करनी है।

जो कार्य समर्थ गुरु रामदास द्वारा परिष्कृत हनुमान मन्दिरों ने और सिक्ख गुरुद्वारों ने किया। प्राचीनकाल में अपनी-अपनी सामयिक परिस्थितियों के अनुसार हर मन्दिर करता था। उनकी सेवा से सारा समाज लाभान्वित होता था और धर्म की महत्वपूर्ण सेवा बन पड़ती थी। वर्तमान परिस्थितियों में भी यही पद्धति उपयुक्त है। परिवर्तन के लिए समग्र प्रगति के लिए धर्मतन्त्र का आश्रय लेने के अतिरिक्त कोई उपाय नही है। इसके लिए धर्मतन्त्र का आश्रय लेकर उसकी कथा-गाथाओं की संगति मिलाते हुए व्यक्ति परिवार और समाज की समस्त समस्याओ का हल हृदयंगम कराया जाय तथा उन्हे प्रगतिशील गतिविधियाँ अपनाने के लिए प्रोत्साहित किया जाय। धार्मिक आयोजनों मे भावनात्मक वातावरण बनता है— उसमें गरम लोहे से उपकरण ढालने जैसी बात और भी आसानी से बन सकती है। यह प्रयोग प्राचीनकाल से चलता रहा है और अपने समय की मांग को पूरा करने के लिए प्रक्रिया को व्यापक बनाना अत्यन्त आवश्यक है।

भारतीय संस्कृति की गौरव-गरिमा

विश्व की प्राचीन संस्कृतियो का स्मरण करने पर मिश्र, यूनान, बेबीलोन एव भारत का नाम सहज ही स्मृति पटल पर उभर आता है। इनमे से भी यदि प्राचीनतम होने का गौरव किसी को प्राप्त है तो वह भारतवर्ष ही है। प्राचीन काल से ही यहाँ ब्रह्म प्रकृति के साथ मानव की अंत प्रकृति के संबधों पर शोध होती रही है। ऋषि-मुनि कहे जाने वाले शोधककर्ताओं ने मानव के गनो सामाजिक विकास के लक्ष्य को ध्यान में रखकर ये शोध कार्य किए थे। विकास के विविध आयामोय कर्म के अनुसार शोध के भी विविध आयाम है।

हमारी सांस्कृतिक धरोहर वेद, उपनिषद, षड्दर्शन आदि अनेकानेक मंजूषाओ मे निहित है। इस पर न तो किसी प्रकार का ताला है, न ही किसी अन्य प्रकार का निषेध। इस खुली छूट का लाभ उठाकर प्राच्य एवम् पाश्चात्य द्विविधि गोलार्धो के चिन्तकों ने इसका गहन

अध्ययन अपने-अपने ढंग से किया है। पाल डायसन, किस्टोफर इशरउड, रोम्या रोला आदि पूर्वाग्रहो से रहित मनीषियों का ढंग तो समीक्षात्मक एवम् समालोचनात्मक रहा है। किन्तु कुछ ऐसे भी हुए है जो पूरी तरह से हठवादिता, पूर्वाग्रह पर उतर आये। ऐसे चिन्तको में फ्रेक ब्रिस्टल थामस, एवेनेजर स्लाटर तथा मि. विलियम आर्चर प्रमुख है। स्लाटर तथा आर्चर ने भारतीय संस्कृति पर गालियो की बौछार करने की कसम खाकर पुस्तके भी लिखी है।

श्री स्लाटर की पुस्तक का नाम है "स्टडीज इन उपनिषद्स" अर्थात् उपनिषदो का अध्ययन। किन्तु *पुस्तक के पृष्ठो को उलटने पर लेखक की मनोवृति* स्पष्ट हो जाती है। पुस्तक का नाम यदि उसने उपनिषदो से ईर्ष्या रखा होता तो नाम और गुण में एकरूपता तो साबित हो ही जाती। इसमें श्रीमान स्लाटर ने अपने नाम के अनुरूप न केवल तथ्यों को काटने में कसाई की भूमिका निभाई वरन् समूचे भारतीय चिन्तन को जीभर गालियां भी दी है।

इस तरह की निन्दा करने, गाली-गलौज देने में एक कदम और आगे बढ़कर, शीर्ष स्थानीय होने का गौरव पाया है, मि. विलियम आर्चर ने। मि. आर्चर ने सांस्कृतिक गौरव की पिटारी समझे जाने वाले दर्शन, धर्म, काव्य, उपनिषद, रामायण, महाभारत आदि सभी को एक साथ एक ही कोटि मे रखकर सबके बारे में कह डाला है कि यह अवर्णनीय बर्बरता का एक घृणास्पद स्तूप है। इसमें उसने यह भी उपदेश दिया है कि *भारतीय संस्कृति से बचे रहने मे ही कल्याण है।*

मि आर्चर द्वारा की गई आलोचनाएँ इतनी भद्दी एवम् असहनीय है कि किसी भी स्वाभिमानी का उत्तेजित हो जाना स्वाभाविक ही है। एकागी पक्षपातपूर्ण चिन्तन के अभ्यासी इन आलोचक महोदय की पुस्तक के प्रत्युत्तर मे प्रख्यात् विद्वान तथा तत्र शास्त्र के व्याख्याता सर जीन वुडरफ ने युक्ति संगत तर्क देते हुए "क्या भारत सभ्य है" नामक एक पुस्तक प्रकाशित की थी। इसमे उन्होंने कहा है कि रोमन सम्राट नीरो जिसने अपनी सभी माँ अग्रिप्पिना को भी अपनी कुदृष्टि से नही बख्शा, को वीर पुरुष का ताज पहिनाने वाले विचारको को मर्यादा पुरुषोत्तम राम तथा मातृवत् परदारेषु की सस्कृति अच्छी न लगे यह स्वाभाविक ही हैं। अपनी सभ्यता पर घमण्ड रखने वाले आर्चर की पोल आइवन ब्लाक की पुस्तक 'इन बानबूट-बेस्टफार वर्जिन्स' के पृष्ठ उलटने से खुल जाती है। यह स्पष्ट हो जाता है कि एक औसत यूरोपियन कितना सभ्य है?

सभ्य होने का दावा करने वाले ये आलोचक कैसे है? कोई भी ओटो किफर, हान्स लिच आदि की रचनाएँ पढ़कर जाना जा सकता है। श्री अरविन्द ने अपनी पुस्तक 'फाउण्डेशन्स ऑफ इण्डियन कल्चर' मे भारतीय संस्कृति के विविध पक्षो का दार्शनिक विवेचन करते हुए कहा है कि बर्बरता मूर्ख जैसे अभद्र शब्दो *का प्रयोग करने वाले यूरोपीय विचारको को भद्र तथा* सुसंस्कृत बनाने के लिए भारत पुनः कटिबद्ध हो चुका है। भारतीय आत्मा जहाँ-जहाँ भी प्रतिक्रिया व्यक्त करने उत्साह के साथ सृजन करने मे समर्थ हुई है, वहाँ यूरोपीय चमक-दमक की सम्मोहिनी शक्ति लुप्त होने लगी है। महर्षि ने आगे स्पष्ट करते हुए बताया है- हमारे धर्म पर यूरोप का आक्रमण प्रारम्भ मे अत्यन्त प्रबल था, पर अब किसी को उसका बल महसूस नही होता, क्योकि हिन्दू नवजागरण की सर्जनात्मक हलचलो ने भारतीय धर्म को एक प्राणवंत विकासशील सुरक्षित और आत्माख्यायिनी शक्ति बना दिया है। इस कार्य पर मुहर जिन दो घटनाओ ने लगाई है वे है—शिकागो में स्वामी विवेकानन्द का प्रकट होना। स्वामी जी के विश्व धर्म महासभा मे दिए गए अभिभाषण को यूरोपीय सभ्यता के शीश पर भारतीय धर्म की पताका लहराने जैसा ही कहा जा सकता है। दूसरी घटना है थियोसाफी का वैचारिक आन्दोलन। कारण कि भारत जिन सास्कृतिक सूत्रो का प्रतिपादन करता है, उन्हे इन दो घटनाओ ने इस रूप मे दिखला दिया कि वे अब पहले की तरह केवल अपनी रक्षा ही नही कर रहे वरन् आक्रमण मे भी तत्पर है एवम् पश्चिम की भौतिकता ग्रस्त मनोवृत्ति पर प्रहार कर रहे है तथा सही जीवन जीने की रीति-नीति का शिक्षण दे रहे है।

योगिराज श्री अरविन्द का उपरोक्त कथन शत-प्रतिशत यथार्थ है। "डाइग कल्चर" की सज्ञा देने वाले विचारको को अपने कथन पर पुन. एक वार विचार करना होगा। भारतीय सस्कृति आज भी जाग्रत और जीवन्त है। इसकी दीप-शिखा अखण्ड रूप से

प्रज्वलित रहकर मानवता का पथ प्रदर्शन करती आयी है, आज भी कर रही है एवम् भविष्य मे भी करती रहेगी। संस्कृति की इस अखण्ड ज्योति में जब भी घृत की आवश्यकता पड़ी है, परम सत्ता की शक्ति आचार्य शंकर समर्थ रामदास, स्वामी विवेकानन्द, स्वामी दयानन्द, अरविन्द बनकर अवतरित हुई है। इन शक्ति स्वरूप संस्कृति के सपूतों ने आत्माहुति देकर भी सस्कृति ज्वाला को बुझने नही दिया।

अंग्रेजी शिक्षा-दीक्षा अँग्रेजियत प्रभाव तथा दीर्घकालीन गुलामी के प्रभाव से इसका बाह्य स्वरूप भले ही कुछ धूमिल-सा दीख पड़ने लगा हो। पर वस्तुस्थिति राख से लिपटे धधकते अगारें की तरह है। इसका प्राण मन्द नही पड़ा वरन् कोई शक्ति स्रोत इसमें सतत् नवीन शक्ति का सचार कर रहा है।

उत्तिष्ठत्-जाग्रत का गुरू गंभीर मेघ-गर्जन करने वाली सस्कृति को निराशावादी हेय बताना मात्र अल्पज्ञता एवम् मूढ़ता ही है। स्वामी विवेकानन्द ने अपने एक वक्तव्य मे इसकी गरिमा का उल्लेख करते हुए कहा था कि ससार हमारी भारतमाता एवम् इसकी सास्कृतिक सम्पदा का बहुत ही ऋणी है। यदि भिन्न-भिन्न जातियों की पारस्परिक तुलना की जाय तो मालूम होगा कि सारा संसार सहिष्णु एवम् उदार हिन्दू का जितना ऋणी है, उतना और किसी का नही है। जब ग्रीस का अस्तित्व नही था, रोम भविष्य के अन्धकार गर्भ मे छिपा था, जब आधुनिक यूरोपियनों के पुरखे जर्मनी के घने जंगलों के अन्दर छिपे रहते थे और जगली लोगों की तरह अपने शरीर को नीले रंग से रंगा करते थे, तब भी भारतवासी क्रियाशील थे, इसकी गवाही हमें इतिहास दे रहा है। उससे भी पहले, जिस समय की कोई स्थिति इतिहास नही बता सकता, जिस सुदूर अतीत की ओर नजर दौड़ाने का साहस किंवदन्ती को भी नहीं होता, उस अत्यन्त प्राचीन काल से लेकर अब तक न जाने कितनी ही भाव-तरंगें भारत से प्रसूत हुई है, पर वे सब तरगे अपने आगे शान्ति तथा पीछे दिव्य अनुदान बरसाती हुई अग्रसर हुई है।

स्वामी जी का उपरोक्त कथन ऐतिहासिक सत्य है। वर्तमान समय कुछ करने का है। "हमारे ऋषि महान् थे, उन्होने बहुत बड़े कार्य किए"। मात्र ऐसा कहने भर से कोई भला होने वाला नही है। हमे स्वयं भी नचिकेता, श्वेतकेतु जैसे देवमानव गढ़ने होंगे। संस्कृतियों को विविध धाराओं को जन्म देने वाली तथा विश्व को सभ्यता का पाठ पढ़ाने वाली संस्कृति आज अपने सपूतों से यही पुकार कर रही है।

अपने को भारतीय संस्कृति का सपूत कहने वालों का पवित्र कर्त्तव्य है कि इस पुकार को सुने एवम् तदनुसार आचरण करने के लिए अग्रिम पंक्ति में आएँ।

देव संस्कृति की विशिष्टता-विविधता!

भारतीय सस्कृति की यह विशेषता रही है कि शारीरिक, मानसिक व आध्यात्मिक शक्ति के सामजस्यपूर्ण विकास को मानव जीवन का उद्देश्य माना जाता रहा, जिसका सम्बन्ध-मनुष्य के शरीर, मन और आत्मा से है। ये विशेषताएँ ऐसी थी, जिनके कारण यहाँ के व्यक्तियों मे समन्वयवादिता, उदारता, सहिष्णुता, गतिशीलता, सूक्ष्मदर्शिता जैसे दिव्यगुणों का समावेश था। चूँकि व्यक्तियों के संस्कार से ही संस्कृति का निर्माण होता है अतः यहाँ की संस्कृति में भी ये गुण पाये गये।

भारतीय संस्कृति समन्वयात्मक है। यहाँ के मनीषियों के जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में हमेशा मेल-मिलाप करने का ही सफल प्रयास किया। यह सस्कृति ऐसे सार्वभौम सत्यों पर खड़ी है कि किसी भी संस्कृति के साथ इसका टकराव हो ही नही सकता वरन् विभिन्न धाराएँ जैसे समुद्र के गर्भ में समा जाती है, वैसे ही विभिन्न देशो की संस्कृतियाँ भी इसमे समाहित हैं। सांस्कृतिक दृष्टि से वह देश और वह जाति अधिक शक्तिशाली और महान् समझे जाने चाहिए, जिसने विश्व के अधिक से अधिक देशो, अधिक से अधिक जातियो की संस्कृतियो को अपने भीतर समा करके, पचा करके नये सांस्कृतिक रस का निर्माण किया हो। टकराहट से कटुता का वातावरण बनता है, जिसमे विकास की कोई सभावना नही रहती है। चाहे वह व्यक्ति हो या सस्कृति। भारतीय संस्कृति इस दृष्टि से संसार मे सबसे महान् है, क्योकि यहाँ की संस्कृति में अधिक से अधिक जातियों की संस्कृतियाँ समाई हुई हैं। रवीन्द्रनाथ टैगोर ने अपनी रचना 'एई महामानवेर सागर तीरे' मे कहा है "किसी

का भी अब अलग अस्तित्व नही है। वे सबके सब मेरे भीतर विराजमान हैं। मुझसे कोई भी दूर नही है। मेरे रक्त में सबका सुर ध्वनित हो रहा है।" इसकी समन्वयवादी महत्ता को रामधारी सिंह दिनकर 'संस्कृति का प्राण' कहते हैं।

भारतीय संस्कृति की दूसरी प्रमुख विशेषता उसकी उदार प्रवृत्ति है। विद्वान बर्ट्रेण्ड रसेल ने संस्कृति का स्वरूप प्रस्तुत करते हुए कहा है- "दूरदर्शी, विवेकवान, चरित्रनिष्ठ और उदारमना नागरिकों का होना इस बात का चिन्ह है कि संस्कृति को समझा और अपनाया गया।" व्हाट लाइफ शुड मीन टू यू' ग्रन्थ में एडलन लिखते हैं- "अपनत्व को परिवार एवं धन-वैभव की संकीर्ण सीमा मे केन्द्रित न रहने देकर यदि उसे व्यापक बनाया जा सके, तो समझना चाहिए कि यहाँ मानवीयसंस्कृति ने अपना प्रभाव छोड़ा है। भारतीयों का यह व्रत रहा है कि अपने विकास के साथ ही दूसरों के विकास तथा उत्थान की भी चेष्टा तथा सहायता की जाती रहे। भारत भूमि को "स्वर्गादऽपि गरीयसी" इसीलिए कहा जाता है कि यहाँ के शिक्षित, सभ्य, सुसंस्कृत लोगों की यह नीति रही है, जो पाया है, उसे बिना अपने पराये का भेदभाव किये बाँटा-बिखेरा। इस विभाजन वितरण में विशेषतया अधिक जरूरतमन्दों को प्राथमिकता देने की नीति का पूरा-पूरा समावेश किया गया। सूर्य की उष्मा, बादलों की सरसता एवं वायु की सजीवता बनकर यहाँ के निवासी उदारमना दृष्टिकोण से सम्पूर्ण भूमण्डल में ज्ञान का आलोक फैलाते रहे।

स्वर्गलोक के निवासियों की सम्पदा उन्ही के काम आती है। धरती वाले उस वैभव का लाभ कहाँ उठा पाते हैं? देवताओं में देने की प्रवृत्ति तो है, पर साथ ही यह इस स्तर की है कि जो अनुनयपूर्वक माँगे उसी को अनुग्रह रूप में दिया जाय। बिना माँगे स्वत: विपन्नता को तलाशना एव बिना याचना के उस विषमता को निरस्त करने के लिए जा पहुँचना, यह विशेषता धरती के देव मानवों में ही पाई जाती है। इन्ही देवमानवों ने भारतीय संस्कृति की आधारशिला रखी है।

त्याग एवं उदारता की इस पराकाष्ठा पर आकर भारतीय सस्कृति विदेशियों को भी मुग्ध कर लेती हैं। किसी भी संस्कृति के आदर्शों को अपनाने में भारतीयों को कभी कोई हिचकिचाहट नही हुई। यह भारतीय संस्कृति की अनुपम उदारता का ही लाभकारी परिणाम था कि अनेको संस्कृतियो ने अपने आपको भारतीयता के रंग में रंगकर भारतीय कहलाने में गौरव समझा।

भारतीय संस्कृति के बहिरंग मे वैविध्य या अनेकता दिखाई पड़ती है। परन्तु अन्तरैक्य ने इस वैविध्य और अनेक्य को अपने आँचल मे समेट रखा है। यहाँ की मूल विशेषताओ मे एक है- "अनेकत्व मे एकत्व की भावना।" सारे देश के मनुष्य चाहे कही भी रहते हो, उनकी कोई भी भाषा हो, उनके संस्कार भिन्न ही क्यों न हों, यह अनुभव करने के लिए बाध्य है कि सभी भाई-भाई हैं। यहाँ के लोगो की मान्यता है "अध्यात्म का सार, नवनीत, अनेकता मे एकता" का हमने अपनी माँ के दूध के साथ ही पान किया है। अनेक सम्प्रदाय, धार्मिक अनुष्ठान तथा उपासना पद्धति बाह्य रूप में भले ही भिन्न दिखाई देती हो, परन्तु उसका मूल "एक सद्विप्रा बहुधा वदन्ति" मे निहित है। यह एक ऐसे गुलदस्ते के समान है, जिसमे अनेक पुष्प सुशोभित हो रहे हैं। यह उस इन्द्र धनुष के समान है, जिसमे सात रंगों की चमक स्पष्टत: दृष्टिगोचर होने पर भी वह रहता एक ही है।

'अवसरानुकूलता लचीलापन तथा गतिशीलता' इस सस्कृति की एक महत्त्वपूर्ण विशेषता है। परिवर्तन और क्रान्ति के द्वार सदा खुले रहते हैं। तीव्र आँधी मे लता की तरह जो आँधी के बहाव के साथ झुक जाते हैं वही अपनी अमरता को बनाये रखते है। इसके विपरीत जो नही मुड़ते, अपने पूर्वाग्रहो हठवादिता को नही छोड़ते, स्थिर बने रहते है, उन्हें जड़ मूल सहित उखाड़ना पड़ता है। युगो के परिवर्तन के साथ यहाँ के आदर्श और प्रचलन के मानदण्ड बदलते रहते हैं। प्रत्येक दिशा या द्वार से आने वाली प्रेरणा या प्रकाश को प्राप्त करने के लिए अपने मस्तिष्क और मन के गवाक्ष पूर्णत: खुले रखने की भावना यहाँ रहती है। यही कारण है कि यह संस्कृति प्रत्येक युग मे सतत् बढ़ती और विकसित होती रही है, जबकि इस अवधि मे कई संस्कृतियाँ नष्ट हो गयी, विलुप्त हो गयी।

यहाँ के लोग भौतिक की तुलना मे पारभौतिकता, स्थूल की तुलना में सूक्ष्म, जड़ की तुलना में चेतन एवं तत्व चिन्तन को प्रधानता देते रहे। यही कारण है कि

इस पुण्य भूमि पर विचारक, मनीषियो की न्यूनता कभी नही रही। प्राचीन भारत के ऋषियों ने जीव व ब्रह्म की गुत्थियो को सुलझाकर, उनमें एकत्व के दर्शन किये। परमात्मा को आदर्शों एव सिद्धान्तों के समुच्चय के रूप मे देखा एवं अपनाया। मानव सेवा को ही परमात्म सेवा समझा। सहस्रो वर्षो पूर्व के युग मे विश्व के अन्य देशो मे रहने वाले लोग अन्न वस्त्र जैसी दैनिक जीवन और भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए प्रयत्नरत थे, उसी समय भारत के ऋषि इसकी पूर्ति से निश्चित और इनसे बहुत ऊपर उठकर लोक से पूरे के रहस्योद्घाटन मे व्यस्त थे। *"भारत का प्रत्येक व्यक्ति दार्शनिक है"* यह धारणा सर्वथा निर्मूल नही। भारतीय सस्कृति के *आदिकाल से ही व्यक्त की अपेक्षा* अव्यक्त और स्थूल की अपेक्षा सूक्ष्म को अधिक महत्व दिया जाता रहा है। स्थूल की अपेक्षा सूक्ष्म को अधिक महत्त्व देने की प्रवृत्ति ने जहाँ दार्शनिकता का विकास किया, वही दूसरी ओर भौतिक की अपेक्षा आत्मिक विभूतियो को श्रेय मानने की प्रवृत्ति ने भारतीय आचार शास्त्र तथा नीतिशास्त्र को प्रभावित किया।

समन्वयवादिता, उदारता, सहिष्णुता अनेकता मे एकता, अवसरानुकूलता, गतिशीलता, पारभौतिकता एवं सूक्ष्मता ऐसे दिव्य गुण है, जो शाश्वत एव सनातन है। इन्ही गुणो के आधार पर व्यक्ति, परिवार, समाज, राष्ट्र सही अर्थो मे प्रगति कर पायेगा। आने वाले दिनो में *सारे विश्व के व्यक्ति इन गुणो को अपने जीवन मे* स्थान देकर भारतीय संस्कृति की गौरव-गरिमा बढायेगे एव इन्ही सूत्रो के द्वारा यह बृहत्तर भारतवर्ष पुनः *"स्वर्गादपि गरीयसी"* कहलायेगा।

हमारा चिरपुरातन गौरव एवं बहुमूल्य थाती

हमारी प्राचीन सास्कृति धरोहर इतनी समृद्ध थी कि उसने एक समय समस्त विश्व को अपने रंग मे रँग लिया था। इसका पता विभिन्न देशो की सस्कृतियो, वास्तुकलाओं एवं पुरातत्व अवशेषो के अध्ययन से सहज ही मिल जाता है। अमरीका भी भारतीय सस्कृति से अछूता नहीं था, इसकी जानकारी *इतिहासकारों की विभिन्न रचनाओं से मिलती है।*

कुछ पाश्चात्य विद्वानो के अनुसार दुनिया के किसी भी भाग से अमेरिका जाने के लिये रास्ता न होने के कारण अमेरिका निवासी एशिया आदि से नही गये, वरन् उन्होंने स्वय अपना विकास किया है, किन्तु वर्तमान मे भौगोलिक भूगर्भीय पुरातत्व और प्राणिशास्त्र सम्बन्धी खोज इन तर्कों का खंडन करती है। "हॉम्सवर्थ हिस्ट्री ऑफ द वर्ल्ड" नामक संकलन में लिखा है कि 'उत्तरी अटलांटिक समुद्र हमेशा से जलमय नही था। वहाँ की भूमि पुरातन विश्व से मिली थी और अमेरिका मे मनुष्य ने पुरानी दुनिया से ही प्रवेश किया। कोलम्बिया इक्वेडर, पेरू बोलेविया चिली आदि मे जो प्रमाण बिखरे पड़े है, उससे पता *चलता है कि किसी समय वहाँ की स्थिति सुविकसित* देशों जैसी थी। किन्तु यह सभ्यता कहाँ से पहुँची इसका उत्तर उनके धार्मिक विश्वासो उनके चेहरे की बनावट उनके कुशल शिल्प और निर्माणो उनके पूर्वकालिक गमनागमनो से ही मिल जाता है।

अमेरिका की "जॉन होपकिन्स" नामक पत्रिका तथा हॉम्सवर्थ हिस्ट्री दि वर्ल्ड एव उन पर समीक्षा लिखने वाले भारतीय विद्वान श्री उमेशचन्द्र ने अनेक प्रमाण यह सिद्ध करने के लिए प्रस्तुत किये हैं कि प्राचीन भारत और प्राचीन अमेरिका मे घनिष्ठ सम्बन्ध था। व्यापारी ओर धर्मोपदेशक लम्बी जल यात्राएँ करके आते जाते थे। इन्द्र, गणेश, अग्नि, शिव, सूर्य एवं अन्य देवी-देवता भारत की तरह वहाँ भी पूजे जाते थे। उक्त इतिहासकार बताते है कि उस समय अमेरिका एक प्रकार से भारतवर्ष का सास्कृतिक उपनिवेश था। मैक्सिको मे अब भी राम सितवा त्यौहार भारी उत्साह के साथ मनाया जाता है, जिसमे राम लीला की झाँकियाँ निकाली जाती हैं। भारत की तरह स्मृति रूप मे समाधि, स्तूप एवं स्मारक वहाँ भी बनते थे, जिन्हे "टिकल" कहा जाता था। इसके अतिरिक्त उनके यहाँ वैवस्वत मनु की जलप्लावन की कथा अब भी प्रख्यात है तथा जनश्रुति का एक अग है।

मैक्सिको के प्राचीन मन्दिर 'कोपन' की दीवारों पर हाथी पर सवार महावत के भित्ति चित्र 'निकल' मे मुण्डधारी शिव की प्रतिमा अनन्त वासुकि, तक्षक सर्प

देवताओ की प्रतिमाएँ आदि भारतीय चित्रकला और मूर्तिकला की अमिट छाप है। 'क्वीरिग्वा' मे मिली मिट्टी की प्राचीन प्रतिमाओं मे भारतीय शिल्प देखा जा सकता है। टोलो (मैक्सिको) मे विशालकाय पाषाण स्तम्भों पर भारतीय देवताओं की प्रतिमाएँ बड़े कलात्मक ढंग से खुदी हुई है। कोयून (हाण्डुरॉस-मध्य अमेरिका) में दैत्य की मूर्ति भी उसी आकृति में है, जिस प्रकार असुरें का हमारे यहाँ वर्णन पाया जाता है। 'कपूरगो' (ग्वालेभाटा) में उपलब्ध शिला प्रतिमाओ मे स्पष्टतः भारतीय शिल्प छलकता देखा जा सकता है। जिस प्रकार अनेक स्तम्भों वाले मन्दिर भारत मे जहाँ-तहाँ दिख पड़ते है, उसी प्रकार 'यूक्टास' के ध्वसावशेष 'थाइजेण्ड कॉलम्स' (हजार स्तम्भों) को देखा जा सकता है। बिना चूने-गारे की सहायता से केवल पत्थरो से बने भवन भारत की विशिष्ट वास्तुकला है। ऐसा ही एक तक्षशिला जैसा ध्वस्त खण्डहर चाको (द. अमेरिका) मे विद्यमान है। सन् १९२७ मे तिआहुआन' (पेरू द अमेरिका) में पुरातत्व विभाग ने जो खुदाई कराई है, उसमे एक ऐसा शिव त्रिशुल मिला है, जिसकी ऊँचाई ८५० फीट है। इसीमें २० टन भारी और २४ फीट लम्बा एक शिवलिंग भी है, जिस पर गृह नक्षत्रों की अन्तरिक्षीय स्थितियाँ अकित हैं। एक ही पत्थर से तराशा हुआ १० टन भारी सूर्य मन्दिर, तीन कतारो मे उपलब्ध ४८ प्रतिमाएँ भी उस काल की भारतीय कला एवं संस्कृति की साक्षी देती है।

भारत के प्राचीनतम साहित्य मे अमेरिका का उल्लेख भी है। ऐतरेय ब्राह्मण के इन्द्र महाभिषेक मे अपाच्यो के राजाओ का वर्णन है और कहा गया है कि ये पश्चिम दिशा में है। भूगोल के अनुसार भी मैक्सिको राष्ट्र में अपाच्य नामक मूल निवासी अब तक रहते हैं। महाभारत मे लिखा है कि उद्दालक मुनि पाताल में ही निवास करते थे। 'हाम्स हिस्ट्री आफ दि वर्ल्ड' मे लिखा है कि पाताल अमेरिका को ही कहा जाता था। बलि नामक राजा भी पाताल देश मे निवास करता था। पाताल देश मे राजा बलि की राजधानी दक्षिण अमेरिका मे अभी भी बोलिविया नाम से प्रसिद्ध है। अर्जुन की उलूपी नामक एक पत्नी भी इसी मूल की थी और वेदव्यास भी वहाँ कई बार गये थे। इसका उल्लेख स्वामी दयानन्द सरस्वती ने सत्यार्थ प्रकाश मे भी किया है। भारतीय पौराणिक उल्लेखो और मेक्सिको में प्रचलित "किजक्स" गाथाओ मे आश्चर्यजनक साम्य है। विष्णु पुराण मे पाताल लोक का और भी अधिक विस्तारपूर्वक वर्णन है और वह अमेरिका की प्राचीन स्थिति पर वैसा ही प्रकाश डालता है जैसा कि पुरातत्ववेत्ता बताते है।

विद्वान लेखक चेसली बैटी "अमेरिका बिफोर कोलम्बस" में लिखते है कि मेक्सिको नाम माया + कसको से पड़ा है, जिसका अर्थ वहाँ के प्राचीन आदिवासियो की भाषा मे 'मय' का 'अनुयायी' है। लैली मिचेल द्वारा लिखित 'कांक्वेस्ट ऑफ दि माया' ग्रन्थ में मेक्सिको में उपलब्ध ऐसे अनेक प्रमाणो का वर्णन है, जिनसे पुरातन भारत और मैक्सिको की सांस्कृतिक घनिष्टता सहज ही सिद्ध होती है। वाल्मीकि रामायण में भी "मय" सभ्यता के अनुयायी भारतीयो की चर्चा लगभग उन्ही शब्दो मे की गई है।

भारतीयता के प्रभाव की साक्षी देने वाला दक्षिणी अमेरीकी राष्ट्र है पेरू। 'पेरू' का शब्दार्थ सस्कृत मे 'सूर्य का देश', 'सूर्य पुत्रो का देश है।' वस्तुत "पेरू" नाम रखा ही गया इस कारण कि जब भारत मे सूर्य अस्त हो जाता था, तब वहाँ दिन का समय होता था। पूर्व मे भारत व पश्चिम में पेरू एक-दूसरे से इतनी दूर होने के बावजूद सांस्कृतिक रूप से एक-दूसरे से अविच्छिन्न रूप से जुड़े थे। पूज्य गुरुदेव द्वारा रचित ग्रन्थ "समस्त विश्व को भारत के अजस्र अनुदान" मे पूरे विश्व मे भारतीय संस्कृति के प्रसार-विस्तार का विशद् एवं मूढ़ विवेचन किया गया है।

वस्तुत भारतीय सांस्कृतिक गौरव एक अमूल्य थाती है। समय आ रहा है कि यही आलोक पुन समस्त विश्व मे संव्याप्त होने जा रहा है। कभी जिसे "ब्रह्मवर्स" कहा जाता था वह ब्रह्मनिष्ठ आत्माओ के समुच्चय से भरा पूरा सारा विश्व ही था। पूर्वात्य आध्यात्मिक स्थापनाएँ अगले दस वर्षो मे विश्व के कोने-कोने मे भिन्न भाषाओ मे जब पहुँचेगी तो इसे सही अर्थों मे सतयुग की वापसी के रूप मे देखा जा सकेगा।

हम एक हैं एक ही रहेंगे

भारतीय संस्कृति की विजय पताका फहराने जिन दिनों स्वामी विवेकानन्द अमेरिका गये थे, उस अवधि मे उनसे एक अमेरिकी विद्वान ने पूछा कि "जब आपकी संस्कृति इतनी महान् और समर्थ है तो भारत को गुलामी की जंजीर क्यों पहननी पड़ी ? देश कमजोर और जर्जर क्यो हो गया ? स्वामी जी ने उत्तर दिया "यह सब भारतीयों की आपसी फूट की चरम परिणति है। पर एक न एक दिन देशवासियों को अपनी गल्तियों का बोध होगा। अतीत से वे सबक लेंगे और अखण्ड भारत के नव निर्माण में जुट जायेगे। तब भारत का उदय एक बृहत्तर राष्ट्र के रूप में होगा। एकता, समता और शुचिता उसका आदर्श होगा।"

जिन लोगों ने भारत का मध्यकालीन तथा ब्रिटिश राज्य की स्थापना का इतिहास पढ़ा है। वे इस तथ्य से भी परिचित होगे कि मुट्ठी भर विदेशी आक्रमणकारी और थोड़े से अंग्रेज किस तरह अपने इरादो को पूरा करने मे सफल हुए। "फूट डालो और राज्य करो" (डिवाइड एण्ड रूल) की कूटनीति को अपने चरम स्वरूप में अंग्रेजी शासनकाल मे एक सशक्त मनोवैज्ञानिक हथियार के रूप में प्रकट हुई पर इसका प्रयोग मध्य कालीन मुगल शासन से ही आरम्भ हो चुका था। पृथ्वीराज चौहान से १६ बार बुरी तरह पराजित होने तथा १६ बार जीवन दान पाने के बावजूद भी मोहम्मद गोरी ने १७वी बार पृथ्वीराज के ऊपर आक्रमण किया। यदि जयचन्द फूटकर गौरी से नहीं जा मिलता तो उसकी विजय का सपना कभी साकार नही हो पाता। पर अपने ही अभिन्न अंग के कटकर विजातीय से जा मिलने का परिणाम यह हुआ कि पुरुषार्थ एवं पराक्रम के धनी होते हुए भी पृथ्वीराज को सत्रहवी बार मौहम्मद गौरी के हाथों पराजित होना पड़ा।

उन दिनों भारतवर्ष छोटी-छोटी राजपूती रियासतो मे बंटा हुआ था। अपनी अहता की संतुष्टि के लिए इन राज्यो के राजा परस्पर एक-दूसरे से लड़ते रहते थे। ये सभी एक से बढ़कर एक पराक्रमी योद्धा थे, जिनके पौरुष की कथा-गाथाएँ इतिहास के पन्नों में भरी पड़ी हैं। पर आपसी फूट के कारण वे विदेशी आक्रमणकारी आततायियों से अपनी सुरक्षा कर पाने में समर्थ नही हो सके। तैमूरलंग, बाबर, नादिरशाह जैसे कितने ही विदेशी मुगल आक्रान्ताओ ने उनकी इस फूट का भरपूर लाभ उठाया और भारत को रौंदते हुए चले आये। कत्लेआम मचाया और अथाह सम्पत्ति लूटकर चलते बने। उनकी सफलता का कारण पराक्रम नही वरन् भारतीय राजाओ का आपसी मतभेद ही था। परस्पर एकजुट होकर रहने और देश की अखण्ड एकता को कायम रखने की उदार दृष्टि रही होती तो भारत का इतिहास कुछ और ही होता तथा हजार वर्षों तक गुलामी के पाश से नही पिसना पड़ता।

जिस कमजोरी का लाभ मुगल आततायियों ने उठाया अंग्रेजो की पैनी दृष्टि ने भी उसे भाँप लिया। व्यापार के लिए शरण पाने और इसकी आड़ में अंग्रेजी शासन की जड़ जमाने का कुचक्र इसीलिए सफल होता गया क्योंकि तत्कालीन राजाओ एवं नवाबो का आपसी वैमनस्य उसमें सहायक बना। कुछ लोभवश और कुछ पुरानी रंजिश का बदला लेने के उद्देश्य से वे अंग्रेजो से जा मिले ताकि अंग्रेजों के सहयोग से अपने पुराने शत्रु राजाओं से बदला ले सकें। विभेद की यह नीति अंग्रेजी साम्राज्यवाद के विस्तार मे पूरी तरह सहायक बनी।

वर्षों तक मुगलों ने और दो सौ वर्षों तक अंग्रेजों ने देश का भरपूर शोषण किया। इतिहासकारो एवं राजनीति शास्त्र के विशेषज्ञों का मत है कि १८५७ की स्वतन्त्रता संग्राम की जो ज्वाला भड़की, यदि उसे संगठित शक्ति का बल मिला होता तो भारत एक सदी, पूर्व ही स्वतन्त्र हो गया होता पर सकीर्ण स्वार्थों के दलदल में फसे देशद्रोहियो ने अंग्रेजो का साथ दिया और वह भभकती ज्वाला देशद्रोहिता का पानी पड़ जाने के कारण बुझ गयी। गुलामी की अवधि सौ वर्षों के लिए और आगे बढ़ गयी। देश की आपसी फूट का खाद पानी पाकर अंग्रेजी शासन की जड़े गहरी और दृढ़ होती चली गईं।

ग्यारहवीं से लेकर उन्नीसवी सदी तक का समय देश के लिए आत्म विस्मृति का युग कहा जाय तो कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी। उन्नीसवी सदी के ही अन्तिम

चार दशकों में देशभक्तों की कुछ प्रखर टोलियाँ क्रांतिकारियों और असहयोग आन्दोलन का सूत्रपात करने वाले अहिंसक स्वतन्त्रता के पुजारियों के रूप में पूरे जोश-आवेश के साथ प्रकट हुई, इन्होंने ही 'अखण्ड भारत' और "स्वतन्त्रता हमारा जन्म सिद्ध अधिकार है" का नारा दिया। नव जागृत की प्रखर चेतना ने आत्म विस्मृति में पड़े देशवासियों को जगाया। अविस्मरणीय जन-चेतना इन दिनों ही देखी गयी। स्वतन्त्रता संग्राम की आग पूरे भारत में दावानल की भाँति फैलती गई। देश में रहने वाले भारत माँ का पयपान करने वाले हिन्दू, मुस्लिम, सिक्ख, बौद्ध सभी धर्मावलम्बियों ने देशभक्ति का बेमिसाल उदाहरण प्रस्तुत किया।

एकता के सूत्र में बंधकर स्वाधीनता के लिए संघर्ष छेड़ने का परिणाम यह हुआ कि अंग्रेजों ने यहाँ से भागने में ही अपनी खैर समझी। देश स्वतन्त्र हुआ। पर अंग्रेजों ने यहाँ से जाते-जाते अखण्ड भारतीय एकता को नष्ट करने के लिए साम्प्रदायिकता का ऐसा विष बो दिया जो तेजी से बढ़ता गया। हिन्दू-मुस्लिम दंगे देश के विभिन्न भागों में हुए, जिसमें कितने ही निरपराध व्यक्तियों को जान से हाथ गँवाना पड़ा। इसी बीच कुछ निहित स्वार्थियों ने मजहब के नाम पर देश की भोली-भाली जनता को भड़काया। मुसलमान जो भारत के अभिन्न नागरिक के रूप में हिन्दुओं के साथ सहोदर भाई की तरह सदियों से रह रहे थे। उन्हें भड़काया गया अलग स्वतन्त्र राष्ट्र के रूप में पाकिस्तान बनाने की आवाज उठी, जिसके लिए गिने-चुने कुटिल बुद्धि के मुस्लिम नेताओं द्वारा कितने ही प्रकार के राजनैतिक एव साम्प्रदायिक हथकंडे अपनाये गये। देशभक्तों की कुर्बानी के कारण भारत स्वतन्त्र तो हुआ पर निहित स्वार्थों के कारण फिर बट गया। एक नये राष्ट्र के रूप मे पाकिस्तान का उदय हुआ। देश का यह विभाजन वस्तुतः आपसी फूट की ही चरम परिणति था।

चोरों की दाल वही गलती है जहाँ सतर्कता एवं जागरूकता का अभाव हो। सामूहिक विरोध के अभाव में थोड़े से डाकू अपने उद्देश्य में सफल हो जाते हैं। कायरता की छत्र छाया में उच्छृंखल एव उद्दण्ड तत्वो को पनपने का अवसर मिलता है। विध्वंशकारी तत्व दो के बीच मतभेदो का लाभ उठाकर ही सफल होते देखे गये हैं। हम चाहे हिन्दू है अथवा मुसलमान, सिक्ख हैं अथवा अन्य धर्मानुयायी सभी एक भारत माँ की सन्तान है। यह राष्ट्रीय आदर्श ध्यान रहे तो कभी आपसी फूट पड़ने की गुंजाइश ही पैदा न हो। इस महान् लक्ष्य की उपेक्षा अवहेलना होने से ही राष्ट्रीय एकता के लिए बाधक-मतभेदों को बढ़ावा मिलता है। अराजकतावादी तत्वों का दाव भी ऐसे ही अवसर पर लगता है। इस कमजोरी का लाभ विदेशी षडयन्त्रकारी तत्व भी उठाते हैं। राजनीति के मर्मज्ञो का मत है कि अस्पृश्यता की आड़ मे धर्म-परिवर्तन की जो व्यापक हवा पिछले दिनों चली है, उसके पीछे ऐसे ही अवांछनीय तत्वो की धनशक्ति और जनशक्ति का हाथ है। सिक्ख सम्प्रदाय हिन्दू धर्म का एक अभिन्न अंग है। पिछला स्वर्णिम इतिहास इस बात का साक्षी है कि हिन्दू सिक्ख धर्मानुयाइयों ने जुड़वा भाईयों की भाँति अपनी एक संस्कृति की रक्षा के लिए जब भी देश को आवश्यकता पड़ी है कुर्बानी दी है। गुरु नानक 'गुरुगोविन्द सिंह आदि सिक्ख गुरु देश की सांस्कृतिक एकता के लिए सतत् प्रयत्नशील रहे। इन दिनों आदिकाल से चली आ रही अभिन्न एकता को तोड़ने का प्रयत्न कुछ षडयन्त्रकारियों द्वारा किया जा रहा है। ऐसे में हर व्यक्ति के ऊपर देश की अटूट एकता को अक्षुण्ण बनाये रखने का नैतिक दायित्व आता है। ऐसे अराजक तत्वो से सतर्क रहने एवं सामूहिक विरोध प्रकट करने की आज नितान्त आवश्यकता है।

आजादी के लिए देश को भारी कीमत चुकानी पड़ी है। बलिदानियों के खून की कीमत पर वह खरीदी गयी है। उस बलिदान की सार्थकता इसी बात में है कि भारत की साठ करोड़ आबादी का हर सदस्य देश की अखण्ड एकता के लिए प्रयत्नशील रहे इस सम्बन्ध में अपनी भूमिका को समझें।

देव संस्कृति की उपेक्षा न हो

भारतीय सस्कृति में समन्वय की अद्‌भुत विशेषता रही है। यही कारण है कि युगों-युगों के घात-प्रतिघात के बावजूद भी वह अपना अस्तित्व बनाये हुए है। अपनी महानता एवं विशालता के कारण वह सदा दूसरी संस्कृतियों को अपने भीतर समाहित करती रही है। कितने ही आक्रमणकारी, आततायी आये—कितनी ही जातियो का यहाँ आवागमन हुआ किन्तु वह अक्षुण्ण बनी रही। जो कभी रस की धारा बहाते तथा विजय का गान गाते, यहाँ उत्साह में झूमते हुए आये थे, वे इस देश के विशाल मानव समुद्र में विलीन हो गये। अब कोई उनका निशान अवशेष नही है।

उनमें से प्रत्येक की कोई न कोई भाषा धर्म अथवा संस्कृति रही होगी, प्रत्येक की अपनी कुछ आदतें रही होंगी, अपने विचार एवं रीति-रिवाज भी रहे होंगे—लिखित-अलिखित उनका कुछ साहित्य रहा होगा किन्तु इनमें किसी भी वस्तु या विचार का अब कोई अलग अस्तित्व नहीं है। मुसलमानों के आगमन के पूर्व यहाँ जितनी जातियाँ, चाहे वे यवन हो, हूण हों या तुर्क मंगोल हो या यूनानी, सभी इस संस्कृति के सागर मे समाकर एकरूप हो गयीं। भारत की सांस्कृतिक महानता में दूसरी जातियों का भी महान् योगदान है। 'यह ऐसी सस्कृति रसायन' है, जिसमें विभिन्न सस्कृतियों के रस समाहित हैं।

एकता एव समन्वय की विशेषता की भावाभिव्यक्ति महाकवि रवीन्द्रनाथ टैगोर ने अपनी एक कविता मे इस प्रकार की है "यह भारत देश महानता का केन्द्र है। ओ मेरे हृदय! इस पवित्र तीर्थ मे श्रद्धा से अपनी आँखें खोलो। किसी को भी ज्ञात नहीं है कि किसके आमन्त्रण पर मनुष्यता की कितनी ही धाराएँ तीव्र वेग से प्रवाहित होती हुई कहाँ-कहाँ से आयीं और इस महासमुद्र मे समा गयीं। आर्य, अनार्य, द्रविण और चीनी वश के लोग यहाँ है। शक, हूण, पठान और मगोल जैसी जातियाँ आयी और सभी एक शरीर मे समाकर एक ही गयीं। इस देश के हृदय में प्रवाहित रक्त मे सबका स्वर ध्वनित हो रहा है।

न केवल इनकी संस्कृतियों की विशेषताओं को अपनाया वरन् अपनी सास्कृतिक विशेषताओ का लाभ भारत ने समस्त विश्व को दिया। कभी उसने अपनी महानता द्वारा सम्पूर्ण विश्व का नेतृत्व किया और ज्ञान-विज्ञान की अनेकानेक विद्याओं से विश्व को परिचित कराया। अपनी सास्कृतिक गौरव-गरिमा, चरित्रनिष्ठा, ज्ञान के प्रति अगाध श्रद्धा मानव मात्र को एकता के सूत्र मे बाँधने वाले तत्व ज्ञान ने 'मेक्समूलर' जैसे यूरोपीय विद्वान को नतमस्तक किया और यह कहने पर बाध्य किया कि "विश्व को शान्ति एकता, समता और शुचिता का सन्देश देने में कोई देश समर्थ हो सकता है तो यह भारत ही होगा। भारत का तत्व ज्ञान मनुष्य के व्यावहारिक जीवन मे समाविष्ट हो सके तो इस भूमण्डल पर स्वर्गीय परिस्थितियों का दिग्दर्शन कर सकना सम्भव है। मेरा विश्वास है कि जब कभी भी संसार को एकता के सूत्र में आबद्ध किए जाने के प्रयत्न होंगे तो इसके लिए भारतीय तत्वज्ञान से ही दिशा एव प्रेरणा लेनी होगी।"

कभी इस देश का ज्ञान यहाँ के निवासियों के चरित्र में झलकता था अर्थात् ज्ञान वाणी की चर्चाओं तक सीमित न रहकर व्यवहार का अंग बना था। फलस्वरूप तेतीस करोड़ व्यक्तियों का यह देश तेतीस करोड़ देवताओं के रूप में प्रख्यात था। स्वर्णिम युग के उस गौरव से विभूषित इस देश की वर्तमान स्थिति पर विचार करते हैं तो भारी निराशा होती है तथा इस बात पर शक होता है कि विश्व का नेतृत्व करने वाला क्या वह यही देश है जिसने विश्व वसुन्धरा में कभी अपने ज्ञान एवं विज्ञान की जानकारियों से सुख-समृद्धि एव शान्ति की गंगा बहाई थी।

सर्वविदित है कि ज्ञान की सार्थकता आचरण में है। तत्वज्ञान की अपनी महत्ता एवं गरिमा है। उसकी उपयोगिता आचरण की शुद्धि में है। कभी वह चरित्र की निर्मलता, पवित्रता एव श्रेष्ठता के साथ जुड़कर विश्व भर में अपनी ध्वजा पताका फहराने में समर्थ बना। आज वही चरित्रनिष्ठा को खोकर चर्चा एव वाक्-विलास का साधन मात्र बनकर रह गया है। ज्ञानराशि के उत्तराधिकारी होते हुए देशवासियों के आचरण मे भारी गिरावट आई है। गीता, उपनिषद, वेद जैसे ज्ञान के अगाध स्रोत हमारे पास हैं। अनेकों शास्त्र एवं पुराण हमे उपलब्ध है। ऋषियों के ज्ञान-विज्ञान का सचित कोष हमें विरासत के रूप मे प्राप्त है, जो दूसरे देशो मे इतने विपुल परिमाण मे अनुपलब्ध है किन्तु आज उनके उपदेशो पर चलने की हम मे शक्ति नहीं है। "एक ही ब्रह्म फैलकर अनेक हो गया।" यह सूक्ति तो प्रत्येक को याद है किन्तु हमारा आचरण इसके विपरीत हो गया है। आडम्बरों, रूढ़ियों, जाति-पाँत, रीति-रिवाजो मे इतने ग्रस्त है कि उपरोक्त ज्ञान काम नहीं आता। "एकोऽहम् बहुस्यामि" की दुहाई देने वाले अब मनुष्य-मनुष्य के बीच भेद करते देखे जाते है तो भारी निराशा होती है और ज्ञान की पवित्रता पर शक होने लगता है।

पतन का दूसरा कारण बना मिथ्या अहंकार। मनीषियों का मत है कि कोई भी सस्कृति समृद्ध परस्पर आदान-प्रदान से ही बनती है। सबसे अलग

कूपमण्डूक में रहकर जीने वाले समाज की संस्कृति स्वभावतः सीमित और संकीर्ण होगी जबकि अपने में सतत् दूसरों की विशेषताओं को समाहित करने वाली संस्कृति अपनी सम्पन्नता बढ़ाती जाती है। संसार से रूठकर ज्ञान के मिथ्या अहंकार मे ग्रस्त अलग बैठने का भाव ही संस्कृति को ले डूबता है। विश्व की अनेकों संस्कृतियाँ परस्पर सांस्कृतिक विनिमय रुक जाने के कारण ही काल के गर्भ में समा गई। उनका कोई चिन्ह अब शेष नही रह, जिन्होने आदान-प्रदान के लिए अपने दरवाजे खुले रखे वे अक्षुण्ण बनी रही। संस्कृति का सर्वाधिक विकास सम्पर्क से होता है। पिछला इतिहास इस बात का साक्षी है। भारत से ज्ञान एवं विज्ञान का आलोक बिखेरने के लिए समय-समय पर परिव्राजक विश्व के अनेक देशो में जाते रहे। दूसरे देशवासियों को भी इसका लाभ मिला। परिव्राजक अपने साथ दूसरी संस्कृतियों मे समाहित ज्ञान की अनेकानेक धाराओ को अपने साथ लाते थे। सर्वांगीण प्रगति मे भौतिक एवं आध्यात्मिक समृद्धि मे सांस्कृतिक विशेषताओ के आदान-प्रदान का विशेष योगदान रहा।

कालान्तर मे यह परम्परा टूट गई। प्रगति के इस युग मे नित नई ज्ञान की शाखाओं का आविष्कार हो रहा है। उसका लाभ भी तभी मिल पाता है, जब परस्पर सम्पर्क का अनवरत् क्रम बना रहे। पिछले अन्धकार युग मे हमने अपने ज्ञान के अहंकार मे विश्व से सम्पर्क तोड़ लिया। आध्यात्मिक ज्ञान की दृष्टि से समर्थ होते हुए भी भौतिक ज्ञान की उपेक्षा करने से प्रगति क्षेत्र मे पिछड़ गये। पश्चिमी देशों ने भौतिक क्षेत्र मे प्रबल पुरुषार्थ किया और समुन्नत होते गये। उनके ज्ञान का लाभ लेने से हमने इन्कार कर दिया और भौतिक प्रगति को जीभर कोसा। फलस्वरूप भौतिक दृष्टि से हम उतने ही पिछड़ते चले गये।

बीसवीं सदी के इस भौतिकवादी युग मे जबकि सम्पूर्ण विश्व की निगाहे भारत की ओर लगी है, उसे अपनी चरित्रनिष्ठा को जागृत करना होगा। भौतिक क्षेत्र मे तो उस देश ने अपने पिछले पूर्वाग्रहों को छोड़कर नई करवट ली है। प्रगति के लिये भी उसने नया प्रयास किया है और तदनुरूप सफलताये भी पाई है। परस्पर सम्पर्क से दूसरो के ज्ञान का लाभ मिला और भौतिक प्रगति का मार्ग प्रशस्त हुआ है। विकास मार्ग का एक अवरोध समाप्त हुआ। दूसरा कदम उठाना होगा—देश मे चरित्रनिष्ठा को जगाने का।

यह सम्भव हो सके तो भारतीय संस्कृति एवं उसका तत्वज्ञान अब भी विश्व को दिशा देने मे सक्षम है। विश्व को एकता, समता एवं शुचिता मे आबद्ध करने मे अपनी संस्कृति पूर्णतः समर्थ है। देश में इन दिनों आई वैचारिक एवं आध्यात्मिक क्रान्ति की लहर इसी बात का संकेत देती है कि भारत अपने सांस्कृतिक गौरव-गरिमा को प्राप्त करने के लिये इस युग संक्रान्ति काल में प्रयत्नशील रहे तो अगले दिनों वह न केवल अपने अतीत के गौरव को वापस लायेगा वरन् समस्त विश्व का नेतृत्व करेगा।

जगद्गुरु भारत और उसका पुनरुत्थान

एक समय था जब अपने देश भारतवर्ष को जगद्गुरु का पद मिला हुआ था। यह पद केवल एक ही विषय अध्यात्म में ही नही अपितु अनेको भौतिक शिल्पो में भी मिला हुआ था। भारत की स्थापत्य कला, वस्त्र, शिल्प, शस्त्र कौशल और कृषि कार्य सदा से संसार का पथ-दर्शक रहा है। जिस समय संसार पशु-अवस्था और सभ्यतारहित स्थिति में था, भारत उस समय सभ्यता, संस्कृति तथा विविध शिल्पो के शिखर पर पहुँच चुका था।

संसार की अन्य जातियाँ जिस समय आखेट युग मे कच्चे पशु माँस पर जीवित रह रही थी, उस समय भारत अग्नि का उपयोग ही नही अपितु सम्पूर्ण यज्ञ विधान रच चुका था। जिस समय संसार सकेतो और मौखिक ध्वनियो से वार्तालाप कर रहा था, भारत छन्दो के विधि विधान सहित ऋग्, यजु, अथर्व की रचना और सामवेद की सिद्धि कर चुका था। जिस समय संसार नग्नावस्था मे विचरण कर रहा था भारत कौशेय तथा पट्ट वस्त्रो के विविध प्रकार तैयार कर चुका था !

आज संसार मे जो कुछ सभ्यता और संस्कृति दृष्टिगोचर हो रही है, उसका मूल भारतीय सस्कृति मे ही है और संसार मे जितनी भाषाये बोली जाती है, उनका उद्गम वेदो की देववाणी मे ही है। ससार में दीखने वाली आज की सारी मनुष्यता भारतीय ऋषि, मुनियों की देन है।

आत्मा, परमात्मा, प्रकृति एव जीव, जड़ और चेतन आदि का तत्व-ज्ञान सर्व प्रथम भारतीय मनीषियों ने ही खोज निकाला। मानव शरीर के मूल वैज्ञानिक तत्व, "छिति, जल, पावक गगन, समीरा" की खोज करने वाले भारतीय विज्ञानवेत्ता ही थे और मनोविज्ञान के आधार मन, बुद्धि, चित्त, अहकार के अन्तःकरण चतुष्टय के अन्वेषक भारतीय मनीषी ही थे।

भारतीय संस्कृति और मानव सभ्यता के जन्मदाता महात्माओं ने जो ज्ञान प्राप्त किया था, वह केवल अपने तक अथवा अपने देशवासियों तक ही सीमित नही रक्खा, बल्कि हाथ मे कमंडलु और कंठ में "कृण्वन्तु विश्वम् आर्यम्" का उद्घोष लेकर निकले और वनचरों को मनुष्यता का पाठ पढ़ाया। यही कारण है कि ससार भारत को अपना गुरु मानने पर विवश हुआ।

भारत मे जहाँ एक ओर ज्ञान का विपुल भडार था वहाँ दूसरी ओर अनन्त धन-धान्य भरा हुआ था। सर्वसम्पन्न भारतीयों को क्या आवश्यकता थी कि वे सहज सुलभ सुख साधनो का उपभोग छोड़कर ज्ञानार्जन करते और उसे ससार मे फैलाते! ईश्वर की अनुभूति कर लेने वाले और अक्षय आनन्द का मार्ग निकालने वाले भारतवासियों ने सांसारिक सुख-साधनो की नि.सारता बहुत शीघ्र अनुभव कर ली थी। फिर भला वे किस प्रकार उनमे लिप्त होकर अपने को सच्चे आनन्द से वचित कर सकते थे और "वसुधैव कुटुम्बकम्" का सिद्धान्त मानने वाले आर्य किस प्रकार देख सकते थे कि उनके बन्धु अन्य मानव पशुता की कोटि में रहे। विश्व कल्याण की भावना से प्रेरित भारतीयों ने त्याग का मार्ग ग्रहण किया और ससार की तथा मानव जाति की अतुलनीय सेवा की।

भारत वर्ष का यह अनन्त गौरवपूर्ण जगद्गुरु का पद सहस्रो वर्षों तक बना रहा या यों कहना चाहिये कि वह जब तक त्याग और तपस्या का मार्ग ग्रहण किये रहा वह जगद्गुरु के प्रतिष्ठित पद पर आसीन रहा। किन्तु जब भारतवासियो ने अध्यात्म-ज्ञान को व्यावहारिक जीवन से निकालकर यथार्थ के स्थान पर कल्पना लोक की वस्तु बना दिया, धर्म का स्वरूप विकृत कर दिया तभी से उसका पतन प्रारम्भ हो गया।

इधर भारतवासियों की धर्म के नाम पर लिप्सा-पूर्ण गतिविधियों और उधर भारतीय ज्ञान से तेज पाकर अनेक विश्वासघातिनी जातियो के निरन्तर आक्रमणों ने मिलकर देश के सम्मुख एक ऐसी परिस्थिति रख दी जिसे परतन्त्रता कहा जाता है। भारत को लगभग एक सहस्र वर्ष तक अपने अध.पतन का कुफल गुलामी के रूप में भोगना पड़ा।

पराधीनता की पतित अवस्था में भी भारतभूमि तत्वदर्शी और त्यागी महात्माओं के प्रसाद से वंचित न रह सकी। यही कारण था कि गुलामी के प्रलयंकर काल मे भी विदेशियों, विधर्मियों एवं विजातियों की दुरभिसंधियों के बावजूद भी भारतीयता अपना स्वरूप न खो सकी।

एक ओर पतित मनोवृत्ति के देशवासी पद प्रतिष्ठा सुख और साधनो के लोभ के वशीभूत होकर वैदेशिकता को अन्तःकरण से स्वीकार करने और जनता को स्वीकार कराने का प्रयत्न कर रहे थे और दूसरी ओर त्यागी तपस्वी तथा निस्पृह देशभक्त महात्मा जनता को ठीक मार्ग पर चला रहे थे। यह संघर्ष सदियो तक चलता रहा और अन्त मे त्याग तथा तपस्या की विजय हुई और देश स्वाधीन हुआ।

भारत स्वाधीन हुआ। किन्तु जब वह स्वाधीन हुआ, उस समय तक उसका अध पतन अपनी चरम सीमा पर पहुँच चुका था। देश हर प्रकार से खोखला हो चुका था। शासन सत्ता हाथ मे आने पर भारतीयों का पहला कर्तव्य यह था कि वे अपना मूलभूत सुधार करते। देश मे ऐसी परिस्थितियां और अवस्थायें उत्पन्न करते, जिससे जनता का गिरा हुआ चरित्र बल समुन्नत होता और देश पुन. उन आदर्शों को प्राप्त कर सकता, जिनके बल पर वह जगद्गुरु बना था।

.. स्वाधीनता प्राप्त करने के बाद हम भारतीय जन्म-जन्म के विभुक्षुओ की भाँति रोटी, कपड़ा और सुख-सुविधाओ की लोलुपता मे बुरी तरह डूब गये। यही कारण है कि देश का दिन-दिन पतन ही दृष्टिगोचर हो रहा है।

इस भोजन भोग की लोलुपता पूर्ण तृष्णा का फल यह हुआ कि देश और भी दरिद्र बन गया। वांछित उपलब्धियाँ तो प्राप्त न हो सकी उल्टा चरित्र

तथा आचरण का घोरतम पतन हो गया, जिससे देश की रही-सही शक्तियाँ भी क्षीण होती जा रही है।

अब भी कुछ बिगड़ा नहीं है। यदि सुबह का भूला शाम को घर आ जाये तो वह भूला नही कहा जा सकता। अभी समय है। राष्ट्र को चाहिये कि वह लोलुपतापूर्ण तथा स्वार्थजन्य एषणाओं को छोड़कर अपने पूर्व पुरुषों की भाँति त्याग और तपस्या का जीवन ग्रहण कर अपना चरित्र बल ऊँचा करे, जिससे कि देश की गिरती हुई दशा में सुधार की सम्भावनायें उत्पन्न हो। देश का जब तक धार्मिक अध्यात्मिक तथा चारित्रिक पुनरुद्धार नहीं होगा सुधार तथा उन्नति की कोई भी आशा मृग मरीचिका ही सिद्ध होगी। जब तक भोगवादी दृष्टिकोण को सामने रखते हुये भौतिक सुख साधनों को महत्ता दी जायेगी, तब तक भारत का सत्य स्वरूप मिलना असम्भव सा-ही है।

इतना सब कुछ होते हुये भी यह नही कहा जा सकता कि देश के चारित्रिक निर्माण के लिये कुछ काम नही हो रहा है। जिस प्रकार पराधीनता काल में गुलामी पसन्द और स्वतन्त्रता प्रिय लोगों के अपने-अपने प्रयत्न चलते रहे हैं, उसी प्रकार आज भी भोगवादी और त्यागवादियों के अपने-अपने प्रयत्न चल रहे हैं। और यह विश्वासपूर्वक कहा जा सकता है कि जिस प्रकार तब तपस्वियो की विजय हुई थी, आज भी उनकी ही विजय होगी।

आज भी देश के कोने-कोने में भारत माता के सच्चे सपूत त्याग, तपस्या बलिदान, उत्सर्ग, नैतिकता, धार्मिकता, आध्यात्मिकता तथा मनुष्यता का शख फूँकते हुये चरित्रबल पर भारत को एक बार पुनः जगद्गुरु के पद पर प्रतिष्ठित कराने का प्रयत्न कर रहे हैं। उनका यह सत्प्रयत्न सफल होगा, इसमें सन्देह की कोई गुंजायश नही है।

सांस्कृतिक एकता आज की महत्वपूर्ण आवश्यकता

पिछले हजार वर्षों की तुलना मे भौतिक प्रगति की दृष्टि से बीसवी सदी को सबसे आगे माना जा सकता है। मात्र दो सदियों की तुलना करने पर ही दोनों के बीच आसमान और धरती जितना अन्तर दीखता है। प्रगति की गति अत्यन्त तीव्र हुई है। जिसने अपने आधुनिकतम संचार यातायात साधनो द्वारा समस्त विश्व की मानव जाति को अत्यन्त निकट ला खड़ा किया है। विश्व एक मुहल्ले में सिमटता जा रहा है। मिनटो मे एक स्थान-एक देश की खबरे पूरे विश्व में फैल जाती हैं। संचार साधनों द्वारा एक स्थान पर बैठकर विश्व के किसी भी कोने से सम्पर्क साधना सुगम बन गया है। इस प्रगति क्रम में भौतिक विज्ञान के चमत्कारी योगदान की भूरि-भूरि प्रशंसा करनी होगी, जिसके कारण विश्व की दूरी घटती जा रही है।

सम्पर्क बढ़ने और दूरी घटने से एक स्थान एक देश मे घटने वाली घटनाओं पनपने वाली विचार धाराओं को समस्त संसार मे फैलते देरी नही लगती। परस्पर एक-दूसरे के विचारों एवं गतिविधियो से सभी देश प्रभावित होते है। ऐसा सम्भव नही रहा कि एक देश की प्रगति अथवा अवनति दूसरे देश को प्रभावित न करे। सुविकसित यातायात और संचार साधनो के कारण देशों के बीच भौगोलिक दूरी तो घटी है पर भौतिकवादी एकांगी दृष्टिकोण के कारण मनुष्य-मनुष्य के बीच एक राष्ट्र के दूसरे के प्रति स्नेह, सौजन्य से युक्त व्यवहार में कटुता आई है। जहाँ सम्बन्धो मे प्रगाढ़ता दिखाई भी पड़ती है, उसमें वास्तविकता का कम राजनैतिक स्वार्थों से प्रेरित तथ्यो का अधिक समावेश है। स्वार्थों के आधार टूटते ही सम्बन्धों के छिन्न-भिन्न होते देरी नही लगती और दो देश जो कभी मित्र के रूप मे एक-दूसरे के प्रति व्यवहार कर रहे थे, शत्रु के रूप में दिखाई पड़ने लगते है। सम्पन्न, समर्थ और शक्तिशाली राष्ट्र अपनी सामर्थ्य का उपयोग कमजोर और गरीब राष्ट्रो को दबाने और जैसे भी बने अपना हित साधने की नीति में पूरे जोर-शोर से लगे हैं। इस सकीर्ण नीति के परिणामस्वरूप अमीर और गरीब राष्ट्रों के बीच खाई पटने के स्थान पर निरन्तर बढ़ती जा रही है। अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्रो मे तनाव दिन-प्रतिदिन बढ़ाता ही जा रहा है। शीत युद्ध की यह स्थिति परमाणु युद्धो के रूप में कभी भी किसी भी क्षण फूट सकती है।

बढ़ते हुए इन तनावो-विश्व की विस्फोटक बनती परिस्थितियो-समृद्ध और गरीब राष्ट्रों के बीच चौड़ी

होती खाई को देखकर विश्व के मूर्धन्य विचारक मनीषी इस नतीजे पर पहुँचे है कि अब यह सम्भव नही रहा कि कोई भी सम्पन्न राष्ट्र चिरकाल तक दूसरे गरीब राष्ट्रों की उपेक्षा कर अपनी सुख शान्ति को अक्षुण्य बनाये रह सके। पड़ोस में आग लगी हो, उसे बुझाने के लिए प्रयत्न न किया जाय तो देर-सवेर वह अपने घर को भी पकड़ेगी और भस्मीभूत कर देगी। यह स्थिति समृद्ध और समर्थ राष्ट्रों के समक्ष भी आ सकती है। अस्तु विचारको का मत है कि अब विकास के लिए जो भी योजना बनाई जाय समस्त विश्व को ध्यान में रखकर, जो भी सोचा जाय विश्व के परिप्रेक्ष्य मे। तभी विश्व मे सुख शान्ति की स्थिति बनी रह सकती है। यह विचारधारा संसार के विभिन्न क्षेत्रों के विशेषज्ञों एवं विचारकों के मस्तिष्क में हिलोरे ले रही है। युगान्तरीय चेतना ने विश्व-बन्धुत्व के जिस नारे का तुमुलनाद वर्षो पूर्व किया था वह अनेको व्यक्तियों एवं संस्थाओ के माध्यम से अब एक साथ-एक समय प्रतिध्वनित हो रहा। भारत ने युगो-युगो से जो भूमिका देव संस्कृति के अधिष्ठाता के नाते निभाई है वह पूरी करने का समय अब फिर आ गया। राजनैतिक दृष्टि से नही, सांस्कृतिक दृष्टि से ही यह अध्यात्म मान्यताओं का अवलम्बन लेकर ही सम्भव होगा इसे एकमत से स्वीकारा जाना चाहिए।

क्या हम अपनी संस्कृति को भूल ही जायेंगे ?

उपवन मे एक पौधा उगता है और उसे माली विशेष कला से छाँटकर सँवारता है, सुन्दर रूप देता है। इस काँट-छाँट और सँवारने की प्रक्रिया से पौधा भी नयनाभिराम बनता है तथा उपवन की भी शोभा बढ़ती है। इसके अतिरिक्त यदि कोई पौधा जगल मे बिना किसी के सरक्षण मे उगे, बढ़े और फले-फूले तो उसमे न तो वह सुन्दरता रहती है और न शोभा। उसे जगली पौधा ही कहा जाता है। यही तथ्य मनुष्य के लिए भी लागू होता है। कोई विशिष्ट जीवन पद्धति, सिद्धान्त और आदर्श उसे संसार की शोभा बढ़ाने वाला बनाते है। उनके अभाव मे मनुष्य भी एक जगली पौधा भर रह जाता है। जिन नियमो और आदर्शों के अनुसार मनुष्य संसार की शोभा बनता है उन्हें कहते हैं सस्कृति। संस्कृति का अर्थ ही यह है कि वह मनुष्य को सम्यक् दिशा में सम्यक रूप से अग्रसर करती है।

इसकी विधायकता का निर्धारण हर कोई नहीं कर सकता। बगीचे के पौधों को कुशल बागवान ही सजा-सँवार सकता है और उसकी अन्य विशिष्ट शैलियाँ निर्धारित कर सकता है, उसी प्रकार मनुष्य को सम्यक दिशा में अग्रसर करने की व्यवस्था कुछ ही लोग कर सकते हैं। पौधे को सँवारने की तकनीक तो साधारण श्रम और थोड़े से समय में खोजी जा सकती है परन्तु मनुष्य को संवारने की तकनीक में वर्षों लग जाते हैं, शताब्दियों तक। इस पद्धति के शोध का दायित्व जिन लोगो पर होता है, वे अपने परिवार की आवश्यकताओं पर भी समुचित रूप से ध्यान नहीं दे पाते। यही कारण है कि हमारे देश मे ऐसी विभूतियों के निर्वाह हेतु दान धर्म की व्यवस्था की गयी है और ऐसी विभूतियों के लिए ऋषि शब्द का प्रयोग किया है।

अपने लिए नही समाज के लिए जीने के आदर्श को वरीयता देकर भारतीय ऋषि महर्षि ऐसी जीवन पद्धति का अन्वेषण-निर्धारण-विकास करने में सफल हो सके है जिसके आधार सनातन है। उनका बाह्य रूप भले ही बदलता रहे परन्तु उनकी नींव पर जो भी व्यक्तित्व खड़ा होता है वह न तो भौतिक दृष्टि से घाटे में रहता है और न ही आत्मिक दृष्टि से। भारतीय सस्कृति का अनुकरण करने वाला व्यक्ति अर्थ और काम के साथ धर्म और मोक्ष भी साधता चलता है। अन्य देशो की संस्कृतियाँ जहाँ पुरातत्व और इतिहास का विषय रह गयी है, वहाँ हमारे देश की सस्कृति आज श्री प्रचण्ड जीवतता के भाथ 'कृण्वन्तो विश्वमार्यम' का उद्घोष कर रही हैं। इसका कारण है कि यहाँ के साँस्कृतिक नेतृत्व ने जीवन के किसी भी पहलू की उपेक्षा नहीं की। शरीर और आत्मा, जगत और जगदीश्वर, भौतिक और अध्यात्म सृष्टि के दोनों ही तत्वो का निर्वाह किया, जबकि अन्य सस्कृतियाँ उपरोक्त द्वितत्वो में से किसी एक को ही लेकर चल पडी और एक पहिये की गाडी की तरह थोडी दूर ही चलकर लड़खड़ा गयीं।

पाश्चात्य देशों में अब जिस संस्कृति का विकास हो रहा है, उसमे आत्मतत्व की पूर्ण उपेक्षा ही होती है। फलस्वरूप वहाँ साधन सुविधायें बढ़ने के साथ-साथ बोझिलता, तनाव, कुण्ठा, संत्रास और विक्षिप्तता भी बढ़ रही है। एकांगी भौतिकवाद से सत्रस्त होकर पाश्चात्य देशों का बौद्धिक वर्ग स्वय भी भारतीय अध्यात्म दर्शन के छांव तले विश्राम करना चाहता है और अपने भाइयों को भी उसी सुखद शीतलता में शांत रखना चाहता है। यही कारण है कि पाश्चात्य देशों में भारतीय जीवन मूल्यों की लोकप्रियता बढ़ती जा रही है।

भारतीय संस्कृति की इस जय यात्रा को देखकर गर्वित और हर्षित हुआ जा सकता है। परन्तु जब दृष्टि अपने देश के सन्दर्भ में जाती है और यहाँ लोकप्रिय होती जा रही जीवन पद्धति पर आखें टिकती है तो सारा हर्ष और सारा गौरव चरमरा कर टूटने लगता है। यहां विकसित होते जा रहे जीवन दर्शन को देख कर यही आशंका होती है कि भविष्य के इतिहास में लिखा जायेगा कि एक महान् संस्कृति के जन्मदाता देश के निवासी अपनी उसी जीवन पद्धति को भुला बैठे जिसके कारण वह कभी जगद्गुरु के पद पर आसीन था और उसी देश से प्रकाश तथा आलोक प्राप्त कर अन्य देशवासी भी शान्ति की अभीप्सा को तृप्त करने के लिए लालायित रहते थे। न केवल लालायित रहे हैं। वरन् उनकी यह लालसा भी वही पूरी हुई परन्तु यह अजीब विडम्बना रही कि उसी देश के निवासियो ने अपनी गौरवपूर्ण गरिमामय जीवन पद्धति को भुला दिया और उच्छिष्ट समझकर भी दूसरे देशवासियो द्वारा त्यागे गये जीवन मूल्यों को ग्रहण कर लिया।

सांस्कृतिक निष्ठा के सन्दर्भ मे हमारी अपनी स्थिति अति निराशापूर्ण और खेदजनक है। आज की तथा-कथित आधुनिकता की धारा ने हमारी संस्कृति निष्ठा को कुछ इस प्रकार कलुषित कर दिया है कि उन जीवन आदर्शों के प्रति निष्ठा की बात तो दूर रही उन आदर्शों के प्रतीकों के लिए भी हमारा रवैया असम्मान पूर्ण और वितृष्ण होता जा रहा है। बाजार मे कोई धोती कुर्ता पहनकर निकल जाये तो लोग समझते है कोई गाव का अशिक्षिति व्यक्ति जा रहा है, स्कूल कॉलेजो मे कोई छात्र शिखा में गाठ लगाये और धोती कुर्ता पहनकर जाये तो उसके सहपाठी देखते है जैसे कोई विचित्रता दिखाई दे रही हो। दफ्तरी बाबू और स्कूल कालेज के छात्र-छात्रायें क्या पढ़ते लिखते और कैसे रहते है यह बात अलग है परन्तु उनके रहन-सहन का ढग, उठने-बैठने और खाने-पीने के तौर तरीके में घुसी हुई अंग्रेजियत व भौडापन क्या सिद्ध करता है ? स्मरणीय है पाश्चात्य ढंग का रहन-सहन इस देश की प्रकृति, जलवायु तथा वातावरण मे किसी प्रकार भी मेल नही खाता, वह सर्वथा यहाँ के प्रतिकूल है, परन्तु आधुनिकता के उन्माद को क्या कहे ?

राजनैतिक दृष्टि से स्वतन्त्र हुए हमें तीसरा दशक बीतने जा रहा है। अंग्रेजो की गुलामी समाप्त हो गयी परन्तु अग्रेजियत की गुलामी से हमारा अभी तक पीछा नहीं छूटा। वरन् हम उसे और भी न्यौता दिये चले जा रहे है। इसी प्रवृत्ति की ओर इंगित करते हुए डॉ. राम मनोहर लोहिया ने एक बार कहा था—"अंग्रेज यहाँ से चले गये परन्तु अंग्रेजियत बनी हुई है, न केवल बनी हुई है छाती जा रही है।"

इसी अंग्रेजियत का प्रभाव है कि हमे सिर पर शिखा व कन्धे पर यज्ञोपवीत व्यर्थ लगने लगा है—जबकि ये तत्व भारतीय दर्शन के मान्य पुण्य प्रतीक है। व्यवहारिक सुविधा की दृष्टि से भी सहज और मूल्य की दृष्टि से भी अत्यन्त अच्छा यज्ञोपवीत हमें पिछड़ेपन का प्रतीक लगता है। परन्तु उससे कही वजनी और पाच सात रुपये वाली नेक टाई सुविधापूर्ण और गौरवमयी लगती है। मुश्किल से पच्चीस रुपये मे तैयार हो जाने वाले धोती कुर्ते मे हमे पैसे का अपव्यय और वस्त्र की क्षति महसूस होती है परन्तु चालीस पचास रुपये मूल्य के बुशर्ट मे कौन-सी मितव्ययिता सिद्ध होती है। यह सब पाश्चात्य संस्कृति के सम्मुख घुटने टेकने—उसके आक्रमण को न्यौता देने का ही परिचायक है।

रहन-सहन और वेश-विन्यास की दृष्टि से हम लोग पाश्चात्य सभ्यता का अनुकरण तो करते जा रहे है, उस सीमा तक उन्हें अपना भी न चुके है, जिसे अति स्तर का भी कहा जा सकता है। सभ्यता—रहन सहन का प्रभाव सस्कृति—जीवन मूल्यो पर भी असंदिग्ध रूप से होता ही है और उस दिशा मे भी हमारे चरण बढ़ते जा रहे है। पश्चिमीय सभ्यता का एक बहुत

बड़ा दोष रहा है, जिससे भारतीय संस्कृति सर्वथा मुक्त रहने का विधान देती है। इस प्रकार दोनों सभ्यताओं में जमीन आसमान का अन्तर है। पश्चिमी दृष्टिकोण जहाँ जीवन में खाओ पीओ मौज करो के सिद्धान्त को प्रधानता देता है, वहीं भारतीय जीवन दृष्टि सादा जीवन उच्च विचार की नीति अपनाने पर बल देती है। हमारी संस्कृति ने अपने लिए आवश्यकता भर रखकर और शेष सब समाज को देने की नीति अपनायी वहीं पाश्चात्य सभ्यता ने अपने लिए यथेष्ट और शेष अवशिष्ट औरों को। अब पश्चिमी देशों में विज्ञान की प्रगति और औद्योगिक विकास के कारण सम्पत्ति प्रचुर हो गयी है अतः वहा सम्पत्ति का कोई मूल्य नहीं समझा जाता। इसी कारण पाश्चात्य देशों में यत्किञ्जित उदारता के दर्शन होते हैं। लेकिन भोगवादी जीवन पद्धति में स्वार्थ-स्वलिप्सा का भाव तो ज्यों का ज्यों ही रहता है।

भारत में भी उस भोगवाद का दुष्प्रभाव दृष्टिगत होने लगता है। धन का अनावश्यक संग्रह, उद्योग-धन्धों पर एकाधिकार, सम्पत्ति पर स्वत्व की निम्न स्तरीय लालसा आदि ऐसी विकृतियाँ जन्म ले चुकी है, जिसके कारण पश्चिम में कभी वर्ग संघर्ष और रक्त क्रान्ति की उठती थी। पूँजीपतियों और निर्धन मजदूरों मे विषमता की खाई मिटाने के लिए साम्यवादी क्रान्ति का विचार और प्रचार सर्वप्रथम उन्हीं देशों में हुआ है भारत में पूँजीपतियों और निर्धनों में विषमता होते हुए भी जीवन स्तर लगभग सभी का एक समान रहता था और अर्जित धन प्रायः सत्कार्यों—पुण्य प्रयोजनों में खर्च होता था। लेकिन जब से यहाँ के मानस ने भोगवादी प्रवृत्ति अपनायी है विषमता ईर्ष्या और द्वन्द्व स्तर पर भी बढ़ने लगी है।

भोगवादी जीवन दृष्टि का ही प्रतिफल है कि इन दिनो नारी को जननी के गौरवमय स्तर से गिराकर रमणी के रूप में देखा जाने लगा है। बड़े शहरों में नित्य नये खुलने वाले बड़े होटल, वहाँ चलने वाले कैबरे और बैले नृत्य, व्यभिचार के गुप्त अड्डे, सिनेमा साहित्य और चित्रकला में नारी का नग्न चित्रण आदि सब भोगवादी दृष्टि के ही परिणाम है, जो कामुकता भड़काने, अनीति आतंक उत्पन्न करने तथा नारी को लांछित दयनीय दुर्दशा में घसीट पटकने का कारण बनेंगे-बन रहे हैं। बड़े शहरों में तो युवतियों और जवान स्त्रियों का अकेले सड़कों पर निकल पाना भी भयरहित नहीं है। यह हमारे पतनशील जीवन मूल्यों के ही तो परिचायक हैं।

अभी और भी न जाने क्या-क्या दुष्परिणाम सामने आ सकते हैं? कुछ कहा नहीं जा सकता। यह स्थिति भविष्य में और भी खतरे उत्पन्न करेगी और इसके लिए जिम्मेदार है, हमारी वह मनोवृत्ति जो पाश्चात्य सभ्यता को चकाचौंध में चौंधियाई आखों से उन आक्रमणों को खुला निमन्त्रण देती है। उस आमन्त्रण के साथ अपनी संस्कृति के प्रति हमारी अपेक्षावृत्ति ऐसा रूप धारण कर गयी है कि नयी पीढ़ी के लोगों को तो भारती यात्र क्या चीज है—इसका ही पता नहीं। व्यवहार क्षेत्र में संस्कृति इतिहास की तरह पढ़ने-लिखने और जानने याद रखने की वस्तु बनती जा रही है और जब कोई दृष्टि केवल जानने और पढ़ने का विषय मात्र ही रह जाय तो स्वाभाविक है कि उसका अवमूल्यन भी होने लगे।

यहाँ कहने का अर्थ यह नहीं है कि पाश्चात्य सभ्यता में जो कुछ है सब विकृत और दोषपूर्ण है तथा हमारी संस्कृति में जो कुछ सब अच्छा और परिष्कारपूर्ण है। पश्चिमी देशों के पास भी वैसा बहुत कुछ है, जिससे उन्होने विज्ञान और भौतिक क्षेत्र में इतना विकास किया हमारे समाज में भी वैसा बहुत कुछ है, जो समयक्षेप के साथ निरुपयोगी, व्यर्थ और परित्याज्य हो गया है। उन रूढ़ तत्वो का उन्मूलन तो करना ही चाहिए और पश्चिम के पास भी जो कुछ अच्छा है, उसे ग्रहण करना चाहिए। लेकिन अन्धानुकरण में इस विवेक का ध्यान जरा भी नही रहता, उसमें तो आँख मीचकर पीछे दौड़ना ही सूझता है और विकराल रूप से यही घातक भी है। जबकि उसकी अपेक्षा महिमा मण्डित और वरेण्य है। भारतीय सस्कृति, जिसके सम्बन्ध मे प्रख्यात विचारक पाण्डुरंग सदाशिव साने कहा है—'भारतीय संस्कृति हृदय और बुद्धि की पूजा करने वाली उदार भावना और निर्मल ज्ञान के योग से जीवन में सुन्दरता लाने वाली है। यह सस्कृति ज्ञान-विज्ञान के साथ हृदय का मेल बैठाकर

संसार में मधुरता का प्रचार करने वाली है। इसका अर्थ है कर्म, ज्ञान और भक्ति की जीती जागती महिमा शरीर बुद्धि और हृदय की सतत् सेवा में लीन करने की महिमा।'

लेकिन इससे लाभान्वित होने के लिए हमें अपना दृष्टिकोण बदलना होगा और यह मानना होगा कि हम अपने घर लौट कर ही स्थायी सुख-शान्ति का आनन्द ले सकते हैं । आज के युग मे हमारे लिए यह एक संकटपूर्ण चुनौती है। जिस संस्कृति ने एक-एक व्यक्ति को नर से नारायण के रूप में अपना विकास करने की क्षमता दी हम भी उसी के संरक्षण में स्वयं को एक ऐसे पौधे के रूप में विकसित करें, जिसमें लगे पुष्पो की सुरभि से संसार में महक उठे।

अतीत की खोई गरिमा हम पुनः प्राप्त करें

भारत किसी समय उन्नति के उच्च शिखर पर पहुँचा हुआ था। उसकी अपनी सीमाओं में सुख शान्ति के भाण्डागार भरे पड़े थे। भौतिक साधनों की कमी न थी। शारीरिक बलिष्ठता और दीर्घजीवन का भरपूर आनन्द सबको उपलब्ध था। परिवार एक छोटे राष्ट्र के रूप में विकसित होते हुए—विकासमान पुष्प-पादपो से भरे हुए उद्यान की तरह शोभायमान थे। धन सम्पदा की कमी न थी अन्न भण्डार भरे पड़े थे और दूध, घी की नदियाँ बहती थी। सोना-चाँदी जैसी बहुमूल्य धातुएँ घरेलू बर्तनों में प्रयुक्त होती थीं सामाजिक सुव्यवस्था पारस्परिक सघन सद्भाव सहयोग पर समुन्नत स्थिति मे जा पहुंचती थी। शालीनता और सज्जनता को हर व्यक्ति ने आवश्यक वस्त्रो की तरह धारण कर रखा था। राजा लोग गर्व करते थे कि उनके राज्य मे कोई चोर, अपराधी, कुकर्मी नर-नारी नही है।

उन सतयुगी परिस्थितियों मे यह देश अपनी प्रगति, समृद्धि और सुख-शान्ति को अपनी ही सीमा तक सीमित रखने वाला था, उसने उसे दोनों हाथों से समस्त ससार में बखेरा। समृद्धि का सदुपयोग है भी इसी मे कि उसका लाभ अपने शरीर, परिवार तक सीमित न रहे और उसका लाभ प्रकाश-दीप की तरह सुदूर क्षेत्रो को आलोकित करता रहे।

भारतवासी कुछ पाने, कमाने के लालच से नही वरन् अपने उपार्जन से समस्त ससार को लाभान्वित करने के लिए सुदूर देशों मे गये और धरती के कोने कोने को संस्कृति और समृद्धि का अजस्र अनुदान देकर ऊँचा उठाया। इन प्रयासो के प्रमाणों से इतिहास के पृष्ठ स्वर्णाक्षरों में लिखे हुए हैं, पिछड़ी हुई परिस्थितियो में रहने वाले लोगों ने भारतवासियों के अपरिमित अनुदान पाये और सर्वतोमुखी प्रगति की दिशा में बढ़ चलने का पथ-प्रशस्त किया। यही रही प्राचीन काल के भारत की विश्व सेवा साधना की पृष्ठभूमि, जिससे वह स्वयं गौरवान्वित हुआ और समस्त संसार को कृतकृत्य बनाया।

भारत की भौगोलिक सीमाओ में निवास करने वाले तेतीस करोड़ नागरिक समस्त विश्व में तेतीस कोटि देवताओं के नाम से पूजे, पहचाने जाते थे। उन्हे भूदेव भू सुर का सम्मान प्राप्त था। भारत भूमि देव भूमि कही जाती थी। उसे 'स्वर्गादपि गरीयसी इसलिए कहा जाता था कि यहाँ स्वर्गादपि गरीयसी परिस्थितियाँ सदा ही बनी रहती थीं। संसार ने जब उससे, अन्धकार को निरस्त करके सर्वत्र सद्ज्ञान का आलोक पाया तो उसकी गुरुता के चरणों में मस्तक झुकाया और 'जगत् गुरु' कहा। शासन तन्त्र के स्वरूप और लाभ का अनुदान पाकर उसे चक्रवर्ती शासक कहा गया। यहाँ के शासन-तन्त्र-विज्ञानी सुदूर देशो मे गये और वहाँ के निवासियो को सरकारे बनाने और चलाने से परिचित, अभ्यस्त बनाकर वापिस चले आये या आगे बढ़ गये। ऐसी थी भारत की चक्रवर्ती शासन नीति। स्थानीय उच्छृङ्खलता बढ़ने न पाये। नीति संचालन के सूत्र समुन्नत लोगों के हाथ मे रहें इसलिए ससार पर नियन्त्रण तो रहता था, पर वहाँ से कुछ लाने कमाने की बात नहीं सोची जाती थी। अश्वमेध यज्ञो के नाम पर विश्रृंङ्खलित शासन सूत्रो को समय-समय एकताबद्ध किया जाता रहा। द्वापर के महाभारत युद्ध में प्राय समस्त संसार के राजा इस या उस पक्ष में सम्मिलित हुए थे। शासन-सत्ताओ के नीति सचालन सूत्र उन दिनो तक भारत के ही हाथो मे थे। अस्तु आमन्त्रणों पर उन्हे यहाँ के राजकीय अभियानो में सम्मिलित ही होना पडता था।

नालंदा तक्षशिला जैसे अनेकों विश्वविद्यालय इस देश मे थे। देश की शिक्षा व्यवस्था की पूर्ति तो स्थानीय गुरुकुल ही कर लेते थे। उच्चस्तरीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय शिक्षा व्यवस्था का प्रबन्ध यह विश्व विद्यालय करते थे। देश-देशान्तरों की भाषाएँ वहाँ पढ़ाई जाती थी। जिसमें पारंगत होकर विश्व सेवा के लिए अपने को समर्पित करने वाले महामानव विश्व के कोने-कोने मे जाने की तैयारी करते थे और पिछड़े क्षेत्रों को- पिछड़े वर्गों को हर दृष्टि से ऊँचा उठाने के लिए अपनी अहैतुकी सेवा भावना की अजस्र वर्षा करते थे।

न केवल धर्म और अध्यात्म वरन् कृषि, पशु पालन, वृक्षारोपण, शिल्प उद्योग, नौकानयन, चिकित्सा, वास्तु, रसायन, शस्त्र सचालन, यात्रिकी आदि भौतिक विज्ञान की अनेकानेक धाराओ से संसारवासियो को परिचित प्रवीण कराने के लिए अथक परिश्रम किया गया। फलतः मानव जाति को अपनी पिछड़ी हुई, अभावग्रस्त एवं विपन्न स्थिति से छुटकारा पाने का अवसर मिला। अन्न, वस्त्र, निवास और शिक्षा की आरम्भिक आवश्यकताएँ पूरी होने पर प्रगति के अन्याय मार्ग खुले। यह सब भारतीय सहयोग के बिना सम्भव न था। अस्तु लोग उन उदारमना, सुविकसित महामानवो को प्रतिदान तो क्या दे सकते थे, पर उनने अपनी भावभरी श्रद्धाञ्जलियाँ निरन्तर समर्पित कीं। भारतवासियो के लिए विश्व निर्माण की अजस्र भूमिका सम्पादित करने के गौरव मे ही पर्याप्त सन्तोष था। वे और कुछ पाने की इच्छा भी क्यो करते?

मनुष्य जीवन की गरिमा दो पहिये के रथ पर चढकर गतिशील होती है। एक पहिया है आत्म निर्माण, दूसरा लोक-निर्माण। यही दो लक्ष्य भारतीय सस्कृति के दो अविछिन्न अङ्ग रहे है। गुण, कर्म, स्वभाव की दृष्टि से इस देश के निवासी इस बात के लिए निरन्तर प्रयत्नशील रहे कि उनका व्यक्तित्व सद्भावनाओ और सत्प्रवृत्तियो से परिपूर्ण हो। उसे आदर्श समझा जाय और अनुकरणीय माना जाय। जहाँ तक परिचय क्षेत्र है वहाँ तक व्यक्ति की सुगन्ध भरी सुषमा फैले और उसके आलोक से आलोकित लोग स्वय भी अनुगमन करते हुए नर रत्न बनने की भूमिका निवाहें। यही थी उन दिनों व्यक्तिगत जीवन की आध्यात्मिक महत्त्वाकाक्षा। भौतिक दृष्टि से हर व्यक्ति समुन्नत, सुव्यवस्थित और साधन सम्पन्न जीवन जीता था। क्योंकि वस्तुओं के उपार्जन की ही नहीं उसके सदुपयोग की कला भी उसे आती थी, जो यह जानता है कि उपलब्ध साधन सामग्री का श्रेष्ठतम, उपयोग क्या और कैसे हो सकता है, उसे स्वल्प साधनों में भी समृद्धि का परिपूर्ण आनन्द सहज ही मिल जाता है। यही था उस समय का आत्म निर्माण लक्ष्य—जिसे पूरा करने में हर व्यक्ति एक दूसरे से आगे बढ़ने की प्रतिस्पर्धा लगाये रहता था। उत्कृष्ट चिन्तन और आदर्श कर्तृत्व हर किसी के लिए प्रगति का मापदण्ड बना हुआ था।

भारतीय जीवन का दूसरा लक्ष्य था—लोक निर्माण। वह मनुष्य क्या जो अपनी उपलब्धियों से केवल अपने शरीर और परिवार को ही लाभान्वित करे। पीड़ा और पतन के गर्त में गिरे हुए—पिछड़े हुए और असमर्थ लोग जिससे कुछ भी प्रकाश एवं सहयोग प्राप्त न कर सकें। उन दिनों यही लोक मान्यता थी, कि हर समुन्नत व्यक्ति को अपनी सम्पत्ति एवं विभूतियों का एक बड़ा भाग समाज की उन्नति में—सुख-शान्ति की अभिवृद्धि मे लगाना चाहिए। आत्मोत्कर्ष की तरह लोक-कल्याण भी मनुष्य का लक्ष्य होना चाहिए। प्राचीन काल में प्रत्येक भारतवासी की वैसी मान्यता, निष्ठा और रीति-नीति थी।

हर भारतवासी को द्विज बनना पड़ता है, उसका दूसरा जन्म होता था। उसका प्रतीक था—यज्ञोपवीत सस्कार। वासना और तृष्णा के लिए जिये जाने वाले हेय पशु जीवन को उत्कृष्ट आदर्शवादिता के लिए समर्पित देव जीवन मे बदल डालने का नाम ही दूसरा जन्म है—द्विजत्व की धारणा है—जो इस मानवोचित साहस से पिछड़ते थे वे हेय समझे जाते थे—उन्हे पतित, अपंग, चाण्डाल आदि नामो से सम्बोधन करते थे। ऐसे लोगो के लिए सामाजिक असहयोग ही प्रचण्ड दण्ड था।

धर्म और अध्यात्म का सुविस्तृत दर्शन शास्त्र इसी भावनात्मक उत्कृष्टता को अक्षुण्ण बनाये रखने का उद्देश्य सामने रखकर दूरदर्शी ऋषि मनीषियो ने सृजा था। उपासना, ईश्वर-भक्ति, योगाभ्यास, तप-साधना, तीर्थयात्रा, कथा-कीर्तन, देव-दर्शन, दान-पुण्य, व्रत अनुष्ठान, षोडस सस्कार, पर्व, आयोजन आदि धर्म

कृत्यों के साधन विधान इसी मनोवैज्ञानिक तथ्य को ध्यान में रखकर विनिर्मित किये गये थे। इन क्रिया कृत्यों के साथ जुड़े हुए प्रेरणा प्रकाश से जन मानस को आलोकित करते हुए उस उच्चस्तरीय चिन्तन एवं कर्तृत्व को निरत रखा जा सकेगा। संक्षेप में भारतीय धर्म, संस्कृति और सभ्यता का आधार मूल उद्देश्य एक ही था कि व्यक्ति को नर-पशु से ऊँचा उठाकर नर नारायण के रूप में विकसित करने के लिए अगणित स्तर के प्रेरणा प्रयोजन खड़े किये जाँय और सुसंस्कृत जीवन जीने को गरिमा के प्रति आस्थावान बनाया जाय।

इस दार्शनिक आधार को जीवन्त और ज्वलन्त रखने के लिए इस देश में साधु संस्था की एक विशालकाय सेना निरन्तर भावनात्मक उत्कृष्टता को सुदृढ़ सुरक्षा में साहसपूर्वक कटिबद्ध रहती थी। गृहस्थ रहकर सीमित क्षेत्र मे पौरोहित्य की शिक्षा व्यवस्था की क्रिया-पद्धति अपनाने वालों को ब्राह्मण कहा जाता था। जिन्हें परिव्राजक रहकर सुदूर क्षेत्रों में—ज्ञान-विज्ञान का आलोक फैलाना था, वे विवाह नहीं करते थे और साधु कहलाते थे। वस्तुतः दोनों परस्पर पूरक थे। दोनों का लक्ष्य एक था। साधु संस्था के यह दोनों सदस्य अनवरत् रूप से जन-मानस को अधिकाधिक उच्चस्तर तक विकसित करने के लिए भागीरथ प्रयत्न करते थे। अपना उदाहरण प्रस्तुत करके लोगों में अनुगमन का उत्साह एव साहस पैदा करते थे। इस पुण्य प्रयास ने भारतीय जनता की उस आन्तरिक उत्कृष्टता को अक्षुण्ण बनाये रखा, जिसके आधार पर अपनी भौगोलिक सीमाओं को समस्त संसार के लिए आकर्षण की वस्तु बनाया और स्थिति को इतना ऊँचा उठाया कि विश्व मगल के लिए बढ़े-चढ़े अनुदान प्रस्तुत कर सकना सम्भव रह सके।

मनःस्थिति से परिस्थिति का निर्माण होता है यह एक सुनिश्चित तथ्य है। प्राचीन भारत की गौरव-गरिमा का—उसकी समृद्धि, प्रगति और विभूति का—कारण एव आधार तलाश करना हो तो गहन विश्लेषण करने पर हमें इसी निष्कर्ष पर पहुँचना पड़ेगा कि इस देशवासियों की मनःस्थिति को उच्चस्तरीय बनाने के लिए—बनाये रखने के लिए भागीरथ प्रयत्न किये गये थे। इसी के लिए उपयुक्त वातावरण विनिर्मित किया गया था। इसी स्थूलता की प्रतिक्रिया को विशाल [illegible] गरिमा का एकमात्र आधार कह सकते हैं।

भौतिक साधनों की दृष्टि से हम पूर्वजों की तुलना में पीछे नहीं आगे हैं। वैज्ञानिक प्रगति ने हमें अनेकानेक सुविधा साधन प्रदान किये हैं। ऐसी दशा मे अपना स्तर हर क्षेत्र में अधिक समुन्नत होना चाहिए था पर हुआ ठीक उलटा। जिस क्रम मे साधन बढ़े उसी क्रम से हम हर क्षेत्र मे पिछड़ते चले गये। इसका एकमात्र कारण यही है कि हमने अपनी आन्तरिक, आत्मिक विशेषताओं को खो दिया—दृष्टिकोण संकुचित बना लिया और आदर्शवादी चरित्र-निष्ठा की उपेक्षा करनी आरम्भ कर दी। यह एक सुनिश्चित तथ्य है कि मनुष्य की भौतिक प्रगति का मूलभूत आधार उसकी आन्तरिक स्थिति होती है। आत्मिक विशेषताओं के आधार पर ही चिरस्थायी समृद्धि प्राप्त होती है। दुष्ट साधनों से—निष्कृष्ट दृष्टिकोण से—जो समृद्धि कमाई जाती है, वह न तो स्थिर रहती है और न उससे सुख-शान्ति का आधार विनिर्मित होता है। ओछे मनुष्यों की सम्पदाएँ, सफलताएँ व्यक्ति और समाज के लिए विविध-विधि सकट ही उत्पन्न करती है।

यदि हमे यह अनुभव होता है कि प्राचीन गरिमा को खोकर हमने भूल की—यदि हमे यह लगता है कि हमारी प्रतिष्ठा प्राचीन काल जैसी गौरवमयी होनी चाहिए तो उसका एक ही मार्ग है—हम अपने पूर्वजों जैसा उदात्त दृष्टिकोण अपनायें और गतिविधियों में ऐसे तथ्यों का समावेश करे, जो व्यक्ति को आत्मिक ही नहीं भौतिक दृष्टि से भी सुसम्पन्न बनाये है। इसी मार्ग पर चलने से व्यक्तिगत एव देशगत ही नहीं, समस्त विश्व का सर्वतोमुखी कल्याण भी सम्भव हो सकता है।

सांस्कृतिक निष्ठा की आवश्यकता

आचार और विचार का आपस मे अत्यन्त ही घनिष्ठ सम्बन्ध है। जो व्यक्ति जिस परिस्थिति मे, वातावरण मे, कार्यक्रम मे, अपना अधिक समय बिताता है, उसके विचार और मनोभाव उसी ढाँचे में ढल जाते है। संस्कृतियों का यही रहस्य है। जिस संस्कृति के

भाषा वेष, भाव, रहन-सहन, रीति-रिवाज, आचार व्यवहार को हम अपनाते है, विचारधारा भी निश्चित रूप मे उसी प्रकार की बनती जाती है। अंग्रेजियत की नींव बहुत गहरी पहुँचा दी जाय इस आकांक्षा से प्रेरित अंग्रेजो ने सबसे अधिक जोर इस बात पर दिया कि अंग्रेजो की संस्कृति को भारतीय अपना लें। उन्होने सरकारी नौकरियों में, स्कूलों में इस बात का पूरा-पूरा प्रयत्न किया कि लोगो का रहन-सहन, खान-पान, आचार-विचार, भाषा भेष, अंग्रेजों जैसा ही बने। वे इस दिशा में डेढ़ दो-सौ वर्षों में जितने सफल हुए, उतनी ही उनकी नींव गहरी हो गई। आज अंग्रेजी हुकूमत भले ही चली गई हो, पर उनकी संस्कृति दिन दूनी रात चौगुनी फल फूल रही है। राजनैतिक दृष्टि से हम स्वतन्त्र हो गये पर सांस्कृतिक दृष्टि से गुलामी के बन्धनों मे हम तेजी से बँधते जा रहे हैं। अमेरिका जितना खर्च ईसाई संस्कृति के प्रचार मे अंग्रेजो के जमाने मे करता था अब उससे छै गुना अधिक खर्च कर रहा है। कारण यह है कि समान संस्कृति के लोग आपस में मानसिक दृष्टि से अधिक संबद्ध हो जाते है चाहे वे राजनैतिक या भौगोलिक दृष्टि से दूर ही क्यो न हों।

मुसलमानी हुकूमत के जमाने में भी यही सब होता रहा। लोगो को नृशंस यातनाएँ और भारी प्रलोभन भरी सुविधाएँ केवल इसी दृष्टि से दी जाती रही कि वे भय या लोभ से प्रेरित होकर मुसलमानी संस्कृति अपनालें। उनका विचार ठीक ही था वस्तुतः ऐसा ही सिद्ध भी हुआ। जिन लोगों ने हिन्दू धर्म छोड़ा और इस्लाम स्वीकार किया, उन्होने भारतीयता भी छोड़ दी और मध्य पूर्व को—मक्का मदीना को अपना उद्‌गम केन्द्र मान लिया। भारतीय मुसलमानों द्वारा परिस्थान प्राप्त करने के लिए क्या-क्या किया गया ? और अब वे अपने लाखों वर्षों के रक्त सम्बन्धी, हिन्दुओं के प्रति कैसे मनोभाव रखते हैं और मुसलमानी राष्ट्र जिनसे उनके रक्त का कोई सम्बन्ध नहीं—किस प्रकार का सम्बन्ध रख रहे हैं, इस तथ्य को हर कोई आँखों वाला देख-समझ सकता है।

कुछ ही दिन पूर्व दिल्ली में एक पादरी ने ईसाई धर्म छोड़कर हिन्दू धर्म में प्रवेश किया था। वह सज्जन जन्मतः भारतीय है, पर बहुत लम्बे समय से ईसाई धर्म का प्रचार कर रहे थे। उन्होंने इस धर्म परिवर्तन का कारण बताते हुए एक बड़े ही महत्त्व की बात कही, जो हम सब को बहुत गम्भीरता से समझ लेने की है—उन्होने कहा—"मैंने अपने लम्बे अनुभव-काल मे यह भली प्रकार देख लिया कि ईसाई होने के बाद मनुष्य की मनोभावना किसी अन्य देश के साथ जुड़ जाती है और वह उसी रंग में रंग जाता है।" वस्तुतः किसी भी राष्ट्र की राष्ट्रीयता उसकी प्राचीन संस्कृति के साथ जुड़ी रहती है। लगभग एक हजार वर्षो के विदेशी आक्रमणों के बाद भी भारत-भारत ही बना रहा इसका कारण यहाँ के लोगों की गहरी सांस्कृतिक निष्ठा ही थी। इतिहास साक्षी है कि जिन देशो की अपनी कोई सुव्यवस्थित संस्कृति नही थी वे बड़ी आसानी से दूसरी संगठित संस्कृतियो से प्रभावित होकर उसी धर्म मे दीक्षित हो गये। मुसलमान और ईसाई धर्मों का जन्म हुए डेढ़-दो हजार वर्ष भी नहीं हुए हैं कि इन दो धर्मों में संसार की तीन चौथाई जनता दीक्षित हो गई। राजनैतिक और आर्थिक सहयोग में भी यह सांस्कृतिक एकता कितना भारी काम करती है, इसे विश्व की वर्तमान गति-विधियो से परिचित व्यक्ति भली प्रकार जानते हैं। राजनैतिक उपनवेश बाद अस्थायी वस्तु है, उसे जागृत-जनता उखाड़ फैकती है, पर सांस्कृतिक-साम्राज्य ऐसा जहर होता है कि उसके बन्धनों में लोग जान-बूझ-कर, हँसते-हँसते बँधते हैं, उस बन्धन में कुछ अच्छाई अनुभव करते हैं और उससे छूटने की अपेक्षा, अपने प्रभाव के और लोगों को भी उसमें शामिल करने का प्रयत्न करते हैं। सांस्कृतिक साम्राज्य की यही विशेषता है। यह साम्राज्यवाद-उपनिवेशवाद अनौखे ढंग का है। राजनैतिक साम्राज्य से इसका महत्त्व असंख्य गुना अधिक है। ईसाई देश पहले बाइविल लेकर किसी देश में घुसते है पीछे बन्दूकें भी वहाँ पहुँच जाती है। कम्युनिष्टों का बौद्धिक साम्राज्य भी पहले विचारों के पुस्तकों के रूप में ही प्रवेश करता है, पीछे वह एक राजनैतिक शक्ति बन जाता है।

भारतीय संस्कृति की रक्षा इस दृष्टि से भी आवश्यक है कि हमारी जातीयता और राष्ट्रीयता इतनी सबल बनी रहे कि हम दूसरे बौद्धिक साम्राज्य में जकड़े जाकर अपने आपको पाकिस्तान आदि के लोगो की भाँति किन्ही अन्य जातियों या राष्ट्रों के प्रति आत्म समर्पण न कर दें। प्राचीन काल मे भारतीयो का विश्व पर जो चक्रवर्ती राज्य था वह सांस्कृतिक साम्राज्य ही था। सुदूर देशों मे हमारी संस्कृति के चिन्ह जहाँ-तहाँ अब भी उपलब्ध हो सकते हैं। जावा, सुमात्रा चीन, जापान आदि के पुरातत्व विभागों की साक्षी यह बताती है कि यहाँ किसी समय भारतीयता की पूर्ण प्रतिष्ठा रही है। अन्य धर्म वाले आज राजनैतिक और आर्थिक स्वार्थों से प्रेरित होकर अपनी संस्कृतियों का विश्व भर में भारी प्रचार करने का प्रयत्न कर रहे हैं, पर हमारे पूर्वजों का ऐसा कोई स्वार्थ न था। वे मनुष्यों को सच्चा मनुष्य बनाने—उसे अनेक दोष दुर्गुणों से उत्पन्न होने वाले नारकीय जीवन से बचाकर, सच्चे शास्त्र का पथ-प्रदर्शन करने की पुनीत भावना से प्रेरित होकर ही अपनी देवी संस्कृति का प्रचार करते थे। उनके पुनीत उद्देश्यों से परिचित विश्व उन्हे जगद्गुरु मानता था।

आज हमारी सस्कृति का भारी ह्रास हो रहा है। विदेशों में जो इस सस्कृति की मान्यता रखने वाले थे, उनकी संख्या दिन-दिन घटती जा रही है। अपने घर मे भी उसका भारी तिरस्कार है। आज का नवयुवक भारतीय आचार-विचार, भाषा-भेष, रहन-सहन, रीति-रिवाज नापसन्द करता है, उसे अंग्रेजी ढंग पसन्द है। वह उन्हे दिन-दिन अधिक प्रसन्नतापूर्वक अपनाता जाता है। भारतीय संस्कृति का परिवर्तन अंग्रेजी संस्कृति के रूप में तेजी से होता चला जा रहा है। यदि यह गतिविधि इसी क्रम से चलती रही तो कुछ ही शताब्दी में हमारा मानसिक और सामाजिक ढांचा दूसरी ही प्रकार का बन जावेगा, साथ ही देवी संस्कृति का वह दीपक जो ससार को शान्तिमय प्रकाश की ओर ले जा सकने मे समर्थ है भी अस्त हो जायेगा। फिर हमारी करोड़ो वर्ष की चली आ रही महान् परम्पराएँ किसी रूप मे जीवित भी रहेगी या नहीं, इसे कौन कह सकता है ? आज भी पढ़े-लिखे लोगो में से चोटी, जनेऊ गायब होता चला जा रहा है, धोती-कुर्ते की दुर्गति है, पूजा-अर्चना ढोंग मात्र समझे जाने लगे है, रीति-रिवाजो मे, कानूनो मे पाश्चात्य पद्धति का तेजी से समावेश हो रहा है। कुछ ही दिन में इनका क्या रूप बन जायेगा, यह कल्पना आज कष्टकर प्रतीत होती है।

जिनके मन में भारतीयता के प्रति आदर है, वे निश्चय ही यह पसन्द नहीं करेंगे कि भारतीय संस्कृति इस प्रकार आत्मघात करती हुई विश्व के पर्दे पर से अपना अस्तित्व समेटने में लग जावे। हम में से हर विचारशील व्यक्ति यह अनुभव करेगा कि भारत को राजनैतिक, सामाजिक, आर्थिक और नैतिक दृष्टि से एक सुदृढ़ राष्ट्र बनाने के लिए भारतीय संस्कृति की जड़े मजबूत की जानी चाहिये। यह तो एक छोटी बात रही सच्ची बात यह है कि विश्व में दबी सम्पत्ति की, मानवता की, सत्य-प्रेम और न्याय की रक्षा के लिए इस दिव्य संस्कृति को जीवित रखना ही नही वरन् सुविकसित करना भी आवश्यक है।

हमारी यह-विश्व की सर्वश्रेष्ठ संस्कृति इस दुर्दशा को क्यो पहुँची ? इसके कारणो पर विचार करते हुए हमें दो ही कारण दृष्टिगोचर होते है—

(१) भारतीय संस्कृति की रूपरेखा वर्तमान समय मे विकृत हो रही है। जिस रूप मे आज वह है वह तर्क बुद्धि और उपयोगिता की दृष्टि से अनुपयोगी प्रतीत होती है। इसलिए लोग उसे रूढ़िवाद, अन्ध-विश्वास, ढोंग, अविवेकपूर्ण समय से पीछे की चीज साम्प्रदायिकता आदि उपेक्षित वस्तु मान लेते है।

(२) भारतीय संस्कृति का जो मूलभूत दार्शनिक रूप है। जिसके आधार पर समय-समय पर अनेक रीति-रिवाजों का परिवर्तन, परिवर्धन होता रहता। उन आधार मूल तथ्यो की जानकारी लोगों को नही रही। फलस्वरूप लोग यह समझने मे समर्थ नही रहे कि यह मनुष्य जाति के लिए कितनी कल्याणमयी महान् उपयोगिता है।

भारतीय तत्व ज्ञान की वास्तविक आधारशिला का मूल रूप यदि साधारण जनता की समझ मे आ जाय तो निश्चय ही हर बुद्धिमान आदमी यह अनुभव कर सकता कि यह तत्व ज्ञान आधुनिक सभी तत्व ज्ञानो से ऊँचा है। कम्युनिज्म आदि जो दर्शन अपने आपको वर्तमान समय के लिए सर्वोपयोगी एवं व्यवहारिक सिद्ध करते है, उनसे भारतीय तत्वज्ञान किसी भी प्रकार पीछे नही है, हमारी प्राचीन विचारधाराएँ और परम्पराएँ यदि ठीक रूप से समझी

जायें तो वे मनुष्य की समस्त समस्याओं को सुलझाने मे अधिक आधुनिक और अधिक व्यवहारिक रूप से समर्थ हो सकते है। हमारा दर्शन, पूर्ण रूप से मनोविज्ञान, पदार्थ विज्ञान, तर्क, प्रमाण, अनुभव आदि के ठोस आधारो पर आधारित है। इसी प्रकार रीति-रिवाजो, त्यौहारो, व्रत, उत्सवो, संस्कार, भाषा-भेष, भाव, आचार, व्यवहार आदि का महत्त्व समझ मे आ जावे और समय के कुप्रभाव से आई विकृतियो का संशोधन तथा समय की प्रगति की पूर्ति के लिए आवश्यक परिवर्तन कर दिया जाय तो हमारी सांस्कृतिक महानता और उपयोगिता हर किसी की समझ मे आ सकती है। तब उसकी उपेक्षा, अवहेलना और निन्दा करना उचित प्रतीत न होगा।

सांस्कृतिक पुनरुत्थान के लिए हमे सबसे बड़ा और सबसे आरम्भिक कार्य यह करना है कि उसके विशुद्ध रूप को—जो आज तमसाच्छन्न हो रहा है—लोगो के सम्मुख परिष्कृत रूप मे उपस्थित करे और यह बतावें कि इस महानता को अपनाना हमारे लिए सभी दृष्टियों से कितना अधिक लाभदायक हो सकता है? संस्कृति सेवा का पुनरुत्थान का सर्वप्रथम कार्य यही हो सकता है कि हम जनता के सामने, सर्व साधारण के सामने अपना दर्शन शास्त्र, तत्व ज्ञान तथा आचार-विचार का व्यवहारिक रूप उपस्थित करे, जिससे उसकी उपेक्षा करने वालो को पुनःविचार करने का और थोड़ी आस्था रखने वालो को प्रोत्साहन का अवसर मिले। आइये हम लोग बडे पैमाने पर सुसंगठित रूप से इस निर्माण कार्य मे संलग्न हो।

हम अपनी उसी संस्कृति को वापस लावें

जब भारतीय संस्कृति का लोग महत्व समझते थे, उस पर विश्वास करते थे, उसको आचरण मे लाते हुए अपना गौरव समझते थे, तब इस देश मे घर-घर महापुरुष उत्पन्न होते थे। भौतिक समृद्धि और सामाजिक सुख-शान्ति की कमी न थी। इस संस्कृति के ढाँचे मे ढले हुए नररत्न अपने प्रकाश से समस्त संसार मे प्रकाश उत्पन्न करते थे और उसी आकर्षण के कारण विश्व की जनता उन्हे जगद्गुरु, चक्रवर्ती शासक तथा भू-सुर—पृथ्वी के देवता मानती थी। यह देश, स्वर्ग की अपेक्षा भी श्रेष्ठ समझा जाता था। अतीत का इतिहास, इस तथ्य का मुक्त कंठ से उद्घोष कर रहा है।

भारतीय संस्कृति के प्रभाव से प्रभावित प्रत्येक परिवार मे स्वर्गीय शान्ति एवं सद्भावनाओं का निवास रहता था। पिता और पुत्र के बीच कैसे सम्बन्ध थे, इसका उदाहरण देखना हो तो विमाता की आज्ञा से १४ वर्ष के लिए बनवास जाने वाले राम, अन्धे माता पिता को कन्धे पर काँवर में बिठाकर तीर्थ यात्रा कराने वाले श्रवण कुमार, पिता के दान करने पर यमपुर खुशी-खुशी प्रस्थान करने वाले नचिकेता, पिता को संतुष्ट करने के लिए आजीवन ब्रह्मचर्य का व्रत लेने वाले भीष्म का, चरित्र पढ़ लेना चाहिए। भाई का भाई के प्रति क्या कर्त्तव्य है, इसकी झाँकी राम, लक्ष्मण और भरत का चरित्र पढ लेने से सहज ही हो जाती है। कौरवो को जब यक्षो ने बन्दी बना लिया तो युधिष्ठर ने भ्रातृ प्रेम के वशीभूत होकर उन्हे छुड़वाया। पुष्कर के दुर्व्यवहार को भुलाकर नल ने अपने भाई को क्षमा ही कर दिया। ऐसे भ्रातृ-प्रेम के उदाहरण पग-पग पर मिलेगे। सच्चे मित्र कैसे होते है, यह कृष्ण ने सुदामा और अर्जुन के साथ अपना कर्त्तव्य पालन करके दिखाया था।

पति-पत्नी के बीच कैसे सम्बन्ध होने चाहिए इसके उदाहरण पत्नीव्रती पुरुष और पतिव्रता नारियों के पग-पग पर उपस्थिति किये है। सीता, सावित्री, शैव्या, दमयन्ती, गान्धारी, अनुसुइया, सुकन्या आदि की कथाएँ घर-घर गाई जाती है। पर स्त्री को माता एवं पुत्री समझने वाले भी सभी कोई थे। शिवाजी द्वारा यवन कन्या को सुरक्षित रूप से सम्मानपूर्वक राजमहल मे पहुँचा देना, अर्जुन का उर्वशी को लौटा देना, कच का रूप गर्विता देवयानी का प्रस्ताव अस्वीकार करना, सूर्पणखा का लक्ष्मण द्वारा उपहास करना जैसे प्रसंगो की कमी नही है। भीष्म, हनुमान जैसे अखण्ड ब्रह्मचारी प्रचुर संख्या में परिलक्षित होते थे।

अतिथि-सत्कार के लिए मोरध्वज का अपना पुत्र दे देना, भूखे बहेलिये के लिये कबूतर-कबूतरी का अपना शरीर दे देना, दुर्भिक्ष पीड़ित समय में अनेक दिनों से भूखे ब्राह्मण परिवार का अपनी थाली की

रोटियाँ चाण्डाल को दे देना आदि अनेकों वृत्तान्त महाभारत में देखे जा सकते हैं। शरणागत कबूतर की रक्षा के लिये राजा शिवि ने अपना माँस काट-काट कर दे दिया था। कुन्ती ने ब्राह्मण कुमार के बदले अपने पुत्र भीम को राक्षस का आहार बनने के लिये भेजा था।

अपने स्वार्थ, सुख-साधन, धन सम्पदा संग्रह ऐश आराम को लात मारकर अपनी आत्मा का कल्याण करने के निमित्त लोक सेवा और परमार्थ का जीवन व्यतीत करने में यहाँ के लोग अपने जीवन की सफलता मानते रहे है। गौतम बुद्ध अपने राजपाट और सुख सौभाग्य को छोड़कर हिंसा और अज्ञान में डूबे हुए संसार को दया और आत्मज्ञान की शिक्षा देने के लिए निकल पड़े। महावीर ने लालची और विषयासक्ति दुनियों को त्याग और संयम का पाठ पढ़ाने के लिए अपना जीवन उत्सर्ग किया। भागीरथ ने राज सुख को छोड़कर दीर्घकाल तक कठोर तप किया और प्यासी पृथ्वी को तृप्त करने के लिए तरण-तारिणी गंगा का अवतरण कराने का महान् कार्य सम्पादन किया। नारदजी कुछ घड़ी भी एक स्थान पर न ठहर कर आत्मज्ञान का प्रसार करने के लिए हर घड़ी पर्यटन करते रहते थे। व्यास जी ने संसार को धर्म-ज्ञान देने के लिए अष्टादश पुराणों की रचना की। आदि कवि वाल्मीकि ने रामायण की रचना करके मानव जाति को कर्त्तव्यपथ पर चलने के लिए अग्रसर किया। चरक, सुश्रुत, वाण भट्ट, धन्वन्तरि, प्रभृत ऋषियों ने जीवन भर जड़ी-बूटियो, धातुओं, विषों आदि का अन्वेषण करके रोगग्रस्त पीड़ितों का त्राण करने के लिये सर्वांगपूर्ण चिकित्साशास्त्र का आविर्भाव किया। ज्योतिष विद्या की महान् खोज, आकाशस्थ ग्रह नक्षत्रो की गति- विधियों और उनकी मनुष्य जाति पर जो प्रभाव पडता है, उसकी खोज करने वाले वे ऋषि ही थे। सूर्य सिद्धान्त, मकरन्द, ग्रहलाघव आदि को देखने से आश्चर्य होता है कि उस समय विना वैज्ञानिक यन्त्रो के इस प्रकार की शोध करके ससार को महान् ज्ञान देने के लिए उन्हे कितना श्रम करना पड़ा होगा?

सदा अपने को तप से तृप्त करके अपनी महान सेवाएँ विश्व मानव के उत्कर्ष में लगाने वाले ऋषियों की जीवनियाँ पढ़ने पर मनुष्य की अन्तरात्मा उनके चरणों पर लोट जाने को करती है। विश्वामित्र, वशिष्ठ, जमदग्नि, कश्यप, भारद्वाज, कपिल, कणाद, गौतम, जैमिनी, पराशर, याज्ञवल्क्य, शंङ्ख, कात्यायन, गोभिल, पिप्लाद, शुकदेव, श्रृंगी लोमश धौम्य, जयकारु, वैशम्पायन आदि ऋषियों ने अपने को तिल-तिल जलाकर संसार के लिये वह प्रकाश उत्पन्न किया जिसकी आभा अभी तक बुझ नहीं सकी है। सूत और शौनक निरन्तर प्राचीन काल के महापुरुषो की गाथाएँ, विरुदावलियाँ धर्मचर्चाएँ सुना-सुना कर मानव जाति की सुप्त अन्तरात्माओं को जगाया करते थे। दधीचि ने असुरत्व से देवत्व की रक्षा के लिए अपनी हड्डियाँ ही दान कर दीं। धर्म की मर्यादा की रक्षा के लिये वन्दा वैरागी खौलते तेल के कढ़ाह मे प्रसन्नतापूर्वक कूद पड़ा। हकीकतराय के कत्ल, गुरु-बालको के जीवित दीवारो मे चुने जाने की कथाएँ आज भी धर्म कर्त्तव्य की उपेक्षा करके धन सग्रह और इन्द्रिय भोगो मे लगे हुए लोगो पर लानत देती हुई आकाश मे बिहार कर रही हैं।

आज अधिकांश पण्डित, पुरोहित, साधु, ब्राह्मण आदि ससार को मिथ्या वताते हुए मुफ्त का माल चरते रहते है और आलस्य प्रमाद से चित्त हटाकर संसार का बौद्धिक स्तर ऊँचा उठाने के लिए कुछ भी श्रम नहीं करते, पर भारतीय संस्कृति की परम्परा इसके सर्वथा भिन्न रही है। साधुता और ब्राह्मणत्व का आदर्श दूसरा ही है। शंकराचार्य, कुमारिल भट्ट, सिख धर्म के दस गुरु, दयानन्द, ज्ञानेश्वर, तुकाराम, रामदास, चैतन्य, कबीर, विवेकानन्द, रामतीर्थ आदि असख्यों धर्मगुरु लोक हित के लिये जीवन भर घोर परिश्रम—प्रयत्न और परिभ्रमण करते रहे। उन्होने लोक सेवा को एकान्त मुक्ति से अधिक महत्त्व दिया। भगवान बुद्ध जब अपनी जीवन-लीला समाप्त करने लगे तो उनके शिष्यो ने पूछा—"आप तो अब मुक्ति के लिये प्रयाण कर रहे हैं।" बुद्ध ने उत्तर दिया—"जब तक ससार मे एक भी प्राणी बन्धन मे बंधा हुआ है, तब तक मुझे मुक्ति की कोई कामना नही है। मै मानवता का उत्कर्ष करने के लिए बार-बार जन्म लेता और मरता रहूँगा।' स्वामी दयानन्द सरस्वती भी योग-साधना करने

जाये तो वे मनुष्य की समस्त समस्याओ को सुलझाने म अधिक आधुनिक और अधिक व्यवहारिक रूप से समर्थ हो सकते है। हमारा दर्शन, पूर्ण रूप से मनोविज्ञान, पदार्थ विज्ञान, तर्क, प्रमाण, अनुभव आदि के ठोस आधारो पर आधारित है। इसी प्रकार रीति-रिवाजो, त्यौहारो, व्रत, उत्सवो, संस्कार, भाषा-भेष, भाव, आचार, व्यवहार आदि का महत्त्व समझ मे आ जावे और समय के कुप्रभाव से आई विकृतियों का संशोधन तथा समय की प्रगति की पूर्ति के लिए आवश्यक परिवर्तन कर दिया जाय तो हमारी सांस्कृतिक महानता और उपयोगिता हर किसी की समझ मे आ सकती ह। तब उसकी उपेक्षा, अवहेलना और निन्दा करना उचित प्रतीत न होगा।

सांस्कृतिक पुनरुत्थान के लिए हमे सबसे बड़ा और सबसे आरम्भिक कार्य यह करना है कि उसके विशुद्ध रूप को—जो आज तमसाच्छन्न हो रहा है—लोगो के सन्मुख परिष्कृत रूप मे उपस्थित क[illegible] और यह बतावे कि इस महानता को अपनाना हमा[illegible] लिए सभी दृष्टियों से कितना अधिक लाभदायक [illegible] सकता है? संस्कृति सेवा का पुनरुत्थान का सर्वप्र[illegible] कार्य यही हो सकता है कि हम जनता के सामने, [illegible] साधारण के सामने अपना दर्शन शास्त्र, तत्व ज्ञान [illegible] आचार-विचार का व्यवहारिक रूप उपस्थित [illegible] जिससे उसकी उपेक्षा करने वालो को पुनःविचार [illegible] का और थोड़ी आस्था रखने वालों को प्रोत्साह[illegible] अवसर मिले। आइये हम लोग बड़े पैमाने सुसंगठित रूप से इस निर्माण कार्य मे संलग्न

हम अपनी उसी संस्कृति को वा[illegible] लावें

जब भारतीय संस्कृति का लोग महत्त्व [illegible] थे, उस पर विश्वास करते थे, उसको आचरण [illegible] हुए अपना गौरव समझते थे, तब इस देश [illegible] महापुरुष उत्पन्न होते थे। भौतिक सा[illegible] सामाजिक सुख-शान्ति की कमी न थी। [illegible] के ढाँचे मे ढले हुए नररत्न अपने प्रका[illegible] संसार में प्रकाश उत्पन्न करते थे और [illegible] के कारण विश्व की जनता उन्हे जगद[illegible] [illegible] एवं भू-सुर—पृथ्वी के देवता म[illegible]

करते थे। जमुनालाल बजाज ने अपने को गाँधी जी का पाँचवाँ दत्तक पुत्र घोषित करके अपनी सारी सम्पत्ति महात्मागाँधी के चरणों में अर्पित कर दी थी।

ईश्वर चन्द्र विद्यासागर, राजा राममोहन राय, गोपाल कृष्ण गोखले, महादेव गोविन्द राणाडे, गणेश शकर विद्यार्थी, श्रद्धानन्द, सर्वदानन्द, दर्शनानन्द, लेखराम, हैडगेवार आदि का जीवन जिस प्रकार से व्यतीत हुआ है, उसमें भारतीय संस्कृति की झांकी देखी जा सकती है। भूषण, गंगा और चन्दवरदाई आदि ने चारणों मे अपनी ओजस्वी वाणी और कविता से अनेकों निष्प्राणों को प्राणवान बनाया। गंगा इसी अपराध में हाथी के पैर के नीचे कुचलवाये गये, चन्दवरदाई ने गजनी में जो कष्ट सहा, वह किसी से छिपा नही है। सन् ५७ से लेकर स्वाधीनता के हिंसात्मक संग्राम के क्रान्तिकारी वीर सैनिक और सन् २१ से लेकर सन् ४७ तक की अहिंसात्मक राज्यक्रान्ति मे अगणित व्यक्तियों ने जो त्याग किये हैं, उनकी गाथाएँ पढ़ते-सुनते हुए भुजायें फड़कने लगती हैं। पाकिस्तानी बर्बरता के सामने सिर न झुकाकर अपने धर्म को अक्षुण्ण रखने के लिये पंजाब और बंगाल लाखों स्त्री-पुरुषों ने जो त्याग किये हैं उनका स्मरण करके चित्तौड़ की रानियों के जौहर और गुरु गोविन्द सिंह के कुछ पुत्रों की स्मृति ताजी हो जाती है।

आस्तिकता की प्रतिष्ठापना के लिये घोर तप करने वाले लोगों की संख्या कम नही है। ध्रुव, प्रहलाद, सरीखे भक्त प्राचीन काल में हुए हैं और मध्यकाल में सूर, तुलसी, रामकृष्ण परमहंस, रैदास, कबीर, दादू, रामानन्द, रामानुज, षटकोपाचार्य, तिरुवल्लुवर जैसे सन्तों की सख्या बहुत बड़ी है। अनीति के निवारण के लिये त्रेता में ऋषियों ने अपना खून निकालकर एक घड़ा भरा था और वह रक्त घट अन्त मे राक्षसों के विध्वस करने के निमित्त सीता-जन्म का हेतु बना था। इसी मार्ग पर यह आस्तिक सन्त अपनी साधना, भक्ति, ज्ञान, दीक्षा आदि के द्वारा अनीति निवारण और धर्म विस्तार का कार्य करते रहे हैं।

विश्व मानव की सेवा के लिए भारतीय स्त्रियाँ भी पुरुषों से पीछे नहीं रही है। उनका कार्य-क्षेत्र पुरुषों के समान विस्तृत क्षेत्र में न रह कर सीमित क्षेत्र में रहा है इसलिए उन्हें यश उतना ही नही मिला है। केवल कुछ पतिव्रता स्त्रियों के कौतूहलपूर्ण चरित्रों का ही ग्रन्थों में विस्तृत वर्णन आया है पर सच बात यह है कि भारतीय नारी ने प्रत्येक क्षेत्र में पुरुषों से अधिक कार्य किया है। उन्हीं की प्रेरणा और छत्रछाया में समर्थ होकर पुरुष जाति कुछ कर सकने में सफल हो सकी। इसीलिये उनका नाम पुरुषों से पहले लिया जाता रहा है। सीताराम, राधेश्याम, गौरीशंकर, लक्ष्मी नारायण, उमामहेश, मायाब्रह्म, सावित्री सत्यवान आदि नामों में पहला-नाम नारी का और दूसरा नर का है। कोई क्षेत्र ऐसा नहीं रहा है, जिनमें भारतीय नारी ने महत्वपूर्ण भूमिका सम्पादन न की हो। वेदों के दृष्टा जिस प्रकार विश्वामित्र आदि ऋषि हुए हैं वैसी ही ऋषिकाएँ—स्त्रियाँ भी हुई हैं। ऋग्वेद १० ।.८५ । १०-१३४ । १०-३९ । १०-४० । ८-९१ । १०-९५ । ५-२८ । ८-९१ आदि अनेकों सूत्रों की द्रष्टा घोषा, गोधा, विश्ववारा, अपाला, जुहू, अदिति, सरमा, रोमशा, लोपामुद्रा, शास्वती, सूर्या, सावित्री आदि ब्रह्मवादिनी स्त्रियाँ ही हैं। मनु की पुत्री इडा बड़ी प्रकाण्ड याज्ञिक थी। उसने अपने पिता मनु का यज्ञ कराया था। मैत्रेयी एक समय की अद्वितीय विद्वान थी। शाण्डिल्य की पुत्री श्रीमती ने अत्यन्त कठोर तप किये थे। महाभारत में शान्ति पर्व के अध्याय ३० में सुलभा नामकी एक विदुषी का वर्णन है, जिसने शास्त्रार्थ में राजा जनक जैसे ब्रह्मज्ञानी के छक्के छुड़ा दिये थे। भागवत् में स्वधा की पुत्री वयना और धारिणी का वर्णन है, वे विज्ञान- विद्या में निष्णात् थी। ब्रह्म वैवर्त पुराण में वर्णित वेदवती को चारों वेद सस्वर कण्ठाग्र थे। भारती देवी नामक महिला ने शंकराचार्य से ऐसा शास्त्रार्थ किया था कि बड़े-बड़े विद्वान भी अचम्भित रह गये थे। उसके प्रश्नों से निरुत्तर होकर शंकराचार्य को उत्तर देने के लिए कुछ मास की मोहलत मांगनी पड़ी थी।

युद्ध कला-प्रवीण कैकेयी को दशरथ जी लड़ाई में अपने साथ ले गये थे और जब रथ टूटने लगा तो कैकेयी ने ही उसका तात्कालिक उपचार करके पराजय से बचाया था। मदालसा, महामाया के चरित्र भी प्रसिद्ध है। चित्तौड़ की रानियाँ, बूँदी की रानी दुर्गावती, झाँसी की रानी लक्ष्मीबाई, चाँदबीबी आदि के पराक्रम

से दांतों तले उंगली दबानी पड़ती है। द्रौपदी, गान्धारी, कुन्ती आदि की असाधारण योग्यता को सुनते-सुनते तृप्ति नही होती। मीरा ने लोकलाज छोड़कर राज परिवार त्याग कर जनता जनार्दन के हृदयों में भक्ति का दिव्य रस ओत-प्रोत किया था। समाज सुधार और राजनैतिक क्षेत्रो में प्राण-प्रण से संलग्न महिलाएँ इस शताब्दी में भी कम नही हुई हैं।

महापुरुषों और महान् नारियों के दिव्य चरित्र से भारतीय इतिहास का पन्ना जगमगा रहा है। यहाँ घर-घर में ऐसे नर-रत्न पैदा होते रहे हैं, जिनके उज्वल चरित्र प्रकाश स्तम्भ की भाँति आज भी गिरी हुई मनुष्य जाति का पथ प्रदर्शन करने के लिए जाज्वल्वान हो रहे हैं। यह क्रम इस देश मे केवल इसलिए चलता रहा है कि यहाँ ऋषि प्रणीत संस्कृति के प्रति लोगो की गम्भीर आस्था रही है। इन धर्मशास्त्रों, ऋषि प्रणालियो, आप्त वचनों का अनुगमन करने के लिए लोग श्रद्धापूर्वक हृदय और मस्तिष्क के द्वार खोल रहे हैं। आज भोगवादी भौतिक संस्कृति ने उस हमारी सनातन परम्परा से जनसाधारण को विमुख कर दिया है। फलस्वरूप सर्वत्र घोर अशान्ति, दारिद्रय, रोग, शोक, भय, उत्पीड़न, तृष्णा और वासना से सभी के हृदय जर्जर हो रहे हैं।

हमारा निश्चित विश्वास है कि भारतीय संस्कृति ऋषि प्रणीत-रीत नीति अपना करके ही मनुष्यता का उत्कर्ष हो सकता है अन्यथा वर्तमान गतिविधि उसे सब प्रकार नष्ट करके ही छोडेगी। सत्य अमेर है, श्रद्धा अमर है, धर्म अमर है, प्रेम अमर है, न्याय अमर है। ये कभी मन्द भले ही हो जावे पर मर नहीं सकते। भारतीय संस्कृति भी अमर है, वह आज तमसाच्छन्न हो रही है पर कल अवश्य ही निर्मल होगी। हमारी अन्तरात्मा कहती है कि वह पुनः सजीव होगी और उसकी विजय दुन्दुभी फिर एक बार विश्व मे बजेगी।

हम उस भविष्य की प्रतिक्षा करते हैं जिसमें भारत में घर-घर अपने प्राचीन आदर्शों की भावना एवं मान्यता का विकास होगा। लोग आपस में ऐसे व्यवहार रखेंगे जैसे प्राचीन भारत में रखे जाते थे। माँ-बाप, भाई-बहिन, भाई-भाई, पिता-पुत्र, सास-बहू, स्त्री-पुरुष, स्वजन-सम्बन्धी, बन्धु-बन्धुओं के बीच ऐसे प्रचुर एवं प्रेमपूर्ण सम्बन्ध होगे, जिन्हें देखकर देवता भी ईर्ष्या करें। पुरुष स्त्रियो के प्रति और स्त्रियाँ पुरुषों के प्रति अत्यन्त ही पवित्र भावनाएँ रखा करेंगी। व्यापारी और ग्राहक के बीच उचित मुनाफे पर ठीक वस्तुओं का ईमानदारी के साथ क्रिय-विक्रय होगा। मजदूर पूरा काम करने मे और मालिक पूरी मजदूरी देने में कसर न रखेंगे। आलस्य को, काम से जी चुराने को मानवीय अपराध समझा जायेगा और हर आदमी पसीना बहाये बिना रोटी खाना पसन्द न करेगा। मनुष्य परस्पर सहिष्णु, सहनशील, एक दूसरे की स्थिति और कठिनाई को समझने वाले तथा उदार व्यवहार करने वाले होंगे। छल, चोरी, व्यभिचार, बेईमानी, दगाबाजी, विश्वासघात, अनीति, अन्याय आदि से लोग वैसी ही घृणा करेंगे जैसे अखाद्य और अभक्ष्य को भूखा रहने पर भी कोई नही खाता। संयम, सदाचार और नियमित जीवन के कारण सब लोग निरोग और दीर्घजीवी रहेगे। सन्तोषी और परिश्रमी होने के कारण उन्हें किसी बात का घाटा न रहेगा। परस्पर स्नेह और सद्भावों के कारण आपसी व्यवहार स्वर्गीय सुख जैसे मधुर हो जावेगे।

यह बातें आज की स्थिति तुलना में करते हुए असम्भव-सी दीखती हैं पर वस्तुतः ये कुछ भी कठिन नही है। भारतीय संस्कृति के यह सहज फलि-तीर्थ हैं। इस देश मे लाखो करोड़ों वर्षों तक लगातार ऐसा ही वातावरण स्थिर रहा है। हमारी यही विशेषताएँ हैं। यदि हम अनार्य संस्कृति की कीचड़ मे से अपने पैर निकाल ले और आर्य-संस्कृति की ओर कदम बढ़ावे, तो उस प्राचीन इतिहास की पुनरावृत्ति होना बिलकुल सहज और स्वाभाविक है। इस भूमि मे वह विशेषताएँ है कि वे सहज विकास करती रहें, तो घर-घर में राम, कृष्ण, बुद्ध, महावीर, भीम, अर्जुन, गान्धी, जवाहर पैदा हो सकते है और सब प्रकार की सुख-सुविधाओं से परिपूर्ण होते हुए हम भटके हुए संसार को सही रास्ते पर ला सकते हैं। आइए, अपने उसी प्राचीन गौरव को वापिस लाने के लिए हम सब मिलकर भागीरथ प्रयत्न करें।

सांस्कृतिक पुनरुत्थान की ओर

मनुष्य पर साधारणतय पाशविक प्रवृत्तियो का आधिपत्य छाया रहता है। इस पशुत्व को हटाकर

उसके स्थान पर मनुष्यत्व एवं देवत्व की स्थापना के लिए जो प्रयत्न करते रहते है, उन्हें संस्कार कहते हैं । जङ्गली पशु को उपयोगी बनाने के लिए, उसे बहुत कुछ सधाना एवं सिखाना पड़ता है। यदि वह प्रयत्न न हो तो जङ्गल में पकड़े हुए हाथी, घोड़ा, बैल, रीछ, बन्दर आदि से कुछ भी उपयोगिता की आशा नही की जा सकती। जङ्गल की उपेक्षित पड़ी हुई भूमि मे कोई अच्छी फसल पैदा नही की जा सकती, उसे काम की बनाना हो तो जुताई, निराई, मेंडबन्दी, सिचाई आदि के उपचार करने होते हैं ।तभी उनमें उत्तम फसल की आशा की जा सकती है। मनुष्य का भी यही हाल है। वह भी जन्म से पाशविक वृत्तियो की ही अधिकता लेकर आता है इन वृत्तियो को परिमार्जन करने के लिए उसकी मनोभूमि पर जो छाप डालनी पड़ती है। उसे संस्कार कहते हैं । संस्कार डालने की पद्धति को ही संस्कृति कहते हैं।

भारतीय संस्कृति सबसे प्राचीन होने के साथ उन विशेषज्ञताओं से परिपूर्ण है कि उसे किसी वर्ग समाज, जाति, सम्प्रदाय आदि की न रहकर सार्वभौम सम्पूर्ण मानव जाति की संस्कृति कहना उचित होगा। भारतीय संस्कृति—किसी राष्ट्र, वर्ग, समाज, या सम्प्रदाय की संस्कृति न होकर मानवता की, आत्मा की, धर्म की, सत्य की, परमार्थ की, सामाजिकता की, सेवा, प्रेम, त्याग, सयम और उदारता की संस्कृति है। इस संस्कृति—इस विचार पद्धति को इस जीवन-यापन की प्रणाली को अपनाने से मनुष्य सच्चे अर्थो में मनुष्य बन सके। इस तथ्य को ध्यान मे रखकर हमारे त्रिकालदर्शी पूर्वजो एवं ऋषियो ने इसका निर्माण किया ।

भारतीय विचारधारा एवं जीवन यापन पद्धति आज बहुत विकृत, अव्यवस्थित उपेक्षित एवं अस्त-व्यस्त दशा में पड़ी हुई दिखाई देती है। विदेशी, राजनैतिक, सैद्धान्तिक, शैक्षणिक एव सांस्कृतिक प्रभाव ने हमारे दुर्बल मनो पर भारी छाप डाली है, जिसके कारण हमें अपने मन का, अपनी महानता का भान नही रहा है, दूसरी ओर अज्ञान, अन्धकार, स्वार्थपरता और सुयोग्य पथ प्रदर्शन के अभाव में उस संस्कृति को विकृत करके रूढ़िवाद, अन्धविश्वास एवं मूढ़ता के बुरे रूप में उपस्थित कर दिया है। इस दुहरे आक्रमण से आहत हुई हमारी सस्कृति अपना उच्च स्थान कायम न रखकर और उपेक्षा एव तिरस्कार के गर्त में गिरकर दुर्दशा में जीवन यापन करने लगी है। पर वस्तुतः वह उतनी तुच्छ है नहीं जितनी कि आज समझी और मानी जाती है। पिछले दिनों दुर्भाग्यवश मुस्लिमलीगियों ने धर्म और संस्कृति का नाम लेकर देश में जो सत्यानाशी नाटक खेला, उससे यह दोनों शब्द विज्ञ लोगों की दृष्टि में घृणास्पद बनने लगे हैं । जब कहीं इन शब्दों का प्रयोग होता है तो लोग भयभीत हो जाते हैं और यह आशंका करने लगते है इसमें भी कोई वैसा ही सत्यानाशी बीजाङ्कुर न छिपा हो। दूध का जला छाछ को फूँक कर पिए तो इसमे कोई बुराई नही है । पर छाछ तो छाछ ही रहेगी। हजार परीक्षा कर लेने पर भी उसमें मुँह जलाने का दोष न मिलेगा। भारतीय धर्म और संस्कृति में एक भी विषैला परमाणु नही है, यह तो व्यक्तिगत एवं सामूहिक सुख शान्ति को रखने एवं बढ़ाने वाली एक बुद्धि सङ्गत, चिर परीक्षित विचारधारा एव जीवन यापन पद्धति है।

भारतीय संस्कृति का जन समाज पर क्या प्रभाव पड़ता है इसकी जानकारी प्राप्त करने के लिए हमारा लाखों वर्षो का इतिहास साक्षी है। इस सांस्कृतिक प्रेरणा ने घर-घर में महापुरुष पैदा किये हैं और पारस्परिक स्नेह, सद्भाव, त्याग एवं उदारता के वे उदाहरण उपस्थित किये हैं, जिनका स्मरण करने मात्र से आज हमारा नैतिक बल एवं सन्मार्ग पर चलने का उत्साह बढ़ता है। कठोर श्रम और सादगी का रहन सहन अपनाने की नीति ने इस देश को धन-धान्य से पूरित कर रखा था। दूसरे के धन को ठीकरी के समान समझने, पराई स्त्री को माता या बेटी की दृष्टि से देखने, दूसरों के दुःख को अपना दुःख मानने के आदेश ने सभी प्रकार सघर्षो एव छुद्रो का द्वार रोक दिया जाता था। बड़े-बड़े बलवान असुर विद्रोही इस संस्कृति को नष्ट करने आये पर वह अपनी विशेषताओं के कारण सजीव रही। आज जहाँ अनेकों प्राचीन समस्याएँ लुप्त प्राय हो गई। अपनी महानता एवं उपयोगिता के कारण हमारी संस्कृति आज भी जीवित है और अपने पुन. विकास के लिए नये-नये को कोपलो के साथ फिर हरी-भरी होने का प्रयत्न कर रही है।

भारतीय संस्कृति हमारी लाखो वर्ष पुरानी वह जीवन-यापन पद्धति है, जो मनुष्य की पाशविक प्रवृत्तियों पर नियन्त्रण स्थापित करते हुए सादा जीवन उच्च विचार का आदर्श उपस्थित करती हुई देवत्व की

ओर व्यक्ति और समाज को अग्रसर करती है। लोग इसकी *विशेषताओं को भूल गये हैं। जिनमें सामर्थ्य है* उनने इस बात का पूरे मन से प्रयत्न नही किया कि पदार्थ विज्ञान, मनोविज्ञान, समाज विज्ञान, तर्क प्रमाण, उदाहरण आदि का आधार लेकर उन सांस्कृतिक *विशेषताओ का बुद्धि ग्राह्य रूप मे जनता के सामने* उपस्थित करें, जो विकृतियाँ, बुराइयाँ, रूढ़ियाँ, कुरीतियाँ, धर्म के नाम पर समाज मे घुस पड़ी हैं। उनका परिष्कार करके सच्चा एवं निर्मल स्वरूप आगे लावें। इस प्रयत्न के अभाव में पाश्चात्य विचारधाराओं की चमक से प्रभावित पीढ़ी अपने प्राचीन आधारों को हेय एवं व्यर्थ मानने लगा है। यदि सही आधार लेकर जनता को उन प्राचीन आदर्शों की महानता एवं उपयोगिता समझाई जा सके तो प्राचीन गौरवमयी प्रचण्ड प्रेरणा का ऐसा अजस्र स्रोत खुल पड़ेगा, जो हमें व्यक्तिगत और सामूहिक रूप से सब प्रकार सुखी-समृद्ध बनाते हुए पारस्परिक राष्ट्रीय एकता के सुदृढ़ सूत्रों मे बाँध देगा।

हमारे विचार पद्धति का प्राचीन आदर्श महान् है। अस्तिकता, सत्य, अहिंसा, क्षमा, प्रेम, विवेक स्वच्छता, कृतज्ञता, सेवा, सयम, श्रम, त्याग, समता, *एकता आदि को अपनाने से हम अपने चारो ओर* आत्मीयता, समृद्धि, स्वस्थता एवं सुख-शान्ति का वातावरण पैदा कर सकते है। इन्ही आदर्शों को जीवन मे घुला-मिला लेने के लिये अनेक आयोजन विधान एव कार्यक्रम बने हुए है, जिस पर यदि ठीक ढग से चला जाय तथा उसे ठीक प्रकार समझा जाय तो उपरोक्त आदर्श केवल सिद्धान्त मात्र न रहकर जीवन के व्यवहारिक अंग बन सकते है। आदर्शों को व्यवहार मे लाने के लिए जो धार्मिक प्रक्रियाएँ विधि व्यवस्थाएँ ऋषियो ने बनाई थी उन्हे हम मोटे तौर पर सस्कृति कह सकते हैं।

हमारे खान-पान रहन-सहन, त्यौहार, व्रत, उत्सव, विवाह, अन्त्येष्टि आदि सोलह संस्कार, चार वर्ण, चार आश्रम, तीर्थ, पूजा, मन्दिर, हवन, कथा, कीर्तन, शिखा, सूत्र, वेश-भूषा, रीति-रिवाज, देवी-देवता, मन्दिर, मठ, साधु, पुरोहित, वेद-शास्त्र, दिनचर्या, काम-सेवन, अभिवादन, रिश्ते आदि में संस्कृत का समावेश है। इनको दैनिक जीवन मे समुचित स्थान देने से हमारा जीवन सांस्कृतिक बनता है। समय-समय प[र] *व्यक्तिगत या सामूहिक आयोजनों के संस्कार त्यौहा[र]* उत्सव आदि के द्वारा भी प्रभावशाली ढग से एक सामूहिक सुसज्जा के साथ उपयुक्त मनोवैज्ञानिक वातावरण तैयार किया जाता है। इन सब क्रियाओं ए[वं] प्रथाओं का प्रयोजन केवल एक ही है। वह है— "आदर्श जीवन यापन करने वालों का एक सुसंगठि[त] समाज बनाना।" संस्कृति का मूल उद्देश्य यही समझना चाहिए।

भारत के पुनर्निर्माण के लिए जहाँ भौतिक उन्नति की अनेक पंचवर्षीय योजनाएँ आवश्यक है, वहाँ सांस्कृतिक पुनरुत्थान के लिए भी योजनाबद्ध कार्यक्रम बनाया जाना भी कम आवश्यक नही है क्योंकि संस्कृति ही किसी समाज और राष्ट्र की रीढ़ होती है। हमारी संस्कृति नैतिकता की मूल आधारशिला है। कानून की शक्ति इतनी प्रबल एवं हृदय के अन्तस्तल तक पहुँचने वाली नही है, जिसके द्वारा कि मनुष्य प्रलोभनो को ठुकराकर नैतिक *सिद्धान्तों* के पालन के लिए त्याग कर सके। यह शक्ति तो केवल उन धार्मिक भावनाओं एवं मान्यताओं में ही है, जो अन्तरात्मा पर विश्वास के रूप मे छाई हुई है और उनकी रक्षा के लिए मनुष्य बड़े से बड़ा बलिदान करने को तैयार हो जाता है। नैतिक नियमो का पालन करने वाला मोटे तौर से घाटे मे रहता है, इस घाटे की क्षति-पूर्ति वे धार्मिक भावनाएँ ही कर सकती हैं, जिनके आधार पर व्यक्ति यह अनुभव करता है कि भले ही मैं बेईमानी को छोड़कर सांसारिक दृष्टि से घाटे मे रहा पर अन्तरात्मा के सम्मुख, ईश्वर के सम्मुख, धर्म की रक्षा करने वाला सिद्ध होकर मैं आत्मसन्तोष एव सद्‌गति का अधिकारी होता हूँ। यह विश्वास ही एक *मात्र वह उपाय है, जो हमारी पाशविक* वृत्तियो को नियन्त्रण मं रखने मे समर्थ हो सकता है। इसी को हम सस्कृति कह सकते है। यदि इन सांस्कृतिक बाँधो की मरम्मत नही की जाती है। इनकी नींवो को फिर से मजबूत नही बनाया जाता है तो भारी जल प्रलय से भारी खतरा खड़ा हो सकता है। हमारे राष्ट्रीय चरित्र का, नैतिकता का बाँध टूट गया तो भ्रष्टाचारी, बेईमान, उदण्ड, चालाक, धूर्त और निकम्मे लोगो का समाज सभी उन्नतिकारी भौतिक योजनाओ को बहा ले जायगा और उन्हे उसी प्रकार नष्ट कर देगा जैसे जल प्रलय मे टूटी-फूटी नाव डूब जाती है।

सांस्कृतिक पुनरुत्थान का कार्य सरकार नहीं कर सकती। यह कार्य कूटनीतिज्ञों और राजनैतिक मदारियो का है भी नही। यह कार्य तो सदा से उन आत्माओं का रहा है, जो अपने सम्बन्ध मे तप और त्याग का असाधारण उदाहरण जनता के सम्मुख उपस्थित करके उनका हृदय जीतते हैं और अपने धार्मिक ज्ञान एवं निर्मल हृदय, साधु स्वभाव एवं निरन्तर सेवावृति द्वारा महान् आदर्शों की छाप जन साधारण के अन्तराल मे जमा सकने में समर्थ होते हैं। सरकारी कामों मे सन्देह की पर्याप्त गुन्जायश रहती है इसलिए उनका प्रभाव प्राय: उथला ही होता है। आत्मा की पुकार का आत्मा तक पहुँचने का कार्य वे ही लोग कर सकते हैं, जो अपने उज्जवल चरित्र एवं महान् ज्ञान के कारण इसके अधिकारी वन सके हों।

हम लोगों के कन्धो पर राष्ट्र के सांस्कृतिक पुनरुत्थान की महान् जिम्मेदारी है। जिम्मेदारी की उपेक्षा करना हमारे लिए एक धार्मिक पातक, नैतिक विश्वास- घात एवं सामाजिक अपराध से कम न होगा। इस कलङ्क को दूर करने के लिए विशुद्ध कर्त्तव्य भावनाओं से प्रेरित होकर भारतीय सस्कृति की पुन: प्राण-प्रतिष्ठा करने के लिए हम खड़े होते हैं, कदम बढ़ाते हैं, सुव्यवस्थित योजना के अनुसार कार्य आरम्भ करने का शङ्ख बजाते हैं। इन महान् कार्यो के लिए भावनावान् सच्चे मनुष्यों का वास्तविक सहयोग अपेक्षित है। देश व्यापी सांस्कृतिक प्रतिष्ठापना के लिए वहुत भारी काम हमे करना है, सामने भारी कर्मक्षेत्र पड़ा हुआ है। इस पुनीत अभियान में हम उन सच्ची आत्माओ के सहयोग की अतीव आवश्यकता है, जो कार्य की महानता उपयोगिता एवं आवश्यकता को अनुभव करती हों। ऐसे लोगों को कन्धे से कन्धा लगाकर काम करने के लिए हम सादर आमन्त्रित करते है।

भारतीय संस्कृति विश्व संस्कृति

आस्ट्रेलियाई समुद्र में दूर तक एक मूँगो की चट्टान पाई जाती है। इस भीमकाय चट्टान की जानकारी रखना प्रत्येक नाविक के लिये आवश्यक है क्योंकि यदि अनजाने कोई जहाज उधर भटक जाय तो वह उससे टकरा कर चूर-चूर हुये बिना नही रह पाता।

इस "मूँगों की चट्टान" का इतिहास भी प्रकृति का एक चमत्कार ही है। मूँगे के असंख्यात् कीड़े अपना घर बनाते हैं, कालान्तर में एक पीढ़ी नष्ट हो जाती है, उनके बाल-बच्चे कोई नया घर बनाकर रहने लगते हैं पुराना घर खाली पड़ा रह जाता है। इसी तरह विकसित होते-होते एक मूँगे के परिवार ने इतनी बड़ी चट्टान का सुदृढ़ और भीमकाय रूप ले लिया। देखने सुनने मे यह आश्चर्य जैसा लगता है किन्तु इसकी सत्यता मे तनिक भी सन्देह नही है।

भारतीय संस्कृति भी ऐसे ही एक आदि उद्गम से प्रारम्भ होती है। ईश्वरीय इच्छा से सनातन सत्ता मे क्षोभ पैदा होना, रजोगुणी आप:सृष्टि का निर्माण अनेक ब्रह्माण्डो की रचना, पृथ्वी का अस्तित्व में आना, उसका आग्नेय रूप धीरे-धीरे ठण्डा पडना, हिरण्य गर्भ ब्रह्मा का आविर्भाव आदि पुरुष मनु का जन्म और फिर समाज विकास की प्रक्रिया धीरे-धीरे आज के विविधता पूर्ण पार्थिव जीवन मे परिवर्तित हो गई। भारतवर्ष में उदित इस दर्शन और तत्वज्ञान के प्रकाश में मानव मात्र के कल्याण के लिये जो आदर्श और आचार संहितायें तैयार की गईं, उन्हें ही भारतीय संस्कृति कहते हैं यह संस्कृति ही आदि काल से विश्व संस्कृति के रूप में प्रतिष्ठित हुई है।

यह एक आश्चर्य ही है कि ब्रह्माण्ड के विकास के वैज्ञानिक सिद्धान्तों और भारतीय तत्वज्ञान में जबर्दस्त सामञ्जस्य है इसीलिये यह कहा जा सकता है कि न केवल समाज को सुव्यवस्थित रखने वाले जो तत्व अर्थात् अहिंसा प्रेम, दया, अस्तेय, सहयोग, सहिष्णुता, उदारता आदि वैज्ञानिक कसौटी पर खरे सिद्ध होते है वरन् आत्मा परमात्मा, परलोक—पुनर्जन्म, कर्मफल, जीवन लक्ष्य, स्वर्ग मुक्ति और अमरत्व की प्राप्ति का सम्पूर्ण तत्व-दर्शन भी विज्ञान से पृथक् नही है। जब हम इनकी वैज्ञानिक प्रतिदानों से, प्रमाण और मीमांसाओं से तुलना करने लगते है तो यह विश्वास प्रगाढ़ हो उठता है कि भारतीय धर्म और संस्कृति का जन्म अपौरुषेय अर्थात् ईश्वरीय इच्छा से परिपूर्णता लिये हुये हुआ इसीलिये उसे शाश्वत, सनातन और विश्व संस्कृति भी कहते है। भारतीय संस्कृति अपने इस रूप में हिन्दुओं की ही निधि वरन् सारे विश्व के लिये एक ऐसी आचार संहिता है, जिसके अनुरूप

अपने जीवन को ढालकर देश काल और विभिन्न परिस्थितियों में बँटी जातियों, समाज और व्यक्ति इस पार्थिव जीवन को भी सफल बना सकते हैं और मरणोत्तर जीवन के प्रति भी पूर्ण निर्भय और निश्चिन्त होकर इस पञ्च भौतिक शरीर का परित्याग कर सकते हैं।

इतना बढ़िया समन्वय संसार की किसी भी संस्कृति में नही हुआ। विभिन्न स्थानों पर रहते हुए अनेक लोगों ने अनेक प्रकार के सामाजिक वातावरण, सस्थाओ, प्रथाओं, व्यवस्थाओं, धर्म, दर्शन लिपि, भाषा तथा कला का विकास कर तरह-तरह के धर्म और संस्कृतियाँ विकसित की। वह पानी के बुलबुले की तरह बनती बिगड़ती रही पर, भारतीय संस्कृति आज भी चट्टान की तरह सुदृढ़ बनी हुई है, जबकि पाश्चात्य संस्कृति के पैर लड़खड़ा उठे और उसने हिप्पीवाद जैसी विद्रूप सन्तति को जन्म देना प्रारम्भ कर दिया। तब भी भारतीय समाज अपनी वैयक्तिक, सामाजिक, पारिवारिक और यथा शक्य राजनैतिक परिस्थितियों पर भी शान्ति और व्यवस्थायें बनाये रखने में समर्थ दिखाई दे रही हैं।

मिस्र और बेबीलोन की संस्कृतियाँ कभी भारतीय संस्कृति की समता करती थी, वे आज नष्ट प्राय: हो चुकी। फिनिशियन, चाल्डियन, सिथियन संस्कृतियाँ अब पुराणकाल के पन्नों में रह गई हैं? सरमेशिया, रुशमे आदि जातियाँ जो कभी अपनी-अपनी अलग संस्कृति बनाये हुये थी, वह अब दिखाई भी नही देती। ईसाई धर्म, इस्लाम, परसियन धर्म और संस्कृतियों का इतिहास बहुत थोड़े दिनों का है इतने दिनों में ही उनमें अन्तर्विरोध की भीषण ज्वालायें भड़की है, वहाँ पर भारतीय संस्कृति इस युग में भी अपने गौरव को सुरक्षित किये हुए है और अब तो वह पुन. विश्व संस्कृति के रूप में विकसित होने जा रही है। भारतीय सस्कृति किसी जातीय तथ्य पर आधारित नही है। जिस तरह आज का राष्ट्र-संघ अमेरिका से सचालित होता है, उसी प्रकार धर्म और संस्कृति के सभी परिवर्तन व अपरिवर्तनशील अंग अर्थात् रहन-सहन, आहार-विहार वेष-भूषा, शिक्षा-दीक्षा, गृहस्थ-दाम्पत्य, पूजा, उपासना, सामाजिक नियमोपनियम, जातीय, संगठन और राज्य सचालन आदि का निर्धारण भारतवर्ष से होता रहा है।

भारत में जन्म होने के कारण उसे भारतीय संस्कृति कहते हैं। किन्तु वह सारे विश्व की संस्कृति रही है। दुनिया भर की जातियाँ यहाँ के मार्गदर्शन पर काम करती थी। सस्कृति का अपरिवर्तनीय पहलू जिसे धर्म या तत्वदर्शन कहना चाहिये वह तो मूलरूप से यही से विकसित हुआ है। सामाजिक व्यवस्थायें और आचार सहिताओं में परिवर्तन कर लेने के कारण वे पृथक् से दिखाई देने लगे हों यह एक अलग बात है अन्यथा भारतीय वाड्मय मे आये नाम—शक, आन्ध्र, यवन, असुर राक्षस, कवि, महिष, दैत्य बालक नाग, कैवर्त, निर्षाद, किरात, पुलिंद पारद, पल्लव, दस्यु, खस, द्रविड़, पौण्ड, ओण्ड्र, कम्भोज दरद, शबर आदि नाम इस बात के प्रमाण हैं कि उनका सम्बन्ध यहाँ से सदैव जुड़ा रहा है। वे या तो साधनों की खोज में बाहर गई और बस गईं या बाहर बसी हुई जातियों से विकसित होती रही पर उन्होंने धार्मिक दृष्टि से अपना सम्बन्ध भारतीय संस्कृति से सदैव जोड़कर रखा था और जब भी उनमें से कोई विदेश से चलकर भारत आ जाता था तो यहाँ उन्हें पहले की ही तरह सम्मानित किया जाता था। थोड़े दिन उनके आचार-विचार आदि की—परीक्षा की जाती थी और तब फिर उन्हे गुण, कर्म, स्वभाव के अनुरूप ब्राह्मण, क्षत्रिय या वैश्यो के रूप में स्वीकार कर लिया जाता था। धीरे-धीरे वे हिन्दुओं में ही पूरी तरह घुल-मिल जाते थे। उन्ही में उनके विवाह आदि सम्बन्ध भी होने लगते थे। इस तरह भारतीय संस्कृति उस समुद्र की तरह रही है, जिसमे संसार की सभी जातियाँ सैकड़ों नदियो की तरह आकर मिली पर समुद्र अपनी गम्भीरता, विशालता, एकता, अविच्छिन्नता, शान्ति-क्रान्ति और समृद्धि मे अपनी सत्ता को अलग ही बनाये रहा। अनेक साँस्कृतिक क्रान्तियो के बाद भी भारतीय संस्कृति स्थिर बनी रही। सामाजिक रीति-रिवाज बदलते जरूर रहे बदलना आवश्यक भी था और है पर उसके सिद्धान्त जो मानव मात्र की एकता

और कल्याण की दृष्टि से बनाये गये वह अन्त तक— अब तक स्थिर और अपरिवर्तनीय रहे और रहेगे।

भारतीय संस्कृति का विदेशों में विकास उसकी अपनी महिमा और उदारता के कारण हुआ है तथापि कई बार ऐसा शस्त्र और शौर्य से भी किया गया है। "कृण्वन्तो विश्वमार्यम्"। हम संसार को सभ्य बनायेगे, ऐसा इस देश का लक्ष्य रहा है। उसके लिये भारतीय संस्कृति द्वारा प्रवाहित ज्ञान धाराये जब काम नही कर सकी तो अस्त्र भी उठाये गये है और उसके लिये सारे विश्व ने साथ भी दिया है। महाभारत का युद्ध हुआ था उसमे काबुल, कन्धार, जावा, सुमात्रा, मलय, सिंहल, आर्यदेश (आयरलेण्ड) पाताल (अमेरिका) आदि देशो के सम्मिलित होने का वर्णन है यह विश्व युद्ध था।

भारतीय संस्कृति माता है और विश्व के तमाम देश अनेक संस्कृतियाँ और जातियाँ उसके पुत्र-पुत्री पोता-पोती की तरह है। घर सबका यही था, भाषा सबकी यही की- संस्कृति थी और संस्कृति भी यही की थी जो कालान्तर में बदलते-बदलते और बढ़ते-बढ़ते अनेक रूप और प्रकारों मे उसी तरह हो गई जैसे आस्ट्रेलियाई मूँगों की दूर-दूर तक फैली हुई चट्टान।

आज जब सारा संसार भेदभाव स्वार्थ-पाखण्ड, छल-कपट, हिंसा और जोर-जबर्दस्ती की विद्रूप सभ्यता मे उतर आया है, तब भारतीय संस्कृति ही एक और अन्तिम समर्थ सस्कृति है, जिसकी छाया मे बैठकर हम विश्व की सम्पूर्ण जातियाँ अपने आपको एक ही ईश्वर का पुत्र भाई-भाई मानेगी और मानवतावादी सिद्धान्तो के परिपालन के लिये विवश होगी।

विश्व की सर्वोपरि सम्पदा-मानवी संस्कृति

पदार्थो का रूपान्तरण करने वाली शक्ति मे सर्वोपरि स्थान ऊर्जा का है, वही अग्नि बिजली आदि के रूप में अपना प्रभाव प्रकट करती है तथा थोड़े ही समय मे कुछ को कुछ बना देने का चमत्कार उपस्थित करती है।

यही स्थिति चेतना क्षेत्रो को प्रभावित करने मे सस्कृति का है। उसके प्रभाव से पिछडो को प्रगतिशील और अनगढ़ो को सुसस्कृत बनने का अवसर मिलता है। यदि यह चेतना ऊर्जा से सम्पर्क न सध सके तो समझना चाहिए कि अन्य प्राणियो की तरह मनुष्य को भी निर्वाह भर में काम आ सकने वाली अपनी प्राकृतिक क्षमता से काम चलाना पड़ेगा। पेट प्रजनन में निरत पशु जीवन यदि पर्याप्त न समझा जाय तो फिर समुन्नत स्थिति प्राप्त करने के लिए मानवी संस्कृति की छत्र छाया में पलने का प्रबन्ध करना होगा।

ससार भर के महा-मनीषियों ने समय-समय पर मानवी प्रगति की चर्चा करते हुये एक ही तथ्य की ओर ध्यान खीचा है कि मनुष्य को सुसंस्कृत बनाने वाली संस्कृति के सान्निध्य में रहने की बात सोचनी चाहिए। साथ ही विविध-विध प्रचलनों को इस स्तर तक लाना चाहिए कि उनका प्रवाह परिणाम सम्पर्क क्षेत्र में शालीनता प्रदान करने और परिपुष्ट करने में समर्थ हो सके। अध्यात्म का तत्वदर्शन और धर्म का व्यवहार इसी निमित्त सृजा गया है कि जीवन क्रम में अधिकाधिक सुसंस्कारिता का समावेश हो सके। मानवी संस्कृति की आवधारणा से ही किसी को सभ्य सुसंस्कृति एवं समुन्नत कहलाने का अवसर मिल सकता है।

बोगाड्र्स के अनुसार संस्कृति एक समूह से सम्बन्धित रीति-रिवाजो, परम्पराओं और व्यवहारिक प्रतिमानों से बनती है। वह मूल्यो की एक ऐसी पूर्ववर्ती समष्टि है, जिसमे प्रत्येक व्यक्ति पैदा होता है। वह एक माध्यम है जिसमे व्यक्ति समग्र रूप मे विकसित होता है। ए. डब्ल्यू. ग्रीन का कहना है कि संस्कृति ज्ञान व्यवहार विश्वास की उन आदर्श पद्धतियो तथा उनसे उत्पन्न हुई साधन व्यवस्थाओ को कहते है, जो सामाजिक परिकर में एक पीढी से दूसरी पीढ़ी को दी जाती है।

मनुष्य के सोचने के ढंग मूल्यों व्यवहारों तथा उनके साहित्य धर्म कला में जो अन्तर दिखाई पडता है वह संस्कृति के कारण है। भारतीयो के लिए आज भी आत्मिक मूल्य सर्वोपरि है, जबकि पाश्चात्य लोगो के लिए भौतिक एव मानसिक।

व्यक्तित्व के विकास में जिन कारकों का योगदान होता है, उनमें संस्कृति प्रधान है। मनोवैज्ञानिक रूप बेनीडिक्ट 'पैटर्न्स ऑफ कल्चर में लिखते हैं कि "संस्कृति का प्रभाव बचपन से ही पड़ने

लगता है। जिन परिस्थितियों में वह जन्म के क्षण पैदा होता है, इसका प्रभाव उसके व्यवहार एवं स्वभाव में होता है। जिस समय वह बोलता है, अपनी संस्कृति का छोटा-सा प्राणी है। जिस समय से वह बढ़ता है एवं कार्यों में हिस्सा लेता है सांस्कृतिक परिवेश उसके स्वभाव को गढ़ते है। आदतो, मान्यताओ, विश्वासों, स्वभावों में संस्कृति की अमिट छाप दिखाई पड़ती है।

मनोवैज्ञानिक लिण्टन की मान्यता है कि संस्कृति का प्रभाव बचपन में ही मात्र नही पड़ता वरन् जीवन भर पड़ता रहता है। वे लिखते है कि जब कभी किसी समाज की संस्कृति अपने सदस्यों के व्यक्तित्व को ऊँचा उठाने के लिए बाल्य स्तर पर विभिन्न प्रकार के सांस्कृतिक मूल्यों का निर्धारण करती है तो उसका प्रभाव वही समाप्त नही हो जाता वरन् उसके अवशेष व्यक्तित्व में ढालने में सतत्-प्रयत्नशील रहते है। यह प्रक्रिया जीवनपर्यन्त चलती रहती है। अतएव सांस्कृतिक परिवेश व्यक्तित्व के निर्माण में असाधारण भूमिका निभाते हैं।

इस तथ्य का मनोवैज्ञानिक 'बेनीडिक्ट' अपनी पुस्तक में इस प्रकार वर्णन करते है "संस्कृति जिससे व्यक्ति अपना जीवन बनाता है, कच्चा पदार्थ प्रस्तुत करती है उसका स्तर निम्न है तो व्यक्ति को कष्ट देती है तथा उसका व्यक्तित्व निकृष्ट स्तर का बनता है और यदि श्रेष्ठ हुई तो व्यक्तित्व के सर्वांगीण विकास का अवसर मिलता है।"

विचारक फ्रैंक ने लिखा है कि "संस्कृति एक बाध्य प्रभाव है जो व्यक्तित्व के ऊपर व्याप्त है। उसके व्यक्तित्व के विचारों, स्वभावो एवं विश्वासो को ढालती है, जिनको सामुदायिक जीवन द्वारा उसे स्वीकार करना पड़ता है।' लिण्टन अपनी पुस्तक 'दी कल्चरल बैक ग्राउन्ड ऑफ पर्सनालटी, मे लिखते है कि "संस्कृति सम्पूर्ण रूप में किसी भी समाज के सदस्यों के जीवन के समस्त मामलों में अति आवश्यक मार्ग-दर्शन प्रस्तुत करती है।"

मनोविज्ञानी गिन्सवर्ग का कथन है—सभ्यता और सुसंस्कारिता के अन्तर को समझा जाना चाहिए। सभ्यता नागरिक कर्तव्यों के परिपालन तथा व्यवहार में शिष्टाचार बरतने भर से पूरी हो जाती है किन्तु संस्कृति अपनाने पर मनुष्य के दृष्टिकोण चरित्र एवं लक्ष्य में आदर्शवादिता का ऐसा समावेश करना पड़ता है, जिसे उसे अपने को गौरवान्वित अनुभव करने तथा दूसरों के लिए अनुकरणीय प्रेरणा प्रस्तुत कर सकने का अवसर मिल सके।

गिन्सवर्ग ने अपने ग्रन्थ "साइकालाजी ऑफ सोसाइटी" में व्यक्ति और समाज की सबसे बड़ी विशिष्टता एक ही बताई है कि "सुसंस्कारिता का वातावरण बने, परम्परा निभे और उसको हर सदस्य अनुकरणीय अभिनन्दनीय कहलाने का श्रेय प्राप्त करें।

विद्वान बर्ट्रेंड रसैल ने संस्कृति का स्वरूप प्रस्तुत करते हुए कहा है—दूरदर्शी विवेकवान चरित्रनिष्ठ और उदारमना होना इस बात का चिन्ह है कि संस्कृति को समझा और अपनाया गया।

"व्हाट लाइफ शुड मीन टू यू" ग्रन्थ से एडलर लिखते हैं—अपनत्व को शरीर परिवार एवं धन-वैभव की संकीर्ण सीमा में केन्द्रित न रहने देकर यदि उसे व्यापक बनाया जा सके तो समझना चाहिए यहाँ मानवी संस्कृति ने अपना प्रभाव छोड़ा।

सुसंस्कारिता ही मानव जीवन का बहुमूल्य गरिमा है, इसे अपनाने वाले ही संस्कृति को समाज को धन्य बनाते और स्वयं उसके अनुयायी होने का गौरव प्राप्त करते हैं।

भारतीय संस्कृति मानवता का वरदान

विदेशों मे भारत की शान अपनी गौरवपूर्ण सॉस्कृतिक विशेषता के कारण है; जो आदर्श, उद्देश्य और कर्म यहाँ जन-जीवन मे प्रयुक्त होते आये है वे अन्य देशों के रहन-सहन से सर्वथा भिन्न है। यो देखने में बाह्य दृष्टि से अन्तर भले ही दिखाई न पड़ता हो किन्तु आन्तरिक जीवन मे जो महानतायें छिपी पड़ी हैं, उनके कारण विश्व की कोई भी सभ्यता या संस्कृति उसका मुकाबला नही कर सकती। यहाँ कला और सत्य के सम्मिश्रण के बाह्य और आन्तरिक जीवनो का निर्माण होता है, जबकि आधुनिक सभ्यता, जिसका मूल स्रोत पाश्चात्य संस्कृति है, उसकी कला मे सौन्दर्य तो है पर सत्य नही है। रूप तो है पर आत्मा नही है। कला जो फलाशा से सयुक्त हो उसका सौन्दर्य स्थिर

नही होता। सत्य ही उसकी आत्मा है, जिसके लिए बीच मे किसी वासनात्मक प्रक्रिया के लिये कोई स्थान नही है।

एक बहुचर्चित विवाद चल पड़ा है कि आज के युग में रहन-सहन में, वेश-भूषा में जो अनेको सौन्दर्य प्रसाधन मिल गये हैं, इसी से संस्कृति विकसित हुई है और वह आर्य संस्कृति से कही अधिक निखरी हुई है। यह बात वे कह सकते है, जिन्होने भारतीयता की आत्मा का दिग्दर्शन न किया हो। कुछ गलत परम्पराओं, रूढ़िवादिताओं या काल प्रभाव से भारतीय जीवन में जो विकृति आ गई है, उसके आधार पर एक तरह का निर्णय कर लेना उचित नहीं है। भारतीय संस्कृति में जो यवनों की, अँग्रेजों और पारसियों की संस्कृति का समावेश हो गया है और उससे एक अजीव, 'हिन्दुआना' रूप बन गया है, उसे प्रमाण मानकर पाश्चात्य संस्कृति को श्रेष्ठतर बताना कदापि उचित नही कहा जा सकता।

संस्कृति कुछ सीमित रीति-रिवाजों, रहन-सहन तक ही सीमित नही होती वरन् धर्म, दर्शन, साहित्य, कला, समाज और व्यक्तिगत जीवन के सम्पूर्ण वृत्त का नाम संस्कृति है। सच्चे जीवन का विकास इन सब बातो से मिलकर होता है। भौतिक दृष्टि से विकसित होना, साधना या सफलताओं की बाहुल्यता प्राप्त कर लेने मात्र से यह उद्देश्य पूरा नही हो जाता। भारतीय सस्कृति का इतिहास देश और कला से भी अत्यधिक विस्तृत है। लोक-जीवन की इसमे जो व्याख्या हुई है, वह अधिक अतरग, शक्तिवंत और पूर्णतया वैज्ञानिक है। प्रत्येक आचरण, प्रत्येक आदर्श, रीति-रिवाज, व्रत, पर्व, त्यौहार, वस्त्र, भवन, गाँव और समाज अपने आप मे एक ऐसा आध्यात्मिक विश्लेषण छिपाये हुये है, जिसे जानने वाला ही वस्तुत: इस संसार मे मनुष्य जीवन धारण का सौभाग्य प्राप्त कर पाता है।

अब जो रहन-सहन वाली सस्कृति का नाम लिया जाता है वह न केवल एकांगी है उसमे अनेकों बुराइयाँ है। अभाव, आसक्ति और अत्यधिक आवश्यकताये उसकी तीन विशेषताये हैं। इनके कारण व्यक्तिगत और सार्वजनिक जीवन मे स्वार्थपरता, निर्दयता, कामुकता, छल, कपट, दम्भ, पाखण्ड और अनाचार बढ़ता हुआ जा रहा है। इस अभागी आधुनिक संस्कृति ने जब से हमारे भारतीय जीवन मे प्रवेश किया है, तब से यहाँ का जीवन भी बुरी तरह अस्त-व्यस्त होता चला जा रहा है। स्वेच्छाचारिता, दाम्पत्य-जीवन में छल, कपट, ढोग, तलाक और सामाजिक जीवन में ऐसे अनेक दुर्गुणो का तेजी से विकास हो रहा है कि इन्हे देखकर आज कोई यह मानने को तैयार न होगा कि भारतवर्ष अपनी संस्कृति के कारण कभी श्रेष्ठ और शिरोमणि रहा होगा।

भारतीय संस्कृति महान् आध्यात्मिक है। युजर्वेद के एक ही सूक्त में उसकी विशद् व्याख्या करते हुये ऋषि ने लिखा है—

"सा प्रथमा संस्कृति. विश्ववारा" —यजु.७।१४

अर्थात्—यह जो विश्व है वह बडा विशाल है और एक नियामक, अधिपति और चैतन्य देवतत्व से वह संचालित है। उस परम-तत्व को जानने के लिए जिस "संस्कार सम्पन्न जीवन-प्रणाली" की आवश्यकता पड़ती है, उसे ही संस्कृति कहा जा सकता है।

प्रकृति की क्रिया शक्ति की तरह मनुष्य भी एक स्वतन्त्र सत्ता भी है, जो अपने प्रयत्नो से संस्कारों का निर्माण कर सकती है। यह एक सूक्त ही विस्तृत होकर धर्म, दर्शन, सदाचार, वेष-भूषा और रीति-रिवाजो में फैल जाता है। जैसे आम के बीज की यह विशेषता होती है कि उसका फल भी आम ही होता है, इमली के बीज से जामुन का फल प्राप्त नही किया जा सकता, उसी प्रकार जो संस्कृति ईश्वरीय अश से प्रादुर्भूत होती है, वह सम्पूर्ण जीवन को एक विस्तृत दायरे मे बॉधकर अन्त मे फिर उसी तत्व में विलीन हो जाती है। यों कहना चाहिए कि भारतीय संस्कृति का अर्थ है—महान से महानता का अभ्युदय और अन्त मे उसी महानता मे ही विलीन हो जाना। धर्म और जीवन इसके पर्याय हैं।

धर्म से आध्यात्मिक जीवन विकसित होता है और जीवन मे समृद्धि का उदय होता है। मन, वचन और कर्म की गतिविधियो को इसी उद्देश्य से बाँध दिया जाता है, इसी से उसमे वह विशेषताये परिलक्षित होती है जो किसी अन्य धर्म या संस्कृति में देखने को नही मिलती।

धर्म की आवश्यकता मनुष्य जीवन की शुद्धता के लिये है। अशुद्ध आचरण मनुष्य तब करता है जब वह अपने आप को मनुष्य की दृष्टि से देखता है। पर वस्तुतः मनुष्य का यथार्थ रूप उसकी सूक्ष्मतम आत्म-सत्ता है। अतः उसके जीवन के विविध अंगो का निर्माण भी इसी दृष्टि से होना चाहिये। धर्म यह बताता है कि हम अपने वास्तविक स्वरूप को न भूलें उसे प्राप्त करें और जिस उद्देश्य की पूर्ति के लिये हमारा जन्म हुआ है, उसे सदैव अपने सामने बनाये रहें। यह दार्शनिक विशेषता किसी अन्य संस्कृति में नहीं है। लोग यह भूल जाते है कि वे मनुष्य से भी कुछ अधिक है इसी से वे लक्ष्य से भटकते है। शुद्ध रूप में भारतीय संस्कृति मे यह भूल कही भी नही है।

इस तरह के आध्यात्मिक ज्ञान से जब प्राण और मन परिपक्व हो जाता है तो बाह्य दृष्टि से सामान्य जीवन जीते हुए भी हमारे और पाश्चात्य-संस्कृति परायण लोगों के जीवन मे भारी अन्तर होता है। आन्तरिक जीवन मे सत्य, प्रेम, न्याय, तप, सहिष्णुता, आत्मीयता, क्रियाशीलता, शक्ति, सामर्थ्य, विवेक और विज्ञान ओत-प्रोत रहता है, जिसके कारण अज्ञान, अशक्ति और अभाव से उत्पन्न होने वाले दुःखो का अन्त हो जाता है और यहाँ के जीवन मे सुख, संतोष, शान्ति, उल्लास, सरसता और आनन्द छाया रहता है। संस्कृति का तीसरा क्षेत्र मानव की स्थूल या भौतिक रचनायें ही है। इनका मुख्य रूप जीवन के समस्त स्थूल साधन है, जिन्हें कला भी कहा जा सकता है। व्यापक दृष्टि से विचार करके देखें तो धर्म, दर्शन, साहित्य साधना, निर्माण परक प्रयत्न, समाज और राष्ट्र की व्यवस्था, वैयक्तिक जीवन के नियम और अनुशासन, कला शिल्प, स्थापत्य, संगीत, नृत्य, वाद्य सौन्दर्य रचना के अनेक विधान तथा उपकरण-यह सब उसी संस्कृति के अर्थ मे आ जाते हैं। यह उससे अलग नही है पर पाश्चात्य संस्कृति की तरह यह मनुष्य जीवन का पूरक अंश है। धर्म और दर्शन, जीवन और उसका तात्विक स्वरूप यह उसकी प्रमुख स्थिति है। यह न रहे तो दूसरी आवश्यकताओं का महत्व गिर जायेगा। जो वस्तुयें सुख-प्राप्ति के लिए निश्चित की गई थी, उन्ही से उलटे परिणाम उत्पन्न होने की आशंका बढ़ जाती है, जैसा कि इन दिनों दिखाई दे रहा है।

संस्कृति का निर्माण या व्याख्या करते समय यह आवश्यक है कि गुणों का ही आग्रह किया जाय। गुणों को ही आदर्श कहते हैं। आदर्श ही धर्म है यदि वह सत्य से प्रतिष्ठित है। सत्य सम्मिश्रित धर्म ही विश्व का सर्वोपरि नियम है। इस दृष्टि से संस्कृति को जीवन की सम्पूर्ण व्यवस्था का पर्याय कहा जा सकता है। भारतीय संस्कृति मे यही विशेषता पाई जाती है। संसार का जो सत्य है, सौन्दर्य है और लक्ष्य है उसे मन, वचन और कर्म द्वारा एकीकरण करना ही संस्कृति का उद्देश्य है। जो इसमें जितनी अधिक सफल होगी, वही संस्कृति सर्वमान्य और प्रामाणिक कही जायेगी। इन्ही विशेषताओं के कारण भारतीय संस्कृति विश्व में सर्वोपरि है। इसी के कारण उसकी अपनी एक अनोखी शान है।

आदर्शों की पराकाष्ठा—भारतीय संस्कृति का गौरव

आदर्शवादिता की बातें करना और व्यवहार में उन आदर्शों से ठीक विपरीत आचरण करना जितना निन्द्य और गर्हित है सम्भवत. उतना बुरा अनैतिक कर्मों में प्रवृत्त होना भी नही है। क्योंकि इस प्रकार का आचरण अनीतिपूर्ण तो होता ही है, उनमें सिद्धान्तों की बाते कह कर उसे ढकने दबाने की एक और अनैतिकता स्वभाव मे समाविष्ट हो जाती है। इसीलिए स्वामी विवेकानन्द ने कहा है, 'तुम आदर्शों की बात करो और उन्हें अपने व्यवहार में न उतारो तो तुमसे चोर, डाकू और लुटेरे अच्छे, जिनमें कम से कम कथनी और करनी का अन्तर तो नही होता।

दुर्भाग्य से इन दिनो यह प्रवंचनापूर्ण स्थिति बहुत सघनता के साथ पाई जाती है। उदाहरण के लिए दहेज को ही लिया जाए। प्रत्येक व्यक्ति दहेज प्रथा की बुराइयाँ गिनाते नही थकता और पानी पी-पीकर इस कुरीति को कोसता है। इस विषय पर किसी से भी अपने विचार व्यक्त करने के लिए कहा जाए तो वह इसका अन्त अनिवार्य रूपेण चाहता प्रतीत होता है। लेकिन अधिकाश व्यक्ति जब अवसर आता है तब मजबूरी के नाम पराये, घर के, अन्य किन्ही सम्बन्धियों का दवाब बताकर अपने लिए बचाव का रास्ता खोज

लेते हैं। और दहेज के लिए मुँह फाड़ने लगते है। इस दोहरी रीति-नीति को जीवन के अन्यान्य क्षेत्रों में भी स्पष्टतया देखा जा सकता है। ईमानदारी, परिश्रम, लगन, दायित्वनिष्ठा, कर्त्तव्यपरायणता, उदारता आदि गुणों या आदर्शों की हर कोई सराहना करता है तथा उनका पालन आवश्यक बताता है किन्तु जब बात उनके पालन पर आती है तो लोग बगलें झाँकने लगते हैं।

आदर्शों के प्रति यह दोहरी और दोगली दृष्टि न हमारी संस्कृति का अंग रही है और न इस संस्कृति के प्रणेताओं में कही इस तरह का छद्म् देखने में आया है। बल्कि इस तरह के हजारो उदाहरण हमारे सांस्कृतिक इतिहास में भरे पड़े है जिनमें लोगों ने आदर्शवादिता का पराकाष्ठा के स्तर पर पालन किया। आदर्शों के लिए हमारे मनीषियो ने एक अनूठा शब्द खोजा है—जीवन मूल्य। आदर्शो को जीवन मूल्य कहा गया है—अर्थात् जीवन का मूल्य देकर भी जिन पर दृढ़ रहा जाना चाहिए। मनुष्य को सबसे बढ़कर जीवन प्रिय है। संसार की समस्त सम्पदाओ की तुलना में वह जीवन को ही प्रधानता देता है। मनीषियो ने जीवन के ऊपर भी आदर्शों को प्रधानता दी है। यह विस्मय विमुग्ध कर देने वाली बात है कि जिस जीवन की तुलना में सब कुछ तुच्छ है, वह जीवन आदर्शों के लिए बलि चढ़ाना श्लाघनीय समझा गया है।

आदर्शो की यह पराकाष्ठा ही हमारी सस्कृति की विशेषता रही है। भारतीय संस्कृति के इतिहास का पन्ना-पन्ना इस प्रकार के उदाहरणों से भरा पड़ा है। जिन लोगों ने इन आदर्शो के लिए अपने जीवन को भी दाँव-पर चढ़ा दिया उन्हें मनीषियों ने अवतार कहकर सम्बोधित किया एवं सराहा और पूजा है। पिता की आज्ञा का पालन करने के लिए भगवान राम द्वारा राजमहल में उपलब्ध होने वाली सुविधाओं का त्याग कर जंगल में वनवासी बनकर रहने लगने का उदाहरण विख्यात है। लक्ष्मण ने अपने भाई के प्रति कर्तव्य-पालन के लिए तमाम सुख-सुविधाओ को छोड़ दिया। भ्रातृ-प्रेम का इतना अनूठा उदाहरण संसार के किन्ही अन्य देशों में मिलना दुर्लभ है। भारत द्वारा राज्य को धरोहर मानकर सम्हालने तथा स्वयं तापस वेश धारण कर जीवन व्यतीत करने का उदाहरण भी अपने ही जातीय इतिहास में मिलता।

सत्य के लिए अपना सारा जीवन, राजपाट आदि सब सुख-सुविधाएँ छोड़कर श्मशान मे बिक जाने का हरिश्चन्द्र जैसा उदाहरण अन्यत्र नही मिलता। महारथी कर्ण और राजा बलि द्वारा दान धर्म की पराकाष्ठा को स्पर्श कर लेने का गौरवपूर्ण अध्याय भी अपने ही इतिहास में जुड़ा हुआ है। कर्ण जानते थे कि कवच-कुण्डल देने से वे मर सकते है, उनके लिए जीवन सङ्कट उपस्थित हो सकता है, परन्तु इन्द्र जब उनके सामने याचक बनकर उपस्थित होते है, और इन्द्र ही क्यों कोई भी क्यो न हो? उनके लिए न करते नही बनता। कर्ण के पिता सूर्य जब इस षड्यन्त्र का पर्दाफाश करते हुए अपने पुत्र को सचेत करने और व्यावहारिक बनने का उपदेश देते है तो कर्ण यही कहते हैं कि मैं व्यावहारिकता का ही निर्वाह कर रहा हूँ। थोडी चीज देकर अधिक प्राप्त करना लाभदायक सौदा ही कहा जाएगा। यह नश्वर शरीर तो एक न एक दिन नष्ट होना ही है। आज होता है या कल होता है इससे क्या अन्तर पड़ता है। मै इसके बदले अमर कीर्ति प्राप्त कर रहा हूँ तो इसमे घाटे की क्या बात है?

नियम और अनुशासन की मर्यादा तोड़ने पर राजा हसध्वज ने अपने पुत्र को भी दण्डित करने से नही बख्शा। जब देश रक्षा के लिए हर युवक को युद्ध में जाने का निर्देश दिया और सभी युवा शक्ति रणागण मे पहुँच गये तो उन्हें पता चला कि राजकुमार सुधन्वा इस अनुशासन मर्यादा का उल्लंघन कर अपनी नवविवाहिता पत्नी के साथ प्रणय-लीला मे उलझे हुए है। राजपुत्र होने के साथ-साथ सुधन्वा नव-विवाहित भी थे। हँसध्वज चाहते तो पुत्र को क्षमा कर सकते थे, परन्तु कर्तव्य। नियम तो नियम। राजाज्ञा का उल्लघन करने वालो को जो दण्ड दिया जाना घोषित किया गया था, वही दण्ड उन्होने अपने पुत्र को भी दिया। अनुशासन तोड़ने वालों के लिए गरम तेल में डाल देने का दण्ड निर्धारित था, सो सुधन्वा को भी यही दण्ड दिया गया।

शरणागत की रक्षा करना भारतीय धर्म और संस्कृति का गौरव रहा है और इस गौरव को इतिहास पुरुषो ने बड़े से बड़ा उपकार स्थापित किया है। राजा शिवि ने अपनी शरण मे आये पक्षी की रक्षा के लिए उसे शिकार कर रहे बाज को अपनी जॉघ का मांस खिचकर अद्भुत शरणांगत वत्सलता के साथ-साथ साहसिकता का भी परिचय दिया। मोरध्वज ने अपने पुत्र का मास खिलाकर अभ्यागत की इच्छा पूरी की इस तरह के प्रसंगों मे वैचिय के साथ-साथ अस्वभाविकता भी हैं, परन्तु जिन्होने मृत्यु के आरपार देखा है उनके लिए इनमें कुछ भी विचित्र या अस्वाभाविक नही है। आदर्शो की पराकाष्ठा तक पहुँचने के लिए कुछ भी किया जाता है, वह व्यावहारिक है। जब जीव क्षण भगुर है और एक न एक दिन मर ही जाना है शरीर को मिटना ही है तो क्यों न आदर्शों के लिए मर जाए? नियतिगत या स्वाभाविक मृत्यु की अपेक्षा किसी सिद्धान्त के लिए, आदर्श के लिए मरना अधिक स्तुत्य है।

मृत्यु का रहस्य समझने वालों के लिए व्यक्ति उसी प्रकार है, जिस प्रकार सामान्य व्यक्ति लाख रुपयों का पुरस्कार प्राप्त करने की आशा मे एक दो—रुपये का लाटरी टिकट खरीद लेता है। लाटरी के टिकट खरीदने पर लखपति बनने की सम्भावना तो फिर भी नगण्य सी रहती है, किन्तु आदर्शों के लिए उत्सर्ग करने वाला व्यक्ति अपने प्राप्तव्य के सम्बन्ध मे शत-प्रतिशत निश्चित रह सकता है। जिन लोगों ने आदर्शो के लिए उत्सर्ग किया उनकी दृष्टि में यद्यपि मरने के बाद किसी प्रकार की श्रेय कामना नही रही, फिर भी उनके लिए श्रेय सुरक्षित है। श्रेय नहीं भी मिले तो भी किसी उद्देश्य के लिए आत्मोत्सर्ग करने वाली बात से मिला आत्मसन्तोष कहीं नही जाता।

आदर्शों की यह पराकाष्ठा अपनी संस्कृति की धरोहर है। यदि इस पराकाष्ठा पर नही पहुँचा जा सके तो भी कम से कम कथनी और करनी में साम्य तो रखा ही जा सकता है। हम भी इसी ऋषि परम्परा के अनुगामी हैं, उन नर-वीरों की सन्तानें हैं, यह ध्यान में रखते हुए आदर्शों की प्रवंचना से तो बचा ही जाना चाहिए। इस छलना से बचकर ही अपनी संस्कृति के प्रति गौरवभाव जागृत रखा जा सकता है।

भारतीय संस्कृति की उपयोगिता

आचार और विचार का आपस में घनिष्ट सम्बन्ध है। जो व्यक्ति जिस परिस्थिति में, जिस वातावरण में, कार्यक्रम में अपना अधिक समय बिताता है उसके विचार और मनोभाव उसी ढाँचे में ढल जाते हैं। भाषा, भेष, भाव, रहन-सहन, रीति-रिवाज, आचार, व्यवहार के पीछे एक परम्परा, एक विचारधारा, एक इतिहास, एक दार्शनिकता छिपी होती है। लकड़ी का एक सिरा उठाने से जिस प्रकार दूसरा सिरा भी उठ आता है, उसी प्रकार अमुक प्रकार के आचार से अमुक प्रकार के विचारों का उत्पन्न होना और अमुक प्रकार से विचारों से अमुक प्रकार के विचारों का उद्भव होना भी स्वाभाविक है। आसुरी आहार-विहार, म्लेच्छ भाषा, भेष रखने पर, स्वच्छन्द आचार-व्यवहार रखने वाले व्यक्ति के लिए सुसंस्कृत, धर्म सम्मत विचार रख सकना कठिन है। इसी प्रकार उच्च मनोभूमि के व्यक्ति को कुरुचिपूर्ण जीवन-पद्धति स्वीकार नही हो सकती। उच्च अन्तः मनोभूमि के अनुकूल जीवन विधि ही हमारी संस्कृति है। इसे यों भी समझ सकते हैं कि यदि ऋषि प्रणीत दर्शन के अनुसार मन. क्षेत्र रखना हो तो व्यवहार मे भी उन परम्पराओं को स्थान देना होगा, जो इस मार्ग के पथिको के लिए सहायक ही नहीं, आवश्यक भी है।

उच्च नैतिक जीवन का निर्माण अपने आप नहीं हो सकता - पशु से मनुष्य बनाने के लिए भारी श्रम करना पड़ता है। कच्ची धातु को मजबूत फौलाद बनाने के लिए उसे अनेक भट्टियो में होकर गुजरना पड़ता है। साधारण गटापार्चा को महान् रसायन अभ्रक बनाने के लिए उसे अनेक औषधियो की भावनाएँ तथा अनेक अग्नि संस्कारों का आयोजन करना होता है। माली जब पौधे का विकास, सौन्दर्य पूर्ण करना चाहता है, तो उसे उस पर बार-बार ध्यान देने और गुड़ाई, निराई, काट-छाँट, खाद, पानी आदि की क्रियायें करते रहने की जरूरत पड़ती है। यही बात मनुष्य के बारे मे भी है। उसे मिट्टी मिली कच्ची धातु या कुसस्कारी जीव मात्र कहा जा सकता है, इसका विशेष परिष्कार ही उसे मानव या भुसुर बनाने में समर्थ होता है। इस विशेष परिष्कार को संस्कार और उसकी क्रिया पद्धति को संस्कृति कहते है। भारतीय सस्कृति का उद्देश्य मनुष्य

को आन्तरिक आस्थाओं और व्यक्तिगत तथा सामाजिक गतिविधियों को उच्च नैतिक आधारों पर विनिर्मित करना है। यह निर्माण कार्य मानव जीवन में इतना महत्त्वपूर्ण है जितना और कोई कार्य नहीं हो सकता।

संस्कृति का प्रधान उद्देश्य जहाँ नैतिकता का निर्माण है, वहाँ राष्ट्रीयता को मजबूत बनाना भी है। एक समान आचार-विचार वाले व्यक्ति स्वभावतः आपस में अधिक प्रेम कर सकते हैं और अधिक घनिष्ट एवं संगठित हो सकते हैं। धर्म और सम्प्रदाय आरम्भ में एक सिद्धांत मात्र थे, पीछे चलकर उनका परिवर्तन एक संगठन के रूप में हो गया। कारण यही है कि एक समान आचार, विचार के लोग आपस में अधिक समीप आते-जाते है। अपनी पुण्य परम्पराओं, ऐतिहासिक गाथाओं, रीति-रिवाजों को मनोभूमि में निरन्तर स्थान देते रहने से वे जीवन के अन्तराल में इतनी गहरी प्रवेश कर जाती हैं कि वे पूर्ण सत्य जैसी प्रतीत होती हैं, उनके प्रति असाधारण मोह हो जाता है। उनके चरितार्थ होते देखकर प्रसन्नता और दुर्बल होते देखकर दुःख होने लगता है। अपने मजहब के तीर्थों, देवदूतों, ग्रन्थों, रिवाजों, कथाओं पर मनुष्य का एक ममता भरा सम्बन्ध जुड़ जाता है जो तोड़े नहीं टूटता। इस प्रकार संस्कृति, संगठन का वह कार्य करती है, जो वंश परम्परा भी नहीं कर सकती, भारतीय और पाकिस्तानी मुसलमानों में ९९ प्रतिशत वे हैं, जो मुश्किल से चार-छः सौ वर्ष से मुसलमान बने हैं। इससे पूर्व उनकी वंश परम्परा लाखों करोड़ों वर्षों से हिन्दू थी। कुछ सौ वर्षों तक एक संस्कृति के सम्पर्क में रहने से उन्होने अपनी आस्था अब अपने वंशगत पूर्वजों, बान्धवों, तीर्थों एवं इतिहासों पर से हटा-कर अरब देश के साथ सम्बन्धित कर ली है। उनकी भाषा, भेष, भाव एवं निष्ठा अरबी हो चली है। संगठित भी वे उसी आधार पर हो रहे हैं। यों दर्शन की दृष्टि से हिन्दू धर्म संसार के अन्य किसी देश के धर्म या दर्शन से घटिया नहीं है पर प्रश्न धर्म, आदर्श, सिद्धांत आदि की उत्कृष्टता का नहीं है। संगठन का आधार तो संस्कृति होती है, जिसे गुणावगुण की परीक्षा करके नहीं वरन् निरन्तर अभ्यास और उपयोग के कारण अपनी प्रिय वस्तु मान लेता है। यह मनोवैज्ञानिक सत्य ही संस्कृतियों को सङ्गठन के रूप में परिवर्तन कर देती है और सुदृढ़ राष्ट्रीयता का निर्माण करती है।

प्राचीन काल मे मुसलमान आक्रमणकारियों ने इस बात का पूरा-पूरा प्रयत्न किया कि भारत के निवासी उनकी संस्कृति को स्वीकार कर लें, जिससे विरोध का आधार नष्ट हो जाय और उनकी स्वाभाविक स्नेह भावना अरब की ओर बह उठे। वे लोग धैर्य और चतुरतापूर्वक इस कार्य को न कर सकें अति आतुरता और अति उत्साह से उन्होने प्रलोभन और दमन को आधार बनाया। अँग्रेज आक्रमणकारियों का भी दृष्टिकोण वही था, उन्होंने बाइबिल को आगे लेकर वही सब चाहा, पर चूँकि वे अधिक चतुर थे, बर्बरता से उत्पन्न प्रतिक्रिया की हानि को वे समझते थे, इसलिए उन्होंने लार्ड मेकाले की योजना के अनुसार शिक्षा के माध्यम से अपनी संस्कृति को इस देश में प्रतिष्ठापित किया। धर्म विस्तार में तो उन्हें कम सफलता मिली, पर सांस्कृतिक दृष्टि से उन्हें आश्चर्यजनक सफलता मिली। अमेरिका आदि देश अपनी संस्कृति के धर्म के लिए भारत मे भारी धन व्यय कर रहे हैं। कारण स्पष्ट है ईसाई संस्कृति को अपनाने वालों की निष्ठा ईसाई राष्ट्रों की ओर होने की आशा उसी प्रकार की जाती है, जिस प्रकार मुसलमानी सस्कृति अपना लेने पर पाकिस्तान का उद्‌भव हो गया। सस्कृति मे राष्ट्रीयता उत्पन्न करने की शक्ति है, इस तथ्य को ध्यान मे रखकर चीन आदि देशो ने सम्प्रदाय और मजहब से सस्कृति को अलग रखा है। हाँ धर्म परिवर्तन तो कोई भी कर सकता है पर सांस्कृतिक भाषा भेष, भाव, परम्परा आदि न बदलने पाये, इस पर समुचित ध्यान रखा है। अब राष्ट्रीयता और सस्कृति को अलग-अलग करने का दोनो के आधार अलग-अलग रखने का परीक्षण आरम्भ हुआ है। भारत आदि कुछ देशो मे निरपेक्ष धर्म का ऐसा ही परीक्षण हो रहा है। इसके प्रयोग मे सफलता मिल जाय तो सस्कृति से राष्ट्रीयता की उत्पत्ति के सिद्धान्त में अन्तर आ सकता है। इन परीक्षणो की सफलता-असफलता के लिए धैर्यपूर्वक प्रतीक्षा की आवश्यकता है।

संस्कृति को जो लोग 'कला' तक सीमित कर देना चाहते है, वे उसके महत्त्व को घटाते है। आज

लोकनृत्य, चित्रकला, सङ्गीत पद्धति, शिलालेख, सिक्के, पुराने जेवर, खिलौने, ऐतिहासिक खोज, वेश विन्यास आदि में सस्कृति को सीमावद्ध किया जा रहा है। सांस्कृतिक कही जाने वाली पुस्तको मे इन्ही बातों की चर्चा होती है। कोई सांस्कृतिक प्रदर्शनी, गोष्ठी, सङ्गठन आदि हो रहा हो तो वहाँ इन्ही बातो का ऊहापोह होता दिखाई देता है। निस्संदेह यह बाते भी संस्कृति का एक अंग है, पर इन्ही तक सारी गतिविधि को सीमित कर देना ऐसा ही है जैसे घोड़ा पालकर उससे सवारी का लाभ उठाने की अपेक्षा केवल घोड़ा की पूँछ के कुछबाल उखाड़ कर उसे टोपी मे लटकाये फिरना। 'पुरातत्व' का ही दूसरा नाम संस्कृति नही है। दोनो मे सम्बन्ध और समानता तो है पर कार्य क्षेत्र भिन्न है। पुरातत्व हमारे इतिहास पर प्रकाश डालता है, पर सस्कृति का उद्देश्य तो मनुष्य को सुसस्कृत बनाना— उसके विचार और कार्यों को उच्चनैतिक भूमिका मे विकसित करना है। सास्कृतिक मे जो कला है, वह केवल 'कला' नही, वरन् विचार और व्यवहार आध्यात्मिक सौंदर्य निखार की एक महत्त्वपूर्ण शक्ति तरग कही जा सकती है।

विचार पद्धति को एक प्रकार के सैद्धान्तिक विज्ञान की शृखला कही जा सकती है। उसे समझने और हृदयगम करने के लिए स्थूल उपकरणो की आवश्यकता होती है। साइन्स के विद्यार्थी को केवल पुस्तक या व्याकरण के द्वारा सिद्धात समझाये जॉय और उन सिद्धातो को उपकरणो, यंत्रों एव वस्तुओ की सहायता से प्रत्यक्ष करके न दिखाया जाय तो समझने वाले को भारी कठिनाई पड़ेगी और समझने वाले तथा समझाने वाले का उद्देश्यपूर्ण न होगा। इसलिये सिद्धातो के प्रतिपादन के लिए निश्चय ही कुछ प्रयोग प्रत्यक्ष रूप से करने होगे। ठीक यही बात भारतीय सस्कृति के जीवन की निष्ठा और नीति का निर्धारण करने वाले उच्च आदर्शों के बारे मे लागू होती है। उनको कह देना और सुन लेना इतना ही काफी नही है वरन् वे अन्तस्तल तक उतर जाय और हृदयंगम होकर जीवन की गतिविधि मे प्रकट होने लगें, इस स्थिति को उत्पन्न करने के लिए कुछ प्रत्यक्ष प्रदर्शनात्मक आयोजनो की भी आवश्यकता पड़ती हैं। ऋषियो ने इस आवश्यकता को भली प्रकार समझ लिया था और उन्होंने उसकी समुचित व्यवस्था भी बना दी है।

इस व्यवस्था का नाम 'संस्कार' रखा गया है। हम बराबर सुसंस्कृत बनते चलें, इस उन्नति क्रम में सहायता देने के लिए पग-पग पर ऐसे प्रोत्साहन भरे प्रदर्शनात्मक, उल्लासपूर्ण, विचारोत्तेजक, मनोवैज्ञानिक प्रभाव छोड़ने वाले, मत्र शक्ति से समन्वित धार्मिक परम्पराओ से ओत-प्रोत सामाजिक उत्सवों का निर्माण किया गया। इन आयोजनो के द्वारा ऐसा वातावरण उत्पन्न किया जाता है, जिससे उन भाग लेने वालों को सांस्कृतिक आदर्शों को हृदयंगम करने और आचरण में लाने की भारी प्रेरणा मिले। गरम लोहे की ठोकपीट करने पर उसे मनमर्जी से तोड़ा-मरोड़ा जा सकता है। सभा प्रदर्शनों और सामूहिक सामाजिक उत्सवों में मनुष्य की मनोभूमि उल्लसित होती है, उस समय में वह कई बार साहसपूर्ण निर्णय कर डालता है, ऐसे अनेक उदाहरण देखे गये हैं। गरम लोहे की तरह जो छाप उस पर उस समय डाली जाती है वह अधिक टिकाऊ होती देखी गई है। इसीलिए सरकारों का महत्त्वपूर्ण आयोजन किया गया है।

षोडस सस्कार प्रसिद्ध है। बालक के गर्भ में आने से लेकर मृत्यु पर्यन्त पुंसवन, सीमन्त, जातकर्म नामकरण, अन्न प्राशन, चूडाकर्म, विद्यारभ, यज्ञोपवीत, वेदारंभ, समावर्तन, विवाह, अग्न्याधान, अन्त्येष्टि आदि संस्कार समय-समय पर होते रहते हैं, इससे उसे आगामी कार्यक्रम के लिए समुचित शिक्षण बड़े ही उल्लासपूर्ण वातावरण मे मिलता रहता है। प्रति मास आने वाले त्यौहार, व्रत और जयन्तियां अपने भीतर भारी शिक्षाएँ छिपाये हुए हैं। हर त्यौहार जीवन मे इस विशेष सिद्धांत का, कार्यक्रम का प्रतीक है, उस त्यौहार को उस सिद्धान्त एवं कार्यक्रम को समझने और समझाने की यदि पूर्वकाल की भांति समुचित व्यवस्था रहे, तो हँसी-खेल में जीवन की महान् शिक्षा का वह विश्वविद्यालय घर-घर में बड़ी सफलतापूर्वक चलता रहे। व्रत उपवास स्वास्थ्य सुधार एव आत्मशुद्धि के लिए ही नही है वरन् इन व्रतो के साथ जो कथा-गाथाएँ एवं परम्पराएँ जुड़ी रहती है, वे उस दिन के विशेष चिन्तन-मनन के कारण अन्त.करण पर एक अभीष्ट छाप छोड़ती हैं। महापुरुषो और देवताओं की

जन्म-जयन्तियां उन महान् आत्माओं के कार्यों, चरित्रों और उपदेशों को हमारे सम्मुख रखने के लिए सचमुच ही बहुत भारी प्रेरणा अपने अन्दर छिपाये रहती हैं। यदि इन संस्कारों, त्यौहारों, पर्वों, व्रतों, जयन्तियों को लकीर पीटना मात्र न रखकर प्रेरणाप्रद उत्सवों का प्राचीनकाल जैसा रूप दे दिया जाय। प्रभावशाली, चरित्रवान और निःस्वार्थ पुरोहित यदि इन कार्यक्रमों को पूरी दिलचस्पी के साथ लोकमानस निर्माण की दृष्टि से कराने लगें तो यह निश्चित है कि जितना कार्य अनेकों सभा सोसाइटियों, अखबार, पर्चे, लाउडस्पीकर, विद्यालय, शिविर नही कर सकते वह सब अनायास ही बहुत सुगम रीति से हो सकता है। जीवन के महान् आदर्शों की शिक्षा देने के लिए वह संस्कार, त्यौहार आदि के अवसर सर्वोत्तम माध्यम सिद्ध हो सकते है।

प्रत्येक जीवित व्यक्ति की जन्मतिथि और कुछ विशेष पूर्वजों की निधन तिथि यदि ठीक प्रकार मनाई जाने लगे तो हर जीवित व्यक्ति को अपने जीवन का मर्म समझने सोचने का अवसर मिलता रहे और पूर्वजों के जीवन से शिक्षा प्राप्त करने एवं उनके प्रति कृतज्ञता प्रकट करने का अवसर मिलता रहे। इन दो व्यक्तिगत त्यौहारों का प्रचलन अब लुप्त होता जा रहा है। पर वस्तुतः इनका मनाया जाना बहुत ही शिक्षाप्रद एवं उपयोगी सिद्ध हो सकता है।

अनेकों रीति-रिवाज, पूजा-उपासना के प्रकार तीर्थ-यात्रा कथा-कीर्तन, आचार-विचार, रहन-सहन, भाषा-भेष, भाव आदि के पीछे भी उन्ही आदर्शों की आत्मा झाकती है जो मानव को महामानव बनाने के लिए बनाये गये हैं, रामायण, भागवत, गीता आदि की कथाएँ यद्यपि आज के लोग अमुक उपाख्यान सुन लेने से स्वर्ग का अमुक लाभ प्राप्त होने की तुच्छ बुद्धि के अनुसार पढ़ते-सुनते हैं पर यदि उन्हे आदर्शों की प्रेरणा के लिए सुना या पढ़ा जाय तो सामान्य सभा-व्याख्यानो की अपेक्षा उनका प्रभाव अनेक गुना हो सकता है। ऐसी कथाएँ मरने के बाद स्वर्ग पहुँचाने के लाभों तक ही सीमित न रहकर नैतिक उत्थान में तुरन्त सहायक हो सकती है और भूतल पर स्वर्ग रचना की भूमिका सम्पादन कर सकती है। प्राचीनकाल में होता भी ऐसा ही था।

वर्णाश्रम-धर्म एक श्रेष्ठतम समाज रचना है। आज ऊँच-नीच की, भेदभाव की, विशेषाधिकारों की जो विकृतियाँ उसमें घुस पड़ी हैं, उन्हें हटा दिया जाय तो वह वस्तुतः एक अत्यन्त उपयोगी और समाज को सुव्यवस्थित, सुविकसित और सुसंगठित होने में योग दे सकती है।

पंडित, पुरोहित, साधु, संन्यासी, पुजारी आदि का लोक सेवी एवं धर्म-प्रचारक वर्ग यदि आज की हरामखोरी को छोड़कर प्राचीनकाल की भांति जनता के नैतिक शिक्षण के लिए आदर्श प्रहरी की तरह अपने आप को जुटा दे तो करोड़ों रुपया जो इन लोगों के निमित्त आज अपव्यय हो रहा है वह सच्चे अर्थों में सार्थक हो जाय।

जो सिद्धांत आदर्श, और आचार-विचार आज कुछ अटपटे से लगते हैं और जिनकी वास्तविकता मे सन्देह होने के कारण लोग उन्हें अपनाने को तैयार नही होते, यदि उनको वैज्ञानिक दृष्टि से उपयोगिता, तान्त्रिक दृष्टि से वास्तविकता और व्यवहारिक दृष्टि से आवश्यकता को समझा दिया जाय तो उपहास का कारण न रहकर वे तथ्य जीवन के एक महत्त्वपूर्ण अंश बनकर हमारे स्थान में भारी सहायता पहुँचा सकते हैं।

पुरानी होने पर हर वस्तु में कुछ विकार आते है, हमारी संस्कृति में भी आये हैं, पर मूल वस्तु शुद्ध हो तो बाहरी विकार जल्दी ही दूर हो जाते हैं।

चाँदी जमीन मे गढ़ी रहे तो मैली हो जाती है, पर उसे मांजने पर फिर पहला रूप निखर सकता है। भारतीय संस्कृति ने प्राचीनकाल मे इस देश के कोने-कोने में आदर्शवाद का शुभ्र प्रकाश फैलाया था नर-रत्न पैदा किये थे और सुख शान्ति की स्वर्गीय परिस्थितियो का इस भूमि पर अवतरण किया था। प्रयत्न करने पर अब फिर भी वैसा हो सकता है। सांस्कृतिक पुनरुत्थान आज की एक महान् आवश्यकता है। उसकी उपेक्षा करने से प्रगति-पथ पर आगे बढ़ नही सकते।

बहुमुखी प्रतिभाओं का ऊर्जा केन्द्र भारतवर्ष

देश समाज एवं संस्कृति का बहुमुखी विकास किसी भी राष्ट्र में रहने वाले व्यक्तियों के स्तर के ऊपर

निर्भर करता है। सुसस्कृत, सभ्य, सुशिक्षित, परिश्रमी तथा प्रतिभा के धनी व्यक्तियो का बाहुल्य जिस भी समाज मे होगा वह आगे बढ़ेगा—प्रगति करेगा । भौतिक, आध्यात्मिक एवं सांस्कृतिक दृष्टि से वह उन्नति के सर्वोच्च शिखर पर होगा । इसके विपरीत व्यक्तियो के स्तर गिरने से किसी समाज अथवा राष्ट्र के पतन-पराभव का मार्ग प्रशस्त होता है । आज की स्थिति मे दूसरे देशों की अपेक्षा भारत का अतीत अधिक प्रेरणादायक रहा है। उसका स्वर्णिम इतिहास है। सभ्यता का आरम्भिक विकास ज्ञान की विभिन्न धाराओ का अवगाहन भारत की ही पावन भूमि से हुआ । जो समस्त विश्व मे प्रवाहित हुआ था । कृषि, शिल्प, कला, साहित्य, विज्ञान, गणित, ज्योतिष, जीवविज्ञान, भूगोल आदि का सुविकसित ज्ञान जो आज सर्वत्र दिखाई पड रहा है, उनका मूल आविष्कार-अन्वेषक भारत ही रहा है। सुविकसित ज्ञान एव विज्ञान के अगणित तथ्य एवं प्रमाण इतिहास के पन्नो मे मौजूद है।

सिन्धु घाटी की सभ्यता का आरम्भ ४००० ई० पूर्व से होता है। उस समय के तकनीकी ज्ञान के प्रचुर प्रमाण उपलब्ध है । उस प्राचीन समय में भी सिन्धु घाटी के निवासी हल, रथ, चक्र, का प्रयोग करते थे साथ ही विभिन्न धातुओ से औजार बनाने की कला मे भी निपुण थे । उन्होंने बडे-बड़े शहरो का निर्माण किया था। ईसा से ३००० वर्ष पूर्व पश्चिम एशिया वासी तथा यूनानी तकनीकी विद्या में सिरमौर थे । इसी काल मे भारत सामाजिक एवं आर्थिक दृष्टि से इनका मार्गदर्शक था। पुरातत्व अन्वेषणो मे मिले अवशेषों से यह ज्ञात हुआ है कि तत्कालीन नगर सुव्यवस्थित तथा बड़े व्यापारिक केन्द्र थे । इनमें गटर पद्धति तथा पक्की ईटों का, निर्माण कार्य हेतु प्रयोग हुआ था । पेंटिंग एवं चित्रकारी भी उस काल मे अद्भुत थी । पाटरी नामक स्थान पर अवशेषो मे पालीक्रामिक पेन्ट का प्रयोग पाया गया जो पेण्टिग की अच्छी जानकारी का परिचय देता है। कांसे तथा तांबे के वर्तनो तथा औजारो पर पुष्पो, लताओं, विभिन्न प्राणियों तथा पक्षियो के सुन्दर चित्र पाये गये । धातु शिल्प के अवशेष मॉडलों मे छाटन भारी साढ़े चौबीस फीट लौह स्तम्भ सिन्धु घाटी में पाया गया जो ८०० ईसवी पूर्व का बना हुआ है, जिसके लोहे की शुद्धता ९९.७२ प्रतिशत आंकी गई । जंग से बचाने के लिए इस पर मैगनीज आक्साइड की पतली परत भी चढ़ाई गई थी, जिससे यह विदित होता है कि उस काल के शिल्पियो को रासायनो का अच्छा ज्ञान भी था।

ईसवी सन् ४००-८०० के बीच बनी पीतल तथा तांबे की ४० फीट से लेकर ८० फीट तक विशाल शुद्ध प्रतिमाओं को देखकर आज के बड़े-बड़े इन्जीनियर भी दांतों तले उंगली दबाते हैं कि आधुनिक तकनीकी ज्ञान के अभाव मे भी उस समय के शिल्पी किस प्रकार बड़े से चड़े गार्टरों एवं बीमो का प्रयोग करते थे? उस काल में वैसी जानकारी का प्रमाण विश्व के अन्य किसी भी देश में नही मिल सका है। उड़ीसा के जगन्नाथ तथा कोणार्क मन्दिर में १ वर्ग फुट मोटे तथा ३५ फीट लम्बे २३९ लोहे के बीम आज भी देखे जा सकते है, जिसमें प्रयुक्त धातु ९९.६४ प्रतिशत शुद्ध लोहा है और वह भी ऐसा जिसमे कभी भी जंग नही लग सकता ।

उन दिनों गणित एवं ज्यामिती के क्षेत्र में भी उल्लेखनीय प्रगति हो चुकी थी । श्रोत-सूत्रों के अनुसार यज्ञ वेदियों के निर्माण में ज्यामिती के नियमों का ध्यान रखा जाता था । प्राचीन भारतीय गणितज्ञों में आर्यभट्ट तथा भास्कराचार्य का नाम बहु प्रख्यात है। वे पाँचवी सदी मे पैदा हुए थे । गणित तथा ज्यामिती के नियमो एवं सूत्रों को विकसित करने का श्रेय उनके बाद ब्रह्मगुप्त, महावीर तथा भास्कर द्वितीय को दिया जाता है। छठवी शताब्दी मे ही उन्हें दशमलव प्रणाली का बोध था, जिससे दूसरे देश सदियो बाद परिचित हो सके । सीरिया के एक विद्वान का मत है कि भारतीय गणित की उस समय की जानकारी अद्वितीय है। भारत से विकसित हुई दशमलव प्रणाली का ही सम्पूर्ण विश्व प्रयोग कर रहा है।

आर्यभट्ट के समय से ही वर्गमूल, घनमूल त्रिकोणमिति, पिरामिड एवं वृत्त के सूक्ष्म गणित का विकास हुआ । पाई के स्थिराक की शोध आर्यभट्ट ने ही की थी। जो आज भी -३.१४१६ अपरिवर्तनीय स्थिरांक है। अरब, चीन, यूरोपीय देशो मे इस ज्ञान का विस्तार भारत से ही हुआ । भास्कर द्वितीय विरचित सिद्धार्थ शिरोमणि ग्रन्थ आज भी बीजगणित का अद्वितीय शोध प्रबन्ध माना जाता है। उसमें कितने ही

गूढ़ सूत्र ऐसे हैं जो आज के गणितज्ञों की समझ से परे हैं। आर्यभट्ट ग्रन्थ मे स्वयं आर्यभट्ट तथा वाराहमिहिर द्वारा स्थापित ५ खगोल विद्या के सिद्वात खगोलशास्त्रियों के लिए अभी भी प्रेरणा स्रोत हैं।

ज्योतिर्विज्ञान के आकलन पहले विशुद्ध रूप से गणितीय सिद्धान्तो पर आधारित थे। ज्योतिष शास्त्र के नाम पर भाग्यफल बताने वाले आज जैसे पाखंडियों का उसमे समावेश न था। भारत के विभिन्न स्थानों पर ऐसी वेधशालाओं की स्थापना हुई थी, जिनसे अन्तर्ग्रहीय स्थिति एवं प्रभावो को देखा—जाना जाता था। जयसिंह द्वितीय द्वारा अठारहवी सदी में वाराणसी, मथुरा, दिल्ली, जयपुर में वेधशालाएँ बनवाई गयीं जिनके चिन्ह आज भी विद्यमान है। विशेषज्ञों के सहयोग से सूर्य पंचांग बनवाये गए। ग्रह नक्षत्रों के वेध के लिए विभिन्न प्रकार के यंत्र बनवाये गये। पृथ्वी की शक्ल विभिन्न आयामों से देखने के लिए भी कई प्रकार के चक्र उनके द्वारा विनिर्मित कराये गये। जयसिंह स्वय भी ज्योतिर्विज्ञान का अच्छा ज्ञाता था। इसका प्रमाण उसकी लिखी पुस्तक "जिज मुहम्मद सहाई" को देखने से मिलता है। उसमे वर्णित अगणित सिद्धान्तों तथा प्रयोगों का अनुसरण आज के खगोलविद् करते है। ज्योतिर्विज्ञान, खगोल विज्ञान का ज्ञान कितना अधिक बढ़ा-चढ़ा था, इसका प्रमाण इस बात से मिलता है कि १२०० से लेकर १८०० ई. के बीच उपरोक्त विषयों से सम्बन्धित लगभग १० हजार पुस्तकें संस्कृत, अरबी तथा फारसी भाषाओं में लिखी गई। इनमें से कुछ ही दुर्लभ ग्रन्थ आज उपलब्ध हैं। मौलिक पुस्तकें ही नही पुरातन ग्रन्थों की टीकायें तथा अनुवाद के कार्य मे भी तत्कालीन विद्वान गहरी अभिरुचि रखते थे।

उस काल के चिकित्सक मात्र वैद्य ही नही, तत्वज्ञानी भी होते थे। स्वास्थ्य रक्षा के लिए वे स्वास्थ्य विज्ञान, नर्सिंग, औषधियों की ही मात्र जानकारी नही रखते थे वरन् मन और आत्मा की रोगोत्पत्ति तथा निवारण मे क्या भूमिका होती है, इस तथ्य से भी भली भाँति परिचित होते थे। उन दिनो शल्य चिकित्सा के उपकरणो-स्केलपल, कैथेटर्स सिरीज आदि का भी विकास हो चुका था। चरक सुश्रुत, वागभट्ट जैसे आयुर्वेदविदो की गणना शल्य चिकित्सा के मूर्धन्य जानकारों में की जाती है। इस्लाम युग में अलकेमी तथा रसायनों के माध्यम से उपचार करने की प्रक्रिया अत्यन्त विकसित होने का प्रमाण मिलता है। तालपत्र पर लिखे सम्बन्धित विषयों की अगणित दुर्लभ पाण्डुलिपियाँ आज भी उपलब्ध हैं।

चिकित्साशास्त्र के साथ-साथ छोटे-छोटे उद्योगों को चलाने की आवश्यक तकनीकी ज्ञान की जानकारी भी उस काल के लोगो को अच्छी प्रकार थी। रंग, इत्र, पायरोटेकनिक्स, कागज तथा चीनी का उत्पादन छोटे पैमाने पर होता था। धातु विज्ञान में नवीन धातु प्रयोग परीक्षण तथा ताँबा, जस्ता, लोहा, सोना, चाँदी, शीशा आदि के मिश्रित धातु (एलॉय) बनाने की विद्या भी खूब प्रचलित थी, जो आज की दृष्टि से कही अधिक सुविकसित थी। भोजन बनाने वाले ताँबे के बर्तनो पर कलई करने की विद्या भी उस समय ज्ञात थी। जस्ता मिश्रित 'विदारी' नामक एक धातु का प्रयोग १६वीं सदी मे होता था, जिसकी जानकारी यूरोपीय देशो को सदियों बाद भारत से ही हुई। हथगोले, तोप आदि भी इसी काल में बनने आरम्भ हो गये थे,

अध्यात्म, धर्म एवं दर्शन के क्षेत्र मे यह देश अग्रणी था। मनीषी, परिव्राजकगण ज्ञान की धाराओ को देश की सीमाओं से बाहर ले जाकर प्रवाहित करने तथा अगणित लोगों के कल्याण हेतु सतत्त कटिबद्ध रहते थे। समय-समय पर असंख्यों व्यक्ति प्रदेशों को—पहाड़ो, कन्दराओं, रेगिस्तानों को पार करते हुए दूसरे देशो मे पहुँचे तथा अपने ज्ञान-विज्ञान की जानकारियो से दूसरो को परिचित कराया। यहाँ की कीर्ति सुनकर समय-समय पर दूसरे देशों से यात्री भी ज्ञान गंगा में डुबकी लगाने के लिए आते रहे है। फाह्यान, मार्कोपोलो, ह्वेनसांग आदि अगणित यात्रियो का उल्लेख इतिहास के पृष्ठो मे मिलता है।

समीक्षाकारो ने १९वी सदी तथा १२वीं सदी के आरम्भिक तीन दशको को भारतीय विज्ञान का स्वर्णयुग कहा है, जिसमें कितनी ही मूर्धन्य वैज्ञानिक प्रतिभाओं का प्राकट्य हुआ। जगदीश चन्द्र बोस (१८५९-१९३७) के ५ से १५ मिलीमीटर इलैक्ट्रोमैग्नेटिक तरगों के आविष्कार का लोहा आज भी दुनियाँ मानती है। वृक्ष-वनस्पतियाँ भी विचारो से प्रभावित होते तथा तदनुरूप प्रतिक्रिया दर्शाते है, बोस

पहले व्यक्ति थे, जिनने यह प्रयोग किया तथा वैज्ञानिको को इस तथ्य से परिचित कराया। तब से लेकर अब तक इस क्षेत्र मे अनेको प्रयोग परीक्षण उन्ही के आविष्कार की प्रेरणा से हुए है।

भौतिकी मे क्रान्तिकारी खोज करने वाले वैज्ञानिक सी वी. रमन को उनकी महत्त्वपूर्ण खोज 'रमन एफेक्ट' के लिए संसार मे सदियो तक याद किया जाता रहेगा। इस उल्लेखनीय खोज पर उन्हें नोबेल पुरस्कार मिला। 'रमन रिसर्च इन्स्टीट्यूट बंगलोर' की स्थापना उन्हीं के नाम पर हुई।

गणित एव भौतिकी के क्षेत्र मे एस. एन. बसु का कार्य भी अद्वितीय है। मेघनाथ साहा (१८९३-१९५६) खगोलशास्त्र मे अन्तर्ग्रही प्रकाश मे 'साह इक्वीशन' की खोज के लिए प्रख्यात है। भौतिकी क्षेत्र के आयोनाइजेशन तथा पृथ्वी के अत्यन्त ऊपरी वायु परतों मे रेडियो वेव प्रसारण की खोज का श्रेय इन्ही को है। विलक्षण प्रतिभा, अदभुत मेधा, अद्वितीय स्मरण शक्ति के धनी गणितज्ञ श्रीनिवास रामानुजम् ने अपनी विशेषताओ से यह सिद्ध कर दिखाया कि मात्र स्कूली शिक्षा ही सब कुछ नही है। मनुष्य की मौलिक प्रतिभा का महत्त्व कहीं अधिक है। उनकी गणितीय खोजों के लिए १९१८ मे ब्रिटेन की रॉयल सोसाइटी ने प्रभावित होकर उन्हे सदस्य बनाया।

न्यूक्लियर युग मे देश को ले जाने का श्रेय डॉ. होमी भाभा को है, जो एक ऋषि की तरह जीवनपर्यन्त शोध कार्य मे साधनारत रहे। "भाभा एटॉमिक रिसर्च सेंटर" उनकी स्मृति मे बना एक शोध स्मारक है। बायोकेमिस्ट हरगोविंद खुराना का जन्म भी भारत भूमि मे ही हुआ जो इन दिनो अमेरिका के मैसाचुसेट्स इन्स्टीट्यूट ऑफ टेक्नालॉजी के स्लोअन चेयर ऑफ केमेस्ट्री एण्ड बायलोजी पर पदासीन हैं। कृत्रिम जीन उत्पादन करने के महत्त्वपूर्ण प्रयोगों के लिए उन्हे नोबेल पुरस्कार मिला।

समय-समय पर अगणित सपूत भारत की मिट्टी से पैदा हुए हैं, जिन्होने अनेक ज्ञान-विज्ञान की कठोर साधनाएँ की हैं। जो कुछ भी उपलब्ध हुआ वह देश की सीमाओं तक ही उपभोग के लिए कैद न रहा वरन विश्वभर मे वितरित हुआ। समग्र मानव जाति ने उससे लाभ उठाया। उनकी ज्ञान साधना एवं कठोर तप की स्मृतियाँ आज भी मन को पुलकित करती तथा सूक्ष्म प्रेरणा देती है। "उठो देश के तप: सपूतो, अपनी गौरव गरिमा को याद करो। देश की गरिमा की पुनर्प्रतिष्ठा के लिए प्रचण्ड कर्मयोग की पुरुषार्थ प्रक्रिया को अपनाओ।"

सद्ज्ञान और सत्कर्म की संस्कृति

पौधा तब बढ़ता है जब उसे खाद और पानी दोनो ही उचित मात्रा में मिलते रहें। यदि बीज ऐसी जमीन में बोया जाय, जिसमे उर्वरा शक्ति न हो, खाद का अंश न मिला हो तो अच्छा बीज होते हुए भी वह उगेगा नही। इसी प्रकार जमीन में खाद का आवश्यक अश होने पर उगे हुए पौधे को यदि पानी न मिले तो भी वह बढ़ न सकेगा और मुरझाकर सूख जायेगा। इसी प्रकार सुसंस्कारों का पौधा ज्ञानरूपी खाद और कर्मरूपी पानी पाकर बढ़ता है। दोनो मे से एक की भी कमी रह जाय तो अन्तरात्मा मे सन्निहित सुसस्कारों को विकसित होने का अवसर न मिलेगा।

दोनो पैर ठीक हो तो चलने की क्रिया मे बाधा नही पड़ती, दोनों हाथ ठीक हों तो प्रस्तुत कामो को ठीक तरह करते रहना बन पड़ता है। यदि एक या दोनो पैर न हों तो चलने मे भारी बाधा पड़ेगी। इसी प्रकार जिसके एक या दोनो हाथ न हों तो काम-काज कठिनाई से ही कर सकेगा। आत्मिक उन्नति के लिए ज्ञान और कर्म का वही महत्त्व है, जो चलने के लिए पैरों और करने के लिये हाथो का। लंगड़े-लूले आदमी भी कुछ तो काम चलाते ही हैं पर सर्वांगपूर्ण स्वस्थ होने पर जो सम्भव था वह कहाँ हो पाता है? आत्मोन्नति की प्रक्रिया सद्ज्ञान और सतकर्म के अभाव मे अस्त-व्यस्त ही रहती है।

मानवीय चेतना मे जो सत् तत्व है, इसके विकास का विधिवत् प्रयत्न करना पड़ता है। इस प्रयत्न में कमी रहती है तो प्रगति का द्वार रुका ही पड़ा रहता है। दर्पण के आगे जिस प्रकार की आकृति आती है वैसा ही प्रतिविम्ब दीखने लगता है। मानवीय चेतना को जैसे व्यक्तियों जैसी परिस्थितियो के सान्निध्य में रहना पड़ता है वह वैसी ही बन जाती है। कसाई के घर में उत्पन्न हुआ बालक बडा होते-होते अपने घर का

व्यवसाय सीखकर बिना किसी लज्जा या घृणा के छुरी चलाने लगता है। पुजारी, ब्राह्मण के बालक में सेवा पूजा के संस्कार पड़ते हैं और वयस्क होने पर उसके गुण, कर्म स्वभाव अपने घर वालो जैसे ही ढलने लगते हैं, कसाई का बालक और पुजारी का बालक गुण, कर्म, स्वभाव की दृष्टि से परस्पर कितने विपरीत हैं? इसे देखकर यह निष्कर्ष सहज ही निकाला जा सकता है कि मनुष्य को जिन परिस्थितियों में रहना पड़ता है, उधर ही उसकी प्रगति होने लगती है।

आन्तरिक प्रगति सही दिशा में होती रहे इसके लिये बहुत सावधानी के साथ प्रयत्न करने पड़ते हैं। तत्वदर्शी ऋषियो ने इस संदर्भ में एक सागोपांग जीवन, दर्शन, नीति-शास्त्र एवं आचार सहिता का सुव्यवस्थित आधार निर्धारित किया है, उस निर्धारण का नाम है- 'संस्कृति'। संस्कृति का तात्पर्य ज्ञान और कर्म की उस व्यवस्था से है, जो मानवीय चेतना को स्वस्थ दिशा से विकसित करने के लिए खाद-पानी की तरह आवश्यक एवं उपयोगी सिद्ध होती है।

मनुष्य अपने मानवीय आदर्शों के अनुरूप व्यवस्थित एवं विकसित हो, इसके लिए उसे संस्कृति का आधार लेना पड़ता है। विभिन्न देशों और जातियों की अपनी विशेषताओं और परिस्थितियो के कारण, संस्कृति के बाह्य कलेवर में अन्तर देखा जाता है। पूर्व और पश्चिम के देशों में संस्कृति का बाह्य स्वरूप भिंन देखा जाता है। रीति-रिवाज, पहनाव, उढ़ाव, पूजा, पाठ एवं रहन-सहन के तरीको में अन्तर होते हुए भी विश्व संस्कृति का मूल आधार सर्वत्र एक ही देखा जाता है। सत्-ज्ञान और सत्-कर्म इन दो को प्रत्येक संस्कृति मे वही स्थान प्राप्त है, जो अनेक आकार-प्रकार से बने हुए मकानो में ईंट-चूने को। ईंट-चूना हर इमारत का आधार होता है, उनके डिजायन आवश्यकता और अभिरुचि के अनुरूप बदलते रहते है।

यदि सद् विचारों को मस्तिष्क और अन्त.करण मे स्थान देने के लिए प्रयत्न न किया जायेगा तो अपने जन्म-जन्मान्तरों के सग्रहीत कुसस्कार और आस-पास के अनैतिक आकर्षण प्रभाव डालते रहेंगे और मनोभूमि दिन-दिन दूषित होती चली जायेगी। शरीर में मैल भीतर से भी निकलता है और बाहर से भी जमता है। यह प्रक्रिया हमें चाहे कितनी ही अप्रिय क्यों न लगे पर जो क्रम बना हुआ है वह तो रहेगा ही। उपाय केवल यही हो सकता है कि स्नान आदि से रोज-रोज उस मैल की सफाई की जाती रहे। मन पर भी शरीर की ही भाँति मैल जमता है। अपने संग्रहीत कुसंस्कार भीतर से जोर मारते हैं और बाहरी वातावरण में बुराइयों का आकर्षण कुछ कम प्रबल नही हैं। दोनो के सम्मिश्रण से दुर्बुद्धि की एक अच्छी खासी आसुरी शक्ति उत्पन्न होती है, जिसका प्रभाव मन पर धीरे-धीरे जमते रहने से आन्तरिक स्तर आधोगामी होने लगता है।

इस विपन्नता को रोकने के लिए हमें सस्कृति का अवलम्बन ग्रहण करना पड़ता है। जिस प्रकार पानी और साबुन की सहायता से कपड़े का मैल छूटता है उसी प्रकार मन पर जमे हुए मलिनता के परतो की सफाई सद्ज्ञान और सत्कर्म के आधार पर होती है।

यह सुनिश्चित है कि आन्तरिक उत्कृष्टता के आधार पर ही मनुष्य के स्वभाव में सद्गुणों को स्थान मिलता है और सद्गुणों द्वारा ही जीवन की विभिन्न दिशाओं में स्थायी प्रगति होती है। चोरी बेईमानी से कुछ लोग, कुछ समय तक, कुछ-कुछ लाभ उठा लेते हैं, पर किसी महान् और चिरस्थायी सफलता का आधार यह बुराइयाँ कभी भी नही हो सकती। सज्जनता और सच्चाई में ही वह शक्ति है कि किसी व्यक्ति या व्यवसाय की उन्नति के उच्च शिखर पर पहुँचा जा सके और उसकी प्रतिष्ठा को चिरस्थायी बनाया जा सके। सुख, शाँति और श्री, समृद्धि की आधार शिला मनुष्य की आन्तरिक उत्कृष्टता ही होती है। इसी उपलब्धि को जीवन का सबसे बड़ा लाभ माना गया है। इस लाभ को प्राप्त करने की विधि व्यवस्था को संस्कृति कहते हैं। संस्कृति का अर्थ है— सद्ज्ञान और सत्कर्मों का सचय।

जल्दबाज लोग आत्म निर्माण की, जीवन निर्माण की प्रक्रिया को कष्टसाध्य समझकर उतावली मे तत्काल लाभ देने वाली दुष्प्रवृत्तियो को अपनाकर कुछ ही देर में भारी लाभ प्राप्त कर लेने की योजना बनाते रहते हैं। अनीति एवं धूर्तता के सहारे वे भारी सफलता प्राप्त कर लेने के सपने देखते है। पर होता यह है कि उनकी यह जल्दबाजी सफलता को ही संदिग्ध नही

बनाती वरन् उनके व्यक्तित्व को भी नष्ट कर देती है। प्रगति का राज मार्ग एक ही है कि श्रम और सच्चाई को अपनाकर धैर्य और साहस के साथ आगे बढ़ता रहा जाय। उसे छोड़कर जो पगडडियाँ तलाश करते हैं, वे खतरा उठाते है।

सच्ची प्रगति झूठे आधार अपनाने से उपलब्ध नही हो सकती। स्थायी सफलता और स्थिर समृद्धि के लिए उत्कृष्ट मानवीय गुणों का परिचय देना पड़ता है। जो इस कसौटी पर कसे जाने से बचना चाहते है, जो जैसे बने वैसे, तुरन्त, तत्काल बहुत कुछ प्राप्त करना चाहते है, उनके सपने न सार्थक होते हैं न सफल। यदि अनुपयुक्त मार्ग से चिरस्थायी सफलता सम्भव रही होती तो दुष्ट दुराचारी लोग जेलखानों, पागलखानो, शफाखानो मे बन्द न दीखते, वे अपनी चतुरता के आधार उन्नति के उच्च शिखर पर विराजमान रहते।

जिस प्रकार लौकिक उन्नति का आधार आन्तरिक उत्कृष्टता के आधार पर उत्पन्न हुए सद्गुण ही होते है, उसी प्रकार आत्मिक उन्नति सांस्कृतिक अवलम्बन पर निर्भर रहती है। ज्ञान और कर्म के द्वारा ही अन्त: चेतना को निर्मल और सूक्ष्म बनाया जाता है, तभी वह उच्च स्तरीय प्राप्ति के योग्य बन पाती है। इस राजमार्ग को छोड़कर कई व्यक्ति जल्दबाजी का उपाय खोजते है, पगडडियाँ खोजते है और मृगतृष्णा मे अपना बहुमूल्य समय नष्ट करते है। कई व्यक्ति सोचते है आत्म-सुधार, आत्म निर्माण एवं आत्म-विकास का मार्ग श्रम-साध्य है, इसलिए कोई ऐसी तरकीब ढूँढनी चाहिए जिससे सहज ही आत्मिक-लक्ष्य की प्राप्ति हो जाय। गुरुकृपा, शक्तिपात, आशीर्वाद, देवता की प्रसन्नता, आदि जो साधन उन्हे सरल दीखते है उनकी ओर अधिक लालायित रहते हैं। इस उतावली मे लाभ कम और हानि अधिक होने की सम्भावना ही बनी रहती है।

साधन, उपासना का राजमार्ग मनुष्य की अन्त: चेतना मे ज्ञान और कर्म की आवश्यक प्रेरणा उत्पन्न करने के लिए ही है। ध्यान और जप के द्वारा साधक अपने स्वरूप को, आत्मा को, अपने उद्गम परमात्मा को समझने की चेष्टा करता है और दोनों की एकता का तारतम्य मिलाता है। जप के द्वारा उस विराट ब्रह्म के प्रति अपनी निष्ठा बढ़ाता है, जो उच्च भूमिका में उपलब्ध होने वाली महान् अनुभूतियों का उद्गम है। जप और ध्यान के समय जिस परब्रह्म की धारणा की गयी थी, उसे पूजा के बाद व्यावहारिक जीवन में उतारना भी आवश्यक है। अन्यथा केवल एक नियत समय पर थोड़ा पूजा विधान या जप, ध्यान कर लेने मात्र से आत्मिक प्राप्ति का मार्ग प्रशस्त न हो सकेगा। अध्यात्म केवल जप, पूजन या पढ़ने-सुनने तक सीमित न समझा जाना चाहिए। यह प्रक्रियाएँ आवश्यक हैं, पर यदि ज्ञान और कर्म का खाद-पानी न मिला तो यह अध्यात्म भी फला-फूला न दिखाई देगा।

मन.क्षेत्र में सद्विचारों की मात्रा इतनी अधिक भरी रहनी चाहिए कि कुविचारों के लिए वहाँ स्थान ही न बचे। लोहे को लोहे से काटा जाता है। मनोभूमि को दूषित करने वाले विचारों का निराकरण प्रतिरोधी सद्विचारों द्वारा ही सम्भव है। इसलिए यह प्रयत्न रहना चाहिए कि स्वाध्याय, सत्संग, मनन, चिन्तन या जैसे भी सम्भव हो मन मे केवल उत्कृष्ट कोटि की विचारधारा एवं भावना को स्थान मिले। इसी प्रकार अपने कार्यों को ऐसा निर्मल बनाया जाना चाहिए कि उनमें अनीति, छल, असत्य, पाप एवं अकर्म के लिए कोई स्थान न रहे।

ज्ञान की परिपक्वता कर्म द्वारा ही सम्भव है। केवल विचार करते रहा जाय और कर्म मे उनके विचारो की परिणति न हो तो उससे मन बहलाव मात्र होगा। जस्ते और ताँबे के दो तारो मे होकर गुजरती हुई विद्युत-धारा जब एकत्रित होती है, तो उसका चमत्कार दृष्टिगोचर होता है। ज्ञान और कर्म अलग-अलग रहे तो वे भार मात्र है। पर जब सद्विचार के साथ सत्कर्मों की प्रक्रिया बनती है तो वह कर्म-योग एक उत्तम योग साधना का रूप धारण करके आत्मकल्याण के लक्ष्य को पूर्ण करने मे समर्थ हो जाता है।

हम सुसंस्कृत बने। संस्कृति को अपनावें। जीवन लक्ष्य की ओर राजमार्ग मे चले। ज्ञान और कर्म की उपासना करे। आन्तरिक स्तर सुधारे और सत्प्रवृत्तियो को बढ़ावे तो ही हमारा कल्याण होगा, तो ही जीवन-लक्ष्य की पूर्ति सम्भव बनेगी।

भारतीय संस्कृति में गुण-कर्म की प्रधानता

गुण, कर्म, स्वभाव से ही किसी व्यक्ति की लघुता और महानता को नापा जा सकता है। जिस प्रकार कलक्टर का लड़का कलक्टर और चपरासी का लड़का चपरासी होना जरूरी नही, इसी प्रकार किसी वश मे उत्पन्न होने वाले सभी व्यक्ति अपने पूर्वजो के समान ही हों, यह कोई आवश्यक नही। सर्वत्र कर्म की ही प्रधानता है। जो जैसे कार्य करता है उसकी गणना उसी श्रेणी में होने लगती है। पूर्व काल मे चारों वर्णो का निर्धारण इसी आधार पर हुआ था, इसके कुछ प्रमाण नीचे उपस्थित किये जाते हैं

एकावर्णमिदं पूर्व विश्वमासीद्युधिष्ठिर।
कर्मक्रिवा विशेषण चतुर्वर्ण प्रतिष्ठितम्॥

—महाभारत

पहले केवल एक ही वर्ण था। बाद मे कर्म-क्रिया विशेष वंश चार वर्ण हुये।

एक एव पुरावेद : प्रणव : सर्ववाडमयः।
देव नारायणोनान्य एकोग्निर्वर्ण एव च॥

—भागवत्

पहले सर्ववाड्मय प्रणव ही एक मात्र वेद था। दूसरा नही नारायण ही एकमात्र देव थे, अन्य और कोई नहीं।

मात्र लौकिक अग्नि ही अग्नि और एक मात्र हस ही वर्ण था।

आदौ कृतयुगे वर्णों नृणां हंस इति स्मृतम्।

—पुराण

प्रारम्भ मे-सत्ययुग मे मनुष्य की एक मात्र जाति हंस थी।

अप्रवृति. कृतयुगे कर्मणो. शुभयापये।
वर्णाश्रम व्यवस्थाश्च न तदसिन न सङ्करः ॥

—पुराण

उस सत्ययुग मे पाप-पुण्य की सृष्टि नही हुई थी, वर्णाश्रम व्यवस्था नही थी। इसीलिये उस समय वर्णशङ्कर भी नही था।

चातुर्वर्णस्य वर्णेन यदि वर्णो विभिद्यते
सर्वेषा खलु वर्णानां दृश्यते वर्णसङ्करः।
कामः क्रोधो भयं लोभः शोकश्चिन्ता क्षुधाश्रमः
सर्वेषां नः प्रभवति कस्मादवर्णो विभिद्यते।
चिद्मूत्रपुरीपाणि श्लेष्मा पित्तं सशोणित।
तनुः क्षरति सर्वेषां कस्याद्वर्णो विभिद्यते॥
जंगमानायसंख्येयाः स्थावराण च जातयः
तेषां विविधवर्णानां कुतो वर्णविनिश्चयः।

—शान्ति. १८८/५

यदि रङ्ग से ही वर्णभेद समझा जाय तब तो सभी वर्णो मे वर्णशङ्कर देखे जायेगे। फिर हम सभी लोग काम, क्रोध, मद, लोभ, शोक, चिन्ता और भ्रम से पराभूत होते है, इसलिये वर्णभेद होते कैसे हैं? स्वेद, मूत्र, पुरीप, श्लेश्मा, पित्त और शोणित सभी शरीरों में समान भाव से क्षरित हो रहे हैं फिर वर्ण भेद कैसे होता है? फिर अशेष प्रकार के स्थावर और जंगमो के वर्णो की विभिन्नता कैसे निश्चित् होगी?

न विशेषोऽस्ति वर्णानां सर्व ब्राह्ममिदं जगत्।
ब्राह्मण पूर्वसृष्टम् हि कर्मभिर्वर्णता गतम्॥.॥
कामभोग प्रियास्तीक्ष्णाः क्रोधनाः प्रियसाहसा.।
व्यक्तस्वधर्मा रक्तागास्ते द्विजा क्षत्रता गता.॥
गोभ्यो वृत्ति समास्थाय पीताः कृष्युप जीविन।
स्वधर्मान्निातिष्ठिन्ति ते द्विज वैश्यतां गताः॥
हिंसानृतप्रिया लुब्धाः सर्व कर्मोपजीविनः।
कृष्ण. शौचपरिभ्रष्टास्ते द्विजाः शूद्रतां गताः॥
इत्येतैः कर्मभिर्व्यस्ताः द्विजाः वर्णान्तरंगताः।
धर्मो यज्ञक्रिया तेषां नित्यं न प्रतिषिध्यते॥
इत्येते चतुरोवर्ण येषां ब्राह्मी सरस्वती।
विहिता ब्रह्मणा पूर्व लोभादज्ञानता गता ॥

—शान्ति पर्व

वर्णों की कोई विशेषता नहीं है। समस्त जगत् को ब्राह्मा ने पहले ब्राह्मणमय ही सृष्ट किया था। बाद में सभी कर्मानुसार नाना वर्ण को प्राप्त हुए। जो ब्राह्मण काम, भोगप्रिय, तीक्ष्ण स्वभाव, क्रोधी, प्रियसाहस और स्वधर्म त्याग करके राजसिक लोहित वर्ण हुये वे क्षत्रिय हो गये। गोरक्ष वृत्ति ग्रहण करके जो कृपिजीवी हुए, वे

स्वधर्म त्यागी पीतवर्ण वाले ब्राह्मण वैश्य हुये। जो ब्राह्मण हिंसाप्रिय, अनृतप्रिय लोभी और सर्वकर्मोपजीवी हो गये, वे शौच-परिभ्रष्ट कृष्णवर्ण ब्राह्मण शूद्र हुये। इन कर्मों से पृथक्-पृथक् ब्राह्मण लोग ही वर्णान्तर को प्राप्त हुये। इसीलिए उनके लिए यज्ञ-क्रिया और धर्म नित्य विहित है, निषिद्ध नहीं। इन चारों वर्णों को वेद में अधिकार है, ब्रह्मा का यही पूर्व विधान है। लोभ के कारण ही लोग अज्ञान को प्राप्त हैं।

ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद्बाहू राजन्यः कृतः।
ऊरू तदस्य यद्वैश्यः पदभ्यां शूद्रो अजायत॥

—१० म मण्डल ९० सूक्त १२

उस प्रजापति के मुख ब्राह्मण, बाहु क्षत्रिय, उरु वैश्य थे और पदों से शूद्र उत्पन्न हुये।

प्रत्समदस्य शौनकश्चातुर्यरार्य प्रवर्तयिताभूत्।

—विष्णु अंश ४।८।१

विष्णु पुराण के मत से गृत्समद के पुत्र शौनक ने चातुर्वर्ण्य व्यवस्था प्रवर्तित की।

भार्गस्य भार्गभूमि अतश्चतुर्वरार्यप्रवृत्तिः।

—विष्णु, चतुर्थ अंश ८,९१

भार्ग से भार्गभूमि उत्पन्न हुए और उनसे चातुरवर्ण्य प्रवर्तित हुआ।

ब्राह्मणश्च दक्षिणांगुष्ठ जन्यादक्ष प्रजापतिः।

—विष्णु ४,१,५

दक्ष प्रजापति ब्रह्मा के दाहिने अंगुष्ठ से उत्पन्न हुये।

ब्राह्मणो मानसाः पुत्रा विदिताः षणमहर्षयः।
मरीचिरत्र्यंगिरसौः पुलस्त्यः पुलहःक्रतुः।
मरीचे कश्यपः पुत्रः कश्यपात् इमाः प्रजाः।

—आदिपर्व ६५,१०।११

ब्रह्मा के ६ मानसपुत्र है—मरीचि, अत्रि, अंगिरा, पुलस्त्य, पुलह, क्रतु. मारीचि के पुत्र हैं कश्यप। उन्हीं से प्रजाओं की सृष्टि हुई।

चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः।

—गीता ४,१३

मैंने गुण कर्म के अनुसार चातुर्वर्ण्य की सृष्टि की है।

सर्वोऽयम् ब्राह्मणो लोके वृत्तेन तु विधीयते।
वृत्ते स्थितस्तुशूद्रोऽपि ब्राह्मणत्वं नियच्छति॥

—अनु १४३,५१

चरित्र से सभी ब्राह्मण हो सकते हैं शूद्र भी यदि सच्चरित्र हों, तो ब्राह्मणत्व प्राप्त करता है।

आर्जवे वर्तमानस्य ब्राह्मण्यमभि जायते।

—वन २११,१२

जो आर्जव या सरलतापूर्वक आचरण करता है, उसी को ब्राह्मणत्व प्राप्त होता है।

एभिस्तु कर्मभिर्देवि शुभैराचरितैस्तथा।
शूद्रो ब्राह्मणतां याति वैश्यः क्षत्रियतां व्रजेत्॥

—अनु१४४,२६

'सदाचार और कर्म से ही शूद्र ब्राह्मण होता है और वैश्य क्षत्रिय होता है।'

एतैः कर्मफलैर्देवि न्यूनजाति कुलोद्भवः।
शूद्रोऽप्यागमसंपन्नो द्विजो भवति संस्कृतः॥

—अनु१४४,४६

'सत्कर्म के फल से आगम सम्पन्न शूद्र संस्कृत होकर द्विजत्व प्राप्त करता है।'

ब्राह्मणोवाऽप्यसद्वृत्तः सवसंकरभोजनः।
ब्राह्मण्यं स समुत्सृज्य शूद्रो भवति तादृश॥

—अनु१४४,४७

'ब्राह्मण भी असत् चरित्र और सर्वसंकर भोजन करने से जातिच्युत होकर शूद्र हो जाता है।

कर्मभिः शुचिभिर्देवि शुद्धात्मा विजितेन्द्रिय।
शूद्रोऽपि द्विजवत् सेव्य इति ब्रह्माऽब्रवीत् स्वयं॥

—अनु१४४,४८

'पवित्र कर्म से शुद्धात्मा और विजितेन्द्रिय शूद्र भी द्विजवत् सेवनीय होता है, यह बात स्वयं ब्रह्मा ने कही है।'

पुत्रो गृत्समदस्यापि शुनको यस्य शौनकाः।
ब्राह्मणाः क्षत्रियाश्चैव वैश्याः शूद्रास्तथैव च॥

—हरिवंश-२९ अध्याय १५,१९-२०

'गृत्समद के पुत्र शुनक हुए। शुनक से ही शौनक नाम से परिचित ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र बहुत, से पुत्र उत्पन्न हुए।

अक्षराद् ब्राह्मणाः सौम्याः क्षणत् क्षत्रियबान्धवाः।
वैश्या विकारतश्चैव शूद्रा धूमविकारतः॥

—हरिवंश- भविष्य पर्व २१०,११,८१६

'अक्षर से ब्राह्मण, क्षर से क्षत्रिय, विकार से वैश्य और धूम-विकार से शूद्रगण उत्पन्न हुए।'

वाक्यसंयमकाले हि तस्य वरप्रदस्य देवदेवस्य
ब्राह्मणः प्रथमं प्रादुर्भूताः।
ब्राह्मणेभ्यश्च शेषा वर्णाः प्रादुर्भूता॥

—महाभारत शांति ३४२,२१

'देवदेव नारायण के वाक्य संयम के समय उनके मुख से पहले ब्राह्मणों की उत्पत्ति हुई। अन्यान्य वर्ण ब्राह्मणों से उत्पन्न हुए।'

यस्मात् त्रिषु वर्णेषु ब्राह्मणो यज्ञसृष्टा तस्मात्।
सर्वोऽपि वर्णा ऋजवः साधय एव यज्ञसंयोगात्॥

—नीलकंठ टीकाकार

'चूँकि तीन वर्णों में ब्राह्मण ही यज्ञ सृष्टा है, इस लिये उससे उत्पन्न सभी वर्ण ही यज्ञ संयोग वंश ऋजु अर्थात् साधु हैं।'

संसर्ज ब्राह्मणानग्रे सृष्ट्यादौ स चतुर्मुख.।
सर्वे वर्णा. पृथक् पश्चात् तेषां वंशेषु जज्ञिरे॥

—पद्मपुराण, उत्कलखड ३८,४४

'चतुर्भुज ब्रह्मा ने सृष्टि के प्रारम्भ मे पहले ब्राह्मणों का ही सृजन किया। फिर अन्य सभी वर्ण उन्हीं के वश में पृथक्-पृथक् उत्पन्न हुए।

येन पूर्णमिवाकाशं भवत्येकेन सर्वदा।
शून्यं येन जनाकीर्णं तं देवा ब्राह्मणं विदुः॥

—शान्ति २४४,११

जिसके अकेले रहते भी आकाश पूर्ण की भाति ज्ञात होता है और शून्यस्थान जनाकीर्ण सा लगता है, उसे ही देवता लोग ब्राह्मण कहते हैं।'

न क्रुध्येत्र प्रहृष्येच्च मानितोऽमानितश्चयः।
सर्वभूतेष्वभयदस्तं देवा ब्राह्मण विदुः॥

—शान्ति २४४-१४

'सम्मानित होकर भी जो धृष्ट नही होता, अपमानित होकर भी रुष्ट नही होता, जो सर्वभूत को अभय देने वाला है, उसे ही देवता लोग ब्राह्मण कहते हैं।'

जीवित यस्ययधर्मार्थ धर्मो हर्यर्थमेव च।
अहोरात्राश्च पुण्यार्थं तं देवा ब्राह्मणं विदुः॥

—शान्ति २४४,१३

'जिसका जीवन धर्म के लिये है, धर्म हरि के लिये है और दिन-रात पुण्य के लिये है, उसे ही देवता लोग ब्राह्मण कहते है।'

निराभिषमनारंभं निर्नमस्कारमस्तुतिम्।
निर्मुक्तं बंधनैः सर्वेस्तं देवा ब्राह्मणं विदुः॥

—शान्ति २४४,२४

'जो निरामिष हैं, जो अनारम्भ है, जो स्तुति और नमस्कार से हीन हैं, जो सर्व बन्धन से विमुक्त है, उसे ही देवता लोग ब्राह्मण कहते हैं।'

कारणं हि द्विजत्वे च वृत्तमेव न संशयः।

—वन.३१२,१०८

'निस्सन्देह चरित्र ही ब्राह्मणत्व का कारण है।'

ब्राह्मणो वा च्युतो धर्माद्यथा शूद्रत्वमाप्नुते॥

—अनु.१४४, ५६

'धर्म की सहायता से शूद्र भी द्विज होता है और धर्म से विमुख होकर ब्राह्मण भी शूद्र हो जाता है।'

ब्राह्मणस्य सदाकालं शूद्रप्रेषणकारिण.।
भूमावन्नं प्रदातव्यं यथाहि वा तथैव स.॥

१९।३५।

'ब्राह्मण शूद्र की नौकरी करके कुत्ते के समान हो जाता है, उसे भी कुत्ते की तरह जमीन पर अन्न देना विहित है, क्योंकि जैसा कुत्ता है वैसा ही वह है।'

तं होवाचनैतद् ब्राह्मणोविवक्तु मुर्हति।
समधि सौम्याहरोपमत्वा नेष्येनसत्यादगा इति॥

—छांदोग्य ४।४।५

जाबाला के पुत्र सत्यकाम के माता की बात को गुरु से ज्यों का त्यों कह देने से गुरु गौतम ने कहा कि सच्चे ब्राह्मण के सिवा और कोई ऐसी सच्ची बात नही कह सकता। जाओ सौम्य, समिध लाओ। मै तुम्हें

उपनीत करूँगा, इसलिये कि तुम सत्य से भ्रष्ट नही हुये।'

ततो ब्राह्मणतां यातो विश्वमित्रो महातयाः।
क्षत्रियः सोऽप्यथ तथा ब्रह्मवंशस्य कारकः॥

—शल्य.४।४८

'विश्वामित्र क्षत्रभाव से ब्राह्मण भाव को प्राप्त हुये थे।'

उतासि मैत्रावरुणो वसिष्ठौरवश्या ब्रह्मनमनसोऽधिजातः।

—ऋग.७।३३।११

असल मे अगर जन्म से ब्राह्मणत्व का विचार किया जाय तो पता चलता है कि विशिष्ठ स्वर्ग की अप्सरा उर्वशी की सन्तान है। मित्रावरुणा के औरस से उनका जन्म है। वशिष्ठ के जन्म मे कुछ गोलमाल था, इसीलिये ऋग्वेद में कही उन्हे उर्वशीपुत्र और तृत्सु-वंशोत्पन्न कहा है। कई जगह उन्हे ब्रह्म का मानस पुत्र भी कहा है।

किं ब्राह्मणस्य पितरं किमु पृच्छसि मातरं।
श्रतुं चंदस्मिन् वेद्यं स पिता स पितामहः॥

—काठकसहिता ३०।१

कृष्ण यजुर्वेद कहता है—ब्राह्मण के माता-पिता को क्यो पूछते हो? यदि उसमे श्रतु है, तो वही उसका पिता है, वही पितामह।

नैतादृशं ब्राह्मणस्यास्ति वित्तं
यथैकता समता सत्यता च
शीलं स्थितिर्दम्भनिधाननआर्जवं
ततस्तश्चोपरमः क्रियाध्य.।

'एकता, सत्यता, समता अहिंसा सरलता और कर्म मे अनासक्ति इनसे बढ़कर ब्राह्मणो का कोई धन नही है।'

तत्रचोद्यमस्ति को वा ब्रह्मणोनाम, किं जीवः किं देहः किं जातिः, किं ज्ञानम् किं धार्मिक इति।

'ब्राह्मण कौन है? जीव या देह या जाति या ज्ञान या कर्म या धर्म से ब्राह्मण नही होता, अद्वितीयात्मा का साक्षात्कार होने से ही ब्राह्मण होता है।'

तत्र प्रथमो जीवो ब्राह्मण इतिचेतन। अतीतानागतनिक देहानां जीवस्यैकरूपत्वात् एकस्यापि कर्मवशाद नेक देह संभवत् सर्व शरीराणां जीवस्यैकरूपवाच्च। तस्मान्न जीवो ब्राह्मण इति।

'पहले विचार किया जाय कि क्या जीव ब्राह्मण है? ऐसा नही हो सकता, क्योकि अतीत और अनाग काल में नाना जातीय देहो में जो जीव चल रहा है, वह एकरूप है, एक ही जीव के कर्मवश अनेक देह पैदा होते है, इस प्रकार सर्व शरीर के जीव के एकरूपत्व की बात सोचने से जान पड़ता है कि जीव ब्राह्मण नही हो सकता।

सामग्रयानुष्ठाननगुणौः समग्रः
शूद्रायत. सन्ति समाद्विजानाम्
तस्माद्विशेषो द्विजशूद्रनामकि—
नाध्यात्मिको ब्राह्मनिमित्तकोवा—

(४१।२९) भविष्यपुराण

"सामान्य शूद्र और सामान्य ब्राह्मण, ये दोनो सामग्री और अनुष्ठान समान ही है, इसीलिये ब्राह्मण और शूद्र भी वाध्य या आध्यात्मिक कोई भेद ...'
है।"

तस्मान्नच विभेदोऽस्ति न वहिर्मान्तरात्मनि।
न सुखादौ न चाश्वैर्यै नाज्ञायां न भयेष्वपि।
न वीर्ये नाकृतौ नाक्षे न व्यापारे न चायुपि।
नांगे पुष्टे न दौर्बल्ये न स्थैर्ये नापि चापले।
न प्रज्ञाया न वैराग्ये न धैर्ये न पराक्रमे।
न त्रिवर्मे न नैपुण्ये न रूपादो न भेपजे।
न स्त्रीगर्भे न गमते न दह मलसंप्लवं।
नास्थि रंध्रे न च प्रेम्णि न प्रमाणे न लोमसु

—भविष्यपुराण ४१।३५-३८

"जाति-भेद में और सम्प्रदाय-सम्प्रदाय मे कोई भेद नही है। भेद न तो बाहर है न भीतर, न सुख में, न ऐश्वर्य में, न आज्ञा में, न भय में, न वीर्य मे, न आकृति में, न ज्ञान-दृष्टि मे, न व्यापार में, न आयु मे, न अङ्ग की पुष्टि में, न दुर्बलता में, न स्थिरता मे, न चंचलता मे, न बुद्धि मे, न वैराग्य मे, न धर्म मे, न पराक्रम में, न त्रिवर्ग में, न नैपुण्य में, न रूपादि मे, न औपध में, न स्त्रीगर्भ में, न गमन मे, न देह के

मल-मोचन मे, न हड्डी के छेद में, न प्रेम में, न प्रणाम में और न लोभ में।

न योनिर्नापि संस्कारों न श्रुतिर्नच सन्ततिः।
कारणनि द्विजत्वस्य वृत्तमिव तु कारणम्।
सर्वोऽयं ब्राह्मणो लोके वृत्ते न तु विधीयते।
वृत्ते स्थितश्च शूद्रोऽपि ब्राह्मणत्वो च गच्छति।
ब्रह्मस्वभावः सुश्रोणि, समः सर्वत्र मे मतः।
निर्गुणं निर्मलं ब्रह्म यत्र तिष्ठति स द्विजः।

—ब्रह्मपुराण २२३ ।५६-५८

'जाति, संस्कार, श्रुति और स्मृति से कोई द्विज नही होता, केवल चरित्र से ही होता है, इस लोक में चरित्र से ही सबके ब्राह्मणत्व का विधान है, सदवृत्त में स्थित शूद्र भी ब्राह्मणता को प्राप्त होता है, ब्राह्मण वही है जिसमें निर्मल, निर्गुण ब्रह्मज्ञान है।

नाभागरिष्ठय पुत्रौ द्वौ वैश्यौ ब्राह्मणतां गतौ।

—हरि.११ ।६५८

'नाभगरिष्ठ के दो पुत्र वैश्य से ब्राह्मण हो गये थे।

पोरवस्य महाराज ब्रह्मर्षीः कौशिकस्यच।
सम्बन्धो ह्यस्य वंशेऽस्मिन् ब्रह्मक्षत्रस्य विश्रुतः॥

पुरुवशीय राजा और ब्रह्मर्षि कौशिक ये दोनो क्षत्रिय-ब्राह्मण वश परस्पर सम्बन्ध हैं, यह बात लोक प्रसिद्ध है।

ब्राह्मण. क्षत्रिया वैश्याः शूद्राद्रोहिजनास्तथा।
भाविता. पूर्वजा तीषु कर्मभिश्चशुभाशुभैः॥

—वायु. ८ ।१३४

'सृष्टि के आदि काल मे कर्मो के शुभाशुभत्व के अनुसार ब्राह्मणादि वर्ण बनाये थे।

स्थितो ब्राह्मणधर्मेण ब्राह्मण्यमुपजीवति।
क्षत्रियो वाथ वैश्यो वा ब्रह्मभूर्य स गच्छति॥

—ब्रह्मपुराण २२३ ।१४

'ब्राह्मण धर्म के आचरण और ब्राह्मण जीविका के अवलम्बन से क्षत्रिय और वैश्य भी ब्राह्मण हो जाते हैं।

रामिस्तु कर्मभिर्देवि शुभैरचारितैस्तथा।
शूद्रो ब्राह्मणातां गच्छेद्वैश्यः क्षत्रियतां व्रजेत॥

—ब्रह्मपुराण २२३३२

'शुभ कर्मो के आचरण से शूद्र भी ब्राह्मणत्व को प्राप्त करता है और वैश्य भी क्षत्रियत्व को।

शूद्रोऽप्यागमसन्नो द्विजोभवति संस्कृतः

—ब्रह्मपुराण २२३ ।५३

'शूद्र भी यदि आगम सम्पन्न और संस्कृत हो तो वह द्विज हो जाता है।'

जन्मना जायतेशूद्रः संस्काराद् द्विज उच्यते।
वेदाभ्यासी भवेद्विप्रः ब्रह्म जानाति ब्राह्मणः॥

—मनुस्मृति

जन्म से तो सभी शुद्र होते है। द्विज कहलाता उनके संस्कारों की बजह से है। यदि वह वेदाध्ययन करने वाला है तो वह विप्र कहलायेगा और जो ब्रह्म को जानता है वह ब्राह्मण कहलाता है।

वर्णोत्कर्षभावाप्नोति नरः पुण्येन कर्मणा।
दुर्लभं तमलब्ध्वा हि हन्यात् पापेन कर्मणा॥

—महाभारत शान्ति. अ.२१९

पुण्यकर्म करने से उच्च वर्ण को प्राप्त होता है और पाप कर्म करने से नीचता प्राप्त होती है।

चत्वार एकस्य पितुः सुताश्च तेपां सुतानां खलु जातिरेका।
फलस्यधीदुग्वर वृक्षजातेर्यथाऽगुमध्यान्त-भवानियान्ति. वर्णाकृतिस्पर्शरस. समानि तथैफलो जातिरति प्रचिन्त्या॥ —म. महापुराण ब्रा. अ ४२

यदि एक पिता के चार पुत्र हों तो उन पुत्रो की एक जाति होनी चाहिये। इसी प्रकार सबका पिता एक ही परमेश्वर है अतः मनुष्य समाज मे भी जाति भेद बिल्कुल नही होना चाहिये। जिस प्रकार एक ही गूलर के वृक्ष के अग्र भाग, मध्य भाग तथा पींड मे वर्ण, आकृति, स्पर्श तथा रस इन बातो में एक-से फल लगते है उसी प्रकार एक विराट् पुरुष परम ब्रह्म परमेश्वर से उत्पन्न हुये मनुष्यों मे भी किसी प्रकार का जाति भेद नही हो सकता।

समानी प्रपा सह वो अन्नभागः समनियोक्ते सह वो पुर्नाज्य। सभ्यंचो अग्नि सपर्यत आरानाभिमिवाऽभितः॥ —अथर्व. ३ ।३०

"ऐ मनुष्यों! तुम लोगों की पानी-पीने की तथा भोजन करने की एक ही जगह हो, समान धुरा मे मैंने

तुम सबको समानता से जोत दिया है। जिस प्रकार एक चक्र के बीच आरे जमे रहते हैं उसी प्रकार तुम भी एक जगह एकत्रित होकर अग्नि में हवन करो।"

एक वर्णमिद् पूर्व विश्वमासीद युधिष्ठिर।
कर्मक्रिया विभेदेन चातुर्वर्ण्य प्रतिष्ठितम्॥
सर्वे वै योनिजा मर्त्याः सर्वे मूत्रपुरीपजाः।
एकेन्द्रियेन्द्रियार्थाश्च तस्माच्छीलगुरौर्द्विजः॥
शूद्रोऽपि शीलसम्पन्नो गुणवान् ब्राह्मणो भवेत्।
ब्राह्मणोऽपि क्रियाहीन. शूद्रात् प्रत्यवरो भवेत्॥

—महाभारत वनपर्व अ. १८०

" हे युधिष्ठर ! इस जगत मे पहले एक ही वर्ण था। आगे चलकर गुणकर्म के विभाग हो जाने से चार वर्ण हुए। सब मनुष्य योनि से ही उत्पन्न हुए हैं, सब लोगों की उत्पत्ति रज और वीर्य के मिश्रण से ही है। सबकी इन्द्रियाँ समान है। इसलिये जन्म से जातिभेद मानना ठीक नहीं। जिस मनुष्य मे शील को प्रधानता होती है, वह द्विज कहलाता है। यदि शूद्र शीलवान् हो तो उसे द्विज ही समझना चाहिये और यदि ब्राह्मण शीलता से परे हो तो उसे शूद्र से भी नीच समझना चाहिये।

एक एव पुरा पदः प्रणव. सर्ववाङ्मयः।
देवो नारायणो नान्यः एकोऽग्निर्वर्ण एव च॥

—श्रीमद्भागवत् पु स्क. ९।१४

प्रारम्भ में एक ही वाङ्मय ॐ था, नारायण ही एकमात्र देव थे, दूसरा नही और एक ही अग्नि यानी ब्राह्मण वर्ण था।

जो मनुष्य अद्वितीय, अनन्त, शुद्ध, सच्चिदानन्द स्वरूप परमात्मा का साक्षात्कार द्वारा अनुभव करता है और जो काम, क्रोध, मोह, लोभ, आदि दोषों से अलग है, उसे ही ब्राह्मण कहना चाहिये। श्रुति, स्मृति, पुराण इतिहास आदि का भी यही मत है।

न शूद्रा भागवद्भक्ताः विप्रा भागवतः स्मृताः॥

— भारत।

'जो ईश्वर के सच्चे भक्त हैं वे ही ब्राह्मण है, उन्हे शूद्र नही कहना चाहिये।'

अक्षमाला वशिष्ठेन संयुक्ताधमयोनिजा।
शारंगी मंदपलिन जगामाभ्यर्हणीयताम्॥
एताश्चान्याश्च लोकेऽस्मिन् अपकृष्ट प्रसूतयः।
उत्कर्षं योजितः प्राप्ताः स्वैः वैर्भर्तृ गुणै शुभै॥

—मनु ९।२३-२४

"अधम योनिजा कन्या अक्षमाला वशिष्ठ के साथ युक्त होकर और तिर्यक-कन्या शारंगी मंदपाल ऋषी की परिणीता होकर मान्या पदवी को प्राप्त हुई थी। इनके सिवा और अनेक नारियाँ निकृष्ट कुल में उत्पन्न होकर भी पति के महद्गुण के कारण उत्कृष्ट स्थान प्राप्त कर गई थी।"

शूद्र ब्राह्मणयोर्भेदो मृग्यमाणोऽपि यत्नत।
नक्ष्यते सर्वधर्मेषु संहतौस्त्रिदशैरपि॥

—भविष्यपुराण ४१।३१

"अति यत्नपूर्वक सभी देवता मिलकर भी ढूंढें तो ब्राह्मण और शूद्र मे कोई भेद नही पावेगे।"

न ब्राह्मणाश्चन्द्र मरीचि शुक्ला
न क्षत्रियाः किंशुक पुष्पवर्णाः।
न चेद वैश्या हरिताल तुल्याः
शूद्रान चांगार समानवर्णाः।

—भविष्यपुराण ४१,४१

"ब्राह्मण लोग भी चांदी की किरण के समान शुक्ल वर्ण नही है। क्षत्रिय लोग भी किंशुक पुष्प से लाल नही है, वैश्य लोग भी हरताल के समान पीले नही हैं और शूद्र कोयले के समान काले नही हैं।"

पादप्रचारैस्तनुवर्ण, केशैः सुखेन दुःखेन च शोणितेन।

त्वङ्मासमेदोऽस्थिरसैः समनाश्चतु. प्रभेदारि कथं भवन्ति।

वर्णप्रमाणा कृतिगर्भवासम्बुद्धि कर्मेन्द्रिय जीवितेषु

वलत्रिवर्गाभयभेषजेषु न विद्यते जातिकृतो विशेष.।

चत्वार एकस्यपितुः सुताश्चतेषांसुतानां अनु जातिरेका। एवं प्रजानां हि पितेक एव पित्रैकभावान च जातिभेदः॥

—भविष्य पुराण ४१ अ

"चलना, फिरना, शरीर, वर्ण केश, सुख, दुख रक्त, त्वचा, मांस, मेद, अस्थि रस- इनमें सभी तो समान है, फिर चार वर्णों का भेद कहाँ है? वर्ण, प्रमाण

आकृति, गर्भवास, वाक्य, बुद्धि कर्म, इन्द्रिय, प्राणशक्ति धर्म, अर्थ, काम, व्याधि, औषधि इनमें कहीं भी तो जातिगत प्रभेद नही है। जिस प्रकार एक ही पिता के चार पुत्रो की जाति एक ही होती है, उसी प्रकार सभी प्रजाओं का वह भगवान एकमात्र पिता है। इसीलिये जाति भेद नही है।"

हिन्दू संस्कृति महान है

एक बात विशेष रूप से ध्यान रखने की है कि हिन्दू धर्म कोई सम्प्रदाय, फिरका मजहब या मत-मतान्तर नही है। यह एक महाविज्ञान है, जिसका उद्देश्य मानव प्राणी को संस्कृति के उच्च शिखर तक पहुँचाना है। इस धर्म में अनेकों मत मतान्तर हैं-सम्प्रदाय है- विचार स्वातंत्र्य की पर्याप्त सुविधा दी गई है, छोटी-बड़ी अनेको विचारधारा उपधाराएँ, प्रचलित है, इस प्रकार का बहुमुखी कोई सम्प्रदाय संसार भर में नही है। यह सम्प्रदाय की परिभाषा मे नहीं आता। इसे राष्ट्र धर्म कहा जा सकता है पर असल मे मानवधर्म है, विश्वधर्म है। इसकी हर एक प्रक्रिया मानव मात्र को दैवी तत्वों से परिपूर्ण बनाने के लिए है।

आत्मा को पवित्र, सशक्त, समृद्ध और परमार्थी बनाने के लिए अध्यात्मवाद के पारंगत आचार्यो से हिन्दू दर्शन का निर्माण किया है। यह धर्म उच्च भूमिका तक पहुँची हुई आत्माओ की अन्त: प्रेरणा से निकला है। इसी को ईश्वर कृत वेद ज्ञान कहते है। इस ज्ञान को प्राप्त करके हर नागरिक मनुष्यता को गौरवान्वित करने वाले आदर्शों से परिपूर्ण जीवन, समाज के सामने उपस्थित करें इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए ऐसा विधान बनाया गया था कि प्रत्येक हिन्दू की आत्मा इस ईश्वरीय ज्ञान से ओत-प्रोत हो जाय। आज हमारा धर्म-मदिरो मे, पुस्तको मे, पंडितो की उक्तियों में बन्द है, आज उसे कुछ विशेष व्यक्तियों के द्वारा, विशेष अवसरों पर प्रयोग होने की वस्तु समझा जाता है पर तब वह हर व्यक्ति की दैनिक जीवन की आवश्यकता थी।

सन्ध्यावन्दन, गायत्री जप और अग्निहोत्र यह नित्यकर्म थे। शिखा और यज्ञोपवीत यह धर्म के दो अर्थपूर्ण प्रतीक हर समय धारण रहते थे। प्रतिमास त्यौहार, उत्सव, व्रत, पूजन आदि का क्रम चलता रहता था, समय-समय पर विशिष्ट यज्ञ होते थे, जीवन के हर चौराहे पर आगे का सही मार्ग दिखाने के लिए संस्कार होते हैं। जन्म से मृत्यु पर्यन्त १६ चौराहे जीवन मे आते हैं, उनमें कही गलत दिशा मे न भटक जाय, इसलिए विशेष आयोजन के साथ उसे धार्मिक शिक्षण दिया जाता था, यही १६ संस्कार कहलाते थे। इस व्यवस्थाक्रम के अन्तर्गत अनेको नियम, उपनियम होते थे उनका पालन करने से मनुष्य के मन पर धर्म की सुदृढ़ छाप बैठती थी और उसके द्वारा उसका चरित्र उच्च कोटि का बनता था। उसी निर्माण के द्वारा, हरिश्चन्द्र, शिवि, दधीच, मोरध्वज, कर्ण, अर्जुन, भीष्म, हनुमान, ध्रुव, प्रहलाद, कपिल, कणाद, व्यास, वशिष्ठ पैदा होते थे और सीता, सावित्री, मन्दालसा, अनुसूया, मैत्रेयी जैसी देवियां घर-घर देखी जाती थी।

आज उस प्रणाली की बड़ी दुर्दशा हो रही है, जिसके द्वारा मानव प्राणी सच्चे अर्थो में हिन्दू बनता था, धर्म के संस्कारों को हृदय मे धारण करता था। सोलह संस्कारों पर दृष्टि डालिए। गर्भाधान इन्द्रिय सुख के लिए नही, सुसतति प्राप्त करने के लिए धार्मिक विधि से किया जाता था। बालक के गर्भ मे आने पर सीमन्त, पुंसवन इसलिए होते थे कि भावी माता और गर्भस्थित बालक के हृदयो मे सुसंस्कार जमें, जन्म लेने पर जात कर्म, नामकरण होते थे, उसमे जिन गुणो का आरोपण करना होता था वैसा उसका नाम रखा जाता था, माता-पिता को बालक के प्रति उनके कर्तव्यो का बोध कराया जाता था, अन्न प्राशन, चूड़ाकर्म में, बालक की भोजन व्यवस्था, क्षौर, वस्त्र एवं लालन-पालन के नियम मे संबध मे माता-पिता को सतर्क किया जाता था। इतने संस्कारों तक बालक अबोध रहता था तो भी वेदमंत्रो की शक्ति से आत्मविद्या परायण पुरोहित उनके अन्त:करण के गुप्त भाग में उच्च भावनाओ की स्थापना करते थे। इसके बाद गुरुकुल प्रवेश, वेदारंभ, यज्ञोपवीत होता था। इस संस्कार के साथ उसे द्विजत्व की शिक्षा-दीक्षा दी जाती थी, उद्देश्यमय जीवन मे पदार्पण कराया जाता था, विद्याध्ययन के उपरान्त समावर्तन होता था, सांसारिक क्षेत्र मे प्रवेश करने के सम्पूर्ण कर्तव्यों की कराई जाती थी। विवाह होता था, धर्म को साक्षी

दो शरीर मात्र प्राण बनते थे, लोलुपता के लिए नहीं उद्देश्य मय जीवन बनाने के लिये। ग्रहस्थ पालन के उपरान्त वानप्रस्थ लेकर संयम साधना की जाती थी, सन्यास लेकर लोक-कल्याण के लिए अपने ज्ञान पुष्ट जीवन को समर्पित किया जाता था। अन्त्येष्टि के साथ जीवात्मा को सद्भावना युक्त बधाई दी जाती थी। इस प्रकार षोडस संस्कार युक्त हिन्दू जीवन वस्तुत: एक साधन व्यवस्था थी, जिसके आधार पर वह आत्मा को परमात्मा, लघु को महान् बनाया जाता था।

श्रावणी विद्या का ब्राह्मणत्व का महोत्सव था, दशहरा अस्त्र-शस्त्रों का, पौरुष, पराक्रम का, क्षत्रिय का समारोह था, दीपावली सफाई का अर्थ व्यवस्था का, वैश्यत्व का त्यौहार था, होली की छोटे बड़े का विचार छोड़कर सब लोग सात्विक, मनोरंजन, वाद्यगायन के साथ बसंतोत्सव मनाते थे। बहिन-भाई के सम्बन्धों में सजीवता लाने के लिए राखी की भैय्यादूज की प्रथाएँ पूरी की जाती थी, गणेश चतुर्थी (करवा चौथ)को पति की मंगल कामना के लिए पत्नियाँ उपवास रखती थी, गुरु पूर्णिमा को शिष्यों द्वारा गुरु का पूजन होता था, ऋषि पंचमी को माता-पिता की पूजा होती थी। इस प्रकार अनेकों व्रत उत्सव थे, जिन्हें सुयोग्य पुरोहितों की अध्यक्षता मे समारोहपूर्वक मनाया जाता था, वे अपने यजमानो को तत्संबंधी कर्तव्यों का सुविस्तृत ज्ञान कराते थे, उनकी भूलें सुधारते थे और आगे के लिए पथ प्रदर्शन करते थे।

इसके लिए अनुष्ठान, पूजन, प्रतिष्ठा, कथा, यज्ञ आदि के नानाविधि कर्मकाण्डों द्वारा निस्पृह एवं सुयोग्य आचार्यों द्वारा यजमानों के हृदय पर महान् आर्यत्व का तत्व और गौरव अंकित किया जाता था। उस ढांचे में ढलकर ऐसे महामानव सामने आते थे जिनके चरणों की धूलि मस्तक पर चढ़ाने के लिए सारी दुनियां तैयार रहती थी, जिनके आदर्शों और आदेशों का मान करने वालों की संख्या आज भी सबसे अधिक है। हिन्दू और बौद्ध दोनों ही भारतीय ऋषियो के अनुयायी है, उन दोनों की सम्मिलित संख्या इतनी बड़ी है जिसकी बराबरी में संसार का और कोई धर्म आज भी नही ठहर सकता।

आज वैदिक प्रणालियाँ और परम्पराएँ किसी प्रकार जीवित तो हैं पर नि.स्वत हो गई है, चिन्ह पूजा शेष रह गई। सोलह संस्कारों में नामकरण, विवाह और अन्त्येष्टि की लकीर पिट जाती है। त्यौहारों ... स्वादिष्ट भोजन बनाने का एक अवसर माना जाता। अब इन संस्कारों और त्यौहारों को इस प्रकार ... मनाया जाता पर जिससे इनके पीछे छिपे हुए ... इतिहासों, उद्देश्यों और प्रेरणाओं से लोग लाभ उठा... न जनता में वह श्रद्धा है कि इन सांस्कृतिक भण्डारों ... खोलकर उसमें से अपनी प्राचीन रत्न राशि ... करें, न पुरोहितो में इतनी विद्वता, मेधा, धर्म ... निष्पृहता है कि वे इस ऋषि संचित अमृ... छिड़ककर मूर्च्छित हिन्दू धर्म को, महान् मानवता ... पुन. जागृत करें। इस दुर्भाग्यपूर्ण विवशता को ... हमारे पूर्वजों की आत्माएँ आठ-आठ आँसू रोती है... जिस ज्ञान के बल पर उन्होंने चक्रवर्ती शासन ... जगद्गुरु का पद प्राप्त किया था उस ज्ञान की ... दुर्दशा उनकी संतानों द्वारा, उन्ही की पुण्य भूमि ... होगी, ऐसा उन्होंने कभी स्वप्न में भी विचार न ... होगा।

हिन्दुत्व को जगाना—आज का सर्वोपरि युग-धर्म

देव संस्कृति के आदि प्रवर्तकों ने एक ... दिया—

संगच्छध्वं संवदध्वं सं वो मनासि जानता...
देवा भागं यथा पूर्वे संजानाना उपासते॥

अर्थात् एक साथ रहो एक वाणी ... सुख-दु.ख में सब साथ रहो। सब देवगण स... रहकर ही अपने अपने भाग को प्राप्त कर पाते ... राष्ट्रीय चेतना के जागरण, अभ्युदय हेतु प्रेरित ... वाली ऐसी अनेको ऋचाएँ वेदो मे वर्णित हैं, जि... प्रतीत होता है कि आर्यों ने जो 'राष्ट्रदेवोभव' का ... सूत्ररूप मे दिया था, उसे कार्यान्वित कर राष्ट्रीय ... को अविच्छिन्न बनाए रखा था।

आज परिस्थितियाँ कुछ भिन्न है। भ्रांतियाँ ... प्रकार फैला दी गयी है कि हर धर्म-मताव... सस्कृति की प्रतिमा को विखण्डित करता दिखाई ... है। जहाँ राष्ट्रीयता के नाम पर ऐक्य होना चाहि... वहाँ धार्मिकता के नाम पर सद्भाव तो दूर म... भिन्नता पाई जाती है। राजनीति मे जैसे दल-बदल ... सामान्य बात हो गयी है, वैसे ही धर्म-संस्कृति को ... से दूसरे में, दूसरे से तीसरे में बदलने वाले ठे...

एवं उनके नुमाइन्दे ऐसे तैयार खड़े है, मानों इसी कार्य के लिये देवदूत रूप में विधाता ने उन्हें भेजा हो।

धर्म-संस्कृति के इस परिप्रेक्ष्य मे विवेचना के पूर्व ज़रा यह विचार करें कि धर्म की शाश्वत परिभाषा एवं सनातन स्वरूप क्या है? धर्म वस्तुत: वह है, जो सत्य व ऋतको परस्पर जोड़ें। सत्य अर्थात् विद्वानों पर टिके रहने की क्षमता एव ऋत अर्थात् सृष्टि के प्रति संचालन की शाश्वत क्रिया पद्धति। सत्य, ऋत के साथ अहिंसा को जोड़ दिया जाय तो यह विश्वधर्म बन जाता है। अहिंसा अर्थात् निषेधात्मक, ध्वंसात्मक प्रवृति से मुड़ना।

हिन्दूधर्म—मानवधर्म का सदा-सदा से यही रूप रहा है। अन्यान्य धर्मावलम्बी अपने-अपने धर्म-पैगम्बरों की रट लगाते रहते है जब कि मात्र हिन्दू धर्म ही ऐसा है जो 'हिन्दू-हिन्दू नही चिल्लाता बल्कि 'मानव-मानव' कहकर सम्बोधित करता है। जब हिन्दू धर्म का प्रतिपादन करने वाले ही संकीर्ण होकर अन्य धर्मावलिम्बयों की तरह गुहार लगाने लगेंगे तो फिर इसे धर्मच्युत होना कहा जायेगा । गौरवमयी परम्परा वाले इस समाज की आज की आत्मविस्मृति का कारण हमें ढूँढ़ना होगा ताकि देवसंस्कृति के आदि मूल्यों को पुनर्स्थापित कर विश्वधर्म को पुरातन काल की तरह ही सम्मानास्पद बनाया जा सके, साम्प्रदायिक अलगाववाद-विद्वेष की झुलसती मानवता को मुक्ति दिलायी जा सके ।

इस आत्मविस्मृति की विडम्बना के मूल में है एक जाग्रत संकीर्णता का भाव जो प्रकारान्तर से हर मतावलम्बी के चिन्तन मे संव्याप्त दिखाई देता है। स्वजाति का विकास ही परमधर्म है, समष्टिगत विकास नहीं, यह एक ऐसी मान्यता है, जिसकी जड़ें बड़ी गहरी हैं । जब हम कहते हैं कि हमें स्वधर्म के प्रति सचेत रहना चाहिए तो हमारा तात्पर्य है हमे असमंजस्य मिटाकर समस्त भारतीय समाज को समष्टि का प्रतीक मानकर व्यापक जन चेतना जाग्रत करना चाहिए। यह कार्य शासन तंत्र नहीं कर सकता । क्योकि उसका उद्घोष धर्म निरपेक्षता का होते हुए भी वह सामाजिक और सांस्कृतिक चेतना जगा पाने में अक्षम रहा है । उसकी सामाजिक क्रान्ति की योजना में सैद्धान्तिक और व्यावहारिक दोनों ही पक्षों मे भारी असमानता है । ऐसे मे धर्म निरपेक्षता की नीति कैसे सधे व कैसे विभिन्न धर्मों में परस्पर सौहार्द्र भाव विकसित हो?

स्वतंत्रता के पूर्व भारत में जातिवाद ने अपनी जड़ें गहरी जमाली थी। हिन्दू समाज की अनेकानेक उपजातियाँ थी व प्रत्येक के अपने-अपने बन्धन थे । इस भेदभाव की नीति व कट्टरवादी संकीर्णता ने अंग्रेजो को अपने शासन की जड़ें और भी मजबूती से जमाने में भारी सहयोग दिया, इसे इतिहासकार ही नही, हिन्दू धर्म के विद्वान एवं स्वयं ब्रिटिश विचारक कहते हैं।कबीर, रैदास, दादू, चैतन्य, राजा राममोहनराय, कर्वे जैसे समाज-सुधारक सन्तों, महामानवो के जन्म लेते रहने व क्रियाशील होने के बावजूद यह जातिगत असमानता मिटने नही पाई । इसका लाभ मुगल संस्कृति के पक्षधरों व ईस्ट-इण्डिया कम्पनी के जहाजों पर बैठकर आए ईसाईयो ने खूब उठाया । उन्होने स्वधर्म स्वसम्प्रदायकी नीति बनाकर प्रलोभन देते हुए धर्मभीरू किन्तु अभावग्रत हिन्दू समुदाय से जमकर खिलवाड़ किया। जहाँ एक ओर धर्म निरपेक्षता का नारा लगता रहा, वहाँ दूसरी ओर धर्म परिवर्तन भी बलपूर्वक चलता रहा। इसमें चर्चो द्वारा बहाई गई अपार धनराशि एवं शेख-मुसलमानों द्वारा बहाए पैट्रो-डालरों ने अपरिमित भूमिका निभाई है।

क्या वस्तुत: धर्म इतना सस्ता है कि कोई साधन रोटी के टुकड़ो के बदले अपने सारी मान्यताएँ, ईश्वर-विश्वास एवं रीतिरिवाजो से पल्ला झाड़कर अलग हो जाए ? यदि सभी धर्मो का लक्ष्य एक ही है तो फिर ऐसा क्यों होता है कि बीच राह मे खड़े एक व्यक्ति को तीन धर्मावलम्बी अपनी- अपनी ओर खीचते है व अन्य सम्प्रदाय भी उन्ही के समान भूमिका निभाते हुए अपने को श्रेष्ठ बताते है। श्रेष्ठता का यह मापदण्ड किस मान कीकरण सस्था द्वारा बनाया हुआ? क्या इस आई. एस. आई. का मार्क लगे बिना जीवन जिया ही नही जा सकता ये ऐसे प्रश्न है, जो उन असमंजसो का समाधान करते हैं कि दुनिया मे नास्तिकवाद क्यो बढ़ता चला रहा है? खीचातानी के आस्तिकवाद से साम्यवादी नास्तिकवाद ही अच्छा, यह मानकर बहुसंख्य समझदार समुदाय क्रमश. उधर उन्मुख होने लगा है। नास्तिकवाद यदि ऐसा हो एव कर्तव्य परायणता—नीतिमत्ता जीवित हो तो कोई भय नही

होना चाहिए पर इस समुदाय की सख्या अधिक नही है । धर्मभीरूता यत्किंचित रूप मे विद्यमान है। इसके साथ जब कट्टरता जुड़ जाती है—रूढ़िवादी धर्मान्धता घर कर लेती है तो यह साम्प्रदायिकता विद्वेष को—जातिगत अलगाववाद को जन्म देती है, जो निश्चित ही किसी राष्ट्र की इमारत के लिए एक दीपक एवं धुन की भूमिका निभाती देखी जा सकती है ।

किसी राष्ट्र या संस्कृति को धर्म विशेष के परिप्रेक्ष्य मे क्यो देखा जाना चाहिए? इस सम्बन्ध मे हिन्दू सस्कृति की मान्यताऍ बड़ी स्पष्ट है। इसमे चेतना के सस्कारीकरण को प्रधानता दी गई है न कि बाह्य कलेवर के परिवर्तन को । सभ्यता का बहिरंग का स्वरूप तो कुछ भी हो सकता है किन्तु चेतना का स्वरूप तो शाश्वत है। सस्कृति शब्द का वाच्यार्थ है शुद्ध करना । लक्ष्यार्थ है—धर्म विद्या आदि की उन्नति करना। दोषपरिमार्जन करके जो अभ्युदय की ओर प्रशस्त हो, वही भारतीय संस्कृति है। जहॉं मुख्य लक्ष्य आत्मिक प्रगति का हो, वहॉं मतभेद के लिये स्थान कहॉं रहा? वस्तुत: यह विस्मृति ही साम्प्रदायिक विद्वेष का कारण बनी है।

पिछले दिनो बड़ी संख्या में धर्म परिवर्तन हुए। एक समुदाय को लगा—विश्व पर विपत्ति का पहाड़ टूट पड़ा। तुरन्त उनका शुद्धीकरण उन्हे अपने धर्म मे लेकर दूसरे की जमकर निन्दा की गयी। लेकिन यह तो गत सहस्त्राब्दी से चला आ रहा था, जब ईसाई व मुस्लिम धर्म ने भारत में प्रवेश किया, तब हिन्दू संस्कृत के उद्धार को क्या हो गया था। बहुत दिनो से सभी वनस्पति घी खा रहे थे। जैसे ही बवेला मचा कि इसमे चर्बी मिली है तुरन्त निन्दा—आरोप का क्रम चालू हुआ एवं एक धर्माचार्य द्वारा टेलीविजन पर भाषण भी दिलवा दिया गया कि गंगाजल पीकर परिशोधन हो जायेगा—प्रायश्चित कर ले।' ईश्वर के नुमाइन्दे कहे जाने वाले इन तथाकथित महामण्डलेश्वरो को क्या सब मूक भेड़ो का झुण्ड नजर आता है, जो उनके कथनानुसार जल पीकर वस्तुत: उस जुगुप्सा से मुक्त हो सकें, जो उसे सतत, इस मिलावट की याद दिलाकर मन को विक्षुब्ध कर देती है।

संभवत: ये ही वे मूलभूत प्रश्न हैं, जो हमे सोचने पर विवश करते है कि क्या कटघरे मे बन्द होकर समुदाय बढ़ाया जा सकता है। तीनों ही धर्मों के प्रतिपादकों को इस पर विचार करना होगा कि आमूलचूल आस्थाओं को, क्या परिवर्तन द्वारा बदला जा सकता है? धर्म निरपेक्षता की वर्तमान परस्पर विरोधी भाव वाली वोट परस्त नीति कहॉं तक उचित है, यह राजतंत्र को सोचना होगा? यदि अब न सोचा गया तो अलगाव की धर्म जैसे पवित्र नाम पर खून की नदियॉं बहाने की प्रवृत्तियॉं और बढ़ेंगी और राष्ट्र की ही नही, विश्व की अखण्ड एकता के मार्ग में भी बाधक बनेंगी।

बापू का सपना अखण्ड भारत को स्वतंत्र रूप में देखने का था। पाकिस्तान के रूप में खण्ड-खण्ड टूटने एवं रोकने की अफलता ने उन्हें अन्दर से तोड़ दिया था। वे राष्ट्र देवता के उपासक थे। हिन्दू धर्म, मुस्लिम, ईसाई या बौद्ध के नहीं। धर्म के नाम पर बंटवारा उन्हें कतई स्वीकार नही था। आज भी पाकिस्तान एवं बंगला देश मे हिन्दू है एवं भारत मे मुस्लिम। किन्तु १९४७ का घाव इतना गहरा था कि वह उस खाई को अब तक नही पार कर सका।

धर्म सम्प्रदायो का एकीकरण राजसत्ता के बलबूते सम्भव नही। धर्म निरपेक्षता का नारा लगाना, उसकी बारम्बार दुहाई देना अलग बात है एवं उनके मनो को मिला देना उससे बिल्कुल भिन्न है। देवसंस्कृत प्रधान हमारे इस राष्ट्र में भिन्नता मे भी अभी तक एकता बनी हुई है, यह किसी के लिए असमजस का विषय भी हो सकता है पर नई बात हमारे लिये तो नही है। कट्टरता से ऊँचे उठकर हिन्दुत्व के नवजागरण हेतु अब मनीषा को ही आगे आना चाहिए। जिस धर्म में सब धर्म बड़ी सुगमता से अपनी पहचान बनाये रखकर फल-फूल सकते है, उसका पोषण सभी को करना होगा। साथ ही एक ऑंख दुलार व एक सुधार की रखते हुए ऐसे तत्वो के प्रति थोड़ा कड़ा भी होना पड़ेगा जो हिन्दुत्व की दैवी प्रतिमा को स्थान-स्थान पर चोट पहुँचाने पर उतारू हो। सस्कृति को विखण्डित करने हेतु बलात्त इस्लामीकारण और बहुसंख्य भोले-भाले आदिवासियो को प्रलोभनवश ईसाई बनाकर अपने पक्ष मे मिलाना इसी मे आता है। यदि हमारे मन में दूसरे धर्मों के प्रति सम्मान है तो हम उनसे कम से कम यह अपेक्षा तो रखे ही कि वे भी हमे बराबर का

सम्मान दे। वस्तुतः यह हिन्दू-नवजागरण का ही परिणाम है कि राजाराममोहन, ब्रह्म समाज, आर्यसमाज तथा अरविंद, महर्षिरमण, विवेकानन्द एवं गाँधी जैसे समुदायो-मनीषियो के बलबूते हम स्वतंत्र हो सके। यदि अब परतंत्रता की बेड़ियो में फिर स्वयं को जकड़ना हो तो बहत्तर करोड़ में से बत्तीस करोड़ एवं शनैः-शनैः अल्पमत मे आक रस्वतः सारे हिन्दू अपने ही देश में आगामी दस वर्षो में फिर उस युग की पुनरावृत्ति कर सकते हैं।

सदास्यता वही तक उचित है, जहाँ वह आत्मघाती नही हो जाती। हिन्दुत्व को जगाने वाले धर्माचार्यों को यह तथ्य सदैव ध्यान में रखना होगा कि आत्म स्तुति एवं संस्कृति की गरिमा के गौरव के बखान से नही वसुधैव-कुटुम्बकम की धर्मार्थ परायणता-उदारवादी मान्यता को व्यवहार में उतारकर ही यह कार्य सम्भव है। यदि गत सैंतीस वर्षों में कुछ सीखा हो तो भारतवासियो को अब तो चेत ही जाना चाहिए। मनुष्य की दुर्बलता की नाप से धर्म को छोटा किया जा सकता है, इस मान्यता से अब तो मुक्ति पा ही लेना चाहिए। यही सही समय है अखण्डता को बनाये रखने के लिए स्वय को सावधान करने का।

हिन्दू धर्म की आन्तरिक शक्ति, उसकी वैज्ञानिकता

हिन्दू धर्म की ज्येष्ठता व श्रेष्ठता संसार में सर्वत्र मान्य है। विश्व के अगणित विद्वानो, विचारकों तथा दार्शनिको ने इस तथ्य को स्वीकार किया है कि यह धर्म कुछ सिद्धान्तो, सस्कारो या विश्वासो की धर्म-व्यवस्था मात्र नही वरन् उन आधारभूत वैज्ञानिक तथ्यों पर व्यवस्थित है, जिनसे युग-युगान्तरों से यहाँ का नैतिक, सामाजिक एवं आध्यात्मिक जीवन विकसित होता रहा है और उनसे यह विशाल भू-खण्ड शक्ति एव सम्पन्नता अनुभव करता रहा है। जो ज्ञान इस ऋषि-देश मे प्रादुर्भूत हुआ है, वह कल्पना-भूत नहीं साधना-निर्गत होने के कारण ही प्रामाणिक माना गया है। उसमे शङ्काओं के लिये कोई गुंजायश नही छोड़ी गई। जो सिद्धान्त बनाये गये हैं, वे पूर्ण वैज्ञानिक है यही कारण है कि अनेक ऐतिहासिक आघातों के बावजूद आज भी यह फल-फूल रहा है। कठिनाईयों मे भी उसकी आन्तरिक शक्ति ज्यो की त्यों विद्यमान रही है और आगे भी बनी रहेगी।

इस जीवन व्यवस्था को "हिन्दू-धर्म" नाम देने से उसे मर्यादित या सीमाबद्ध नहीं मानना चाहिए। इसमे सम्प्रदायवाद या कुछ थोड़े से व्यक्तियों के हित संरक्षण की ही बात नहीं है जैसा कि प्रायः संसार के सब धर्मों में पाया जाता है वरन् विश्व -कल्याण की उद्दात्त भावनाओ से वह ओत-प्रोत है। एक नाम उसका 'सनातन-धर्म' भी है, जिसका अर्थ है आदि धर्म। अर्थात् जीवन की उत्पत्ति के साथ ही जो सार्वभौमिक व्यवस्था बनी, उसी को सनातन धर्म कहते है। आदि व्यवस्था का तात्पर्य है कि देश, जाति की संकीर्णता का भाव उसमे नही है। आज जो लोग उसे इस संकीर्ण रूप में देखते है दरअसल उन्होने उसकी वैज्ञानिकता पर दृष्टिपात नही किया अन्यथा शंका करने जैसी कोई बात नही है। हिन्दू-धर्म विशुद्ध दर्पण की तरह है जिसमे जिसका जैसा चेहरा है उसे वैसी ही शक्ल दिखाई देती है। छल कपट या बनावट का उसमे कुछ भी स्थान नही है।

हिन्दू-धर्म शुद्ध तथा सांस्कृतिक जीवन पद्धति का नाम है और वह इसी रूप मे विकसित हुआ है, अतः वह जातिगत संकीर्णताओं से प्रतिबन्धित नही हुआ है। उन सिद्धान्तों को स्वीकार करने वालों का एक वर्ग, जाति या देश भले ही बन गया हो पर इससे उसका स्वरूप परिवर्तित नही होता। हिन्दुओ की एक विशिष्ट जाति बन जाने के बावजूद भी उसमें भेद-भाव या पक्षपात नही है। कारण यह है कि वह पूर्णतया सनातन नियमो पर आधारित है। यहाँ जीव के आत्म-स्वरूप की कल्पना की गई है। शरीर और उसके हितो को आत्मा की दृष्टि से ही मान्यता और सेवा मिली है। शेष सारा जीवन ही आनन्द की सात्विक उपलब्धि, आत्म-कल्याण और विश्व की भलाई की भावना से ओत-प्रोत होता है अतः इसमे अन्य देश, वर्ण जाति के मनुष्य के जब कभी मिले हैं तो वे इस रंग मे ऐसे रंग गये हैं कि अपनी सम्पूर्ण आत्म-शक्तियाँ इसी को समर्पित कर दी है।

अपनी विशिष्टता के कारण उसे गहन प्रतिशोधो का सामना करना पड़ा है। बार-बार खुली चुनौतियाँ

होना चाहिए पर इस समुदाय की संख्या अधिक नही है । धर्मभीरूता यत्किंचित रूप मे विद्यमान है। इसके साथ जब कट्टरता जुड जाती है—रूढ़िवादी धर्मान्धता घर कर लेती है तो यह साम्प्रदायिकता विद्वेष को—जातिगत अलगाववाद को जन्म देती है, जो निश्चित ही किसी राष्ट्र की इमारत के लिए एक दीपक एव धुन की भूमिका निभाती देखी जा सकती है ।

किसी राष्ट्र या संस्कृति को धर्म विशेष के परिप्रेक्ष्य में क्यो देखा जाना चाहिए? इस सम्बन्ध मे हिन्दू संस्कृति की मान्यताएँ बड़ी स्पष्ट हैं। इसमे चेतना के सस्कारीकरण को प्रधानता दी गई है न कि बाह्य कलेवर के परिवर्तन को । सभ्यता का बहिरंग का स्वरूप तो कुछ भी हो सकता है किन्तु चेतना का स्वरूप तो शाश्वत है। सस्कृति शब्द का वाच्यार्थ है शुद्ध करना । लक्ष्यार्थ है—धर्म विद्या आदि की उन्नति करना। दोषपरिमार्जन करके जो अभ्युदय की ओर प्रशस्त हो, वही भारतीय सस्कृति है। जहाँ मुख्य लक्ष्य आत्मिक प्रगति का हो, वहाँ मतभेद के लिये स्थान कहाँ रहा? वस्तुत: यह विस्मृति ही साम्प्रदायिक विद्वेष का कारण बनी है।

पिछले दिनो बडी सख्या मे धर्म परिवर्तन हुए। एक समुदाय को लगा—विश्व पर विपत्ति का पहाड़ टूट पड़ा। तुरन्त उनका शुद्धीकरण उन्हे अपने धर्म मे लेकर दूसरे की जमकर निन्दा की गयी। लेकिन यह तो गत सहस्त्राब्दी से चला आ रहा था, जब ईसाई व मुस्लिम धर्म ने भारत मे प्रवेश किया, तब हिन्दू सस्कृत के उद्धार को क्या हो गया था। बहुत दिनो से सभी वनस्पति घी खा रहे थे। जैसे ही बवेला मचा कि इसमें चर्बी मिली है तुरन्त निन्दा—आरोप का क्रम चालू हुआ एवं एक धर्माचार्य द्वारा टेलीविजन पर भाषण भी दिलवा दिया गया कि गंगाजल पीकर परिशोधन हो जायेगा—प्रायश्चित कर लें।' ईश्वर के नुमाइन्दे कहे जाने वाले इन तथाकथित महामण्डलेश्वरो को क्या सब मूक भेड़ो का झुण्ड नजर आता है, जो उनके कथनानुसार जल पीकर वस्तुत: उस जुगुप्सा से मुक्त हो सकें, जो उसे सतत, इस मिलावट की याद दिलाकर मन को विक्षुब्ध कर देती है।

संभवत: ये ही वे मूलभूत प्रश्न हैं, जो हमें सोचने पर विवश करते है कि क्या कटघरे में बन्द होकर समुदाय बढ़ाया जा सकता है। तीनो ही धर्मों के प्रतिपादकों को इस पर विचार करना होगा कि आमूलचूल आस्थाओ को, क्या परिवर्तन द्वारा बदला जा सकता है? धर्म निरपेक्षता की वर्तमान परस्पर विरोधी भाव वाली वोट परस्त नीति कहाँ तक उचित है, यह राजतंत्र को सोचना होगा? यदि अब न सोचा गया तो अलगाव की धर्म जैसे पवित्र नाम पर खून की नदियों बहाने की प्रवृत्तियाँ और बढ़ेंगी और राष्ट्र की ही नही, विश्व की अखण्ड एकता के मार्ग में भी बाधक बनेंगी।

बापू का सपना अखण्ड भारत को स्वतंत्र रूप में देखने का था। पाकिस्तान के रूप मे खण्ड-खण्ड टूटने एवं रोकने की अफलता ने उन्हें अन्दर से तोड़ दिया था। वे राष्ट्र देवता के उपासक थे। हिन्दू धर्म, मुस्लिम ईसाई या बौद्ध के नही। धर्म के नाम पर बटवारा उन्हें कतई स्वीकार नही था। आज भी पाकिस्तान एव बंगला देश मे हिन्दू है एवं भारत मे मुस्लिम। किन्तु १९४७ का घाव इतना गहरा था कि वह उस खाई को अब तक नही पार कर सका।

धर्म सम्प्रदायों का एकीकरण राजसत्ता के बलबूते सम्भव नही। धर्म निरपेक्षता का नारा लगाना, उसकी बारम्बार दुहाई देना अलग बात है एवं उनके मनों को मिला देना उससे बिल्कुल भिन्न है। देवसंस्कृत प्रधान हमारे इस राष्ट्र मे भिन्नता मे भी अभी तक एकता बनी हुई है, यह किसी के लिए असमंजस का विषय भी हो सकता है पर नई बात हमारे लिये तो नही है। कट्टरता से ऊँचे उठकर हिन्दुत्व के नवजागरण हेतु अब मनीषा को ही आगे आना चाहिए। जिस धर्म में सब धर्म बड़ी सुगमता से अपनी पहचान बनाये रखकर फल-फूल सकते है, उसका पोषण सभी को करना होगा। साथ हो एक आँख दुलार व एक सुधार की रखते हुए ऐसे तत्वो के प्रति थोड़ा कड़ा भी होना पड़ेगा जो हिन्दुत्व की दैवी प्रतिमा को स्थान-स्थान पर चोट पहुँचाने पर उतारू हो। संस्कृति को विखण्डित करने हेतु बलात्‌ इस्लामीकारण और बहुसंख्य भोले-भाले आदिवासियो को प्रलोभनवश ईसाई बनाकर अपने पक्ष में मिलाना इसी मे आता है। यदि हमारे मन में दूसरे धर्मों के प्रति सम्मान है तो हम उनसे कम से कम यह अपेक्षा तो रखे ही कि वे भी हमें बराबर का

गई। लोगों का जीवन विलासी बनता गया। ऐसे ही सिद्धान्त यहाँ फैलाये गये जिससे तप और शक्ति की साधनाओं को लोग बिलकुल ही भूल गये। धर्मान्तर ने इस ह्रास को और सहयोग दिया। कुल मिलाकर साधन शक्ति का यहाँ लोप-सा हो गया।

हिन्दू-धर्म के प्रति उपेक्षा एवं विरोध की यह भावनायें जितनी अधिक बढ़ उतना ही लोगों में संकीर्णता, स्वार्थ, लोभ, घृणा, अनुभूति विलासिता आदि दुष्प्रवृत्तियाँ भी बढ और अशान्ति के लक्षण दिखाई देने लगे। सुख-भोग के साधन बढ़े पर विडम्बना यह है कि सुख में वृद्धि नही हुई। धर्म का स्वरूप यदि विकृत हो जाय तो सुख की आशा भी नही की जा सकती है। वह धर्म ही है जो मनुष्य की भावनाओ और विचारों को शुद्ध करता है। स्वार्थ-हीन तथा गौरवपूर्ण जीवन जीने की प्रेरणा देता है। व्यक्ति और समाज को शुद्ध रखने की शक्ति केवल धर्म में ही है। आत्मा की स्वतन्त्र सत्ता को बल या कानून द्वारा कभी नहीं दबाया जा सकता। धर्म ही उस आवश्यकता की पूर्ति कर सकता है।

हिन्दू धर्म राष्ट्रीय एकता की रीढ़ है पर दुःख है कि धर्म-शिक्षा पर पर्याप्त ध्यान नहीं दिया जाता है। इसमें किसी को दोष देने की भी आवश्यकता नही है। वरन् उन कारणों को ढूँढ़ना है, जिससे धर्म की अवनति हुई है। उन्हे यदि समाज के सामने वैज्ञानिक ढंग से प्रस्तुत किया जाय तो लोगो की सुषुप्त धार्मिक आस्थायें पुनः जागृत हो सकती हैं। यह प्रसार सैद्धान्तिक और सस्कारात्मक तो हो पर उसके साथ में साधना के पूर्ण वैज्ञानिक अभ्यासो का भी समावेश होना चाहिये। धर्म की रक्षा भी शक्ति से ही होती है वह शक्ति व्यक्ति की भी हो सकती है और समाज की भी। पर भारतीय धर्म में साधना-शक्ति का जो सुन्दर योग रहा है, वह अधिक श्रेष्ठ है, अब उसी के विकास की आवश्यकता भी अधिक है।

हिन्दू धर्म की आन्तरिक शक्ति, उसके विज्ञान की अवहेलना करने से ही हिन्दू धर्म का पतन हुआ है। आज भी इस चेतना को यदि जागृत किया जा सके तो यहाँ हाइड्रोजन या एटमबम बनाने की जरूरत न रहे। हर व्यक्ति शक्ति चेतना का पुंज बना हुआ हो तो किसी भी बाहरी आक्रमण की आशंका न रहेगी। राष्ट्र का यह साधना बल जागृत हो जाय तो हिन्दू धर्म पुन. अपना पूर्व गौरव प्राप्त कर सकता है। इसे ही अब जगाना शेष रहा है।

अंगकोरवाट जिसे अन्धविश्वास व पलायन ले डूबा

वे फ्रांसीसी साम्राज्यवादियों के दिन थे। उनने अपनी सेना और सामर्थ्य भरपूर बढ़ाई। पूर्व के राष्ट्र उन्हें बेधने में सरल और प्रतिरोध रहित लगे, इसलिए अपना साम्राज्य उन्होने उसी दिशा मे बढ़ाया। वे अपने देश से लेकर इण्डोनेशिया द्वीपसमूह तक बढ़ते ही चले गये। इसमे उन्हें नाम मात्र की क्षति उठानी पड़ी। लूट में मिले माल से उनने न केवल आक्रमणो का खर्च निकाला, वरन् आक्रान्त देशो की सम्पन्नता और प्रकृति सम्पदा को बड़ी मात्रा मे खींचते रहे। यह शोषण और आधिपत्य शताब्दियों तक चला।

इसी बीच प्रकृति सम्पदा का सर्वेक्षण करते हुए फ्रांसीसी सैनिक एक ऐसे घने जंगल मे जा पहुँचे, जिसमें देवताओ द्वारा बनाया गया एक नगर खोज निकाला। उसका विस्तार शिल्प-सौन्दर्य हर दृष्टि से भव्य था। पर उसे कटीली झाड़ियों और जंगली पेड़ो ने अपने अधिकार में कर लिया था। सघनता इतनी थी कि पास-पड़ोस के देशवासियो तक को उसके सम्बन्ध में कोई जानकारी तक न थी।

फ्रांसीसियो ने सन् १८६० मे इसे खोजा और प्रकृति विज्ञानी हेनरी लेकाम्ते के तत्वावधान मे साफ सुथरा बनाया। झाड़ियो को काटा, कचरे को हटाया और टूट-फूट को ठीक कराया। जब वह निखरा तो प्रतीत हुआ कि वह खण्डहर अर्ध जीवित स्थिति मे मौजूद था। जितना टूटा-फूटा था, उससे अधिक वह प्रौढ़ स्थिति मे इस प्रकार स्थिर था, मानों अभी हजारो वर्ष जीवित रहने के अरमान उसके मन में हैं। राजप्रसाद एवं दिवंगत शासको के स्मारक तो भव्य थे ही। १० लाख लोगों के अच्छी स्थिति मे रह सकने योग्य अच्छे खासे मकान उस क्षेत्र में बने हुए थे। इर्द-गिर्द का इलाका खोजने पर पता चला कि वहाँ कभी मीठे पानी की नहरे बहती थीं। सिंचाई के अच्छे खासे साधन थे और वहाँ के किसान बढ़िया चावल की तीन-तीन फसलें साल भर मे काटते थे। बडे तालाबों

उसने स्वीकार की हैं और जिस प्रकार पुनर्व्यवस्थित हुआ है, उससे उसकी महान् शक्ति और क्षमता का ही परिचय और प्रमाण मिलता है। हमारी यह मान्यता है कि जब तक पूर्ण रूप से एक भी हिन्दू इस संसार मे बना रहेगा तब तक इस धर्म का अन्त होना असम्भव ही है। हिन्दू धर्म की यह विशेषता उसके सत्य, शील और शक्ति का कारण है। इस तीनो महागुणो का विकास आत्म-शोध की पूर्ण वैज्ञानिक प्रक्रिया पर होता है। इसका स्पष्ट दर्शन यहाँ के योग ग्रन्थों से मिलता है। ऐसे उदाहरण यहाँ बहुत है, जब जाति की प्रसुप्त चेतना को एक व्यक्ति ने जगाया है। उसको दयनीय अवस्था से ऊँचा उठाया है। सभी जानते है कि महायानी बौद्ध धर्म के प्रादुर्भाव काल मे जबकि हिन्दू-धर्म के बहुत थोड़े अवशेष बचे थे, तब तरुण तपस्वी जगत् गुरु शंकराचार्य ने धार्मिक-ज्योति को प्रज्जवलित किया था और सम्पूर्ण देश में उसे नव-चेतना देने मे सफल हुये थे। स्वामी रामतीर्थ, विवेकानन्द, या ऋषि दयानन्द ने उतना काम करके दिखाया जिसके लिये एक विधिवत् मिशन लगाना पड सकता था। जो समाज और समूह की शक्ति हो सकती है, वह एक व्यक्ति मे भी हो सकती है। यह मान्यता इस सनातन धर्म की कुछ विचित्र अवश्य जान पड़ती है किन्तु शक्ति के आविर्भाव की योग पद्धति का जिन्हे थोड़ा भी अनुमान होगा वे इस तथ्य को अस्वीकार न कर सकेगे।

भारतीय बौद्धिक क्षमता और दर्शन ससार के अन्य दर्शनो से विलक्षण है। जो बाते आज भौतिक विज्ञान प्रदर्शित कर रहा है, उसे यहाँ केवल बालको का खेल समझा जाता रहा है। रावण, भस्मासुर, सहस्त्रावाहु यह सब ऐसे ही वैज्ञानिक थे, जिनके कृत्यों को यहाँ बहुत छोटा माना गया है। पाश्चात्य जगत मे जो शोध जड़ अणु की हुई है, वह यहाँ चेतना परमाणु की हुई है। जड़ से चेतन् की शक्ति असंख्यो गुनी अधिक है। योग-पद्धति मे सर्वत्र उसी शक्ति का विश्लेषण हुआ है जिसे पाकर लोग अनन्त शक्ति के भाण्डागार बने विचरण करते थे। यहाँ प्रायः ऋषि से कम तो कोई होता ही नही था।

काल प्रभाव से इस साधना शक्ति का ह्रास हुआ। १६वी शताब्दी से लेकर १८वी शताब्दी तक हिन्दू-धर्म पर निरन्तर प्रहार होते रहे, जिससे साधना का दक्षिण मार्ग प्रायः विलुप्त हो गया। मुसलिम शासकों ने हिन्दुओ को हीन जाति मानकर हमारे मन्दिरों को भ्रष्ट तथा शिक्षण पद्धति को नष्ट करके ऐसे भ्रामक तथ्य भर दिये, जिससे हिन्दुओ ने भी अपने आप पर अविश्वास करना प्रारम्भ कर दिया। असंरक्षित धर्म इस तरह गिरता ही चला गया। वेद लुटे। स्मृतियों पुराणों में स्वार्थी और चाटुकार हिन्दुओं ने ही भ्रम पैदा करने वाले श्लोक गढ़-गढ़कर भर दिये। तप और उसके प्रभाव को इतना बढ़ा-चढ़ाकर दिखाया गया कि या तो उसे लोग असम्भव ही मान बैठें या उन पर पूरी तरह से अविश्वास करने लगे। धर्म, आत्मा, ईश्वर यदि है तो उनका एक निश्चित विज्ञान भी होना चाहिए। हिन्दू-धर्म के इस विज्ञान पक्ष को सब तरह से निर्बल बनाने का प्रयत्न किया गया किन्तु फिर भी अपनी विशेषताओ के कारण वह समूल नष्ट न हो सका।

सिकन्दर, औरंगजेब तथा इब्राहिम लोदी आदि विदेशी शासको ने जो धार्मिक आस्थाओ और धर्म मन्दिरो को ध्वस किया उसे चैतन्य महाप्रभु ने पुनः जीवन दान दिया। इस अवधि मे भक्ति-धारा का विकास हुआ। सांस्कृतिक एकता के अनेक केन्द्रों से वह सम्पूर्ण राष्ट्र में पुन. फूटी।

इसी बीच एक तीसरी शक्ति का प्रवेश इस देश में हुआ। अंग्रेज भारत मे आये और ईसाई मिशनरियों ने धर्म-परिवर्तन का कार्य शुरू कर दिया। यह ठीक है कि उन्होने धर्म पर आक्षेप नही किया किन्तु ईसाई-सस्कृति को मान्यता और प्रोत्साहन ने वही काम किया जो मुसलमानो के आघातो ने किया था। उन्होंने कठोरतापूर्वक दमन किया, इन्होने प्रलोभन देकर वही काम किया। ईसाई मिशनरियो की प्रसार पद्धति की आकर्यक विशेषता के कारण कुछ लोगो ने धर्म-परिवर्तन किये और हिन्दू-धर्म को हीन प्रमाणित करने की कोशिश की। दूसरी तरफ शासक वर्ग ने अँग्रेजी विचारधाराये, रीत-रिवाज और रहन-सहन भरना शुरू कर दिया। इस तरह हिन्दू-धर्म की मान्यतायें बिलकुल ही नष्ट हो चलीं। ईश्वर, धर्म, और परलोक की प्राप्ति को सस्ता सौदा मान लिया गया। इस प्रकार उसमें जो वैज्ञानिकता थी वह पूरी तरह उपेक्षित होती

गई। लोगो का जीवन विलासी बनता गया। ऐसे ही सिद्धान्त यहाँ फैलाये गये जिससे तप और शक्ति की साधनाओं को लोग बिलकुल ही भूल गये। धर्मान्तर ने इस ह्रास को और सहयोग दिया। कुल मिलाकर साधन शक्ति का यहाँ लोप-सा हो गया।

हिन्दू-धर्म के प्रति उपेक्षा एवं विरोध की यह भावनायें जितनी अधिक बढ़ उतना ही लोगों मे संकीर्णता, स्वार्थ, लोभ, घृणा, अनुभूति विलासिता आदि दुष्वृत्तियाँ भी बढ़ और अशान्ति के लक्षण दिखाई देने लगे। सुख-भोग के साधन बढ़े पर विडम्बना यह है कि सुख मे वृद्धि नही हुई। धर्म का स्वरूप यदि विकृत हो जाय तो सुख की आशा भी नहीं की जा सकती है। वह धर्म ही है जो मनुष्य की भावनाओं और विचारों को शुद्ध करता है। स्वार्थ-हीन तथा गौरवपूर्ण जीवन जीने की प्रेरणा देता है। व्यक्ति और समाज को शुद्ध रखने की शक्ति केवल धर्म मे ही है। आत्मा की स्वतन्त्र सत्ता को बल या कानून द्वारा कभी नही दबाया जा सकता। धर्म ही उस आवश्यकता की पूर्ति कर सकता है।

हिन्दू धर्म राष्ट्रीय एकता की रीढ़ है पर दुःख है कि धर्म-शिक्षा पर पर्याप्त ध्यान नहीं दिया जाता है। इसमे किसी को दोष देने की भी आवश्यकता नही है। वरन् उन कारणों को ढूँढ़ना है, जिससे धर्म की अवनति हुई है। उन्हे यदि समाज के सामने वैज्ञानिक ढंग से प्रस्तुत किया जाय तो लोगो की सुषुप्त धार्मिक आस्थाये पुनः जागृत हो सकती हैं। यह प्रसार सैद्धान्तिक और संस्कारात्मक तो हो पर उसके साथ में साधना के पूर्ण वैज्ञानिक अभ्यासो का भी समावेश होना चाहिये। धर्म की रक्षा भी शक्ति से ही होती है वह शक्ति व्यक्ति की भी हो सकती है और समाज की भी। पर भारतीय धर्म में साधना-शक्ति का जो सुन्दर योग रहा है, वह अधिक श्रेष्ठ है, अब उसी के विकास की आवश्यकता भी अधिक है।

हिन्दू धर्म की आन्तरिक शक्ति, उसके विज्ञान की अवहेलना करने से ही हिन्दू धर्म का पतन हुआ है। आज भी इस चेतना को यदि जागृत किया जा सके तो यहाँ हाइड्रोजन या एटमबम बनाने की जरूरत न रहे। हर व्यक्ति शक्ति चेतना का पुंज बना हुआ हो तो किसी भी बाहरी आक्रमण की आशका न रहेगी। राष्ट्र का यह साधना बल जागृत हो जाय तो हिन्दू धर्म पुनः अपना पूर्व गौरव प्राप्त कर सकता है। इसे ही अब जगाना शेष रहा है।

अंगकोरवाट जिसे अन्धविश्वास व पलायन ले डूबा

वे फ्रांसीसी साम्राज्यवादियो के दिन थे। उनने अपनी सेना और सामर्थ्य भरपूर बढ़ाई। पूर्व के राष्ट्र उन्हें बेधने में सरल और प्रतिरोध रहित लगे, इसलिए अपना साम्राज्य उन्होने उसी दिशा मे बढ़ाया। वे अपने देश से लेकर इण्डोनेशिया द्वीपसमूह तक बढ़ते ही चले गये। इसमें उन्हे नाम मात्र की क्षति उठानी पडी। लूट में मिले माल से उनने न केवल आक्रमणो का खर्च निकाला, वरन् आक्रान्त देशो की सम्पन्नता और प्रकृति सम्पदा को बड़ी मात्रा में खीचते रहे। यह शोषण और आधिपत्य शताब्दियो तक चला।

इसी बीच प्रकृति सम्पदा का सर्वेक्षण करते हुए फ्रांसीसी सैनिक एक ऐसे घने जंगल में जा पहुँचे, जिसमें देवताओ द्वारा बनाया गया एक नगर खोज निकाला। उसका विस्तार शिल्प-सौन्दर्य हर दृष्टि से भव्य था। पर उसे कंटीली झाड़ियो और जंगली पेड़ो ने अपने अधिकार मे कर लिया था। सघनता इतनी थी कि पास-पड़ोस के देशवासियो तक को उसके सम्बन्ध मे कोई जानकारी तक न थी।

फ्रांसीसियो ने सन् १८६० मे इसे खोजा और प्रकृति विज्ञानी हेनरी लेकाम्ते के तत्वावधान मे साफ सुथरा बनाया। झाड़ियो को काटा, कचरे को हटाया और टूट-फूट को ठीक कराया। जब वह निखरा तो प्रतीत हुआ कि वह खण्डहर अर्ध जीवित स्थिति मे मौजूद था। जितना टूटा-फूटा था, उससे अधिक वह प्रौढ़ स्थिति मे इस प्रकार स्थिर था, मानो अभी हजारो वर्ष जीवित रहने के अरमान उसके मन मे हैं। राजप्रसाद एवं दिवगत शासको के स्मारक तो भव्य थे ही। १० लाख लोगों के अच्छी स्थिति मे रह सकने योग्य अच्छे खासे मकान उस क्षेत्र में बने हुए थे। इर्द-गिर्द का इलाका खोजने पर पता चला कि वहाँ कभी मीठे पानी की नहरें बहती थीं। सिंचाई के अच्छे खासे साधन थे और वहाँ के किसान बढ़िया चावल की तीन-तीन फसलें साल भर मे काटते थे। बड़े तालाबो

मे मछलियाँ पाली और पकड़ी जाती थी। इस प्रकार उस क्षेत्र में खाद्य का अभाव न था। कारीगरों की भी कमी न थी। उस प्रदेश में प्रायः सभी जगह बौद्ध संस्कृति छाई हुई थी। ऐसे बौद्ध संस्कृति जिस पर कि देववाद और ब्राह्मणवाद की भी गहरी छाप थी।

इस प्रभुसत्ता सम्पन्न क्षेत्र के खण्डहरों की बनावट मे वे सारे साधन थे, जो किसी प्रभुसत्ता सम्पन्न राज्य मे होने चाहिए। लगता है भवन निर्माण कला का उन दिनो तक अच्छा विकास हो चुका था। ठस राज्य के शासकों ने दूर-दूर से कलाकार इस भव्य सरचना के लिए बुलाये होगे अथवा अपने शिल्पियो को किन्ही विकसित सभ्यता वाले देशो में भेजकर प्रशिक्षित कराया होगा। पत्थर, लकड़ी और ताँबे जैसी धातुओं पर अकित वस्तु शिल्प ऐसा है, जिसे देखकर आश्चर्यचकित हो जाना पड़ता है।

जिनने भी इस पुरातन सभ्यता की नई खोज का पता पाया वे सभी उसे देखने दौड़ पड़े। पर आश्चर्य एक बात पर ही करते रहे कि इतना सुविधा सम्पन्न साम्राज्य आबादी से पूर्णतया खाली कैसे हो गया? आक्रमणकारियों की तोड़ फोड़, कत्ले-आम, लूट, महामारी जैसे कोई ऐसे चिन्ह भी नही पाये गये, जो आतक बनकर आये हों और उस क्षेत्र के शासको और जन साधारण को वह क्षेत्र खाली कर देने के लिए विवश किये हो।

पुरातत्ववेत्ताओ ने वहाँ उपलब्ध वस्तुओं के सहारे यह धारणा निश्चित की है कि वहाँ पुरातन काल मे एक सुविकसित सभ्यता थी, जिसे "खमेर सभ्यता" कहा जाता था। उसके सदस्य मंगोलियन नस्ल के थे।

कहा जाता है कि यह हिन्द-चीन, इन्डोचाइना के नाम से जाना जाने वाला क्षेत्र भारतीय और चीनी नस्ल के सम्मिश्रण से बना था। भारत से कौडिन्य नामक प्रतापी धर्मोपदेशक वहाँ गये थे। उनने अपनी विद्वता, सुन्दरता और कुशलता से वहाँ की रानी को मोह लिया और दोनो का विवाह हो गया। यह हिन्द और चीन का सम्मिश्रण हर क्षेत्र पर छा गया और समीपवर्त्ती छोटे-बडे देशों में भी वह लहर संव्याप्त हो गई। भारत और चीन के सगम का यह क्षेत्र साक्षी है। वर्मा से लेकर इन्डोनेशिया तक भारतीय सभ्यता की गहरी छा पायी जाती है। आकृति और प्रकृति में भी चीनीपन भी विद्यमान है।

दक्षिण पूर्व एशिया पर खमेर जाति ने प्राय ५०० वर्ष की लम्बी अवधि तक अपना आधिपत्य जमाये रखा और प्रगतिशीलता के हर क्षेत्र आशातीत पराक्रम कर दिखाया। खमेर लोग ही थे जिन्होने ठस समूचे क्षेत्र में नया उत्साह जगाया और समृद्धि का भण्डार भरा। ठनकी राजधानी अथवा सूत्र संचालक सता वही थी, जिसे "अंगकोरवाट" या "अंकोर" के नाम से जाना जाता है और जहाँ मूल निवासियों में से एक भी दृष्टिगोचर नहीं होता। यह संसार का अनुपम ध्वंसावशेष है। इसमें देखने और जानने योग्य बहुत कुछ है। समयानुसार फ्रांसीसी अपने देश लौटने के लिए विवश हो गये, पर उन्होंने उ ध्वंसावशेष को जिस प्रकार खोजा और सजोया, उसक स्मरण सदा किया जाता रहेगा।

इस दर्शनीय स्थान की अब राष्ट्रसघ के कला विभाग द्वारा देख-रेख होती है और पर्यटको के लिए सप्ताह में दो दिन एक छोटे विमान की उड़ान होती है। सुरक्षा की दृष्टि से समीपवर्ती क्षेत्र मे जन जातियों के कुछ लोगों को वहाँ बसा भी दिया गया है।

इस देखने वाले हर व्यक्ति के मन मे यह उत्कंठा बार-बार उठती है कि ऐसा भव्य क्षेत्र सर्वथा जन-शून्य कैसे हो गया? इतिहास की कड़ियाँ जोड़ने वालो ने उपलब्ध प्रमाणों के आधार पर कहा है कि अंगकोर का अन्तिम शासक यशोवर्मन विलासिता में डूबा तो प्रजा की देखभाल और सुविधाओ मे कमी पड़ी। विद्रोह को दबाने के लिए उसने अपने आपको शिव का अवतार कहना शुरू किया और अपने एजेन्टो द्वारा जनता के मन मे यह छाप गहराई तक बिठाई ताकि श्रद्धा के वशीभूत होकर कोई उसकी आलोचना न करे, उंगली न उठाये और जैसे भी रखा जा रहा है उसी प्रकार रहें।

जनता तो मान गई पर इस कमजोरी को भाँपकर दूरवर्ती आक्रामक कबीले चढ़ दौड़ने के लिए आतुर हो उठे। उनके कई हमले हुए, जिनमें राजा हर बार हारा और प्रजा को बार-बार लुटना पड़ा।

इसी बीच जनता के मन में यह विचार फैलाया गया कि कोई शक्तिशाली दैत्य ऐसा प्रकटा है, जिसके आगे शिव जी का भी कुछ वश नही चलता। राजा बचे-खुचे वैभव को लेकर किसी अविज्ञात सुरक्षित स्थान को चला गया। प्रजा अनाथ रह गई। उसका मनोबल टूट गया। पुन: सगठित होकर आक्रमणकारियो से जूझने और अपना अस्तित्व बचाने के स्थान पर हर नागरिक को यही सुझाया कि जो रास्ता उनके आराध्य ने अपनाया है वही उनके लिए भी श्रेयस्कर है। भगदड़ मची और जिसने जहाँ सोचा समझा वह वहाँ भाग गया। इस बिखराव में खमेर सभ्यता का भी अस्तित्व न रहा। वे भगोडे जहाँ भी बसे वहाँ की प्रथा परम्परा मे घुल गये।

इस प्रकार मनोबल का टूट जाना एवं अन्ध-विश्वास का दलदल खमेर जाति को खा गया और सुविकसित अंगकोरवाट मात्र दर्शकों का कौतूहल-खण्डहर बनकर रह गया। यह खण्डहर साक्षात प्रमाण है कि अंधविश्वास किस तरह एक सुविकसित सभ्यता को नष्ट कर देता है?

भारत एक राष्ट्र-संघ, वैदिक संस्कृति— विश्व-संस्कृति

हिमालय में कुछ पक्षी ऐसे पाये जाते है, जो वर्ष भर केवल देशाटन करते रहते है। भारतवर्ष ही नही, पड़ौसी देशो मे भी वे जाते रहते है। यह उनकी आहार आदि की सुविधा पर निर्भर है कि वे किधर जायें, किधर न जाये पर जब अण्डे देने का अवसर आता है, तब वे अपने मूल निवास स्थान हिमालय को ही लौट आते है। ऐसा ही इतिहास अटलान्टिक सागर में पाई जाने वाली 'ईल' मछली का भी है। वह मीठे पानी के लिये हजारो मील समुद्र पार कर गङ्गा-यमुना तक पहुँचती है पर उसे बच्चे देने होंगे तो अपने अटलान्टिक सागर में ही जाकर देगी।

संसार में फैली हुई सैकड़ो जातियाँ और विभिन्न देशो के निवासी आकृति, रङ्ग, रूप, खानपान और भौगोलिक परिस्थितियो के कारण वेष व बनावट मे कितने ही बदल क्यो न गये हो, वे सब एक ही मूल पुरुष से जन्मे, एक ही स्थान से विकसित हुए है। एक घर में जब चार लड़के हो जाते हैं, तब चार घरों की आवश्यकता पड़ती है। बड़ा वही रह जाता है, शेष तीन नया घर बना लेते हैं। ऐसा करते-करते ही इस पृथ्वी पर इतने देश, इतनी जातियाँ बन गईं और वे ऐसी अलग-अलग हो गई कि अब उनको एक ही पिता की सन्तान कहना भी कठिन हो गया है।

किन्तु धार्मिक भूगोल और मनुष्य जाति के पुरातत्व इतिहास की खोज एक बार हमें फिर उसी ओर ले जाती है। उपलब्धियों और निष्कर्ष यह बताते है कि भारत कभी सारे संसार का राष्ट्र-संघ था और यहाँ की संस्कृति विश्व-संस्कृति। अनेक देशो में रहने वाले लोग भाषा की दृष्टि से एक थे—सबकी भाषा संस्कृत थी। आचार की दृष्टि से एक थे—सभी ईश्वर-उपासक और संगठन बनाकर जीवों को पालकर रहने वाले होते थे। सच्चाई, ईमानदारी आदि के पालन पर विशेष ध्यान दिया जाता राजाओ को अनेक अधिकार और सुविधाएँ इसी लिए दी जाती थी कि वे खण्ड-खण्ड में बसे देशवासियो का निरीक्षण करते रहें और कभी कही उद्दण्डता न पनपने दे। यह सब राजे-महाराजे और शासन-तन्त्र भारतवर्ष से जुड़े रहते थे। उन्हें दिशा-निर्देश यही से होता था। वेदान्त संस्कृति का आदि भूमि होने के कारण 'चक्रवर्ती साम्राज्य यही से चलते थे। यह धर्म का एक आवश्यक अङ्ग था और उसके लिये लोगो को ज्ञान-धाराये ही प्रवाहित नही की जाती थी, शक्ति और शस्त्र का प्रयोग भी किया जाता था। यह उत्तरदायित्व हिन्दुओ ने एक समर्थ और सङ्गठित जाति होने के कारण ही अपने कन्धों पर लिया था और उसका धर्मपूर्वक पालन भी करते थे। आज भी यदि हम समर्थ हों और शास्त्र व शक्ति के द्वारा विश्व-सङ्घ की रचना एक महान् आदर्श विश्व शाति के लिये कर सके तो यह एक बड़ी बात होगी। यदि अपनी आतरिक बुराइयो को दूर कर हम अपने को ज्ञान-विज्ञान धर्म-संस्कृति, आचार-विचार, रहन-सहन आदि की दृष्टि से सर्व समर्थ सिद्ध कर सकें तो शौर्य और साहस आज भी हमारा वही है। संसार में फैले अपने छोटे भाइयो को एक बार फिर से मानवता के रास्ते पर ज्ञान और शक्ति दोनों तरह से लाया जा सकता है।

इतिहास इस बात का साक्षी है कि पहले ऐसा ही था। भारतीय संस्कृति मनु को आदि पुरुष मानती है। ससार के प्राय: सभी देश और धर्म भी मनु को ही अपना पितामह मानते है। हमारे धर्मग्रन्थ बताते है।

मनुना च प्रजा: सर्वा: सदेवासुर मानुषा।
सृष्ट्वा. सर्वलोकाश्च यत्रेगति पच्चेगति॥

—महाभारत वनपर्व

अर्थात् सम्पूर्ण पृथ्वी पर अपनी-अपनी स्थिति के अनुसार जाकर बसे देवता, मनुष्य और राक्षस (यह मनुष्यो के क्रमश: गुण-विभाग है) सब मनु की ही प्रजा है।

अमरेन्द्रमया बुद्धया प्रजा: सृष्टास्तथा प्रभो।
एक वर्णा: समाभाषा एक रूपाश्च सर्वश:॥

—वाल्मीकि रामायण

अर्थात्— हे प्रभो! संसार भर मे बसे सभी लोग एक ही जाति, एक ही भाषा और सब प्रकार एक ही आचार-विचार वाले मनु के पुत्र है।

'एन्सियन्ट एण्ड मीडिवल इण्डिया' के प्रथम खण्ड ११८ पेज मे प्रसिद्ध इतिहासज्ञ मैनिङ्ग ने उपरोक्त तथ्य की जो तुलनात्मक व्याख्या की है, वह बड़ी महत्वपूर्ण है। श्री मैनिङ्ग लिखते है कि मानव-जाति के आदि जनक, जिन्हें भारतीय 'मनु' कहते है, उन्ही से संसार की सभी जातियाँ बनी, यह निर्विवाद सत्य है। भारतीय मनु या मनस् की तरह जर्मन भी आदि पुरुष को "मनस" (Manus) कहते हैं, यही 'ट्यूटनो' के मूल पुरुष समझे जाते है। जर्मनी का "मन्न" (Munn) और अँग्रेजी का मैन (Man) उच्चारण मे थोड़ा अन्तर रखता है पर वह "मनु" ही है। जर्मनी के "मनेस" और संस्कृत के "मनुष्य" मे कोई अन्तर नही है।

बाहर गई हुई जातियाँ कालान्तर मे अपने आहार-विहार और रहन-सहन बदलती अवश्य गई पर वे लम्बे अर्से तक साधना, उपासना, व्यवहार-व्यापार, धर्म और दर्शन, भाषा और शासन व्यवस्था आदि की दृष्टि से भारतीय सविधान से जुड़ी रहीं। ईसा से १५०० वर्ष पूर्व मध्य एशिया में "मिटानी" और "हिटाइट" नामक दो पड़ौसी राज्य थे। मिटानी का शासक "मतिउजाजा" था और हिटाइट में "शिविलुलिउमा" राज्य करता था। प्राचीन काल में जब दो राजाओं के मध्य सन्धि या किसी प्रस्ताव पर बातचीत होती थी तो अदालतो मे जिस प्रकार भगवान की शपथ ली जाती है, उसी प्रकार देवताओं को साक्षी बनाया जाता था। इन दो राजाओ के मध्य हुई सन्धि का एक शिलालेख मिला है। उसमें जिन देवताओं की साक्षी दी गई है, उनके नाम इन्द्र, मित्र, वरुण और मासत्य (अश्विनी कुमार) है। यह देवता केवल ऋग्वेद में ही प्रयुक्त हुए है और संसार के किसी भी धर्म में नही। इससे स्पष्ट पता चलता है कि यह दोनों ही संभाग वेदान्त सभ्यता से प्रभावित थे।

मिश्र में एक "एल अमारा" मे एक बेबीलोनिया का शिलालेख है। उसमे प्रयुक्त हुए नाम आर्तमन्यु, यशदत्त, सुवर्ण, आर्जवीय आदि संस्कृतनिष्ठ शब्द भी वेदो के ही हैं। कश्मीर में मिले "दबिस्तान" नामक शिलालेख मे बैक्ट्रिया के राजाओ की नामावली दी है, वह हिन्दुओं के नामों की तरह ही है। 'हिस्ट्री ऑफ इण्डिया' के लेखक डा. मिल ने भी स्वीकार किया है। बैक्ट्रिया में मिले पुरातत्व अवशेष यह बताते हैं कि वहाँ की सभ्यता भारतीय रही है। 'हिस्टोरीकल हिस्ट्री ऑफ दी वर्ल्ड' प्रथम खण्ड के पेज ८९ मे इजिप्ट निवासी पणिकों की शाखा है। ये लोग पान्त देश से आये। यह पान्त-पहले पाण्ड्य देश था और उनके पणि ही पणिक है। उन्होंने ही फिनीशिया बसाया। उपरोक्त पुस्तक के पेज ७७ में स्वयं लेखक ने भी स्वीकार किया है कि इजिप्ट भारतीयो का ही प्रवासी देश रहा है। भले ही कालान्तर मे उसने अपनी अलग संस्कृति बना ली हो।

पुराणो मे वर्णित आन्धालय ही आस्ट्रेलिया है। इसका प्रमाण है 'अक्षय तूण अस्त्र'। एकलव्य ने इसी अस्त्र का प्रयोग एक बार किया था। इसकी विशेषता यह होती है कि दुश्मन को मारकर वापस आ जाता है। यह यन्त्र 'बूमराग' नाम से अभी आस्ट्रेलिया मे पाया जाता है।

अमेरिका के पुरातत्व संग्रहों मे 'हाथी' के चित्र पाये जाते है, जबकि वहाँ हाथी मिलते ही नहीं। गणेश की मूर्तियाँ है, जबकि वहाँ गणेश को आज लोग जानते तक नही, इसके विपरीत महाभारत युद्ध और रामायण

काल में अहिरावण अलम्बुस आदि राजाओ का वर्णन मिलता है, जो पातालवासी बताये गये हैं। यह अमेरिका ही था जो भारतवर्ष से ठीक नीचे की ओर 'ग्लोब' मे है। कोलम्बस के पहुँचने से पहले पेरू और मैक्सिको मे स्वस्तिक का चिन्ह प्रत्येक मगल पर्व पर काढ़ा जाता था, जो बिल्कुल भारतीयों की अनुकृति है। बालि पाताल का राजा था। दक्षिण अमेरिका में उसके नाम का स्मरण कराने वाला नगर बलिविया आज भी है, यह किसी समय राजधानी थी। अङ्ग देश से पहुँचे हुए लोगों ने ही अमेरिका में 'इङ्क' जाति बनाई। दोनो के पुरातत्व संग्रह एक ही प्रकार के मिलते-जुलते पाये गये हैं।

इन्डोनेशिया के द्वीप जावा, सुमात्रा, लम्बोक, बालि आदि के नाम तो ज्यों-के-त्यों महाभारत में आये हैं। वहाँ के लोगो के नाम अभी भी सुकर्णों, भीमो, अर्जुनों आदि होते हैं, जो स्पष्ट यह बताते हैं कि उनके नामों की शैली भारतीय थी अर्थात् वे संस्कारों की दृष्टि से भारतीय सस्कृति के अङ्ग ही थे। वहाँ के लोक-जीवन, साहित्य और छाया नाटकों के पुराण-काल की सस्कृति के दर्शन आज भी किये जा सकते हैं। कम्बोडिया, थाईलैंड और रूस के अधिकाश राज्यों के नाम और वहाँ की सस्कृति में अभी भी भारतीय सस्कृति से बहुत अधिक साम्य पाया जाता है। यह उदाहरण इस बात के प्रमाण है कि सृष्टि में मानव का आदि पदार्पण भारतवर्ष में हुआ। उन्होने 'वेद' रचकर वेदान्त सभ्यता या भारतीय सस्कृति का निरूपण किया। यही जाति इस सस्कृति को लिये हुए सारे विश्व में फैलती चली गई। पहले तो राष्ट्रसङ्घ स्थापित था इसलिये सभी लोगों को भारतीय संस्कृति के अनुरूप जीवन पद्धति, नीति, धर्म, दर्शन आदि को अपनाना ही पड़ता था। ये लोग अपना पितामह देश भारत को मानते थे इसलिए इसे विदेश मानने का कोई कारण नहीं था। भारतीय सस्कृति को विश्व-संस्कृति मानकर ही वे लोग अपने जीवन मे स्थान देते रहे।

धीरे-धीरे यहाँ के लोगों मे, भेदभाव, स्वार्थ-परायणता और ऊँच-नीच का भाव आता गया। उससे अथवा किन्ही भौगोलिक व ऐतिहासिक कारणों से परिवर्तन होते गए और विश्व अनेक देश, अनेक संस्कृतियो के रूप में दिखाई देने लगा। विश्व की अशान्ति का आज का कारण भी यही है कि जाति, गुण, कर्म, स्वभाव, धर्म, दर्शन की एकता को भूलकर आज सारा संसार वर्ण-भेद, जाति और धर्म-भेद के मैदान मे कूद आया है। उसी से परस्पर संघर्ष होता है। उस संघ से तभी बचा जा सकता है, जब पुनः लोगों को पता चले कि हमारा मूल उद्गम भारतीय संस्कृति है। सारे संसार को एक सूत्र मे बॉधने और सबका हित साधने की क्षमता भारतीय संस्कृति मे है। वही अपने दूर-दूर तक जाकर बसे लोगों को मातृत्व और स्नेह देकर संसार को पुनः एक राष्ट्रसङ्घ, एक भाषा, एक ही मानव जाति के मनका में पिरो सकती है। यही सब कुछ आगे करना और होना है।

विश्व निर्माण में देव संस्कृति की भूमिका

देव संस्कृति चिरपुरातन् समय से ही समूचे विश्व के हर क्षेत्र एवं समुदाय को सद्भावनाओ और सत्प्रवृत्तियो से अनुप्राणित करने मे असमर्थ रही है। यदि विश्व को आज की परिस्थितियों मे एक सूत्र मे बाँधने की बात सोची जाय तो एक ही संस्कृति 'विश्व सस्कृति' की बात मस्तिष्क मे आती है। ऐसा स्वरूप देव संस्कृति का ही बनता है, जो सारे विश्व की अनेकानेक सस्कृतियो के उपयोगी एवं महत्त्वपूर्ण अंशो का समुच्चय है। इस दृष्टि से भारतीय संस्कृति ही ऐसी है, जिसे अनायास ही मानवी संस्कृति देवपरम्पराओं के उत्कृष्टतम स्वरूप की मान्यता मिल सके।

भारत भूमि की परम्परागत महानता मात्र इतने तक ही सीमित नही रही है कि यहाँ के निवासी समर्थ, सुसंस्कृत एवं समृद्ध भर थे। यदि बात इतनी छोटी होती तो इस प्रकार के उदाहरण अन्यत्र भी खोजे जा सकते थे। अपनी-अपनी परिधि में अपने ढंग से सभी उत्कर्ष अभ्युदय के प्रयत्न करते एवं योग्यता-परिस्थिति के अनुरूप सफल भी होते रहते थे। कौन कितना

सफल हुआ—अन्तर मात्र इतने का रहा। परिणामों मे इस अनुपात से अन्तर तो रहेगा, पर तथ्यों एवं प्रयासों को असाधारण एवं अनुपम नहीं कहा जा सकता। भारत भूमि को 'स्वर्गादपि गरीयसी' इसलिए कहा जाता है। उसके अपने कुछ मौलिक निर्धारण एवं प्रयास थे। इनमें सर्वोपरि यह था कि जो पाया जाय, उसे बिना अपने पराये का भेदभाव किये बाँटा-बिखेरा जाय। इस विभाजन वितरण में विशेषतया अधिक जरूरतमन्दों को प्राथमिकता देने की नीति का पूरा-पूरा समावेश किया गया। सूर्य की ऊर्जा बादलों की सरसता एवं वायु की सजीवता बनकर इस धरती पर निवास करने वाले मनुष्यों को नही वरन् समूचे जीव जगत को सुखी समुन्नत बनाने मे अपनी क्षमता लगाती है, फलतः कृतज्ञता भरा सम्मान भी पाती है।

स्वर्गलोक के निवासियो की सम्पदा उन्ही के काम आती है। धरती वाले उस वैभव का लाभ कहाँ उठा पाते है? देवताओं मे देने की प्रवृत्ति तो है, पर साथ ही है यह इस स्तर की कि जो अनुनयपूर्वक माँगे, उसी को अनुग्रह रूप में दिया जाय। बिना माँगे स्वतः विपन्नता को तलाशना एवं बिना याचना के उस विषमता को निरस्त करने के लिए जा पहुँचना यह विशेषता धरती के देवमानवों मे ही पाई जाती है। व्यवहार मे इसे तब देखा जाता है, जब कभी भूकम्प, दुर्भिक्ष, बाढ़ अग्निकाण्ड, महामारी दुर्घटनाये सामने आती हैं। अनेको भावनाशील उस समय अपनी सहायता लेकर संकटग्रस्तो की सहायता को दौड़ते है।

यही एक प्रमुख कारण है कि देवमानवों की मन स्थिति एवं जीवनचर्या को सुरदुर्लभ कहा गया है। इस आनन्द से वंचित रहने के कारण देवता धरती पर उतरते और मानव जन्म लेकर अपने को कृतकृत्य करते है। भारत भूमि को 'स्वर्गादपि गरीयसी' इसी दृष्टि से कहा जाता रहा है कि इस पर जन्मे और बढ़े व्यक्ति सदा से यह ध्यान रखते रहें कि उन्हे हर स्तर का वैभव प्रचुर परिणाम में कमाना तो है, अकेले खाना नही है। वरन् जो भी कुछ हाथ में है उसे अपने से अधिक अभावग्रस्तों को प्राथमिकता देते हुए व्यापक क्षेत्र में वितरित करना है।

अतीत के विभूतिवानों-देवमानवों की इस विशेषता का सर्वविदित प्रमाण यह भी है कि उन्हें अपने देश के कौने-कौने में सुसंस्कारता का वैभव बढ़ाने में कोई कमी न रखी। इसके अतिरिक्त समस्त वसुधा को अपना कुटुम्ब मानकर कष्टसाध्य यात्रायें करते हुए वे वहाँ जा पहुँचे, जहाँ पिछड़ेपन का अनुपात-अपेक्षाकृत अधिक था। इतिहास साक्षी है कि अभ्युदय का वातावरण बनाने के लिए विश्व के कौने-कौने में इस भूमि की प्राणवान् आत्मायें पहुँचती और वहाँ सर्वतोमुखी प्रगतिशीलता का वातावरण बनाती रही हैं। बादलों की गरिमा इसीलिए है कि वे जहाँ भी पहुँचते हैं, सरसता का उपहार देते हैं। सूर्य की वन्दना इसीलिए है कि उसका सम्पर्क क्षेत्र गर्मी और रोशनी से रहित रह नही सकता। भारत के देवमानवों ने विश्व को जो अजस्र अनुदान दिये हैं, उनका कृतज्ञतापूर्वक अनन्तकाल तक स्मरण किया जाता रहेगा।

दुर्भाग्यवश मध्यकाल के अंधकार युग ने इस 'स्वर्गादपि गरीयसी' भारतभूमि की सारी विशेषताओं का अपहरण कर लिया। पतन और पराभव ही पल्ले रह गया। अब हम दानी नही, मात्र याचक बनकर रह गये है। शासन अर्थ, शिक्षा, विज्ञान आदि भौतिक क्षेत्रों मे ही नही वरन् संस्कृति की दृष्टि से भी भारतवर्ष अब आयातक भर है। निर्यातक बनने की स्थिति तो अभी तक नही बन पाई। इस दृष्टि से ईसाई मिशन निर्यातक होने का गौरव प्राप्त करते है। इस देश के साधु-बाबा, धर्म प्रचारक और दूसरे लोग कभी विदेश जाते हैं तो लालच की आँखे और याचना की झोली भर लेकर बाहर पहुँचते है। बहाने बनाने के हजार रास्ते है। माँगने के लिए भी अनेको सच्चे-झूठे कारण एव पाखण्ड खड़े किये जा सकते हैं। दृष्टि तो वही रही, जिसके कारण उनके प्रति जन साधारण की श्रद्धा घटती और प्रभावोत्पादक सामर्थ्य मिटती है।

सर्वविदित है कि भौतिकवादी दृष्टिकोण और सम्पन्नता के दुरुपयोग ने नैतिक मूल्यों का बुरी तरह ह्रास किया है। फलत. पारस्परिक स्नेह सहयोग मे भारी कमी आयी है। स्वार्थपरता और निष्ठुरता बढ़ने

से मारा प्रचलन ही उलट गया है। विषाक्त वातावरण ने जनजीवन को अनिश्चित, अशांत और आतंकित कर दिया है। इन दिनों समृद्धि तो निश्चित रूप से बढ़ी है पर साथ ही यह भी स्पष्ट है कि पूर्वजों की स्वल्प साधनों वाली स्थिति की तुलना में वह अत्यन्त तुच्छ और कष्टकारक बनकर रह गयी है। इस व्यापक विपन्नता को दूर करने के लिए भारत अभी भी इस स्थिति में है कि पूर्वजों के प्रतिपादनों और निर्धारणों से विश्व मानस को अवगत करते हुए वह यह सुझाये कि विनाश के कगार पर खड़ी सभ्यता को पीछे लौटाने एव शान्तिपूर्वक जीने का क्या तरीका हो सकता है?

निसंदेह भारत बहुत कुछ खो चुका है। उसके पास जो भी कुछ बचा है अत्यन्त अस्त-व्यस्त और नष्ट-भ्रष्ट है। फिर भी उसके कुछ टुकड़े ऐसे हैं, जिन्हें अभी भी डूबते को तिनके के सहारे की तरह प्रयुक्त किया जा सकता है। उदाहरणार्थ संयुक्त परिवार पद्धति, पतिव्रत धर्म, जीवित और मृतक पूर्वजों के लिए चरण स्पर्श, श्राद्ध और तर्पण जैसे माध्यमों से कृतज्ञता ज्ञापन, परलोक पर विश्वास से नीति-नियन्त्रण, परमार्थ के लिए अंशदान, प्राणियों के प्रति करुणा, स्वल्प में सन्तोष, अतीन्द्रिय क्षमताओं का क्षेत्र जैसे अनेकों प्रचलन ऐसे हैं कि उन्हें विश्व-व्यवस्था में सुनियोजित रूप से प्रचलित करने की बात नये सिरे से, नये प्रयत्नों से उठाई जा सके तो भारत वैसा ही श्रेयाधिकारी हो सकता है जैसा कि समर्थ प्रभुता सम्पन्न राष्ट्र अपनी शस्त्र सम्पदा व साधनों के माध्यम से वर्चस्व प्राप्त कर रहे हैं। आवश्यकता मात्र समर्थता एवं प्रभुत्व की परिभाषाएँ बदलने की है। यह पुरुषार्थ यदि किया जाना है, तो वर्तमान प्रतिकूल परिस्थितियों में ही। यह असंभव नहीं, पूर्णरूपेण सम्भव है।

वैभव न सही दिशा दे सकने वाला आलोक अभी भी पूर्वजों की तिजोरियों में भरा-पड़ा है और उसका प्रमाण परिचय अभी भी अपने टूटे झोपड़ों में, अपने अस्तित्व को ज्यों का त्यों जीवित रखे हुए हैं। यह बपौती भी इतनी मूल्यावान है कि इसे संसार की मण्डी में प्रस्तुत किया जा सके तो विचारशीलता इसका महत्व समझे बिना न रहेगी। इतना ही नहीं, उसे अपनाये जाने की भी पूरी-पूरी संभावना है, क्योंकि उस महान् अनुसरण के विकल्प में एक ही मार्ग बच रहता है- "मनुष्य समुदाय द्वारा सामूहिक आत्महत्या का वरण किया जाना।"

परिस्थितियों ने सभी की चेतना को झकझोरा है। इस सन्दर्भ में भारत की सांस्कृतिक गरिमा ने भी करवट बदली है और समय की माँग को पूरा करने के लिए उन कर्तव्यों को अपनाने का निश्चय किया है, जिनके लिए पूर्वजों की आत्मायें कहती-कचोटती ही नहीं, धिक्कारती भी रही हैं।

पुरातन भारत ज्ञान और विज्ञान का धनी था

यह मान्यता सही नहीं है कि विज्ञान का अनुसन्धान पिछले कुछ ही शताब्दियों में हुआ है। इससे पूर्व मनुष्य भी अन्य वन-जन्तुओं की तरह फिरता रहता था और जैसे-तैसे पेट भरने और तन ढ़कने के साधन जुटा पाता था। भाषा और शिक्षा का विकास भी कुछ ही समय पूर्व हुआ था। इस प्रतिपादन से आधुनिक शताब्दियाँ ही अपनी बुद्धिमत्ता पर गर्व कर सकती हैं और इससे पिछले लोगों को अधिक से अधिक इतना श्रेय देती है कि वे कृषि करना और पशु पालना, आग जलाना तथा कुछ धातुओ के उपकरण बनाना भर जानते थे।

किन्तु वस्तुस्थिति ऐसी नहीं है। मनुष्य का भूतकाल इतना दरिद्र नहीं है और न हमारा वर्तमान ही इतना बुद्धिमान और साधन सम्पन्न है, जिस पर उसे असाधारण गर्व करने का श्रेय दिया जा सके।

हिमियुग आने, समुद्र उफनने जैसे घटनाचक्र कई बार घटित हुए हैं, जिनके कारण धरातल की स्थिति बदल गई। महाद्वीपों का स्वरूप कुछ से कुछ हो गया और बुद्धिमानजनों का अनुपात घट गया। विपन्न प्राकृतिक परिस्थितियाँ जब-तब आती रही हैं। उन्हीं में से किसी की विपन्नता को सृष्टि का आरम्भ मान लिया जाना यथार्थता नहीं है।

उदाहरणों में कुछ शताब्दियो और सहस्राब्दियो पूर्व के उदाहरण अभी भी ऐसे विद्यमान हैं, जो

आधुनिक वैज्ञानिकों को चुनौती देते है कि वे अधिक नही तो इन निर्माणो का आधार और सिद्धान्त ही बतायें कि यह किस प्रकार सम्भव हो सका?

हमारे देश की ऐतिहासिक कुतुबमीनार के बारे में पता लगाया गया है कि यह पुरातन काल में वेधशाला हेतु बनाई गई थी। यहाँ के एक पुरातत्ववेत्ता के अनुसार यह ग्रह तारों के अवलोकनार्थ और भूमि सर्वेक्षण मे अभिदेशन बिन्दु के कार्य हेतु बनाई गई थी।

भारत के पुरातत्वीय विभाग के श्री जे. बी. श्रीवास्तव जो कि कुतुब के परिक्षक भी हैं ने जानकारी देते हुए बताया कि गोलाकार मीनार के विभिन्न तलों पर बहुत-से रेखा छिद्र है, जो वास्तव में प्रकाश छिद्र हैं जिनका उपयोग विभिन्न प्रकार की खपिण्डों से प्रकाश ग्रहण करने के लिए होता है।

कुतुब मीनार मे (५) पॉच तल है, जिनमे से प्रत्येक तलों मे बहुत-से छेद बने हुए है उदाहरणार्थ प्रथम तल मे (३६) छत्तीस, द्वितीय तल में (४८) अड़तालिस, इनका उपयोग खपिण्डो के विभिन्न प्रकार के प्रचालों के अध्ययन तथा अवलोकनार्थ किया जाता था, जैसे उनके गति या चाल और कोण का वितरण करेगा।

जब प्रकाश किरणे किसी तारे या गृह से अभिलम्ब किसी छिद्र पर गिरती है, तभी विपरीत दीवार पर रेखा छिद्र का सटीक चित्र देखा जा सकता है यह इसी सिद्धान्त का कार्य करता है। उदाहरण के लिए सूर्य के बिन्दु पथ का अध्ययन किया जा सकता है जो इस प्रकार है- पृथ्वी तल पर चार छेद पाँचवे तल पर चार छेद और मुख्य रेखा छिद्र मीनार के शीर्ष पर करते हुए।

कुतुब भूमि सर्वेक्षण मे किस प्रकार से सहायक हो सकता है इसे समझाते हुए उन्होने कहा कि कुतुब सरलतापूर्वक अपनी अवस्थिति के कारण स्थित हो सकता है क्योकि यह चुम्बकीय याम्योत्तर के समानान्तर है जो कि २८ डिग्री विपुवत् रेखा के उत्तर मे है और इसकी अपेक्षा इसकी अनन्य सम्पत्ति यह है कि प्रतिवर्ष (बाइस जून) को अपनी छाया का निक्षेपण नही करता। सर्वेक्षण मे एक अभिदेशन विन्दु जैसे अनुमार्गणीय प्रसग जुड़ा हुआ है। कुतुब का उपयोग "स्थिर प्रकाशीय भवन" या मीनार, अभिलम्ब विन्दुओं के पता लगाने में और भूमि सर्वेक्षण में "क्रास स्टाफ" के रूप मे किया जा सकता है।

ऐसा लोहा जैसा कुतुब मीनार में लगा है अभी तक किसी भी धातु संस्थान में नही बना है। ग्रह-नक्षत्रों की गतिविधियों की ऐसी सही माप कर सकना, कुतुब मीनार जैसे साधनों से किस प्रकार सम्भव है? ऐसा निर्माण करने वाले मात्र गड़रिये रहे होगे यह कहना कहाँ तक उचित है?

मिश्र के पिरामिडों के सम्बन्ध में भी ऐसे ही रहस्य हैं। उस क्षेत्र में दूर-दूर तक वैसे पत्थरों की कोई पहाड़ी नही है। फिर उस निर्माण सामग्री को कहाँ से लाया गया और इतने भारी पत्थरों को किस प्रकार इतनी ऊँचाई तक उठाया गया? इसका अनुमान लगाने तक में मानवी बुद्धि असमर्थ है।

बिना ऊर्जा व मशीन के भी प्राचीन काल में जनशक्ति के सहारे ही इन स्मारकों का निर्माण हुआ है। गिजा का विशाल पिरामिड ईसा के २५०० वर्ष पूर्व बना था, जिस समय इजिप्ट लोगो को चक्का अथवा घिरनी आदि की कोई जानकारी नही थी। यह पिरामिड लगभग १३ एकड़ (५, ३ हेक्टर) क्षेत्र मे बना है तथा इसमे चूना पत्थर व ग्रेनाइट के २३ लाख विशाल खण्ड लगे है। जिनका वजन ५००० पौंड (२००० किलोग्राम से भी अधिक) होता है। इनको ढूँढ़ने, ढोने तथा निर्मित करने की प्रक्रिया के विषय मे अब तक विस्मय ही बना हुआ है। मूलतः उनमें कार्यो व जन-शक्ति को सुसगठित करने की अद्‌भुत क्षमता का अनुमान लगाया गया है।

ग्रीक व रोमन लोगो ने भी कई स्मारकों का निर्माण किया है, जिससे कुशल सगठन की झलक मिलती है।

ईसा पूर्व २६५० मे ग्रीक का एक राजा खूफू था। उसके हाथ में अकथित शक्ति व धन विद्यमान था। इजिप्ट का समस्त जमीन कुशल सगठन की झलक मिलती है।

खूफू ने अपने शासन काल मे अपने लिए एक मकबरा निर्मित करवाया था। इस निर्माण मे लगभग १ लाख व्यक्ति २० वर्ष तक संलग्न थे। इस मकबरे में

किसी भी अन्य व्यक्ति का प्रवेश वर्जित था। यह सदा के लिए राजा के मतलब का बना रहा।

पिरामिड का निर्माण लगभग १३ एकड़ जमीन मे हुआ है तथा एक तरफ का नीव ७५५ फीट का रखा गया है। पिरामिड की ऊँचाई ४०० फीट है, जो आधुनिक ४८ मंजिल ऊँची गगनचुम्बी भवन के सदृश्य दृष्टिगोचर होता है। अनुमानत. २३ लाख चूना-पत्थर इस निर्माण में लगाये गये, जिनका औसत वजन ढाई टन है।

अहमदाबाद और घीसा की हिलती दीवारों और इमारतों के पीछे क्या रहस्य हो सकता है? इसका भी अभी कारण नही ढूँढ़ा जा सका।

लोक-लोकान्तरों तक आने-जाने के उपाय क्या हो सकते हैं? इस सम्बन्ध में अभी किसी ने सही कल्पना भी नही की है, जबकि पुरातन काल के लोग ब्रह्माण्डीय ब्लैक होलों से भली प्रकार परिचित थे और यह जानते थे कि उनमें से कौन-सा छिद्र कब पृथ्वी के निकट किन दिनों आवेगा और कब वापस लौटेगा? गन्तव्य स्थान तक पहुँचने के लिए किन ब्लैक होलों का परिवर्तन करना पड़ेगा, यह गणित उन्हें मालूम था और यह भी पता था कि अधिक विकसित छिद्र इस ब्रहाण्ड में कहाँ-कहाँ रहते हैं?

गत कुछ वर्षो में ज्योतिर्विदो ने कई संकेत एकत्रित किये है, जिनसे यह पता चलता है कि विस्तृत आकाश मे एक नहीं, कई ब्लैक होल हैं। अब यह आभास होने लगा है कि यह तारकीय अनोखापन अपनी आकाश गंगा के क्षेत्र में भी स्थित हो सकता है।

आकाश गगा, पृथ्वी से प्राय: ३०,००० प्रकाश वर्ष दूर है। वैज्ञानिकों का कहना है कि सेटेलाइट इत्यादि की सहायता से यह पता चला है कि उस स्थल मे कई प्रकार के विकिरण निकलते रहते हैं। वैज्ञानिको के विचार से वहाँ कोई ऐसी वस्तु है, जो आकाश गंगा के अन्तरतम क्षेत्र से गैस और धूल खींचती है, जिससे पदार्थ का एक गरम भवर बन जाता है, जो विकिरण छोड़ता है।

'ब्लैक होलो' मे गुरुत्वाकर्पण इतना तीव्र होता है कि प्रकाश भी उससे बच नहीं सकता है, अत. इस तरह की वस्तु का सीधे निरीक्षण नही किया जा सकता। ब्लैक होल पोला भी नहीं होता। ब्लैक होल में हमारे सूर्य की अपेक्षा पाँच गुना द्रव्यमान होता है, जिसका व्यास केवल २० किलोमीटर होता है।

अमेरिका स्थित वैज्ञानिकों ने खोज की है कि गिरते हुए तारे का भार उसके अणु भागों को तोड़ने के लिये सूर्य की अपेक्षा १.२ गुना होना चाहिये। जब कोई तारा जिसका भार सौर भार की अपेक्षा तीन गुना होता है, यदि वह उसी के भार के कारण क्षीण होता है तो वह "ब्लैक होल" बन जाता है। अन्तर्ग्रही यातायात के लिए इन्ही ब्लैक होलो की सही स्थिति जानने पर उनसे सड़क का काम बिना किसी वाहन से लिया जा सकता है।

अमेरिका के निकट बारमूडा क्षेत्र मे मात्र किसी ब्रह्माण्डीय चुम्बकधारा की जानकारी मिली है। किन्तु ब्लैक होलों की शक्ति उससे अनेक गुनी बड़ी है और यह किसी छोटे-मोटे ग्रह के अति निकट कुछ क्षण के लिए भी आ जांय तो वहाँ से बहुत कुछ खींच ले जा सकती है या वहाँ बहुत कुछ उगल सकती है। ऐसी दशा मे जो लोग इन सड़कों के माध्यम से अन्तर्ग्रही यात्राएँ करते रहे होंगे वे कितने बुद्धिमान रहे होंगे इसका अनुमान लगाया जाय।

उड़न तश्तरियों का पृथ्वी पर आना और यहाँ की स्थिति जानने तथा सम्पर्क साधने की बात कपोल कल्पना नही है। उनके प्रमाण आये दिन मिलते रहते है। प्राचीन काल मे ऐसा अन्तर्ग्रही आदान-प्रदान विज्ञान क्षेत्र मे भी चलता रहा हो तो कोई आश्चर्य की बात नही है।

एक नहीं ऐसे अगणित प्रमाण हैं, जिनसे प्रतीत होता है कि प्राचीन भारत मे ज्ञान और विज्ञान की बहुत ऊँची स्थिति थी वे पशुपालक मात्र नहीं थे।

सांस्कृतिक गौरव अक्षुण्ण है, अक्षुण्ण ही रहेगा

राजा की हार हुई। वह दुश्मनों से अपना पीछा छुडाने के लिए भाग निकला, पर दुश्मन भी उसे छोड़ने वाले कहाँ थे? उन्होंने भी नरेश का पीछा किया। शत्रुओं से अपनी जान बचाने के लिए सम्राट एक मकान मे घुस गया। पीछे-पीछे विद्रोही भी वहाँ आये,

पर यह क्या! कमरे में प्रवेश करते ही राजा मानो योगियों की भाँति अदृश्य हो गया। शत्रुओं ने इमारत का चप्पा-चप्पा छान मारा, किन्तु सम्राट का कोई पता न चला, जैसे कमरा जादुई हो और उसमे पाँव रखते ही वह आँखो से ओझल!

प्रस्तुत पंक्तियाँ किसी तिलिस्मी उपन्यास अथवा जासूसी फिल्म का अंश नही, वरन् एक सच्ची घटना है। बात सन् १६५१ की है और सम्बद्ध व्यक्ति इग्लैण्ड के सम्राट चार्ल्स द्वितीय थे। घटना के अनेकों वर्ष बाद जब पुरातत्ववेत्ताओं ने वारविकशायर स्थित उस मकान का गहन व सूक्ष्म परीक्षण किया, तो चार्ल्स के अचानक गायब होने का रहस्य खुल गया। वस्तुत: उस मकान मे एक ऐसा तहखाना था, जिसे ढूंढ़ निकालना असभव नही तो टेढ़ी खीर अवश्य था।

आज से चार दशक पूर्व भारत सहित विश्व के विभिन्न देशो के पुरातत्व विभागों ने अपने यहाँ ऐसे ढेरो स्थान-मकान ढूँढ़ निकाले, जिनकी सरचना तिलिस्मी उपन्यासो जैसी थी। उन्ही के समान रहस्यमय सीढ़ियाँ, न दीखने वाले कमरे, उनमे लगे उपकरणों के विचित्र कारनामे-सब कुछ अचम्भे से भरा हुआ। लेसिस्टरशायर में पाँच सौ वर्ष पुराने एक ऐसे ही मकान का पता अभी हाल में चला है, जिसकी बनावट ऐसी है कि उसे तिलिस्मी की संज्ञा दी जाय, तो कोई अत्युक्ति न होगी।

यह मध्य युग का समय था, पर इसके बहुत समय पूर्व से ही यह विज्ञान लुप्त होने लगा और १९वी सदी का प्रारंभ आते-आते इसका लगभग पूर्ण लोप हो गया। इसके उपरान्त,यह तिलिस्मी उपन्यासो और कहानियो के रूप मे पुस्तकीय चर्चा का विषय भर बन गया। देवकीनन्दन खत्री और दुर्गा प्रसाद खत्री के उपन्यासो, "भूतनाथ" "काजल की कोठरी" "रोहतास मठ" आदि मे इसी की झलक-झाँकी मिलती है। इनमें वर्णित असली-से लगने वाले नकली शेर, बारहसिंघे हस जैसे कितने ही स्वचालित खिलौनो का पश्चिमी देशो द्वारा वर्तमान समय में निर्माण का उल्लेख एनसाइक्लोपीडिया ब्रिटेनिका (भाग १५) में मिलता है। लन्दन के "विक्टोरिया एण्ड अल्बर्ट म्यूजियम" में एक यत्र-शेर है, जिसे एक व्यक्ति को अपने नीचे दबाये हुए दिखाया गया है। यत्र मे सयुक्त मूठ को जब घुमाया जाता है, तो वह शेर की ही भाँति दहाड़ता है और उसी के साथ व्यक्ति की बाँहें भी हरकत में आ जाती हैं। "मैसाचुसेट्स इन्स्टीट्यूट ऑफ टेक्नालॉजी" ने एक ऐसा यंत्र-मानव बनाया है, जो एक कमरे से निकलकर गलियारे में से गुजरता हुआ दूसरे कमरे में प्रवेश कर उसे सुव्यवस्थित करता है और पुन अपने पूर्व कमरे में लौट आता है। वैसे, अब तो इससे भी विकसित किस्म के रोबोट तैयार कर लिये गये है, जो अग्नि से जुड़े उपकरणों तथा विमान चलाने से लेकर दूसरे ग्रहों में काम-काज करने की क्षमता रखते हैं। इस दृष्टि से उक्त तिलिस्मी उपन्यासों में वर्णित जानवरों, तलवार चलाते सैनिकों, शतरंज खेलती पुतलियों, असली होने का भ्रम पैदा करने वाली महिलाओं एवं उनके करतबों तथा अन्यान्य ऐसे ही आश्चर्य मे डालने वाले करिश्मों को कपोल-कल्पना मात्र कहकर नही टाला जा सकता। यह हमारे प्राचीन विकसित पदार्थ विज्ञान के जीवाश्म (फासिल्स) हैं और जीवाश्म को झुठलाया कैसे जा सकता है? उनके आकार, प्रकार और उभार से बहुत कुछ लुप्त जन्तु की आकृति-प्रकृति का अनुमान लग जाता है। वेद ऐसे ही प्रामाणिक ग्रन्थ हैं, जो हमारे प्राचीन विकसित विज्ञान के विश्वसनीय साक्ष्य है।

वेद शब्द 'विद्' धातु से व्युत्पन्न है, जिसका अर्थ होता है-ज्ञान। इस ससार मे ज्ञान-विज्ञान की जितनी भी धाराएँ हैं, सभी का मूल उद्गम वेद ही है। वैसे भी वेद (ऋग्वेद) को विश्व का प्राचीनतम ग्रन्थ माना जाता है। श्रीमद्भागवत (१२/१७/४७) के अनुसार आरंभ मे वेद (ऋक् के रूप में) एक ही था, किन्तु द्वापर के अन्त में समय और परिस्थिति की आवश्यकता को देखते हुए कृष्ण द्वैपायन व्यास ने उसे ऋक्, यजु:, साम और अथर्व चार भागो में बाँट दिया। इस प्रकार एक ही ज्ञानागार के चार खण्ड हो गये और सम्प्रति हम उन्ही की विभिन्न धाराओं को ज्ञान एवं विज्ञान के रूप में पढ़ते, सुनते और देखते है।

मूर्धन्य मनीषी केशव पटवर्धन अपने शोधपूर्ण ग्रन्थ "ऋषियों के विज्ञान की श्रेष्ठता" की प्रस्ताव में लिखते है कि "वैदिक ग्रन्थों" में निर्देशित वैज्ञानिक निष्कर्षों को हम किसी भी भाषा में निरूपित करें, यदि वे आधुनिक वैज्ञानिक सिद्धान्तो से संगति और साम्य रखते हैं, तो हमें इस बात को स्वीकारने मे तनिक भी संकोच नहीं करना चाहिए कि कई हजार वर्ष पूर्व हमारे प्राचीन ऋषियो को इन नियमों और सिद्धान्तों का

सम्पूर्ण ज्ञान अवश्य था। शंका और संदेह की गुँजाइश तब और खत्म हो जाती है, जब विज्ञान के विकास को इंगित करने वाले सैंकड़ों-हजारों की सख्या में वाक्य प्राचीन साहित्य में देखने को मिल जाते है, इसे महज संयोग नही कहा जा सकता।

कणाद प्रणीत "वैशेषिक दर्शन" के अवलोकन से ज्ञात होता है कि परमाणु विज्ञान में उन्हें महारत हासिल थी। अत: यदि उन्हे विज्ञान की इस विद्या का जनक कहा जाय, तो कोई अत्युक्ति नहीं होगी। भारद्वाज रचित "भारद्वाज-संहिता" में विज्ञान की अनेक धाराओ का वर्णन आता है, जिसमें "वैमानिकी" विषय को विशेष प्रमुखता दी गई है। "शुल्व सूत्र" मे पदार्थ विज्ञान की विभिन्न शाखा-प्रशाखाओं का विशद् वर्णन था, पर अब यह शास्त्र प्राय: अप्राप्य है, मात्र यजुर्वेद का कात्यायन शुल्व सूत्र ही सम्प्रति उपलब्ध है, जिसमे ज्यामिति शास्त्र का विस्तृत उल्लेख है। यजुर्वेद के उपवेद धनुर्वेद में शस्त्रास्त्रों, आग्नेयास्त्रों, के निर्माण-प्रक्रिया की चर्चा है।

एक आख्यान के अनुसार महाभारत युद्ध मे महाराजा अम्बरीश के पास एक ऐसा शस्त्र था, जिसके प्रहार से एक अक्षौहिणी सेना का सहार करके, शस्त्र सुरक्षित उनके पास वापस आ जाता था? आज इसकी तुलना परमाणु बमों से की जा सकती है, पर फिर आज का विज्ञान तब के विज्ञान के सदृश्य विकसित नही माना जा सकता, क्योकि आज के बमो का प्रयोग सिर्फ एक ही बार किया जा सकता है। उसके बाद वे नष्ट हो जाते है, जबकि प्राचीन शस्त्रो की विशेषता थी कि उन्हें अनेकानेक बार काम में लाया जा सकता था। इसके अतिरिक्त प्राचीन साहित्यों में क्राकीक, चित्राग्नि तथा स्वाति जैसे अनेक विलक्षण यंत्रो का वर्णन आता है। क्राकीक में यह विशेषता थी कि व्यक्ति की एक बूँद रक्त से ही वह उसका पूरा चित्र प्रस्तुत कर देता था। चित्राग्नि वर्तमान टेलीविजन के समान "क्रिस्टलबॉल" जैसा उपकरण था, जबकि स्वाति यंत्र की विशिष्टता यह थी कि वह वर्षों पूर्व कहे शब्दों को वायुमंडल से पकड़कर पुन. सम्प्रेषित कर सकता था। इसके साथ ही चालक रहित मोटरों की भाँति तीव्र गति से जमीन पर चलने वाले रथों (ऋक् ६/६६/७ यजु ९/८) तथा अति वेगवान विमानों (ऋग्वेद १/११६/२४, ४/३७/१) की भी स्थान-स्थान पर चर्चा मिलती है।

भोज प्रबंध ग्रन्थ मे इस बात का उल्लेख मिलता है कि राजा भोज के पास काष्ठ का एक ऐसा अश्व था, जिसकी गति एक घड़ी मे ग्यारह कोस थी। "धम्मपद" ग्रन्थ में एक ऐसे ही यन्त्र का वर्णन आता है। कथा है कि कौशाम्बी नरेश उद्‌यन की उज्जयिनी नरेश चण्डप्रद्योत से शत्रुता थी। प्रद्योत्त ने उन्हे बन्दी बनाने के लिए एक "हस्ति यन्त्र" तैयार किया, जो हाथी के ही समान चल-फिर सकता था। प्रद्योत्त ने इस लकड़ी के हाथी को उद्‌यन के वन मे छोड़ दिया। उद्‌यन को जब इस श्वेत हाथी के बारे में पता चला, तो देखने गये, जहाँ उन्हे यन्त्र ने पकड़ लिया। "गया चिन्तामणि" नामक पुस्तक मे मयूर आकृति वाले विमान तथा वाल्मीकि रामायण (सुन्दरकाण्ड) में पुष्पक विमानो का वर्णन मिलता है।

ये सभी साक्ष्य यह प्रमाणित करने के लिए पर्याप्त है कि हमारा पुरातन विज्ञान अध्यात्म विज्ञान के साथ-साथ अत्यन्त विकसित स्थिति मे था। इस आत्म गौरव को विस्मृति के गर्त मे डालकर हम अपनी आज की स्थिति का रोना रोते हैं तो प्रकारान्तर से यह तथ्य सही ही प्रमाणित होता है कि जो पूर्वजों के गौरव की मात्र दुहाई ही देता रहेगा उसे काल की प्रबल चाल उपेक्षित कर पीछे छोड़ देगी।

हमारी अपनी सास्कृतिक धरोहर आर्षग्रन्थो मे निहित है एवं वह उपार्जन, उपभोग, सदुपयोग, सुनियोजन, कौशल व सामर्थ्य अर्जन सभी क्षेत्रो मे मार्गदर्शन कर सकती है। मार्गदर्शन हम आत्मिकी से लें किन्तु परिस्थितियों को नही, मन: स्थिति को बदलने वाले प्रतिपादनो को विज्ञान सम्मत सिद्धकर विश्वमानवता के समक्ष रखे। यही समय की माँग है। सारे विश्व की आँखें टकटकी लगाए भारतवर्ष को ही देख रही है। जब भौतिकी का हमारा पुरातन गौरव आज के पश्चिम जगत की तुलना मे कही अधिक वजनदार सिद्ध होता है, तो आत्मिकी का, अध्यात्म विज्ञान का तो कहना ही क्या? गौरव की याद मात्र न कर उसे परिस्थितियो के अनुरूप सत्यापित कर दिखाएँ तो सारा विश्व भारत का अनुकरण करता दीख पड़ेगा।

सा प्रथमा संस्कृति विश्ववारा

हमारी संस्कृति प्राचीनतम है, औरों की बाद में जन्मी, हम विश्व के आदि पुरुष है। हमारा धर्म सर्वश्रेष्ठ है तथा हमारा अतीत स्वर्णिम गौरव से भरपूर रहा है। इन सब प्रसंगों पर चर्चा करने से पूर्व इक्कीसवीं सदी के मुहाने पर खड़ा मानव एक प्रश्न का समाधान चाहता है। औद्योगिक, वैज्ञानिक व आर्थिक क्रान्ति से गुजर चुके आज के आधुनिक विश्व को क्या इन सब वाद-विवादों की, तत्वदर्शन पर टीका टिप्पणी की, अतीत की समीक्षा व पुनरावलोकन की आवश्यकता है ? यदि है तो क्यो ? इसका उत्तर दिए बिना संस्कृति पर व उसके बहुविधि पक्षों पर किया गया चिन्तन निरर्थक ही जाएगा। उत्तर मात्र यही है कि आज जितनी अधिक आवश्यकता मानव जाति को इस पक्ष पर चिन्तन करने की है, उतनी संभवतः पहले कभी नही रही। क्यो ? आज की परिस्थितियों की एक समीक्षा से यह बात स्पष्ट हो जाती है।

यह सही है कि मनुष्य ने साधनो की दृष्टि से प्रगति की है। आज जो कुछ भी हमारे पास है, सभवतः सुख-सुविधा, प्रसन्नता प्रदान करने वाले ये सब साधन हमारे पूर्वजो के पास नही थे। विज्ञान का आज जो स्वरूप है, वह अतिविकसित है व इस "सुपर टेक्नॉलाजी" से भरे जगत मे वह सब कुछ पिछड़ा माना जाता है, जो विज्ञान के साधनो उसके तर्कों-प्रमाणो, तथ्यो पर आधारित नही होता। प्रत्यक्षवाद से भरे मनुष्य के इस विकास ने मनुष्य को कई गुना ऊँचाई पर क्षितिज के पार पहुँचाया है, किन्तु इसे न शान्ति मिली न सन्तोष। भ्रान्तियाँ, उद्वेग, सक्षोभ, बेचैनियाँ इस सीमा तक बढ़ते चले गए है कि आज सारी मानव जाति दुःखी है, रुग्ण है। उसे आमूलचूल स्वास्थ्यवर्धक रसायन की आवश्यकता है, नही तो कभी भी इसके अस्तित्व के समाप्त हो जाने का खतरा सामने खड़ा हुआ है।

यदि सभ्यता का विकास ही सब कुछ है तो मनुष्य इतना सब पढ़-लिखकर, ज्ञान-कौशल की चरम सीमा पर पहुँचकर साधनो को एकत्र कर, सम्पन्नता का शिखर छू लेने पर भी सभ्य क्यों नही बना, अपितु एक बर्बर, असभ्य के रूप में उभरकर सामने आया। अभिनव मनुष्य नितान्त भोगवादी है। इतना संकीर्ण कि अपनी रोटी दूसरों के साथ मिल-बाँटकर भी नहीं खा सकता। उसका बस चले तो अपनी रोटी खाने के साथ वह औरों की भी छीन ले, उन्हें बेचकर उनसे प्राप्त धन से मद्य पी उन्मत्त हो जाए। क्या यही आज का विकसित, सभ्य, सुसंस्कृत मानव है ? कैसे इससे सतयुगी उज्ज्वल भविष्य की आशा रखी जाय ? आदि मानव अनगढ़-नरवानर स्तर का था व आज का मानव प्रगति की चरम सीमा पर पहुँचा विकसित मानव है तो वह भोगवादी बनता हुआ चिन्तन व आचरण से क्यों पशु को भी पीछे छोड़ता नजर आता है, इसका उत्तर किसी आधुनिक चिंतक-वैज्ञानिक के पास नहीं है। इसका उत्तर तो एक ऋषि ने आज से वर्षो-अगणित सहस्राब्दियों पूर्व उपनिषदों के आलोकपूर्ण काल मे मानव की अतिभोगवादी मंत्रणाओं का पूर्वाभास करते-हुए दे दिया था व कहा था-"तेन त्यक्तेन भुंजीथाः" अर्थात् "भोग भी त्याग के साथ करो"। यह है चिरपुरातन व आज की परिस्थितियों के लिए नितान्त सही समाधान, जो भारतीय संस्कृति के माध्यम से मानवमात्र को उपलब्ध होता है, जो अध्यात्मवादी भौतिकता की बात कहती है व बताती है कि "साधनों का उपभोग करो पर भावना त्याग की रखो। स्वयं भी जियो औरो को भी जीने दो।

"संस्कृति" जीवन जीने की एक पद्धति का नाम है, जिसका विकास इस धरा पर सर्वप्रथम भारतवर्ष में हुआ, अतः वह भारतीय सस्कृति कहलायी। श्रुति कहती है "सा प्रथमा संस्कृति विश्ववारा"। आदि संस्कृति का जन्म इस परम पावन धरा पर हुआ व उसने विश्व मानवता का मार्गदर्शन तब से ही करना आरम्भ कर दिया जब से यहाँ सृष्टि का प्रथम पुरुष जन्मा। सारे शास्त्रीय प्रमाण यही सिद्ध करते है कि आदि सृष्टि भारत के उत्तराखण्ड अर्थात् ब्रह्मावर्त मे हुई। जिन्हें आर्य कहा जाता है, वे पूर्णसभ्य, सयमी व

सशक्त कोटि के मनुष्य थे, जो इस धरा पर जन्मे। अतः यह आर्यावर्त कहलाया। 'मनु' के वंशज होने से हम सब मनुष्य कहलाए। वही शब्द जर्मन भाषा में अपभ्रंश होकर "मेनस" तथा अँग्रेजी भाषा मे मैन बन गया। इसी वैवस्वत मनु की कथा का अनुवाद यहूदी धर्मग्रन्थों में जलप्रलय—हजरत नूह की कथा प्रकरण के रूप में बाद मे आया। बाइबिल और इस्लाम ग्रन्थों मे नूह की सन्तानो हेमेटिक और सेमेटिक से सन्ततियों की उत्पत्ति बतलायी गयी है। हेमेटिक अर्थात् हिरण्यगर्भ यानी सूर्य तथा सेमेटिक यानी सोम-चन्द्र। सूर्यवंशी और चन्द्रवंशी ही संततियाँ ये हैं, जिनका विवेचन हम पाश्चात्य नृतत्वशास्त्रियो की पुस्तकों में पढ़ते हैं। किन्तु यहाँ प्रतिपाद्य विषय है भारतीय संस्कृति जो मानव सस्कृति कहलायी। इसके अति प्राचीन से लेकर आज तक के रूप पर प्रतिपादन थोड़ा आगे होगा, अभी तो यह चर्चा प्रमुख है कि यह मानव संस्कृति कैसे बनी ?

भारतीय चिन्तन पद्धति के अनुसार "मनु" शब्द से हम सब मानव कहलाये। मन शब्द भी मनु से बना है। मन अर्थात् इच्छाशक्ति, विचारशक्ति का सामंजस्य, जिसमें हो ऐसे मनुष्य का आविर्भाव जब इस धरती पर हुआ तो मानव जाति की उत्पत्ति हुई। इच्छाशक्ति ने "एकोऽहं बहुस्यामि" की संकल्प प्रक्रिया द्वारा सृष्टि को जन्म दिया तथा विचार शक्ति के साथ विकसित हुई विशिष्टता से अभिपूरित जीवन शैली संस्कृति कहलायी। सप्तद्वीपा वसुन्धरा में इसका जन्म भारत मे हुआ। अत. यह **भारतीय संस्कृति** कहलायी। मानवी मूल्यों की प्रतिष्ठापना इसका मूल उद्देश्य था अत. यह **मानव संस्कृति** बनी। चूँकि मानव में देवत्व का उदय हमारी संस्कृति का मूल उद्देश्य था अतः यह **देव संस्कृति** नाम लेकर विकसित हुई। इसके प्रणेता थे ऋषि। ऋषि वे जो चेतना के सूत्र देते है, अन्वेषक होते हैं तथा चेतना की काया व ब्रह्माण्ड रूपी प्रयोगशाला में प्रयोग करते रहते है। इनके नाम से यह संस्कृति **ऋषि संस्कृति** कहलायी। इस संस्कृति का केन्द्रीय तत्व था अध्यात्म-मानवी संवेदना। मन की शक्ति द्वारा परिस्थितियो का निर्माण। जीवन को सामंजस्यपूर्ण विधि से सही ढग से जीना तथा औरों के आगे बढ़ने के लिए भी पथ प्रशस्त करना, अतः यह संस्कृति **आध्यात्मिक संस्कृति** कहलाई। स्थान विशेष की दृष्टि से यह सिंधुनद से लेकर सागर (कन्याकुमारी) पर्यन्त विस्तृत सिंधुदेश में जन्मी-वही शब्द "हिन्दू" नाम से कालान्तर में बोला जाने लगा अतः यह **हिन्दू संस्कृति** कहलायी।

हिन्दू शब्द कितना असम्प्रदायिक है, यह इससे स्पष्ट होता है—

"आसिन्धो सिन्धु पर्यन्ता यस्य भारत भूमिका
पितृभूः पुण्य भूश्चैव स वै हिंदुरिति स्मृतः।"

अर्थात् "जो इस सिंधुनद से लेकर सागरपर्यन्त विस्तृत भारत भूमि को अपनी पितृभूमि और पुण्य भूमि मानता है, वह हिन्दू है।"

यह सब स्पष्टीकरण इसलिये जरूरी है क्योकि दुनिया भर की भ्रान्तियाँ इन सब के विषय में काल के प्रवाह के साथ जोड़ दी गयी है, जबकि मानवतावादी संस्कृति होने के कारण भारतीय संस्कृति आज की समस्याओं का न केवल समाधान है वरन उसमें अपने वैशिष्ट्य के कारण विश्व संस्कृति-मार्गदर्शक संस्कृति कहे जाने की पात्रता भी है। किसी देशकाल की "सभ्यता" किसी के लिए अहितकारी भी हो सकती है किन्तु "संस्कृति" सर्वदेश, सर्वकाल मे सभी के लिए सर्वथा हितकारी होती है। इस परिभाषा की दृष्टि से भारतीय संस्कृति ही इस कसौटी पर खरी सिद्ध उतरती है। संस्कृति और सभ्यता दो अलग-अलग शब्द है। सामान्यतया सभी संस्कृति (कल्चर) शब्द का प्रयोग सभ्यता (सिविलाइजेशन) के पर्याय के रूप मे करते है, जबकि दोनों में मौलिक अंतर है। सभ्यता बहिरंग का तत्व है तो संस्कृति आभ्यन्तरिक। सभ्यता वेश-भूषा, रहन-सहन, खान-पान इत्यादि पक्षो तक ही सीमित है, जबकि संस्कृति-चिन्तन से लेकर जीवन व्यवहार एवं मानवी सवेदना से लेकर समष्टिगत एकता जैसे पक्षो को स्पर्श करती है। सभ्यता की आसानी से नकल की जा सकती है किन्तु सस्कृति को अपनाना समय साध्य प्रक्रिया है। संस्कृति वह दृष्टिकोण है, जिससे कोई समुदाय विशेष जीवन की समस्याओं पर दृष्टि विक्षेप करता है। संस्कृति उस समय विशेष का लोक प्रचलन, धर्म, वाङ्मय, चित्रकला, मूर्तिकला शाश्वत तत्व ऐसे है, जिससे बोध होता है अनगढ़ता को सुगढता मे बदलने का। यही आध्यात्म है। इतने बड़े व्यापक अर्थ के परिप्रेक्ष्य में जब चिन्तन किया जाता है तो स्पष्ट समझ

मे आता है कि जब हम भारतीय संस्कृति की बात करते है तो इसके सार्वभौम, सर्वकालीन, सामासिक गुणों के प्रसंग में चर्चा कर रहे है, न कि जाति, वर्ण, आश्रम, षोडश संस्कार आदि उसके विभिन्न विभाजनो की परिधि तक सीमित रह कर।

भारतीय संस्कृति देवसंस्कृति कही गयी है अर्थात्-मनुष्य मे देवत्व की भावना का सचार करने वाले, उसे देवमानव बना देने वाले सारे तत्व उसमे विद्यमान है। तत्वदर्शन की प्रधानता होते हुए भी वह विशुद्धतः पारलौकिक नही है। उसमे जीवन को स्पर्श करने वाली हर उस दिशा-धारा का समावेश है, जो जीवन निर्माण से सम्बन्धित है। चेतनात्मक स्तर पर व्यक्तित्व को अनगढ़ से सुगढ़ बनाने के लिए क्या प्रयोग व प्रयास किये जायँ, इन सबका मार्गदर्शन उसमें विद्यमान है अतः यह अकारण नही कि भारत भूमि को "स्वर्गादपि गरीयसी" तथा यहाँ के निवासियों को ससार भर ने "देवमानवो" तैतीस कोटि देवताओं की संज्ञा दी थी। वस्तुतः ज्ञान और विज्ञान के प्रत्येक क्षेत्र मे अग्रणी होने के कारण ही राष्ट्र जगदगुरु-चक्रवर्ती आदि नामो से सम्मानित हुआ। ८

एक मानसिक सताप की बात यह कि अतीत का गुणगान तो खूब होता रहता है किन्तु इससे निर्देश लेकर वर्तमान को बनाने के प्रयास नही होते। नया भारत आज नये विश्व को कुछ दे, इस योग्य नही रहा क्योंकि जो स्वयं पाश्चात्य संस्कृति का अंधानुकरण कर रहा हो, वह दूसरो को क्या देगा ? बीसवी सदी के अंतिम दशक मे मानव जाति के अस्तित्व के लिए चिंतित हम सब यदि नये विश्व को सतयुगी जीवन दर्शन देना चाहते है तो प्राचीन भारत ही वह सब दे पाने मे सक्षम है। सच तो यह है कि भारतीय ज्ञान की महत्वपूर्ण कड़ियाँ इस मणिमुक्तकों के हार की लड़ियाँ नये संसार मे स्वतः बिखर चुकी है व चारो ओर पूर्वार्त्य दर्शन-रहस्यवाद अध्यात्मवाद-भारतीय संस्कृति को समझने जानने का प्रयास किया जा रहा है किन्तु इसे विडम्बना ही कहा जाना चाहिए कि अपने देश में इस सम्बन्ध मे जन-जाग्रति शून्य के बराबर है। सस्कृति के प्रतीक समाप्त होते जा रहे हैं। भारतीय सस्कृति के बताए मार्गदर्शन पर चलना पिछड़ापन माना जाता है। प्रायश्चित्त यही है कि आज के युग की पीड़ा के समाधान हेतु भारतीय संस्कृति के अग्रदूत आगे आयें व वह तत्वज्ञान जन-जन तक पहुँचाएं जो बिखराव, विखण्डन, संत्रास, संक्षोभग्रस्त मानव जाति के लिए संजीवनी का काम कर सके।

अगले दिनों सारा विश्व एक कुटुम्ब के रूप में आबद्ध हो, यह नियति है। स्रष्टा ऐसा ही चाहता है व इस पुण्य प्रयोजन के लिए देवसंस्कृति के धारणकर्ताओं को आगे आने देना चाहता है। यह सूक्ष्म जगत से संचालित दैवी सत्ताओं के क्रियाकलाप हैं, जो कुछ प्रमाणो द्वारा मानव मात्र के एक सूत्र में आबद्ध होने का संकेत दे रहे है। अणु आयुधो के खिलाफ विश्वभर के राजनेताओं का एकजुट हो जाना, समष्टिगत दैवी विपत्तियों के लिए हर राष्ट्र का एक-दूसरे की सहायता के लिए आगे आना तथा पृथ्वी के पर्यावरण का संतुलन बनाए रखने के लिए विश्व मनीषा द्वारा एक साथ बैठकर हल निकालने के प्रयास यह बताते है कि महर्षि अरविन्द का २१वी सदी का अतिमानस निश्चित ही धरती पर उतरने को तत्पर हो चुका है। नोस्ट्राडेमस ने भी विश्व-वसुधा के एक हो जाने व भारतीय संस्कृति द्वारा विश्व मानव के मार्गदर्शन की घोषणा अपने दिव्यचक्षुओं से की की है। परम पूज्य गुरुदेव ने मानव मे देवत्व के अवतरण-मानवी चेतना में आमूलचूल परिवर्तन तथा धरती पर अनुकूल स्वर्गोपम परिस्थितियो के विनिर्मित होने की घोषणा "सतयुग की वापसी" के रूप मे इन्ही दिनों आगामी दस-पन्द्रह वर्षों के भीतर संपन्न होने की है। अर्थात् यह सब सुनिश्चित रूप से होना ही है, हम सबको तो चिरपुरातन के गौरव को विज्ञान-सम्मत-तथ्य-सम्मत बनाते हुए उन्हे युगानुकूल ढग से प्रस्तुत भर करना है।

जैसे भारत ने किसी भी मत-सम्प्रदाय का दमन किये बिना अपने यहाँ धार्मिक एकता स्थापित की सभी मत-मतान्तरो को अपने गर्भ मे पलने-विकसित होने दिया, जैसे भारत ने किसी भी जाति की विशिष्टता को नष्ट किए बिना उन सभी को एक सूत्र मे आबद्ध कर दिया, जैसे भारत ने बिना किसी भाषा की गरिमा घटाए सबको विकसित होने का अवसर देकर सस्कृत को राष्ट्रीय संस्कृति की भाषा बनाकर देश की सभी भाषागत कठिनाइयों का समाधान निकाला, विविधता में भी एकता दर्शाने वाली एक अद्भुत सामासिक संस्कृति विकसित की, वैसी ही लगभग कुछ उसी प्रकार आज संसार के विभिन्न मत-मतान्तरो

नस्लों-जातियों, विचारणाओ, भाषाओं वाले सभी राष्ट्रों के मध्य एक सांस्कृतिक क्रान्ति यह राष्ट्र संपन्न करने में सक्षम है। गुस्से व तनाव से भरे विश्वमानव को शान्ति का संदेश देने की सामर्थ्य भारतीय संस्कृति मे है, जो सहिष्णु है, उदार है, मानवतावादी है तथा पूर्णतः आध्यात्मिक है।

सृष्टि का प्रथम मानव आर्यावर्त में जन्मा

छान्दोग्योपनिषद में एक कथा आती है। "इन्द्र तथा विरोचन दोनों ज्ञान प्राप्ति के लिए स्त्रष्टा के पास गए। दोनों आत्मतत्व जानना चाहते थे। ब्रह्माजी ने कहा दोनों सज-धजकर अपना प्रतिबिम्ब जल मे देखो। जो जल में दिखाई पड़े, वही आत्मा है। विरोचन संतुष्ट होकर लौट आए। उसने शरीर को सजाधजा व अपनी मुखाकृति देखी उसी से उन्हें संतोष मिल गया। किन्तु इन्द्र ने बारम्बार मनन किया-आत्म चिन्तन किया। पुनः बार-बार लौटकर प्रजा पिता ब्रह्मा से प्रश्न किया। उन्हें समाधान मिला कि शरीर नही, यह स्थूल काया नही, वरन् आत्मसत्ता ही परमसत्य है। सजाना-सँवारना उसे चाहिए। उन्हे आत्मज्ञान की प्राप्ति हुई। विरोचन ने लौटकर देहात्मवाद का प्रचार किया। उनने प्रतिपादन किया कि देह ही आत्मा है। इसी की सेवा-श्रृंगार साधना की जानी चाहिए। मरने पर शरीर को सुरक्षित, सुसज्जित किया जाना चाहिए। प्रलय तक आत्मा उसी में रहती है। जब अंततः सृष्टि प्रलय के समय नष्ट होगी तब कर्मों का निर्णय होगा, जबकि इन्द्र ने आत्मसत्ता के उत्कर्ष का प्रतिपादन किया व इसके लिए मानवधर्म का निर्धारण किया। साधना पद्धतियाँ बनी जिनमें भोगो से त्याग को प्रधानता थी।" यह कथा कितनी सत्य है, यह ज्ञात नहीं पर इस अलकारिक प्रतिपादन से एक सत्य उभरकर आता है कि दो प्रकार की जातियाँ उपनिषद्कालीन समाज मे थी। एक आर्य, जिसके प्रतिनिधि थे इन्द्र देवसत्ताओ के प्रतिनिधि, सस्कारी पुरुष। दूसरी दस्यु जातियाँ अथवा अनार्य जातियाँ। इन्ही को सुर व असुर कहा गया। सुर वे जिनने भारत को अपनी कर्मभूमि बनाया तथा असुर वे जिनमे, धर्मधारणा के प्रति प्रमाद था, देहसुख जिन्हे अधिक प्रिय था। विरोचन इन्ही सत्ताओं का प्रतीक है व इन्हें देहात्मवाद के संस्कारों के साथ आर्यावर्त से बहिष्कृत कर दिया गया। इनने ही शवों को 'ममी' की तरह सुरक्षित रखने का प्रावधान बनाया, जिसमें राजा-प्रजा सभी को एक साथ सजा-धजा कर दफना दिया जाता था।

यह कथा मनोरंजन हेतु नही, आदि संस्कृति भारतीय संस्कृति के विकास के विभिन्न आयामों को समझाने हेतु प्रस्तुत की गयी है। वस्तुतः प्रथम मानव इस क्षेत्र में भारतवर्ष में जन्मा व प्रचलित पाश्चात्य विकासवाद के विरुद्ध वह आदिम जाति का नहीं, अनगढ़ नरमानुष नहीं अपितु एक श्रेष्ठ मनुष्य था, सभ्य था, पूर्णतः संयमशील था तथा ज्ञानवान था, उसी से समग्र मानव जाति की उत्पत्ति व विकास का क्रम चला। महाभारत की एक आख्या के अनुसार—

अभगच्छत राजेन्द्र देविकां लोक विश्रुताम्।
प्रसूर्तियत्र विप्राणां श्रूयते भरतर्षभ !!

अर्थात् "सप्तचरुतीर्थ के पास वितस्ता नदी की शाखा देविका नदी के तट पर मनुष्य जाति की उत्पत्ति हुई। प्रमाण यही बताते है कि आदि सृष्टि की उत्पत्ति भारत के उत्तराखण्ड अर्थात् इस ब्रह्मावर्त क्षेत्र मे ही हुई।

संसार भर मे गोरे, पीले, लाल और श्याम (काले) ये चार रंगो के लोग विभिन्न क्षेत्रों मे पाए जाते है। एक भारत ही ऐसा देश है, जहाँ इन चार रंगो का भरपूर मिश्रण एक साथ देखने को मिलता है। वस्तुतः श्वेत-काकेशस, पीले-मंगोलियन, काले-नीग्रो तथा लाल रेड इडियन इन चार प्रकार के रंगविभाजनो के बाद पाँचवी मूल एव मुख्य नस्ल है, जो भारतीय कहलाती है। इस जाति में उपर्युक्त चारो का सम्मिश्रण है। ऐसा कही सिद्ध नही होता कि भारतीय मानव जाति उपर्युक्त चारो जातियो की वर्ण सकरता से उत्पन्न हुई। उलटे नृतत्व विज्ञानी यह कहते है कि भारतीय सम्मिश्रित वर्ण ही यहाँ से विस्तरित होकर दीर्घकाल में जलवायु आदि के भेद से चार मुख्य रूप लेता चला गया।

न केवल रंग यहाँ चारों के सम्मिश्रित पाए जाते हैं, वरन् भारतीयों का शारीरिक गठन भी एक विलक्षणता लिए है। ऊँची दबी, गोल-लम्बी मस्तकाकृति उठी या चपटी नाक, लम्बी-ठिगनी, पतली-मोटी शरीराकृति, एक्जो व एण्डोमॉर्फिक

(एकहरी या दुहरी गठन वाली) आकृतियाँ भारत मे पाई जाती है। यहाँ से अन्यत्र बस जाने पर इनके जो गुण सूत्र उस जलवायु मे प्रभावी रहे, वे काकेशस, मगोलियन, नीग्रॉइड व रेडइडियन्स के रूप में विकसित होते चले गए। अत मूल आर्य जाति की उत्पत्ति स्थली भारत ही है, बाहर कही नही, यह स्पष्ट तथ्य एक हाथ लगता है। पाश्चात्य विद्वानों ने एक प्रचार किया कि आर्य भारत से कही बाहर विदेश से आकर यहाँ बसे थे। सभवतः इसके साथ दूसरी निम्न जातियो को जनजाति-आदिवासी वर्ग का बताकर, वे उन्हे उच्च वर्ग के विरुद्ध उभारना चाहते थे। द्रविड़ तथा कोल, ये जो दो जातियाँ भारत मे बाहर से आई बतायी जाती है, वस्तुत आर्य जाति से ही उत्पन्न हुई थी, इनकी एक शाखा जो बाहर गयी थी पुन भारत वापस आकर यहाँ बस गयी।

भारतीय जातियो पर शोध करने वाले नृतत्व विज्ञानी श्रीनैसफील्ड लिखते है कि "भारत मे बाहर से आए आर्य विजेता और मूल आदिम मानव (अरबोरिजिन) जैसे कोई विभाजन नही है। ये विभाग सर्वथा आधुनिक है। यहाँ तो समस्त भारतीयो मे एक विलक्षण स्तर की एकता है। ब्राह्मणों से लेकर सडक साफ करने वाले भगियो तक की आकृति और रक्त समान है।"

मनुसहिता (१०/४३-४४) का एक उदाहरण है

शनकैस्तु क्रियालोपदिनाः क्षत्रिय जातयः।
वृषलत्व गता लोके ब्राह्मणा दर्शनेन च॥

पौण्ड्रकाशचौण्ड्रद्रविडाः काम्बोजाः भवनाः शकाः।
पारदाः पहल्वाश्चीनाः किराताः दरदाः खशाः॥

अर्थात् "ब्राह्मणत्व की उपलब्धि को प्राप्त न होने के कारण उस क्रिया का लोप होने से पौण्ड्र, चौण्ड्र, द्रविड़ काम्बोज, भवन, शक पारद, पहल्व, चीनी किरात, दरद व खश ये क्षत्रिय जातियाँ धीरे-धीरे शूद्रत्व को प्राप्त हो गयी।" स्मरण रहे यहाँ ब्राह्मणत्व से तात्पर्य है श्रेष्ठ चिन्तन, ज्ञान का उपार्जन व श्रेष्ठ कर्म तथा शूद्रत्व से अर्थ है निकृष्ट चिंतन व निकृष्ट कर्म। क्षत्रिय वे जो पुरुषार्थी थे व बाहुबल से क्षेत्रों की विजय करके राज्य स्थापना हेतु बाहर जाते रहे।

मूल आर्य जाति ने उत्तराखण्ड से नीचे की भूमि में वनो को काटकर, जलाकर उन्हें रहने योग्य बनाया। वहाँ नगर बसाये। इससे पूर्व वहाँ कोई निवास नहीं करता था। इस प्रकार मूल निवासी के रूप में एक ही उत्पत्ति आर्यों के रूप में हिमालय के उत्तराखण्ड क्षेत्र में हुई। वही से मनुष्य जाति का सारे विश्व में विस्तार हुआ। आदि मानव हिन्दू समाज था। इस प्रकार शेष सभी धर्म-मत-जातियाँ-रेस-वर्ण कालान्तर में समय प्रवाह के साथ विकसित होते चले गए भारतीय आर्षग्रन्थ ऋग्वेद केवल भारतीय आर्यों की ही नहीं बल्कि विश्वभर के आर्यों (श्रेष्ठ मानवों) की सबसे प्राचीन पुस्तक है।

लेख के प्रारम्भ में सुर-असुर-आध्यात्मवादी के रूप मे जो दो विभाजनो की चर्चा की गई, वह यहाँ और स्पष्ट हो जाती है। "सुर" वे है, जिनने ब्राह्मणत्व जिन्दा रखा व धर्मधारणा-संस्कारो आदि को जीवन में स्थान दिया। "असुर" वे जो किसी न किसी अपराध मे शापित या दण्डित होकर बाहर निकाले गए व बाहर जाकर जो प्रदेश जिसे अनुकूल पड़ा उसे उनने अपना निवास बना लिया। उनकी सन्ततियाँ होती चली गयीं व धीरे-धीरे वह क्षेत्र आबाद होते चले गए। बाहर जाने वालो के साथ कोई कुलपुरोहित नही गया, फलत उनके संस्कार लुप्त होते चले गए। भारत मे ऋषियों ने अपौरुषेय वाणी के रूप मे वेदो को जिन्दा रखा था। एक ही मत्र के दो या तीन ऋषि मंत्रद्रष्टा बने समय-समय पर शास्त्रो का, आर्षग्रन्थो का भाष्य होत रहा। वेदो की घनपाठ-जरापाठादि पद्धतियों के कारण ईश्वरीय ज्ञान मूल सूत्र रूप मे न विस्मृत हुआ, न विकृत। किन्तु देश से बाहर जाने वाले या तो शापित आर्य थे या पुरुषार्थी योद्धा क्षत्रिय। धीरे-धीरे शास्त्र व संस्कार विस्मृत होते चले जाने, धर्माचार लुप्त हो जाने से यही जातियाँ म्लेच्छ कही जाने लगी। कभी ये भारत से बाहर सीमान्त देशो पर बसे किन्तु धीरे-धीरे आर्य राजाओ द्वारा युद्ध तथा ब्राह्मणत्व प्रधान क्षत्रियों के शौर्य के कारण पराजित होते-होते ये पृथ्वी के विभिन्न क्षेत्रों मे फैल गए व कालक्रम से उस जलवायु के अभ्यस्त होते हुए काले, श्वेत, लाल, पीले विकसित होते हुए विभिन्न नस्लों वाले कहलाए, मूलत. है सभी आर्य व सारी पृथ्वी भारत से निर्वासित क्षत्रिय कुमारो की सन्ततियो से ही भरी-पूरी है, यह स्पष्ट होता है।

मनुसंहिता यही बात कहती है—

एतद्देश प्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः।
स्वं-स्वं चरित्रं शिक्षरेन् पृथिव्यां सर्वमानवः॥

किन्तु भारत से बाहर जाने के बावजूद अपने धर्म आचरण के प्रति अनुराग के कारण उनने अपने सम्बन्ध भारतवर्ष से बनाए रखे। महाभारत काल तक भारतीय नरेशों से उनके वैवाहिक सम्बन्ध हुए। उनकी कन्याएँ भारत आयी। सत्यभामा व शैव्या के प्रसंग यही बताते हैं। इस प्रकार यह सिद्ध होता है कि सारी धरित्री पर बसे विश्व के सारे मानव आज से पाँच सहस्र वर्ष पूर्व तक भारतीय संस्कृति के ही अनुयायी इसी की संतति थे। भारतीय दृष्टि से वे संस्कारच्युत थे किन्तु बहुसंख्य सतत् प्रयत्नशील रहते थे कि वे भारतीय आचारधारा के संपर्क में रहें।

भारतीय नृतत्वविज्ञान के अन्वेषणकर्ता श्रीटेलर कहते हैं कि विश्व में ईरान की पारसी जाति और भारतवासी हिन्दू यही प्राचीनतम संस्कृतियों के उपासक मूलतः हैं। दोनों अपना निवास मूलतः हिमालय को मानते हैं। पारसी धर्म से ही क्रमशः यहूदी, ईसाई, मुसलमान धर्म विकसित हुए। बौद्धधर्म हिन्दू धर्म की ही एक शाखा है और जैन धर्म की भाँति हिन्दू धर्म से ही वह उत्पन्न हुआ है। इन सभी को मत-सम्प्रदाय कहा जाय तो उचित होगा। मूलधर्म एक ही है वैदिक धर्म-हिन्दू धर्म। पारसी धर्म इस वैदिक धर्म से ही निकला है, इस पर सभी अन्वेषक सहमत हैं। भारत से बाहर जाकर बसी एक आर्यो की शाखा पारस्य देश (फारस) में बस गयी व पारसी बनकर भारत व अन्यान्य-क्षेत्रों को गयी। फारसी मे 'स' का उच्चारण 'ह' होता है अतः उन्होंने सिंधु देश को हिन्दू कहा, स्वयं को पश्चिमी हिन्दू तथा भारतीयों को पूर्वी हिन्दू कहा। अपनी नदी-नगरो के नाम भी उन्होंने सस्कृतनिष्ठ रखे। सरस्वती वहाँ हरहवती कहलायी, सरयू हरयू तथा भरत यूफरत (यूफ्रेटिस) भूपालन बेबिलोन तथा काशी कास्सी बन गए। अथर्ववेद की पैप्पलाद शाखा ही पारसी धर्म की मूल है इस तथ्य पर सभी वैदिक साहित्यकार व अन्वेषक एकमत हैं। गोपथ ब्राह्मण में शन्नो देवी इस मंत्र से अथर्ववेद पढ़ना चाहिए यह बात १.१९ मंत्र बतायी गयी है। पारसी धर्मग्रन्थ होमयस्त के १.२४ मंत्र में यही बात कही गयी है। इस प्रकार ईसाई, इस्लाम सभी धर्म वैदिक धर्म से जन्मे, यह प्रमाणित होता है। यहाँ उद्देश्य किसी प्रकार का साम्प्रदायिक विद्वेष खड़ा करना व अपने धर्म की श्रेष्ठता बताने का नहीं, वरन् देवसंस्कृति के विराट सामासिक रूप का परिचय देना है, जिसका मूल खोजने पर हुई शोध हमें "एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति" का संदेश देकर एक ही सत्ता को परमसत्ता मानने की प्रेरणा देती है।

नृतत्व विज्ञान से लेकर चिरपुरातन इतिहास का आमूलचूल सर्वेक्षण एक ही तथ्य प्रमाणित करता है कि आदिकालीन मानव आर्य था, वैदिक धर्म को मानता था व चिंतन चरित्र व व्यवहार की दृष्टि से श्रेष्ठ था। शक, हूण, मिस्री, यवन आदि सब हिन्दू ही थे। कालान्तर में संस्कार विहीन होने के कारण ये जातियाँ आर्यावर्त्त से बाहर जाती रहीं, निर्वासित होती रहीं, पुनः मातृदेश लौटती रही। पुरातन काल में जातिच्युत व्यक्ति को पुनः आर्य-मानव जाति का अंग बना लेना ही शुद्धि का प्रतीक था। जाति की मिथ्या परिभाषा, वर्ण जातिभेद की गलत व्याख्याएँ तथा व्यापक पैमाने पर बहिष्कार की परम्परा ने हिन्दू संस्कृति का कालान्तर में कितना नुकसान किया व आज भी विश्व मानवता के पथ पर एक अवरोध, बनकर खड़ा है, इस पर सभी मानवतावादियों का मत एक है। परम पूज्य गुरुदेव ने हिन्दू संस्कृति को देवसंस्कृति कहकर उसके चिरपुरातन गौरव की ओर ध्यान दिए जाने को तो हम सबसे कहा पर साथ ही यह भी निर्देश दिया कि हमारी संस्कृति में कालक्रम के अनुसार कई विकृतियों का समावेश होता रहा है। हमें युगानुकूल संस्कृति विकसित करना है व इसे विज्ञान सम्मत, पुनः इसके शाश्वत सार्वजनीन रूप में लाकर इसके द्वारा विश्वमानवता का मार्गदर्शन करना है।

वस्तुतः समस्त भारतीय सस्कृति एक सर्वागपूर्ण दर्शन है, उसका इतिहास एक शाश्वत जीवन दर्शन हम सबके समक्ष रखता है किन्तु यह विवेचन अध्यात्म के व्यावहारिक व युगानुकूल प्रतिपादन के रूप मे जन-जन के समक्ष आए तो ही इस प्रतिपादन की सार्थकता है। हमें भारतीय सस्कृति के आदिकालीन रूप से लेकर चिरनवीन प्रसंगो तक सभी पर विवेचन करना चाहिए।

यदि हम वेदो मात्र तक सीमित रह जाते हैं तो उन समृद्ध परम्पराओ की उपेक्षा करते है, जो पिछले दो हजार वर्षो मे पनपी है। आर्य जाति की कल्पना व आर्यवर्त की धारणा हमे उत्तर भारत (नर्मदा से ऊपर का क्षेत्र) तथा दक्षिणी भारत दो मे अलग करती है जबकि दक्षिण मे रहने वाली द्रविड़ जाति, जो बाद में हिन्दू संस्कृति के विकास का मुख्य केन्द्र रही मूलमानव से उपजी ही सतति थी, जो दक्षिण मे जाकर वस गयी। इस कथन पर कई विवाद भी खड़े हो सकते है व कई विद्वान अपने तर्क भिन्न-भिन्न रूपो मे प्रस्तुत कर सकते है, पर एक सत्य शाश्वत है व हमेशा रहेगा कि जातियॉ रेस के सिद्धान्त हमारे यहाँ बाद में आए। मैथिल, गौड़, कान्यकुब्ज की तरह द्रविड़ शब्द भौगोलिकता परिप्रेक्ष्य में ही समझा जाना चाहिए।.

आग्नेय, द्रविड़, इन्डोयूरोपीय, किरात, आदिम मानव (अरबोरिजिन तथा आर्य इनकी परिकल्पना व प्रतिपादन शास्त्र चर्चा व मनोविलास के प्रसंग हो सकते है, किन्तु तथ्य यही है कि नृतत्व विज्ञान (एंथ्रापालाजी) एवं मानुषमिति (एंथ्रोपोमेट्री) भी अब इसी निष्कर्ष पर पहुँच रहे हैं कि प्रकृति ने भारत भूमि पर एक विलक्षण प्रयोग किया है। एक श्रेष्ठ आदिमानव व सामासिक संस्कृति के रूप मे भारतीय संस्कृति का जन्म आर्यावर्त में होना प्रमाणित हो चुका है व संस्कृति के शाश्वत तत्व जिनका आज हम प्रतिपादन करते हैं, सारी विश्वमानवता का मार्गदर्शन करने मे आज भी सक्षम है।

देवसंस्कृति की प्रगति यात्रा व उससे अपेक्षाएँ

भारतीय संस्कृति कितनी विशाल है व इस महासागर मे कालक्रम से किस प्रकार भिन्न-भिन्न सभ्यताएँ व संस्कृतियाँ, मत-मतान्तर आते और समाते चले गए, इस सम्बन्ध में सभी इतिहासकार एकमत हो इसकी सहिष्णुता सामाजिकता, उदारता की भूरि-भूरि प्रशंसा करते रहे है। कवीन्द्र-रवींन्द्र ने आज से प्राय. ८५ वर्ष पूर्व एक काव्य द्वारा इस भाव को अभिव्यक्त करते हुए लिखा था—

ए मोर चित्त पुण्यतीर्थे जागो रे धीरे,
एई भारतेर महामानवेर सागर तीरे।
केह नहि जाने, कार आव्हाने, कत मानुषेर धा
दुर्वार स्रोते एलो कोथाहते, समुद्रे हलो धारा।
हेथाय आर्य, हेथाय अनार्य हेथाय द्राविड़ चीन
शक हूण दल, पाठान मोगल एक देहेहलो ल
रणधारा वाहि जयगान गाहि, उन्माद कलरवे,
भेद मरुपथ, गिरिपर्वत यारा ऐसे छिलो सबे।
तारा मोर माझे सवाई विराजे केहो नहे नहे
आमार शोणिते रयेछे ध्वनित तारि विचित्र सु

इस बगला कविता का भावानुवाद कवि साहित्यकार श्री रामधारी सिंह दिनकर ने हिन्दी करते हुए अपनी पुस्तक "भारतीय संस्कृति के अध्याय" मे लिखा है—"भारत देश महा मानवता पारावार है।.ओ मेरे हृदय ! इस पवित्र तीर्थ श्रद्धा से अपनी आँखे खोलो, किसी को भी ज्ञात कि किसके आव्हान पर मनुष्यता की कितनी धा दुर्वारवेग से बहती हुई, कहाँ-कहाँ से आई और महा समुद्र मे मिलकर खो गयी। यहाँ आर्य अनार्य हैं, यहाँ द्राविड़ और चीनी वंश के लोग शक, हूण, पठान और मोगल न जाने कितनी जाति लोग इस देश मे आये और सबके एक ही शरी समाकर एक हो गए। समय-समय पर जो लोग की धारा बहाते हुए एवं उन्माद-उत्साह मे विजय गीत गाते हुए रेगिस्तान को पार कर एवं पर्वतों लाँघकर इस देश मे आए थे, उनमे से किसी का अब अलग कोई अस्तित्व नही है। वे सब मेरे विराट शरीर मे विद्यमान है। मुझसे कोई भी दूर है। मेरे रक्त में सबका स्वर ध्वनित-गुंजायमान रहा है।"

प्रस्तुत काव्य उस स्मृति व अनुभूति को बनाता आया है, जो राष्ट्रीय एकात्मता के रूप अनेकताओ मे एकता वाली इस विलक्षण संस्कृति साथ संपन्न होती आयी है। भारतीय संस्कृति अनेक संस्कृतियों के योग से बना हुआ मधु जाता है व चूँकि इसकी उत्पत्ति "आर्य" से हुई है, आर्य या वैदिक संस्कृति मानी जाती है। आर्य का

होता है श्रेष्ठ, यह कोई नस्ल या जाति विशेष का नाम नहीं है, जैसा कि पूर्व के दो अध्यायो में स्पष्ट किया जा चुका है। भारत वर्ष में यह भाव कभी पनपा ही नहीं कि "रेस-थ्योरी" या नृवंश-सिद्धान्त के अनुसार कौन हमारी जाति का है, कौन नहीं ? जो इस पुण्यतोया भागीरथी के प्रवाह में जुड़ा वह गंदा नाला हो या पवित्र यमुना नदी, सभी इसमे आत्मसात हो आर्य पुरुष कहलाये। जिसने भी भारतीय संस्कृति को अपनी संस्कृति तथा भारत को अपना देश मान लिया वह विदेशी होता हुआ भी भारतवासियों द्वारा अपने ही वंश के भटके पूर्वजों की संतति मानते हुए आत्मसात कर लिया गया। इसीलिए भारत एक जाति का नाम नहीं है, वरन् एक विराट संस्कृति का नाम है। संस्कृति अर्थात् अनगढ़ को परिष्कृत कर उसे सुगढ़ बना देने वाली एक पद्धति।

विराट महासागर मे मिलने वाले हर प्रकार का आत्मसात हो उसी सागर की एक बूँद बन जाना, इस संस्कृति का ऐसा वैशिष्ट्यपूर्ण गुण है, जो आज की विखण्डन भरी, विभिन्नताओं से भरी विश्वमानवता की विभिन्न समस्याओ का समाधान भी है, भारत में आकर जो लोग एक साथ कभी रहे उनके मत एक नही थे, धर्म एक नही थे, मान्यताएँ एक नही थी भाषाएँ भी एक नही थी, किन्तु कुछ बात ही ऐसी निराली है इस सस्कृति में कि विभिन्न विचारों, मतों, धर्मो व संस्कृतियो में पूरा सामजस्य बैठता चला गया व विभिन्नताओ का सम्मिश्रित रूप विश्व एकता के वसुधैव कुटुम्बकम के एक नमूने के रूप में हम सबके समक्ष है।

किसी भी संस्कृति सभ्यता, धर्म या समाज के ह्रास या पतन का एक ही कारण होता है, उसमे विकृतियो का प्रवेश तथा इस कारण उसकी जीवनी शक्ति गिर जाना। जैसे किसी स्वस्थ व्यक्ति के शरीर मे आहार-विहार, व्यवहार के व्यतिक्रम के कारण विजातीय द्रव्य प्रविष्ट हो जाएँ तो रुग्णावस्था आरम्भ हो जाती है। इसी प्रकार कष्ट-पीड़ा, अजीर्ण आहार ग्रहण की अक्षमता व क्रमशः स्वास्थ्य का गिरता चले जाना उसकी परिणतियाँ हैं, ठीक उसी प्रकार संस्कृति पर भी यह नियम लागू होता है। भारतीय संस्कृति के कालक्रम मे क्रमशः पतन आने और विकृतियो का उसमे समावेश होने के कारण बताते हुए पाश्चात्य विद्वान व इतिहासकार यही लिखते है कि हिंदू समाज अच्छाइयाँ छोड़ता रहा व वर्ण-जाति भेद से लेकर अछूत समस्या, नारी समस्या, शुद्धि समस्या जैसी कई समस्याओ को पैदा करके अपने लिए इसने पतन की राह चुन ली। औरों को स्वीकार करने की परम्परा जो देव संस्कृति में थी वह कालान्तर में नष्ट हो गयी तथा जाति बहिष्कार जैसी परम्परा से भी उसने काफी नुकसान उठाया ऐसा पाश्चात्यविदो का मत है। वे लिखते हैं कि यही कारण है कि आक्रान्ताओं ने प्राकृतिक विशेषताओं से भरे-पूरे, धन-धान्य से भरे आदिसभ्यता व ज्ञान के केन्द्र इस राष्ट्र को भलीभाँति रौंदा। विगत दो हजार वर्षों की गुलामी का अंधकार भरा इतिहास वे साक्षी के रूप मे सामने रखते हैं, जिसमें भारतवर्ष राजनैतिक दृष्टि से ही नहीं, सांस्कृतिक दृष्टि से भी गुलाम होता चला गया व इसके आध्यात्मिक तत्वदर्शन में ऐसी विकृतियाँ समाहित होती चली गयीं, जिनने जनमानस को दिग्भ्रमित ही किया। भाग्यवाद, ईश्वरेच्छा ही सर्वोपरि, पुरुषार्थहीनता, अकर्मण्यवाद, पलायनवाद, मायावाद, कर्म-सन्यास जैसे तत्वों ने जनमानस को मूर्च्छित और कायर बना दिया। कालान्तर मे अँग्रेजी शिक्षा के साथ पाश्चात्य सभ्यता भी यहाँ आई व यहाँ के लोग अपने गौरवपूर्ण अतीत को भूलकर उस भोगपरायण दर्शन को अपनाने लगे, जिससे आज सारा पश्चिम दुःखी है। आलोचक तो यहाँ तक भी कहते हैं कि भारतीय संस्कृति की कमजोरियों ने ही भारत को दुर्बल बना दिया व इसी कारण विदेशी आक्रान्ता इस राष्ट्र पर आधिपत्य कर सके।

उत्थान-पतन-उत्थान क्रम के इस इतिहास मे सभी मतो-आलोचनाओ का अध्ययन करने के उपरान्त हम निष्पक्ष चिन्तन करें तो कुछ निष्कर्ष सामने आते हैं। प्रागैतिहासिक काल से अब तक विचार करे तो हम पाते है कि आर्य संस्कृति से लेकर अब तक अनेकानेक उन्नत सस्कृतियाँ, सभ्यताएँ विकसित हुईं, रोम, मिश्र, यूनान की संस्कृतियाँ कभी उन्नति के चरम शिखर तक जा पहुँची थी किन्तु क्या कारण है कि उनका आज नाम भी शेष नही है और सबसे प्राचीन होते हुए भी भारतीय संस्कृति अब तक अपना अस्तित्व बनाए हुए है ? विधर्मी विदेशी संस्कृतियों के संघर्ष में वह क्षीण-दुर्बल अवश्य हुई किन्तु उसकी भित्तियाँ, नीव दृढ़

बने रहे। क्या कारण है कि विदेशी संस्कृतियाँ एक ही थपेड़े मे अस्त-व्यस्त हो गयी तथा दूसरी ओर हिंदू संस्कृति अपनो को अपनी मूलसत्ता से पृथक् कर पूरे विश्व भर मे उनके अनुदार वितरित करती रही अनेकानेक आचारो-संस्कृतियो को जन्म देती रही किन्तु समूल नष्ट नही हुई जन बल घटता चला गया, फिर भी देव संस्कृति कोटि-कोटि वर्षो के संघर्षों के बाद भी जीवित है। इस विषमता के मूल मे कौन-सा नियम काम कर रहा है ?

एक विशेषता जो सबसे बड़ी हम पाते है, वह है अपने शब्द के भाव के अनुरूप सस्कृति के साथ परिष्कृति की भावना। 'कल्चर' शब्द सही मायने मे मात्र भारतीय संस्कृति पर लागू होता है क्योकि इसका अर्थ होता है निरन्तर परिष्कार-अनगढ़ता को सुगढ़ता मे बदलने का प्रयास। शेष सभी कालान्तर मे जन्मी तथाकथित संस्कृतियॉं तो सभ्यताएँ (सिविलाइजेशन्स) ही कही जानी चाहिए क्योकि उनमे यह गुण नही था। इसी गुण के अभाव के कारण परिस्थितियो के संघर्ष मे पाश्चात्य सभ्यताएँ रुग्ण-विकृत होकर नष्ट होती रही। स्वार्थो के संघर्ष मे वे समाप्त हो गयी। अपनी जीवनी शक्ति को अक्षुण्ण बनाए रखने के लिए भारतीय संस्कृति ने अनुयायियो की संख्या बढ़ाने की अपेक्षा, भीड़ बढाने की अपेक्षा, परिष्कार पर अधिक ध्यान दिया। यही कारण है कि उसका अस्तित्व सुरक्षित रहा। विकृत तत्व बहिष्कृत होते रहे, सस्कारच्युत होने के कारण बाहर जाते रहे किन्तु मूल चितन जो अध्यात्मवादी था, व्यक्ति की बहिर्मुखी नही अंतर्मुखी वृत्ति के विकास एव आत्मसत्ता की सर्वांगपूर्ण प्रगति पर निर्भर था। हिन्दू संस्कृति देवसंस्कृति का प्राण बना रहा। जब से यह चिन्तन बदला व यह माना जाने लगा कि भोगवाद ही प्रधान है, आध्यात्मिक नही। आधि भौतिक प्रगति ही सब कुछ है, तब से ही भारत का अंधकार-युग आरंभ हुआ मानना चाहिए। जो भारत अर्ध सस्कृत-हिंसक-आक्रान्ताओ द्वारा पराजित हुआ, वह विलासी भारत था। इतिहास के पृष्ठो का विवेचन यही बताता है।

आत्म समीक्षा तो करना चाहिए व यह भी देखना चाहिए कि कालक्रम में जो कमियाँ आयी उनसे कैसे जूझा जाना चाहिए था ? नही यह किया गया तो विकासक्रम कैसे अवरुद्ध हुआ ? यहाँ तक तो ठीक है परन्तु संस्कृति के शाश्वत चिरन्तन सत्य की उपेक्षा कर यदि एक ही पक्ष पर दोष निरन्तर लगाया जाता रहे तो वह पक्षपातपूर्ण चिंतन होगा। कहा जाता है कि जाति से बहिष्कृत, समाज से बहिष्कृत, संस्कृति से बहिष्कृत, करने की आदिकालीन परम्परा ने आज हिंदू संस्कृति का ह्रास किया है। यदि यह सच होता तो इतने मत-मतान्तर, इतने संप्रदाय, परस्पर विरोधी द धार्मिक मान्यताऍं, रीतिरिवाज, भाषाएँ यहाँ एक स नही पनपी होती, बहिष्कार किया गया था हीन वृत्ति विकृत तत्वो का न कि जाति का या व्यक्तियों का। जब तक संस्कृति धर्मपरायण रही आध्यात्मिक रही, वह हर विचारधारा को अपने अन्दर समाहित करती रही। देव संस्कृति मे युगधर्म, वर्णधर्म, आश्रमधर्म के साथ आपद्धर्म का भी विधान है। अवश्य ही इन निश्चित धर्मों का ठीक पालन न करने से भी संस्कृति में विकार आया है। वर्णाश्रम धर्म की व्याख्या भी वह नही है जो चिरप्रचलित है वरन् बडी क्रांतिकारी व प्रगतिशील है। इसकी चर्चा उपयुक्त स्थान पर की जा रही है। यहॉं तो विवेचन संस्कृति की मात्रा का हो रहा है।

तो अब समस्या का समाधान क्या हो ? एक ही समाधान है, वह है देवसंस्कृति के निर्धारणो से भारतभूमि मे रहने वाले, इसके प्रभाव क्षेत्र में बसने वाले तथा इस भूल से बाहर गए लोगों को भलीभाँति अवगत कराना तथा उनमे सांस्कृतिक गौरव-अभिमान की भावना का संचार करना। कोई किसी भी धर्म को माने, मान्यता को माने, संप्रदाय के बताए पथ पर चले परन्तु सास्कृतिक चिंतन सबका सार्वभौम सनातन एक होना चाहिए। आज सस्कृति के नाम पर समाज व शासन द्वारा मात्र नृत्य, संगीत, अभिनय, उछल-कूद चित्रकला, मूर्तिकला, स्थापत्य व काव्यकला को ही उसका पर्याय मानकर उनकी चिन्ह पूजा होती रही है। जबकि संस्कृति का यह एक प्रतिशत से भी कम पक्ष है। सस्कृति इससे भी बड़ी विराट स्तर की वस्तु है जिसे दैनन्दिन जीवन मे, क्रियाकलापो में, हमारी आस्थाओं में स्थान मिलना चाहिए, विज्ञान व अध्यात्म हमारी सस्कृति के झण्डे तले एक साथ कदम से कदम मिलाकर चलते हैं। इससे बड़ी स्थापना देव सस्कृति की क्या हो सकती है कि

सम्मत धर्म को विश्वधर्म बनाकर आज साम्प्रदायिकता व धार्मिक उन्मादभरी परिस्थितियों का हल सुझाने में पूर्णतः सक्षम है।

प्रागैतिहासिक या वैदिककाल से लेकर बुद्ध के समय तक, बुद्ध से लेकर आद्यशंकराचार्य तक तथा आचार्य शंकर से लेकर आज तक भारतीय संस्कृति के तीन अध्याय भली-भाँति तीन विकासक्रमों-सोपानों के रूप मे देखे जा सकते हैं, प्रत्येक में देवसंस्कृति ने कुछ खोया व पाया है किन्तु मूलतत्व अक्षुण्ण बना हुआ है व वही उसके अस्तित्व का, सनातनता का मूल कारण है। परिव्राजक परम्परा का पुनर्जीवन कर, ब्राह्मणत्व के विस्तार द्वारा ब्रह्मनिष्ठ-समाज को समर्पित, लोकसेवी, आत्माओं का उत्पादन करने की प्रक्रिया एक संगठन ने इस शताब्दी में आरंभ की व उसके संस्थापक संस्कृति पुरुष परमपूज्य गुरुदेव का ही पुरुषार्थ है कि आज देव संस्कृति का संदेश भारतभूमि के कोने-कोने तथा विश्व मनीषा तक पहुँच रहा है। महात्मा बुद्ध से लेकर आद्यशकर तथा परशुरामजी से लेकर स्वामी विवेकानन्द तक पुष्पित पल्लवित होती चली आ रही धर्मतंत्र से लोकशिक्षण की, समाज-राष्ट्र के पुनर्जीवन की तथा आस्था संकट की विभीषिका से मोर्चा लेने की यह पुण्य प्रक्रिया युग निर्माण योजना-प्रज्ञाअभियान शांतिकुंज की युगान्तरीय चेतना के माध्यम से अब विराट रूप ले रही है तथा सतयुग की वापसी का उज्ज्वल भविष्य का आश्वासन दे रही है तो इसके मूल में देव संस्कृति की शाश्वतता-सनातनता ही है। योगीराज अरविन्द ने जिस अतिमानस के अवतरण की व स्वर्ग के भूमि पर उतरने की बात कही है, वह समय यही है, जब चारो ओर प्रतिकूलताओ से अनास्था की विडम्बना से संघर्ष छिड़ा हुआ है व व्यक्ति उत्कृष्टता की ओर उन्मुख दिखाई दे रहा है। नवयुग आएगा तो उसकी आधारशिला देवसंस्कृति, श्रेष्ठ निर्धारणो पर ही रखी जाएगी यह सुनिश्चित है।

सृष्टि की गौरवमयी अभिव्यक्ति-मनुष्य

युगों-युगो से एक ही प्रश्न मानव के जिज्ञासु मन को सोचने पर बाध्य करता रहा है कि वह कौन है ? क्यों इस धरती पर आया है ? यह सृष्टि जो दृश्यमान है, वह क्या है ? इस सृष्टि का आदि कारण क्या है ? जो दिखाई दे रहा है, वह सच है या भ्रान्ति मात्र है ? सृष्टि यदि किसी सृजेता ने बनाई है तो उसमे मानव का क्या प्रयोजन है आदि-आदि। भारतीय संस्कृति की मनीषा की सबसे अनुपम देन यदि कोई विश्वमानवता को है तो वह यही है कि देव संस्कृति के रचयिताओ ने इस सम्बन्ध में मंथन-चिन्तन कर सृष्टि-ब्रह्म मनुष्य इन सबके विषय में बड़ी ही व्यावहारिक प्रतिपादन प्रस्तुत करते हुए व्यक्ति के धरती पर अवतरण को सोद्देश्य बताया है। सृष्टि के रहस्यो की व्याख्या करते हुए उनने उस विश्वउद्यान को, जो स्रष्टा ने विनिर्मित किया है, सजाते-सँवारते रहने का दायित्व भी मनुष्य को सौपा है। यह आस्तिकवादी दर्शन जो व्यक्ति को निरन्तर कर्म-परायण बनाये रख अंतर्मुखी बनाता है, भारतीय दर्शन की सबसे बड़ी विशेषता है।

छान्दोग्योपनिषद (६.९, ४) मे उपनिषद्कार बड़े सुन्दर ढंग से मानव व सृष्टि का सम्बन्ध बताते हुए एक चिरन्तन सत्य का उद्घाटन करता है—"एतद् आत्म्यमिदं सर्वं, तत्सत्यं, स आत्मा, तत्वमसि श्वेतकेतो"—अर्थात् संपूर्ण व्यक्ति जगत के लिए यह सत्य ही आत्मा है। वही सत्य है, वही आत्मा है और हे श्वेतकेतु ! तू वही है।" मानव तथा उसके साथ छिपी अनन्त संभावनाओ के बारे में "तत्वमसि" एक वैसा ही गूढ़तम सत्य है, जैसे कि आधुनिक भौतिकी में पदार्थ के एक कण के पीछे निहित अनंत ऊर्जा की संभावनाओ को $E = mc^2$ सूत्र के माध्यम से व्यक्त किया जाता है।

आस्तिकता पर टिकी देवसंस्कृति सृष्टि के संबंध मे मनुष्य का दृष्टिकोण स्पष्ट करती हुई, उसे उसका कर्तव्य स्पष्ट रूप से समझाती है। सृष्टि संस्कृत का शब्द है व इसका अर्थ है रची हुई चलती हुई वस्तु। यह परमाणुओं के समुच्चय से बनी है या प्रकृति रूपी मूल तत्व से इस संबंध में दार्शनिक मतभेद कई हो सकते हैं। चूँकि भारतीय दार्शनिक यह मानते है कि यह सृष्टि किसी ने बनाई है, वे आस्तिकवादी कहलाते हैं। नास्तिकवादी यह कहते हैं कि यह तो स्वभावतः बन गयी है व अनादिकाल से बनती-बिगड़ती चली आई है। कोई कहते है, कि कुदरती रचना मात्र है यह व इसमे किसी बुद्धिमत्तापूर्ण सत्ता का बनाने में कोई

योगदान नहीं है। कुछ इसे आकस्मिक एक विस्फोट से हुई मानते है, आस्तिकवादी भारतीय दार्शनिक कहते है कि सृष्टि को रचने वाली एक ज्ञानमय सत्ता है, जो किसी प्रयोजन विशेष की सिद्धि के लिए सृष्टि बनाती और बिगाडती है। ऋषि चिन्तन यह कहता है कि सृष्टि के अवलोकन से चार निष्कर्ष निकलते है—(१) सृष्टि नियमानुकूल है नियमो से बँधी हुई है (२) इन नियमो से अपार बुद्धि का परिचय मिलता है (३) यह नियम अटल है तथा (४) यह नियम सूक्ष्म से सूक्ष्मतम वस्तु पर भी शासन करते है व कोई भी वस्तु इनका उल्लघन नही कर सकती। इस प्रकार वे सिद्ध करते है कि ईश्वर इस जगती का नियन्ता है, ज्ञानवान है अर्थात् सर्वज्ञ है, एक रस है तथा सूक्ष्म से सूक्ष्म व सर्वशक्तिमान है।

ईश्वर व सृष्टि संबधी प्रारंभिक चिन्तन हमको एक ऐसी सत्ता की जानकारी देता है, जो बुद्धिमत्तापूर्ण भी है व इच्छा शक्ति वाली भी। इसे यदि हम नियम व्यवस्था के रूप मे इकॉलाजी विधि व्यवस्था के रूप मे समझ ले तो ठीक रहेगा। अलबर्ट आइंस्टीन ने कहा धा कि "सृष्टा के यहाँ कुछ भी अव्यवस्थित नहीं है। यहाँ सब कुछ सुनियोजित है। भगवान कभी पासे नही खेलता"। इसी तरह जेम्स जीन्स कहते है कि "सृष्टा के रूप मे एक ऐसे कलाकार की आकृति मेरे मन मे आती है, जिसने बड़े मन व लगन से एक कृति बनायी है, जिसमे बहुत प्रकार के रंग अपनी तूलिका से सँजोए है। कोई चाहकर भी उनमे कोई कमी नही निकाल सकता"। किसी ने सच ही लिखा है कि "सृष्टि एक व्यवस्था के रूप मे उस लीला पुरुष द्वारा अपने ज्येष्ठ पुत्र मनुष्य के लिए क्रीडांगन के रूप में बनायी गयी है। यहाँ का हर क्रियाकलाप उसके द्वारा व्यवस्थित है, नियम द्वारा सचालित है तथा ईश्वरीय सत्ता पूर्णत. तर्क तथा प्रमाण पर आधारित है।"

वेद का ऋषि कहता है कि यह समस्त सृष्टि एक नियम के आधीन है, जिसे वेद में 'ऋत्' नाम से पुकारा गया है। यह 'ऋत्' एक है, ढेर सारे नही है। यह ऋत् उस अपार विराट बुद्धि मे निवास करता है, जिसे आस्तिक लोग ईश्वर नाम से जानते है। अथर्ववेद में ऋषि कहते है—"ऋत् के फैले हुए तत्र को देखने के लिए मैं लोक-लोकान्तर में घूम आया (चारों ओर उसी का साम्राज्य है)।" "परि विश्वा भुवनान्यायम्। ऋतस्य तन्तुं विततं दृशेकम्॥ (अथर्व २/१/५) ऋग्वेद में भी कहा गया है ऋत् और सत्य उत्पन्न करने के लिए ईश्वर ने तप किया।" "ऋतं च सत्यं चाभींद्धात् तपसोऽध्यजायत" (ऋग्वेद १०/१९०/१)।

इतना स्पष्ट चिंतन होते हुए भी मनुष्य भ्रान्तियो मे उलझ जाता है व विभिन्न मत-मतान्तरों के हिचकोलों में इधर-उधर झूलने लगता है। उदाहरण के लिए आचार्य शंकर का मायावाद। उनने कहा—"ब्रह्मसत्यं जगन्मिथ्या"। यह परमात्मा सत्य है व ससार झूठ है। पर क्या-संसार से हटकर परमात्मा की परिकल्पना की जा सकती है ? परमात्मा की ही कृति है यह सृष्टि अतः जगत की कल्पना उसके बिना, सृजेता के बिना कैसे की जा सकती है ? उत्तर मीमासा (वेदांत दर्शन) पर लिखे आद्यशंकर के भाष्य में जो माया का प्रसंग आया है वह नया नही है। वेद में आया है—"इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते" (इन्द्र ने माया द्वारा नाना रूप ग्रहण किए)। यहाँ माया का अर्थ है इन्द्रजाल। बाद मे श्वेताश्वेतरोपनिषद् में हम पढ़ते है—'मायां तु प्रकृति विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम् अर्थात् "माया को ही प्रकृति समझो और माली को माया रचने वाले को महेश्वर"। जगत मिथ्या व माया का रूप है इसके माध्यम से भारतीय सस्कृति के अध्येता मनीषी यह कहना चाहते थे कि "इसका निरपेक्ष अस्तित्व नही है। मेरे तुम्हारे और अन्य सबके मन के सबध में इसका केवल सापेक्ष अस्तित्व है। यह सत् और असत् का मिश्रण है।" मृत्यु रूपी भयावह तथ्य सामने होते हुए भी यह जानते हुई भी कि सबको मृत्यु के मुख में जाना है, जीवन के प्रति व्यक्ति की विषम आसक्ति, भोगो के प्रति आसक्ति को व परित्याग न कर पाने की विवशता को आचार्य शकर तथा स्वामी विवेकानन्द 'माया' कहते है। व्यावहारिक अध्यात्मवाद के समर्थकों ने इस संदर्भ मे अपना चिन्तन आज की परिस्थितियों के परिप्रेक्ष्य में यह दिया है कि ससार मे दु.ख है, हम उन्हे कर्मो द्वारा कम करना सीखे तथा पूर्णता की प्राप्ति हेतु त्याग करना भी सीखे। इस ससार को माया मानने से आशय है कि भव-बंधनों के रूप में कृत्रिम आनन्द की मोहमाया में फँसाने वाले तृष्णा, वासना, अहता विभिन्न रूपो में हमारे चारों ओर है। इन सबको माया का रूप, क्षणिक मात्र मानकर हम स्वयं को अतर्मुखी बनाएँ। मायावाद व्यावहारिक अध्यात्मवाद के अनुसार

जीवन से भागना नही सिखाता, पलायनवादी दर्शन नही है, अपितु व्यक्ति को वास्तविकता की अनुभूति करता है।

दूसरी ओर एक अन्य चिन्तन शून्यवाद के रूप मे बौद्धों द्वारा प्रणीत हुआ। जिसके अनुसार सब कुछ दुःख ही दुःख से भरा हुआ है। इस संसार में पाश्चात्य दार्शनिक लीबनिब्ज ने तो चिद् बिन्दुविद्या (मोनोडालाजी) के रूप में संसार के सम्बन्ध में यह सिद्धान्त दे दिया कि हरेक का अपना संसार अलग है और प्रत्येक मे अपने विकास की सामर्थ्य है। सृष्टि क्यों है ? यह कोई दार्शनिक बता नही पाया, विभिन्न वादो द्वारा मनुष्य को भ्रम जजालों मे उलझाने का प्रयास और किया। वस्तुतः सृष्टि का प्रयोजन है–परमात्मा की बहुविध अभिव्यक्ति और इसके लिए उसने मनुष्य को चुना है। यह संसार मनुष्य की प्रशिक्षणशाला है तथा हर व्यक्ति यहाँ अपने को अपूर्ण से पूर्ण तथा समग्र बनाने आता है।

जहाँ फ्रायड ने मनुष्य को "कामनाशील प्राणी" माना, वहाँ महात्मागाँधी ने उसे नैतिक प्राणी कहा है। ऋषि-मनीषियो ने उसे "आध्यात्मिक प्राणी" कहा है। विकासवाद के सभी प्रचलित मतो का खण्डन करते हुए उनने मानव को सृष्टि की-परम सृजेता की गौरवमयी अभिव्यक्ति बताया। प्रकृति के अनुसार नही, इंस्टीक्ट्स के अनुसार नही वह परमेश्वर की इच्छा के अनुसार जीवन जीने आया है व उसका एक मात्र कर्त्तव्य है स्रष्टा के इस उद्यान को माली के रूप में सींचना, इसके सौन्दर्य को निखारना। इसी में उसका निज का विकास भी छिपा हुआ है, जिसके लिए उपनिषदकारों से लेकर गीताकार ने विस्तारपूर्वक वर्णन किया है। जो ब्रह्माण्ड मे है उसी की छोटी अनुकृति पिण्ड में-मानव में है। पूज्य गुरुदेव लिखते है कि मृग-मारीचिका मे न भटककर अपने आपे की महानता को पहचानते हुए यदि निज को आत्मिक स्तर पर ऊँचा उठा सके तो वही महामानव, देवता, ऋषि, मनीषी अवतार आदि बन सकता है, मानवी चेतना की प्रगति का अन्तिम एवं उच्चतम सोपान देवत्व है, जिसके विषय मे श्वेताश्वेतर उसे "अमृतस्य पुत्रा" कहकर संबोधित करता है। शरीर यात्रा मे उसका जीवन न लग जाए। जो भी समय, बुद्धि-वैभव, बल उसके पास है। उसका उपभोग भगवान के विश्व उद्यान को सुव्यवस्थित बनाने के लिए होना चाहिए। इसके लिए उसे सेवा साधना को जीवन में स्थान देना चाहिए। भारतीय संस्कृति के अध्येता ऋषि सृष्टि को सोद्देश्य बताते है, मानव के प्रयोजन की विशिष्टता भी समझाते है व आज की परिस्थितियो में उसे उसका कर्त्तव्य भी सुझाते है।

हमारी संस्कृति की केन्द्रीय-धुरी रही है—नारी शक्ति

भारतीय संस्कृति का प्रधान केन्द्रीय तत्व है—भाव-संवेदना। इस गुण की प्रचुरता जिसमें है, वह नारी शक्ति देव सस्कृति के विकासक्रम मे एक धुरी की भूमिका निभाती आयी है। ऋषिगण आदि सत्ता महामाया, जिसके आधार पर सृष्टि की संरचना संभव हुई है, को विधाता भी कहते आये हैं व माता भी। प्राणियो का अस्तित्व ही यदि इस धरती पर है तो उसके मूल मे मातृशक्ति की प्राणियो पर अनुकम्पा है। सृजन शक्ति के रूप में इस संसार मे जो कुछ भी सशक्त सम्पन्न, विज्ञ और सुन्दर है, उसकी उत्पत्ति में नारी तत्व की ही अहम् भूमिका है। देवसंस्कृति में सरस्वती, लक्ष्मी और काली के रूप मे विज्ञान प्रधान और गायत्री-सावित्री के रूप मे ज्ञानप्रधान चेतना के बहुमुखीय पक्षों का विवेचन अनादि काल से होता आया है।

परमपूज्य गुरुदेव ने नारी शक्ति के माध्यम से ही इक्कीसवी सदी के आगमन की बात कही व घोषणा की है कि विश्व मानवता का भावी निर्धारण उन्हो गुणो के आधार पर होने जा रहा है, जो आदि स्रजेता के रूप मे नारीसत्ता के साथ अविच्छिन्न रूप से जुड़े हुए हैं। पूज्य गुरुदेव ने लिखा है–"देवत्व के प्रतीकों में प्रथम स्थान नारी का और दूसरा नर का है। लक्ष्मी-नारायण, उमा-महेश शची-पुरन्दर, सीता-राम, राधे-श्याम जैसे देव युग्मो में प्रथम नारी का और पश्चात् नर का उल्लेख होता है। वह मानुषी दीख पड़ते हुए भी वस्तुतः देवी है। श्रेष्ठ व वरिष्ठ उसी को

मानना चाहिए। भाव संवेदना, धर्मधारणा और सेवा साधना के रूप में उसी की वरिष्ठता को चरितार्थ होते देखा जाता है।"

वैदिक मान्यताओं के अनुसार नारी बिना, शक्ति के बिना यह सम्पूर्ण विश्व सार-शून्य है। सृष्टि विस्तार की दृष्टि से भी निस्सन्देह पुरुष की अपेक्षा नारी की महत्ता अधिक है। वह पुरुषों की जननी है। उसकी सब कामना करें व उसके द्वारा पालित हों, ऐसा निर्देश वैदिक ऋषि देते आए हैं। 'कन्या' शब्द का अर्थ होता है सबके द्वारा वांछनीय सब उसकी कामना करें। ऐतरेयोपनिषद में स्पष्ट आता है—नारी हमारा पालन करती है, अतः उसकी पालना करना हमारा कर्तव्य है ! अथर्ववेद में उसे सत्याचरण की अर्थात् धर्म की प्रतीक कहा गया है (सत्येनोत्रभित भूमिः) कोई भी धार्मिक कार्य उसके बिना अधूरा माना जाता रहा है। ऋग्वेद का ऋषि लिखता है—

"शुचिभ्राजा उपसो नवेद यशस्वतीरपस्युवो नसत्याः।"

(ऋग् १/७९/१)

अर्थात्—"श्रद्धा, प्रेम, भक्ति, सेवा, समानता का प्रतीक नारी पवित्र, निष्कलंक, आचार के प्रकाश से सुशोभित, प्रातःकाल के समान हृदय को पवित्र करने वाली, लौकिक कुटिलताओं से अनभिज्ञ, निष्पाप, उत्तमयश युक्त, नित्य उत्तम कर्म करने की इच्छा करने वाली, सकर्मण्य और सत्य व्यवहार करने वाली देवी है।"

एक भ्रान्तिपूर्ण मान्यता, कि कन्या का जन्म अमंगलकारी है, हमारे देश में मध्यकाल में पनपी व इसी कारण आधीजन शक्ति दोयमदर्जे की मानी जाने लगी। नारीशक्ति की अवमानना, तिरस्कार, होने लगा, जबकि संस्कृति के स्वर आदि काल से कुछ और ही कहते आए हैं। ऋग्वेद (६/७५/५) में कहा गया है कि "वह पुरुष धन्य है, जिसके कई पुत्रियाँ हों "तथा" पुत्र से पिता को जो आनन्द मिलता है, वही पुत्री से माता को बल्कि उससे भी अधिक (३/३१-१-२)। उपनिषदों में भी यही बात स्पष्टतः सामने आई है। बृहदारण्यकोपनिषद् मे विदुषी और आयुष्मती पुत्री पाने के लिए घी और तेल में चावल पकाकर खाने की विधि कही गयी है (६/४.१७)। मनुस्मृति (९/१३०) में कहा गया है कि पुत्री को पुत्र के समान समझना चाहिए क्योंकि जिस प्रकार आत्मा पुत्र रूप से उत्पन्न होता है उसी प्रकार वह पुत्री के रूप में भी जन्म लेती है। महाभारत में सन्यास लेने की पात्रता उसी गृहस्थ को प्राप्त है, जिसने अपने गृहस्थधर्म का पालन करते हुए सभी कर्तव्यों को पूरा कर लिया है। इन कर्तव्यों में अपनी पुत्रियों का विवाह कर देना प्रमुख है (महाभारत उद्योगपर्व ३६-३९)। मनुस्मृति में पिता के उत्तराधिकार का जो भाग पुत्री को देने का विधान है, उसका हेतु ध्यान देने योग्य है।

विवाह की चिन्ता और सामर्थ्य से बाहर दहेज के कारण लोकगीत मध्य काल में ऐसे रचे जाने लगे कि पुत्री जन्म ही अशुभ माना जाने लगा। पचतत्र के कुछ आख्यानों में भी यह बात आयी। कालान्तर में मध्यकाल में यह धारणा खूब फली-फूली व स्त्रीधन की उपेक्षा'शास्त्र वचनों की दुहाई देकर अधिक से अधिक की जाने लगी। वस्तुतः यह कालक्रम के अनुसार पैदा हुई विकृति है। नही तो पिता के वात्सल्य का आदर्श तो हर युग की एक मान्य आस्था रही है। इसी आस्था के कारण रामायण में जनक कहते हैं "जिस सीता को मै प्राणों से बढ़कर चाहता हूँ, उसे राम को सौंपकर मेरी वीर्यशुल्क की प्रतिज्ञा पूरी हो जाएगी" (वा रा बालकाण्ड ६७/२३)। यह भारतीय सस्कृति की ही चिर पुरातन मान्यता है कि जैसे पुत्र अपने पिता, पितामह इत्यादि पितरों को नरकों से तारता है, इसी प्रकार दौहित्र अपने नाना को।" महाभारतकाल में एक चक्रनगर का निर्धन, विचारशील ब्राह्मण बकासुर को भेंट चढ़ाए जाने से अपनी कन्या को रोकता है व स्वय जाने को तत्पर हो जाता है, तब भीम उसके स्थान पर जाते है। कुन्ती को पुत्री रूप में शूरसेन तथा कुन्तिभोज ने पुत्र से अधिक प्यार देकर स्नेहपूर्वक पाला था। महर्षि कण्व शकुन्तला को दुष्यन्त के पास विदाई हेतु भेजते समय भावार्द्र हो उठते हैं व कहते है "जब मुझ जैसे वनवासी का चित्त उग्र हो रहा है, तो फिर कन्या बिछोह सामान्य गृहस्थों के लिए कितना असह्य होगा ?" (शाकुन्तल ४/६)। इससे समाज की सही अवस्था का परिचय मिलता है।

कन्या के वंदनीय पूजनीय अंश के रूप मे "उत्तर रामचरित" में महाकवि भवभूति ने अपनी मधुमयी वाणी में जनक जैसे ब्रह्मविद् कर्मयोगी से वनवासिनी स्वदुहिता सीता के लिए उत्तर रामचरित (४/११)में

कहलवाया है कि "तुम मेरी कन्या हो या शिष्या यह ध्यान देने की बात नही है। तुम्हारा आचरण अपनी पूर्ण परिणति को पहुँचा हुआ है, जिसमे मुझे तुम्हारे प्रति विशेष श्रद्धा हो रही है। स्त्री रूपिणी अथवा अवस्था में कम होने पर भी तू जगदवंद्य है क्योकि गुणियों का आदर उनके गुणो से होता है, न कि जाति (लिंग) या अवस्था भेद से।" भारतीय संस्कृति में कन्या कितनी मान्य है, इसके लिए शास्त्रो के व्याख्याता वेदव्यास का एक वाक्य ही समुचित होगा, जिसके अनुसार "समग्र महाभारत सुनने का एक मधुर फल भाग्यशालिनी कन्या का जन्म" निर्दिष्ट किया गया है।

शंकराचार्य-मंडन मिश्र शास्त्रार्थ में भारती को मध्यस्थ नियुक्त करना, भास्कर द्वितीय द्वारा अपनी मेधाविनी कन्या लीलावती के नाम पर गणित के अमूल्य ग्रन्थ "लीलावती" की रचना तथा वेदांत के सर्वश्रेष्ठ प्रतिपादक वाचस्पति मिश्र द्वारा ब्रह्मसूत्र की शांकर भाष्य की टीका "भामती" अपनी पत्नी के नाम पर करना स्त्री सम्मान का अद्वितीय उदाहरण है। यदा-कदा कही स्त्री निन्दा के स्वर शतपथ व ऋग्वेद में आए हैं तो उनका कारण मत्र रचयिता के आचरणहीन स्त्रियो के व्यवहार के प्रति सकेत ही हैं। अपवादों को कभी नियम नहीं माना जाता। अच्छी स्त्रियों की प्रशंसा से वैदिक मंत्रों के स्वर गूँज रहे हैं। 'ऊषा' स्तवन जैसे इसके प्रमाण हैं। हमें यही अंश देखना चाहिए। बाल्मीकीय रामायण में आदि कवि ने कैकेयी के स्वार्थपरायण स्वभाव का उल्लेख करते हुए स्पष्ट कर दिया है कि वैसा स्वभाव सभी का हो, जरूरी नहीं ("न ब्रवीमि स्त्रियः सर्वा भरतस्यैव मातरः") बा. रा. अयोध्या. १२/१०० । वराह मिहिर (५०५-५९७ ई) ने स्त्री निन्दको की कड़ी भर्त्सना करते हुए कहा है कि "जिन लोगों को स्त्रियो के केवल दोष दिखाई देते हैं और गुण दिखाई नही देते, वे असाधु हैं और उनका कथन सद्भावनाद्योतक नही है।" (बृहत्सहिता ७४/५)। एक चीनी ग्रन्थकार (लिन यू तांग-इम्पोरटेन्स ऑव लिविंग मे) ने स्त्रीनिन्दा से बचने के लिए भारतवर्ष से प्रेरणादायक उक्ति ली है कि "जब हम यह सोच लेते हैं कि बिना माता के इस संसार मे कोई नही हमारी धारणा अत्यन्त उदार हो जाती है और हम निन्दा करने का साहस नही करते।"

वस्तुतः नारी का रमणी, भोग्या, कामिनी रूप मनुष्य का सृजा हुआ है। ऐसी स्थिति में पूज्य भाव कुदृष्टि के रूप में बदल जाता है। तब उसे वासना की आग में झोंककर इस कल्प वृक्ष को काला कोयला बनाकर पुरुष राख कर देता है। अतिवाद का दूसरा रूप यह कि उसे पर्दे की, घूँघट की, कठोर जंजीरों में जकड़कर अपंग सदृश बना दिया गया। यही कारण है कि आज की भारतीय नारी आत्महीनता की ग्रन्थियो में जकड़ी पड़ी है। भारत में ही नही। नारी का यह भोग्या, रमणी, वैश्या वाला रूप पूरे विश्व मे ही प्रकारान्तर से आज से पचास वर्ष पूर्व तक पाया जाता रहा है। पाश्चात्य जगत में तो विद्रोह की आग भडकी किन्तु दिशा न मिलने से, वह दाम्पत्य जीवन के विग्रह गृहस्थ संस्था के टूटने तथा नारी मात्र के मनो-शारीरिक रोगों से ग्रस्त होने के रूप मे सामने आयी। बहुसंख्य देशों में तो अभी भी नारी पराधीन है। नारी मुक्ति के लिए हमें देवसंस्कृति के निर्धारण ही अपनाने होगे, यह एक सत्य है।

नारी नरक की खान है, यह प्रतिपादन भारत के ही तथाकथित महापुरुषों-विरक्तों द्वारा अध्यात्म मंच से किया गया, जबकि शतपथ ब्राह्मण स्पष्ट लिखता है जब तक स्त्री की प्राप्ति नही होती तब तक पुरुष आधा ही है। (शत. ब्रा. ५/२/१/१०)। ऋग्वेद के अनुसार वे सूर्य और चन्द्र, दिन और रात्रि की तरह एक-दूसरे से सम्बन्धित हैं (ऋग्वेद १/१३/७)। वेदों में युवको के समान ही युवती को भी कुदृष्टि का बहिष्कार करते हुए ब्रह्मचर्य धर्म का विवाह तक कठोर पालन करने का निर्देश है, ताकि वे श्रेष्ठ दम्पत्ति बन सके। हमारी संस्कृति में हर भगवान, हर देवता सपत्नीक ही पूजा जाता है। सप्तर्षियों मे सातों विवाहित थे। उनकी पत्नियों-ऋषिकाओं ने पतियो का साथ दिया, ऋचाएँ भी रची व तपस्वी ऋषि-पुत्रों को जन्म दिया। वस्तुतः काम सेवन और नारी सान्निध्य एक बात नही है। इनका अंतर समझा जाना चाहिए। रामकृष्ण व शारदा माँ, योगीराज अरविन्द तथा फ्रांस से अरोविले आई श्री माताजी का सान्निध्य साधना की ऊँचाईयो की पराकाष्ठा के स्तर का था। नारी को इस रूप मे जब-जब भी भावभरा सम्मान मिला है, वह समाज, वह युग, सुख-शान्ति से भरा रहा है। "यत्र नार्यस्तु पूज्यते, रमन्ते तत्र देवता।" की उक्ति अकारण नहीं है।

वेदों मे स्थान-स्थान पर नारी के ज्ञानार्जन, वेद-वेदादि अध्ययन, संस्कार उपक्रम सम्पन्न कराने के विषय में कहा गया है कि "हे पत्नी ! तू हमें ज्ञान का उपदेश देकर-त्वविदपमा वदासि" (अथर्व १४/१/२०) तथा तू सब प्रकार के (वेदादि) कर्मों का ज्ञान रखती है—कुहं देवी सुकृतं विदमनापसम् (अथर्व ७/४७/१)। मनु ने कन्या को वेदादि पढ़ने का आदेश दिया है। (वेदानधीत्य वेदौ वा वेदं वापि यथाक्रमम्-मनु. ३/२)। "यज्ञंदधे सरस्वती" (ऋग १/३/११) कहकर नारी को सभी प्रकार के यज्ञादि सपन्न कराने की शिक्षा लेने का निर्देश है। इस प्रकार से भारतीय संस्कृति कन्या, नारी के सर्वांगीण विकास का प्रतिपादन करती आयी है। विवाह के सम्बन्ध मे तो यहाँ तक कहा गया है कि विवाह तभी हो "जब वर-वधू को चाहने वाला हो और वधू पति को पसन्द करती हो" (सोमो वधू पुर भवदश्वि नास्तामुभा वरा। सूर्या यत्पत्ये शसन्ती मनसा सविताऽददात् अथर्व १४/१/९)। कितनी आधुनिकतम व व्यावहारिक दृष्टि वेदों के ऋषि की रही है, यह इस ऋचा से ज्ञात होता है।

विवाहोपरांत वैदिक ऋषि पति के मुँह से कहलवाता है—"हे सरस्वती ! तू पतिग्रह में विष्णु की तरह है" (प्रति तिष्ठ विराडसि विष्णुरिवेहं सरस्वति !) (अथर्व—१४/२/१५)। अथर्ववेद में ही वधू की उपमा समुद्र से दी गयी है व कहा है कि "जिस प्रकार वर्षा करके समुद्र ने नदियों पर साम्राज्य प्राप्त कर लिया है, इसी प्रकार हे मित्र ! तू पति के घर जाकर वहाँ की साम्राज्ञी बन" (१४/१/४३)। दुर्भाग्यवश मध्यकाल में सती प्रथा का प्रचलन रहा, यह कहा जाने लगा कि संस्कृति की रक्षा सती से ही होती है तथा सती प्रथा वेदानुमोदित है। वस्तुतः यह एक मिथ्या तथ्य है, जिसका कोई आधार नहीं। ऋग्वेद मे एक स्थान पर आया है—"नारी उठ ! जीव लोक में आ। इस मृत पति के पास तू क्यों पड़ी है ? हाथ ग्रहण करने वाले, भरण-पोषण करने वाले नियुक्त वीर्यदाता पति के साथ संतान जनने के लिए मिलकर रह (उदीर्ष्व नार्यभि जीवलोकं गतासुमेतमुपशेष एहि) ऋग् १०/१८/८)। वस्तुतः अथर्व के १८/३/१ की ऋचा को आधार बनाकर यह कल्पना स्वार्थवश गढ़ ली गयी है। डॉ प्रशांत कुमार "वैदिक साहित्य में नारी" ग्रन्थ में लिखते हैं कि अनुपालयन्ती शब्द का अपभ्रंश कर सती प्रथा को एक धर्मानुमोदित परम्परा बताकर मध्यकाल के इतिहास को काला किया गया है। वस्तुतः तस्यै प्रजा द्रविणं चेह धेहि (अथर्व १८/३/१) कहकर उसे मृतपति की संतानों व धन की स्वामिनी कहा है। उसे वही सम्मान दिया गया है, जो उसे पति के जीवन काल में प्राप्त थे।

भारतीय संस्कृति के ऋषि, नारी को अबला नहीं मानते वह वीर स्वामी की स्त्री और पुत्र-पुत्रियों की माता है। विनय, शालीनता के साथ वह रण-कौशल में भी निपुण है। ऋग्वेद में नारी के मुँह से कहलवाया गया है (ऋग. १०/८६/९) कि "यह पुरुष मुझे अबला कहता है, किन्तु मैं अपने को प्रेरणा देने वाले वीर को वरने वाली स्त्री के तुल्य हूँ। मैं भी उसी ऐश्वर्यवान परमात्मा को धारण करती हूँ और वायु के समान शक्ति सम्पन्न हूँ।" महाभारत मे एक बड़ी ओजस्वी नारी विदुला का प्रसंग आता है, जिसकी कथा सुनने का माहात्म्य स्थान-स्थान पर आया है। कुन्ती ने मातृसत्ता के रूप मे जो शक्तिशाली रूप महाभारत में ग्रहण किया है, उसकी मूलप्रेरणा स्रोत विदुला है। अपने पुत्र संजय के युद्ध भूमि से भागने पर वह संजय में साहस व स्फूर्ति भरती है व अपनी ओजपूर्ण वाणी मे कहती है—"उत्थातव्यं जागृतव्यं योक्तव्यं भूति कर्मसु" (म. भा. उद्योगपर्व १३५, २९-३०) अंततः किशोर संजय राज्य लेकर ही लौटता है। कुन्ती अपने धर्मप्राण पुत्र युधिष्ठिर को क्षात्र धर्म पर चलने की प्रेरणा "यदर्थं क्षत्रिया सूते तस्य कालोऽयमागत" कहकर तब देती है, जब दुर्योधन सुई की नोक के बराबर भूमि देने के लिए भी मना कर देता है। वह कहती है कर्त्तव्यपालन हेतु प्राणो की आहुति देने को भी तैयार रहो (म. भा. उद्योग १३७/१०)। ऋतुध्वज की रानी मदालसा अध्यात्म साधना की पराकाष्ठा व मातृत्व का आदर्श है। चारों संतानो को उसने अपने ही ढाँचे मे ढाल दिया। घोड़े पर सवार होकर घर से निकलकर गर्भस्थ शिशु की रक्षा करने वाली जीजाबाई ने ही संस्कृति रक्षक छत्रपति शिवाजी को उस योग्य बनाया। विश्ववंद्य बापू के संस्कारों की निर्मात्री अक्षर ज्ञान की दृष्टि से अशिक्षिता किन्तु ईश्वरनिष्ठ उनकी माता थीं।

समाज में गृहस्वामिनी तथा माता के रूप में प्रतिष्ठा प्राप्त नारी ने जब-जब राष्ट्र को आवश्यकता

पड़ी, घर से बाहर निकलकर मातृभूमि के लिए सेना का संचालन अपने हाथो में लिया। प्राचीन काल में वैदिक समाज में तीन संस्थाएँ लोकतंत्र की दृष्टि से थी समिति, सभा और विदथ। समिति और सभा लोकसभा स्तर की राष्ट्रीय संस्थाएँ थी, किन्तु विदथ मे पूरा अधिकार नारी शक्ति का था। "वशिनी त्वां विदथ भावदासि" (ऋग् १०-८५/२६) के अनुसार "तुप साधिकार विदथ मे वक्तृता दोगी" कहकर वर विवाह के अवसर पर वधू को समाज के संचालन मे कार्य करने का अधिकार देता है। इस विदथ मे स्त्रियाँ नारी विषयक-गृहस्थ संस्था सबंधी कर्त्तव्यों पर विचार-विमर्श करतीं थीं। गार्गी, सुलभा, जयमती, नायनिका प्रभावती, विजय भट्टारिका, सुगंधा, मीणलदेवी राज्यश्री, दुर्गावती, अहिल्याबाई, लक्ष्मीबाई व सम्प्रति इन्दिरागाँधी जैसी नारियों की नेतृत्व क्षमता से नारी शक्ति के दायित्वों व महत्वपूर्ण कर्त्तव्यो का एक परिचय मिलता है। अस्तु !

इक्कीसवीं सदी महापरिवर्तनों की बेला है। ऋषि परम्पराएँ, देवपरम्पराएँ और महामानवों द्वारा अपनाए दृष्टिकोण अगले ही दिनों क्रियान्वित होने जा रहे है। इस ऊषाकाल मे, जहाँ बहुत कुछ बदलने जा रहा है, नारी का खोया वर्चस्व भी उसे मिलने जा रहा है। जितना गौरवमय इतिहास उसका रहा है, उसे वह देव संस्कृति के निर्धारणो के आधार पर पुनः पाने जा रही है। यह सब मानवी सवेदना के विकास से ही संभव होगा, नारी जिसकी अधिष्ठात्री है तथा देव संस्कृति का जो सर्वाधिक महत्वपूर्ण प्रेरक तत्व भी है। शान्तिकुंज द्वारा चलाये गए नारी जागृति अभियान की इसमे महत्वपूर्ण भूमिका होगी, इसमें कोई संदेह नही होना चाहिए।

ईश्वर का अवतार, क्या, क्यों व कैसे ?

विज्ञान की प्रत्यक्षवादी दृष्टि तो यह कहती है कि यह विश्व ब्रह्माण्ड क्रमशः फूलता-फलता जा रहा है तथा एक दिन महाप्रलय के साथ यह नष्ट हो जाएगा। समसामयिक परिस्थितियों पर भी जैसा विज्ञान का चिन्तन हो रहा है, वह वही है जो उपकरणों द्वारा वीक्षण-विवेचन की परिधि मे आता हो। आर्षवाङ्मय व्यष्टिगत, समष्टिगत जीवन पर एक परिपूर्ण दृष्टि काल से परे डालता है व हो रहे घटनाक्रमों, संभावित भवितव्यताओ का मूल कारण समझाने का प्रयास करता है। सृष्टि की उलट-पुलट से लेकर एक अप्रत्याशित परिवर्तन, जिसमें सारा वर्तमान ढाँचा बदल जाने की बात कही जाती है, पूर्णतः तथ्यो पर आधारित है तथा यही देव संस्कृति का प्राण है। भारतीय संस्कृति कहती है कि विश्व इतिहास में संकट की घड़ियाँ अनेक बार आती रही है, जिनमे विश्वमानवता पर विनाश के घटाटोप बादल छाये ही नही, भयानक रूप से गरजे और सब कुछ डुबा देने की चुनौती देकर मूसलाधार बरसे है। यह सब होते हुए भी स्रष्टा की सृजन क्षमता व उसकी न्यायक्षमता पर मनुष्य को, जीव को विश्वास है। वह जानता है कि स्रष्टा अपनी इस अद्भुत कलाकृति विश्ववसुधा को मानवी सत्ता को सुरम्य वाटिका को विनाश के गर्त मे गिरने से पूर्व ही बचाने की सक्रियता दिखाता व परिस्थितियों को उलटने का चमत्कार उत्पन्न करता है। यही अवतार है। असामान्य स्तर की विश्व मानवता पर छाई विपन्नताओं से निपटना उसी के बस की बात है।

भारतीय संस्कृति की अवतार मूलक अवधारणा बड़ी वैशिष्ट्यपूर्ण है, साथ ही मनोविज्ञान की दृष्टि से निराशा की स्थिति मे प्रेरणा देने वाली आशा का सचार करने वाली। अन्यान्य धर्म-संप्रदाय संस्कृतियो में भी अवतार, पैगम्बर, फरिश्ते का आना, दैवी वाक्यो या निर्देशों का धरती पर उतरना आदि घटनाक्रमों का विवरण है पर यह सब है चमत्कारिक परिप्रेक्ष्य में। यदि अद्भुत चमत्कारो से ही अवतार काम करते हो तो इससे परमेश्वर की सत्ता के भूमि पर अवतरण का उद्देश्य पूरा नही होता। योगीराज अरविन्द कहते है कि "अवतार ऐद्रजालिक जादूगर बनकर नही आते, प्रत्युत मनुष्य जाति के भागवत नेता और भागवत मनुष्य के एक दृष्टान्त बनकर आते है।"

अवतार की अवतरण प्रक्रिया देव संस्कृति मे सृष्टि की एक व्यवस्था के उपक्रम के रूप मे वर्णित की गयी है। सृष्टि में सृजन और उत्थान के तत्व प्रधान हैं। तब भी वह स्थिति न तो स्थिर है, न निर्बाधगति से चलने वाली है। उत्पादन चक्र चलते रहने के लिए

आवश्यक है कि उत्थान के बाद पतन और पतन के बाद उत्थान का क्रम जारी रहे। सूर्य का उदय-अस्त होना, प्राणियों का जन्ममरण इस सुनिश्चित तथ्य की सुनिश्चित साक्षी देते है। सृष्टि में पतन और पराभव के तत्व सुव्यवस्था और सुन्दरता के साथ काम करते रहते है और प्राणियों को अधिक जागरूक रहने की सतत् प्रेरणा देते रहते हैं। जीवन प्रवाह का एक सिरा है जन्म, दूसरा मरण। गतिचक्र इसी प्रकार बनता है। विस्तार सतत् चलता रहे उतना स्थान इस ब्रह्माण्ड में नही है। इसलिए वह चक्रगति से चलने के लिए परिभ्रमण हेतु बाधित किया गया है। पहिये पहले नीचे जाते है, फिर ऊपर उठते है। सृष्टिक्रम मे भी यही होता है। शैशव, किशोरवस्था, यौवन का क्रम पूरा होते-होते जरा-जीर्णता का ढलान आरम्भ हो जाता है और अंततः मरण के अतिरिक्त और कोई समाधान नही रह जाता। हिन्दू अध्यात्म की मान्यतानुसार यह मरण भी अंतिम नही है। समापन के दिन से ही नवजीवन की भूमिका आरंभ हो जाती है। कायसत्ता की तरह विश्वसत्ता मे भी औचित्य का संवर्धन और अनौचित्य का उन्मूलन क्रम रथ के दो पहियों की तरह सहयोगपूर्वक चलता रहता है। असंतुलन जब उत्पन्न होता है, तब सृजन के तत्व दुर्बल पड़ जाते है, निकृष्टता की विनाशलीला जब स्वच्छन्द होती दिखाई पड़ती है, जब आतंक की तमिस्रा धनी होती दिखाई देती है और निराशा भरी परिस्थितियाँ मानवी पुरुषार्थ को हतप्रभ कर देती है, ऐसे ही अवसरों पर स्रष्टा का वह आश्वासन अवतरित होता है, जिससे उसने अपने सुरम्य, उद्यान को विनाश के गर्त्त मे गिरने से पूर्व ही बचाते रहने का सुनिश्चित विश्वास दिलाया है। यही अवतार का प्रादुर्भाव है।

यदा यदाहि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम् ॥७॥
परित्राणाय साधूनाम् विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्म संस्थापनार्थाय संभवामि युगे-युगे ॥८॥

गीताकार द्वारा चौथे अध्याय में की गयी यह प्रतिज्ञा भगवतसत्ता की मात्र अर्जुन के समक्ष ही प्रकट की गयी है, यह बात नही, वरन् इस आश्वासन का शास्त्रों और आप्तवचनों में अनादिकाल से अनवरत् उल्लेख होता रहा है। न केवल उल्लेख वरन् उसके प्रकटीकरण के प्रमाण भी समय-समय पर उपलब्ध होते रहे हैं। मानवी पौरुष जब भी जहाँ भी लड़खड़ाता है, वहाँ गिरने के पूर्व ही सृजेता के लम्बे हाथ असंतुलन को संतुलन में बदलने के लिए अपना चमत्कार प्रस्तुत करते दिखाई देते हैं यही है स्रष्टा का लीला अवतरण प्रकटीकरण। सभी अवसरों पर एक ही प्रयोजन रहा है उस परम सत्ता का, अधर्म का उन्मूलन और धर्म का संस्थापन।

गीता के इस श्लोक में बड़ा अद्भुत रहस्य छिपा पड़ा है, जो चौथे अध्याय में परमसत्ता के भाव से श्रीकृष्ण द्वारा अपने ईश्वरभाव का उद्घाटन करते हुए प्रकट हुआ है। स्वयं अलौकिक होते हुए भी इस लौकिक भूमिका मे अपने अवतरण का वे हेतु बताते हैं। उपरोक्त श्लोको में एक शब्द आया है "संभवामि"। श्रीकृष्ण कहते है कि वे सृष्टि के आदि कारण हैं, स्वामी है, विश्व के प्रभु-स्वयं विश्वातीत है, विश्वमय है, सर्वेश्वर हैं, तब भी वे अपनी प्रकृति को अधिष्ठान बनाकर, उसे अपने सकल्प के अधीन रखकर व्यक्ति भावापन्न हो जाते हैं। देखा जाय तो सपूर्ण सृस्टि प्रकृति की सभी घटनाएँ परमेश्वर की ही अभिव्यक्ति हैं किन्तु किसी को भी इस सत्य का जाग्रत अनुभव नही होता। यही प्रकृति जब विशेष भागवत् संकल्प के अधीन सजग होकर सक्रिय हो जाती है, तब किसी विशेष देह-प्राण मन-बुद्धि सयुक्त व्यक्तित्व में भागवत अवतरण सचेतन होता है, आत्मचेतन होता है और यही पर्सोनीफाइड चेतना अवतार की सज्ञा पाती है।

योगीराज श्री अरविन्द ने अपने "गीता प्रबन्ध" में लिखा है कि "अवतार का प्रयोजन गीता की ही अपनी भाषा मे तो है साधुजन का परित्राण, दुष्कर्मियो का विनाश तथा धर्म की संस्थापना, किन्तु यह मात्र इतना नही है। धर्म संस्थापन का कार्य तो कोई भी उच्चस्तरीय चेतनसत्ता कर सकती है। यह कोई इतना बड़ा और पर्याप्त कारण नही है कि राम, कृष्ण, बुद्ध या ईसा को उतरकर नीचे आना पड़े, अवतार का जन्म भी दिव्य होता है, कर्म भी दिव्य होता है, यह घोषणा स्वय श्रीकृष्ण (जन्म कर्म च मे दिव्यं) गीता में करते हैं और इस तथ्य का असाधारण महत्व घोषित करते हैं कि जो कोई व्यक्ति उनके जन्म और कर्म की दिव्यता को तत्वतः जान लेता है, वह पुनर्जन्म की बाध्यता से मुक्त होकर भगवत् प्राप्ति की स्थिति को पहुँच जाता है।

जब जन्म व कर्म दोनों दिव्य है तो वह प्रयोजन भी, जिसके लिये वह अवतरित होते हैं, एक ऐसा दिव्य प्रयोजन होना चाहिए, जिसे पूरा करना मानवी सामर्थ्य के बाहर की बात हो।"

यहाँ यह बात ठीक से समझनी होगी। धर्म की स्थापना व अधर्म का विनाश तो विशुद्धतः एक समाज सुधार का कार्य है। मात्र इतने से के लिए भगवान इस धरती पर आएँ, यह सर्वथा अनावश्यक प्रतीत होता है। भगवान मानवीय भूमिका में उतरते है दिव्य सामर्थ्य के साथ, दिव्य ज्योति और शक्ति के साथ, दिव्य प्रयोजन से दिव्य कार्य करने के लिए, ऐसा कुछ करने के लिए जिसे मनुष्य न कर पाए किन्तु जिससे मनुष्य एक दिव्य आदर्श और सत्प्रेरणा ग्रहण कर सके। (श्रीअरविन्द के आलोक में "गीता का दिव्य सन्देश" अरविन्द आश्रम पाण्डीचेरी से प्रकाशित—से उद्धृत)।

दिव्य जन्म जब भगवत्सत्ता का होता है तो उसके दो पहलू होते हैं—एक है अवतरण दूसरा आरोहण। अवतरण अर्थात् मानवजाति में भगवान का जन्म लेना, मानव आकृति और प्रकृति में भगवान का प्रकटीकरण। यही सनातन अवतार है। दूसरा है आरोहण अर्थात् भगवान के भाव में मनुष्य का जन्म ग्रहण करना। भागवत प्रकृति और भगवत चेतना की दिशा मे उसका उत्थान। (मद्भावमागताः) यह जीव का नव जन्म है। द्वितीय जन्म है। भगवान का अवतार व धर्म की सस्थापना का कार्य इसी नव जन्म के लिए होता है गीता अवतारवाद की बड़ी गहराई में जाकर हमे समझाती है कि कोई ऐतिहासिक, पौराणिक अतिमानव मात्र कल्पना के जोर से भगवान नहो बन जाता। अवतार एक मत विशेष की प्रचलित मान्यता भर नही, अपितु इसके अवतरण व आरोहण वाले दो पहलू यह बताते है कि एक विराट उद्देश्य के लिए, भगवत् प्राप्ति को मनुष्य मात्र के लिए सुलभ बना देने के लिए, भागवत् जीवन के लिए मनुष्य को प्रेरित करने हेतु दिव्य ज्ञान व दिव्य कर्मों के आदर्शों को स्थापित करने के लिए दिव्य चेतना अवतरित होती है। उसका लक्ष्य है मानव में देवत्व का जागरण मानवी स्वभाव मे निहित नित्य अभीप्सा का जागरण उसे दिव्य आदर्शों के प्रति उन्मुख बना देना। तमसो मा ज्योतिर्गमय, असतो मा सदगमय, मृत्योर्माऽमृतं गमय के रूप में ये तीन लक्ष्य मानवमात्र के हैं। यही है मनुष्य का सनातन धर्म, जिसमें वैश्वप्राण वैश्वचेतना वैश्व प्रकृति संयोजिका और सहायिका बनी हुई है। इस नैसर्गिक प्रक्रिया में अवरोध अर्थात् धर्म की ग्लानि व अधर्म का उत्थान व इसलिए सर्वसमर्थ भगवत् सत्ता का आगमन, अवतार का इस तरह वास्तविक प्रयोजन हुआ मनुष्य में दिव्योन्मुखी प्रवृत्ति का पुनर्जागरण और यह आश्वासन कि भगवान की कृपामयी सहायता सबको सदैव उपलब्ध है और भागवत् जीवन की उपलब्धि नित्य सबके लिए सतत् संभव है।

अवतार हमें दिखाई क्यों नही देता, समझ में क्यों नहीं आता ? भगवान इसे बड़ा स्पष्ट करते हुए अपने निष्काम कर्म का उदाहरण देते हुए कहते है कि मानव शरीर मे जो श्रीकृष्ण हैं और परमेश्वर रूपी श्रीकृष्ण हैं ये दोनो उन्हीं भगवान् पुरुषोत्तम के ही प्रकाश हैं। वहाँ वे अपनी सत्ता में प्रकट हो रहे है, यहाँ मानवाकार में। किन्तु वे आगे कहते है—"मेरे परमभाव को न जानने वाले मूढ़ लोग मनुष्य का शरीर धारण करने वाले मुझे तिरष्कृत करते है, क्योकि वे मेरे सर्वलोक महेश्वर परमभाव को नही समझते (मुझ परमेश्वर को भी साधारण मनुष्य मात्र मानते है)"। श्लोक ९ अध्याय ११ मे यह बात स्पष्ट हुई है—अब जानन्ति मां मूढा मानुषी तनुमाश्रितम्। पर भावम जानन्तो मम भूतमहेश्वरम्॥ कितनी स्पष्ट "अवतार" की व्याख्या है। इस रहस्य को जाने बिना अवतार को पहचानना तो दूर उसके आगमन का हेतु व स्वयं की भूमिका भी व्यक्ति नही जान पाता। यही अद्वैत दर्शन की वेदान्त की व्याख्या है कि "सब कुछ ईश्वर मे है और उसी मे सब कुछ होता रहता है। प्रत्येक प्राणी मे छद्मवेश मे नारायण हैं।" बुद्धिवादी का कोई तर्क अवतारवाद के विरुद्ध टिक नहीं सकता इतना सशक्त देव संस्कृति का यह प्रतिपादन है। संस्कृति चिन्तन यह कहता है भगवान जब भी अवतार लेकर आते है, तो मानव और अपने बीच के परदे को फाड़ने के लिए आते है। उस परदे को, जिसे अपनी प्रकृति मे सीमित मनुष्य उठा तक नही पाता।

'अवतार' शब्द का अर्थ है उतरना अवतरित होना। भगवान का उस विभाजन रेखा से नीचे उतर आना जो भगवान को मानव जगत या मानव अवस्था से पृथक् करती है। हम अपने सामान्य मानवता के

अज्ञान और अविद्या से ऊपर उठ सीमा पार कर ले तो अवतार को जानने योग्य हो जाते है, यह भगवान का स्पष्ट संकेत है। इस तरह अवतार का आगमन एक प्रकार से मानवमात्र की सहायता के लिए, आस्था संकट की बेला में मानव जाति को एक साथ रखने के लिए, अधोगामी प्रवृत्तियो को चूर्ण-विचूर्ण करने के लिए, मनुष्य के अंदर की भगवन्मुखी चेतना को जगाने के लिए व सत्प्रवृत्तियों की स्थापना के लिए तथा अशुभ सत्ताओ के विनाश के लिए होता है। यह क्रम अनादि काल से चलता चला आया है। भूतकाल मे विश्व अनेक भागो मे बिखरा हुआ था। एक दुनिया छोटी-छोटी कई दुनियाओ मे बॅटी थी। अतः विषमताएँ भी क्षेत्र विशेष की, स्थानीय परिस्थितियो की होती थी क्षेत्रीय "अवतारो" के इसी कारण सीमित लक्ष्य रहते थे। भारतवर्ष मे ही हिन्दूधर्म मे २४ अवतार गिनाये जाते है। जैनधर्म मे २४ तीर्थकरो की चर्चा होती है। सिखधर्म मे दस गुरुओ का वर्णन है। ईसाई, मुस्लिम, पारसी, यहूदी आदि धर्मावलम्बी भी अपने अवतारो की गणना हिन्दूधर्म से अलग करते है। दर्शन विज्ञान के क्षेत्र मे महत्वपूर्ण उपलब्धियाँ अर्जित करने वालो को भी 'मसीहा'—'अवतार' सज्ञा दी जाती रही है। अवतार वस्तुतः व्यक्ति का नही चेतना का होता है, यह बात अच्छी तरह समझनी होगी। अंशावतार, कलावतार, भक्तावतार, चेतनावतार सिद्धावतार, आवेशावतार, इस प्रकार कई-कई भेदो से विस्तृत व्याख्या कर मानव को अवतार सिद्ध की जाने की कोशिश की जाती है, उस पर परम पूज्य गुरुदेव ने बड़ा स्पष्ट चिंतन देते हुए कहा है कि यदि व्यक्ति को अवतार मानना हो तो मात्र धर्म क्षेत्र की विभूति नही सृष्टि के सतुलन मे सहायक हर महान् सत्ता को उसी क्षेत्र मे गिनना पड़ेगा।

ऐसे व्यक्तियो की, जो परमब्रह्म की अवतार सत्ता के साथ युग संतुलन सँभालने सुधारने इस धरती पर आते है। तीन श्रेणियाँ पूज्यवर ने बतायी है। सत्, सुधारक और शहीद। इन्हे छोटे-बड़े अवतार कहा जा सकता है। संत अपनी सज्जनता से मानव जीवन की गरिमा के अनुरूप जीवन जीते हुए आदर्शवादिता को जीवन मे उतारते हुए जनमानस का मार्गदर्शन करते है। प्रतिकूलताओं के बीच भी जीवन-निर्वाह संभव है, मनःस्थिति से परिस्थिति बदली जा सकती है, निराशा की अनास्था को उलटकर आस्था की ज्योति जलाना सभव है, यह शिक्षण संत अपनी जीवनचर्या से देते है। वे पृथिवी के देवता कहलाते है।

सतो से ऊँचा स्तर है सुधारक का। सुधारक वह जो आत्मनिर्माण भी करे व दूसरो का सुधार भी करे। ऐसे व्यक्ति मे अधिक प्राणशक्ति की आवश्यकता पड़ती है। सत का ब्राह्मण होना पर्याप्त है किन्तु सुधारक को दो मोर्चे एक साथ सँभालने होते है, उनके एक हाथ मे शास्त्र और दूसरे में शस्त्र रहता है। व्यापक परिवर्तन इससे कम मे संभव नही। परशुराम, द्रोणाचार्य, बन्दा वैरागी, गुरुगोविन्द सिंह जैसो की गणना इनमे होती है। अवतार का तीसरा चरण है शहीद का। शहीद कौन ? वह जो 'स्व' का अह 'पे'' 'पर' के लिए समर्पण कर दे। यही समर्पण शरणागति है। स्वार्थ का परमार्थ मे उत्सर्ग है। जान गवां देने वाली शहादत एकागी परिभाषा बताती है। बलिदानियों की यहाँ अवमानना नही की जा रही है वरन् 'शहीद' शब्द का व्यापक अर्थ जो परम पूज्य गुरुदेव ने बताया है, वह है संकीर्ण स्वार्थपरता का अत करके परमार्थ को ही महत्वाकांक्षाओं का केन्द्र बना लेना। यह मानसिक शहादत है। सस्कृति, राष्ट्र धर्म के प्रति समर्पित ऐसे व्यक्ति तत्कालीन समाज को ऊँचा उठाते है व धर्मधारण जिंदा रखते है। जीवन्मुक्त ऋषि के रूप मे शहीद शब्द की व्याख्या सही-सही हो जाती है। शहीद तो मरने के उपरान्त उथल-पुथल पैदा करते है किन्तु ऋषियों की चेतना हर क्षण स्वर्गोपम श्रद्धा संवेदना का संचार जन-जन में करती रहती है।

ऊपर बताये तीनो स्तर जनसाधारण में तब अवतरित होने लगते है, जब गीता मे दिये अपने वचनानुसार परमसत्ता इस धरती पर आती है। रामकाल के रीछ, वानर, कोल, भील, गीध-गिलहरी तथा कृष्णकाल के पाण्डव, ग्वाल-बाल इसी तथ्य के परिचायक है कि अवतार के साथ-साथ चेतना के विकसित रूप भिन्न-भिन्न जीवों मे आवेश के रूप में अवतरित होते हैं व उनके शरीर से परमसत्ता वह करा लेती है, जो उसे अभीष्ट है। आर्ष वाङ्मय के अनुसार पिछले सभी अवतारों पर दृष्टि डालें तो हमें ज्ञात होता है कि समय की आवश्यकता के अनुसार अपने स्वरूप व कार्य क्षेत्र को विनिर्मित करने अवतार आए है।

जब-जब जिस प्रकार का असंतुलन पैदा हुआ है तब-तब प्रभु का वैसा लीला उपक्रम बना है।

सृष्टि के आदि मे जल ही जल था व सभी जीव जलचर प्रधान थे, तब उस क्षेत्र की अव्यवस्था को मत्स्यावतार ने सँभाला था। मानव बीज की रक्षा कर सृष्टि को बनाए रखने का दायित्व इस अवतार ने सँभाला। जल व थल पर जब छोटे प्राणियों की हलचले बढ़ी तो कच्छप काया लेकर उन्हे आना पड़ा। समुद्र मंथन का पुरुषार्थ इन्ही के माध्यम से सभव हुआ। हिरण्याक्ष द्वारा जल में पायी संपदा को ढूँढ़ निकालने के लिए वाराह रूप ही संभव हो सकता था। वही धारण किया गया नरसिंह की आवश्यकता तब पड़ी जब हिरण्यकश्यपु के रूप में उद्धत आचरण करने वाला असुर सामने आया भगवान ने उन दिनों की परिस्थितियों के अनुरूप नर और व्याघ्र का समन्वय आवश्यक समझते हुए सज्जनता का संरक्षण किया। अनुदार बलि में सम्पदा का सदुपयोग करने की उदारता अपनाने की गुँजायश देखकर ही प्रभु ने वामन रूप बनाया व समझा बुझाकर ही वह प्रयोजन पूर्ण कर लिया जो करने पर हो सकता था। सामन्तवादी आधिपत्य को परशुराम ने शत्रुबल से निरस्त किया। श्रीराम ने मर्यादा पालन, रावण व लंका के रूप मे अनीति दमन, रामराज्य संस्थापन का कार्य किया श्रीकृष्ण ने छद्म से घिरी परिस्थितियों का शमन करने के लिए कूटनीतिक दूरदर्शिता को अपनाया तथा एक विशाल भारत बनाने की दूरगामी योजना बनायी। धर्म की आड़ में लोक व्यवस्था जब गड़बड़ाने लगी तो बुद्ध ने विवेक की सज्जनों के संगठन की आवश्यकता बताई तथा धर्म-चक्र प्रवर्तन द्वारा देव संस्कृति का तत्वज्ञान घर-घर पहुँचाया। यह विगत नौ अवतारो की जो पौराणिक मान्यतानुसार हैं, सक्षिप्त चर्चा हुई।

आज का समय भी वैसा ही है, जो परशुराम से बुद्ध तक के समय में था। दशम अवतार कल्कि अवतार है। इसे परम पूज्य गुरुदेव ने प्रज्ञावतार कहा है व बुद्धावतार के उत्तरार्ध के रूप मे निरूपित किया है। बुद्धि प्रधान युग की समस्याओं का निवारण विचार क्रान्ति द्वारा चेतना जगत् में ही होगा, ऐसी सबकी मान्यता है। पूज्यवर कहते हैं कि आदर्शवादी दुस्साहस ही अवतार है। वह एक भावनात्मक प्रवाह के रूप मे अगणित व्यक्तियों की चेतना मे उभरता है और असंख्यो को अनुप्राणित करता है। गाँधी युग मे सत्याग्रही थोड़े से थे किन्तु अवतार चेतना ने उनसे कार्य कराया। निहत्थे असहयोग करने वालों ने महाशक्ति से टक्कर ली व अनुकूलताएँ उपस्थित होती चली गयी। व्यक्ति का पुरुषार्थ नही, इसमें सूक्ष्म जगत में कहने वाली प्रचण्ड शक्तिधारा का प्रवाह मुख्य था जिसका उद्‌गम ऋषि संस्कृति का अनादि केन्द्र हिमालय था। रामकृष्ण परमहंस से लेकर रमण महर्षि, विवेकानन्द, योगीराज श्री अरविन्द एवं परम पूज्य गुरुदेव जिसके माध्यम थे।

अब जो अवतार जन्म लेने जा रहा है, वह दार्शनिक स्तर पर ऋतम्भरा प्रज्ञा की प्रसंग भरी हलचल के रूप में समझा जा सकता है। युग परिवर्तन यह दशमावतार कल्कि अवतार, प्रज्ञावतार ही करेगा, ऐसी ऋषियो की, द्रष्टा मनीषियों की भविष्य वक्ताओ की मान्यता है व हम आप सभी इस प्रक्रिया में एक निमित्त बनकर श्रेयार्थी बनने जा रहे है, देव संस्कृति के निर्धारण उसका माध्यम बनने जा रहे हैं व भारतवर्ष उसकी धुरी बन रहा है, इससे बढ़कर सौभाग्य की बात और क्या हो सकती है ?

ज्ञान और विज्ञान का महासागर है—आर्षवाङ्मय

"ज्ञान"—की सार्थकता-व्यापक बोध और समग्र दृष्टि पाने मे है। मानवीय ज्ञान-विज्ञान के आदि स्रोत से रूप मे 'वेद' ने यही तत्व जीवन मे बिखेरे है, जिनको ग्रहण कर ऋषि भूमि की सास्कृतिक सम्पदा अक्षुण्ण प्राण और शाश्वत् जीवन पा सकी। सत्य अर्थों में वेद एक पोथी मात्र न होकर जीवन और सृष्टि के रहस्यों को खोलने वाला व्यापक विश्वकोश है। इसका सम्यक् विभाजन और सम्पादन करने वाले भगवान व्यास ने इसे चार वर्गों में विभक्त किया। ऋक्—जिसका अर्थ है-प्रार्थना अथवा स्तुति, यजुष का तात्पर्य है यज्ञ-यागादि का विधान, साम-शान्ति अथवा मंगल स्थापित करने वाला गान है और अथर्व में धर्म

दर्शन के अतिरिक्त लोक-जीवन के सामान्यक्रम में काम आने वाली ढेरो-उपयोगी सामग्री भरी पड़ी है।

भाष्यकार महीधर के अनुसार-प्रत्येक 'वेद' से जो वाड्मय विकसित हुआ, अध्ययन की सुविधा के लिए उसे पुनः चार भागो में वर्गीकृत किया गया— (१) सहिता (२) ब्राह्मण (३) आरण्यक और (४) उपनिषद्। संहिता मे वैदिक स्तुतियाँ संग्रहीत हैं। ब्राह्मण मे मंत्रो की व्याख्या और उनके समर्थन में प्रवचन दिए हुए है, आरण्यक में वानप्रस्थियों के लिए उपयोगी आरण्यगान और विधि-विधान है। उपनिषदों मे दार्शनिक व्याख्याओ का प्रस्तुतीकरण है। कालक्रम के प्रवाह मे इस वर्गीकरण का लोप हो जाने के कारण इनमे से प्रत्येक को स्वतन्त्र मान लिया गया और आज स्थिति यह है कि 'वेद' शब्द सिर्फ 'संहिता' के अर्थो मे प्रयुक्त होता है।

जबकि वर्गीकरण-का तात्पर्य अस्तित्व का बिखराव नही उसका सुव्यवस्थित उपयोग है। जिसके क्रम मे वैदिक अध्ययन कई शाखाओं में विकसित हुआ। ऋग्वेद की पाँच शाखाएँ थी शाकल वाष्कल, आश्वलायन, शांखायन और मांडूक्य। इनमें अब शाकल शाखा ही उपलब्ध है। शुक्ल यजुर्वेद की माध्यन्दिन और काण्व दो शाखाएँ। कृष्ण यजुर्वेद की उपलब्ध शाखाएँ इस समय चार है—तैत्तिरीय, मैत्रायणी, काठक और कठ। सामवेद की दो शाखाएँ है—कौथुमी और राणायनीय। अथर्ववेद की उपलब्ध शाखाओ के नाम पैप्पलाद तथा शोनक है।

संहिताओ के विवेचन क्रम मे अध्ययन करने पर ऋग्वेद सहिता मे दस मंडलों का पता लगता है। जिनमे ८५ अनुवाक और अनुवाक समूह मे १०२८ सूक्त है। सूक्तो के बहुत-से भेद किए गए है यथा—महासूक्त, मध्यसूक्त, क्षुद्र, सूक्त, ऋषिसूक्त, छन्द सूक्त और देवतासूक्त। वेदज्ञ मनीषियों के अनुसार ऋग्वेद के मंत्रो की संख्या १०,४०२ से १०,६२८ तक है। यजुर्वेद के दो भाग है—शुक्ल और कृष्ण इनमें कृष्ण यजुर्वेद संहिता की तैत्तिरीय सहिता भी कहते है। मुक्तिकोपनिषद के अनुसार इसकी १०९ शाखाएँ थी, जिनमें मात्र १२ शाखाएँ और १४ उपशाखाएँ ही उपलब्ध हैं। इस सहिता मे कुल सात अष्टक हैं। ७०० अनुवाकों वाले इस ग्रन्थ में अश्वमेध अग्निष्टोम, राजसूय अतिरात्र आदि यज्ञों का वर्णन है। इसमें १८,००० मंत्र मिलते हैं। शुक्ल यजुर्वेद की संहिता को वाजसेनेयी और माध्यन्दिनी भी कहते हैं। इसमें ४० अध्याय २९० अनुवाक और अनेक काण्ड हैं। यहाँ दर्शपौर्णमास, वाजपेय आदि यज्ञों का वर्णन है।

सामवेद के पूर्व और उत्तर दो भाग हैं। पूर्व संहिता को छन्द, आर्चिक और सप्त साम नामों से भी अभिहित किया गया है। इसके छः प्रपाठक हैं। सामवेद की उत्तर संहिता को उत्तरार्चिक या आरण्यगान भी कहा गया है। अथर्ववेद की मंत्र संख्या १२३०० है, जिसका अति न्यून अंश आजकल प्राप्त है। इसकी नौ शाखाएँ पैप्पल, दान्त, प्रदान्त, स्नात, सौत, ब्रह्मदावत्त शौनक, दैवीदर्शनी और चरण विद्या मे से केवल शौनक शाखा ही आज रह पाई है। इसमें २० काण्ड हैं।

सहिताओ के पश्चात् ब्राह्मणों का स्थान आता है। इनके विषय को चार भागो मे बाँटा गया है। विधिविभाग, अर्थवादभाग, उपनिषद्भाग और आख्यानभाग। विधिभाग मे यज्ञो के विधान का वर्णन है। इसमें अर्थमीमांसा और शब्दों की निष्पत्ति भी बतायी गई है। अर्थवाद मे यज्ञों के महात्म्य को समझाने के लिए प्ररोचनात्मक विषयो का वर्णन है। ब्राह्मणो के उपनिषद् भाग में ब्रह्मतत्व के विषय में विचार किया गया है। आख्यान भाग में प्राचीन ऋषिवंशों, आचार्य वंशो और राजवंशों की कथाएँ वर्णित हैं।

प्रत्येक वैदिक संहिता के अलग-अलग ब्राह्मण ग्रन्थ है। ऋग्वेद के दो ब्राह्मण है ऐतरेय और कौपीतकि। यजुर्वेद के भी दो ब्राह्मण है कृष्ण यजुर्वेद का तैत्तिरीय ब्राह्मण और शुक्ल यजुर्वेद का शतपथ ब्राह्मण। सामवेद की कौथुमीय शाखा के ब्राह्मण ग्रन्थ चालीस अध्यायो मे विभक्त है। इसकी जैमिनीय शाखा के दो ब्राह्मण ग्रन्थ है—जैमिनीय ब्राह्मण और जैमिनीय उपनिषद् ब्राह्मण। इन्हे क्रमशः आर्षेय और छान्दोग्य ब्राह्मण भी कहते है। अथर्ववेद की नौ शाखाएँ है किन्तु एक ही ब्राह्मण उपलब्ध है गोपथब्राह्मण।

आरण्यकों की विषय वस्तु सायणाचार्य के शब्दों में लोकसेवी वानप्रस्थों की प्रशिक्षण सामग्री है। मुख्य आरण्यक ग्रन्थो के क्रम में ऋग्वेद में ऐतरेय और कौषीतकि आरण्यक मिलते हैं। यजुर्वेद में कृष्ण यजुर्वेद का एक आरण्यक है तैत्तिरीय आरण्यक। जिसके दस काण्डों में आरणीय विधि का प्रतिपादन हुआ है बृहदारण्यकशुक्ल यजुर्वेद का है। सामवेद में सिर्फ छान्दोग्य आरण्यक मिलता है। जो छः प्रपाठकों में विभाजित है।

'वेद'-का चरमोत्कर्ष उपनिषदों मे मिलता है। अन्तिम भाग होने के कारण इसे 'वेदान्त की संज्ञा भी प्राप्त है। उपनिषदों ने ही स्वयं इस शब्द की व्याख्या सूचित की है "यदा वै बली भवति अथ उत्थाता भवति, उत्तिष्ठन परिचरिता भवति, परिचरन् उपसत्ता भवति, उपसीदन् द्रष्टा भवति, श्रोता भवति, मन्ता भवति, बोद्धा भवति, कर्ता भवति, विज्ञाता भवति (छान्दोग्य ७/८/१) जब मनुष्य बलवान होता है, तब वह उठकर खड़ा होता है। उठकर खड़ा होने पर गुरु की सेवा करता है। फिर वह गुरु के पास (उप) जाकर बैठता है। (सद) पास जाकर बैठने पर वह गुरु का जीवन ध्यान से देखता है। उनका व्याख्यान सुनता है, उसे मनन करता है, समझ लेता है और उसके अनुसार आचरण करता है। उसमे उसे विज्ञान यानि अपरोक्ष अनुभूति का लाभ होता है 'उप' 'नि' ये दो उपसर्ग और 'सद' धातु से बने इस शब्द की इस व्याख्या में 'नि' अर्थात् निष्ठा से की व्याख्या छूट गई है, जिसका उल्लेख एक-दूसरी जगह हुआ है। "ब्रह्मचारी आचार्यकुलवासी अत्यन्तम् आत्मानम् आचार्यकुले अवसादयन्" (छान्दोग्य २/२३/१) ब्रह्मचर्यपूर्वक गुरु के पास रहकर (उप) गुरु सेवा में अपने आपको विशेष रूप से (नि) खपाने वाला (सद) जो रहस्यभूत विद्या प्राप्त करता है, वह है उपनिषद्।

इन दोनो पर्यायों को इकट्ठा करके देखें तो (१) आतमबल (२) उत्थान (३) ब्रह्मचर्य (४) गुरु सेवा मे शरीर को खपा देना (५) गुरु (हृदय) सान्निध्य (६) जीवन निरीक्षण (७) श्रवण (८) मनन (९) अवबोधन (१०) आचरण (११) अनुभूति-इतना सारा भाव-इस छोटे शब्द में निहित है। इनकी संख्या कितनी है ? इस सन्दर्भ मे भिन्न-भिन्न स्थानों पर अलग-अलग विवरण प्राप्त होते हैं। मुक्तिकोपनिषद् में १०८ अपनिषदों की सूची है। 'उपनिषदवाक्य महाकोश में २२३ उपनिषद् ग्रन्थों का नामोल्लेख हुआ है। इनकी वेदों से अभिन्नता और प्राचीनता की दृष्टि में रखकर विचार करें १०८ उपनिषदों की सूची ही सार्थक लगती है। अन्य के सम्बन्ध मे यही कहा जा सकता है कि मध्ययुग में विभिन्न सम्प्रदायो ने अपनी प्राचीनता सिद्ध करने के लिए इनकी रचना की गई इन १०८ उपनिषदों में भी अपनी विशेष गहनता के कारण ईश, केन, कठ, प्रश्न, मुण्डक, माण्डूक्य, तैत्तिरीय, ऐतरेय, छांदोग्य, बृहदारण्यक और श्वेताश्वतर कुछ अधिक ही महत्वपूर्ण हैं।

ज्ञान के विश्वकोश का यह व्यापक विस्तार-उपरोक्त पंक्तियों के अनुसार अब-आधे-अधूरे रूप में ही मिलता है। इतने पर भी चेतना की गहरी पर्तों को खोलने वाले ये मंत्र इतने मोहक और उदात्त हैं, जिन्हें पढ़कर विश्व-मनीषा को चकित होना पड़ता है। इतने पर भी उनकी संख्या भी कम नही है, जो अपने ओछेपन, मूढ़ता और दुराग्रह के कारण वेदो की ऊल-जलूल व्याख्या करते रहते हैं। इसका एकमात्र कारण सस्ती लोकप्रियता को लूटना और विद्वान होने का सस्ता गौरव हासिल करना समझा जा सकता है। उनके पास न तो 'संस्कृत' भाषा की मर्मज्ञता है और न तप साधना की कुन्जी। इसी अभाव के कारण आधुनिक मन इसे आदिम, जंगली और अत्याधिक बर्बर समाज की स्तोत्र संहिता मान बैठा है। यूरोपीय पाण्डित्य ने इसे जगली शान्तिकरण सम्बन्धी यज्ञ बलिदानों का जखीरा मानकर अपनी समझ के बौनेपन का ढिंढोरा पीट दिया। देव भाषा सस्कृत ज्ञान से अनभिज्ञ सामान्य जन का-इन हल्के प्रयासों से भ्रमित होना अस्वाभाविक नही है।

सांस्कृतिक विवेचन का वर्तमान प्रयास जिस महान् उद्देश्य को लेकर किया जा रहा है, वह है इन प्रचलित भ्रान्तियों का निवारण और अपने पूर्व पुरुषो द्वारा सौंपी गई विरासत का गौरव बोध। जिसका जिक्र करते हुए महायोगी अनिर्वाण ने अपने ग्रन्थ वेद मीमांसा में कहा कि 'वेद' उन ऋषियों की कृति है, जिन्होने अपने मन द्वारा कुछ गढ़कर रचने की जगह, एक महान्, व्यापक, शाश्वत तथा अपौरुषेय सत्य को अपने आलोकित मनों में ग्रहण किया था। सत्य को मंत्र मे मूर्त करने वाले इन ऋषियों को एक नाम और

दिया गया 'कविः'। वेद इनके बारे मे कहता है कवयः सत्यश्रुतः (ऋग्वेद ५/५७/८) अर्थात् वे द्रष्टा जो दिव्य सत्य को सुनने वाले थे।

इस सत्य से अनभिज्ञ-शब्दार्थ मे उलझ जाने वाले-वेदो मे पशु बलि-हिंसा-जैसी न जाने कितनी बाते ढूंढा करते है, जबकि वेद भगवान का स्पष्ट आदेश है पशुन पाहि गा मा हिंसी, अजा मा हिंसी। अपि मा हिंसी, इमं या हिंसी द्विपादं पशुं॥ मा हिंसीरेक शर्क पशु मा हिस्यात सर्वाभूतानि (पूज्यगुरुदेव ऋग्वेद भूमिका पृष्ठ २४) पशुओ की रक्षा करो, गाय को मत मारो, बकरी को मत मारो, भेड़ को मत मारो दो पैर वाले (मनुष्य, पक्षी) को मत मारो। एक खुरवाले पशुओ (घोड़ा, गधा) को मत मारो, किसी भी प्राणी की हिंसा मत करो।

वेद के वचन उनके सच्चे अर्थो में केवल उसी के द्वारा जाने जा सकते हैं, जो स्वयं ऋषि हो। अन्यों के प्रति मंत्र अपने गुह्यज्ञान को नहीं खोलते। वामदेव ऋषि अपने चतुर्थ मण्डल के एक मंत्र (४/३/१६) में अपने आपका इस रूप मे वर्णन करते है कि मै अन्तः प्रकाश से युक्त विप्र अपने विचार (मतिभिः) तथा शब्दों (उक्थैः) के द्वारा पथ प्रदर्शक (नीथानि) और गुह्य वचनो को (निण्यावचांसि) व्यक्त कर रहा हूँ। ये दृष्ट ज्ञान के शब्द (काव्यानि) हैं, जो ऋषि के लिए अपने आन्तर अर्थ को बोलने वाले (कवये निवचना) है। इसी तरह ऋषि दीर्घतमा ने ऋग्वेद मे उन चार स्तरों का उल्लेख किया है, जहाँ से वाणी निकलती है। इनमें से तीन तो गुहा मे छिपे हुए हैं और चौथा स्तर मानवीय है। वहीं से मनुष्यों के साधारण शब्द आते हैं। परन्तु वेद के शब्द और विचार उच्चतर तीन स्तरो से सम्बन्ध रखते है। (ऋग्वेद १/ १६४/४५)।

यही कारण है—वेदो का अध्ययन करने वालों के लिए श्रद्धा और साधना आवश्यक तत्व बताए गए है श्रद्धा की जरूरत इसलिए है कि अलकारिक भाषा मे कहे गए सत्यो को पढ़कर बुद्धि भ्रम में न पड़े। साधना-इस कारण आवश्यक है-जिससे समाधि के क्षणों मे मंत्र के गुह्यार्थ को जाना जा सके। परन्तु वेदों मे उन मत्रों की सख्या भी कम नहीं है, जो सामान्य जीवनक्रम मे मार्गदर्शन करते मधुर और उदात भावों को उभगाते है। उदाहरण के लिए अथर्ववेद का एक अंश जिव्हाया अग्रे——भूयासं मधुसंदृशः (अथर्व १/३४) मेरी जिव्हा के अग्र भाग में मधु हो, जिव्हा का मूल मधुर हो। मेरा निकलना और दूर-दूर तक जाना अर्थात् मेरा आचरण और व्यवहार मधुर हो। मै वाणी से मीठा बोलूँ और मधुर बन जाऊँ, एक अन्य स्थान पर ऋषि अन्दर-बाहर से एक बनने का निर्देश देता है "यदन्तरं तद् बाह्यं यद् बाह्यं तदन्तरम्"

(अथर्व २/३०/४)।

वैदिक ज्ञान के उन अंशों को जहाँ वे गुह्य रहस्यात्मक और अलंकारिक हैं समझने के लिए किसी ऋषि की अनुभूति का प्रकाश जरूरी है। इस सन्दर्भ में श्री अरविन्द के ग्रन्थ 'वेद रहस्य' को अद्भुत और अनौखा कहा जा सकता है। उनके शब्दों में वेद में अनेक मंत्र है अनेक समूचे सूक्त तक हैं, जो ऊपर से एक रहस्यवादी अर्थ को प्रकट करते हैं। स्पष्ट ही एक प्रकार के गुह्य वचन हैं, जो अपना आन्तरिक अर्थ रखते है। एक अन्य स्थान पर वे कहते है कि अपने आशय को प्रतीकों तथा प्रतीकात्मक शब्दों द्वारा ढकने की जरूरतवश क्योकि गुप्तता रखनी जरूरी थी। ऋषियों ने शब्दों को दोहरे अर्थ नियत करने की विधि को अपनाया। जैसे गौ शब्द गाय के अतिरिक्त प्रकाश या या प्रकाश की किरण का वाचक है। यह कई ऋषियों के नामो में प्रयुक्त हुआ दीखता है। उदाहरण के लिए गौतम-अर्थात्-प्रकाशितम गाविष्ठर अर्थात् प्रकाश में स्थिर। वेदोक्त गौवे सूर्य के गोयूथ हैं-जो ग्रीक गाथा शास्त्र तथा रहस्यवाद मे भी सुपरचित है, ये है सत्य प्रकाश और ज्ञान के सूर्य की किरणे। इसी तरह 'घृत' का सामान्य अर्थ है घी, परन्तु घृत का अर्थ प्रकाश भी है, यह घृ क्षरणदीप्त्यों धातु से बना है। इस अर्थ को ही लेकर द्युलोक के अधिपति इन्द्र के घोड़ों के विषय मे कहा गया है कि ये घृतस्नु है (ऋग् ३/४१/९) अर्थात् प्रकाश से सने हुए। इसी तरह दस्यु-अधकार की शक्तियाँ है, जो सत्य के उपासकों का विरोध करने वाली है (वेदरहस्य पूर्वार्द्ध पृ. १४-१७)। अनुभूतियों को अभिव्यक्त करने की यह परम्परा सहिता-ब्राह्मण आरण्यक, उपनिषद्-सभी में एकसी व्याप्त हैं।

चरणव्यूह के अनुसार इस परम्परा का निर्वाह उपवेदों में भी हुआ है। ऋग्वेद का उपवेद आयुर्वेद यजुर्वेद का धनुर्वेद सामवेद का गान्धर्ववेद और

अथर्ववेद का अर्थशास्त्र उपवेद है। परन्तु भाव प्रकाश में आयुर्वेद को अथर्ववेद का उपवेद माना गया है। इन चार उपवेदों के अलावा वेदों के छः अंग भी हैं। *शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, ज्योतिष और छन्द।* उच्चारण के सम्बन्ध में उपदेश शिक्षा है। यज्ञ यागादि कर्म सम्बन्धी उपदेश कल्प हैं। शब्दों के सम्बन्ध में विचार व्याकरण है और उनकी व्युत्पत्ति और अर्थ के सम्बन्ध में विचार निरुक्त है। खगोलगणना अन्तर्ग्रही प्रभावों का ज्ञान ज्योतिष है और छन्दो (काव्य) के सम्बन्ध का ज्ञान छन्द है।

वैदिक ज्ञान के इन गहनतथ्यों को अधिक सुगमता से समझाया जा सके इस लक्ष्य को लेकर पुराणों की रचना हुई। ब्रह्मपुराण, पदमपुराण, विष्णुपुराण, शिवपुराण, भागवतपुराण, वायुपुराण, नारदपुराण, अग्निपुराण, ब्रह्मवैवर्तपुराण, वाराहपुराण, स्कन्दपुराण, मार्कण्डेयपुराण, वामनपुराण, कूर्मपुराण, मत्स्यपुराण, गरुणपुराण, ब्रह्माण्डपुराण और लिंगपुराण। इन अठारह पुराणों के अतिरिक्त उपपुराणों की भी *लम्बी श्रृंखला है, जिनमें २८ की गणना सर्व प्रचलित* है। इन उप-पुराणों में जिन्हें लोक ख्याति मिली है, उनमें हरिवंश, कल्कि, देवी भागवत का नाम उल्लेखनीय है। पुराणों जैसी शैली और अपनी महती ख्याति बावजूद महाभारत रामायण की इस क्रम में गणना न करने का इतना ही तात्पर्य है कि ऋषियों ने इन्हें प्रामाणिक इतिहास माना है। इनके लेखन के पीछे इतिहास बोध के साथ जीवन बोध कराने की दृष्टि है, जबकि अन्य में जीवन बोध को तत्वबोध से एकीकृत करने का प्रयास है।

अनुभूति और अभिव्यक्ति में जो महत्व वेदों को प्राप्त हुआ। लोक-जीवन को शिक्षित करने के लिए पुराणों को ठीक वैसी ही श्रेयानुभूति मिली। डॉ. भण्डारकर के शब्दों में कहे तो भगवान व्यास ने वैदिक रहस्यानुभूति-जीवन विद्या को कथा शैली के सहारे जन-जन तक पहुँचा दिया। इस प्रयास की प्रामाणिकता और उत्कृष्टता सत्य को सुगम और बाल बोध बनाकर प्रस्तुत करने में रही। इनमे से किसी का विस्तार कम व्यापक नही है। महाभारत के विषय में तो व्यास देव ने यहाँ तक कह डाला जो समूचे विश्व में कहीं है वह यहाँ है। इसी के *भीष्मपर्व का अनमोल रत्न गीता है,* जो अपने अस्तित्व के उदय से अब तक विश्व मनीषा को मुग्ध कर रही है। १८ अध्याय में गूँथे गए ७०० श्लोकों मे जीवन के सभी तत्व सँजोये है। इस ग्रन्थ की सबसे बड़ी विशेषता है विभिन्न दर्शनों का *काव्यात्मक सामंजस्य। 'समूचा जीवन योग है'* इस गान को भगवान कृष्ण ने कुरुक्षेत्र के जीवन संग्राम में पहली बार गाया।

इसके व्यावहारिक सूत्र-मानव भविष्य की स्वर्णिम आशा है। इसी विचार को ध्यान में रखकर परम पूज्य गुरुदेव ने 'गीता-विश्वकोष' की वृहद् रूपरेखा तैयार की। उन महत्वपूर्ण बिन्दुओं को स्पष्ट किया जो विश्व राष्ट्र के मानव धर्म का आधार बनेंगे। उन्होंने व्यक्ति और समाज के जीवन और चरित्र पर प्रकाश डालने वाले इसके उन अनेकों पक्षों को स्पष्ट किया है, जो अभी तक गुह्य समझे जाते रहे हैं। विश्व-चिन्तन के परिप्रेक्ष्य में उनके इस सहस्त्रों पृष्ठों मे अंकित विचारो का निकट भविष्य में प्रकाशन निश्चित ही मानव की बौद्धिक-आध्यात्मिक क्षितिज पर एक नए प्रकाश के रूप मे उदय होगा।

गीता की तरह रामायण ने भी अपने उदयकाल से मनुष्य को देवत्व के प्रति आस्थाओ-मर्यादाओ के प्रति आस्था उमगाई है। रामायण के प्रथम लेखन का श्रेय आदि कवि महर्षि वाल्मीकि को है। परवर्तीकाल में इसकी भाव सम्पदा और मर्यादा-पुरुषोत्तम के उत्कृष्ट चरित्र से आकृष्ट होकर अन्य कवियो ने भी राम-कथा का गान कर संस्कृति की मन्दाकिनी बहाई। सस्कृत भाषा की अन्य रामायणो मे आध्यात्म रामायण, चम्पू रामायण, देव रामायण, अगस्त्य रामायण का नाम उल्लेखनीय है। कालान्तर मे इनकी अभिव्यक्ति क्षेत्रीय भाषाओं के रूप मे बगला मे कृतिवास रामायण दक्षिण भारत में कम्बन रामायण और हिन्दी मे रामचरित मानस का संवेदना सरोवर बनकर प्रकट हुई।

रामायणों के इस क्रम मे 'योग' 'वाशिष्ठ' भी है। जिसे अपनी अद्वितीयता के बल पर 'महारामायण' की संज्ञा प्राप्त हुई। इन वुड्स ऑफ गॉड रियलाइजेशन खण्ड ७ मे सँजोये स्वामी रामतीर्थ के शब्दो मे कहे तो "मेरे मतानुसार तो संसार की सभी पुस्तको से अद्भुततम पुस्तक योग-वाशिष्ठ है। यह *असम्भव है कि कोई इस ग्रन्थ का अध्ययन कर ले* और उसको ब्रह्म भावना न हो और वह सबके साथ

एकता न अनुभव करे।" इस ग्रन्थ का वैभव साधना के गुह्य प्रदेश की गहन अनुभूतियों का रोचक कथाओं में वर्णन है। ग्रन्थ की रोचकता इतनी अद्‌भुत है कि शायद ही कोई इसे एक बार हाथ में थामकर पूरा पढ़े बिना छोड़ सके। रानी चुडाला की कहानी, उद्दालक की कथा, सरघु की कथा, वीतहव्य का वृतान्त, भास और विलास का संवाद विपश्चित की कथा, पटधाना राजकुमारों की कथा जैसी ढेर की ढेर कथाओं में लुभावने ढंग से सृष्टि रहस्य मनकी शक्तियाँ लोक-लोकान्तर के तत्व-गूढ़ दार्शनिकता का सरस निरूपण किया गया है।

विस्तार ! विस्तार !! विस्तार !!! निरन्तर अपने इस ध्येय की ओर बढ़ती जा रही ऋषियों की ज्ञान सम्पदा को सूत्र संकेत के रूप में कहने की एक मौलिक कोशिश इस भूमि पर सम्पन्न हुई है, जिसे दर्शन का नाम मिला। ये ज्ञान सम्पदा के अपरिचित सागर में से भरे गए कुछ अमृत कलश हैं, जो-पीने वाले के मन में सत्‌ चित्‌-आनन्द के अविरल प्रवाह से एक हो जाने की ललक पैदा करते हैं। भारत की दार्शनिकता मे दर्शन का अर्थ पश्चिम की फिलासफी की तरह ज्ञान से प्रेम नही बल्कि ज्ञान से एकात्मता है। यही कारण है, यहाँ दार्शनिक मात्र विचारक न होकर दृष्टा-ऋषि हुए।

यों इन दर्शनों की परम्परा और शृंखला काफी बड़ी है, जिसमें प्रत्यभिज्ञा, लकुलेश जैसे तंत्र दर्शन भी है। पर ये पंक्तियाँ वैदिक ज्ञान के जिस प्रवाह को प्रवाहित कर रही हैं. उसमे षड्‌-दर्शन की बहुरंगी तरंगें ही उमगती दिखाई देती हैं। इस क्रम में पहला स्थान 'सांख्य' का है, जिसके छः अध्याय में सँजोये सूत्रों की संख्या ५२६ है। इस दर्शन में महासिद्ध कपिल ने पुरुष-प्रकृति के सम्बन्ध सब भूतों की स्थिति, उत्पत्ति और प्रलय पर विचार किया है। इसके बाद महर्षि पतजलि का दार्शनिक सिद्धान्त है-योग। योगदर्शन के समाधिपाद, साधनपाद, विभूतिपाद और कैवल्य पाद इन चार अध्यायो में १९४ सूत्र है। डॉ. दीवानचन्द्र ने अपने ग्रन्थ दर्शन संग्रह में इन दोनों का एक जोड़ा माना है। उनके मत में सांख्य और योग दोनों एक प्रकार के उद्योग हैं, सांख्य में यह उद्योग प्रकृति से 'वियोग' रूप धारण करता है। योग में ईश्वर से सयोग रूप लेता है।

न्यायदर्शन के प्रवर्तक-महामुनि गौतम है। द
पाँच अध्यायो में बँटा है। इनमें प्रत्येक अध्याय के दो
भाग है। इस दर्शन का प्रमुख विषय है-'प्रमाण'। इसमें
सत्य और असत्य में भेद करने की तकनीक सुझाई गई
है। विचार और उसकी शैली के स्वरूप की पूरी छा
यूनानी दर्शन में देखी जा सकती है। वैशेषिक दर्शन
महर्षि कणाद का दार्शनिक सिद्धान्त है। इसमें दस
अध्याय हैं, और प्रत्येक अध्याय के दो भाग है। इस
दर्शन में विशेषों की बाबत दार्शनिक विवेचन हुआ है।
विशेष का क्या अर्थ है ? प्रत्येक की अपनी मौलिकता
है। यही विशेषत्व का तत्व है। न्याय और वैशेषिक
दोनों का लक्ष्य निःश्रेयस है और दोनों ही इसकी प्राप्ति
का साधन तत्वज्ञान को मानते हैं।

पूर्व मीमांसा दर्शन के रचनाकार-ऋषि जैमिनि
हैं। इस दर्शन का पहला सूत्र है 'अथातो धर्म
जिज्ञासा'। इस दर्शन में कर्म के तत्व पर गहराई से
विचार किया गया है। नीति-अनीति-पाप-पुण्य की
समस्याओं के गहरे विवेचन के साथ सामान्य कर्म के
धर्म मे परिवर्तन की तकनीक सुझाई गई है। इस
शृंखला की अतिम कडी है। उत्तर मीमांसा जिसके
सूत्रकार हैं ब्रह्मर्षि, बादरायण-व्यास। इसका सर्व
प्रचलित नाम वेदान्त है। जिसे ब्रह्मसूत्र भी कहा गया
है। इसके सूत्रों पर शंकर, रामानुज, माध्व जैसे भारतीय
आचार्यों से लेकर पालडायसन जैसे पश्चिमी विद्वान ने
टीकाएँ की है, जैसा कि इसके प्रथम सूत्र 'अथातो ब्रह्म
जिज्ञासा' से दर्शित होता है, इसका प्रधान विषय ज्ञान
और इसके साधनों का विवेचन है।

सांस्कृतिक ज्ञान के ये सभी देवदुर्लभ ग्रन्थ
संस्कृत में है और आज यह जनभाषा नही रह गई।
इनमें सँजोये प्रेरणा के प्रवाह से अमृत पुत्र 'वंचित न
रह जायँ, इसी कसक ने परम पूज्य गुरुदेव को इन्हें
लोक भाषा में अनूदित करने के लिए विवश किया।
इन तपोनिष्ठ ऋषि की लेखनी ने सहिता ब्राह्मण,
आरण्यक, उपनिषद्‌, पुराण, दर्शन आदि समस्त ज्ञ
सम्पदा में नई ऊर्जा और नए प्राण भरे। उनक
स्वानुभूति ने इसे युगानुकूल अर्थ गौरव दिया। ऋषियों
की चेतना ने इस अमर 'साधना' पर विभोर होकर उन्हें
वेदमूर्ति का गौरव दिया। उनके द्वारा सौंपी ज्ञान की
इस विरासत को हमारे हाथ लेने के लिए आतुर हो
उठें, आँखें पढ़ने के लिए ललक उठें, हृदय में उन

सत्यों को स्वीकारने के लिए व्याकुलता, जग पड़े और समूचा जीवन इस सांस्कृतिक ज्ञान का महोत्सव बन जाय। हम सबका जो स्वयं को उनकी सन्तान मानते हैं यही कर्तव्य है।

अनादि अनन्त जीवन प्रवाह का प्रतिपादक हिंदू अध्यात्म

भारतीय संस्कृति-हिन्दू अध्यात्म की एक-एक स्थापनाएँ व निर्धारण अपने में महत्वपूर्ण हैं किन्तु जो व्यक्ति की आत्मतत्व में आस्था बढ़ाती हुई सत्कर्म में निरत करने वाली प्रधानतम मान्यता है, वह है पुनर्जन्म संबंधी जो यहाँ से कालान्तर में विश्वभर में गयी। ऋषियों का यह सुनिश्चित विश्वास है कि इस मानव जीवन का उद्देश्य परमसत्ता के साक्षात्कार व मोक्ष प्राप्ति है। परन्तु एक ही जीवन में इस ध्येय की प्राप्ति सदैव नहीं होती, इसकी पूर्ति के लिए अनेक जन्म लेने पड़ सकते हैं। देहात्मवाद-भोगवाद यह सब नहीं मानता। "यावज्जीवेत सुखंजीवेत" वाला चार्वाक का सिद्धान्त तथा पश्चिम के लुक्रेशियस का "खाओ, पीओ, मौज करो" का सिद्धान्त यों कितने मानते हैं, यह नहीं कहा जा सकता परन्तु इस नीति पर चलते बहुसंख्य व्यक्ति देखे जाते हैं। काम तथा अर्थ में लिप्त भोगपरायण व्यक्तियों की प्रच्छन्न नास्तिकों की संख्या शरीर में बढ़ती दीख पड़ती है व आज की आस्था संकट की विभीषिका का मूलकारण भी यह प्रत्यक्षवाद, भोगवाद ही है, इसमें किसी को संदेह नहीं। निश्चित ही ऐसे में पुनर्जन्म संबंधी परलोकवादी चिन्तन व्यक्ति को अपने जीवन का उद्देश्य जानने व नैतिक आचरण में प्रवृत्त करेगा, अतः इस विचारधारा के व्यापक विस्तार की आवश्यकता आज सभी मनीषी समझते हैं।

मनुष्य इस धरती पर आता है परन्तु भोगेच्छा के वशीभूत हो कर्मों की गति के अनुसार भिन्न-भिन्न स्थितियों को प्राप्त होता है। ऋग्वेद में एक मंत्र में यह बात अलकारिक ढंग से बड़ी अच्छी तरह समझाई गयी है—

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजात।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वान्दत्यश्चन्यो अभिचाकशीति।

(ऋ १/१६४/२०)

अर्थात् "जीवात्मा तथा परमात्मा दो साथ रहने वाले सखा एक ही संसाररूपी वृक्ष की डाली पर बैठे हैं। जीवात्मा इस वृक्ष के फल को खाता है तथा परमात्मा खाता नही, दृष्टा मात्र बना बैठा है।" इस मंत्र में आत्मा के कर्मानुसार फल भोगने का स्पष्ट विधान बताया गया है। वृक्ष के फल में स्वाद लेना भोगेच्छा का द्योतक है। यही जीवात्मा की निर्बलता है। परमात्मा भोग से पृथक् केवल दृष्टा है। यह उसकी शक्ति है। पास में होने पर भी खाने की, रस लेने की आसक्ति प्रकट होते ही जीव का स्वत्व *जाता रहता है, शक्तिहीन वह हो जाता है व पराधीन* बनता, रोग-शोक का पतन का भोगी बनता चला जाता है। "अवश्यमेव भोक्तव्यं कृतं कर्म शुभाशुभम्" की उक्ति के अनुसार जीव को अपने अच्छे-बुरे कर्मों का फल भोगना पड़ता है तथा यह कर्म फल, फल न रहकर स्वयं एक कर्म बन जाता है। ऐसा कर्म जिसका फल फिर आगे मिलता है यह एक चक्र है।

हम जैसे कर्म करते है, वैसे ही संस्कार बनते हैं: और उन्ही संस्कारों के अनुसार हमे *आगामी शरीर* मिलते हैं। ऋग्वेद मे ऋषि कहते है—

ये ऊर्वांचरतां उ पराच आहुर्य परांचस्तां अर्वाचआहुः।

इन्द्रश्च या चक्रथुः सोन तानि धुरा न युक्ता रजसो वहन्ति॥ (१/१६४/१९)

अर्थात् "जो नीचे थे, वे ऊपर पहुँच जाते है और जो ऊपर थे, वे नीचे आ जाते है। इन्द्र अर्थात् इन्द्रियों का स्वामी जीवात्मा जिन कर्मों को करता है, वे धुरे की भाँति युक्त होकर इसे लोक-लोकान्तरों मे एक योनि से दूसरी योनि में ले जाते है।"

कितना स्पष्ट चिन्तन है ? इस जीवन मे जो भोगाकांक्षी रहा हो, मन में कामनाएँ भोगो को भोगने की रही हों पर वैसे अवसर न मिल पाए हों तो इच्छा शक्ति उस अगले जन्म मे भोगी-विलासी बनाती है चाहे वह पूर्व जन्म मे धर्म परायण साधक रहा हो। ध्रुव पूर्व जन्म में मुनि कुमार थे किन्तु राजा के बच्चो के साथ खेलते-खेलते राजसी भोग जीने की कामना ने उन्हें दूसरा जन्म राज परिवार में दिलवाया, जहाँ वे

अंततः नारद ऋषि के परामर्श को पाकर अन्तिम लक्ष्य पर पहुँचे। वासनाओ का ध्यान द्वारा यदि योगी शमन करता चले, उन्हे परिमार्जित करता चले तो कर्मों के बधन से मुक्त हो जाता है।

महर्षि अरविंद ने अपनी पुस्तक "रिबर्थ एण्ड इवॉल्युशन" मे लिखा है कि पूर्वकाल मे यह सिद्धान्त (पुनर्जन्म का) यूरोप मे "ट्रांरा माइग्रेशन" के नाम से जाना जाता था। इसका दार्शनिक विकास यूनानी सभ्यता के उत्कर्ष के समय "मेटमसाइकोसिस" नाम से हुआ। अब यही नाम रिइनकार्वेशन नाम से जाना जाता है। मै स्वय "रिबर्थ" शब्द को सही पर्यायवाची पुनर्जन्म का मानता हूँ क्योकि वह संस्कृत के विस्तीर्ण वर्णहीन परन्तु पर्याप्त अर्थ वाले शब्द पुनर्जन्म के अधिक समीप है। श्री अरविंद कहते थे कि प्रसिद्ध दार्शनिक-विज्ञानी पाइथागोरस महानतम वैदिककालीन मुनियों मे से थे। इससे पूर्व जन्म मे वे "बैरल ऑफ ट्राम" मे एटिनारिडनामक व्यक्ति के रूप मे जन्मे थे व एमियस के कनिष्ठ पुत्र द्वारा मारे गए थे। हेक्टर का विजेता 'ऐचिलिस' ही बाद मे मेसिडोनिया वासी फिलिप के पुत्र सिकन्दर (अलक्षेन्द्र) के रूप में जन्मा था, ऐसी महायोगी की मान्यता थी, जो उनने अपनी दिव्य दृष्टि से बनायी।

समय-समय पर पाश्चात्य विद्वानो ने भी पुनर्जन्म से अपनी सहमति जताई है। हक्सले कहते थे "केवल बिना सोचे-समझे निर्णय लेने वाले विचारक ही पुनर्जन्म के सिद्धान्त को मूर्खता की बात कहकर उसका विरोध करेगे।" वाल्ट विह्टमैन ने लिखा है "जीवन ! तुम मेरे अनेक अवसानो के अवशेष हो। इसमे कोई संदेह नही कि मै इसके पूर्व दस हजार बार मर चुका हूँ।" वर्ड्सवर्थ "इमिटेशन ऑफ इम्मारटेलिटी" में लिखते हैं–"हमारे साथ हमारे जीवन के नक्षत्र के साथ उदीयमान आत्मा का उद्‌भव अन्यत्र हुआ है, यह कही सुदूर से आई है।"

सुकरात कहते थे–"मृत्यु स्वप्न विहीन निद्रा है और पुनर्जन्म द्वार है।" प्लाटिनिस के अनुसार "नैतिक गुणो से जीवनयापन न करने पर मनुष्य मृत्यु के उपरात वृक्ष तक बन सकता है।" पाइथागोरस का भी यही चिंतन था–"साधुता का पालन करने पर आत्मा का जन्म उच्चतर लोको मे होता है और दुष्कृत आत्माएँ निम्न पशु आदि योनियो मे जाती हैं।" प्लेटो कामना को ही पुनर्जन्म का निमित्त कारण मानते थे। लिबनिज की यह मान्यता थी कि "पशुओं व मनुष्यों का उनके वर्तमान जीवन से पूर्व भी कोई अस्तित्व था तथा इस जीवन के बाद भी कोई अस्तित्व रहेगा, इसे स्वीकारना ही होगा।" हेगल के अनुसार "पूर्णता की ओर बढ़ती जीवात्माएँ यदा-कदा निकृष्ट कर्मानुसार प्रेत-पिशाच जैसी योनियो में चली जाती है।" लेसिंग के विचार उपनिषदो से मिलते हैं। उनके अनुसार प्रत्येक आत्मा पूर्णता के लिए सचेष्ट है और इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए इस धरती पर उसे अनेक जन्म लेने पड़ते हैं।

श्वेताश्वेतर-उपनिषद्‌कार कहता है–

त्वं स्त्री त्वं पुमानासि त्वं कुमार उत वा कुमारी।
त्वं जीर्णो दण्डेन वंचसि त्वं जातो भवसि विश्वतोमुखः॥ —४/३

अर्थात्–"हे जीव ! तू कभी स्त्री, कभी पुरुष कभी कुमार, कभी कुमारी होता है। कभी वृद्ध होकर लाठी के सहारे चलता है, इसलिये तू जन्म लेने वाला सर्वतोमुख है, नही तो तू तो साक्षात् परमात्मा स्वरूप है।" उपनिषदों मे कठोपनिषद बड़ा ही गूढ़ व सुविख्यात है। पंचाग्निविद्या जानने यमलोक के द्वार पर पहुँचने वाला नचिकेता कितना विलक्षण प्रतिभा व आत्मज्ञान संपन्न था कि पिता के यह कहने पर कि मृत्यु को तुझे देता हूँ व बाद में दु:ख करने पर वह कहता है–"सस्यमिव मर्त्य पच्यते सस्यमिवाजायते पुनः" (कठ. १/१-६) अर्थात् आप दुःख क्यो करते है ? यह शरीर तो धान्य की भाँति मरता है और उसी की तरह पुनः उग आता है।" बाद मे यही जिज्ञासु साधक प्रेय व श्रेय मे श्रेय को चुनता हुआ आत्मतत्व की व्याख्या यमराज से सुनकर अमरत्व को प्राप्त होकर आता है।

आर्यो को श्रेष्ठ चिन्तन वाला प्राणी माना जाता है। वे आत्मा की अमरता-गरिमा पर विश्वास रखते थे। गीता कहती है–

नैनं छिन्दति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः।
न चैनं क्लेयन्त्यापो न शोषयति मारुतः॥
अच्छेद्योऽयमदाह्योऽयमक्लेद्योऽशोष्यएवच।
नित्यःसर्वगतःस्याणुरचलोऽयंसनातनः॥
(२/२३ २४)

(इस आत्मा को न शस्त्र काट सकते है न आग जला सकती है, जल इसे गीला नही कर सकता, वायु इसे सुखा नही सकती क्योकि यह आत्मा अच्छेद्य है, अदाह्य, अक्लेद्य व अशोष्य है। यह आत्मा नित्य, सर्वव्यापी, अचल, स्थिर रहने वाला और सनातन है।) गीताकार का यह शाश्वत चिन्तन आत्मसत्ता की महत्ता व पुनर्जन्म की अनिवार्यता बताता है। मानवी चिन्तन व उसके कर्म पुरुषार्थ के परिप्रेक्ष्य में। योगेश्वर कृष्ण आगे कहते हैं—"जातस्य हि ध्रुवो मृत्युध्रुव जन्म मृतस्य च।" (२७/२ अ) अर्थात् "जन्मे हुए की मृत्यु निश्चित है और मरे हुए का जन्म निश्चित है।" स्वयं वे अपने बारे में व अर्जुन के विषय में इस ध्रुव सत्य को लागू करते हुए कहते हैं—

बहूनि में व्यतीतानि जन्मानि तव चार्जुन।
तान्यहं वेद सर्वाणि न त्वं वेत्थ परंतप॥

(४/५)

अर्थात्—"हे परंतप अर्जुन ! मेरे तेरे बहुत-से जन्म हो चुके उन सबको तू नही जानता किन्तु मै जानता हूँ।" शोक-क्लेश विशाद मे डूबे अर्जुन को इस ज्ञान की आवश्यकता तुरन्त थी, वह भी योगेश्वर स्तर के अवतारी पुरुष द्वारा अतः वे उसे अपने आने का उद्देश्य व उसका प्रयोजन समझाते है। इतने सुन्दर ढंग से यह सब कह दिया गया है कि गीताकार की शैली पर पुनर्जन्म की कर्मफल की मान्यताओ पर बिना किसी पाश्चात्य चिंतक की मोहर के विश्वास हो जाता है।

आगे तेरहवे अध्याय में भगवान कृष्ण कहते है कि "प्रकृति में स्थित पुरुष प्रकृति से उत्पन्न तीनों गुणों से प्रभावित रहता है, उनको भोगता है और इन गुणों का सग ही उसके सत्-असत् (देव, पितर, प्रेत, मनुष्य, पशु) आदि योनियो मे जन्म लेने का कारण बनता है।"

(अध्याय १३, श्लोक २१)

अत में भगवान कृष्ण कहते है देवताओ को पूजने वाले देवताओ को, पितरों को पूजने वाले पितरों को, भूतों को पूजने वाले भूतों को प्राप्त होते हैं और मेरा पूजन करने वाले भक्त मुझ को ही प्राप्त होते है। अर्थात्-वे किसी अन्यलोक में नही जाते और न उनका मर्त्यलोक में पुनर्जन्म ही होता है। अध्याय ९/२५ इसका कारण बताते हुए श्री कृष्ण कहते हैं—"क्योकि मैं कालातीत हूँ और ये सब ब्रह्मादि के लोक काल द्वारा सीमित होने से अनित्य है" (मामुपेत्य तु कौन्तेय पुनर्जन्म न विद्यते) अध्याय ८/१६। इसके लिए वे कृष्ण अर्थात् परमसत्ता की शरण में जाने का मार्ग बताते हुए अपनी ही शरण मे आने को कहते हैं, अपने कर्त्तव्यो को परमसत्ता के प्रति समर्पित होने की बात कहते है ("मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु" तथा "सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं ब्रज")।

(१८/६५/६६)

अन्याय संप्रदायो मे मरणोत्तर जीवन सबधी मान्यताएँ भिन्न-भिन्न हैं। सेमेटिक लोग (ईसाई, मुस्लिम, यहूदी) मृत शरीर को अधिक से अधिक समय तक मकबरे में सुरक्षित रखते है व उनका मत है कि आत्मा ताबूत में सोयी रहती है किन्तु निर्णय के दिन उठ बैठती है। मिस्र के देहात्मवादी तो शरीर को ही आत्मा मानते थे व ममी बनाने की प्रक्रिया द्वारा शरीर को अधिकाधिक सुरक्षित रखने का प्रयत्न करते थे। किन्तु अब क्रमश· चिन्तन सभी ओर भारतीय दर्शन प्रधान हो रहा है। थियॉसाफीस्ट्स का कहना है कि मनुष्य मरकर मनुष्य जन्म ही पाएगा और किसी योनि में नही जायेगा। भारतीय संस्कृति कहती है कि जीव का कोई स्त्री-पुरुष लिंग नही मनुष्य पशु-पक्षी आदि कोई जाति नही। वह तो अपने कर्मानुसार शरीर प्राप्त करता है और निश्चित कर्मो का उपभोग करके शरीर छोड़ देता है, फिर दूसरा शरीर प्राप्त करता है, जब तक कि वह बधनों से मुक्त नहीं हो जाता।

"यो यच्छ्राद्ध स एवसः"। इस सूत्र के द्वारा जीव की गति होती है, ऐसा गीताकार ने कहा है, जिसकी जैसी श्रद्धा है, वह वहाँ जायेगा, उसी का स्वरूप प्राप्त करेगा। कर्म में श्रद्धा वाले कर्म विधान की गति पायेगे, योगीयोग गति को प्राप्त करेगा, ज्ञानी ज्ञान स्वरूप से एकाकार होगा तथा भक्त भगवान को प्राप्त करेगा। जीव की गति कर्मो से बँधी बतायी गयी है। कर्मो की गति बड़ी गहन बतायी गयी है। वैयक्तिक रूप मे कर्मों के संस्कार चित्त पर स्मृति रूप मे या वासना रूप में पड़ते हैं, स्मृति दूसरे जन्म से बनी भी रह सकती है, नही भी होती किन्तु वासनात्मक संस्कारों में प्रबल प्रेरणा शक्ति होती है तथा यही विभिन्न योनियों के कारण बनते है। रागद्वेष-युक्त होकर, तृष्णा-वासनावश

संचित सस्कार साथ जाते है, चाहे वे शरीर से कर्म रूप मे हुए हो या मन से। इच्छा कोई नष्ट नहीं होती, वह कभी न कभी पूरी अवश्य ही होती है इसीलिए दुःख पैदा करने वाली भोगेच्छा से व्यक्ति को विरत रहने की शास्त्राज्ञा है। जो माँस खाना चाहता है वह कालान्तर मे कुत्ते, गीध, व्याघ्र, कृमि किसी भी योनि में जन्म ले सकता है। यह एक उदाहरण मात्र है।

सामूहिक कर्मो के प्रतिफल भी बड़े व्यापक होते है। हिंसक उन्माद अनैतिकता, अत्याचार आदि कर्मो के फल सामूहिक रूप में भोगने पड़ते है। आस्था सकट की प्रतिक्रिया युद्धोन्माद, भूकम्प, बाढ़, के सामूहिक दण्ड महामारी के रूप मे निकल सकती है। विचारों की दिशा को प्रवाह जिस दिशा में होता है, वैसी ही प्रतिक्रिया अदृश्य जगत से होती बतायी गयी है। न्यूटन का तीसरा नियम (धर्मोडायनेमिक्स) हर क्रिया-की समान व विपरीत प्रतिक्रिया सुनिश्चित होती है। एक अटल सिद्धान्त के रूप में परलोकवाद, मरणोतर जीवन, कर्मफल के प्रतिपादनों से जुड़ा हुआ है। प्रायश्चित्त कर्म का सिद्धान्त हिन्दू संस्कृति का प्राण है, जिसके माध्यम से पापकर्मो के कुपरिणाम नष्ट हो सकते है। हेमाद्रि संकल्प आदि की व्यवस्था इसीलिए हिन्दू धर्म में रही है।

एक सिद्धान्त अब पश्चिम जगत में भी जड़ पकड़ता जा रहा है कि आज पाए जाने वाले अधिकांश रोगो के मूल मे व्यक्ति के अशुभ चिंतन व पापपूर्ण कृत्य हैं, स्ट्रेस नामक व्याधि को पाप, अनीतिजन्य माना जाने लगा है तथा संक्षोभ-विक्षोभजन्य शरीर रोगों के सत्रासों को व्यक्ति को मिलने वाले दण्ड के रूप मे जाना जाता है। कन्फेशन का प्रावधान पश्चिम में भी है तथा अब ट्रांजेक्शनल एनालिसीस व साइक्रोइवेल्युएशन कौउन्सिलिंग द्वारा मनुष्य को अभी के व पूर्व के विभिन्न कर्मों की जानकारी-अनुभूति कराते हुए उसे सही चिंतन-जीवनक्रम की सलाह दी जाने की बात बड़े जोरों से की जा रही है। हिप्नोथेरेपी अब खूब प्रचलित है। पुनर्जन्म व पितर विधा के क्षेत्र में अनेक पाश्चात्य विशारद उतरे हैं व आत्माओं का आव्हान प्लेनचिट पद्धति से करने का प्रचलन १८८५ से चला आ रहा है। सर ऑलीवरलॉज, सरकुम्स तथा विलियम जेम्स ने इस संबंध में काफी शोध कार्य किया है। वी. वी. श्रेनेक ने अपनी पुस्तक "फिनामिना ऑफ मटेरियलाइजिंग" तथा स्वामी अभेदानन्द ने "लाइफ बियॉण्ड डेथ" में मृतात्माओं के चित्र देकर प्रमाण तक प्रस्तुत किये हैं।

पुनर्जन्म की अनेकानेक घटनाएँ परलोक विधा के मरणोत्तर जीवन के प्रतिपादनों के प्रमाणस्वरूप प्रस्तुत की जाती रही हैं। परम पूज्य गुरुदेव ने इस विषय पर विस्तार से विवेचन किया है। यहाँ उनकी ही एक पुस्तक से एक घटना दी जा रही है, जो इसकी साक्षी देती है। कर्नल डिरोचाज जो एक फ्रेंच गुह्यविज्ञानी थे, मेस्मेरिज्म व हिप्नोटिज्म में निष्णात् थे। वे पुनर्जन्म के संबंध मे भारतीय चिन्तन को मानते थे। एक फ्रेंच इंजीनियर की पुत्री मेरी मेव को सम्मोहन द्वारा अचेत कर उनने पहले उसे उसकी आत्मा का दर्शन कराया व क्रमशः धीरे-धीरे वर्तमान आयु से कम आयु की ओर चलने छोटी होने की न केवल अनुभूति करने सबको बताने को कहा। वह क्रमशः रंगीन प्रकाश की दिव्यज्योति के रूप मे आत्मा को तथा फिर अपनी हर आयु के घटनाक्रमों को बताने लगी। क्रमशः उन्होंने उसे पूर्व जन्म के शरीर मे पहुँचा दिया। उस बालिका ने बताया कि पूर्व जन्म मे वह ब्रिटेन के पूर्वी तट पर रहने वाली मछुआरे की लड़की लीना थी व विवाहोपरांत समुद्री तूफान में डूबकर वह मर गयी थी। इससे पूर्व के जन्म में जाने का निर्देश मिलने पर जैसे कि किसी वीडियो कैसेट को रिवाइण्ड किया जाता है, वह बताने लगी कि "बड़ा सघन अंधकार है। मुझे बड़ी तकलीफ हो रही है। मैं हूँ फ्रांस मे ही, पर यह समय लुई १८वे का है। पर मै तो पुरुष हूँ। मेरा मावील है। मैंने क्रान्ति में भाग लिया। कई व्यक्तियों को मारा। सारा दृश्य मुझे दिखाई दे रहा है। मेरे दुष्कर्मों का दण्ड मुझे भयकर पीड़ादायक बीमारी के रूप मे मिला। इससे तो अच्छा है कि मैं लड़की होती और फिर वही मृत्यु-घना अंधकार।" इतना कहकर वह गहरी बेहोशी मे चली गयी। इससे पूर्व के जन्मो मे जा. पाना संभव नही था। इस घटना द्वारा कर्नल डिरोचाज ने यह प्रमाणित किया कि आत्म चेतना का प्रवाह अनन्त है एवं वह लिंग से परे-देशकाल से परे वासनाओं से बंधा कही भी जन्म ले सकता है। यह मान्यता व यह घटनाक्रम योगवाशिष्ठ (३/५४/६७) के माध्यम से बड़े स्पष्ट रूप से परिलक्षित होती है—

न जायते म्रियते चेतनः पुरुष क्वचित् ।
स्वप्न संभ्रमवद्भ्रान्तते तत्पश्यति केवलम् ॥
पुरुषश्चेतनामात्रं स कदा क्वेव नश्यति ।
चेतन व्यक्तिरिक्तत्वे वदान्यत्कि पुमान्भवेत् ॥
कोऽद्य यावन्मृतं ब्रूहि चेतनं कस्य किं कथम् ।
म्रियन्ते देहलक्षाणिचेतनं स्थित भक्षयम् ॥

अर्थात्–"हे राम ! मनुष्य के भीतर जो चेतना है (आत्मा) वह न जन्म लेता है, न मरता है, भ्रमवश संसार की परिस्थितियों का स्वप्न की भाँति अनुभव मात्र करता है। मनुष्य मे चेतना के अतिरिक्त है ही क्या ? वह नष्ट कहाँ होता है ? यह शरीर तो मरते-जीते रहते हैं, आत्मा तो अक्षयस्थित होता है।

यह एक ही चिन्तन एक ही तत्वदर्शन आत्मा की शाश्वतता, चिरन्तनत्ता, अखण्डता का आज व्यक्ति का दिग्दर्शन करने में सक्षम है। जीवन का प्रवाह अनादि से अनन्त तक प्रतिपादित करने वाला देव संस्कृति का यह मार्ग दर्शन इतना अनुपम-अद्‌भुत है कि अर्नाल्ड टायनवी जैसे विद्वान ने दायसाकू इकेड़ा (सुप्रसिद्ध जापानी चिंतक मनीषी) से चर्चा के दौरान कहा है कि यह विश्वास व्यक्ति को आशावादी व कर्मपरायण तो बनाता ही है, साथ ही नैतिकता के मूल्यो की रक्षा भी करता है। वे कहते हैं कि ट्रांसमारग्रेशन के रूप मे बौद्ध व हिन्दू जिस विश्वास को मानते है, उसे अब पश्चिम के धर्म भी आत्मा के अमरत्व के रूप में स्वीकारने लगे है। मै यह मानता हूँ कि मनुष्य की शाश्वत आध्यात्मिक सत्ता उसके कर्मो से निश्चित ही प्रभावित होती है व हमें सभी को शुभकर्मो की प्रेरणा देनी चाहिए। (चूज लाइफ : ए डाएलॉग-ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस १९८७ से उद्धृत)।

आधुनिक विज्ञान ऋणी है देव संस्कृति का

क्रान्तियों के अविराम दौर को देखने और समझने वाले कल के महापरिवर्तन के बारे में विश्वस्त है। इस विश्वसनीयता ने सोच-विचार में रुचि रखने वालो के मन मे जिस जिज्ञासा को जन्म दिया है, वह है कल के जीवन की रूपरेखा उसका स्वरूप और संस्कृति। एक तरफ तर्कों और प्रयोगों की कसौटी पर तथ्यों को परखने वाला विज्ञान है। दूसरी ओर विश्वासों की बैसाखी पर टिके हुए विभिन्न धर्मों और सम्प्रदायों का समूह है। संवेदनशील हो सोचने वाले मानववादियों, दार्शनिकों का अपना वर्ग है, उनकी अपनी चिन्तन प्रणालियाँ हैं। कल की जिन्दगी इनमे से किसे चुनेगी ? अथवा किसमें वह सामर्थ्य है जो स्वयं को भावी-समाज के योग्य ठहरा सके। कुछ भी हो सवाल नवयुग की नयी संस्कृति की खोज का है।

शुरूआत से 'खोज' जीवन की मूलवृत्ति रही है। 'आवश्यकता आविष्कार की जननी है' के सर्व प्रचलित सिद्धान्त ने समय-समय पर अनेको उभार लिए है। आवश्यकता सभी को होती है-पशु हो या मनुष्य पर इनके स्वरूप में भेद हैं। पशुओ ने अपनी जिन्दगी की जरूरतो को पूरा करने स्वयं की वंश-वेलि को बचाए रखने के लिए कम खोजे नही कीं। प्राणिशास्त्र इसी के अध्ययन का इतिहास है। प्रकृति की सूक्ष्म हलचलो को पढ़ने मे सक्षम-चीटी, कुत्ते, संगठन करने वाली दीमक मधुमक्खी आदि के प्रयासो को देखकर दंग रहना पड़ता है। उनमे से अनेको की अतीन्द्रिय सामर्थ्य का लोहा मानने के लिए सभी विवश है। पर इतने पर भी पशु भी किसी सस्कृति का निर्माण नही कर पाए, क्योकि उन्होने स्वयं की प्रकृति और प्रवृत्ति मे परिवर्तन करने की न जरूरत महसूस की और न स्वय मे इसे कर सकने की सामर्थ्य का ही अनुभव किया। खोजी मनुष्य ने अपनी इसी विशेषता के कारण सभ्यताएँ निर्मित की, संस्कृतियाँ रची और जीवन को अनूठा सौन्दर्य प्रदान किया।

मनीषी स्टिच-स्टीफेन के ग्रन्थ रिसर्च एण्ड प्रोसेज के शब्दों मे कहें तो "इस विराट ब्रह्माण्ड मे शक्ति-चेतनता की अनेको धाराएँ अनेको स्तर है। इनमे से प्रत्येक स्वर का अपना वैभव अपनी उपलब्धियाँ हैं, खोज का अर्थ इनमें से किसी स्तर से अपना गहरा सामंजस्य बिठाना उसे मूर्त रूप देना है।" प्रत्येक खोज का जन्म आवश्यकता से उत्पन्न इच्छा मे होता है। इच्छा अपनी परिपक्व दशा में विचार और जिज्ञासा का रूप लेती है। जिज्ञासा के उपलब्धि की ओर बढ़ते कदम प्रक्रिया को जन्म देते है। प्रक्रिया की परिपूर्णता में सपना साकार हो उठता है। समय के

प्रवाह में मनुष्य की अंत प्रकृति और बाह्य प्रकृति में अनेकों परिवर्तन घटित होते रहते हैं। संसार का स्वरूप भी अपने मे व्यापक फेर-बदल करता रहता है। इन सारी उलट-फेर में फँसकर प्रक्रियाओं में परिवर्तन आना स्वाभाविक है। लेकिन उपलब्धि का सिलसिला वही रहता है। उदाहरण के लिए आग को ले, अग्नि तत्व सृष्टि के उदय काल से विद्यमान है। शुरूआत के दिनों इसकी जरूरत पड़ने पर मानव ने पत्थर रगड़कर इसे हासिल किया। तब से आज तक अग्नि उत्पादक प्रक्रियाओ में भारी अन्तर आ चुका है पर अग्नि वही है।

नृतत्व विज्ञानियों के अनुसार आज से हजारों साल पहले भी आदमी ने अपनी सभ्यता के गौरवपूर्ण शिखरों को छुआ है। जिन्दगी के व्यापक दायरे के हर बिन्दु पर उसने तरह-तरह के शोध अध्ययन किए। समग्र जीवन पद्धति को रचने वाली संस्कृति के निर्माण मे सफल हुआ। महायोगी अनिर्वाण के ग्रन्थ 'वेद मीमांसा' के अनुसार उसने अन्तः और बाह्य प्रकृति पर अनूठे प्रयोग किए। ऐसे प्रयोग जिनसे मनुष्य देवता बन गया और धरती स्वर्ग। समय के थपेड़ों और नई पीढ़ी की उत्तरदायित्वहीनता के कारण ढेर की ढेर प्रक्रियाएँ खो गईं। उन प्रक्रियाओ के खोने का परिणाम है कि मनुष्य आज न जाने कितनी उपलब्धियों से वचित है ? वर्तमान परिस्थितियाँ इतनी बदली हुई हैं कि वेदों के आख्यान-पुराणों के विवरण, शास्त्रों के वचन सुनने वालों को नानी की कहानी मालूम पड़ते हैं, जब कभी कोई ऋषि दयानन्द परमहस विशुद्धानन्द, उन तथ्यो को अपने जीवन मे प्रमाणित कर लोक-जीवन को झकझोरता है सभी थोड़े समय उसे कौतुक और आश्चर्य से देखते है। फिर उस व्यक्ति विशेष को अतिमानव का सम्मान दें अपने लिए असम्भव बता किसी गहरी नीद खोने लगते है।

इस 'असम्भव और आश्चर्यजनक' के पीछे झाँकने वाले तथ्यो को परखे तो प्रक्रियाओ का मौलिक अन्तर समझ पड़ता है। प्राच्य विद्या के विशेषज्ञ डा गोपीनाथ कविराज के अध्ययन "भारतीय सस्कृति और साधना" के शब्दों मे आज की शोध प्रक्रियाएँ जिन्हे विज्ञान की विभिन्न शाखा-उपशाखाओ का समूह कह ले विश्लेषण करने मे समर्थ बुद्धि की उपज है। देव संस्कृति के विभिन्न पक्षों की खोज के पीछे अन्तर्[illegible] सम्पन्न संवेदनशील मन को ढूँढा जा सकता है। इ[illegible] के जीवन में यदा-कदा ऐसे अवसर आ जाते हैं, ज[illegible] पुरानी शोध को नवीन मूल्यांकन से गुजरना पड़ता है। परिणति आश्चर्यजनक ढग से सुखद होती है। लेकिन पुरानी प्रक्रियाओं के खो जाने के कारण आधुनिक प्रयोगकर्ताओं को इस विवशता का सामना करना पड़[illegible] है कि ऋषि मुनि कहे जाने वाले शोध विज्ञानी द[illegible] और बहुमूल्य प्रयोगशालाओं के अभाव में इन निष्कर्[illegible] तक कैसे पहुँच सके, समस्या को सुलझा सकने [illegible] अक्षम बुद्धि को एक ही बात समझ में आती है कि इ[illegible] सब तथ्यों को संयोग कहकर चुप्पी साध लें। प[illegible] संयोग एक-आध हो सकते हैं। मानवीय ज्ञान के विविध क्षेत्रों में इनका भरा-पूरा सिलसिला इस बात को प्रमाणित करता है कि कहीं न कहीं तथ्यांकन की कोई प्रणाली अवश्य रही है, जो पुनर्मूल्यांकन के अप[illegible] मौलिक अधिकार के लिए गुहार लगा रही है।

चरक का आयुर्विज्ञान, वराहमिहिर, आर्यभट्ट की खगोल गणनाएँ, पतंजलि का मानसशास्त्र, गोरक्षनाथ की हठयोग प्रणाली, विभिन्न दार्शनिक पद्धतियों के सृष्टि और मनुष्य सम्बन्धी गहरे सर्वेक्षण प्रयोगों की कसौटी पर कसने पर यह मानने के लिए विवश करते है कि यह सब कल्पना लोक की उड़ाने नहीं हैं। त[illegible] क्या इन सबके पास आज सी सुसज्जित प्रयोगशाला[illegible] थी जिनका न तो उल्लेख मिलता है न अवशेष ? इस प्रश्न का सुसगत उत्तर इतना ही है कि प्रयोगों की प्रणाली तो थी पर आज से भिन्न। उन दिनों प्रारम्भ से ही अपनी अन्त. प्रकृति को तरह-तरह के गम्भीर प्रयोगों द्वारा इस लायक बना दिया जाता था कि वह सृष्टि के विभिन्न रचनाक्रमो और इसकी उपादेयता का सम्यक् ज्ञान अर्जित कर सके। ऐसे शोधार्थी के रूप में चरक और उनके सहयोगी किसी पौधे के प्राण स्पदनों से अपने अन्तर्बोध सम्पन्न मन को एकाकार करके पौधे की गुणवत्ता, उसके भाग विशेष की रोगनिवारण की विभिन्न क्षमताओ का ज्ञान अर्जित कर लेते थे। परीक्षणो का व्यापक सिलसिला प्रयोगो की गुणवत्ता को शत-प्रतिशत ठीक ठहराता था। यही कारण है कि आयुर्वेद के प्राचीन ग्रन्थों मे पौधों के गुण-स्वभाव उनके विभिन्न भागो की रोगनिवारक सामर्थ्य-प्रयोग

विधि का योरेवार विवरण तो मिलता है, पर पौधे के रासायनिक संगठन और सूक्ष्म विश्लेषण का अभाव है।

यही बात ज्ञान की अन्य धाराओं के सन्दर्भ में है। प्राचीन ज्ञान की प्रायः सभी शाखाओं-उपशाखाओं की उपलब्धि में प्रक्रिया का यही स्वरूप दिखाई देता है। इसका एक ही कारण है इसकी सर्वतोजयी प्रामाणिकता प्राचीन शास्त्रों में ज्ञान की चार विधियों का उल्लेख मिलता है। इन्द्रियानुभूति द्वारा अन्तर्बोध सम्पन्न मन से, विश्लेषण क्षमता सम्पन्न बुद्धि से और गहरे आत्मिक तादात्म्य द्वारा। आधुनिक समय में ऋषि अरविन्द 'लाइफ डिवाइन' मे इसी अन्तिम विधि को श्रेष्ठ बताया है। देव संस्कृति को जन्म देने वाले इस विधि में निष्णात् थे। यही कारण है उन्होंने इस उत्कृष्ट विधि के रहते निम्न विधियों का कम ही प्रयोग किया है।

आज का विज्ञान और वैज्ञानिक ज्ञान की जिस विधि का प्रयोग करते हैं, वह है बौद्धिक विश्लेषण प्रणाली। जिसका सहायक तत्व उनकी प्रयोगशाला मे प्राप्त होने वाला इन्द्रिय अनुभव होता है। इतने पर भी अन्तर्ज्ञान सम्पन्न मन की सहायता जरूरी होती है। हाँ उसका प्रायोगिक विश्लेषण की कसौटी पर खरा उतरना जरूरी समझा जाता है। सहज है किसी के मन में सवाल उठ खड़ा हो क्या देव संस्कृति की चिन्तन सम्पदा आज के विज्ञान सम्मत प्रयोगों और तर्क प्रवण वैज्ञानिक मन को प्रभावित करने अपने को प्रमाणित ठहरा सकने में समर्थ हैं। इस सवाल के जवाब में आधुनिक विज्ञान-सर्वश्रेष्ठ विज्ञानियों की अनुभूतियों का उल्लेख कही अधिक समीचीन होगा।

ऋषियों की चिन्तन-सम्पदा के वेदान्त दर्शन ने क्वांटम भौतिकी के वैज्ञानिक पारनर हाइजनबर्ग की सोच में व्यापक उलट-फेर कर दी। क्या यह दार्शनिक चिन्तन किन्ही अनुभूतियों पर आधारित है ? क्या इनको आधुनिक विज्ञान के द्वारा परख सकना संभव है ? इन महत्वपूर्ण सवालो को लेकर हाइजनबर्ग सन् १९२९ में भारत आए। विश्वकवि रवीन्द्रनाथ टैगोर से इस चिन्तन के विशेष बिन्दुओं पर गम्भीर चर्चा की और वापस लौटकर अपने प्रयोगो में जुट गए। कुछ ही समय बाद उन्होंने भौतिकी जगत को "अनिश्चितता का सिद्धान्त दिया। और कुछ [illegible] तत्व की व्याख्या है कि पदार्थ का स्वरूप प्रतिक्षण अनिश्चित है। उन्होने अपने ग्रन्थ 'फिजिक्स एण्ड फिलासफी' में यहाँ के चिन्तन से स्वयं के प्रभावित होने का मार्मिक वर्णन किया है। नील्सबोर और इरविन श्रोडिंजर के स्वरो मे भी यही गूँज सुनाई देती है। श्रोडिंजर वेदान्त में वर्णित प्रकृति के अनिश्चित स्वरूप की व्याख्या के आधार पर अपना आणविक अध्ययन करने मे लगे थे। प्रयोगों से प्राप्त निष्कर्ष मे उन्हे हतप्रभ हो कहना पड़ा "अरे ! सचमुच नाम रूप से अजूवा लगने वाला संसार कुछ तरगो की हलचल भर है।" उनके प्रयोगो के इस निष्कर्ष ने वेक्स मेकनिक्स का रूप लिया।

विज्ञान के क्षेत्र में आइंस्टीन और हाइजनवर्ग के प्रतिमानो को पार करने वाले जियोफेरी च्यू ने बूट स्ट्रैप का अनोखा सिद्धान्त दिया है। इसमे हाइजेनवर्ग की क्वांटम मैकेपिक्स और आइंस्टीन की सापेक्षता दोनो के तत्व समाएँ है। इसके अनुसार प्रकृति के मौलिक तत्व को विघटित नही किया जा सकता। वस्तुओ का अस्तित्व उनके गुणों और अन्यों के साथ उनके गहरे ताल-मेल के कारण है। यह तालमेल जहाँ विभिन्न शक्तियों के आपसी सहयोग का बोध कराता है, वही इनकी अभिन्नता और एकता का ज्ञान देता है। विज्ञानी च्यू से जब भौतिकविद् काप्रा ने इस प्रयोग के सन्दर्भ मे चर्चा की तो उन्होने हँसते हुए कहा जब वह सन् १९६९ मे सपरिवार भारत आने की तैयारी कर रहे थे। इस तैयारी के दौरान उनके लड़के ने बौद्ध महायान का एक ग्रन्थ उनके हाथ में दिया। इस ग्रन्थ में वे सारी बातें कही गई थी जिन पर वे विचार कर रहे थे। उन्हें स्वीकार करना पड़ा कि उनके प्रयोग भारत की सास्कृतिक ज्ञान का सत्यापन भर है।

च्यू की भाँति डेविड बोम के प्रयोगो का निष्कर्ष-अखण्डित पूर्णता वेदान्त का एक रूप है। इसे स्वीकार करते हुए उन्होने बताया कि सन् १९७४ मे उनकी मुलाकात भारतीय दार्शनिक जे कृष्णमूर्ति से हुई। कृष्णमूर्ति के विचारो ने उन्हें पूर्वी तत्वचिन्तन को वैज्ञानिक कसौटी पर कसने के लिए प्रेरित किया। इस प्रेरणा और प्रभाव ने ही भौतिक विज्ञान को 'अनब्रोकेन होलनेस' का अभिनव सिद्धान्त दिया।

ऋषियो के चिन्तन के प्रभाव विज्ञान की किसी शाखा विशेष तक सीमित नही है। अन्य शाखाएँ और उनके अध्येता इसकी प्रेरणा और प्रभाव को ग्रहण कर विज्ञान के क्षेत्र में कुछ नया दे सके है। "स्टेप्सट्एन इकॉलाजी ऑव माइन्ड" की रचना करने वाले ग्रेगरी बैटसन अपने प्रयोगो मे मन को एक नए रूप में जान सके। उन्ही के शब्दो मे "माइन्ड विदआउट नर्वस सिस्टम" की धारणा पूर्वी चिन्तन से प्राप्त हुई। इसी प्रकार मनोविज्ञान के क्षेत्र में क्रान्ति लाने वाले आर. डी. लेग से फ्रिटजोफ काप्रा ने लन्दन मे मुलाकात कर उन्हें अवगत कराया कि वह पूर्वीतत्व चिन्तन और आधुनिक विज्ञान का समन्वय कर रहे है। लेग ने हल्की मुस्कराहट के साथ कहा- समन्वय की वात नही पूर्वी चिन्तन पूर्णतया वैज्ञानिक है। वह स्वय योग और ध्यान का अभ्यास करते है। इसी तत्व-चिन्तन की प्रेरणा से वह ह्यूमिनिस्टिक साइकोलॉजी की धारणा दे सके है।

आर. डी. लेग की तरह स्टेनग्रोफ की रीलय ऑव ह्यूमन कांशसनेस मे कार्ल गुस्ताव जुंग के प्रयोगों राबर्टो असमोली की साइकोसिन्थेसिस मे भारत की सास्कृतिक चिन्तन के प्रभाव स्पष्ट दिखाई देते हैं। इन प्रभावो का विस्तृत अध्ययन इतना व्यापक होगा, जिसके लिए अनेकानेक शोध ग्रन्थों के कलेवर छोटे पड़ जायँ। बात इन कतिपय उदाहरणों और छुट-पुट प्रयोगो की नही समस्त संस्कृति की है, जो आज भी समीचीन और सम-सामयिक है।

इसे ऋषि सन्तानों का हतभाग्य ही कहें कि उन्होने अपना यह वैभव भुला दिया। इस विस्मृति का ही परिणाम है, अपनी प्रतिभा से विश्व मनीषा को चमत्कृत कर देने वाला देश आज ज्ञान सम्पदा के लिए याचक है क्योंकि उसमे उस सत्यनिष्ठ शैली और लगनशीलता का अभाव है, जो ज्ञान को अपना अनुगमन करने के लिए बाध्य करती है। इसे आश्चर्य ही कहेगे कि समूचे देश के सिर पर शोध प्रबन्धो के गट्ठरो का बोझ प्रतिवर्ष बढ़ते जाने के बावजूद जीवन की समस्याएँ उलझी है। समाज के प्रश्न अनुत्तरित हैं। फिर शोध क्या और किसकी ?

विज्ञान जिस कारण अपने को लोक विख्यात बना सका है। वह है उसकी सत्यनिष्ठा। इतने पर भी वह संस्कृति नही रच सका और न भविष्य में रच पाने में समर्थ है क्योंकि उसकी अपनी सीमाएँ है, उसने जीवन के अधूरेपन को छुआ है। अर्थ और काम के यत्किंचित पहलू ही उसकी समझ और पकड़ में आए हैं। व्यक्ति और समाज की गहराइयों को छूने वाले धर्म और मोक्ष की पद्धतियाँ उसके बौने हाथों से दूर है। क्रियापरायणता के बावजूद संवेदनाओं का मृदुल स्पर्श उसे नही मिल सका। यही कारण है कि आइंस्टीन जैसे विज्ञानविदों को संवेदनाओं की इस अनुभूति के लिए धर्म की आवश्यकता और पूर्वी चिन्तन की उपादेयता पर बल देना पड़ा।

सत्य है जीवन जितना व्यापक है संस्कृति को उतना व्यापक और समग्र होना पड़ेगा और यह व्यापकता और समग्रता देव संस्कृति का सहज धर्म है। आवश्यकता इसकी युगानुकूल प्रक्रियाओ के अध्ययन और निर्माण की है। जिसके लिए युग ऋषि की पराचेतना से संचालित ब्रह्मवर्चस शोध-संस्थान कृतसंकल्प है। यहाँ देव संस्कृति के विभिन्न पक्षों का गम्भीर शोध अध्ययन सम्पन्न किया जा रहा है। जिसके निष्कर्ष-नवयुग के नए मानव को जीवन का नया विधान दे सकेगे। उसे अपनी देव सस्कृति का ऐसा युगानुकूल वैभव प्राप्त हो सकेगा, जिसकी वह चिरकाल से खोज कर रहा है।

सभी विचारधाराओं के मूल में हैं, विश्व संस्कृति के चिन्तन-स्वर

आज की विपन्नताओ का क्या हल है ? यह सवाल दुनिया के न जाने कितने प्रतिभासम्पन्न मस्तिष्को मे उधेडबुन मचाए है। उन्हें समझ नही पड़ रहा कि सुविधाओं से भरे-पूरे युग मे वह अभावग्रस्तता कहाँ से उपज पडी, जिसके कारण हर कोई उचित-अनुचित कर गुजरने के लिए आकुल-व्याकुल है। समस्याएँ-उलझने और विपत्तियाँ अपने-अपने ढग से सभी को हैरान-परेशान कर रही है। चिन्ताएँ आशकाएँ जन-जन के मन को आतकित किए हुए हैं। देश और दुनिया मे आज जो कुछ हो रहा है—उसे बताने के लिए दो ही शब्द काफी है—अशुभ और अनुचित।

मोटी दृष्टि से जिन्दगी की बहुरूपिया समस्याओं के अनेक कारण और उनके भिन्न-भिन्न हल समझ पड़ते हैं। पर एरिक फ्राम के ग्रन्थ "मैन फार हिमसेल्फ" के शब्दों में गहरे उतरने पर एक ही अति स्पष्ट और निर्विवाद कारण उभरता है–विचारों की टकराहट, जिसके कारण इन्सानी जिन्दगी चिथड़े होने के लिए मजबूर है। इसी वजह से मानव जाति पर अर्ध-विक्षिप्तता का दुर्भाग्य टूट पड़ा है। जिसके चंगुल में फँस जाने के कारण छोटे से लेकर बड़े तक के सिर पर अपने-अपने ढंग की सनकें सवार हैं। हर एक के अपने मत-मान्यताएँ और आग्रह हैं। अपनी ढपली-अपने राग का भोंडा प्रदर्शन करने में जुटे समाज के लिए एक मात्र समाधान है–सामंजस्य का शिक्षण। राष्ट्र हो या व्यक्ति प्रत्येक के मूल स्वर की रक्षा करते हुए उसे विश्व मानवता के पुष्पहार में पिरो देना।

उद्देश्य कितना भी श्रेष्ठ हो—पर कार्य दुष्कर है। जब कभी पहले मनुष्य ने संस्कृति का निर्माण किया था–वसुधा को कुटुम्ब बनाने के सपने सँजोए थे, उस समय बुद्धिवाद का बोलवाला न था। इन्सान भाव प्रवण था। हर किसी को एक-दूसरे से सामंजस्य बिठाने की धुन थी। पहले हर पाँव एकता की ओर उठता था। आज उसकी गति अलगाव-बिखराव की ओर है। लेकिन पाल ओपेन हाइमर की पुस्तक 'द बर्थ ऑव मार्डर्न माइन्ड' के विचारो के साथ सोचें-तो "बिखराव कितना ही व्यापक और समर्थ क्यो न हो उसे किसी न किसी एकता से ही उपजना पड़ता है। इतना भर नही उसके चरमोत्कर्ष का अन्तिम परिणाम भी एकता मे विलय है।"

एकता की यह डोर काफी उलझी हुई जरूर है। लेकिन अगर इसे पूरे मनोयोग से सुलझाने की कोशिश की जाय तो परेशानी के बावजूद सफलता के चिन्ह दिखाई पड़ते हैं। यह सच है कि संसार में अनेक नृवशों के लोग हैं, जो आपस में एक-दूसरे से नही मिलते। जिनके धर्म अलग-अलग हैं। जिनकी आदतों और आचारों में कोई समानता नही है। लेकिन दुनिया के मतो, विचारों का गहराई से किया गया सर्वेक्षण उससे बड़े सच को प्रकट करता है। ये सभी मिलकर किसी एक के प्रति अपना सिर सम्मान से झुका रहे हैं। कोई एक जगह ऐसी भी है, जहाँ सभी विचार अपने सारे विरोध छोड़कर एक होने के लिए लालायित हैं।

यह एक जगह कौन-सी है ? इस बारे मे यदि हम प्रो. मैक्स मूलर से सवाल करे तो उन्ही के शब्दो में उनका जवाब है "मैं सीधा सकेत भारत की ओर करूँगा —क्योकि नीले आसमान के नीचे यही वह भू-भाग है, जहाँ विचार समग्र रूप से विकसित हुए है।" सैयद महमूद ने इस एक स्थान की खोज मे मुहम्मद पैगम्बर के शब्दों का उल्लेख "हिन्दू मुस्लिम कल्चरल एकार्ड" मे किया है। पैगम्बर के शब्द हैं "मै हिन्द की तरफ से आती हुई ठण्डी हवाओ को महसूस करता हूँ।"यह शीतलता विचारो के सामंजस्य की है, जिसका स्पर्श मानव मन की समस्त स्नायुविक उत्तेजनाओ को शान्त करता है। सहीहू मुस्लिम में अबू होरैरा ने कहा है कि पैगम्बर ने कुछ स्वर्ग की नदियो का जिक्र किया है, जिनमें से एक भारतीय नदी का नाम है। इब्ने हातिम ने अली का प्रमाण देते हुए कहा है कि हिन्द घाटी मे आदम बहिश्त से उतरा था। चौथे खलीफा का कहना था कि भारत मे सबसे पहले किताबें लिखी गई और बुद्धि ज्ञान का प्रसार भी यही से हुआ।

इस देवभूमि मे उपजे विचार सभी को इतने अपने और लुभावने लगे कि किसी को इन्हे अपनाने मे कभी संकोच नही करना पड़ा। स्वयं मुहम्मद साहब ने तोबा, सुन्दास और अबलाई जैसे संस्कृत शब्दो का प्रयोग किया है। शब्दो की तरह विचारो और सिद्धान्तो की ग्रहणशीलता इस्लामी दर्शन मे प्रचुर मात्रा मे बिखरी पड़ी है। जाग्रत स्वप्न सुषुप्ति और तुरीय कठोपनिषद् मे निरूपित ये चार अवस्थाएँ यहाँ चार मंजिलो के नाम से प्रसिद्ध हैं। जाग्रत अवस्था को इस्लामी चिन्तन में नासूत स्वप्नावस्था को मलकूत सुषुप्ति को जबरूत और तुरीय को लाहूत कहा गया है तुरीयावस्था की सोऽहमस्मि का अनुभव चतुर्थ मजिल लाहूत का अनलहका का अनुभव है।

इसी प्रकार भारत के सांस्कृतिक चिन्तन और इस्लामी दर्शन के अनेकों सिद्धांतो मे केवल नाम का ही अंतर है उदाहरण के लिए यहाँ के दार्शनिक चिन्तन का अद्वैत, इस्लाम में तौहीद, परम सत्य-इस्लाम का 'मुतलक' 'सत्यस्य सत्यम्' इस्लाम मे 'हकीकत उल हकाहक' और ज्योति को इस्लाम में नूर-उल-नूरिन कहा है। जिस प्रकार यहाँ के आर्षग्रन्थो मे ईश्वर को सर्वव्यापी और अन्तर्यामी कहा है, उसी प्रकार इस्लामी

चिन्तन मे ईश्वर को 'बातिन' और 'जाहिर तथा मुदत' और 'सादी' बतलाया है। विचारो की घनिष्टता और पारस्परिक साम्य कही गहरे मे मधुर सम्बन्धो को और भविष्य की किसी उज्ज्वल सम्भावना को व्यक्त करती है। ब्राउन मैक्सहार्टिल और गोल्ड जीहर आदि अनेको पाश्चात्य विद्वानो ने अपने गहरे अध्ययन के बाद विश्वास जताया है। इस्लाम विचारधारा के प्रमुख तत्व भारतवर्ष के लिए गए है (हिस्ट्री ऑफ फिलासफी इस्टर्न एण्ड वेस्टर्न खण्ड-१/५/५०२) अरब युग मे बहुत-से प्रमुख भारतीय ग्रन्थो का फारसी और अरबी मे अनुवाद हुआ। अलकिण्डी ने भारतीय धर्मों पर एक पुस्तक लिखी, सुलेमान और अलमसूदी ने भारत के विषय मे सूचनाएँ इकट्ठी कर लिपिबद्ध किया तथा अलनदीय, अलशरी, अलबेरूनी एवं अन्य लोगो ने अपने यात्रा विवरणो मे भारत के दार्शनिक विचारों का विस्तार से वर्णन किया है। साहित्य-विज्ञान और दार्शनिक चिन्तन इन तीनो ही क्षेत्रो मे इस्लामी जगत भारतीय जीवन और विचारधारा से प्रभावित हुआ है। मुण्डकोपनिषद ने इस तथ्य का रहस्योद्घाटन करते हुए सही ही लिखा है—

यथा नद्यः स्यंदमानाः समुद्रोऽस्तं गच्छन्ति नामरूपेविहाय।

तथा विद्वान नाम रूपाद्विमुक्तः परात्परं पुरुषमुपैतिदिव्यम्॥ (-मु उप. ३/२/८)

अर्थात् "जिस प्रकार नदियाँ अनेक मार्गो से बहती हुई समुद्र में जाकर विलीन हो जाती है और उनके नाम रूप के भेद मिट जाते है, उसी प्रकार विद्वान अपनी-अपनी रुचि और अधिकार के अनुसार क्रमश. नाम-रूप सहित एक ही सत्यरूप परमात्मा मे लीन होते है।"

बात किसी एक मत या पंथ की नही है। जिसने भी यहाँ की वैचारिक सवेदना का स्पर्श पाया-वही इससे एक होता गया। सर चार्ल्स इलियट के ग्रन्थ "हिन्दुइज्म एण्ड बुद्धिज्म" के पन्ने पलटे तो पता चलता है भारत के रहस्यवादी विचार सूफी मत के माध्यम से यहूदी रहस्यवाद में पहुँच गए जो—'कब्बाला' कहलाते है। यह कब्बाला मिश्र और पश्चिम एशिया में विकसित होकर यूरोप मे भी जा पहुँचा। कब्बाला के बहुत-से लक्षण जैसे-देवताओ की दशाएँ और निर्गमन, पिण्ड और ब्रह्माण्ड के सम्बन्ध सिद्धान्त आश्चर्यजनक रीति से-भारतीय तंत्र दर्शन से प्रभावित हैं। इस प्रभाव का निश्चित पता तो पुनर्जन्म और सर्वेश्वरवादी सिद्धान्तों से चलता है। सर्वोच्च-देवत्व अथवा ईश्वर "एन-साफ" कहलाता है—जिसका अर्थ अनन्त अज्ञेय और वर्णनातीत है। इसके बारे में जो कुछ कहा गया है वह इलियट के शब्दों में उपनिषदों के सार वाक्य है।

उपनिषदों का भाव सदेश-किस प्रकार दुनिया के हर कोने तक पहुँचता-फैलता गया ? इसके विषय में आधुनिक पीढ़ियों को शायद कल्पना भी न उभरे। इसके व्यापक प्रसार को साधन भाषण देने वालों की कुशलता, मिशनरी लोगो द्वारा किए जा रहे प्रलोभन के भाँति-भाँति के प्रयोगों जैसी कुछ न होकर अपनत्व का बोध कराना रही है। विचारों की प्रामाणिकता, उत्कृष्टता, इनकी जीवन में सार्थकता स्वयं अपनी व्यापकता का कारण बनी है। व्यक्ति अथवा समूह की बैसाखियाँ इसने कभी नही स्वीकारी। इसी आश्चर्य से अभिभूत होकर ए. ए. मैकडोनल 'ए हिस्ट्री ऑफ संस्कृत लिटरेचर" में कह उठा "विश्व के सांस्कृतिक मच पर यदि कोई सबसे महत्वपूर्ण घटना मानी जा सकती है तो वह है संस्कृत साहित्य की जानकारी।" एन. ए नोटोविक ने अपनी पुस्तक 'अननोन लाइफ ऑव जीससक्राइस्ट' मे इस तथ्य का सत्यापन किया है कि "भारत भूमि के विचारो और साधना पद्धतियों ने इस ईश्वर पुत्र के हृदय मे इतना गहरा आकर्षण उत्पन्न किया कि वे सोलह वर्षो तक यहाँ के ब्राह्मणों और साधुओ के साथ रहे।" नोटविक ने जिस गहरे सत्य की शोध की है उसका निष्कर्ष बहुतो को आश्चर्यजनक लग सकता है। पर संस्कृत साहित्य मे संजोई विचार सम्पदा ने न जाने कितने यूरोपीय विद्वानों को इसके अध्ययन के लिए अपना जीवन समर्पित करने को विवश किया है। इस सर्वप्रचलित और बहुपरीक्षित तथ्य से सभी सहमत है।

चार्ल्स विल्किंस इस परम्परा का पहला व्यक्ति था। जिसकी प्रशसा करते हुए संस्कृत पाण्डित्य के जन्मदाता एच. टी. कोलब्रुक ने कहा है कि पाइथागोरस से लेकर उस समय तक ऐसा कोई विदेशी विद्वान नहीं रहा जिसने विल्किस की तरह यहाँ के विचारों को आत्मसात न किया हो। विल्किंस ने हितोपदेश,

भगवद्‌गीता, महाभारत के शकुन्तलोपाख्यान सहित अन्य कई रचनाओ का भावपूर्ण अनुवाद किया। वेल्किन्स की परम्परा में विलियम जोन्स, बर्क, गिबन, थोरीडॉन, गैरिक और जानसन जैसे अनगिनत विचारों के उपासक दीक्षित होते चले गए। यूजीबरनाफ ने अपनी गहनशोध के द्वारा अवेस्ता के नियमो पर भारत के सांस्कृतिक बोध की छाप प्रभावित की। अध्ययन की इस परम्परा मे उसने एक शिष्य को गढ़ा। मैक्समूलर के नाम से विख्यात इस शिष्य ने अपने गुरु की भावनाओं का कितना सम्मान किया यह किसी से छुपा नही है।

जर्मनी के विचारक तो भारतीय विचारशीलता की गहरी अनुभूति कर स्वयं के जीवन की सार्थकता पर विभोर हो उठे जार्जफास्टर ने जब लोक विख्यात मनीषी हर्डर को, शाकुन्तल का जर्मन अनुवाद भेजा तो वह कह उठा "मानव मस्तिष्क की इससे अधिक आनन्दप्रद और कोई कल्पना मुझे नही मिली — पूर्व का एक विकसित पुष्प, सुन्दरता में बेजोड़। उसने शाकुन्तल का विश्लेषण करते हुए दावा किया कि इस कृति से यह प्रचलित विश्वास अमान्य हो जाता है कि नाटक का आविष्कार प्राचीन ग्रीकों ने किया है। जर्मन कवि गेटे ने शाकुन्तल के बारे मे अपनी अनुभूति लिखी यह मेरे जीवन के एक अति महत्वपूर्ण युग का प्रतीक है।

अठारहवी सदी में जर्मनी मे भारतीय साहित्य को पढ़ने-समझने की ऐसी ललक पैदा हुई कि चिन्तको के समूह जैसे सामान्य जन तक यहाँ तक कि समयाभाव से ग्रसित राजनीतिज्ञ भी इसे पढ़ने और जीवन मे अपनाने की आतुरता न रोक सके। विटरनित्ज की 'ए हिस्ट्री ऑफ इण्डियन लिटरेचर' के पृष्ठों से पता चलता है कि फान, थीलिमान, रोजन साल्फ और विल्हेनवान आदि राजनीतिज्ञ अवकाश मिलते ही देव सस्कृति के चिन्तन सूत्रो मे अपने को खोने लगते थे। हम बोल्ट ने भगवत्‌गीता को पढ़ने के बाद अपनी अनुभूति व्यक्त करते हुए कहा कि वह परमात्मा को जीवन प्रदान करने के लिए धन्यवाद देता है क्योकि इस कारण ही उसे भगवत्‌गीता जैसा उत्कृष्टतम विचारकोश अध्ययन के लिए मिल सका।

प्राच्य विद्याविदों, सामान्य अध्येयताओ की ही भाँति पश्चिम के दार्शनिकों ने भी ऋषि संस्कृति के चिन्तन के प्रति स्वयं को ऋणी माना है। शोपेनहार, विक्टर कजिन, पालडायसन, श्लेगिल आदि पश्चिमी तत्ववेत्ताओं ने अपने तत्व चिन्तन मे ऋषियो की विचारधारा को पूरे गौरव के साथ अभिव्यक्त किया है। कई जगह तो सिर्फ शब्दो की फेर बदल भर दिखाई देती है। मनीषी टामलिन इसे स्वीकारते हुए कहते है 'शांकर दर्शन की दिशा लगभग वही थी' जिसे बाद मे जाकर काण्ट ने अपनाया। मैक्स मूलर के ग्रन्थ "थ्री लेक्चर आन द वेदान्त फिलासफी" पढ़ें तो पता चलता है कि उपनिषदो ने जिस ब्रह्म का प्रतिपादन किया है, उसी को स्पिनोजा ने "सबस्टेशिआ" 'स्वतन्त्रतत्व' नाम दिया है। इसी तरह शंकराचार्य की 'माया' को लाइबिनज ने 'मैटेरिया प्राइम" कहकर स्वीकार किया है। फिक्ते ने इसी को अपने चिन्तन में 'अंसटास' नाम दिया है। इसी तत्व को शेलिंग ने अपने दर्शन मे 'डार्कग्राउण्ड' कहकर उल्लेख किया है। शोपेनहावर का संकल्पवाद-छान्दोग्य उपनिषद् के ७/४/२ अंश की व्याख्या भर है। छान्दोग्य उपनिषद् के इस अंश मे सकल्प को ब्रह्म रूप देते हुए कहा है कि जो इस संकल्प ब्रह्म की उपासना करता है, वह भगवान के रूप को प्राप्त करता है।

विभिन्न रूपों में—विभिन्न पद्धतियो में—विभिन्न देशों में देव संस्कृति के ये सभी चिन्तन स्वर जिस एक बात का उद्‌घोष करते है वह है उसका अपनत्व और यही वह पृष्ठ भूमि है। जो इसे विश्व संस्कृति का गौरव प्रदान करेगी। संस्कृति का उद्देश्य हृदय पर अधिकार पाना है और हृदय की राह समरभूमि की लाल कीच नही सहिष्णुता का शीतल प्रदेश है, उदारता का उज्ज्वल क्षीर समुद्र है। ऋषि-चिन्तन की वही उर्जस्विता विश्व मानव को वैचारिक सघर्ष से मुक्ति देगी। कल का भविष्य जिस महानतम आश्चर्य को साकार करेगा वह है ससार की सभी विचारधाराओ का अपने मूल स्वर से सामंजस्य। इसी घटना के साथ विश्व संस्कृति के चिन्तन स्वर गूँज उठेंगे "सभानोमत्र. समितिः सभानी, सभानो मनः सह चित्तभेषाम्" सब *लोग एक विचार वाले हो जाएँ, सभी के मन एक समान हो जाएँ, सभी के चित्त मे एक से संवेदन उठने लगे।* यही वैदिक दर्शन की मान्यता रही है व यही अगले दिनों साकार रूप लेने जा रही है।

चिन्तन मे ईश्वर को 'बातिन' और 'जाहिर तथा मुदत' और 'सादी' बतलाया है। विचारो की घनिष्टता और पारस्परिक साम्य कही गहरे में मधुर सम्बन्धो को और भविष्य की किसी उज्ज्वल सम्भावना को व्यक्त करती है। ब्राउन मैक्सहार्टिल और गोल्ड जीहर आदि अनेको पाश्चात्य विद्वानों ने अपने गहरे अध्ययन के बाद विश्वास जताया है। इस्लाम विचारधारा के प्रमुख तत्व भारतवर्ष के लिए गए है (हिस्ट्री ऑफ फिलासफी इस्टर्न एण्ड वेस्टर्न खण्ड-१/५/५०२) अरब युग मे बहुत-से प्रमुख भारतीय ग्रन्थों का फारसी और अरबी मे अनुवाद हुआ। अलकिण्डी ने भारतीय धर्मों पर एक पुस्तक लिखी, सुलेमान और अलमसूदी ने भारत के विषय मे सूचनाएँ इकट्ठी कर लिपिबद्ध किया तथा अलनदीय, अलशरी, अलबेरूनी एव अन्य लोगो ने अपने यात्रा विवरणो में भारत के दार्शनिक विचारो का विस्तार से वर्णन किया है। साहित्य-विज्ञान और दार्शनिक चिन्तन इन तीनो ही क्षेत्रो मे इस्लामी जगत भारतीय जीवन और विचारधारा से प्रभावित हुआ है। मुण्डकोपनिषद ने इस तथ्य का रहस्योद्घाटन करते हुए सही ही लिखा है—

यथा नद्यः स्यंदमानाः समुद्रोऽस्तं गच्छन्ति नामरूपेविहाय।

तथा विद्वान नाम रूपाद्विमुक्तः परात्परं पुरुषमुपैतिदिव्यम्॥ (-मु. उप. ३/२/८)

अर्थात् "जिस प्रकार नदियाँ अनेक मार्गों से बहती हुई समुद्र मे जाकर विलीन हो जाती हैं और उनके नाम रूप के भेद मिट जाते है, उसी प्रकार विद्वान अपनी-अपनी रुचि और अधिकार के अनुसार क्रमशः नाम-रूप सहित एक ही सत्यरूप परमात्मा मे लीन होते है।"

बात किसी एक मत या पंथ की नही है। जिसने भी यहाँ की वैचारिक संवेदना का स्पर्श पाया-वही इससे एक होता गया। सर चार्ल्स इलियट के ग्रन्थ "हिन्दुइज्म एण्ड बुद्धिज्म" के पन्ने पलटे तो पता चलता है भारत के रहस्यवादी विचार सूफी मत के माध्यम से यहूदी रहस्यवाद मे पहुँच गए जो—'कब्बाला' कहलाते है। यह कब्बाला मिश्र और पश्चिम एशिया में विकसित होकर यूरोप मे भी जा पहुँचा। कब्बाला के -से लक्षण जैसे-देवताओं की दशाएँ और निर्गमन, पिण्ड और ब्रह्माण्ड के सम्बन्ध सिद्धान्त आश्चर्यजनक रीति से-भारतीय तंत्र दर्शन से प्रभावित हैं। इस प्रभाव का निश्चित पता तो पुनर्जन्म और सर्वेश्वरवादी सिद्धान्तों से चलता है। सर्वोच्च-देवत्व अथवा ईश्वर "एन-साफ" कहलाता है—जिसका अर्थ अनन्त अज्ञेय और वर्णनातीत है। इसके बारे में जो कुछ कहा गया है वह इलियट के शब्दों मे उपनिषदों के सार वाक्य हैं।

उपनिषदों का भाव संदेश-किस प्रकार दुनिया के हर कोने तक पहुँचता-फैलता गया ? इसके विषय में आधुनिक पीढ़ियो को शायद कल्पना भी न उभरे। इसके व्यापक प्रसार को साधन भाषण देने वालों की कुशलता, मिशनरी लोगों द्वारा किए जा रहे प्रलोभन के भाँति-भाँति के प्रयोगों जैसी कुछ न होकर अपनत्व का बोध कराना रही है। विचारो की प्रामाणिकता, उत्कृष्टता, इनकी जीवन में सार्थकता स्वयं अपनी व्यापकता का कारण बनी है। व्यक्ति अथवा समूह की बैसाखियाँ इसने कभी नही स्वीकारी। इसी आश्चर्य से अभिभूत होकर ए. ए. मैकडोनल 'ए हिस्ट्री ऑफ संस्कृत लिटरेचर" में कह उठा "विश्व के सांस्कृतिक मंच पर यदि कोई सबसे महत्वपूर्ण घटना मानी जा सकती है तो वह है संस्कृत साहित्य की जानकारी।" एन. ए नोटोविक ने अपनी पुस्तक 'अननोन लाइफ ऑव जीससक्राइस्ट' मे इस तथ्य का सत्यापन किया है कि "भारत भूमि के विचारो और साधना पद्धतियों ने इस ईश्वर पुत्र के हृदय मे इतना गहरा आकर्षण उत्पन्न किया कि वे सोलह वर्षों तक यहाँ के ब्राह्मणों और साधुओं के साथ रहे।" नोटविक ने जिस गहरे सत्य की शोध की है उसका निष्कर्ष बहुतों को आश्चर्यजनक लग सकता है। पर सस्कृत साहित्य में संजोई विचार सम्पदा ने न जाने कितने यूरोपीय विद्वानो को इसके अध्ययन के लिए अपना जीवन समर्पित करने को विवश किया है। इस सर्वप्रचलित और बहुपरीक्षित तथ्य से सभी सहमत है।

चार्ल्स विल्किंस इस परम्परा का पहला व्यक्ति था। जिसकी प्रशसा करते हुए संस्कृत पाण्डित्य के जन्मदाता एच. टी. कोलबुक ने कहा है कि पाइथागोरस से लेकर उस समय तक ऐसा कोई विदेशी विद्वान नही रहा जिसने विल्किंस की तरह यहाँ के विचारों को आत्मसात न किया हो। विल्किंस ने हितोपदेश,

भगवद्गीता, महाभारत के शकुन्तलोपाख्यान सहित अन्य कई रचनाओ का भावपूर्ण अनुवाद किया। विल्किन्स की परम्परा में विलियम जोन्स, बर्क, गिबन, शेरीडॉन, गैरिक और जानसन जैसे अनगिनत विचारों के उपासक दीक्षित होते चले गए। यूजीवरनाफ ने अपनी गहनशोध के द्वारा अवेस्ता के नियमों पर भारत के सांस्कृतिक बोध की छाप प्रभावित की। अध्ययन की इस परम्परा में उसने एक शिष्य को गढ़ा। मैक्समूलर के नाम से विख्यात इस शिष्य ने अपने गुरु की भावनाओं का कितना सम्मान किया यह किसी से छुपा नही है।

जर्मनी के विचारक तो भारतीय विचारशीलता की गहरी अनुभूति कर स्वयं के जीवन की सार्थकता पर विभोर हो उठे जार्जफास्टर ने जब लोक विख्यात मनीषी हर्डर को, शाकुन्तल का जर्मन अनुवाद भेजा तो वह कह उठा "मानव मस्तिष्क की इससे अधिक आनन्दप्रद और कोई कल्पना मुझे नही मिली — पूर्व का एक विकसित पुष्प, सुन्दरता में बेजोड़। उसने शाकुन्तल का विश्लेषण करते हुए दावा किया कि इस कृति से यह प्रचलित विश्वास अमान्य हो जाता है कि नाटक का आविष्कार प्राचीन ग्रीकों ने किया है। जर्मन कवि गेटे ने शाकुन्तल के बारे में अपनी अनुभूति लिखी यह मेरे जीवन के एक अति महत्वपूर्ण युग का प्रतीक है।

अठारहवी सदी में जर्मनी मे भारतीय साहित्य को पढ़ने-समझने की ऐसी ललक पैदा हुई कि चिन्तकों के समूह जैसे सामान्य जन तक यहाँ तक कि समयाभाव से ग्रसित राजनीतिज्ञ भी इसे पढ़ने और जीवन में अपनाने की आतुरता न रोक सके। विटरनित्ज की 'ए हिस्ट्री ऑफ इण्डियन लिटरेचर' के पृष्ठो से पता चलता है कि फान, थीलिमान, रोजन साल्फ और विल्हेनवान आदि राजनीतिज्ञ अवकाश मिलते ही देव सस्कृति के चिन्तन सूत्रो मे अपने को खोने लगते थे। हम बोल्ट ने भगवत्‌गीता को पढ़ने के बाद अपनी अनुभूति व्यक्त करते हुए कहा कि वह परमात्मा को जीवन प्रदान करने के लिए धन्यवाद देता है क्योकि इस कारण ही उसे भगवत्‌गीता जैसा उत्कृष्टतम विचारकोश अध्ययन के लिए मिल सका।

प्राच्य विद्याविदो, सामान्य अध्येयताओ की ही भाँति पश्चिम के दार्शनिकों ने भी ऋषि संस्कृति के चिन्तन के प्रति स्वयं को ऋणी माना है। शोपेनहार, विक्टर कजिन, पालडायसन, श्लेगिल आदि पश्चिमी तत्ववेत्ताओं ने अपने तत्व चिन्तन मे ऋषियों की विचारधारा को पूरे गौरव के साथ अभिव्यक्त किया है। कई जगह तो सिर्फ शब्दो की फेर बदल भर दिखाई देती है। मनीषी टामलिन इसे स्वीकारते हुए कहते है 'शाकर दर्शन की दिशा लगभग वही थी' जिसे बाद मे जाकर काण्ट ने अपनाया। मैक्स मूलर के ग्रन्थ "थ्री लेक्चर आन द वेदान्त फिलासफी"पढ़े तो पता चलता है कि उपनिषदों ने जिस ब्रह्म का प्रतिपादन किया है, उसी को स्पिनोजा ने "सबस्टेशिआ" 'स्वतन्त्रतत्व' नाम दिया है। इसी तरह शंकराचार्य की 'माया'को लाइबिनज ने 'मैटेरिया प्राइम" कहकर स्वीकार किया है। फिक्ते ने इसी को अपने चिन्तन मे 'अंसटास' नाम दिया है। इसी तत्व को शेलिंग ने अपने दर्शन मे 'डार्कग्राउण्ड' कहकर उल्लेख किया है। शोपेनहावर का संकल्पवाद-छान्दोग्य उपनिषद् के ७/४/२ अंश की व्याख्या भर है। छान्दोग्य उपनिषद् के इस अंश मे संकल्प को ब्रह्म रूप देते हुए कहा है कि जो इस संकल्प ब्रह्म की उपासना करता है, वह भगवान के रूप को प्राप्त करता है।

विभिन्न रूपों में—विभिन्न पद्धतियो मे—विभिन्न देशो में देव संस्कृति के ये सभी चिन्तन स्वर जिस एक बात का उद्घोष करते है वह है उसका अपनत्व और यही वह पृष्ठ भूमि है। जो इसे विश्व सस्कृति का गौरव प्रदान करेगी। संस्कृति का उद्देश्य हृदय पर अधिकार पाना है और हृदय की राह समरभूमि की लाल कीच नही सहिष्णुता का शीतल प्रदेश है, उदारता का उज्ज्वल क्षीर समुद्र है। ऋषि-चिन्तन की वही उर्जस्विता विश्व मानव को वैचारिक संघर्ष से मुक्ति देगी। कल का भविष्य जिस महानतम आश्चर्य को साकार करेगा वह है संसार की सभी विचारधाराओ का अपने मूल स्वर से सामंजस्य। इसी घटना के साथ विश्व सस्कृति के चिन्तन स्वर गूँज उठेगे "सभानोमंत्र. समिति सभानी, सभानो मन. सह चित्तभेषाम्" सब लोग एक विचार वाले हो जाएँ, सभी के मन एक समान हो जाएँ, सभी के चित्त मे एक से संवेदन उठने लगे। यही वैदिक दर्शन की मान्यता रही है व यही अगले दिनो साकार रूप लेने जा रही है।

सांस्कृतिक क्रान्ति, जो कि भवितव्यता है

भौगोलिक रूप से इन्सान एक-दूसरे के इतना नजदीक कभी नहीं रहा-जितना आज है। आधुनिक सुविधाओं के सरंजाम ने दुनिया को एक गाँव में तब्दील कर दिया है। जितनी देर में हम एक गांव से दूसरे गाँव मे पहुँचते थे आज उतनी देर में दिल्ली से अमेरिका पहुँच सकते हैं। एक जमाना था जिसका जिक्र करते हुए कन्फ्यूशियस ने अपनी एक किताब में लिखा है-कि मेरे पूर्वज कहते थे-कि गाँव के पास नदी बहती थी। नदी के उस पार रात को कुत्ते भौकते थे,-तो हमें आवाज सुनाई पड़ती थी। लेकिन यह पता नही था—कि नदी के पार कौन रहता है ? नदी बड़ी थी और नाव ईजाद न हुई थी, नदी के पार कोई रहता है-कोई गाँव है। यह तभी पता चलता था जब सन्नाटे को चीरती कुत्तो के भूँकने की आवाज कान में पड़ती थी वह गाँव उनकी अपनी दुनिया थी। इस गाँव की अपनी दुनिया थी।

अलासदेर मैकईतिरे की पुस्तक "ए हिस्टोरियन अप्रोच टू सोसाइटी" में सँजोये भावो के साथ विचार करे तो उस समय की दुनिया में और आज की दुनिया मे बुनियादी फरक है। उस जमाने में जो विचार पैदा हुए भाव उमड़े-उन पर आज भी मुग्ध होना पड़ता है। कन्फ्यूशियस की बातें पढ़े या लाओत्से के गोल्डनरूल ईसा के उपदेश सुने या वैदिक ऋचाओ की मधुर गूँज-हर कहीं प्रेम का ज्वार उफनता है। अतिथि देवो भव ! यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते ——। आदि वाक्य पढ़कर-यदि कोई आज की परिस्थितियो को निहारे तो उसे विश्वास ही नही होगा कि कभी ऐसे भावों के आलिंगन में जिन्दगी बँधी थी। घर परिवार प्रदेश-राष्ट्र-विश्व तक हर कही हर कोने मे दरारें, टूटन बिखराव फैला पड़ा है। सभी की दौड़ अलगाव की ओर है। प्रत्येक स्वयं मे आतंक से सहमा है औरों को आतंकित कर रहा है। शरीर की सुन्दरता तभी तक है, जब तक उसका हर अवयव एक-दूसरे से जुड़ा रहे। यदि विभिन्न अंग अवयव एक-दूसरे से दूर छितरा जायें तो परिणाम में बदसूरती और सड़न ही मिलती है। भौगोलिक समीपता के बावजूद भावनात्मक स्तर पर विश्व की यही दशा है। दार्शनिकों से लेकर राजनीतिज्ञों तक सभी इसी उधेड़-बुन में हैं कि बिखरती जा रही मनुष्य जाति को कैसे समेट-बटोर कर एक सूत्र में बाँधा जाय ?

सी. ए. ब्रौसके ग्रन्थ "ए हिस्ट्री ऑव हिस्टोरिकल राइटिंग" के पृष्ठों पर गौर करें तो पाएंगे एकता की ये कोशिशे नितान्त आधुनिक नही हैं। यूनान और रोम के विजय अभियान रचना वालों ने भी अपना यही मकसद बताया था। सिकन्दर का मन विश्व राष्ट्र की सुखद कल्पनाओं में रंगा था। अंग्रेजों ने यही उद्देश्य प्रचारित कर विश्व की महत्वपूर्ण जगहों पर अपने उपनिवेश स्थापित किए। "विश्व को एक करूँगा" हिटलर ने इसी संकल्प की आड़ में अपना ताना-बाना बुना था। बीसवी सदी के दूसरे दशक मे मार्क्स के साम्यवाद का नारा देकर-स्टालिन ने रूस में छोटे पैमाने पर-यही करतब दिखाने की कोशिशे की। लेकिन ये ढेरो प्रयास पुरुषार्थ अपनी चरम परिणति में एकता से उतना ही दूर रहे जैसे आकाश से धरती।

इन दिनो हर किसी की आँख-विश्व को बिखराव के तूफानों से घिरा देख रही है। इस आँधी में एकता के तिनके समेटे जा सकेंगे किसी को कल्पना तक नही उठती। भारत को ही लें-पंजाब-कश्मीर-आसाम-आँधी के इन्ही हिचकोले में झूल रहे हैं। दुनिया का सबसे बडा भू-भाग अपने में समेटे रूस-देखते-देखते टुकड़े-टुकड़े होकर छितर गया। अमेरिका में अश्वेतों द्वारा अपने अधिकार की माँग जोर पकड़ती जा रही है। चीन इन चिनगारियों से अछूता नहीं है। लंका में उठ रहे बिखराव के शोलों की चमक विश्व के हर व्यक्ति की आँखों को चौंधिया देने के लिए काफी हैं। अलगाँव में तत्पर, आतंक फैलाने में जुटे सगठनों की फेहरिस्त बनाई जाय तो एक पुस्तक के पृष्ठों का कलेवर छोटा पड़ जायेगा।

हलचलों की यह तेजी इस कदर है कि क्रान्तियाँ आम बात हो गई है। जहाँ पहले इनके लिए सौ-सौ

सालों तक इंतजार करना पड़ता था, वही अब सौ दिनों में इनके उदय और उफान देखे जा सकते हैं और आज क्रान्ति की त्रिस्तृत परिधि जिस एक छोटे-से सकरे गलियारे मे फँसकर रह गई है, उसका नाम है-प्रशासनिक फेर-बदल, सरकारों की उठा-पटक। लोक जीवन ने इसे रोज-मर्रा के घटनाक्रम का एक अंग मान लिया है। उसकी नजर में व्यवस्था कोई भी हो इसका एक ही दायित्व रह गया है, नित नए कानून बनाना-जन जीवन को इनके लौहपाश में फँसने-फँसाने और सिसकने के लिए मजबूर करना।

तब क्रान्ति का स्वरूप और एकता की उलझन ? इसे-सुलझाने के लिए 'ए फ्यूचर नामक ग्रन्थ में सँजोये मनीषी उलरिच के शब्दो पर विचार करें तो पता चलता है कि इतिहास के इन विगत घटनाक्रमों का कही अधिक बारीकी से सर्वेक्षण करने की जरूरत है। उनके अनुसार-सम्भव है विगत घटनाक्रमों के कर्णधारों में से किसी का उद्देश्य ठीक रहा हो पर प्रयासो की दिशा-निश्चित रूप से सही नही रही। एकता के नाम पर ज्यादातर कोशिशें आधिपत्य स्थापना की रही हैं। इनके पीछे प्रायः सभी ने विश्व राष्ट्र के सम्राट होने के सपने सँजोये थे। यही कारण है कि छः सौ करोड़ मनुष्य की जमात में ऐसो की संख्या दो-चार मुट्ठी से अधिक नही होगी, जिनका एकता की ओर झुकाव हो, क्योंकि सभी को अपने पूर्व अनुभवो से एकता का एक ही अर्थ मालूम हो सका है—स्वतन्त्रता का अपहरण मौलिकता का छिन जाना। प्रीतम ए. सोरोकिन के शब्दो मे कहे तो जन-जीवन ने इन दोनों तत्वों को ऐसे दो विरोधी ध्रुव मान लिया है-जो कभी एक नही हो सकते। अब तक हुए प्रयासो के सन्दर्भ मे यह तथ्य औचित्यपूर्ण है, क्योंकि आधिपत्य की शैली को न तो मानवीय व्यक्तित्व की बारीकियो का पता है, और न मौलिकता के रक्षण की जानकारी है।

धरती ने अभी तक बहुतायत में सिर्फ राजनीतिक क्रान्तियाँ और तत्सम्बन्धी एकरूपता के प्रयासो का अनुभव किया है। इस सम्बन्ध में रोम साम्राज्य एक ऐतिहासिक उदाहरण है। जो राष्ट्र की सीमाओ को लाघ चुका था। इसके गुणों में जहाँ इसकी व्यापक सुरक्षा सुप्रबन्ध को सराहनीय कहा जा सकता है। वही व्यक्ति नगर और प्रदेश को अपने स्वाधीन जीवन का बलिदान करके मशीन के कल-पुर्जे बनकर रहना पड़ा। इसके परिणाम में जीवन ने अपनी श्री समृद्धि स्वतन्त्रता तथा सहज-सृजन की विजयशील प्रेरणा गँवा दी। अंत में व्यक्ति की तुच्छता और दुर्बलता के कारण इसे नष्ट होने को विवश होना पड़ा। रूस में हुए साम्यता के प्रयासों को इसी का एक बदला हुआ रूप कहा जा सकता है। मार्क्स की नजर में मनुष्य एक आर्थिक प्राणी भर था। कल्पना स्वतन्त्र इच्छा मौलिक क्षमताओं का विकास जैसी चेष्टाएँ भी इन्सान के अन्दर समायी हैं शायद इसे सोचने की उसे फुरसत नही मिली और यही कारण है कि समाजवाद के नाम पर ऐसा शिकजा तैयार हुआ, जिसे तोड़-फेकने के लिए वहाँ का जन-जीवन शुरू से कोशिश में जुटा रहा और जब तक तोड़ नही फेका चैन नही लिया।

लेकिन राजनीतिक क्रान्तियों की अपनी सीमाएँ है। मानवीय भावनाओं को एक-दूसरे मे घोल देना, क्षत-विक्षत हो रहे समाज को पुनः सौन्दर्य मण्डित करने का प्रयास जिस तकनीक से सम्भव है, उसका नाम है सांस्कृतिक क्रान्ति। "ए हिस्टोरियन अप्रोच टू रिलीजन" के रचनाकार अर्नाल्ड टायनबी के शब्दों मे कहे तो यही एकता को उसका वास्तविक अर्थ होता है। राजनीतिक एकता तो एकता के नाम एकरूपता के स्थापना की चेष्टा है।

जबकि देव सस्कृति के तत्व दर्शन में इसे पारस्परिक सम्बन्धो की घनिष्टतम अवस्था कहाँ है ? ऋषि चिन्तन के व्याख्याता सर्वपल्ली राधाकृष्णन ने अपने चिन्तन कोश 'रिकवरी ऑव फेथ' मे इसका उदात्त स्वरूप प्रस्तुत किया है। उनके अनुसार सम्बन्ध वही जन्म लेते हैं, जहाँ संवेदना का निर्झर फूट रहा हो। विश्व में संवेदनाओ के ये रस स्रोत भिन्न रूपो में देखे जा सकते हैं। उदाहरण के लिए जातीय संवेदना-पारिवारिक सवेदना और राष्ट्रीय संवेदना। अपने वास्तविक स्वरूप में पवित्र होते हुए भी सीमा बन्धन की अनुभूति के लिए विवश है। जातीय सवेदना का उत्कर्ष अपने जाति भाइयो से बाहर नही फैल सकता। उसे हिन्दू मुसलमान, सिख-ईसाई के दायरे मे बँधना ही पड़ेगा। इस तरह के सम्बन्धों की मधुरता भी यही तक सीमित है। यही हाल परिवार की धारणा से उपजी संवेदनशीलता का है—इसका फैलाव

मुट्ठी भर कुटुम्बीजनो के बाहर नही निकल सकता। राष्ट्र का दायरा व्यापक और विस्तृत जरूर है पर उसमें विश्वानुभूति नही है।

विश्वानुभूति के लिए-सास्कृतिक संवेदना का उफान चाहिए। इसी का एक नाम आध्यात्मिक संवेदना भी है। जिसका बोध श्वेताश्वतर-उपनिषद् के शब्दों में 'एकोदेवा सर्वभूतेषु गुढः सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा (वे एक ही परमदेव समस्त प्राणियो के हृदय रूप गुहा में छुपे हुए है। वे सर्वव्यापी और समस्त प्राणियो के अन्तर्यामी परमात्मा है। (श्वेता. ६/११) संवेदनाओ की यह व्यापक अनुभूति जब सम्बन्ध बनकर प्रकट होती है-तब विश्व मानवता के प्रति प्रेम का उफान अस्वाभाविक नही रह जाता। "इन वुड्स ऑव गॉड रियलाइजेशन" के खण्ड दो मे स्वामी रामतीर्थ की अनुभूति का स्पर्श करें तो पाते है कि सम्बन्धो का जन्म ही वही होता है, जहाँ भावनाएँ स्पन्दित होती है। निष्ठुरता मे कभी किसी तरह के रिश्ते नही उपजते। उनके शब्दो मे इसकी व्याख्या करें तो यह सामंजस्य की वह परम स्थिति है जहाँ से प्रेम झरने लगे।

यह बोध जितना व्यापक और सघन होगा। एकत्व उतना ही विस्तृत होता जायेगा। लेकिन यह अपने अर्थ और तत्व मे राजनीतिक और भौगोलिक भूमिकाओ से नितान्त दूर होते हुए भी मानव हृदय के सबसे नजदीक है। इस तरह के प्रयास और परिणति मे मानव की स्वतन्त्रता का हरण न तो किया जाता है और न होता है। हाँ वह स्वयं अपनी अन्तरभावनाओं की कसक और हुलस के कारण-आकुल-व्याकुल होकर अपने स्वार्थो का उत्सर्ग कर डालता है।

'स्वतन्त्रता' तो मानव की सबसे अमूल्य निधि है। किसी भी कीमत पर इसके त्याग के लिए उसे विवश नही किया जाना चाहिए। विश्व राष्ट्र की स्थापना और मानवीय मे से किसी एक को चुनना पड़े तो निश्चित रूप से मानवीय स्वतंत्रता को चुनना ज्यादा श्रेयस्कर होगा क्योकि यह मानव व्यक्तित्व मे समाई विशिष्टताओं के विकास के लिए सर्वोत्कृष्ट और अनिवार्य अवस्था है। पिछले दिनों, मानव जाति को कुण्ठाओ खण्डित व्यक्तित्व और अर्ध विक्षिप्तता की जो गहरी पीड़ा भोगनी पड़ी है, उसका एकमात्र कारण उसका स्वातंत्र्य हनन रहा है।

विश्व के जीवन में सांस्कृतिक क्रान्ति ही एक मात्र वह प्रक्रिया है, जो अपनी चरम परिणति में उसे एकता और स्वतन्त्रता दोनों अलभ्य उपलब्धियाँ एक साथ सौपने में समर्थ है। संस्कृति के चार अध्याय ग्रन्थ के लेखक रामधारी सिंह दिनकर के शब्दों को उद्धृत करे "विश्व की भावी एकता की भूमिका भारत की सामासिक संस्कृति में है। जैसे भारत ने किसी भी धर्म का दलन किए बिना अपने यहाँ धार्मिक एकता स्थापित की। जैसे इसने किसी भी जाति की विशेषता को नष्ट किए बगैर सभी जातियो को एक सांस्कृतिक सूत्र मे आबद्ध किया। कुछ उसी प्रकार हम संसार के सभी देशों सभी जातियो एवम् सभी विचारों के बीच एकता स्थापित कर सकते है।"

सांस्कृतिक क्रान्ति के ये प्रयत्न मनुष्य के जीवन सम्बन्धी विचार कोशिशे और भावनाओ की ऐसी प्रवृत्ति के रूप मे उभरेंगे, जो सामूहिक मन को वशीभूत कर.लेगा, इसका परिणाम होगा मानव जीवन के समस्त क्षेत्र मे गम्भीर और अद्‌भुत परिवर्तन। भावलोक में इसका दिव्य दर्शन कर जर्मन दार्शनिक शोपेनहावर ने भविष्यवाणी की थी। जिसका जिक्र करते हुए स्वामी विवेकानन्द ने १६ जनवरी १८९० के अपने व्याख्यान में कहा था "वे जर्मन ऋषि कह गए हैं शीघ्र ही विश्व-विचार जगत् मे सर्वाधिक शक्तिशाली और दिगतव्यापी सांस्कृतिक क्रान्ति का साक्षी होने वाला है। विचारो का यह तूफान-उपनिषदों के देश से उठेगा।" इस दैवी विधान की चरम परिणति को स्वीकारते हुए श्री अरविन्द का "द आइडियल ऑव ह्यूमन यूनिटी" मे कहना है कि यह प्रत्यक्ष है कि मनुष्य जाति की एकता प्रकृति की अन्तिम योजना का अग है और यह सिद्ध होकर रहेगी।

· यह योजना अपने प्रारम्भ से ही विश्व को एक नया रंग और वातावरण, एक उच्चतर भावना, एक महत्तर उद्देश्य प्रदान करेगी। इस प्रारम्भ का अन्तिम परिणाम होगा विश्व राष्ट्र का नया युग व्यवस्थाओ, प्रणालियो, नीतियो की दृष्टि से अद्‌भुत होने के साथ व्यक्तित्व संरचना की दृष्टि से भी अभूतपूर्व होगा।

अपने इन्ही भावो को काव्य के माध्यम से बंगला कवि नजरूल ने इस तरह व्यक्त किया है—

मा भैः एतोदिने बुझि जागिलो भारत प्राण,

सजीव होइया उठिया छे आज श्मशान गोर स्थान।
जेगेछे भारत, उठि वे अमृत, देरी नाई आर
उठियाछे हलाहल॥

अर्थात् "डरो मत ! डरो मत ! बहुत दिनों के बाद भारत में प्राण आया है श्मशान और कब्र स्थान दोनों सजीव हो उठे है। भारत जाग उठा है। अमृत भी आएगा अब विलम्ब नही है। हलाहल तो ऊपर आ ही चुका है।

सांस्कृतिक क्रान्ति के स्वर सुदूर पूर्व से पश्चिम के दूरवर्ती राष्ट्रों तक गूँजते अगले दिनो सब देखेगे। शुरूआत भारत से होगी। सभी धर्म सप्रदाय यहाँ एक साथ रहते आए हैं तो पुनः हमारा बृहत्तर भारत एक क्यों नही हो सकता ? सारे विश्व का मार्ग दर्शन क्यों नही कर सकता ? यही नियति है, यही भवितव्यता है।

संस्कारों का मनोविज्ञान जो अपने आप में निराला है

स्वामी विवेकानन्द ने कहा था कि पाश्चात्य मनोविज्ञान ने हमें पशु-प्रवृत्तियो का गुलाम बनाकर स्वच्छन्द जीवन जीने, अनैतिक आचरण करने के लिए खुली छूट दे दी किन्तु इस पर अंकुश लगाने व जीवन को सही ढंग से जीने का शिक्षण किस विधा ने दिया यदि यह मुझसे पूछा जाय तो मेरा इशारा भारत की ओर होगा जिसके प्राच्य मनोविज्ञानियों ने मानव मात्र के लिए कर्म-प्रारब्ध संस्कार, मन-बुद्धि-चित अहंकार रूपी अंत करण चतुष्टय की व्याख्या कर विश्वमानवता की सबसे बड़ी सेवा की। भारतीय संस्कृति का यह सबसे प्रबलतम पक्ष है व यह समग्र आर्ष वाङ्मय में वेदो से लेकर उपनिषदो व दर्शनो से लेकर गीता तक मुखरित हुआ है। संस्कार शब्द की अवधारणा ही मूलरूप से भारतीय सस्कृति की है, जो आत्मा की नश्वरता व जीवन से सातत्य-अखण्ड रूप पर विश्वास करती है। आस्तिकता का यह मूलप्राण है।

योग वशिष्ठ सौ टके की एक बात कहता है—

अतस्त्वं मन एवेदं नरं विद्धि न देहकम् ।
जड़ो देहो मनश्चात्र न जड़ं नाजड़ं विदुः ॥
(३/११०/१३)

भाव यह है कि "मन ही मनुष्य, देह मनुष्य नही है। देह तो यह जड़ है। परन्तु मन न जड़ है, न चेतन। यह उभयात्मक है। जड़-चेतन के बीच दुभाषिये का काम करता है। चेतन से चेतना लेकर जड़ को चेतनामय बनाता है।" वस्तुतः यह सारी सृष्टि ही मन द्वारा रची गयी है। समष्टि मन परमात्मा का मन है ऐसी भारतीय संस्कृति की मान्यता है।

भारतीय मनोविज्ञान की कुछ मूलभूत अवधारणाएँ यदि हमारी समझ में आ जाएँ तो मानव जीवन के अनेकानेक पक्ष आज की सारी समस्याओं के कारण, निदान व समाधान तथा भारतीय संस्कृति के विभिन्न उपादानो का उनमें योगदान हमारी समझ में आ जाएगा। भारतीय मनोविज्ञान अंत.करण चतुष्टय की सत्ता को मानता है व उसके चार भाग बताता है-मन, बुद्धि, चित्त तथा अहंकार। मन व बुद्धि चेतन के अंग है तथा चित्त व अहंकार अचेतन की सृष्टि माने जाते हैं। मनुष्य की विराट जीवन यात्रा का खेल जिन संस्कारों के आधार पर चलता है, जो उसका व्यक्तित्व बनाते हैं उसके भाग्य विधाता हैं, वे इसी अंतःकरण चतुष्टय के अचेतन भाग में विराजमान रहते हैं। ऋषियो की मान्यता है कि कर्म-संस्कार जन्म-जन्मान्तरो की-चौरासी लाख योनियो की एक लम्बी यात्रा मे परिभ्रमण करते है। इन्ही को साथ लेकर मनुष्य जन्म लेता है व उसका अनगढ़ व सुगढ़ होना, उसके भावी कर्मों की गति का निर्धारण, सब कुछ प्रारब्ध व पुरुषार्थ के समीकरण पर टिका होता है। संस्कारों के चित्त पर पड़ने वाले प्रभावो व उनकी यात्रा का विवरण समझ लेने पर एक बहुत बड़ी गुत्थी सुलझ जाती है कि समान वातावरण व परिस्थितियों के होते हुए भी अपनी कुसंस्कारिता से जूझकर उबरकर आने मे क्यों किसी को अधिक सघर्ष करना पड़ता है व क्यो किसी के लिए यह मार्ग निष्कटक होता चला जाता है बिना अधिक कुछ कर्म-सम्पादन किए। संस्कृति का यह गुह्य पक्ष बड़ा ही अद्भुत व रहस्यो से भरा है।

श्री अरविन्द ने मनुष्य को दो-तिहाई पशु प्रवृत्तियो को लेकर आया जीवधारी माना है व "मानवचक्र" पुस्तक मे उसकी विस्तृत व्याख्या करते हुए लिखा है कि यह उसका सौभाग्य है कि वह कर्मयोनि मे आया है ताकि कर्म करके वह अपनी विगत पशु प्रवृत्तियो को मिटा सके व नये संस्कारो का

सग्रह कर अपने लिए या तो श्रेष्ठ स्थिति चुन ले अथवा जीवन-मरण के बंधन से मुक्त हो जाए, वस्तुतः हर मानव बेहोशी में जीता है। हम सब अचेतन में ही जीते हैं। जन्म के समय छोटे बच्चे के रूप मे हमारे "नेचुरल इस्टींक्स" जीवित रहते हैं, तब स्वचालित प्रक्रियाएँ उसी क्रम से चलती है। क्रमिक गति से धीरे-धीरे मन का विकास होने लगता है व अचेतन में विद्यमान संस्कार हावी होकर वैसे कर्म कराने लगते हैं। हमारी नब्बे प्रतिशत गतिविधियाँ यहीं से संचालित होती है। पूर्वार्त्य मनोविज्ञान का सारा जो इसी पर है कि व्यक्ति के अचेतन का परिष्कार कर दिया जाय ताकि वह नरपशु से नरमानव व देवमानव बन सके। सारी साधना पद्धतियाँ, षोडष संस्कार विधान व तीर्थ, आरण्यक आदि उपादान इसी अचेतन की परिष्कृति के निमित्त ही है। व्यक्तित्व की परिष्कृति ही प्रकारांतर से संस्कृति है व इसप्रकार भारतीय संस्कृति अपने शब्दार्थ के अनुरूप ही मानवी मन पर अपना सारा प्रभाव दिखाती व उसी क्षेत्र में परिवर्तन कर सही मानव, सही समाज व सही युग की रचना करने की बात कहती है।

ऋषियों की यह मान्यता है कि इस जन्म में जीव प्रधान रूप से जो कार्य करता है, उसके सारे संस्कार उसके चित्त मे अंकित हो जाते हैं। इन संस्कारो के चित्त पर अंकित होने की प्रक्रिया की तुलना ग्रामोफोन रिकार्ड, फोटोग्राफ की नेगेटिव प्लेट या ऑडियो कैसेट की टेप पर किये गए अंकन से की जा सकती है। इन्ही अंकित संस्कारो को धारण कर जीव अग्रिम जन्म में उन्ही के अनुरूप शरीर जन्म लेकर आता है और उन संस्कारों के अनुरूप ही उसकी आसक्ति या कर्मों में सहज प्रवृत्ति होती है। मीमांसा दर्शनकार लिखता है "कर्मबीजं संस्कारः" अर्थात् संस्कार ही कर्म का बीज है तथा "तन्निमित्ता सृष्टि:" वही सृष्टि का आदि कारण है। इस प्रकार जीव सर्वथा संस्कारों का दास है, ऐसी मान्यता वैदिक ऋषि की है।

"कर्म संस्कार" या "कर्मवासना" शब्द का प्रयोग कर प्राच्य मनोविज्ञान कहता है कि न केवल मानसिक सकल्प, विचार आदि से अपितु देह, इन्द्रिय, मन, बुद्धि, अहकार आदि की सभी हलचलों से-चेष्टाओं-व्यापारों से संस्कारों की उत्पत्ति होती है। कर्म करते समय हमारा जितना मनोयोग होता है चित्त पर रेखाकन (मार्किंग) भी उतना ही स्पष्ट होता है। हमारे समीप चाहे जो होता रहे किन्तु यदि हमारा ध्यान उधर नही गया है तो हमारे चित्त पर उसका कोई संस्कार नही पड़ता।

चित्त पर पड़े संस्कारों के भी दो रूप होते हैं-एक स्मृति रूप, दूसरा कर्म रूप। स्मृति रूप संस्कार अध्ययन, ज्ञानार्जन, दृश्यांकन आदि से जन्म लेते है व चूँकि स्मृति की मेमोरी की एक सीमा होती है, ये बहुधा नष्ट होते रहते हैं। बनते है, बिगड़ते हैं व पुन. जन्म लेते रहते हैं, कर्म रूप संस्कार वे हैं, जिनमें हमारा कर्ता वाला अहंकार जुड़ा होता है। ये हमारे अंत करण के एक अंग बनकर जन्म-जन्मान्तरों तक हमारे साथ चलते हैं। अहंभाव से ग्रहीत संस्कार विस्मृति के गर्भ मे जाकर भी कभी मिटते नही। वे अन्तर्मन मे, मन की गहरी परतो मे सचित बने रहते है। इन्ही को पाश्चात्य मनविदो ने डिस्पोजिशन्स या एनग्राम्स कहा है। प्रख्यात मनोवैज्ञानिक कार्ल जुग "साइकॉलाजीकल टाइप्स" मे लिखते है "Samskar is simply the result of habitual repetition of common thought or behaviour pattern until it becomes deeply rooted in psyche" अर्थात् "अभ्यासपूर्वक सतत् दुहराये जाने वाले विचार व व्यवहार ही सस्कार बनकर मन की गहराइयो मे जड़ जमा लेते है।" इसमें कोई संदेह नही कि प्राच्य मनोविज्ञान को काफी सीमा तक समझने का प्रयास जुंग ने किया था व समय-समय पर वह उनके चिंतन मे अभिव्यक्त भी हुआ।

सृष्टा द्वारा खेला जाने वाला संस्कारों का यह खेल निराला है। आत्मा अनादि काल से संसार चक्र मे भ्रमण कर रही है। अनन्त जन्मो मे विचरण कर चुकी है। हर बार चित्त पर संस्कार आरोपित हो जाते है। जब भी संस्कार क्रिया के रूप मे व्यक्त होते है, हम उसमें पुन. अहभाव स्थापित कर लेते है तो फल यह होता है कि पूर्व के समान ही नवीन अंकन पुन: हो जाता है। बस यही सिलसिला चलता रहता है। यदि कर्ता के अहंकार से रहित होकर कर्म किये जाएँ तो एक बार क्रिया की अभिव्यक्ति के बाद वे पुन. जन्म नही लेते। इस प्रकार चित्त को एक गोदाम माना जा सकता है, जिसमें अच्छे-बुरे सभी प्रकार के सस्कारो का संग्रह है। स्मृति पटल पर नवीनतम कर्ताभाव से किए गए अंकन बार-बार बनते रहते है। यदि श्रेष्ठकर्म होंगे,

श्रेष्ठ का साथ होगा तो संस्कार भी श्रेष्ठ संग्रहीत होते चले जाएंगे। यह अवसर केवल मनुष्य को मिला है कि वह अपना वित रूपी *जखीरा परिशोधित करना* चाहे तो इस मानव जीवन का कर्म योनि का लाभ ले ले।

मात्र मनुष्य ही है जो *कर्मयोनि* में जन्म लेता है शेष सारी योनियाँ स्थावर वृक्ष से लेकर कीटक-जीव-जन्तु तथा देवताओं से लेकर यक्ष-किन्नर तक सभी *भोगयोनि* में जन्म लेते हैं। यह धरा कर्मभूमि है। मनुष्य जन्म-जन्मान्तरों से चले आ रहे सुषुप्त संस्कारों का कोष लेकर आता है। इन्हें संचित कर्म कहा जाता है। जो नवीन कर्म वह सम्पादित करता है, उन्हें *क्रियमाण* कहते हैं। वे संचित मे सम्मिलित होते चले जाते हैं। *प्रारब्ध*, मनुष्य के लिए संचित से इस जन्म के लिए पृथक् हुआ भाग है। वर्तमान जन्म व उसका भोग मनुष्य को उसके प्रारब्ध के अनुसार ही मिला है, ऐसी देवसंस्कृति की मान्यता है। गीता अध्याय ८ में योगीराज श्री कृष्ण कहते हैं कि मनुष्य जिन-जिन भावों का स्मरण करते हुए शरीर छोड़ता है, उन्ही योनियों को प्राप्त होता है, वही उसके प्रारब्ध बन जाते हैं (श्लोक ६)।

कर्मयोनि व भोगयोनि का अर्थ इसीलिए समझना जरूरी है। मनुष्य को यह जन्म इसलिए मिला है कि वह श्रेष्ठ कार्यों द्वारा प्रारब्ध काटकर अपने लिए नया मार्ग चुन ले। भोग में लिप्त होकर पुनः जन्म-मरण के चक्र में न बँधे। देवताओं तक को स्थायी कर्म संग्रह हेतु-संस्कार संचय हेतु पृथ्वी पर आकर कर्म करना पड़ता है क्योकि उनकी योनि भोग योनि है। उनके पुण्य क्रमशः क्षय होते रहते हैं। वे पुण्यों को भोगकर उन्हें क्षीण कर रहे हैं तथा पशु-पक्षी-वृक्ष आदि पापों को भोगकर उन्हें क्षीण कर प्रगति कर रहे है। मनुष्य ठीक ऐसी स्थिति में है कि जो भी वह करेगा, उसे वह तुरन्त बैंक एकाउण्ट में *कमाए धन की भाँति* जमा मिलेगा। अर्नाल्ड टायनबी लिखते है कि "हमारे कर्म हमारे लिए एक नैतिक स्तर का बैंक एकाउण्ट बनाते है, जिसमें क्रैडिट व डेबिट का संतुलन चलता रहता है। हर कर्म के साथ ताजी एण्ट्री होती रहती है व दोनों खाते हर बार रिन्यू होते रहते है।" वे लिखते है कि "बड़ी निराली व्यवस्था भारतीय ऋषियो की यह है कि जिसमें व्यक्ति गणितीय सिद्धान्तानुसार शुभ कर्म करते हुए अपने लिए देवत्व का-शुभ का मार्ग चुन सकता है।"

सृष्टि में विचार से क्रिया-क्रिया का प्रतिफल क्रिया की स्मृति-आदतें-संस्कारों का चित्त पर आरोपण यह खेल निरन्तर चल रहा है व कुशल शक्तियाँ *व्यवस्थापिका की भूमिका निभाती हुई यह सारी प्रक्रिया* सुनिश्चित कर रही है कि हर व्यक्ति अपने लिए कर्म करता हुआ लोक संग्रह करे। अवसर हर पुरुषार्थी को मिलता है। प्रकृति की शक्तियाँ प्रारब्ध के वशीभूत हो अवसर लाती है तथा सुकर्मों द्वारा गुरू की शक्ति से एवं ध्यान साधना द्वारा प्रारब्ध को बदला जा सकता है। एक स्वचालित सुनियोजित क्रम "कर्म पुरुषार्थ" पर टिका सतत् चल रहा है।

यह सारा तत्वदर्शन यहाँ मनोविज्ञान का क. ख. ग. समझाने के लिए नही, न ही विद्वत्ता झाड़ने के लिए, अपितु सृष्टि की सुव्यवस्था के तंत्र को समझाने के लिए प्रस्तुत किया गया है। संस्कार जो व्यष्टिगत है पूरी समष्टि को प्रभावित करते हैं। साथ ही यह भी *सत्य है कि समाज के संस्कार व्यक्ति के मन को भी* प्रभावित करते हैं। आज मूल समस्या क्या है ? यही न, कि समाज कुसंस्कारी हो गया है व्यक्ति अपनी आस्थाएँ, नैतिक मूल्य खो बैठा है। तो यहाँ यह भी समझना होगा कि यह सारी प्रक्रिया अचेतन मन की समष्टिगत प्रतिक्रिया से जन्मी है व इसका उपचार भी उसी सूक्ष्म स्तर पर उसी धरातल पर ही संभव है। आज जो मानसिक संत्रास, कुण्ठाएँ, मनो-शारीरिक रोगो का बाहुल्य धरती पर है वह भी कुसंस्कारों की ही प्रतिक्रिया है। धरती का इतिहास बदलना है, समाज का सारा ढाँचा बदलना है, पूरे युग को बदलना है तो हमे समष्टिगत संस्कारों के परिशोधन हेतु सारे समाज में देवमानव बनाने वाले तंत्र को पैदा करना होगा।

वस्तुत. व्यक्ति के मन का इतिहास ही धरती का इतिहास है। चंगेज खाँ, नेपोलियन, मुसोलिनी, हिटलर आदि के अचेतन मनों ने उनके अनुरूप दुनिया का इतिहास बना दिया। मानव की दुर्दशा का कारण ही अचेतन के संस्कारो की प्रतिक्रिया है। यदि धरती के भाग्य विधाता एक नही, अनेक सुसंस्कारी देवमानव अगले दिनों बन जाएँ तो वे भविष्य को आमूलचूल

बदल सकते हैं। स्वस्थ चिंतन करने वाले व्यक्तियों को पैदा करने का तंत्र हमे देवसंस्कृति दिग्दर्शन करते हुए प्रदान करती है। देवसंस्कृति ही हमें योगसाधना के माध्यम से चित्त की वृत्तियों का निरोध कर संचित कुसस्कारो को मिटाना व अनगढ़ को सुगढ़ बनाना सिखाती है। यही नहीं अपने प्रसुप्त सुसंस्कारों को जगाना भी अध्यात्म तत्व दर्शन के विभिन्न निर्धारणों के माध्यम से ही सभव है, जिनका उल्लेख हिन्दू संस्कृति करती है।

कामुकता के-वासनाओं के-बंधनों में जकड़ने वाले कुसंस्कारों के जंजाल से ऊपर उठाकर विश्व मानवता को सुसंस्कारी बनाने का एक पूरा तंत्र भारतवर्ष के पास है। भारतीय संस्कृति की मान्यता है कि सतयुग में जब अच्छाइयों का, सत्प्रवृत्तियो का बाहुल्य होगा तो बुराई को, अनीति को, दुष्प्रवृत्तियों को दबना ही होगा। इसके लिए वातावरण सही बनाने की संस्कारों की महत्ता समझते हुए जीवन यात्रा के विभिन्न नाजुक मोड़ों पर उन्हें संपन्न करते हुए अचेतन की परिष्कृति की आवश्यकता है। यदि बहुसंख्य समुदाय देवसंस्कृति की मूलभूत मान्यता-व्यक्तित्व के परिष्कार, सुसंस्कारिता संवर्धन, कामनाओ के परिष्कार द्वारा संवेदनाओ के विराट स्तर पर विस्तार की आवश्यकता समझ ले तो सतयुग की वापसी सम्भव है। यही भवितव्यता भी है। आज सभी चिंतकों-मनोवैज्ञानिकों का ध्यान अकारण ही प्राच्यविद्या पर नही आकर्षित हुआ है। वे जानते है कि युग-समस्याओ का समाधान इसी के निर्धारण में निहित है। अगले दिनों जब सोए सस्कार जागेंगे व कुसंस्कारों का समष्टिगत स्तर पर शमन होगा तो सहज ही यह वातावरण बनने लगेगा जिसे हम इक्कीसवी सदी उज्ज्वल भविष्य के नाम से पुकारते हैं।

देवसंस्कृति की प्रेरणादायी आध्यात्मिक विरासत—संस्कार परम्परा

सस्कारों से रहित जातिच्युत द्विजों के लिए एक शब्द उपालम्भ के साथ आर्षवाङ्मय में प्रयुक्त हुआ है। यह है "व्रात्य" व्रात्य का अर्थ होता है ऐसे व्यक्ति जिनने संस्कार विहीन होकर मानवी गरिमा के अनुरूप जीने का अधिकार खो दिया व स्वयं को नीचा गिरा लिया। मनुस्मृति कहती है—"व्रात्यस्तु जायते विप्रात्पापात्मा भूर्जकण्टकः।" ब्राह्मणों से ही उत्पन्न प्रतिलोम यह पापात्मा म्लेच्छ जाति है, ऐसा मनु का मत है। वस्तुतः देवसंस्कृति अनादिकाल से दो ही प्रकार के मानवो का वर्णन करती आयी है—एक संस्कार संपन्न-ब्रह्मनिष्ठ जीवन जीने वाले ब्राह्मण जिनके कारण आर्यावर्त "ब्रह्मवर्त" कहलाया व जिनने सतयुगी समाज की स्थापना की। दूसरे वे, जो संस्कारों से च्युत हो जाने के कारण म्लेच्छहीन अथवा व्रात्य कहलाये। इन्हे तिरस्कृत कर समुदाय से बहिष्कृत कर दिया जाता था। जो भी व्यक्ति शापित होकर भारतवर्ष से निर्वासित हुए उनको सबसे बड़ा दण्ड यह दिया गया कि उनके साथ कुल पुरोहित ब्राह्मण नही भेजा गया। परिणाम यह हुआ कि उनके सस्कार क्रमशः लुप्त होने लगे। जीवन रूपी विराट यात्रा के हर मोड पर जिनकी आवश्यकता थी, उनके संपन्न न होने के कारण आचार-विचार सब बदलता चला गया व क्रमशः ये सभी आचारविहीन म्लेच्छ कहलाये। बार-बार वृहत्तर भारत पर आक्रमण इन्हीं व्रात्यों द्वारा होते रहे है, यह इतिहासविदों व संस्कृति के वेत्ताओ का मत है। जहाँ-जहाँ न्यूनाधिक भी आचार-व्यवहार जिन्दा रहा, वहाँ के लोगो ने भारत से संबंध बनाये रखे। महाभारत काल तक उनके सबध उनकी कन्याओं का भारत मे विवाहादि का क्रम बना रहा बाद मे यह टूट गया। इस प्रकार कुल पाँच हजार वर्ष पूर्व तक विश्व के समस्त मानव भारतीय संस्कृति-देवसंस्कृति के ही अनुयायी कहलाकर स्वयं को गौरवान्वित अनुभव करते थे। यह सारा गौरव सस्कारो की महिमा के कारण ही था।

सस्कार शब्द ने सर्वाधिक महत्वपूर्ण स्थान भारतीय आचार-विचार मे पाया है। अनैतिक आचरण कुसंस्कारों की तथा श्रेष्ठ अनुकरणीय आचरण सुसस्कारो की प्रतिक्रिया हमारे यहाँ मानी जाती है। आखिर ये संस्कार है क्या ? आद्यशंकर कहते है—संस्कारो हि नाम संस्कार्यस्य गुणाधानेन या स्याद्दोषाप नयनेन वा" (१/१/४-ब्रह्मसूत्र भाष्य) अर्थात् "जिसका संस्कार किया जाता है, उसमे गुणो का आरोपण अथवा उसके दोषो को दूर करने के लिए जो

कर्म किया जाता है, उसे संस्कार कहते है।" गौतम धर्म सूत्र में कहा गया है कि "संस्कार उसे कहते है जिससे दोष हटते हैं और गुणों का उत्कर्ष होता है।" संस्कार शब्द की व्युत्पत्ति 'क' धातु मे सम् उपसर्ग और 'धञ' प्रत्यय लगाकर की गयी है। इस शब्द का उपयोग शिक्षा, संस्कृति, सौजन्य अभिव्यक्ति, व्याकरण शुद्धि, संस्करण शोभा आदि अनेक अर्थो मे हुआ है। अंग्रेजी में इसके लिए "सेक्रामेण्ट" शब्द का प्रयोग करते है फिर भी यह सभी शब्द भारतीय संस्कृति के सस्कार शब्द के उस व्यापक अर्थ को स्पष्ट नही कर पाते, जिसके माध्यम से व्यक्ति के शारीरिक, मानसिक, बौद्धिक व आध्यात्मिक परिष्कार के निमित्त धार्मिक अनुष्ठान कृत्य सम्पन्न किया जाता है।

जिस प्रकार विभिन्न प्रकार की मिट्टी को विधानानुसार संस्कारो द्वारा शोध कर उससे लोहा, ताँबा, सोना आदि बहुमूल्य धातुएँ प्राप्त कर लेते है, जिस प्रकार आयुर्वेदिक रसायन बनाने वाले औषधियों को कई प्रकार के रसो मे मिश्रित कर उन्हे गजपुट, अग्निपुट विधियों द्वारा कई-कई बार तपाकर संस्कारित कर उनसे मकरध्वज जैसी चमत्कारी व अन्यान्य औषधियो का निर्माण करते है, ठीक इसी प्रकार मनुष्य के लिए भी समय-समय पर विभिन्न आध्यात्मिक उपचारो का विधान कर उन्हें सुसस्कृत बनाने की, अनगढ़ से सुगढ़ बनाने की महत्वपूर्ण पद्धति भारतीय तत्ववेत्ता ऋषियो ने विकसित की थी। इसी को षोडष सस्कार नाम दिया गया है। ऋषिगण इस तथ्य से परिचित थे कि बार-बार तपाये जाने-सुसंस्कारित किये जाने से मनुष्य के सचित कुसंस्कार नष्ट होते है तथा इन सूक्ष्म उपचारों द्वारा जीवन की मार्मिक सधियों-महत्वपूर्ण अवसरो पर विशिष्टताओं का, देवत्व का अभिवर्धन किया जाना सभव है।

वस्तुतः भारतीय सस्कृति का मूलभूत एक उद्देश्य है वह है "श्रेष्ठ संस्कारवान मानव का निर्माण"। ऋषि यह मानते है कि जन्म-जन्मान्तरों की वासनाओ का लेप जीवात्मा पर रहता है। मनुष्य योनि मे ही वस्तुतः आत्मतत्व पकड़ में आता है। वैदिक धर्म व्यवस्था यह कहती है कि मनुष्य के गर्भ मे आते ही आत्मा पर छाए मलिनता के कषाय-कल्मषो को हटा दिया जाय व उस पर नये संस्कार आरोपित कर दिए जायँ, ऋषिगणो ने मानव जीवन को आत्मा की विराट यात्रा का एक महत्वपूर्ण अध्याय माना व गहन समीक्षा कर गर्भ में आने से लेकर चिता में समर्पण तक तथा उसके बाद भी मरणोत्तर विराम तक आने वाले महत्वपूर्ण मोड़ों पर जीवात्मा को सँभालने-सँवारने की व्यवस्था की है। मानवेतर योनियो से घूमकर आई हेय स्तर की आत्मा भी इन संस्कारों की भट्टी में जिनका विधान ऋषिगणों ने किया है, तपकर प्रतिभासपन्न व्यक्तित्व के रूप मे ढल जाती है। प्राचीन "गृह्यसूत्रों" में संस्कारो के विधि विधानों का विस्तार से वर्णन कर उन्हे सामूहिक चेतना के जागरण, मन की उल्लास-प्रफुल्लता से जुड़ी वृत्तियों के उभार तथा मनोविकारों के निराकरण हेतु ऋषि प्रणीत आध्यात्मिक चिकित्सा के रूप मे संबोधित किया गया है।

आर्य संस्कृति के अनुसार वेद, स्मृति, तत्र में सब मिलाकर ४८ सस्कार पाये जाते है किन्तु इनमे भी १६ प्रमुख है। वेद का कर्म मीमांसा दर्शन षोडष संस्कारो की ही चर्चा करता है। यदि इन्हे विधिपूर्वक संपन्न किया जाय तो प्रथम आठ सस्कार प्रवृत्ति मार्ग मे एव शेष आठ मुक्ति मार्ग पर मनुष्य को पहुँचा देते हैं, ऐसी ऋषियो की मान्यता है। इस संस्कार परम्परा की इतनी महत्वपूर्ण फल श्रुतियो के बावजूद इनकी अवज्ञा क्यो होती चली गयी व आज के आधुनिक पाश्चात्य सभ्यता प्रधान समाज में इन्हे उपेक्षा की दृष्टि से क्यो देखा जाता है, यह एक विचारणीय प्रश्न है ? परम पूज्य गुरुदेव ने षोडष संस्कारो को युगानुकूल बनाकर इन्हे धर्मतंत्र से लोकशिक्षण का एक अनिवार्य अंग बनाते हुए न केवल प्रगतिशील बनाया है अपितु विज्ञान समस्त प्रतिपादनो द्वारा इन्हे व्यापक स्तर पर संपन्न किये जाने की एक सुव्यवस्थित प्रक्रिया को भी जन्म दिया। एक तरह से इस सस्कृति पुरुष ने खर्चीले कर्मकाण्डो व अनावश्यक भाग-दौड़ से भरे इन कृत्यो को सस्ता व जनसुलभ बनाकर इनको पुनर्जीवन ही दिया है। यह युगऋषि की सस्कृति को सबसे बड़ी देन भी कही जा सकती है।

वैज्ञानिक युग में व्यक्ति के पास आध्यात्मिक प्रयोजनो के लिए समय उतना नही है, जितना पहले था। दूसरे जिस तरह अशुद्ध मत्रोच्चारण कर, उनका अर्थ व उनसे ली जाने वाली शिक्षा न समझाकर जिस प्रकार इनके नाम पर लकीर पीटी जाती है। उससे भी जन उपेक्षा बढ़ी है। प्रत्येक कर्मकाण्ड के साथ खर्चीले

साधन होने व उनके विकल्प न सोचने के कारण भी जनरुचि इनसे हटी है। प्रीतिभोज के नाम पर हर संस्कार के साथ जुड़ा एक अनिवार्य उपक्रम ही इतना खर्चीला हो जाता है कि वह परस्पर प्रीति के स्थान पर यजमान के मन में धर्मतंत्र के प्रति आक्रोश और पैदा होता है। वस्तुतः सभी संस्कारो के साथ जुड़े कर्मकाण्डों मे युगानुकूल संशोधन भी जरूरी था, उनके साथ जुड़ी शिक्षाओं को सुगम भाषा में समझाए जाने की आवश्यकता भी थी तथा भाव संवेदनापरक माहौल उभारने के लिए उस स्तर के पुरोहितों के उत्पादन का तंत्र भी अनिवार्य था। पुरोहितों-कर्मकाण्ड संपन्न कराने वालों के शिक्षण हेतु शान्तिकुज ने कर्म के आधार पर बने ब्राह्मणो तथा मध्यकाल से उपेक्षिता नारी वर्ग को आगे कर एक क्रातिकारी कार्य किया व पण्डो-पुरोहितों-परम्परा से चले आ रहे खर्चीले भ्रष्ट तंत्र को परे रख, एक समानान्तर सेना संस्कार सपन्न कराने वालो की खड़ी कर दी। एक उपयोगी विधा जो व्यक्तित्व के मर्मस्थल को स्पर्श करती थी को इस प्रकार जनसुलभ बना देना युग पुरुष का देवसंस्कृति को सबसे बड़ा योगदान है।

पारम्परिक ढंग से ४८ संस्कारो मे जिन षोडष संस्कारों को शास्त्र मान्यता देते आए हैं, वे इस प्रकार हैं–(१) गर्भाधान (२) पुंसवन (३) सीमान्तोन्नयन ये प्रथम तीन जन्म से पूर्व के संस्कार है। (४) जातिकर्म (५) नामकरण (६) निष्क्रमण (७) अन्नप्राशन (८) चूड़ाकरण (९) कर्णवेध—ये छह संस्कार जन्म के बाद बाल्यावस्था के है। इनके पश्चात् बालक के शिक्षा ग्रहण करने योग्य होने पर (१०) विद्यारम्भ (११) उपनयन (यज्ञोपवीत) (१२) वेदारम्भ (१३) केशान्त तथा (१४) समावर्तन संस्कार। ब्रह्मचर्यव्रत के समापन व विद्यार्थी जीवन के अंत के सूचक के रूप में माना जाता था। (१५) विवाह संस्कार गृहस्थ जीवन के शुभारम्भ पर तथा (१६) अन्त्येष्टि जीवन के समापन पर अतिम संस्कार के रूप में सपन्न होता था। इन षोडष संस्कारों में वानप्रस्थ और सन्यास को ऋषियों ने न गिनकर इनकी गणना वर्णाश्रम व्यवस्था में की थी।

व्यस्त समय की माँग करनी चाहिए कि युगानुकूल बनाते हुए इनकी संख्या घटाकर दस कर दी गई है, जो आज की दृष्टि से अत्यन्त अनिवार्य व व्यावहारिक हैं, दो संस्कार नये जोड़े हैं, जो आज के प्रचलन के अनुरूप है। वे हैं जन्म-दिवसोत्सव तथा विवाह-दिवसोत्सव संस्कार मनाना। यह देवसंस्कृति की विशेषता है कि स्मृतियों से लेकर अन्यान्य निर्धारणो मे समय-समय पर परिवर्तन किये जाते रहे हैं। ऋषिगण पूर्वाग्रहों से परे विवेक को सर्वोपरि मानते चले आए है। परिणाम यही है कि कुछ कट्टर धार्मिक कर्मकाण्डियो को छोड़कर शेष सहिष्णु व्यक्तियों ने अपने को समय के अनुरूप ढाल लिया है। सामयिकता, उपयोगिता, सार्वजनिक और सत्परिणामो की संभावनाओं को सुनिश्चित करने वाली परिपाटी ही इक्कीसवी सदी के मुहाने पर खड़ी युवाशक्ति-प्रबुद्धो तथा नारी-शक्ति को स्वीकार्य होगी, यह मानते हुए युगनिर्माण योजना-प्रज्ञा अभियान ने बारह सस्कारो को जन-जन तक लोकप्रिय बनाया व इन्हे सम्पन्न किये जाने की विराट स्तर पर व्यवस्था भी की है। ये इस प्रकार है।

(१) पुंसवन संस्कार (२) नामकरण सस्कार (३) अन्नप्राशन संस्कार (४) मुण्डन (चूडाकर्म) संस्कार (५) विद्यारंभ संस्कार (६) यज्ञोपवीत सस्कार (७) विवाह संस्कार (८) वानप्रस्थ संस्कार (९) अन्त्येष्टि संस्कार (१०) मरणोत्तर-श्राद्ध संस्कार (११) जन्म-दिवस सस्कार (१२) विवाह-दिवस सस्कार।

पाठकगण इस सूची मे देखेगे कि वानप्रस्थ तथा श्राद्ध सस्कार का इनमें समावेश है, जिनका उल्लेख पारंपरिक षोडष संस्कारों मे नही है। साथ ही जन्म-दिवस व विवाह-दिवस जैसे आधुनिकतम संस्कार भी है, जो वैसे धूम-धडाके से पाश्चात्य विधि से बर्थ डे व एनीवर्सरी नाम से मनाये जाते है। किन्तु यदि धार्मिक कर्मकाण्डो से जुड़े शिक्षण के साथ इन्हे मनाया जाय तो ये न केवल मूल उद्देश्य पूरा करते हैं। जीवन मे श्रेष्ठ प्रेरणाओ का समावेश भी करते हैं। इस दृष्टि से ये अत्यन्त उपयोगी है। सक्षिप्त विवेचन हम सभी का यहाँ प्रस्तुत करेगे किन्तु मूलत. उपरोक्त बारह संस्कारों तथा दो बाद में जुड़े नये सस्कार शिखास्थापन (जो चूड़ाकर्म का उपसंहार पक्ष है किन्तु कभी भी कराया जा सकता है) तथा गुरु-दीक्षा संस्कार (जो उपनयन के साथ जुड़े द्विजत्व के बाद गुरुवरण के लिए किया जाता है) की व्याख्या विस्तार से करेगे। कर्मकाण्ड आदि विस्तृत विवेचनों के लिए परिजन

"धर्मतंत्र से लोकशिक्षण" भाग १ व २ तथा "गायत्री यज्ञ और षोडष संस्कार" भाग १ व २ देख सकते हैं।

गर्भाधान, पुसवन तथा सीमन्त संस्कार बालक के जन्म के पूर्व के संस्कार हैं। **गर्भाधान संस्कार** गृहस्थाश्रम की एक महत्वपूर्ण जिम्मेदारी निभाने जा रहे नव दम्पतियों के लिए एक परिवार संस्था का दायित्व सँभालने के पूर्व की चेतावनी व शिक्षण के रूप में किया जाता था। गर्भाधान को आज का व्यक्ति मात्र वासनापूर्ति का साधन मानता है। ऋषियों ने कब कल्पना की होगी कि कभी "स्पर्म बैंक" बनकर खड़े हो जायेंगे व उनके द्वारा प्रणीत "गर्भाधान" संस्कार का ऐसा मखौल उड़ेगा। इस संस्कार में यह बताया जाता था कि आने वाली जीवात्मा परमात्मा का स्वरूप और प्रतिनिधि है। उसे आमत्रित करने के पहले अपनी योग्यता, साधन और परिस्थितियो का नवदम्पत्ति आंकलन कर लें। आर्य पुरुष अपनी स्त्री के समीप सुसंतति उत्पत्ति रूपी एक निश्चित उद्देश्य को लेकर पूर्व नियत रात्रि में निश्चित रूप से ऐसी धार्मिक पवित्रता लेकर जाते थे जो भावी सतान को निर्मल बनाती थी। आज की परिस्थितियो मे लोगों की उथली दृष्टि देखते हुए फिलहाल इसे छोड़ दिया गया है।

पुंसवन संस्कार गर्भस्थ शिशु के समुचित विकास के लिये गर्भिणी का सपन्न किया जाता है। यह तब संपन्न किया जाता था, जब बालक के भौतिक शरीर का निर्माण प्रारम्भ हो जाता था। प्रायः तीसरे माह से गर्भ मे आकार और संस्कार दोनो अपना स्वरूप बनाने लगते है। शौनक ऋषि के अनुसार यह कृत्य प्रत्येक गर्भधारण के पश्चात् करना चाहिए क्योकि औषधि सेवन व यज्ञकर्म से गर्भ पवित्र व शुद्ध हो जाता है। याज्ञवल्क्य स्मृति के अनुसार पुंसवन सस्कार पहले गर्भ मे ही मात्र करना चाहिए, प्रत्येक गर्भ मे नही, क्योकि ये कृत्य क्षेत्र सस्कार है। पुंसवन सस्कार मे गर्भिणी स्त्री के दाहिने नासिका छिद्र मे वटवृक्ष के छाल का रस गर्भपात के निरोध तथा श्रेष्ठ सन्तति के जन्म के निश्चय के उद्देश्य से छोड़ा जाता था। यह सारी प्रक्रिया ऋषियों के आयुर्वेदिक अनुभव पर आधारित थी। आज थ्रेटन्ड एबॉर्शन से लेकर गर्भस्थ बच्चे पर हानिकारक औषधियो के प्रभाव तक कितनी ही प्रक्रियाएँ वातावरण मे विद्यमान है। इनकी सुरक्षा इस कर्म से होती थी।

शांतिकुंज ने सभी संस्कारों को यज्ञकर्म से जोड़कर विशिष्ट मंत्रोच्चारण का क्रम उनमे जोडकर इन संस्कारों मे नये प्राण फूँके है। वटवृक्ष, गिलोय, पीपल इन तीन वृक्षों के क्रमशः जटा-बेल व कोपल का थोड़ा-थोड़ा अश पानी के साथ पीसकर एक बर्तन मे उसका घोल तैयार कर उसे सुंघवाने के पीछे एक ही तथ्य है कि इन औषधियों के गुण गर्भस्थ बच्चे के विकास को प्रभावित करें। वटवृक्ष विशालता दृढ़ता का प्रतीक है। गिलोय अंतः के कुविचारों-हानिकारक रोगाणुओ के नाश का तथा पीपल परमार्थ परायणता का। इसके पश्चात् गर्भपूजन का विधान है जिसमे संस्कारक्रम मे उपस्थित सभी परिवारीजन अपनी श्रद्धा अपने आशीर्वाद पुष्प के माध्यम से "सुपर्णोऽसि" आदि मंत्रो द्वारा गर्भस्थ शिशु तक पहुँचाते हैं। गर्भवती महिला, पति तथा परिजनों द्वारा गर्भस्थ जीव व दैवी सत्ता जिसने उसे जन्म दिया को मंत्रों द्वारा आश्वस्तना दी जाती है कि उसके विकास का समुचित प्रयास सभी के द्वारा किया जाएगा। तत्पश्चात् यज्ञकर्म सपन्न होता है। गर्भिणी नियमित आहुतियो के अतिरिक्त पाँच आहुतियाँ क्षीर की विशेष मत्रों के साथ यज्ञकुण्ड मे देती है। यज्ञ मे सस्कारित यह खीर यज्ञकर्म समापन के पश्चात् गर्भिणी द्वारा सेवन कर ली जाती है। पूरा कर्मकाण्ड शिक्षणपरक ही नही, वैज्ञानिकता के हर चरण पर समावेश से भरापूरा है। आज श्रेष्ठ सततियों की आवश्यकता है तो ऐसे संस्कारो का प्रचलन बडा जरूरी है।

सीमन्तोन्नयन संस्कार गर्भ का तीसरा सस्कार था, जिसमें प्रतीको द्वारा माता को श्रेष्ठ चिंतन अपने संस्कारो मे शिशु के हित की कामना करते रहने की प्रेरणा दी जाती थी। छठे अथवा आठवें माह मे किये जाने वाला यह संस्कार कालक्रम के अनुसार अब उतना उपयोगी तथा व्यावहारिक भी नही रहा। जातकर्म संस्कार जन्म के तुरंत बाद सपन्न होता था। नाभिबंधन के पूर्व वेद मंत्रो के उच्चारण के साथ यह संपन्न होता था। अब प्राय सभी प्रसव अस्पतालो या प्रसूतिग्रहो पर संपन्न होते हैं, अतः इसकी उपयोगिता भी नही रही।

नामकरण संस्कार—पश्चिम से बिल्कुल भिन्न एक ऐसी प्रक्रिया है, जिसमे गुण प्रधान नाम द्वारा या महामानवों पर रखे नाम द्वारा यह प्रेरणा दी जाती है

कि बच्चे जीवनभर उसी की तरह बनने का स्मरण रखे। शिशु कन्या है या पुत्र उसका भेद न करते हुए इस संस्कार द्वारा शिशु की मौलिक कल्याणकारी प्रवृत्तियो को जगाने की प्रक्रिया सम्पन्न की जाती है। सामान्यतया यह जन्म के दसवें दिन यज्ञकर्म के साथ संपन्न होता था। यज्ञ के साथ जन्म-सूतिका का निवारण-शुद्धिकरण भी हो जाता है। मूल भावना इसकी यह है कि जन्म-जन्मान्तरो के संचित कुसंस्कार अब मानवतन में हुए इस जन्म के साथ दूर हों। सभी उपस्थित व्यक्ति कलश जल के अभिषेक द्वारा शिशु पर अनुदानों की श्रेष्ठ सस्कारो की वर्षा करते हैं। कौंधनी अथवा मेखला कमर में इस आशा से बाँधी जाती है कि नवजात शिशु कर्तव्यनिष्ठा की दृष्टि से सदैव सजग रहे। अभिभावक जब भी बच्चे के कमर की मेखला को बाँधे, उन्हें ध्यान रहे कि बच्चा उनके संरक्षण में है। उसे दोष-दुर्गुणों से मुक्त कराना उनका दायित्व है। शहद चटाकर मधुरभाषण का शालीनता का शिक्षण सस्कार समाहित किया जाता है। वैदिक आर्य सूर्योपासक रहे हैं। इस नाते इस संस्कार में मधुप्राशन के उपरांत सूर्य का दर्शन करा उसकी प्रखरता-तेजस्विता धारण करने की तथा भूमि को नमन कर राष्ट्र के प्रति, देवसंस्कृति के प्रति समर्पण का शिक्षण दिया जाता है। इसके पश्चात् एक सज्जित थाली में लिखा नाम सबको दिखाकर आचार्य मंत्रोच्चारण के साथ उनकी घोषणा करते है व शिशु का नाम लेकर सबसे उसके चिरंजीवी, धर्मशील व प्रगतिशील होने के नारे लगवाते हैं, मूलतः यह समग्र संस्कार बालक के लिए तो है ही, उपस्थित परिजनों में देवसस्कृति की श्रेष्ठतम प्रेरणाएँ सन्निहित करने के लिए अधिक है।

बाल्यकाल के अन्य संस्कारों में निष्क्रमण व कर्णवेध की अब कोई प्रासगिकता नही रही। निष्क्रमण का समावेश नामकरण में कर दिया गया है। कर्णवेध संभावित रोगों से बचाव हेतु किया जाता था। कालान्तर में यह बालिकाओं के आभूषण धारण हेतु सीमित होकर रह गया। अतः इसका भी प्रचलन अब समाप्त प्राय है, क्योंकि नर-नारी जब समान हैं तो फिर दोनों ही करायें। वस्तुतः आधुनिक एक्युपंचर पद्धति के अनुरूप यह एक सशक्त विधान था। अन्नप्राशन संस्कार में जो शिशु जन्म के छठे मास में (गौ. गृ सू. २/७/१५) किया जाता है, में प्रथम अन्न-आहार ग्रहण कराने के साथ भावना यह की जाती है कि हमेशा बालक सुसंस्कारी अन्न ग्रहण करे "आहार शुद्धौ-सत्व शुद्धिः" की प्रेरणा इस माध्यम से हृदयंगम करायी जाती है। सुपाच्य खीर, मधुरता का प्रतीक मधु स्नेह का प्रतीक थी, विकारनाशक पवित्र तुलसी तथा पवित्रता का प्रतीक गंगाजल का सम्मिश्रण (प्रत्येक विशिष्ट मंत्रोच्चार के साथ) यज्ञ भगवान के प्रसाद के रूप में बच्चे को खिलाया जाता है। हमेशा बालक सात्विक आहार ही ग्रहण करे व इस प्रकार चिंतन सदा उसका सतोगुणी बना रहे, यही प्रेरणा सभी अभिव्यक्त करते हैं। चूड़ाकर्म संस्कार की शिखा-स्थापन संस्कार के साथ व्याख्या अगले लेख में की गयी है। यहाँ बाल्यकाल समापन पर विद्यारंभ की विवेचना कर इस पूर्वार्ध का समापन करेगे।

विद्यारम्भ संस्कार बड़ी महत्वपूर्ण फल श्रुतियो से भरा हुआ है। आयु के पाँचवे वर्ष में यह तब सपन्न कराया जाता है, जब बालक का मस्तिष्क शिक्षा ग्रहण करने योग्य हो जाता है। शिक्षा मात्र शिक्षा न रहकर विद्या बने, गणेश व सरस्वती के पूजन के माध्यम से वह सुसंस्कार देने वाली विद्या तथा ज्ञानावर्धन करने वाली कला उल्लास की देवी सरस्वती को नमन कर उनसे प्रेरणा ग्रहण करें, यह मूल भावना होती है। तत्पश्चात् शिक्षा के उपकरणो-दावात्-कलम, पट्टी या कॉपी-कलम का पूजन कर इन्हे वेदमंत्रों से अभिमंत्रित किया जाता है। बालक जो भी लिखे वह सुलेख हो तथा श्रेष्ठतम हो, इस भावना से यह पूजन होता है। विद्या देने वाले गुरु का तत्पश्चात् विद्यार्थी प्रणाम व अभिवादन करता है। जो भी बालक पढ़े वह सार्थक बने, वह एक श्रेष्ठ मानव बने, इस भावना से गुरु (अध्यापक) छात्र को अपने हाथ से कलम पकड़कर पचाक्षरी गायत्री मंत्र (ॐ भूर्भुवः स्व) पट्टी या कॉपी पर लिखवाते हैं, उन पर अक्षत छुड़वाकर बालक को तिलक लगाकर आशीर्वाद देते हैं। जब तक यह क्रम विद्यारंभ का रहा, तब श्रेष्ठ विद्यार्थी, आरुणि-श्वेतकेतु-सत्यकाम जैसे शिष्य जन्म लेते रहे। आज की शिक्षा तो उदरपूर्णा वाली, व्यक्ति को कुसंस्कारी भ्रष्ट बनाने वाली एक उद्योग-आजीविका प्रधान प्रक्रिया बन गयी है। विद्यारम्भ के साथ यदि बच्चा अगले सोपान में प्रवेश करता है तो निश्चित ही

सुसंस्कारो को धारण करता हुआ वह श्रेष्ठ लोकसेवी नागरिक बनता है।

इसमें कोई संदेह नही कि ऋषिगण कुशल वैज्ञानिक ही नही मनोवैज्ञानिक भी थे। वे *लोकशिक्षण की प्रेरणाओ का जिस प्रकार उपयोग* करते थे, वह प्रयोग यदि युगानुकूल दृष्टि से *पुनर्जीवित किया जा सके तो निश्चित ही संस्कार* परम्परा के फलदायी परिणाम सभी को देखने को *मिलेगे।*

देवमानव गढ़ देने वाले ये विलक्षण संस्कार

संस्कार परम्परा का पुनर्जीवन क्या है ? इस सम्बन्ध मे जानना हो तो यही कहा जा सकता है कि धर्मतंत्र से लोकशिक्षण प्रक्रिया के अन्तर्गत षोडश संस्कारो मे से कतिपय युगानुकूल व्यावहारिक तथा देश, काल हर दृष्टि से उपयोगी विधानों को जन-जन तक पहुँचा देना। यही वह प्रक्रिया है, जिसके द्वारा देवमानव बनाये और विकसित किये जा सकते है। इसलिए गायत्री यज्ञ के माध्यम से वेदों-गृह्यसूत्रो आदि के प्रेरणादायी मंत्रो के साथ आज इन्हे स्थान-स्थान पर सपन्न होते देखा जा सकता है। यह विशुद्धतः एक व्यापक स्तर की लोक क्रान्ति है, जिसे अब बढ़े-चढ़े रूप मे संस्कार महोत्सवो के माध्यम से पूरे विश्व मे सपन्न होते देखा जा सकेगा।

पिछले अध्याय मे बाल्यकाल तक के तथा उसके बाद के विद्यारम्भ संस्कार की चर्चा हो चुकी। मुण्डन (चूडाकर्म) संस्कार, यज्ञोपवीत, विवाह संस्कार, अन्त्येष्टि तथा मरणोत्तर-श्राद्ध संस्कार की चर्चा इस प्रसग मे यहाँ करेगे। वानप्रस्थ संस्कार के प्रकरण को *प्रव्रज्या तथा वानप्रस्थाश्रम के पुनर्जीवन प्रसंग के साथ* विस्तार से इसी अंक मे दिया जा रहा है। गुरुदीक्षा-गुरुवरण प्रसग को साधना पद्धतियो के विवेचन के साथ आगामी माह परिजन पढ सकेगे।

मुण्डन (चूड़ाकर्म) संस्कार के साथ *शिखा* की तथा यज्ञोपवीत (उपनयन) के साथ सूत्र की स्थापना को *भारतीय संस्कृति का हिन्दुत्व का आधार* माना जाता है। जहाँ शिखा संस्कृति की, गौरव पताका की प्रतीक है, वहाँ सूत्र विशिष्ट संकल्पो व व्रतो का प्रतीक है। दोनों ही संस्कार बड़े महत्वपूर्ण व शिक्षा-प्रेरणा से भरे हुए है।

चूड़ाकर्म (मुण्डन) संस्कार जन्म के पश्चात् *प्रथम वर्ष के अंत अथवा तृतीय वर्ष की समाप्ति के* पूर्व सम्पन्न होता है। पुरातनकाल से ही ऋषियो की *यह मान्यता है कि मनुष्य न जाने कितनी योनियो मे* भटकता हुआ पाशविक संस्कार-विचार-मनोभाव धारण *करता हुआ मानव योनि को प्राप्त होता है।* इन अनुपयुक्त अवांछनीय सस्कारो का निष्कासन बालक के *सही मानसिक विकास* हेतु *अनिवार्य* है। नरपशु-नरकीटक से नर-मानव, देवमानव मे परावर्तन हेतु *यह प्रतीक सस्कार सपन्न किया जाता है।* मुण्डन सदैव किसी तीर्थ स्थान या देवस्थल पर किया जाता है ताकि सिर से उतारे गये बालो के साथ निकले कुसस्कारो का तीर्थ चेतना द्वारा शमन हो सके तथा सुसंस्कारों की स्थापना हो सके। आश्वलायन गृह्यसूत्र के अनुसार चूडाकरण से दीर्घ आयु प्राप्त होती है। बालक सुन्दर तथा कल्याणकारी कार्यों की ओर प्रवृत्त होने वाला बनता है (तेन ते आयुषे वपामि सुश्लोकाय स्वस्तये-आ. गृ सू १/१७/१२)। आयुर्वेद के आचार्य चरक के अनुसार केश, श्मश्रु (दाढ़ी-मूँछ) तथा नखो के काटने तथा प्रसाधन से पौष्टिकता, बल, आयुष्य, शुचिता व सौदर्य की प्राप्ति होती है, अत यह संस्कार अवश्य कराना चाहिए व आगे समय-समय पर केशकर्तन कराते रहना चाहिए।

शिखा की स्थापना इस संस्कार का महत्वपूर्ण अंग है। मुण्डन व शिखास्थापन संस्कार अलग-अलग न होकर एक साथ भी होते है। शिखा गायत्री की धर्मध्वजा की प्रतीक है अर्थात् बालक आजीवन प्रज्ञा-विवेक के अधीन रहकर कार्य करे। प्राचीनकाल मे जब लोग कोई प्रतिज्ञा करते थे तो शिखा को स्पर्श करके करते थे। चाणक्य के सबंध मे तो *विख्यात* है कि उन्होने जब तक नदवश का नाश न हो जाय-विराट भारत का उनका स्वप्न साकार न हो जाय शिखा मे गाँठ न लगाने की प्रतिज्ञा की थी। शिखा पवित्र, शुभ, बुद्धिमत्तापूर्वक आरंभ किये गए प्रयासो की प्रकारान्तर से एक प्रेरणा प्रतीक है, जो आदिकाल से रहती चली

आयी है। शिखा वाला स्थान मस्तिष्क का हृदय कहा गया है। ब्रह्मरंध्र यहीं पर होता है तथा वैज्ञानिक दृष्टि से द्विदलीय आज्ञा चक्र भी यही होता है। पीनियल ग्रन्थि जो बालक को किशोरावस्था तक ले जाती है तथा हार्मोन्स द्वारा हर आयु में व्यक्ति के चिंतन का क्रम निर्धारित करती है। यही होती है। ऐसे मर्म स्थान को सुरक्षित रखने के लिए बालो के गुच्छे के रूप में शिखा रखी जाती है। परोक्ष चेतना से ब्रह्माण्डीय ऊर्जा से संबंध स्थापित करने के लिए साधक इसी स्थान से विचार सम्प्रेषण करते हैं। इस तरह शिखास्थापन हर दृष्टि से एक विज्ञान सम्मत व शारीरिक-मानसिक के लिए अनिवार्य क्रम है। शिखा स्थान पर बालों का गुच्छा व्यक्ति की कामुक भावनाओं पर नियंत्रण करने में मदद करता है तथा मनोबल बढ़ाता है। चूड़ाकर्म तो बाल्यकाल में भी होता है किन्तु शिखास्थापन जिसमे आसपास के बाल छँटवाकर स्पष्ट शिखा हो, यह उपक्रम आयु के किसी भी सोपान पर कभी भी संपन्न कराया जा सकता है।

मुण्डन विधान में बालक के बालों को गौ दुग्ध-दही में भिगोकर ब्रह्मा-विष्णु व महेश के प्रतीक के रूप में तीन गुच्छों में कुश तथा कलावे से पहले बाँधते हैं। दूध-दही से केश-परिमार्जन की प्रेरणा यह है कि शुभ देवशक्तियाँ सदैव मस्तिष्कीय तंत्र का स्पर्श करें। सिर के पिछले हिस्से के दायी ओर ब्रह्मग्रन्थि, पिछले हिस्से के बायी ओर विष्णु ग्रन्थि तथा सामने के ओर के केशो को रुद्रग्रन्थि बंधन में बाँधते हैं। तीनो ही देवशक्तियों की विशेषताएँ निर्माणात्मक पोषक-संचालनात्मक तथा आसुरी-अकल्याणकारी शक्तियों को मिटाने की प्रक्रिया इस बंधन से संपन्न हो रही है, यह भावना की जाती है। छुरा जिससे बालों को हटाया जाता है, कुसस्कारों को मिटाने वाला एक उपकरण है अतः इसमें सुसंस्कारों की प्रतिष्ठापना हेतु उसका भी पूजन होता है इसके पश्चात् एक-एक ग्रन्थि को मंत्रोच्चारण के साथ काट देते हैं। गायत्री मत्रो से आहुति के पश्चात् पाँच विशेष आहुतियाँ मिष्ठान्न के साथ दी जाती है। यज्ञशाला से बाहर मुण्डन कर बालों को गोबर मे रखकर जमीन में गाड़ दिया जाता है। अवांछनीयताएँ इसी प्रकार अपने पास से हटा दी जायँ, यह भावना इसमे होती है। शिखा के पूजन के साथ यज्ञाचार्य मुण्डन किये मस्तिष्क पर स्वास्तिक या ॐ शब्द चंदन अथवा रोली से लिखते हैं। यह समग्र संस्कार पाशविकता के कुसंस्कारों से छुटकारा दिलाने तथा श्रेष्ठता की स्थापना के निमित्त संपन्न किया जाता है।

यज्ञोपवीत अथवा उपनयन संस्कार से आशय है आचार्य द्वारा ब्रह्मचारी को अपने संरक्षण में लेना। सूत्र की हृदय क्षेत्र पर स्थापना के साथ ही बालक को विशिष्ट संकल्पों-व्रतों से, ९ लड़ों में गायत्री मंत्र की प्रेरणा से बाँध दिया जाता है। यज्ञोपवीत व शिखा धारण करने का कितना महत्व प्राचीनकाल में था, उसका परिचय इस सूत्र से मिलता है—

विशिखो व्युवीतश्च यत् करोति न तत् कृतम्

(देवल वी. मि. सू. /१)

अर्थात्-"यज्ञोपवीत व शिखा के बिना धार्मिक संस्कारों का अनुष्ठान न करने के समान है।" यज्ञोपवीत धारण के साथ ही मनुष्य का दूसरा जन्म हुआ माना जाता है। जन्म से मनुष्य पशु ही है। माँ के गर्भ से लेकर अब तक जन्म-जन्मांतरों के संस्कार ही उस पर हावी रहे है। अब उसे संस्कार द्वारा द्विजत्व (दूसरा जन्म) दिया जाय ब्राह्मण बनाया जाए, यही भावना ऋषियों की इस संस्कार के मूल मे थी। (जन्मना जायते शूद्रः संस्काराद् द्विज उच्यते)।

यज्ञोपवीत व्रत बंधन है। इस प्रक्रिया के एक-एक कर्मकाण्ड में महत्वपूर्ण प्रेरणाएँ छिपी पड़ी है। सामान्यतः ८ से १० वर्ष की आयु मे यह संपन्न कर दिया जाता है। यज्ञोपवीत में ९ धागे होते हैं, जो नौ गुणो के प्रतीक हैं। विवेक, पवित्रता, बलिष्ठता, शाति, साहस, स्थिरता-धैर्य, कर्तव्यनिष्ठा, समृद्धि व सामूहिकता के ९ गुणो को गायत्री की मूर्तिमान प्रतिमा के रूप मे कंधे पर हर समय धारण किया जाता है। यज्ञ पिता को कंधे पर व गायत्री माता को हृदय पर एक साथ इस प्रतीक सूत्र के माध्यम से धारण किया जाता है। इस सस्कार के आरंभ में ब्रह्मचर्य पालन के प्रतीक के रूप में मेखला-कोपीन धारण करायी जाती है। कुदृष्टि से बचने तथा संयम का पालन करने के व्रत के रूप में बालक इन्हे धारण करता है। मेखला से अर्थ है, कटिबद्ध होकर जीवन के अगले सोपान पर चल पड़ना। इसके पश्चात् ब्रह्मचारी बालक को आचार्य दण्ड प्रदान करते हैं। दण्ड इस भावार्थ के

समस्त विश्व ..... अजस्र अनुदान १.१५९

साथ कि अनीति के सामने कभी सिर न झुकायेंगे, आदर्शवादी सदैव संगठित बने रहेगे। देवप्रतिमा के रूप में यज्ञोपवीत को हाथ में लेकर पूजन तथा उसमें देवत्व के समावेश की भावना की जाती है। तत्पश्चात् ब्रह्मा, विष्णु, महेश, यज्ञ एवं सूर्य इन पाँच देवशक्तियों की साक्षी में क्रमशः आत्मबल, समृद्धि, सुव्यवस्था, परमार्थ एवं पराक्रम इन गुणों को अपने अंदर समाहित करने की भावना के साथ यज्ञोपवीत में इन शक्तियों का आव्हान किया जाता है। इसके पश्चात् मंत्रोच्चारण के साथ सूत्र को कंधे पर धारण किया जाता है। पाँच यज्ञोपवीतधारी मिलकर उसे यह पहनाते हैं व आश्वासन देते हैं कि श्रेष्ठ कार्यों में हम तुम्हारे साथ हमेशा रहेंगे। सविता, देवता व त्रिपदा की शक्तिधारा गायत्री के पूजन के साथ यह क्रम संपन्न होता है।

भारतीय सस्कृति लिंग, जाति, वर्ण किसी भी प्रकार के भेद के बिना सबको यज्ञोपवीत दिये जाने की बात कहती है। स्त्रियाँ भी यज्ञोपवीत पहनती थी तथा शूद्र कहे जाने वाले श्रमिक वर्ग का भी उपनयन होता था। मध्यकाल के अंधकार युग में कई प्रदूषण संस्कृति मात्रा में जुड़े। उनमें यह भी था कि मात्र पुरुषों का यज्ञोपवीत हो व शूद्रों-स्त्रियों का न हो। परम पूज्य गुरुदेव ने मानव मात्र के लिए यज्ञोपवीत का प्रावधान कर जाति-भेद के नाम पर कलंक मिटाया व सबको ब्राह्मणत्व के सूत्र में बाँधने का प्रयास किया जो कि नवयुग की आधार शिला रखने की दृष्टि से जरूरी था। युग ऋषि ही ऐसा कर पाते हैं।

विवाह संस्कार दो आत्माओ की पवित्र बंधन प्रक्रिया है। अथर्ववेद कहता है—"समाने योकत्रे सह वो युनज्मि" प्रेम की अदृश्य डोरी मे बँधे एक जुए मे जुते दो बैलो से वर-वधू की उक्ति दी गयी है। इसमें दो प्राणी अपना पृथक् अस्तित्व समाप्त कर एक सम्मिलित इकाई बनकर एक परिवार सस्था की नींव डालते है। वासना का दाम्पत्य जीवन में तुच्छ व गौण स्थान है, प्रधानता तो दो आत्माओं के मिलने से उत्पन्न उस महती शक्ति का निर्माण करना है, जो दोनो आत्माओं के लौकिक व पारलौकिक जीवन के विकास में सहायक सिद्ध हो सके।

आज के विवाह "कामज" विवाह है—वासना प्रधान है। सुन्दरता, असुन्दरता, वेश-विन्यास, धन समृद्धि यही कसौटी चयन की रह गयी है, कही भी संस्कारों का प्राधान्य नही है। विवाह के साथ जुड़ी तड़क-भड़क-अपव्यय का प्रदर्शन दहेज-बारात आदि की विकृतियों ने समाज में आज एक ऐसा संकट पैदा कर दिया है, जिससे सद्गृहस्थ निर्माण का तत्र ही समाप्त हो गया। जो पवित्र बंधन यज्ञाग्नि की साक्षी में सबके समक्ष प्रतिज्ञा की घोषणा के साथ संपन्न होता था, उसका विकृत रूप ही चारों ओर दिखाई देता है। मूल प्राण कही चला गया, कलेवर नाना रूपो में, थोड़े रूपो में सामने विद्यमान है। वासना के बंधन से जुड़े, धन के सौदे से जुड़े नर-नारी से कैसे आशा की जाय कि सुसतति पैदा होगी। विवाह संस्कार सारे समाज के एक सुव्यस्थित तत्र का मेरुदण्ड है। परम पूज्य गुरुदेव ने इसमें समायी विकृतियो का निवारण कर आदर्श विवाहो का प्रचलन कर परिवार निर्माण के क्षेत्र में जो प्रक्रिया आरंभ की उसकी कोई सानी शताब्दी में नही है।

विवाह यज्ञाग्नि की साक्षी में दो आत्माओं की एक प्रकार से बैल्डिग प्रक्रिया है। वर सत्कार से लेकर नैवेद्य, मधुपर्क एवं विवाह की घोषणा, मंगलाचरण से लेकर कन्यादान, वर द्वारा मर्यादा स्वीकार किया जाना, पाणिग्रहण-ग्रन्थिबंधन तथा वर-वधू की प्रतिज्ञाएँ विशेषाहुति के साथ यज्ञ के बाद शिलारोहण, लाजाहोम एवं अग्नि की परिक्रमा (भाँवरें), सप्तपदी आश्वत्सना तथा अंत में सिंदूरदान से लेकर अभिषेक सिंचन यह सभी कर्मकाण्ड महत्वपूर्ण प्रेरणा व शिक्षण से भरे पड़े हैं। ये सभी उपक्रम दाम्पत्य जीवन को घनिष्ट आत्मीयता के सूत्र में बाँधने वाले, उपार्जन आदि भौतिक आवश्यकताओ का कर्तव्य बोध कराने वाले तथा उठने वाली समस्याओ के निराकरण का प्रशिक्षण देने वाले है। जब यह उपक्रम चलता था, तब दाम्पत्य जीवन मे वस्तुतः प्यार व आत्मीयता का भाव-संवेदना से भरा जीवन जिया जाता था। आज की तरह विग्रह-कलह, तलाक जैसी स्थितियाँ नही आती थी। ऐसे दम्पत्तियो के बच्चे भी प्रतिभासंपन्न होते थे। आज विवाह-सस्था का विकृत रूप सामने है, इसी कारण आस्था संकट की विपत्ति आ खड़ी हुई है। विवाहो को आध्यात्मिक धार्मिक परिवेश देने हेतु ही विचारक्रान्ति अभियान शांतिकुज द्वारा आदर्श विवाहों की एक लम्बी

शृखला चलाई जा रही है व सद्गृहस्थों के निर्माण का तत्र सशक्त बनाया जा रहा है।

विवाह के समान ही महत्वपूर्ण विवाह-दिवस सस्कार है। वेडिंग एनीवर्सरी के नाम पर एक उपहार व कार्ड देने की प्रथा तक यह सीमित होकर रह गया है, जबकि प्रतिवर्ष एक छोटा उत्सव-समारोह द्वारा उस कर्त्तव्य बोध को जगाने की प्रक्रिया सपन्न की जानी चाहिए, जिसकी प्रतिज्ञा विवाह के समय ली गयी थी। यह लाइसेस के नवीनीकरण की प्रक्रिया के समान है। यदि यह भावनात्मक वातावरण मे, आध्यात्मिक संस्कार के रूप मे उपस्थित इष्ट मित्रो के साथ मनाया जाय तो अनेकों को वैसा जीवन जीने की प्रेरणा मिल सकती है। विवाह दिवस विवाह सस्कार के संक्षिप्त सस्करण के रूप मे ही मनाया जाता है। षट्कर्म के पश्चात् संकल्प घोषणा, देवपूजन आदि के बाद ग्रन्थि बंधन-पाणिग्रहण-वर-वधू की प्रतिज्ञाएँ-सप्तपदी तथा आश्वासना यह उपक्रम व्याख्या के साथ संपन्न होता है। दीपयज्ञ के पश्चात् पति-पत्नी एक-एक दीपक हाथ मे लेकर संज्ञान सूक्त उच्चारण के साथ दोनो ज्योति मिलाकर एक कर भाव यह करते है कि इसी तरह हमारा व्यक्तित्व एक रहेगा।

शरीर का अवसान होने पर भी देवसंस्कृति यज्ञीय आदर्शो के अनुरूप जीवन की समाप्ति यज्ञ के साथ करने की प्रेरणा देती है। मरण होने पर अन्त्येष्टि संस्कार षोडष सस्कार मे अतिम संस्कार माना गया है। स्वजनो के शोक को यज्ञायोजन की व्यवस्था मे मोडकर सस्कार संबधी प्रेरणाओ द्वारा जीवन दर्शन समझाना भारतीय सस्कृति की ही विशेषता है। अन्यान्य धर्मो मे तो शरीर को जमीन मे गाड़ दिया जाता है किन्तु इस देह को जिसमे से आत्मा कही और जा चुकी है, सम्मान के साथ अग्नि को समर्पित कर पंचभूतो में मिला देने की वैज्ञानिक दृष्टि से इसीनरेशन की यह प्रक्रिया मात्र देवसस्कृति की ही विशेषता है। मात्र लकीर पीटने तक न सीमित कर इस सस्कार को यदि विधिपूर्वक किया जाय तो इससे मृतात्मा को तो सद्गति मिलती ही है, भावनात्मक वातावरण ऐसा बनता है, जिससे अन्यो को श्रेष्ठ जीवन के आदर्शों को जीवन मे उतारने की प्रेरणा भी मिलती है।

शव को नहला धुलाकर शैय्या तैयार करके, संकल्प, पिण्डदान करके उसे शैय्या पर रखकर श्मशान यात्रा पुष्प वर्षा से आरंभ की जाती है। जीवन अनन्त है। एक पड़ाव के रूप मे यह जीवधारी इस योनि में आया था, इस भाव के साथ जीवात्मा को सद्गति देने तथा कायागत पंचतत्वो को पंच महाभूतों में मिलाने के लिए यज्ञीय कर्मकाण्ड अन्त्येष्टि यज्ञ के रूप मे संपन्न किया जाता है। पाँच पिण्ड यथा समय निर्धारित स्थान पर रखे जाते हैं। शरीरगत सकीर्ण मोह से उबारने के लिए मृतक के हिस्से के साधनो का यह अर्पण है। *भूमि संस्कार के पश्चात् समिधाएँ शव के चारों ओर* रखी जाती हैं। पूर्व, दक्षिण, पश्चिम, उत्तर, इस क्रम से चारों ओर से चार मर्यादाओ से बाँधा जाता है। तत्पश्चात् चिता सजाकर अंतिम पाँचवा पिण्ड देकर शरीर यज्ञ आरंभ हो जाता है। गायत्री यज्ञ की तरह ही पूरा कर्मकाण्ड होता है। हवन सामग्री की सात आहुतियाँ गायत्री मत्र के साथ तथा फिर १६ आहुतियाँ शरीर के, व्यक्तित्व के प्रत्येक अंश को यज्ञमय बनाने की घोषणा के साथ पूर्ण की जाती हैं। शरीर के पाँचो तत्व श्रेष्ठतम गति को प्राप्त हों, इस भाव से सत्रहवी आहुति देते है। सामूहिक जप द्वारा सभी मृतात्मा की शान्ति की प्रार्थना करते है। कपाल क्रिया के साथ पूर्णाहुति की जाती है। कपाल क्रिया सकुचित विचारों की सीमा से विराट् समष्टि मे जा मिलने का प्रतीक है. अस्थियाँ चिता शान्त होने पर तीसरे दिन उठाई जाती है तथा पवित्र सरोवर या सरिता मे उन्हे मंत्रोच्चारण के साथ प्रवाहित कर दिया जाता है। वस्तुत इस समग्र संस्कार द्वारा उसमे भाग लेने वाले तथा स्वजन-परिजन सभी मानव जीवन की क्षण भगुरता का अनुभव कर स्वय को सुपथगामी बनाने की प्रेरणा लेकर जाते हैं।

भारतीय सस्कृति यह मानती है कि जीवन-मृत्यु के साथ ही समाप्त नही हो जाता। जब एक जन्म पूरा करके जीव अगले विकास क्रम की ओर उन्मुख होता है, तो कामना की जाती है कि इस जीवात्मा का अगला जीवन पिछले जीवन की अपेक्षा अधिक सस्कारवान बने। मरणोत्तर संस्कार श्राद्ध-कर्म इसीलिए सपन्न कराये जाते हैं। ऋषिगण यह सत्य भली भाँति जानते थे कि मोह और आसक्ति में पड़ा मन जिस तरह अपनी प्रिय वस्तु के चारो ओर चक्कर काटता है, इसी तरह मृतात्माएँ भी प्रायः उसी परिवेश मे भटकती रहती

है। दिवंगत आत्मा को सद्गति मिले, इस दृष्टि से श्रद्धापूर्वक, वैराग्यपूर्ण वातावरण बनाकर श्राद्धसंस्कार संपन्न किया जाता है। अन्त्येष्टि से तेरहवें दिन श्राद्धकर्म किया जाता है। इसके अतिरिक्त यह संस्कार पितृपक्ष में अथवा देहावसान दिवस पर किये जाने वाले श्राद्ध के रूप मे भी कराया जाता है। शान्तिकुंज में श्राद्ध-तर्पण को निःशुल्क भावनापूर्ण वातावरण में सपन्न कराने की विशेष व्यवस्था है। साथ ही पुरोहितों के शिक्षण का भी तंत्र है ताकि वे शक्तिपीठों, प्रज्ञा संस्थानो, विभिन्न तीर्थों में अपने बलबूते यह संस्कार संपन्न करा सके। मृत्युभोज-खर्चीली रस्म-पगड़ी आदि की परम्परा को इस मिशन ने आमूलचूल मिटाकर मात्र भावनापूर्ण शिक्षण प्रधान संस्कार कृत्य द्वारा ही यह कर्म संपन्न किये जाने का प्रचलन पूरे विश्वभर मे चलाया है।

इस सस्कार में यम एवं पितृ आव्हान कर उनका पूजन कर तर्पण किया जाता है। तर्पण तृप्ति के लिए किया जाता है। पितरों का सूक्ष्म शरीर शुभ कर्मो से उत्पन्न सुगंध का रसास्वादन करके ही तृप्ति अनुभव करता है। श्रद्धा भरे वातावरण के सान्निध्य में पितर अशान्ति से मुक्ति पाकर तृप्ति पाते हैं। जल में जौ, तिल, चावल, दूध, फल जैसी मांगलिक वस्तुएँ डाल देते हैं। कुशाओ के सहारे जौ की छोटी-सी अंजलि मंत्रोच्चारपूर्वक डालने मात्र से पितरो की तृप्ति हो जाती है। पूरे कर्मकाण्ड मे पितरो-दिवंगत आत्माओ के उपकारों का स्मरण कर उनके सद्गुणो के प्रति श्रद्धा व्यक्त की जाती है। श्रद्धा जितनी प्रबल होगी पितरो के अनुदान भी हमे उतना ही मिलेंगे। देवऋषि, देवमानव, देव-पितृ, यम, मनुष्य तथा अंत में भीष्मतर्पण भीष्म जैसे परमार्थ परायण के प्रति श्रद्धा के भाव से किया जाता है। इसके पश्चात् पंचयज्ञ सपन्न करते है। ये है पितृयज्ञ (पिण्डदान द्वारा), भूतयज्ञ (पंचबलि द्वारा), मनुष्य यज्ञ। (दान आदि का सकल्प), देवयज्ञ (सत्प्रवृत्ति सवर्धन हेतु देव दक्षिणा) तथा ब्रह्मयज्ञ (गायत्री विनियोग) इस क्रम से करके पिण्ड-विसर्जन, पितृ-विसर्जन व देव-विसर्जन के साथ प्रक्रिया का समापन होता है।

एक अतिम महत्त्वपूर्ण सस्कार आत्मबोध के लिए वर्ष मे एक बार मनाया जाने वाला जन्मदिन संस्कार है। मोमबत्तियाँ जलाकर उन्हे बुझाकर केक काटना व एक महँगे प्रीतिभोज में अपनी संपन्नता का प्रदर्शन करना आज यह पाश्चात्य स्वरूप उसका रह गया है। किन्तु यदि देवसंस्कृति के विधान के अनुरूप यह मनाया जा सके तो मानव जीवन की गरिमा का बोध कराने वाला इससे श्रेष्ठ पर्व व दिवस और कोई नही है। संस्कार परम्पराओं में पूज्यवर द्वारा जोड़ा गया यह विशिष्ट संस्कार इस भावना से मनाया जाता है कि हर आत्मा मे महानता को प्राप्त होने की अनन्त संभावनाएँ विद्यमान है। यदि इस दिन आत्मचेतना को झकझोरा जा सके तो व्यक्ति महानता के पथ पर आरूढ़ हो सकता है। पंचतत्व पूजन के पश्चात् जितने वर्ष की आयु है, उतने अथवा पाँच दीपक प्रज्वलित कर दीपक की तरह तिलतिल कर आदर्शों के लिए जलने की प्रेरणा ग्रहण की जाती है। दीपदान के इस उपक्रम के बाद व्यक्ति व्रत लेता है। विगत एक वर्ष का लेखा-जोखा कर अग्नि की साक्षी मे वह शपथ लेता है कि अमुक दुष्प्रवृत्तियों का त्याग करूँगा, अमुक सत्प्रवृत्ति धारण करूँगा। इसके लिए देवसत्ताओं की साक्षी दी जाती है। तत्पश्चात् महामृत्युंजय मंत्र की ५ आहुति के पश्चात् सभी पुष्पवर्षा द्वारा अपना आशीष उस व्यक्ति को देते हैं। वस्तुतः भारतीय संस्कृति का एक-एक पक्ष इतना सशक्त, गरिमापूर्ण व भाव प्रेरणाभरी शिक्षा लिए है कि इसका अनुपालन करने वाला स्वयं को गौरवान्वित अनुभव करने लगता है। यदि यह षोडष संस्कारों का क्रम अगले दिनों सारे विश्व, सभी संप्रदायो, सभी वर्गों मे प्रचलित हो उठे तो किसी को आश्चर्य नही करना चाहिए। इतनी महान् आध्यात्मिक विरासत है यह हमारी।

सांस्कृतिक चेतना के ज्योतिस्तम्भ-तीर्थ

भारतीय संस्कृति अनगढ़ मानव को देवमानव बना देने वाली जीवनमूरि है, संजीवनी है। षोडष संस्कारों तथा प्रतीको के माध्यम से जहाँ देवसस्कृति व्यष्टिसत्ता व समष्टिसत्ता मे घनिष्ट तादात्म्य स्थापित कर व्यक्तित्व परिष्कार की प्रक्रियाओ की स्थापना करती है, वहाँ सास्कृतिक चेतना के पाँच सशक्त आधार स्तम्भो के माध्यम से वह इस आलोक को जन-जन तक पहुँचाने की व्यवस्था भी करती है। ये आधार हैं— (१) तीर्थ—जो वातावरण से शिक्षण देते रहे है। (२) गुरुकुल—जहाँ बाल्यावस्था से ही सुसस्कारित

अभिवर्धन का शिक्षण क्रम चलता रहा है। (३) आरण्यक-विधा विस्तार हेतु व्यक्तित्व संपन्न शिक्षको के निर्माण का तंत्र (४) आश्रम—जीवन की गहन शोध कर सद्गृहस्थो से लेकर मानव मात्र के लिए व्यावहारिक अध्यात्म के सूत्र देने वाली व्यवस्था तथा (५) देवालय जो जनजाग्रति के केन्द्र रहे हैं, जहाँ से सत्प्रवृत्ति सवर्धन की प्रक्रिया सतत् चलती रही है। इन पाँचो का विशद् विवेचन पाठकों की जानकारी व शिक्षण हेतु इस व अगले अध्यायों में किया जा रहा है।

मनुष्य को सुसस्कृत बनाने का विज्ञान और विधान संस्कृति है। जहाँ इसकी चेतनता सर्वाधिक सक्रिय, जीवन्त और मुखर अनुभव हो-शास्त्रकारों ने उसी स्थान को तीर्थ कहा है। पुराणो के सर्वाधिक पृष्ठ इसके माहात्म्य से भरे पड़े है। स्कन्द पुराण का बहुत बड़ा अश इसी विवरण को अपने मे सँजोये है। दूसरे अनेक पुराणो-उपपुराणो मे भी तीर्थों के महत्व, तीर्थयात्रा के पुण्यफल पर प्रचुरता से प्रकाश डाला गया है। इस सारे वर्णन और विवरण का उद्देश्य जन साधारण को तीर्थ चेतना का सान्निध्य पाने के लिए प्रोत्साहित करना है। इस पारस को छूकर लोग अपने भीतर की लोहे जैसी कठोरता, कलुष-कालिमा को धो सके और बहुमूल्य सुवर्ण जैसा अपना अन्तःकरण बना सके। इन्हे उस कल्पवृक्ष की उपमा दी जा सकती है—जिसके सम्पर्क में आने वाले अपने आन्तरिक अभावो और संकटो से छुटकारा पा सकते है। आरम्भ काल के अपने तीर्थ ऐसे ही शान्ति समाधान केन्द्र थे।

प्राच्य विद्या के मनीषी आर. आर. दीक्षितार ने अपने ग्रन्थ "स्टडीज ऑफ धर्मशास्त्राज" मे इन केन्द्रों की स्थापना के बारे मे काफी खोजबीन की है। उनके अनुसार इनमें से प्रत्येक स्थान अपने समय मे किसी ऋषि की तपस्थली अथवा अवतारो की लीलाभूमि रहा है। उन दिनो ऋषि अपने छात्र-शिष्यो तथा गायो के साथ घूमते रहते थे। वे सुविधाजनक जगहों पर पडाव डालते कुछ समय वहाँ रुकते और फिर आगे बढ़ जाते। इस क्रम मे आस-पास के क्षेत्रो की जनता भी लाभान्वित होती थी। इस तरह छात्रो का अध्ययन और लोक-शिक्षण साथ-साथ चलता रहता था।

आज जो छोटे-छोटे तीर्थ, देव स्थान, धर्म स्थान दिखाई देते हैं। वे ऋषियों के निवास और शिक्षण क्रिया के स्मारक चिन्ह जैसे हैं। बड़े तीर्थों की स्थापना का उद्देश्य कही अधिक व्यापक और गुह्य था। इस प्रक्रिया मे सलग्न ऋषिगण तरह-तरह के व्यक्तिगत और सामूहिक प्रयोगों द्वारा वातावरण को दिव्य-स्पन्दनों से भर देते थे। उनकी तपश्चर्या से उद्भूत प्राण ऊर्जा तीर्थ चेतना की प्रखरता और प्रभाविकता को जन्म देती थी। इसकी समर्थता से तादात्म्य साधने वाले व्यक्तित्व स्वयं की दिशाधारा और स्वरूप में वांछित बदलाव की अनुभूति किए बिना नही रहते थे। प्रयोगों के इसी क्रम में महर्षि अगस्त्य ने वेदपुरी नर-नारायण ने बद्रीनाथ, ऋषिदम्पति अत्रि-अनसूया ने चित्रकूट ब्रह्मर्षि-विश्वामित्र ने सिद्धाश्रम, अवधूत श्रेष्ठ दत्तात्रेय ने गिरनार, ब्रह्माजी ने पुष्कर और भगवान शिव के तप ने कैलाश के दिव्य क्षेत्र को जन्म दिया।

इनके अलावा जिन क्षेत्रो में भगवान के विभिन्न अवतारो के क्रियाकलाप विशिष्ट प्रेरणाएँ प्रस्तुत करते रहे है, वहाँ भक्तजनों ने तीर्थों की स्थापना की है। भगवान राम और कृष्ण की लीलाओं का स्मरण दिलाने वाले अनेको तीर्थ अभी भी उनकी लीला-भूमि में विद्यमान है। इन सबका एक ही उद्देश्य रहा है कि सर्व सामान्य को भगवान के अवतारो के प्रयोजनो का परिचय मिले वे उससे प्रेरणा और प्रकाश पा सकें। इसीलिए इन विशिष्ट स्थलो को अवतारो का "भावना-शरीर" कहा जाता है और इसी श्रद्धा भावना से उनके सान्निध्य का प्रयास किया जाता है। यह प्रयास मनुष्य मात्र को प्रेरणा-प्रकाश और ऊर्जा देता रहे। इसी प्रयोजन ने बद्रीनाथ, द्वारकापुरी, रामेश्वर, जगन्नाथपुरी नामक चार धामो काशी, कांची मायापुरी, द्वारावती अयोध्या, मथुरा, अवन्तिका आदि सप्त पुरियो, वाराणसी, गुप्तकाशी, उत्तरकाशी, दक्षिणकाशी, शिवकाशी नाम से पचकाशियो, गंगा, यमुना, गोदावरी, सरस्वती कावेरी, नर्मदा और सिन्धु नामक सप्त पुण्य नदियाँ कुरुक्षेत्र, हरिहर क्षेत्र, प्रभासक्षेत्र, रेणुकाक्षेत्र, भृगुक्षेत्र, पुरुषोत्तम क्षेत्र एवम् सूकरक्षेत्र आदि सप्तक्षेत्रो तथा बिन्दु सरोवर, नारायण सरोवर, पम्पासरोवर, पुष्कर सरोवर और मानस सरोवर के रूपो मे व्यापक तीर्थ तन्त्र विकसित किया। इन प्रधान केन्द्रों से ऊर्जस्विता लेकर अन्य अनेक छोटे-बडे तीर्थ विकास पाते रहे।

प्राच्य अनुरागी ए. एल. वैशम के ग्रन्थ "द वन्डर दैट वाज इण्डिया" की विषयवस्तु पर विचार करने पर पता चलता है कि इस स्थापना ने दो प्रक्रियाओ को गति दी। एक यह कि समय-समय पर अपनी सुविधानुसार व्यक्ति वहाँ पहुँचे और उपयुक्त वातावरण में आरण्यकों के तत्वाधान मे तीर्थवास करें। दूसरा यह कि विशेष पर्वों पर लोग इकट्ठे होकर मनीषियों के सान्निध्य एवम् उनके विचार-मन्थन से प्रकाश और प्रेरणा प्राप्त करें। तीर्थ सेवन की इस परम्परा का परिणाम है कि अभी भी माघ महीने मे त्रिवेणी तट पर अनेक लोग पर्णकुटी बनाकर एक माह निवास करते हैं। इस साधनाव्रत को 'कल्पवास' कहा जाता है। यह स्वयं के अस्तित्व को स्थान विशेष के दिव्य स्पन्दनो से एकाकार करने का प्रयोग है। जिसमे कतिपय अनुशासन व्रतों, मर्यादाओ का पालन करना होता है। अन्यथा नारद पुराण के शब्दों मे कहे तो—

"गंगादि तीर्थेषु वसन्ति मत्स्या, देवालये पक्षिगणा सन्ति।

भावोज्झितास्ते न फलं लभन्ते, तीर्थाच्च देवायतनाम्य मुख्यात्॥"

गगा आदि तीर्थों मे मछलियाँ निवास करती है, देव मन्दिरो में पक्षीगण रहते हैं, किन्तु उनके चित्त भाव मे रहित होने के कारण उन्हे यहाँ निवास करने का कोई फल प्राप्त नही होता।

प्राचीनकाल मे इनका स्वरूप आध्यात्मिक सेनेटोरियम का था, वहाँ पर आत्मिक विश्रान्ति पाने तथा उद्विग्नता का शमन करने मे सहायता देने वाला वातावरण रहता था। ऋषियो के आरण्यक थे। तीर्थ सेवन के लिए आने वाले वहाँ कुछ समय ठहरकर जीवनक्रम पर नए सिरे से विचार करते और आरण्यको के सचालक ऋषियो से अपनी समस्याओ के समाधान तथा उज्जवल भविष्य के निर्धारण के लिए प्रकाश परामर्श प्राप्त करते थे। बात भी सही है जीवन की उलझनों की समीक्षा करने के लिए इनके जाल-जंजाल से कुछ दूर रहकर उन पर विचार करना जरूरी होता है। व्यक्ति तीर्थ मे पहुँचने पर सम्बद्ध लोगो से दूर हो जाता है। इसलिए उनके प्रति राग-द्वेष भी झीना हो जाता है। उसी मनोदशा मे अपने-पराए, गुण-दोषों को समझना आसान होता है। आधा हल तो समस्याओ का सही स्वरूप समझने में ही निकल आया मानना चाहिए। इसी क्रम में पापों के प्रायश्चित्त के लिए आवश्यक तपश्चर्या करने से वह प्रयोजन भी पूरा हो जाता था, जिसे पाप निवृत्ति कहा है। आत्मशोधन और आत्म परिष्कार के विधि-विधान तपः पूत ऋषियों के संरक्षण में पूरे करने से तीर्थ सेवन के सभी उद्देश्य पूरे हो जाते थे।

इसके पीछे वातावरण की विशिष्ट भूमिका है। कुछ प्रतिभाशाली लोग ही वातावरण को बनाने मे समर्थ होते हैं। सर्वसाधारण तो वातावरण के प्रभाव के अनुरूप ढलते रहते है। जिस ढर्रे पर घर के, समाज के, आस पास के लोग लुढ़कते रहते हैं साधारण व्यक्ति भी घिसटकर उसी प्रवाह मे बहने लगता है। डिब्बे पटरी पर ही लुढ़कते हैं, आँधी अपने साथ अपनी दिशा मे ढेर सारा कूड़ा करकट उडा ले जाती है। वातावरण भी नदी के बहाव और आँधी तूफान के आवेग जैसा ही होता है। सामान्य मनुष्य तो दर्पण की तरह है। जिस रंग की प्रखरता उनके समीप होती है—वैसी ही उसकी दर्पण मे छवि बन जाती है। इसी से इतिहास पुराणो मे सत्सग की महिमा का प्रभाव भरा पड़ा है क्योकि प्रचण्ड प्रभाव या तो प्रचलित ढर्रे का होता है या फिर प्राणवान व्यक्तियों का। उससे कोई विरला ही अप्रभावित रह पाता है। आग के पास गर्मी और पानी के पास ठण्डक मिलती है। सुगन्धित और दुर्गन्धित स्थल की अनुभूति से सभी प्रभावित होते हैं। तीर्थों की प्रमुख विशेषता यही थी—कि प्राणवान प्रतिभाएं वहाँ का ऐसा वातावरण बनाए रहती थी, जिसमे थोड़े समय भी रहने वाला व्यक्ति प्रभावित हुए बिना नही रह पाता था।

प्राकृतिक सौन्दर्य सरित-सरोवर, उत्साहप्रद देवमन्दिर आदि इसमे सोने मे सुगन्ध उत्पन्न करने जैसा काम करते थे। अपने स्नेह सौजन्य अतिथि सत्कार और भाव-भरे परामर्शों से तीर्थयात्रियो को निहाल करने वाले व्यक्तित्वों का अपना आकर्षण कम नही था। इन सबका मिला-जुला चुम्बकत्व लोक मानस मे तीर्थ यात्रा के लिए आतुरता उमगादे तो आश्चर्य क्या ? सम्राट हर्षवर्धन के दरबार मे रहने वाले चीनी यात्री ह्वेनसाग ने इस सम्बन्ध मे अपनी अनुभूति का चित्रण मोहक शब्दों मे किया है। उसके अनुसार भारतीय मनीषियो ने लोक जीवन की भावनात्मक

एकता, सांस्कृतिक चेतना के प्रसार विस्तार एवम् धर्म भावना के विकास जैसे उच्चस्तरीय लाभो के लिए तीर्थ यात्रा का क्रम विकसित किया था। इसी उद्देश्य को पूरा करने के लिए शास्त्रकारो ने इसे पदयात्रा के रूप मे सम्पन्न करने का निर्देश दिया है। कहा जा सकता है कि उन दिनो वाहन नही थे, इसलिए सामयिक परिस्थितियो के अनुसार ही पदयात्रा का विधान किया गया होगा। निस्संदेह उन दिनो आज की तरह द्रुतगामी वाहन नहीं थे पर जो थे उनका भी निषेध किया हुआ था। इस परम्परा के अवशेष आज भी कई रूपो मे देखे जा सकते है। गोवर्धन, गिरनार आदि पर्वतों, ब्रजधाम, प्रयाग, पंचकोशी आदि क्षेत्रो, नर्मदा, गंगा, यमुना आदि नदियो की परिक्रमा आज भी की जाती है। असमर्थता वश जो लोग दूर स्थानो की तीर्थयात्रा नही कर सकते वे इस असुविधा से बचते हुए भी विशिष्ट पर्वो पर, समीपस्थ विशिष्ट स्थानों की या पीपल, बरगद, ऑवला, तुलसी आदि की अमुक सख्या मे परिक्रमा कर लेते है।

मैकक्रिन्डल के ग्रन्थ "मेगस्थनीज एण्ड एरियन" के शब्द प्राचीन समय मे इसके स्वरूप को स्पष्ट करते है। उसके अनुसार उन दिनो आस्तिक जन छोटी मण्डलियाँ बनाकर तीर्थयात्रा के लिए निकलते थे। वहाँ से चलकर किन-किन स्थानो पर ठहरते हुए कब तक वापस लौटेगे ? इसकी रूपरेखा प्रत्येक मण्डली बनाती थी। मार्ग में जो भी गॉव, झोपडे, जगल, पुर मिलते थे उनमे रुकते, ठहरते और किसी उपयुक्त स्थान पर रात्रि विश्राम करते थे। निरन्तर यही क्रम चलता था। दिन मे जहॉं रुकना, वहॉं धर्म चर्चा करना, लोगो की व्यथा सुनना, उन्हे उचित सलाह देना यह प्रातः से साय का कार्यक्रम था। रात्रि विश्राम का काफी कुछ समय कथा कीर्तन शका-समाधान सतसग प्रवचन आदि मे व्यतीत होता था। काय चिकित्सा उपयोगी परामर्श मानसिक समाधान तथा समर्थ शुभकामना जैसे कई एक लाभ इन तीर्थयात्रियो से सर्वसाधारण को मिलते थे। तीर्थयात्रियो के लिए यह यात्रा एक उच्चस्तरीय तपसाधना थी।

भावनात्मक सामजस्य के इस क्रम मे मन्दिर-मठो, देवस्थानो में चढ़ने वाली राशि, तीर्थयात्री जत्थों के लिए ही खर्च होती थी। धर्मशालाओं का उद्देश्य इन जत्थो के लिए ठहरने का प्रबन्ध ही था। धर्म-प्रयोजन के लिए बनी इन शालाओं को बनाने वाले लोग इसलिए पुण्य के भागी बनते थे कि उनके धन से बनी हुई इमारतें सच्चे अर्थों मे धर्म प्रयोजन को पूरा कर रही हैं। तीर्थयात्रा के लिए परिभ्रमण करने वालो में वानप्रस्थियो की बहुलता थी। इस प्रकार तीर्थयात्रा-पदयात्रा की परम्परा जिन दिनों अपने असली स्वरूप मे जीवित थी, उन दिनों जन-जन को कितना सुखद सुअवसर प्राप्त होता था ? इसकी कल्पना से हृदय पुलक हो उठता है।

पूर्व के सांस्कृतिक अध्ययन के लिए जीवन समर्पित करने वाले ओल्डेनबर्ग ने 'स्टडी ऑफ पुराणाज' मे तीर्थ तन्त्र के संचालकों की गतिविधियों को तीन वर्गों में बॉंटा है। प्रथम तीर्थवास मे आने वालों के लिए शिक्षण एव साधना की समुचित व्यवस्था। द्वितीय तीर्थ के निकटवर्ती क्षेत्रो का एक मण्डल बनाकर, उसमे सांस्कृतिक चेतना के सतत् प्रचार का उत्तरदायित्व सम्हालना। तीसरा समय-समय पर स्वल्प अवधि के लिए दूर-दूर से जन समुदाय तीर्थों मे आकर उपस्थित हों ऐसी प्रेरणा जन-जन को देना। यह कार्य पर्व स्नान के रूप मे होता था। यो तीर्थ में धर्म प्रेमी जाते तो सदैव रहते है। किन्तु पर्वस्नान का विशेष पुण्यफल माना गया है। पर्व स्वाभाविक तौर पर धर्म सम्मेलनो का प्रयोजन पूरा करते थे।

कभी-कभी धर्मसेवियो ऋषि-तपस्वियो का भी मिलन सम्मेलन होता था। ताकि वे मिल-जुल कर एक दूसरे के अनुभव का लाभ उठाते हुए समय की माँग को पूरा करने के लिए मिल-जुल कर उपाय निर्धारित कर सके। कुम्भपर्व जैसे आयोजन इसी उद्देश्य से निर्धारित किए गए थे। तीन-तीन वर्ष बाद लगभग एक-एक महीने के लिए हरिद्वार-प्रयाग, उज्जैन, नासिक मे सम्पन्न होने वाले इन पर्वो का मकसद इस बडे धर्म क्षेत्र का एक भ्रमण चक्र पूरा करना होता था।

विभिन्न वर्गों के मूर्धन्य मनीषी अभी भी विविध 'सेमिनारो' के रूप में मिलते-जुलते है। इनमे शिक्षा, स्वास्थ्य, विज्ञान, न्याय व्यवस्था आदि जनोपयोगी विषयों पर मिल-जुलकर उचित समाधान के लिए ढूँढ-खोज होती है। प्राचीन काल में कुम्भ जैसे पर्वों का ठीक यही रूप था, ऐसे विशाल आयोजनों की महत्वपूर्ण भूमिका यही थी कि उस अवसर पर विभिन्न

मनीषियो के निर्धारणों, प्रतिपादनो तथा प्रेरणाओ से अवगत होकर समुचित निष्कर्ष पर पहुँचा जा सके। यह समस्त गतिचक्र तीर्थो की धुरी पर ही घूमता था। अमुक तीर्थ में अमुक समय पर सम्मेलन पर्व सम्पन्न होना है, यह तय रहने से समय की अलग से सूचना भेजने, नई व्यवस्था जुटाने, विद्वानो को आमंत्रण भेजने की झंझटो से मुक्त रहना सम्भव होता था। सब कार्य स्वाभाविक क्रम से सहज रूप मे सम्पन्न होते थे।

स्पष्ट है जिन दिनो तीर्थ अपनी सभी भूमिकाएँ निभाते रहे होगे, उन दिनो तीर्थयात्रा से लौटने वाला व्यक्ति वहाँ आध्यात्मिक विश्रान्ति के उपरान्त नई क्षमता, नई दृष्टि और नई स्फुरणा से नए सिरे से अपने सामान्य जीवन में प्रवेश करता होगा। यही नही तीर्थो और उनके संचालको के ऊर्जस्वी जीवन से बिखरने वाला प्राण भारत-भूमि को स्वर्गोपम परिस्थितियो से भरा-पूरा बनाता रहा होगा।

आज तीर्थो की काया तो विद्यमान है किन्तु उनकी आत्मा प्रसुप्त है। यद्यपि प्रसुप्ति मृत्यु नही है, पर ऐसी स्थिति मे होने वाला आचरण मृतवत् तो है ही। इन दिनो तीर्थो मे पहुँचने वालों की भीड, स्नान दान-पुण्य, दर्शन आदि कृत्य तो पहले जैसे ही है लेकिन दोनो स्थितियो मे वही अन्तर है, जो सुषुप्ति के गर्त और जाग्रति में होता है। प्रथा तो रह गई है पर प्रेरणा बुझ चुकी है। समय की पुकार है कि मूर्च्छना को जाग्रति मे बदला जाय। नवजागरण की इस सुहानी, पवित्र सुबह मे तीर्थों के धर्म बिन्दु को उपेक्षित छोडना उचित नही। मैले कपडे धोए जा सकते है, टूट-फूट की मरम्मत होती रहती है। बीमार फिर से स्वास्थ्य लाभ प्राप्त कर सकता है, तब कोई कारण नहीं है कि तीर्थ तन्त्र स्वार्थों और अधविश्वासो की बेडियाँ तोड़ कर न उठ खडा हो। ऐसी स्थिति मे इसकी प्रखरता की आभा मे अतीत की स्वर्णिम परिस्थितियाँ पुन जाग्रत हो उठेगी।

तीर्थ प्रक्रिया की युगानुकूल नव-प्रतिष्ठापना

नवसृजन अभियान के धर्मचक्र की धुरी 'तीर्थ तत्व' है। विगत दिनो हुई इसकी उपेक्षा अवहेलना का प्रतिफल है कि भावनात्मक विचारशीलता का प्रवाह सूखता चला गया। जिसके परिणाम मे आज मनुष्य के हृदय और मस्तिष्क को शत-सहस्र टुकडे होकर बिखरना पड़ रहा है। इन्हें सजा-सँवार कर 'नया मनुष्य' गढ़ने की कोशिश का मतलब है, तीर्थ प्रक्रिया को विडम्बनाओ से मुक्त करना और उसमे सांस्कृतिक चेतना जाग्रत वाली तत्परता का घुलाना-मिलाना। यदि इसको पुनर्जीवित किया जा सका तो समझो-उज्जवल भविष्य की संरचना का सिंहद्वार खुल गया।

कहने के लिए तो तीर्थो का ढाँचा यथावत् है। रेल-मोटरों की सुविधा हो जाने से यात्रा भी सस्ती और सुगम हो गई है। इन्हें अधिक आकर्षक अधिक मनोहर बनाने मे लोगों का उत्साह भी है। देवताओ की कृपा-अनुकम्पा, पुण्य की प्राप्ति और प्रसिद्धि की चाह ने अनेको को प्रेरणा दी है कि इन तीर्थो मे देव मन्दिर बनवाए जायें, धर्मशालाओं का निर्माण हो। यही कारण है कि अब पहले की अपेक्षा कही अधिक भव्य मन्दिर यहाँ देखे जा सकते है। सरकार मन्दिर तो नही बनाती, पर वह पर्यटको के मन को बाँधने-खीचने वाले अन्य दर्शनीय स्थलो का निर्माण एवं सुधार करती रहती है। व्यापारी भी अपने लाभ और लोभ के लिए विविध उपायो द्वारा दर्शको को खरीददारी के लिए उत्साहित करने का प्रयास और प्रबध करते है। मनोरजन के साधनो की वृद्धि से पर्यटको को तीर्थ यात्रा मे दुहरा लाभ दिखता है। श्रमजीवियों से नवदम्पतियो तक सभी की अब एकरसता मिटाने तथा मन को हल्का-फुल्का और प्रसन्न-प्रफुल्ल बनाने के लिए परिभ्रमण की जरूरत महसूस हुआ करती है और इस हेतु सर्वोत्तम जगह है-तीर्थ। ऐसी स्थिति मे स्वाभाविक है यात्रियो का सख्या बल बढ़े। लेकिन यदि इस संख्या वृद्धि और रूप-आकर्षण की चकाचौंध के बीच तीर्थो की स्थापना करने वाले ऋषि-मनीषियो के उद्देश्य की ढूँढ खोज करें तो अथक परिश्रम के बावजूद निराश होना पड़ता है। इस निराशा से प्रत्येक प्रवुद्ध व्यक्ति को पीड़ा ही होती है, प्रसन्नता नही।

होना यह चाहिए था कि जैसे-जैसे तीर्थो का रूपाकार अधिक आकर्षक, अधिक भव्य बनता गया वैसे ही साथ ही साथ मे लोगो की सच्ची धर्म भावना भी सुदृढ़ होती चली जाती। लोगो का व्यक्तित्व अधिक प्रखर परिष्कृत बनता। उनके आचरण की प्रगति उन्नति से समाज मे भी समृद्धि सुव्यवस्था

प्रगतिशीलता की वृद्धि एवं विस्तार होता चलता। लेकिन ऐसा कुछ भी देखने मे नही आता। पर्यटन केन्द्रों जैसा आकर्षण बढ़ने के बावजूद यह प्रश्न शाश्वत है कि तत्वदर्शियो ने जिस उद्देश्य से इस महान् तीर्थ परम्परा का प्रवर्तन किया था, उसका क्या हुआ ? और क्या होगा ? वही तो इसका प्राण था। वह प्राण ही समाप्त हो गया तो रूपाकार का यह विस्तार किस मतलब का ? प्रथाओ के निष्प्राण विस्तार को ही अनुचित रूढ़ियाँ तथा ढकोसला कहा जाता है। मानवीय अन्तःकरण का परिपोषण करने वाली श्रद्धा की तुलना कामधेनु से की जाती है धर्मकृत्यों का उद्देश्य उसी श्रद्धा का पोषण संवर्धन हुआ करता है।

तीर्थ परम्परा इसी प्रयोजन को पूरा करने के लिए थी। लम्बे समय तक वह प्रयोजन पूरा भी होता रहा। अब उसका समाप्त होते जाना खेदजनक है। यदि तीर्थ इसी प्रकार पर्यटन केन्द्रो के रूप में ही सार्थक रह गए और कोई भी प्रेरणा उनसे नहीं बची, तो फिर उनकी गिनती भी विनोद-मनोरंजन के अन्य साधनो के साथ होने लगेगी। संस्कृति के परिपोषण के स्थान पर तीर्थ विनोद और विकृतियो के ही केन्द्र बनते चले जा रहे हैं। वे प्रकाश स्तम्भ नही रहे। समुद्र में खड़े प्रकाश स्तम्भ यदि ज्योतिर्मय न रहें, तो उधर से निकलने वाले जहाजों को खतरा है। वे प्रकाश स्तम्भ जो आलोकित रहने पर जहाजो का पथ प्रदर्शन करते थे, अब राह के भीषड़ रोड़े बन जायेंगे। उनसे टकराकर जहाजों के चूर-चूर हो जाने का खतरा है। जो सहायक थे वही संकट पैदा करने लगेगे। तीर्थों से भी यदि प्रकाश प्रेरणा विलुप्त होती चली गई तो अनर्थकारी परिणामों के लिए तैयार रहना चाहिए। आज तीर्थों की साज-सज्जा का तो सभी को ध्यान है। लेकिन उनके प्राणों को प्रदीप्त रखने, उनकी ज्योति को जलाए रखने की परवाह किसी को नही है। धर्म के नाम पर इन जगहों पर जो स्टाल लगे देखे जाते हैं, उनमें ऐसा बिकाऊ माल होता है, जो आत्मिक स्वास्थ्य को किसी तरह लाभ नहीं उलटे हानि ही पहुँचाता है। यहाँ भावुकजनो का शोषण किया जाता है और अंधविश्वासों का पोषण। अमृत भी सड़ जाने पर जहर हो जाता है। मुर्दा शरीर तेजी से फूलता है, पर उससे किसी को खुशी नही होती। तीर्थों की आत्मा तो उनसे निकल चुकी, हाँ उसका शरीर फूलता दिख रहा है। इसमे प्रसन्न होने लायक कोई बात नही, उलटे हृदयवान और समझदार लोगो का अस्तित्व परिस्थितियो की विषमता पर जार-जार हो रो पड़ेगा।

आश्चर्य तो इस आत्माविहीन शरीर के रख-रखाव पर होने वाले खर्च का है। इसमे जन शक्ति और धन शक्ति कम नहीं खप रही। कुम्भ आदि बड़े पर्वो की बात छोड़कर सोमवती अमावस्या जैसे छोटे पर्व का ही विवेचन कर लें। इस दिन उत्तरकाशी से लेकर गंगासागर तक लगभग पचास लाख श्रद्धालु प्रत्येक सोमवती पर्व पर गंगा स्नान करते है, श्रम, धन, समय का औसत लगाया जाय तो हर व्यक्ति के पीछे इस महँगाई मे कम से कम दस रुपया खर्च बैठेगा। पचास लाख के पीछे ५ करोड़ रुपया। साल भर मे ४-५ सोमवती अमावस्याएँ होती हैं। इससे यह रकम २५ करोड़ हुई। भारत मे ऐसी और भी पवित्र नदियाँ हैं। इन सबमें सोमवती स्नान करने वालों का कुल खर्च ७५ करोड़ तो माना ही जा सकता है। यानि नर्मदा, गोदावरी, कावेरी, यमुना आदि मे कुल मिलकर १०० करोड रुपए अकेले सोमवती स्नान मे खर्च हो जाते हैं। वर्ष भर होने वाली तीर्थयात्रा मे यदि समय और धन का औसत जोडा जाय तो कुल खर्च एक हजार करोड़ यानि कि दस अरब से कम न बैठेगा। आर्थिक विपन्नता के चक्रव्यूह मे फँसे देश मे इतनी जन सम्पदा के निष्प्रयोजन व्यय का उत्तर किसके पास है ?

इस अहम् सवाल ने तीर्थों की बिलखती आत्मा ने कितनों को बेचैन किया-पता नही। किन्तु वर्तमान युग में जन्मे एक महामानव ने इस पीड़ा से बेचैन होकर अपना समूचा जीवन-तीर्थ चेतना की प्रतिष्ठापना के लिए न्यौछावर करने मे कोई-कोर-कसर नही छोड़ी। लाखों हृदयो में पू. गुरुदेव बनकर प्रतिष्ठित तीर्थ चेतना के इन उन्नायक के मन मे, अतीत की वह सारी दृश्यावलि साकार हो उठी थी। जब अपनी उत्कर्ष की अवधि मे तीर्थ-प्रक्रिया न केवल भारतवर्ष को प्राणवान चेतन बनाए रखने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाती रही है। अपितु सम्पूर्ण विश्व भी इस पुण्य प्रक्रिया के प्रखर प्रकाश से लाभान्वित होता रहा है। पुण्य तीर्थों का दर्शन और सेवन करने पूरी दुनिया से भाव सम्पन्न व्यक्ति यहाँ आते, रुकते, निवास करते,

देखते-समझते और कृत-कृत्य होकर लौटते रहे हैं। इतिहास में इन तथ्यों के प्रामाणिक विवरण विद्यमान हैं। फाह्यान, मेगस्थनीज, ह्वेनसाग, अलबेरुनी आदि के प्रसंग किसी से छुपे नही हैं। स्वयं ईसामसीह भी इसी तीर्थयात्रा, तीर्थ सेवन के लिए भारत आए थे और उन जीवित ऊर्जा केन्द्रों से जीवन साधना कर ईश्वर पुत्र होकर लौटे। उन दिनों भारत भूमि आज जितनी छोटी नही थी। प्रायः सम्पूर्ण एशिया मे बृहत्तर भारत का विस्तार था। उसका प्रकाश सम्पूर्ण धरती पर सूर्य की भाँति आभा और ऊर्जा विखेरता था। उस सतयुग स्वर्णयुग की स्थापना के प्रमुख आधारों के केन्द्रबिन्दु यही तीर्थ थे।

इस तीर्थ तत्व का तात्पर्य किसी देव मन्दिर, सरित सरोवर, पूजा कृत्य तक सीमित नही है। ये सब तो उसके बाहरी कलेवर भर हैं। तीर्थ तत्व का प्राण वह विधि व्यवस्था, जिसके अन्तर्गत इन स्थानों में रहने वाले मनीषी ब्रह्मवेत्ता व्यापक जनसम्पर्क के द्वारा जनमानस मे धर्म-धारणा को प्रतिष्ठित करने के प्रयास करते रहते थे। आस्था क्षेत्र को प्रखर उन्नत बनाते थे। ऋषियों के ये सुव्यवस्थित प्रयास मेघ मण्डलों की तरह व्यापक क्षेत्र मे प्रेरणा की वर्षा करते और भावनाओं की हरियाली को उपजाते-बढ़ाते थे। अतः ऊर्जा का उत्पादन करने वाले बिजलीघरों की तरह तीर्थ-प्रक्रिया की भूमिका थी।

इसे पुनर्जीवित करना, कलेवर मे प्राण फूँकना आसान काम नही है। तीर्थ संस्थापक का पद कोई महन्त या मैनेजर जैसा पद नही है। इसमें यश, वैभव, सुविधा, प्रसिद्धि और अहता की तृप्ति की रत्ती भर गुंजाइश नही है। इसकी एकमात्र योग्यता उसका ब्रह्मर्षि होना है, जिसे अर्जित करने के लिए पू. गुरुदेव को २४ वर्षो तक अपना सारा समय और मन २४ गायत्री महापुरश्चरणो की पूर्ति मे लगाना पड़ा। इसके अलावा न जाने कितनी गहन और गुह्य साधनाएँ सम्पन्न करनी पड़ी, जिनका विवरण अभी लोक दृष्टि से ओझल है। इसी तपश्चर्या के परिणामस्वरूप उनके व्यक्तित्व से ब्रह्मवर्चस् की प्रचण्ड ऊर्जा निस्सृत हुई जिसने तीर्थ चेतना को जन्म दिया।

इस चेतना ने अपनी अभिव्यक्ति गायत्री तीर्थो के रूप मे करनी शुरू की। जिसका प्रारम्भ गायत्री तपोभूमि मथुरा से हुआ। शान्तिकुंज के रूप में इसमें एक नयी कड़ी जुड़ी। सम्भव है किसी अबोध मन मे प्रश्न उठ खड़ा हो-तीर्थ स्थापना गायत्री प्रधान ही क्यो ? इसका उत्तर भविष्य दर्शन में सक्षम-तत्वदर्शियों के लिए स्पष्ट है। विश्व के नए निर्धारण में जिन आस्थाओं-विचारणाओं और परम्पराओं का उपयोग होना है। वे सभी गायत्री महामंत्र मे सन्निहित प्रेरणाओं से ही अनुप्राणित होगी। यह विश्वमाता के रूप मे आद्य-शक्ति का युग-अवतार है। चौबीसवें अवतार को निष्कलंक कहा गया है। यह निष्कलकता मनुष्य का नही चेतनता का गुण है। चेतना का यह अवतार ही प्रज्ञावतार है। जिसके संचरण से समस्त ससार श्रद्धामय होने जा रहा है। नए युग की संभावना सुनिश्चित है। उसी के सूत्र-संकेतों की प्रधानता उभर रही है। गायत्री को देश-काल के सीमा-बन्धनो मे नही जकड़ा जा सकता है, उसे विश्व का सौभाग्य निर्माण करने वाली दिव्य प्रेरणा के रूप में लोकमान्यता मिलेगी। ऐसी दशा मे युग शक्ति की प्रतीक प्रतिष्ठापना का भाव भरा प्रश्रय ही उचित है। इसकी उपासना मे सभी देव शक्तियों की उपासना निहित है। इसी कारण ज्ञानमूर्ति संस्कृति पुरुष ने तीर्थ परम्परा के पुनर्जीवन की प्रक्रिया मे इसे प्राथमिकता दी है। इस कार्य के पीछे उनकी ऋषि दृष्टि और महाकाल की योजना है।

तीर्थ प्रक्रिया की इस नव प्रतिष्ठापना का एक अन्य वैशिष्ट्य भी है। सामान्यक्रम मे तीर्थो को किसी ऋषि अथवा अवतार मे किसी एक का सान्निध्य मिलता रहा है। वर्तमान क्रम मे प्रत्येक गायत्री तीर्थ युग ऋषि की तपशक्ति और प्रज्ञावतार की चेतना शक्ति से अनुप्राणित हुआ है और हो रहा है। तीर्थ परम्परा को व्यापक और सघन बनाने के उद्देश्य को लेकर युग ऋषि ने शान्तिकुज को केन्द्र बनाकर सन् १९७९ की वसन्त को शक्ति पीठो के निर्माण की व्यापक श्रृखला का उद्घोष किया। इस उद्घोष मे 'भारत भूमि देव भूमि बने' की गूँज समाई थी। उनके सकल्प के स्वरो ने देखते-देखते तीर्थ तन्त्र का सुविस्तृत ताना-बाना बुन डाला। २४०० शक्ति पीठो—२४ हजार प्रज्ञा-संस्थानों के सुदृढ़ तन्त्र निर्माण के पीछे उनकी तपश्चर्या से उद्भूत तीर्थ चेतना की क्रियाशीलता भरी अभिव्यक्ति समझी जानी चाहिए।

१९७९ में गायत्री के २४ अक्षरों की २४ प्रतिमाओ की प्रतिष्ठापना की गौरवानुभूति अपने में सँजोने वाले ब्रह्मवर्चस् से शक्ति पीठों के निर्माण का जो क्रम शुरू हुआ था वह अभी भी मन्द नही पड़ा है।

युगावतार के इस कार्य को सत्यम् की भावना शिवम् से परिपूर्ण विचार और सुन्दरम् से ओत-प्रोत क्रिया के रूप मे गतिशील प्राणवान त्रिपदा गायत्री के रूप मे जाना जा सकता है। सामान्यजन इसे इमारत बनाने जैसे हलके-फुलके काम के रूप में भले देखें, समझें, पर जिन्होने अपनी तप साधना की उपलब्धि विवेक दृष्टि के रूप मे पाई है। उनकी नजर में यह एक अनुपम शल्य प्रयोग है, जो सास्कृतिक चेतना का रक्त सचार करने वाली महाधमनी मे जमे-आड़े अवरोधों को हटाने में समर्थ हो सकेगा। जिसके दूरगामी परिणाम होगे, जिस प्रकार अन्तरिक्षीय उपग्रहो को उछाल देने वाली प्रचण्ड ऊर्जा का प्रबन्ध करने पर ही उन उपग्रहो का संचरण होता है, कुछ उसी प्रकार यह प्रयास देवसंस्कृति द्वारा विश्व सस्कृति के रूप मे उछाल लेने मे सहायक सिद्ध होगा।

सांस्कृतिक चेतना के ज्योति स्तम्भ बनकर स्थापित गायत्री शक्तिपीठो के त्रिविध उद्देश्य है— (१) अतीत का पुनरागमन (२) वर्तमान का निर्धारण (३) भविष्य का संयोजन। इस स्थापना को समर्थ रामद्वारा स्थापित हनुमान मन्दिरों, शंकराचार्य द्वारा नवजीवित चारधामो एवम् भगवान बुद्ध द्वारा सचालित बौद्ध-विहारो और सघारामो का व्यापक समग्र और भवितव्यता से सामंजस्य रखने की दृष्टि से सार्थक प्रयोग समझा जा सकता है। अपने तीनों उद्देश्य पूरा करने में यह योजना सर्व समर्थ है। इसके स्वरूप की बहुत अंशो में अभिव्यक्ति अभी भविष्य के गर्भ मे है। कुछ ही वर्षों मे जब यह स्थिति सचमुच में साकार हो जाएगी तो निश्चय ही मनुष्य में देवत्व के उदय और धरती पर स्वर्ग के अवतरण की बात प्रत्येक को स्वानुभूत तथ्य लगने लगेगा।

इस योजना में समाई भविष्य की अनगिनत सम्भावनाओं को साकार करने का दायित्व परिव्राजकों पर है। इन्हें चलते-फिरते ब्रह्मविद्यालय भी कहा जा सकता है। शास्त्रकारों ने इनको आचार्य या उपाध्याय की गरिमा प्रदान की है। इस पद का दायित्व आसाधारण है, जिसे निभा सकने के लिए व्यक्तित्व को भी असाधारण बनाना पड़ेगा। आसामान्य चरित्रबल, निर्लोभवृत्ति और महान उद्देश्य के प्रति समर्पित सतत् कर्मनिष्ठा ही वह बल है, जो कार्य मे सफलता का आधार सँजोयेगा। इनके व्यावहारिक प्रशिक्षण, लोकशिक्षण के सूत्रों को हृदयंगम कराने का सारा सरंजाम शान्तिकुंज में जुटाया गया है। योग्य पात्र युग-सृजन के निमित्त यहाँ आकर अपनी प्रतिभा को प्रखर और लोकहित मे समर्पित कर सकते है।

शक्ति पीठो में रहने वाले परिव्राजकों की कार्य शैली कुछ इस प्रकार रहे ऐसी आशा की गई है। तीर्थ मे आने वालो को (१) गायत्री प्रतिमाओ का दर्शन कराते हुए इनके तत्वदर्शन का महत्व समझाना। उसे अपनाकर देवोपम जीवन जीने की प्रेरणा देना (२) जिनमें जिज्ञासा के कुछ भी बीजांकुर मिले, उन्हें सत्संग कक्ष में बिठाकर आत्मीयतापूर्वक भारतीय संस्कृति का तत्वबीज गायत्री और उसके अवलम्बन का स्वरूप समझाना (३) सम्पर्क में जिनके साथ घनिष्ठता बढ़े उन्हे साधना, स्वाध्याय, संयम और सेवा द्वारा समग्र आत्मविकास की प्रेरणा देना, (४) आस-पास के क्षेत्र मे जाकर नवयुग के सन्देशो से अवगत करानों तदनुरूप ढलने की प्रेरणा देना, (५) जन्म दिन मनाने का उत्साह पैदा करके व्यक्ति निर्माण की, संस्कार प्रचलन से परिवार निर्माण की, पर्व त्यौहारों द्वारा समाज निर्माण की चेतना को उत्पन्न करना। (६) रात्रि मे, कथा-कीर्तन द्वारा धर्मभाव विकसित करना। (७) पन्द्रह दिन का गतिचक्र बनाकर विभिन्न गाँवो की तीर्थयात्रा करके विचारक्रान्ति का पथ प्रशस्त करना। (८) अपने क्षेत्र में चल पुस्तकालयों की व्यवस्था। (९) प्रौढ़ शिक्षा वृक्षारोपण कराने आदि सत्प्रवृत्ति संवर्धन और कुप्रथाओ, अन्धमान्यताओ के उन्मूलन जैसे कार्यों मे स्वयं लगना और दूसरो को लगाना। यही वे दायित्व हैं, जिन्हे युग ऋषि द्वारा स्थापित तीर्थ तन्त्र के सचालको को परिव्राजकों को निष्ठापूर्वक पूरा करना है।

इस प्रक्रिया मे समर्पित देवमानवो की समर्थ मण्डली का यह कार्य नवयुग के अवतरण में ब्रह्म-मुहूर्त की तरह अपना परिचय देने जैसा है। तीव्रगति से बढ़ती उनकी प्रखरता की किरणे अन्य तीर्थों मे भी जाग्रति ला सकेंगी। गायत्री तीर्थों से उमगती ऊर्जस्विता प्राचीन अर्वाचीन सभी तीर्थों मे नवजीवन नए प्राणों का सचार करने वाली सिद्ध होगी।

विद्या विस्तार के दो सशक्त तंत्र— आरण्यक एवं गुरुकुल

विश्व संस्कृति अपने उत्कर्ष और उन्मेष के लिए सुसंस्कृत व्यक्तियों की ढूँढ खोज कर रही है। ऐसे व्यक्ति जो कल के समाज को गढ़ने-तदनुरूप ढलने में तत्पर हो सकें। इस अनिवार्य जरूरत को पूरा करने का दायित्व शिक्षण तन्त्र पर है। इसी की जिम्मेदारी है कि वह समाज की वर्तमान और भविष्य की जरूरतो के अनुरूप व्यक्तियो के अन्दर से व्यक्तित्व को उभारें। ताकि वह आज के और आने वाले समय में आदर्शवादी उपयोगिता की कसौटी पर खरा सिद्ध हो सके। प्रचलित शिक्षण व्यवस्था की छानबीन करने पर हर किसी को यह सहज बोध हो जाएगा कि इस सम्बन्ध मे यह असफल प्रायः है। इसकी दशा उस निठल्ले कारखाने की सी है, जिस पर कच्चे लोहे से उत्तम कोटि की मशीनें बनाने की जिम्मेदारी है। पर निकम्मेपन के कारण अधिकांश लोहा पड़ा जंग खाता सड़ता रहता है। जो मशीने बनकर निकलती है वह उपयोगी और कारगर सिद्ध नही हो पा रही। यह स्थिति एक देशीय नही सार्वभौमिक है।

अमेरिकन मनीषी इवान इलिच ने अपनी कृति "डिस्कूलिंग सोसाइटी" में स्थिति का खुलासा करने की कोशिश की है। उनके अनुसार शिक्षा की दुकानों मे बन्द शिक्षण क्रिया अपनी परिणति भौतिकवादी प्रदूषण, सामाजिक ध्रुवीकरण और मनोवैज्ञानिक भावना शून्यता में कर रही है। इन सबके प्रधानतया दो कारण है। पहला इसे एक खास आयु वर्ग की सीमा मे समेट देना। दूसरा अन्य व्यापारों की भाँति शिक्षण का व्यापारीकरण कर देना। इसी का प्रतिफल है कि शिक्षा जन-जन तक द्वार-द्वार तक नही पहुँच पा रही। व्यापारीकरण के लोकजीवन को संस्कारित करने की परम्परा निर्जीव प्रायः हो गई है। दिमाग को कम्प्यूटर मानकर उसमें जानकारियाँ तो घुसेड़ी जा रही हैं। पर मानवीय व्यवहार गढ़ पाने मे असमर्थता है। परिणाम आज की सामाजिक दशा है। जहाँ अपने को पढ़ा-लिखा कहने वाला व्यक्ति स्वयं के ज्ञानवान और विद्वान होने का दावा तो करता है पर ज्ञान इतना भी नहीं कि स्वयं में क्या है ? स्वयं के प्रति, समाज के प्रति क्या दायित्व है, उन्हे किस कौशल और तत्परता से पूरा किया जाय ? पढने और पढ़ाने वाले दोनो की एक-सी दशा है।

कारगर उपचार एक ही है-लोकशिक्षण का एक नया तत्र विकसित करना। जहाँ शिक्षा कैदयुक्त और सार्वभौमिक हो और श्री इलिच के शब्दों में कहे तो व्यक्तित्वों के गढ़ने की टकसाल हो। ऐसी टकसाल जहाँ से ढले सिक्के आज और कल सोलह आने खरे साबित हों। इसी कारण वह ढालने वाले प्रशिक्षक में दो गुणो की अनिवार्यता बताते हैं। उन्हीं के शब्दो में प्रशिक्षक कुम्हार की तरह-प्रशिक्षक वैद्य की तरह। ऐसा कुम्हार जो मिट्टी के लौदे को समय के अनुरूप समाज हित मे क्षेत्र की समस्याओ को निदान भिन्न-भिन्न रूप देने मे तत्पर रहता है। उसे पकाता मजबूती प्रदान करता है। श्रीरामकृष्ण गुरु को वैद्य के अनुरूप होने पर बल देते है। ऐसा वैद्य जो मानव व्यक्ति और समूह की आन्तरिक और बाह्य सरचना व क्रिया विधियो मे निष्णात् हो। बिगडे को सॅवारने, बिखरे को समेटने, नव जीवन संचार करने मे माहिर हो।

आज की स्थिति मे इस तंत्र को विकसित करने की तकनीक देवसंस्कृति के उन्नायक ऋषियो के प्राचीन सफल प्रयोगो से सीखनी होगी। अतीत के झरोखे से झाँकने पर साफ दिखाई देता है कि गुरुकुल और आरण्यकों का यह तंत्र कुछ ऐसा ही विकसित रहा है। गुरुकुल अर्थात् बालजीवन को गला-तपाकर समर्थ व्यक्तित्व के रूप में गढ़ने-निखारने की कार्यशालाएँ। परिष्कार प्रशिक्षण संस्कार की इसी प्रक्रिया अनगढ़ को गढ़ने के इसी विधान ने संस्कृति और सभ्यता के रूप मे अपनी पहचान बनाई है। सभ्यता संस्कृति के इस पुष्पित उद्यान की कटाई-छटाई-गुडाई-निराई आदि साज-सॅभाल करने की जिम्मेदारी आरण्यको पर है। इनके ऊपर लोकसेवी वानप्रस्थों के निर्माण और विकास की जिम्मेदारी रही है। इन प्रयासो ने अपने

समय-संस्कार शोधन के विस्मयकारी परिणाम प्रस्तुत किए हैं। अनगढ़ कुरूप कोयले जैसे दिखने वाले हीरे के टुकडों को सुसंस्कारित कर चमकते-दमकते देवमानवो के रूप मे बदल कर देवसंस्कृति को जन्म देने में समर्थ हुए है।

गुरुकुल आरण्यको की यह प्रणाली आज के प्रचलित स्वरूप से तत्व और प्रक्रिया दोनो ही दृष्टियों से भिन्न रही है। इसकी तलाश के लिए प्रख्यात अध्येता आर. एन. पाणि ने अपने ग्रन्थ "इन्टीग्रल एजूकेशन थॉट एण्ड प्रैक्टिस" मे प्रशसनीय प्रयास किया है। उनके अनुसार, मानवी प्रकृति को प्रशिक्षित, रूपान्तरित करने के तीन सोपान है शिक्षा, कला और विद्या। प्रत्येक सोपान परस्पर अन्योन्याश्रित होते हुए अपने मे एक विधा है। पहली दोनो की सार्थकता इसी मे है कि तीसरी को उपलब्ध कर ले। ऐसा न हो पाने पर इनकी स्थिति कुछ वैसी ही होती है जैसी लंगडे या लूले की। आज के स्कूल कालेजो मे पढ़ाई जाने वाली शिक्षा है—जिसका उद्देश्य विभिन्न माध्यमो से बालको का बौद्धिक विकास स्मृति अभिवर्धन करना है। परीक्षा लेने की तकनीको से उपर्युक्त कथन की सत्यता प्रमाणित होती है। बल्कि अधिकाधिक अंशो मे परीक्षा बौद्धिक विकास की अपेक्षा स्मरण शक्ति की कही होती है।

गुरुकुलो का उद्देश्य शिक्षा के माध्यम से विद्या को विकसित करना रहा है। प्रक्रिया की दृष्टि से देखे तो कोई भी शिक्षा सही दिशा मे अपने बढ़ते कदमो से कला तक पहुँचती है। कला की प्रवृत्ति प्रारम्भ से भावोन्मुखी होती है। यदि कोई भी कला अभी तक भावो को नही स्पर्श कर पाई है तो समझना चाहिए कि उसका दायरा अभी शिक्षा तक ही है कला नही बन पाई। उदाहरण के लिए संगीत शिक्षा भी है और कला भी। अपने प्राथमिक चरणों मे उस्ताद जब सीखने वाले को तबला, सितार आदि वाद्य यंत्रो को बजाने की तकनीके, समझाता है तब वह शिक्षा होती है, सिर्फ बुद्धि और स्मृतिगम्य। मतलब इतना ही होता है कि बुद्धि समझे और स्मृति याद रखे।

शिक्षा की परिपक्वता के बाद जब सगीत साधक अन्तर भावो मे डूबकर गाता है। स्वय विभोर होकर औरो को विभोर करता है। तब इन क्षणो मे शिक्षा-कला का स्वरूप प्राप्त करती है। इस अपूर्व तन्मयता में उसकी विकसित होती जा रही भाव चेतना अपनी मौलिकता की अभिव्यक्ति विषय की निगूढ़ताओं अन्तर की अनेकानेक सूक्ष्मताओ मे करती है।

भाव-स्पर्शी कला यदि विकास की गति पर बढ़ सकी—तो कला साधना बन पाती है। ऐसी साधना जो भावों के प्रगाढ़ परिपक्व होने पर जीवन बोध करा दे। अलाउद्दीन खाँ, रवीन्द्रनाथ टैगोर ने कला का विकास इसी स्तर तक किया था। यह कथन सिर्फ संगीत के क्षेत्र मे नही विज्ञान के क्षेत्र में भी सत्य है। इमर्सन ने साहित्य तथा रमन-आइन्सटाइन ने विज्ञान के माध्यम से विद्या के इसी स्वरूप को उपलब्ध किया था। इस सम्भावना के बावजूद आवश्यक नही कि शिक्षा कला बने और प्रत्येक कला विद्या के स्तर तक विकसित हो सके।

आज की स्थिति मे शिक्षा अर्थात् विकसित बौद्धिकता अपने निहित स्वार्थो के रक्षण अभिवर्धन के रूप मे खपती रहती है। कला सम्मान अर्जित करने मे व्यय हो रही है ? फिर भला इनका विकास विद्या के रूप मे कैसे हो ? यही कारण है कि सच्चे अर्थो मे कला भी खोती जा रही है। प्रत्येक क्षेत्र मे कला-निष्णात् लुप्त होते जा रहे है। कारण एक ही उनकी रीति-नीति का भाव-स्पर्शी होने के स्थान पर वैभव स्पर्शी होना।

उपनिषदो ने इन सबका वर्गीकरण दो वर्गों मे किया है "अपरा विद्या और परा विद्या"। पहले मे शिक्षा और कला की समस्त विधाओ का समावेश है। दूसरे मे जीवन बोध के सूत्रो का। इन सूत्रो को उचित ढग से समाविष्ट करने पर जीवन का प्रत्येक कार्य आत्मोन्नति का साधन बनता है और अपरा विद्या भी परा विद्या का स्वरूप प्राप्त करती है। आचार्य शकर की प्रश्नोत्तरी माला मे एक सवाल आता है "क विद्या ?" वह उत्तर देते है—"सा विद्या या विमुक्तये।" अर्थात् विद्या वही जो मुक्ति दिला सके। मुक्ति किससे भ्रम-जंजालों से, इन्द्रियों की दासता से, स्वय की दैन्यता से। हर उस चीज से जो जीवन बोध मे अवरोध बनती है।

गुरुकुलो की व्यवस्था-वातावरण का सृजन इसी उद्देश्य को लेकर हुआ था। गरीब-अमीर बिना किसी भेद-भाव के सभी को तप-तितिक्षा व्रत अनुशासनों को स्वीकार शिक्षा का विद्या के रूप मे विकास करना पड़ता था। उज्जयिनी मे स्थित महर्षि संदीपनि के गुरुकुल की कथा पुराण विख्यात है। वहाँ राजपुत्र कृष्ण और गरीव व्राह्मण सुदामा दोनों ने समान तप करके विद्या की उपलब्धि की। चक्रवर्ती नरेश दशरथ के पुत्र राम, लक्ष्मण, भरत, शत्रुघ्न को सारे वैभव की तिलाजलि देने पर ही व्रह्मर्षि वशिष्ठ के गुरुकुल मे प्रवेश मिल सका।

आरण्यको की व्यवस्था मे गुरुकुलो से बहुत कुछ साम्य होते हुए भी तप-साधना, लोक आराधना का वैशिष्ट्य था। जहाँ गुरुकुलो का उद्देश्य था व्यक्तित्व का गठन वहीं आरण्यक का प्रयोजन व्यक्तित्व का लोकहित में समर्पण था। लेकिन शिक्षण की प्रक्रिया और विद्या का स्वरूप दोनो मे एकसा था। आरण्यक भले ही आज लोक विलुप्त हो गए हो पर इनकी उपयोगिता यथावत् है।" इनकी स्थापना के पीछे छुपे मनोवैज्ञानिक रहस्य को स्पष्ट करते हुए मनीषी जे स्किनर का "माइन्ड-इट्स लर्निंग एक्सपीरियेंसेज" मे कहना है मन के सीखने की शुरूआत मनुष्य के अस्तित्व मे आने के साथ ही प्रारम्भ हो जाती हैं। शरीर विकास के साथ यह प्रक्रिया पच्चीस-तीस वर्ष तक गतिशील रहती है। इस अवस्था मे इसमे स्वाभाविक मन्दी आ जाती है। यही कारण है कि बच्चे की अपेक्षा युवा मे सीखने-जानने की लालसा न के बराबर होती है। स्किनर के अनुसार, पैतालिस से पचास आयुवर्ग मे प्रतिभा के जागरण मानसिक विकास का ज्वार एक बार फिर उफनता है। आज के समाज के पास इसके सुनियोजन और विकास का तंत्र भले न हो पर ऋषियो ने आरण्यको का विकास इसी तत्वदर्शन को लेकर किया था।

प्राग् ऐतिहासिक काल मे चतुर्दिक फैले महर्षि अगस्त्य की वेदपुरी, भारद्वाज की प्रयाग स्थिति प्रशिक्षणशाला विश्वामित्र का सिद्धाश्रम आदि ने व्यक्तित्वो को गढकर समय की माँग को पूरा किया। वेदपुरी मे महर्षि अगस्त्य के प्रशिक्षण की सराहना करते हुए आदि कवि वाल्मीकि लिखते है— अनीतिकारी आसुरी शक्तियाँ उस दिशा से भय खाती थी। दस हजार छात्रों वाली भारद्वाज की प्रशिक्षण शाला जन को जाग्रत और कर्तव्यनिष्ठा के लिए सचेत करने वाले प्रहरी तैयार करती थी। सिद्धाश्रम को केन्द्र बनाकर, उपयुक्त पात्रो को प्रशिक्षित कर विश्वामित्र ने अनीतियो के विरुद्ध व्यूह रचना की। रामराज्य की सतयुगी परिस्थितियाँ इन्ही गुरुकुल-आरण्यकों की उर्वरता और प्रशिक्षको के चमत्कारी व्यक्तित्व को गढ़ने मे महारथ का परिणाम था।

बीच के समय मे भी भारत को सोने की चिड़िया-स्वर्णभूमि कहलाने का सौभाग्य ऐसे ही विश्वविद्यालयो ने प्रदान किया। गान्धार स्थित तक्षशिला, राजगिरि के समीप नालन्दा, भागलपुर स्थित विक्रमशिला, काठियावाड़ के वल्लभी विश्वविद्यालयो ने अपने समय मे महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। चाणक्य की दुर्धर्ष प्रखरता तक्षशिला से उपजी थी। यही के स्नातक उसके प्रथम सहयोगी थे। जिनके सम्मिलित प्रयासो से जनजाग्रति की लहर फैली और विशाल भारत की समाज-सरचना अपना सौन्दर्य प्रकट कर सकी। विचारक्रान्ति के अग्रदूत कुमारिल भट्ट नालन्दा मे गढ़े गए, जिनकी रखी मजबूत नींव पर शकराचार्य ने सांस्कृतिक क्रान्ति की भव्यता निर्मित की। चोल सम्राट देवपाल के समय विक्रमशिला मे गढ़े गए परिव्राजकों ने भारत ही क्यो सुदूर वर्मा, मलाया आदि जगहो पर पहुँच विद्या का प्रसार किया। पाँचवी से आठवी शती तक वल्लभी के स्नातको ने काठियावाड ही क्यो ? समूचे भारत की जनचेतना को जीवन्त और सचेत रखा। यहाँ के आचार्य व्यक्तित्वो को ढालने मे इतने माहिर थे कि अन्य देशो के लोग भी यहाँ दाखिले के लिए तरसते थे।

यही क्यो, उज्जयिनी, काँचीपुरम् अमरावती, औदंतपुरी आदि जगहों पर ऐसी ही कार्यशालाएँ थीं, जहाँ से साधारण व्यक्ति असाधारण प्रखर बनकर निकलते थे। वह स्वयं के साथ देश और समाज की उपयोगिता मे खरे सावित होते थे। नेशनल कालेज की स्थापना के पीछे श्री अरविन्द का यही मकसद था और बहुत कुछ पूरा भी हुआ। काशी विद्यापीठ की भूमिका भी कुछ ऐसी ही थी। वाबू सम्पूर्णानन्द, आचार्य जुगलकिशोर, लालबहादुर शास्त्री, डॉ. भगवानदास यहीं

तराशे और निखारे गए। यही के उत्पादकों ने राजा महेन्द्र प्रताप का प्रेम महाविद्यालय, प्रयाग विद्यापीठ आदि स्थानों पर जाकर अपने जैसे अनेको बनाए। जिन्होने भारत माता की बेड़ियों को एक झटके में टुकड़े-टुकड़े कर फेक दिया।

वर्तमान के क्षण सन्निकट उज्जवल भविष्य के लिए अतीत के इन प्रभावकारी प्रयोगो को दुहराने के लिए बेतरह आकुल हैं। कम समय में भावी समय की आदर्शवादी परिस्थितियों के अनुरूप व्यक्तित्वों को गढ़ने-तराशने की भारी जिम्मेदारी आ पड़ने से यह व्याकुलता निरन्तर त्वरित गति से बढ़ती जा रही है। श्री अरविन्द के शब्द दोहराए जॉय तो "मानवता विश्व- संस्कृति को अपने गर्भ में धारण कर चुकी है। जिसके प्रकट होने पर समूचा विश्व स्वर्ग राज्य में बदल जाएगा और वह समय आ पहुँचा है, हमे स्वय को तैयार करना है।"

यह तैयारी प्रशिक्षण है, जिसके द्वारा सुसस्कृत व्यक्तियो का समूह तैयार किया जा सके, जो नवयुग की संस्कृति के अनुरूप अपने को सिद्ध कर सके। सारा जनसमूह एक साथ एक जगह प्रशिक्षित हो सके यह सम्भव नही। नीति यही रहेगी कि यदि पहाड़ ईसा के पास न पहुँचे तो ईसा पहाड़ के पास पहुँचेगा। अर्थात् घर-घर पहुँचकर मनुष्य को उसके गढ़ने निखारने मे सहायता पहुँचानी होगी। इस सहायता पहुँचाने वाले प्रशिक्षकों के विशेष वर्ग को गढ़ने के लिए वेदपुरी, सिद्धाश्रम, वल्लभी, तक्षशिला की भूमिका गायत्री तीर्थ स्थित आरण्यक निभा रहा है। शक्ति पीठे भी संघारामों बौद्ध विहारो, आरण्यकों की परम्परा को निभाने के लिए अग्रसर हैं, गढ़ने की उत्कृष्ट कौशल चाणक्य और कुमारिल भट्ट की वह नयी पीढ़ी तैयार कर रहा है, जो वर्तमान और भविष्य की जरूरतो को पूरा कर सके। विद्यावान औरों को विद्या दे। विद्या विस्तार का यह क्रम गुरुकुल, आरण्यक की प्राचीन परम्परा को नवजीवन दे सकेगा विद्या विस्तार के इस तंत्र से विश्वहित-समाजहित के साथ व्यक्ति की क्षेत्र विशेष की उलझने सुलझेगी। प्रतियोगिता और सघर्ष को त्यागकर सारी बहानेबाजी भुलाकर विद्या विस्तारकों के द्वारा नूतन इतिहास के सृजन का यह कार्य युगो तक भुलाया न जा सकेगा।

सांस्कृतिक नवोन्मेष, वानप्रस्थ के पुनर्जीवन द्वारा

भारतवर्ष के चिर अतीत की स्वर्णिम गौरवगरिमा की भावभरी चर्चा प्रशस्ति के साथ इतिहासकार सदा से करते आए हैं। हम कितने महान् थे, सारे विश्व को हमने ज्ञान दिया तथा जो कुछ भी आज प्रगति का स्वरूप दिखाई पड़ता है, उसके मूल में हमारी ही सस्कृति है, इस पर ढेरों पृष्ठ लिख डालने वाले अगणित मनीषी हमारे बीच रहे है व हैं। परन्तु आज का भारत इतना दीन-दुर्बल क्यों है ? आस्था संकट की विभीषिका ने इस धर्म-प्रधान देश में इतनी विषम स्थिति क्यों व कैसे उत्पन्न कर दी ? कभी हम औरों को ज्ञान व सामर्थ्य, विज्ञान व सम्पत्ति संबंधी अनुदान देते थे, आज अन्न से लेकर औषधियो व अन्य जरूरी वस्तुओं से लेकर शस्त्रों तक परावलम्बी ही नही, विदेशी ऋण की चपेट में भी है, यह क्यों कर हुआ ? तथा धर्मतंत्र स्वयं आज इतना विकृत-प्राणहीन क्यो है? जबकि उसका कलेवर पहले की अपेक्षा खूब बढ़ा-चढ़ा है—वेशधारी, धर्मावलम्बी व तथाकथित उपासना गृह भी ढेरो की संख्या में हैं। इन सभी प्रश्नो का उत्तर जाने बिना मात्र देव सस्कृति के चिर अतीत पर उद्‌बोधन तो वाक् विलास मात्र बनकर रह जायेगा। गहराई से चितन करें तो हम पाते है कि ऋषियों के बताए मार्ग पर न चलने के कारण हम वर्तमान स्थिति को प्राप्त हुए है।

ऋषिगणो ने चार आश्रमो की सुदृढ़ आधार शिला पर देवसंस्कृति का भवन खड़ा किया था। भारतीय धर्म को इसी कारण वर्णाश्रम धर्म, नाम से पुकारा जाता था। देव-संस्कृति के अनुयायी की दृष्टि मे जीवन का लक्ष्य भोग नही, सग्रह नही, अपितु त्याग व परोपकार रहा है। उसका पुरुषार्थ धर्मप्रधान रहा है। अतः जीवन का शुभारंभ धार्मिक शिक्षा, पवित्र रहन-सहन, कुदृष्टि पर नियत्रण कर आत्मसयम ब्रह्मचर्याश्रम से होता है। गृहस्थाश्रम मे वह त्यागमय भोग का जीवन बिताता है तथा अत मे वानप्रस्थ और सन्यास आश्रमों मे होता हुआ पूर्णतः उच्चतर धर्म मे स्वय को नियोजित करता है। इस प्रकार गृहस्थाश्रम की भित्ति ब्रह्मचर्याश्रम है तो उसका लक्ष्य वानप्रस्थाश्रम

और संन्यास है। जब तक समाज के चारो स्तभ बने रहे तब तक गौरवगरिमा भी गगनचुम्बी बनी रही। जब-जब उसमे विग्रह उत्पन्न हुआ, सारा ढाँचा ही लड़खड़ा गया तथा धर्म-विडम्बनाओ की अवाछनीय विकृतियाँ हमारे पास रह गयी।

अब वर्णों में एक वर्ण जिन्दा है "वैश्य" तथा एक ही आश्रम जिन्दा है-"गृहस्थ"। शेष सब समाप्त हो गए। एक ही वर्ण "वैश्य" इस नाते कि हर व्यक्ति का जीवन लक्ष्य अब धन है तथा-कथित त्यागी वैरागी भी प्रकारांतर से उसी कुचक्र के इर्द-गिर्द घूमते देखे जाते है। चारों पुरुषार्थो मे अर्थ व काम ही प्रधान रह गया है। धर्म व मोक्ष कही दिखाई नही पड़ता। आश्रम एक मात्र "गृहस्थ" इसलिए कि अबोध बालक भी आज उन कुचेष्टाओ से परिचित है, दृश्य, श्रव्य साधनो व वातावरण के परोक्ष शिक्षण द्वारा उन गतिविधियो से अवगत है, जिनको मर्यादित ढंग से कभी गृहस्थाश्रम भेजा जाता था। औसत आदमी की जिन्दगी होश सँभालने से बंद होने की घड़ी तक प्रजनन, अर्थोपार्जन, कुटुम्बचर्या, बच्चो-पोतों-नातियो के प्रति आसक्ति इसी धुरी के चारों ओर घूमती देखी जा सकती है। साधु-सन्तों की सख्या कम नहीं है। किन्तु उनकी मनोदशा व गतिविधियाँ विलासिता के साधनों के प्रति अनुराग व साधु-ब्राह्मण की पुरातन परम्परा की उपेक्षा उन्हें भगवाधारी गृहस्थ ही प्रकारान्तर से ठहराती है। ब्राह्मण, जिसे समाज का पुरोधा-शीर्ष पुरुष तथा भूसुर कहा गया था, का समाप्त हो जाना व चारो वर्णो का एक ही वर्ण वैश्य वर्ण तक सिमट जाना भारतीय सस्कृति के उस मूल आधार की कपाल-क्रिया है, जिस पर कि विश्वमानव को देव-स्तर पर पहुँचाने की किसी समय सफल चेष्टा की गयी थी।

क्या किया जाय ? कैसे उस आधार को ठीक किया जाय, जिस पर पुन. देव संस्कृति का ढाँचा खडा किया जा सके, इस पर गहराई से चिंतन-मनन कर आश्रम-व्यवस्था मे आई सामयिक विकृतियो मे हेर-फेर कर लोकजीवन की सर्वाधिक सशक्त परम्परा "वानप्रस्थ परम्परा" का पुनर्जीवन शांतिकुंज द्वारा किया गया। अपने समय की यह सबसे बडी क्रान्ति मानी जानी चाहिए कि सामान्य जीवन जीने वाले अगणित व्यक्ति अनायास ही तपप्रधान वानप्रस्थ जीवन की प्रेरणा पाकर इस आश्रम मे प्रवृत्त हो गए। साधारण गृहस्थों को भी पूज्यवर ने इस असामान्य अवसर पर असामान्य जीवन जीने की प्रेरणा देकर उनको समाज के नवनिर्माण में अपनी एक-एक आहुति भले छोटी ही सही, देने के लिए राजी कर लिया, यह संभवतः अभी सबकी समझ मे न आए, किन्तु एक क्रान्तिकारी व अकल्पनीय घटनाक्रम है, जो इस सदी के उत्तरार्ध मे गायत्री परिवार के रूप मे सबके समक्ष घटित होकर सामने आया है। यदि हम इतिहास के पृष्ठ उलटें तो पाते है कि बुद्ध के समय में छोटे-छोटे बच्चों को सन्यास मे प्रवृत्त कर दिया गया था। बिना पूरी भूमिका मे गुजरे ये संन्यासी, बुद्ध के न रहने पर कालान्तर मे दुर्गति को प्राप्त हुए। धर्मराज्याश्रित बन गया तथा संन्यास लेने वाला भिक्षु-भिक्षुणियों का समुदाय विलास में प्रवृत्त एक बड़े समूह का रूप मात्र बनकर रह गया। आश्रम धर्म की इस विकृति से छाये वैषम्य को आचार्य शंकर ने संन्यास का क्रमबद्ध निर्धारण कर मिटाया। वे स्वय बाल्यकाल मे संन्यास मे प्रवृत्त हुए थे पर उनने संन्यास धर्म की मर्यादाएँ बनादी व अपनी दूरदृष्टि के सहारे आश्रम तंत्र के चरमराते ढाँचे को नया आधार दिया।

मध्यकाल में यह व्यवस्थित क्रम पुन.गड़बडाया। जीवन के उत्तरार्ध को किस तरह जीना चाहिए, इसके प्रत्यक्ष उदाहरण सामने न होने पर पुनः यह व्यवस्था लडखडायी। स्वामी विवेकानन्द, जिनके गुरु गृहस्थ संन्यासी थे, ने एक नव वेदान्त की रचना कर सन्यास धर्म को पुन जिन्दा किया। धर्मतंत्र की विकृतियो को विवेकानन्द ने बडी गहराई से देखा था व इसके लिए ब्राह्मण तथा साधु वर्गों से आगे बढ़कर आने व समाज का नेतृत्व संभालने की अपेक्षा की। स्वय उनने श्री रामकृष्ण मठो की स्थापना स्थान-स्थान पर कर अपने शिष्यो के आचरण द्वारा भारत व विश्वभर मे धर्मतंत्र के प्रति आस्था पुन. जगाई। स्वामी जी कहते थे,"मै चाहता हूँ कि ऐसा व्यक्ति अगले दिनो विश्व का नेतृत्व संभाले जिसका हृदय बुद्ध की तरह विशाल हो, करुणा का सागर हो तथा जिसका मस्तिष्क आचार्य शकर की तरह कुशाग्र हो। ऐसा व्यक्ति ही देव सस्कृति के निर्धारणो को विश्वभर मे पहुँचाकर उसे विश्वसस्कृति बना सकता है।" शातिकुज ने स्वामी विवेकानन्द के महाप्रयाण के पचास वर्ष बाद ऊपर कही गयी बात को ही चरितार्थ किया है। उनमे अथाह

करुणा थी, समाज में छाई विषमता के प्रति वेदना थी। साथ ही अपनी प्रखर प्रज्ञा के माध्यम से उनने समाज की विडम्बना का मूल कारण भी समझ लिया था। व्यक्ति और समाज की मध्यवर्ती महत्त्वपूर्ण कड़ी-परिवार संस्था पर उनने सर्वाधिक ध्यान दिया। गृहस्थाश्रम का पुनर्निर्माण, उसमें पवित्रता का समावेश तथा जीवन के उत्तरार्ध का परमार्थ प्रयोजनों हेतु नियोजन—इसके लिए वानप्रस्थ रूपी युगधर्म को स्वीकार करने के लिए अगणित सद्गृहस्थों को प्रेरणा इस संस्कृति पुरुष के जीवन की महत्वपूर्ण उपलब्धि है।

ब्रह्मचर्य भौतिक जीवन की तैयारी और गृहस्थ उसकी परिणति इस प्रकार एक मे ज्ञान, दूसरे में कर्म-एक मे सचय, दूसरे मे प्रयोग, का एक जोड़ा है और इन दोनों आश्रमो का सयुक्त उपक्रम जीवन का पूर्वार्ध बनाता है। जीवन का उत्तरार्ध इससे भी अधिक महत्वपूर्ण है। जहाँ भौतिक जीवन की सरसता जीवन के पूर्वार्ध में अपनी पूर्णाहुति संपन्न कर लेती है, वहाँ उत्तरार्ध मे ज्ञानेन्द्रियो के साथ छोड़ देने व कर्मेन्द्रियो की शिथिलता के कारण अनुपयोगी भारभूत जीवन सामने आ खड़ा होता है। भौतिक दृष्टि से स्वय के लिए कष्टकारक परिवार के लिये यह उत्तरार्ध भारभूत प्रतीत हो, इसके पूर्व ही व्यक्ति चेत जाय तथा ब्रह्मविद्या का चिन्तन मनन व तपसाधना-योगाभ्यास उपक्रम द्वारा स्वयं को प्रज्ञावान-ब्रह्मतेज संपन्न बनाते हुए सेवा साधना मे नियोजित कर दे, तो इससे बडी बुद्धिमानी और कोई नहीं कही जा सकती। वानप्रस्थ की विधि-व्यवस्था दूरदर्शी ऋषि-मनीषियो द्वारा इसी दृष्टि से बनायी गयी है व जीवन के उत्तरार्ध का समाज निर्माण के सत्प्रयोजनो मे उपयोग कर, उसे सांस्कृतिक जीवन प्रक्रिया मे अत्यन्त उच्चकोटि का स्थान दिया है। वानप्रस्थ "तपश्चर्या" प्रधान आश्रम है तथा इस आश्रम मे रहकर काम्यकर्मों का त्याग करते हुए संन्यास को भी वानप्रस्थ में प्रतिष्ठित किया जा सकता है। यह बात युग ऋषि ने अपने जीवन के माध्यम से समाज के समक्ष रखी। सम्यक् न्यास ही सन्यास है तथा अपरिग्रह मुख ही श्रेष्ठतम सुख, इस तत्वदर्शन को जन-जन को समझाकर उन्हें लोक-कल्याण की दिशा मे प्रवृत्त कर देना एक युगान्तकारी पुरुषार्थ है। धर्मतंत्र से लोकशिक्षण साधु स्तर के परिव्राजक ही कर सकते हैं, वानप्रस्थ आश्रम अपनाकर उत्तरार्ध का सुनियोजन समाज, राष्ट्र व संस्कृति के निमित्त कर जीवन लक्ष्य को पूरा किया जा सकता है, इस पर सहमत हो लक्षाधिक लोकसेवी कार्यकर्ताओं-सृजन शिल्पियों का उभरकर आ जाना एक विस्मयकारी उपलब्धि है।

वैदिककाल से ही इस आश्रम व्यवस्था के माहात्म्य का वर्णन ग्रन्थों में मिलता है। प्रत्येक आश्रम के लिए एक सुनियोजित पाठ्यक्रम हमारे ऋषियों ने बनाया था। ब्रह्मचर्याश्रम मे संहिताएँ पढ़ायी जाती थी, तो गृहस्थाश्रम में ब्राह्मण ग्रन्थ, वानप्रस्थ के लिए आरण्यक ग्रन्थों का प्रावधान था, तो संन्यास आश्रम के लिए उपनिषदादि ग्रन्थो को अनिवार्य ठहराया गया था। सभी आर्षग्रन्थ लिखते हैं कि ज्ञान-विज्ञान का वैराग्यपूर्ण मनःस्थिति में उपार्जन व समाज को ऊँचा उठाने का सेवापरक कार्य वानप्रस्थ आश्रम के माध्यम से ही होता आया है। गृहस्थ जीवन पर प्रतिबंध नहीं था पर याज्ञवल्क्य जैसे ऋषियों के आदर्शों पर चलकर सभी ऋषि उपयुक्त समय आने पर सपत्नीक वानप्रस्थ लेकर प्रव्रज्या मे प्रवृत्त होते थे, ताकि वे अपने व्यक्तित्व का अधिकतम विकास कर सके।

कोई आवश्यक नहीं कि व्यक्ति वन मे जाकर, अरण्य में रहकर ही वानप्रस्थी कहलाए। वन में जाने से भाव यह है कि विराट प्रकृति को समष्टि का एक अग मानते हुए अपने कार्यक्षेत्र का विस्तार करना। सेवा-साधना द्वारा विराट ब्रह्म की सेवा प्रमुख मानना। घर के उत्तरदायित्व अपनी सतति को सौंपकर समाज के लिए स्वयं को समर्पित कर देना। इस प्रकार ब्रह्मचर्य, गृहस्थ के अनुभवों से गुजरा हुआ वानप्रस्थ निश्चित ही समाज के लिए श्रेष्ठ लोकसेवियों के उत्पादन का एक तंत्र था, जिसमे विद्या विस्तार से लेकर पीड़ा निवारण की विभिन्न सेवाओं का उपक्रम नियमित रूप से चलता रहता था। ऋषियों ने कभी भी यह नही कहा कि ससार से भागो। उनका कहना था संसार में रहकर संसार की सेवा कर आत्मसत्ता का साक्षात्कार करने हेतु ब्रह्मज्ञान अर्जित कर अपनी प्रगति का पथ स्वयं प्रशस्त करो।

मनुस्मृति में स्पष्ट लिखा है कि "जब गृहस्थ को यह दिखाई पड़े कि चमड़ी पर झुर्रियाँ पड़ने लगीं-बाल

सफेद होने लगे और पुत्र भी गृहस्थ बन गया तो उसे घर छोड़कर वानप्रस्थ मे प्रवेश करना चाहिए (६/२ मनु)।" "वैखानस गृह्यसूत्र" मे स्पष्ट लिखा है कि "धर्मकृत्यों मे निरत गृहस्थ जीवन बिताने के बाद पुत्र के पुत्र हो जाने पर संतान को गृहभार सौपकर मुण्डनादि कृत्य कराते हुए शुभ समय में वानप्रस्थ में प्रवेश करें (९/२/१)।" महाभारत के अनुशासन पर्व मे वर्णन है—

विमुक्तादार संयोगै विमुक्ताः सर्व संकटः।
विमुक्ता सर्व पापैश्च चरन्ति मुनयो वने॥

अर्थात् "कामसेवन को छोड़कर, पापो का प्रायश्चित्त करके वानप्रस्थ वन प्रदेश में निवास करे और परिभ्रमण करता रहे।"

अथर्ववेद मे ऋषि कहते है (९/५/२४) "ब्रह्मचर्य आश्रम मे बल-बुद्धि, गृहस्थाश्रम मे परिवार निर्माण के उपरान्त तीसरे वानप्रस्थ आश्रम मे, मै प्रवेश करता हूँ। तपश्चर्या और ज्ञानार्जन सहित परमार्थ साधन करूँगा।" यही नहीं पुरुषो की तरह महिलाओं के वानप्रस्थ में प्रवेश का भी श्रुति मे निर्देश है। पति-पत्नी दोनो साथ-साथ इस पुण्य प्रयोजन मे संलग्न हो सके, इसकी शास्त्रकारों ने पूरी छूट दी है। वैखानस संग्रहसूत्र में उल्लेख है कि "वैखानस-वानप्रस्थ पत्नी सहित अथवा वन में अकेले निवास करते हैं, तीव्र तपश्चर्या करते हैं और आत्मतेज को प्राप्त होते है।"

शास्त्रवचन स्पष्ट है तथा परम्परा भी एक सशक्त तंत्र के रूप मे सस्कृति के इतिहास मे लिपिबद्ध है। फिर मध्यकाल के कुप्रचलनो व सामान्य क्रम से अपवाद रूप मे असामान्य क्रम में गृहस्थो के सन्यास ग्रहण करने के दुष्परिणाम भी सामने है। ऐसे मे सही यही है कि युगानुकूल वानप्रस्थ धर्म पुनर्जीवित हो तथा अधिकाधिक व्यक्ति जो गृहस्थ सुख भोग चुके, अब अपनी मिट्टी पलीद करने वहाँ न रुके, लोकसेवा के क्षेत्र में उतरे। युग देवता के इस आव्हान को अभी जन-जन तक पहुँचाये जाने की आवश्यकता है। सस्कृति, समाज, राष्ट्र व विश्व के कई ऐसे कार्य है जहाँ पूर्ण व आंशिक समयदानी स्तर के साधुओं की परिव्राजको की वानप्रस्थों की, आवश्यकता है। असली भारत सत्तर प्रतिशत से अधिक, देहाती स्तर का अशिक्षाग्रस्त है, कुरीतियो और कुण्ठाओ से जर्जर है। राष्ट्र व समाज को पिछड़ेपन से उबारने के लिए मिशनरी स्तर के व्यक्ति चाहिए जो धर्मतत्र से लोकशिक्षण की प्रक्रिया को अग्रगामी बना सके। वानप्रस्थ आश्रम ही ऐसे लोकसेवी दे सकता है।

वानप्रस्थ-परिव्राजक को साधु कहकर सम्मानास्पद दिया गया है। साधु सज्जन को कहते है। उस व्यक्ति का नाम साधु है, जो समय, श्रम, ज्ञान तथा प्रभाव को व्यक्तिगत व पारिवारिक प्रयोजनो तक सीमित न रखकर समस्त विश्व के लिए अर्पित कर देता है। वसुधैव कुटुम्बकम् की उदारता व महानता जिसमे उदित होती रहती है। कौण्डिन्य, कुमारजीव, संघमित्रा, महाल तथा बुद्धसेन की तरह जो राष्ट्र-धर्म व संस्कृति का विस्तार करने कष्ट उठाकर भी विश्व के कोने-कोने मे पहुँच जाते हैं। जो वेश-विन्यास से नही, अपने आचरण से जन-जन को शिक्षण देते हों। ऐसे वानप्रस्थो-परिव्राजकों-साधुओ के सर्वागपूर्ण शिक्षण का तत्र शातिकुज हरिद्वार में गतिशील है। शांतिकुंज के निर्धारणो को, जो देव संस्कृति के नवनीत के रूप में हम सबके बीच मे है, जन-जन तक पहुँचाने के लिए हजारों-लाखों समयदानी साधु स्तर के आचरण से शिक्षण देने वाले अपरिग्रही समाजनिष्ठ जीवन जीने वाले व्यक्तियों की आवश्यकता इस संस्था को है। बिना आयु का कोई भेद किए समय की विषमता को देखते हुए *अब ब्रह्मचर्याश्रम से गृहस्थाश्रम मे* निवास करने वाले सभी जाग्रतात्माओ द्वारा इस सेवा साधना मे सम्मिलित होने का जो क्रम अब चल पडा है, वह रुकेगा नही ऐसा विश्वास है। पुनर्जीवित किया हुआ यह वानप्रस्थ देव सस्कृति की आधारशिला है व इसी के माध्यम से धर्मतंत्र पुनः अपने गौरवपूर्ण पद पर प्रतिष्ठित होगा।

देव संस्कृति के प्राण—क्रान्तदर्शी ऋषि

जिनके सान्निध्य से नदी, पर्वत, वन, उपवन, क्षेत्र, प्रदेश, धन्य बने, तीर्थ कहलाए, उन ऋषियो के बारे में कुछ अधिक जानने और वैसा बन पाने की ललक को अस्वाभाविक नही कहा जाएगा। वेदो से इनका परिचय

पूछें तो जवाब मिलता है 'ऋषि. क्रान्तदर्शी.'। अर्थात्
जिनकी दृष्टि-संकीर्ण स्वार्थपरता, वर्तमान के लाभ-
हानियो की दीवारों को भेद कर देखने मे समर्थ होती
है। दृष्टि की इसी विशेषता के कारण 'ऋषि' को द्रष्टा
कहा गया है। ऋग्वेद में अनेक स्थानो पर इस तथ्य
को प्रमाणित अनुभव किया जा सकता है। यो
साधारणतया सभी को दिखाई देता है। छ· सौ करोड
पहुँचती जा रही विश्व की जनसंख्या मे अन्धो की
सख्या मुश्किल से कुछ करोड के दायरे मे होगी। पर
आँखो से देखना ही तो सब कुछ नही। यद्यपि
शक्तिशाली टेलिस्कोप, इलेक्ट्रॉन माइक्रोस्कोप आदि
कीमती यंत्रो की सहायता से दृष्टि का दायरा बढ़ाया भी
जा सकता है। लोग बढ़ाते भी है किन्तु इस बढ़ी-चढ़ी
सामर्थ्य के बावजूद जीवन के कुछ क्षेत्र ऐसे है, जो
अछूते रह जाते है। देखने की बढ़ी क्षमता भी
नाकामयाब रहती है।

जहाँ इन बहुमूल्य यत्रो की सहायता असफल
साबित होती है, वहीं ऋषि की दृष्टि सफल होती है।
सरलता से देख पाने-विवेचन-विश्लेषण करने मे सक्षम
होती है। इस अलौकिक दृष्टि प्राप्ति का आश्चर्यजनक
प्रयोग जहाँ सम्पन्न होता है, वह स्वय का व्यक्तित्व
है। जो इस प्रयोग मे निरत है, शास्त्रकारो ने उसे 'मुनि'
की सज्ञा दी है। मुनि का अर्थ है मननशील तपस्वी।
मनन-जीवन के स्वरूप और समस्याओ का, तपस्या,
उसके समाधानो की खोज मे। यदा-कदा ऋषि और
मुनि दोनो शब्द समानार्थी के रूप मे प्रयोग करते देखे
जाते है। पर वास्तविकता भिन्न है। मुनि, ऋषि बनने
की प्रक्रिया है, जिसकी चरम परिणति मत्र द्रष्टा होना
है।

द्रष्टा बनने के प्रयत्न का अर्थ है दृष्टिकोण के
परिष्कार को अपनाया जाना। हमे हजार बार जानना
और लाख बार समझना चाहिए कि आध्यात्म का एक
मात्र अर्थ भी यही है। मननशीलता का प्रयोजन जीवन
को परमात्मा के स्तर तक पहुँचाने वाली उत्कृष्ट प्रेरणा
को अन्त करण के गहन तप स्तरं मे प्रतिष्ठापित करना
है। यो जीवन का परमात्मा से सामंजस्य बिठाने वाले
हर साधक के लिए तप एक अनिवार्य विवशता है।
यहाँ तप का अर्थ भूखे मरना, भगवान की प्रशसा करना
जैसा कुछ न होकर असंयम, उद्वेग, अपव्यय और
व्यामोह के नागपाशो को तोड़ फेकना है। लेकिन हर
तपस्वी जरूरी नही, मुनि भी हो। 'मुनि' सतत् जागरूक
रहकर अन्त करण और बाह्य परिस्थितियों का अध्ययन
करने की वृत्ति है। जिसका तत्परता और तल्लीनता से
पालन करने पर अनेकानेक रहस्यमयी परते खुलती
और समाधान सूझते और दृष्टि का विकास होता है।
ऐसे लोगो को ही मनस्वी और मनीषी का सम्मान प्राप्त
होता है।

दृष्टि विकास और व्यक्तित्व परिमार्जन का
सम्मिलित पुरुषार्थ जीवन में कुछ ऐसा भर जाता है
जिसे अनोखा, आश्चर्यजनक और अनुपमेय ठहराया
जा सके। ऐसे व्यक्ति के अन्तःकरण का जिक्र करते
हुए ऋग्वेद का ऋषि कहता है तामन्वविन्दम् ऋषिषु
प्रविष्टाम् (ऋग्वेद १०/७१/३) एक अप्रतिम वाणी
अनन्त अप्रज्ञात से निकलकर दिव्य दृष्टि सम्पन्न एव
परमदेव से अभिन्नता को प्राप्त हुए ऋषियो की आन्...
गुहा मे प्रविष्ट हो जाती है क्योंकि ऋषि के शब्दो मे
ऐसे व्यक्ति स्वयं-"अतारिष्म तमसः पारमस्य"
(ऋ १/९२/६, १/१८३.६) मुनिवृत्ति का अवलम्बन
लेकर अन्धकार को पार कर चुके होते है।

उपनिषद्कार इस दृष्टि के तीन आयाम बताते है।
सूक्ष्मदृष्टि, अन्तर्दृष्टि और दिव्यदृष्टि। इस सूक्ष्म-दृष्टि का
प्रयोग क्षेत्र-बैक्टीरिया, विषाणु जैसे नन्हे जीवो की
गतिविधियो के निरीक्षण से भिन्न है। इसका क्षेत्र है-
मानवीय जीवन के सुविस्तृत पटल। जहाँ अनेक
रग-रूपो वाली ढेरो गतिविधियाँ चलती रहती है।
जिनकी क्रियाओ-प्रतिक्रियाओ की सख्या इतनी अधिक
और सूक्ष्म होती है कि सर्वसाधारण इसे नही देख
पाते। पर ऋषि अपनी इस दृष्टि के सहारे इसे देखते,
कारणों को समझते और तदनुरूप समाधान सोचने मे
सफल होते है।

कारणो का वास्तविक उद्‌गम चिन्तन चेतना का
उर्वर क्षेत्र है। मनुष्य का अपना अन्तराल है। चरित्र व
व्यवहार की कठपुतलियो की डोर घुमाना, उन्हे नचाना
यही से सम्भव बन पड़ता है। बाहर के जीवनक्रम मे
घटने वाली वाछित-अवांछित गतिविधियां-कार्य के रूप
मे सामने आती है। कारणो की परिपक्वता के बाद
कार्य को रोक पाना असम्भव प्रायः होता है। किसी भी
तरह जबरदस्ती यदि रोक भी दिया जाय तो चिन्तन

क्षेत्र में उपजे ये कारण अन्दर ही अन्दर नासूर की तरह पनपते और मनोरोगों के रूप मे फट पड़ते हैं। किसी भी तरह इन अवांछित कारणो को बीज के रूप में ही समाप्त किया जा सके तो इन विकृतियों की गुंजाइश न रहेगी। पर किया तो तब जाय-जब ये बीज दिखाई पड़े। इन्हें देखने की सामर्थ्य ऋषि की अन्तर्दृष्टि मे होती है। जो इन अवांछित कुप्रवृत्तियो तथा दुश्चिंतन को बीज के रूप में देखते परखते और नष्ट करते हैं। साथ ही सत्प्रवृत्तियों, सद्‌गुणों के बीजों के अकुरण लायक भूमि तैयार कर सत्‌चिंतन का खाद-पानी जुटाते रहते हैं।

दृष्टि-क्षमता की इस महत्वपूर्ण उपलब्धि का तीसरा आयाम है-दिव्यदृष्टि। सामान्य मनुष्य या तो वर्तमान की कठिनाइयों का रोना-रोते अथवा अतीत की छोटी-मोटी उपलब्धियो से गर्वोन्मत्त हो उन्मत हाथी की तरह पगलाए फिरते हैं। उन्हें अभी के सिवा कभी का, किसी और आयाम का पता नहीं रहता। उनके देखने का दायरा स्वार्थों की परिधि की संकीर्णता के अनुरूप छोटा-सिकुड़ा-सिमटा रहता है। यही कारण है कि बहुसख्यक जन-भ्रान्तियो के भ्रम-भटकाव में उलझे जिस-तिस तरह जिन्दगी के दिन गुजार रहे है। ऐसे मे स्वाभाविक है, मानवीय गरिमा के अनुरूप मर्यादा का परिपालन न बन पड़े। आज की दशा यही है।

उलटी दशा को सुधारने का संकेत सिर्फ ऋषि की दिव्यदृष्टि देती है क्योंकि वह इसके सहारे अतीत के इतिहास का मूल्यांकन करते, मनुष्य की बीती भूलो को परखते और सुधार का उपाय सोचते है। सुधार के यही उपाय वर्तमान जीवन मे लागू करने को प्रेरित करते है। इतना ही नही उन्हे वर्तमान के पटाक्षेप के बाद का भविष्य साफ नजर आता है। भविष्य के योग्य-स्वयं को, समाज को गढ़ा जाय इसी ओर प्रयत्न चलाते है। भगवान कृष्ण ने अर्जुन को यही दृष्टि दी थी। जिसके सहारे वह दूरगामी भविष्य को देख पाने, समझने और तदनुरूप अपने को ढालने मे समर्थ हुआ।

त्रिविध दृष्टियो के साथ ऋषियो के स्वरूप भी त्रिविध हैं, ब्रह्मर्षि, राजर्षि, देवर्षि। तीनो ही समाज परायण हो लोकहित मे अपने-अपने ढंग से संलग्न रहते है। ब्रह्मर्षियो का क्षेत्र चिन्तन है। इसकी अपनी शक्ति होती है, जो चेतना की गहराई मे जाकर, विश्व की सूक्ष्मता में प्रवेश कर, जीवन के सिद्धान्तों की शोध करती है। इस चिन्तन शक्ति के अभाव में समाज पंगु हो जाएगा। प्रगति रुक जाएगी। भौतिक विज्ञान सम्बन्धी शोधकार्य के लिए जिस प्रकार एकान्त की आवश्यकता होती है। ठीक उसी प्रकार आध्यात्मिक मनोवैज्ञानिक शोध-प्रयोजनो के लिए भी एकान्त सेवन करना पड़ता है। ऐसे एकान्त सेवी जो ब्रह्मर्षि होते है, वे संसार को जीवन के तत्वज्ञान का चिन्तनात्मक सार देते है। जिसमे जीवन की समस्याओ का समाधान समाहित होता रहता है।

एकान्त का अर्थ, एकाकी होना न होकर-भीड़-भाड़ से दूर शान्त स्थान है। यहाँ पर रहकर अकेले अथवा कई ब्रह्मर्षि एक साथ मिलकर जीवन के विविध बिन्दुओं पर अपनी काया सत्ता की प्रयोगशाला में प्रयोग किया करते थे। कई बार ये प्रयोग अन्त. प्रकृति और बाह्य प्रकृति मे सामंजस्य बिठाकर बाहरी वातावरण मे सम्पन्न होते थे। मिलकर किए गए शोध प्रयत्नों मे ऋग्वेद १/१०० के पॉच ऋषियो ऋज्राश्व, अम्बरीष, सहदेव, भयमान और सुराधस का वर्णन आता है। इसी प्रकार ऋग्वेद ३/२३ की शोध देवश्रवाः और देववात् नामक दो ब्रह्मर्षियो ने मिलकर की।

ऐसे प्रयोगो के लिए हिमालय की अपनी महत्ता है। उत्तराखण्ड की गोद मे अनेको ऐसे दिव्य-स्थल हैं जहाँ तत्वज्ञान और आत्मविज्ञान के अनेको गुह्य प्रश्न अपना समाधान प्राप्त करते हैं, इन्ही कारणो से ब्रह्मर्षियो की मण्डली यहाँ रहकर अथवा सूक्ष्म मे इस दिव्य क्षेत्र से सम्पर्क साधकर अनेको तरह की खोज किया करते थे। मानव-शरीर ब्रह्माण्ड शरीर का संक्षिप्त सस्करण है। इसमें प्रकृति की, ब्रह्माण्ड की, महती शक्तियाँ बीज रूप मे विद्यमान है। उन्हे उठाने परिपक्व करने के लिए यह क्षेत्र सर्व सुविधा सम्पन्न है। इतिहास-पुराण इस बात के साक्षी है कि ब्रह्मर्षिगणो मे से अधिकांश चेतना जगत मे अनेको प्रयोग सम्पन्न कर मानव मे देवत्व के उदय का विज्ञान और विधान ढूँढ़ा। देव सस्कृति के सूत्रो ने अपना उदय और विस्तार इसी एकान्त से पाया। परम पू. गुरुदेव ने अपने जीवनकाल मे तीन बार आकर यहाँ अनेको ऐसे विशिष्ट प्रयोग सम्पन्न किए, जिनकी

चमत्कारी परिणति को विश्वमानव नवयुग के आध्यात्मिक समाज के रूप में देखेगा अनुभव करेगा।

इन्ही ब्रह्मर्षियों के निष्कर्ष, लोकसेवियों की सेवा का आधार बनते हैं। इन्हे ही राजर्षि कहा जाता है। ऐसे सेवा करने वाले समाज में न रहें तो समाज सूखकर कुम्हला जाएगा। ऐसे लोकसेवी विचारशील समाज मे आवाज बुलन्द करते हैं। आन्दोलन की जरूरत हो तो आन्दोलन खड़ा करते, संगठन की जरूरत हो, तो वह भी बनाते हैं। इस समूची कर्मठता के पीछे उनका निजी स्वार्थ नही रहता। इधर ब्रह्मर्षि से सूत्र लेते एवम् लोकसेवा के क्षेत्र मे उन पर अमल करते है। ज्ञान द्वारा लोकरजन करते हुए ये लोकसेवी राजर्षि समाज में एक बहुत बड़ी शक्ति की भूमिका निभाते है।

तीसरी शक्ति प्रेरक वाणी की है। जिन विचारों का ज्ञानियो को अनुभव होता है, उन विचारो को ऐसे चुने हुए शब्दों में ये ज्ञानी ही प्रकट कर सकते है ताकि सर्वसामान्य उसे ग्रहण कर सके। इसमे विचारों को पहचानने के साथ उसे वाणी का जामा पहनाना पड़ता है। वरना उचित शब्दों के अभावों मे प्रकाश की जगह तम व्याप्त हो सकता है। विचार तो अन्तर की गहराई मे होता है। इसे प्रकट करने मे शब्द का सहारा जरूरी है। इसमे कुछ न्यूनता रहने का भाव आ सकता है। दूसरा शब्द इस्तेमाल करे तो सम्भव है अतिरिक्त भाव आ जाय। इसलिए एक-एक शब्द में विवेक अनिवार्य है। ताकि न न्यून भाव प्रकट हो, न अतिरिक्त भाव, न विपरीत भाव। इन तीनों दोषों को टालकर जैसा का तैसा प्रकट करना चाहिए। इस तीसरी शक्ति के रूप मे जन-जन के हृदयो तक सद्विचार पहुँचा सकते है, उन्हे ही देवर्षि कहते है। नारद के पास यही शक्ति थी, जिसके बल पर उनने ध्रुव, पार्वती बाल्मीकि को प्रेरणा दी।

तीनों ही ऋषियो के कार्य का प्राण है, उनकी त्रिविध दृष्टि। सूर्य और प्रकाश की तरह दोनों एक हैं। एक के बिना दूसरे के बारे में सोचा नही जा सकता। ब्रह्मर्षियों की मिसाल देनी हो तो वशिष्ठ, विश्वामित्र, याज्ञवल्क्य का उदाहरण दे सकते है। राजर्षियों में जनक का नाम लिया जाता है। यह जरूरी नही कि ऐसे लोग राजा हों। वे सेवा में निर्लिप्त भाव से लीन हैं इतना काफी है। इस जमाने में भी अपने देश ने श्री अरविन्द जैसे ब्रह्मर्षि, रविबाबू (रवीन्द्रनाथ टैगोर) जैसे देवर्षि और गाँधी पुरुषोत्तमदास टण्डन जैसे राजर्षि पैदा किए हैं।

इन सभी के पास दृष्टि की सम्पदा तो एक-सी है। पर कार्य के अनुरूप लक्षण अलग हैं। ब्रह्मर्षि का लक्षण है चिन्तन और शोध करने की शक्ति। राजर्षि का लक्षण उसकी निरहकार सेवा भावना है। वैसे ही देवर्षि का लक्षण उसका प्रेम भरा हृदय है। वह नारद की तरह देव, दानव, मानव सभी से मिलता है। उन्हें प्रेरित करता है। आज भी समाज मे देव, दानव, मानव, विशिष्ट, अशिष्ट और शिष्ट के रूप में हैं। देवर्षि का कर्तव्य अपनी प्रेरक वाणी से विशिष्ट को समाज के नेतृत्व हेतु आगे लाना, अशिष्ट को सुधारना और शिष्ट को सेवा कार्यों मे लगाना है।

ऋषि तन्त्र की इसी सक्रियता ने कभी भारत को देवलोक का दर्जा दिया था। अतीत की स्वर्णिम आभा को भविष्य में बिखेरने का प्राण-पण से प्रयत्न करने वाले परम पू. गुरुदेव के व्यक्तित्व और कर्तृत्व मे इसे पुनर्जीवित होते देखा जा सकता है। उनके बहुआयामी जीवन मे जहाँ ब्रह्मर्षि तत्व की प्रधानता है, वहाँ राजर्षि और देवर्षि के रूप में उनके द्वारा किए गए प्रयास कहीं कम नही हैं। स्वयं की कठोर तपश्चर्या हिमालय के ब्रह्मर्षि गणों के साथ किये गए दुर्लभ प्रयोगो के जहाँ उन्होने वैयक्तिक और सामूहिक चेतना मे न जाने कितने आश्चर्यजनक परिवर्तन किए ? वहीं अपने निष्कर्षों को शब्दो मे सँजोया। देश और समाज के नवजीवन के लिए समर्थ प्राण संचारक वाहिनी गठित कर डाली। देवर्षि के रूप में उनकी प्रेरक वाणी लाखो हृदयो मे संजीवनी शक्ति बनकर पहुँचती रही।

यही नही उनके व्यक्तित्व मे समाया ऋषित्व-ऋषि परम्परा के पुनर्जीवन के कर्तृत्व के रूप में सहस्र धारा बनकर फूट पड़ा, जिसकी अनुभूति शान्तिकुज पहुँचकर ही की जानी सम्भव है। उनके समर्थ सरक्षण मे चल रहे ब्रह्मवर्चस् के शोध प्रयासों में किसी को भी ब्रह्मर्षि तत्व का सहज बोध सम्भव है। इसके अतर्गत चरक के आयुर्वेद, पतजलि के

योग-विज्ञान, व्यास के साहित्य-सृजन दार्शनिक मन्थन को नव प्राणों से भरपूर होने की अनुभूति की जा सकती है।

शान्तिकुंज जहाँ विभिन्न साधनात्मक प्रयास, व्यक्तित्व में आश्चर्यकारी बदलाव के लिए किए जा रहे प्रयोगो की कार्यशाला है। वहाँ राजर्षियो के प्रशिक्षण के लिए इसका महत्व कम नही। प्रतिमास यहाँ से सैकड़ो हजारों की संख्या में निरहंकार सेवा भावना के व्रती स्वयं-राष्ट्र-विश्व-संस्कृति मानवता के लिए स्वयं को समर्पित करने की अकुलाहट लिये निकल पड़ते है। ऐसे एक लाख राजर्षियो को विश्व मानवता के लिए सार्मपित कर देना युग पुरोधा का संकल्प है। जन-जन के हृदय को स्पन्दित करने को वर्ष भर प्रव्रज्या करने वाले देवर्षियो की भाव सामर्थ्य किसी से छुपी नहीं है। नारद परम्परा के धनी इन देवर्षियों ने अब तक न जाने कितने ध्रुवों बाल्मीकियों का जीवन बोध दिया है और देते जा रहे हैं।

युग ब्रह्मर्षि द्वारा प्रारम्भ किए गए नए ऋषिगणो को गढ़ने, तराशने, निखारने, का प्रयास अभी भी अविराम है। स्वयं के ऋषित्व को निखारने के लिए हमे केवल अपने चारो ओर घिरे हुए नरक को ही खोना पड़ेगा और कुछ गँवाया जाना नहीं है। दृष्टिकोण को परिष्कृत बनाने और आदर्शवादी कर्तृत्व के लिए अड़ जाने में हमें शरीर, मन, समाज और परिवार में सर्वतोमुखी सुख-शान्ति ही मिलनी है। इतना ही नही इसी प्रयास में जीवन लक्ष्य की प्राप्ति और युग पुकार की उस महती आवश्यकता की पूर्ति भी होती है, जिसके आधार पर ऐतिहासिक भूमिका प्रस्तुत करने वाले ऋषिगणों की पंक्ति में जा बैठेगे।

कथा-संकीर्तन की सरिता घर-घर पहुँचे

अनगढ़ को गढ़ने-सुसंस्कारित करने के विज्ञान और विधान की खोज बहुमूल्य होते हुए भी अपने आप मे समग्र नही हैं। इसकी समग्रता का रहस्य शिक्षण-पद्धतियों, लोक जीवन मे इसे ग्राह्य बनाने की प्रणालियो मे छुपा है। अपनी शुरूआत से आदमी मे सीखने-सिखाने की लगन रही है। शिक्षण तन्त्र के ढाँचे का विकास और विस्तार इसी की उपज है। गुरुकुल-आरण्यको के गठन के पीछे यही भाव रहा है। गठन की यह प्रक्रिया अपने उत्कर्ष और उन्मेष के समय में कितनी ही विस्तृत एवम् व्यापक क्यो न रही हो ? इसे सीमा-बन्धन से मुक्त नही किया जा सकता। आयु वर्ग और स्थान की सीमित परिधि दो ऐसे तत्व है, जिनके कारण समूचा समाज एक साथ यहाँ समा सके-ऐसा सम्भव नही है। लेकिन सुसंस्कारिता की बहुमूल्य निधि से इसे वचित भी तो नही किया जा सकता। मनीषी तत्वदर्शियों ने इसी प्रयोजन को पूरा करने के लिए कथा-कीर्तन का विधान बनाया।

उद्देश्य यही रहा, यदि समाज विद्यालय तक नही पहुँच सकता तो, विद्यालय को समाज तक पहुँचना चाहिए। समूचा समाज शिक्षार्थी बने-और सारी धरती पाठशाला। इसी स्वरूप को विकसित करने के लिए तरह-तरह के धर्मानुष्ठानो का विधान किया गया। प्रथा-परम्पराओ का निर्धारण निरूपण एवं प्रचलन उन्ही आदर्शो के अनुगमन हेतु विकसित हुआ।

तत्वचिंतक डॉ राधाकृष्णन् के ग्रन्थ "एन् आइडियलिस्टिक व्यू ऑफ लाइफ" के पृष्ठ पलटने पर ज्ञात होता है कि ससार के बहुसंख्यक जन भावो की भाषा समझते और कर्म मे जीते है। पर शोध का संसार विचारो का है। प्राचीनकाल के ऋषि-मुनि कहे जाने वाले अन्वेषक गुफाओ और वनो के एकान्त मे पहुँचकर मानव की अन्तः प्रकृति के रहस्यो, बाह्य प्रकृति के साथ इसके सामंजस्य के सन्दर्भ मे विचित्र और विलक्षण तथ्यों की खोज किया करते थे। लेकिन प्रश्न था इन मूल्यवान तत्वो की अभिव्यक्ति का। जन-जीवन तत्वचिन्तन का नही कला का रसिक और कर्म की ओर आकर्षित है। जन-मन की इसी अभिरुचि के अनुरूप वेदो को काव्य और यज्ञानुष्ठानो को कर्म विधान स्वरूप दिया गया।

उपनिषदों और दर्शन के विकासकाल मे शोध निष्कर्ष सूत्र की भाषा में जाने गए। सर्वसाधारण इन्हे समझे सोचे और तदनुरूप जी सके, विचार के इसी उद्गम बिन्दु से पुराणो की धारा बह निकली। अठारह पुराणो और इक्कीस उप-पुराणो के साथ रामायण महाभारत का महत्त्व कम नही है। कथा साहित्य का यह विशाल भण्डार कलेवर की दृष्टि से वेदो और दर्शनो की तुलना मे कई गुना बैठेगा। सूत्रो और उसकी बाल-बोध व्याख्या का यह अनुपात

अस्वाभाविक नही है। 'सूचनात् सूत्रम्' सूत्र सकेत भर करते हैं। जिस ओर उनका संकेत है उस तरफ हजारो-लाखों जीवन चल पड़ने के लिए मचल उठें यह तभी सम्भव है, जब सूत्रों का भाव भली प्रकार अस्तित्व की गहराई मे बैठ जाय।

अस्तित्व के कपाट खुले नही रहते इन्हे खोलना पडता है और यह खोलने की क्रिया अपने आप में कला है। मानव जीवन के विकास का साहित्यांकन करने मे सिद्धहस्त "आदि से इन्द्र तक" ग्रन्थ के लेखक डॉ. रांगेय राघव के शब्दों मे कला का अर्थ ग्रहणशीलता का जागरण है। कलात्मकता की सार्थकता सम्पर्क मे आने वाले मनों को बराबर अपनी ओर खीच-घसीट लेना है। स्थापत्य कला, चित्रकला नृत्य-अभिनय कला, पाक कला किसी के सन्दर्भ मे सोचे यह तथ्य पूरी तरह सही उतरता है। पर कला अपने आप में पूर्ण नही-किसी न किसी तरह दर्शन का अवलम्बन आश्रय अनिवार्य होता है। क्रिया-कला के लिए आधुनिक युग का यह विचार-अपरिपक्व और उथली सोच का परिणाम है। रोजमर्रा में काम आने वाली पाक-कला के विषय में सोचें तो तरह-तरह के व्यंजनो का सुस्वादु भण्डार देखकर किसी के मुँह में पानी आ जाना सहज है। वाणी की सामर्थ्य बनाने वाले की प्रशंसा मे बह निकलती है। परन्तु यदि इन व्यजनो मे जहर-मिला हो तो ? परिणाम रोग-शोक मृत्यु के सिवा और कुछ न होगा। अतएव-महत्त्वपूर्ण है—पाक-कला के विशेषज्ञ के विचार और भाव क्या है ? कलाकृति की सार्थकता इसी पर निर्भर करती है।

साहित्य कलाओ मे श्रेष्ठतम है। इस पर समाज का जीवन और उसका मानसिक स्वास्थ्य टिका है। पुराणकार इस तथ्य से भली प्रकार अवगत थे, उन्हे भली प्रकार मालूम था—'दर्शन विचारों की अनुभूति और कला विचारो की अभिव्यक्ति, यदि कलाकार में सद् विचारों का प्रस्फुटन-पल्लवन न हुआ तो उसकी समूची कलात्मक प्रतिभा समाज को ग्रहणशील भले बना दे पर उसमें प्राण और प्रेरणा नही भर सकती। प्रशंसा प्रोत्साहन और उपाधियों के ढेर पाकर भी वह पीड़ा और पतन देने वाली सिद्ध होगी।

ऋषिगणों की प्रेरणा का संचार करने वाले, कथा और कीर्तन में, कला के रहस्य, लोक चेतना का विज्ञान सँजोया है। पुराणों में धर्मधारणाओं और धर्मकृत्यों दोनों का सगुम्फन है, समायोजन एवं समावेश है। पुराण कथाओं के विराट विस्तृत तंत्र का सार-संक्षेप महत्त्व एवं मंत्र यही है। मानव की आस्थाओं एवं उसके आचरण दोनों को साथ-साथ उत्कृष्ट बनाए रखा जाय। उत्कृष्टता की दिशा में बढ़ने की पग-पग पर प्रेरणा दी जाय। रीति-रिवाजों, नियम, मर्यादाओं का आचारपरक एवं व्यवहारपरक शिक्षण भली प्रकार हो सके, कथा-साहित्य का यही उद्देश्य रहा है।

कथाओं का प्रारम्भिक विवरण वैदिक आख्यायिकाओं में भले मिले। पर इसके विकास को वाल्मीकीय रामायण की रचना मे ढूँढा जा सकता है। मर्यादाओं के पालन और रक्षण का लव-कुश द्वारा राम की यज्ञ सभा में किए गए गान ने सभी को मर्माहित कर दिया था। मर्यादा पुरुषोतम की आदर्श-निष्ठा अपनाने के लिए अगणित मन आकुल-आतुर हो उठे। इसी बढ़ी आकांक्षा ने देव भाषा और आचलिक भाषाओं मे नब्बे रामायणो को जन्म दिया, गोस्वामी तुलसीदास का 'रामचरित मानस' तो लोक-जीवन का कण्ठाहार बनी हुई है।

जहाँ रामकथा ने जन-जीवन मे मर्यादाओ का रोपण किया वही श्रीमद्भागवत ने सवेदनाओं के अंकुरण की महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई। इसका प्रारम्भ भले ही शुकदेव के वाचन और परीक्षित के श्रवण और मोक्ष से हुआ है। पर इस कथा मन्दाकिनी मे, अब तक न जाने कितने परीक्षित मुक्त हुए और हो रहे हैं। मृत्यु का रहस्य बताने और शोक-निवारण में हरिवंश पुराण का महत्व कम नही है। अन्य पुराण कथायें भी जीवन रहस्य का बोध कराती है। महाभारत तो कथा-शैली में ज्ञान का विश्वकोश ही है।

यों कथाओं के प्रचलन अन्य धर्मों में भी ढूँढ़े जा सकते है। बाइबिल के उपदेश कथा भण्डार ही हैं। छोटी-छोटी कथाओं के माध्यम से तत्वों का स्पष्टीकरण है। जैन कथाओं और बौद्ध जातक कथाओं की शैली भी यही है। हो भी क्यों न? तत्वोपदेश के साथ ही श्रोता के मन में प्रश्न उठता है। इसे किसी अन्य ने भी पालन किया है यदि किया है तो किस तरह ? अन्यथा

हम ही भोग-विलास को छोड़कर आदर्श मार्ग पर क्यों चलें? बस कथा का सरित प्रवाह इन प्रश्नों के समाधान में बह निकलता है।

शैली की समानता के बाबजूद भारतीय संस्कृति की एक अनूठी विशेषता है। यहाँ कथा को धर्मानुष्ठान का रूप दिया गया है। श्रोता और वाचक दोनों को कुछ खास कर्मकाण्डो को पूरा करके अपनी मनोभूमि का निर्माण करना होता है। इसमें मानव की क्रिया प्रवणता और भाव प्रवणता को सद्‌गुणों के समुच्चय की मोड़ देने का उद्देश्य भी निहित है। नैमिषारण्य कभी इस तरह के धर्मानुष्ठान का केन्द्र था। जहाँ से सूत-शौनिक परम्पराएँ गाँव-गाँव पहुँच सकी। आज भी इसके चन्ह रामकथा के नवदिवसीय और भागवत् कथा के सात दिवसीय समारोहो मे मिलते हैं। कथा वाचक की साधना दृष्टातों की मार्मिकता सुनने वालो की अन्तर भूमि मे संवेदनाओं को अंकुरित करने में समर्थ होती है। पुराण-कथाओं को सुनकर चोरों-डकैतो दुश्चरित्र कहे जाने वालो को भी बदलता देखा गया है। तुलसीदास की कथा सुनकर राम-चरित की पोथी चुराने आए दो चोरों का हृदय परिवर्तन विख्यात है। रामानुज की भागवत कथा ने दुर्दान्त नामक भयंकर दस्यु को सन्त बना दिया। बात छुट-पुट उदाहरणो की नही भावनाओ के स्पन्दन और विकास की है।

ग्रामीण अंचल के लिए कथा-समारोह आज भी वरदान है। शहरो की तड़क-भड़क और मशीनी जिन्दगी अभी वहाँ नहीं पहुँच पाई है। कथा समारोह ही उनके मनोरंजन और सद्‌भावो को विकास के सत्प्रयोजन को पूरा करते है। इन कथा समारोहो के साथ कीर्तन का सम्बन्ध अविच्छिन्न है। कला के ढंग से देखा जाय तो कीर्तन में नृत्य और संगीत का समावेश है। कीर्तन से मिलता-जुलता शब्द है, भजन। इसमे सगीत और गीत गुंफन है। कथा मे ये दोनों किसी न किसी रूप मे जुडे रहते है। भजन में जहाँ सिर्फ कुछ जानकार गायकों की टोली भाग लेती है। वहीं कीर्तन में समूचा जनसमूह सम्मिलित हो जाता है।

इसमे सवेदनाओं के नर्तन और भावनाओ के उफान को देखा जा सकता है। यह प्रक्रिया मनुष्य के भावोल्लास को विकसित करने में सहायक है। वहीं इसमें कुछ मनोवैज्ञानिक रहस्य जुड़े है। जीन हाडों की रचना "साइकोलाजी विद सोल" के विचारों के साथ अपने को करें तो पाते है। "मनोव्यथाएँ व्यक्तित्व की टूटन-दरारें भावातिरेक दमन का परिणाम हैं। मशीनी जिन्दगी जी रहा इन्सान न तो खुलकर हँस सकता है और न रो सकता है। बस घुटन सिसकन-तड़पन ही उसके पल्ले पड़ी है।

कीर्तन भावों के विरेचन रूपान्तरण की गहरी प्रकिया है। इसे जन आन्दोलन बनाने में चैतन्य महाप्रभु के गौड़ीय सम्प्रदाय और महाराष्ट्र के वारकरी सम्प्रदाय का विशेष योगदान है। कीर्तन भगवान के नाम रूप गुण-लीला का उल्लास गान है। इसके माध्यम से भक्त अपने अस्तित्व को गुणों के समुच्चय में उड़ेलता और तादात्म्य की अनुभूति कर स्वयं गुणवान बनता है। इसी उपलब्धि को बताते हुए भागवतकार ने कहा है।

फलेर्दोषनिधे राजन्निस्ति ह्येको महान गुणः।
कीर्तनादेव कृष्णस्य मुक्त संगः परं व्रजेत।।

—श्रीमद्‌भाग. १२/३/५१

कल्मष भरा होने पर भी कलि का महान् गुण है। इसमे मनुष्य कीर्तन करके पूर्ण पुरुष कृष्ण के संग की प्राप्ति कर मुक्त हो सकता है। इसका शास्त्रीय आधार खोजे तो चार पद्धतियों का विवरण मिलता है। १. हनुमदीय २. शाम्भवी ३. नारदीय ४. वैयासकीय। प्रेमोन्मत्त होकर, स्वर-ताल की बात भूल उद्दाम नृत्य करते जो कीर्तन किया जाता है, वह हनुमदीय पद्धति है। स्वर-ताल के साथ लास्य या ताण्डव नृत्य करते हुए नृत्य नियमो के साथ किया जाने वाला कीर्तन शाम्भवी पद्धति है। वाद्यों के साथ अथवा बिना वाद्य के बैठे हुए अथवा खड़े होकर भगवन्नाम का संकीर्तन, नारदीय पद्धति है। बीच-बीच में नाम-ध्वनि, पद कीर्तन और भगवान और उनके भक्तो की कथा चलती रहे यह वैयासकीय पद्धति है।

ये सारी पद्धतियाँ अपने उद्देश्य मे एक समान हैं। निम्न भावो का उच्चभावो में परिवर्तन-भावो के स्रोत से घनीभूत हो जाना। चैतन्य महाप्रभु के कीर्तन ने जघाई-मघाई जैसे दस्युओं का जीवन बदल डाला। उनका स्वर था वैष्णवो मे कोई ऊँच-नीच नही, यही कारण था, उनके द्वारा चलाए इस जन आन्दोलन मे हिन्दू मुसलमान बिना किसी भेद के सम्मिलित थे।

महाराष्ट्र मे कीर्तन की बाढ़ से स्नात कर अनेको जीवनो को गढने सँवारने वाले संत तुकाराम की वाणी सुने—

कथा त्रिवेणी संगम । देव भक्त आणि नाम ॥
तेथीं चे उत्तम । चरणरज वन्दिता ॥

जलती दोषां चे डोंगर । शुद्ध होती नारी नर ॥
गाती ऐकती सादर । जे पवित्र हरिकथा ॥

हरिकीर्तन मे भगवान, भक्त और नाम का त्रिवेणी सगम होता है। वहाँ की उत्तम पद रज वन्दनीय है। दोषो के पहाड़ जल जाते हैं। जो हरिकथा गाते और सुनते है वे नर-नारी पवित्र और शुद्ध हो जाते हैं।

तुकाराम, नरसी, मीरा, चैतन्य, तुलसी के स्वर और शिक्षण शैली के मूक होने का परिणाम जीवन का दुर्दशा के गर्त मे चले जाना है। इसे परिमार्जित करने नये सिरे से निर्धारण करने की अकुलाहट ने परम पू. गुरुदेव को प्रज्ञापुराण की रचना करने को विवश किया। समय परिवर्तनशील है। उसकी परिस्थितियाँ, मान्यताएँ, प्रथाएँ, समस्याएँ एवं आवश्यकताएँ भी बदलती रहती है। तदनुरूप समाधान खोजने पड़ते है। इस शाश्वत सृष्टि क्रम को ध्यान में रखते हुए चार खण्डो मे इस महापुराण की रचना हुई है। इसके साथ युग सकीर्तन की वैयासकीय और नारदीय पद्धतियाँ अविछिन्न रूप से जुडी है।

देव-संस्कृति की इस कथा संकीर्तन सरिता को घर-घर, गाँव-गाँव पहुँचाने का दायित्व युग भागीरथो पर है। प्रज्ञापुराण के इस धर्मानुष्ठान मे आरम्भ का एक दिन देव पूजन, व्रत धारणा माहात्म्य आदि के मगलाचरण मे लगाया जा सकता है। चार दिन चार खण्डो के सार संक्षेप प्रातः सांय की दो बैठको मे सुनाया जा सकता है। अन्तिम दिन पूर्णाहुति का सामूहिक समारोह हो। जिसमे युग संकीर्तन के स्वरो के साथ शोभा यात्रा मिशन के बैनरो के साथ निकाली जा सकती है। धर्मानुष्ठान के इस क्रम के अतिरिक्त घर परिवार के रोजमर्रा के जीवन मे भी इस महापुराण की कथाएँ, युग सगीत, स्वर सर्जन, जीवन भूमि को पुष्पित सुरभित कर सकते हैं।

गाथा इस देश की, गाई विदेशियों ने

भारतवर्ष की शक्ति और समृद्धि, ज्ञान और गुरुत्व विश्वविख्यात है । प्राचीन काल की श्रेष्ठतम उपलब्धियो से भरपूर साहित्य और इतिहास हमें प्रतिक्षण उस गौरवपूर्ण अतीत की याद दिलाता है । पूर्वजो की आत्माओं का प्रकाश अब इस देश के कण-कण को जागृति का सन्देश दे रहा है । यह बात हर एक नागरिक के हृदय मे समाई हुई है, वह आत्माभिमान अभी तक मरा नही । किन्तु काल के दूषित प्रभाव के कारण आज आर्य जाति सब तरह से दीन-हीन बन चुकी है । अब उसका कदम केवल विनाश की ओर ही बढ़ रहा है । जानते हुए भी हम अपनी पूर्व प्रतिष्ठा को भुलाये बैठे है। हमारी गाथायें विदेशो मे बिक गई । हमारे ज्ञान की एक छोटी-सी किरण पाकर पाश्चात्य देश अभिमान से सिर उठाये खड़े है और हम अपने पूर्वजों की शान को भी मिट्टी मे मिलाने को तैयार है ।

कठोर बनने का कोई उद्देश्य नही है। कटु बात कहकर अपने ही आत्मा के कणो का जी दुखाना नहीं चाहते किन्तु जो दुर्गति हमारी संस्कृति की इन दिनो हो रही है, उसे देखकर हृदय मे सौ-सौ बरछों का-सा प्रहार लग रहा है । आत्मा की इस आवाज को कोई धर्माभिमानी, राष्ट्र हितैषी तथा जाति के गौरव के लिये प्राण अर्पण करने वाला ही समझ सकता है ।

आर्य संस्कृति का या हिन्दू धर्म का नाम उल्लेख करने मे साम्प्रदायिक संकीर्णता का भाव नही आना चाहिए। हमारी सस्कृति दिव्य-संस्कृति है । उसमें प्राणिमात्र के हित की व्यवस्था है । यह उद्‌बोधन केवल इसलिये है कि उस चिर-सत्य का प्रादुर्भाव केवल इसी भूमि मे हुआ है, इसी से हम उसे एक विशेष सम्बोधन से विभूषित करते है अन्यथा हिन्दू-धर्म का क्षेत्र सम्पूर्ण विश्व है । काउन्ट जोन्स जेनी ने इस बात को स्पष्ट करते हुए बताया है—"भारतवर्ष केवल हिन्दू धर्म का ही घर नही है वरन् वह ससार की सभ्यता का आदि भण्डार है।"

"ससार मे भारतवर्ष के प्रति लोगो का प्रेम और आदर उसकी बौद्धिक, नैतिक और आध्यात्मिक सम्पति के कारण है।" यह शब्द प्रो. लुई रिनाड ने व्यक्त किये है । इन शब्दो से भी यही तथ्य प्रकाशित होता है कि भारत समग्र विश्व का है और सम्पूर्ण वसुन्धरा इसके प्रेमपाश मे आवद्ध है । अनादि काल से धर्म की, संस्कृति और मानवता की ज्योति यह विकीर्ण कर रहा

है । धरती की अनुपम कृति यह देश भला किसे प्यारा न होगा ? भारतवर्ष ने जो आध्यात्मिक विचार इस संसार में प्रसारित किये हैं, वे युग-युगान्तरो तक अक्षुण्ण रहने वाले है । उनसे अनेक सुषुप्त आत्माओ को अनन्त काल तक प्रकाश मिलता रहेगा । भारतीय संस्कृति के प्रवाह का उद्गम वे चिन्तन, शाश्वत और सनातन सत्य रहे है, जिनकी अनुभूति ऋषियो ने प्रबल तपश्चर्याओ के द्वारा अर्जित की थी, वह प्रभाव धूमिल भले ही हो गया हो किन्तु अभी तक भी लुप्त नही हुआ है ।

धार्मिक, आध्यात्मिक एवं नैतिक क्षेत्र मे ही हम सर्वसम्पन्न नही रहे वरन् कोई क्षेत्र ऐसा नही छूटा जहाँ हमारी पहुँच न रही हो । आध्यात्मिक तत्व ज्ञान के अतिरिक्त सामाजिक, व्यावहारिक तथा अन्य विद्याओं के ज्ञान-विज्ञान में भी हम अग्रणी रहे है । अपनी एक शोध मे डा थीवो ने लिखा है "संसार, रेखागणित के लिये भारत का ऋणी है यूनान का नही।" प्रसिद्ध इतिहासज्ञ प्रो. वेबर का कथन है— "अरब मे ज्योतिष विद्या का विकास भारतवर्ष से हुआ।" कोलब्रुक ने बताया है कि "कोई अन्य देश नहीं, चीन और अरब को अकगणित का पाठ पढ़ाने वाला देश भारतवर्ष ही है।"

यूनान के प्राचीन इतिहास का दावा है कि "भारत के निवासी, यूनान मे आकर बसे । वे बडे बुद्धिमान, विद्वान और कला-कुशल थे । उन्होने विद्या और वैद्यक का खूब प्रचार किया । यहाँ के निवासियो को सभ्य बनाया ।" निसदेह इतना सारा ज्ञान अगाध श्रम, शोध और लगन के द्वारा पैदा किया गया होगा । तब के पुरुष आलस्य, अरुचि, आसक्ति, अहकार आदि से दूर रहे होंगे तभी तो वह तन्मयता बन पाई होगी, जिसके बूते पर इतनी सारी खोज की जा सकी होगी। दुर्भाग्य की बात है कि आज वही भारतवर्ष विदेशियो के अनुकरण को ही अपनी शान समझता है । इस कार्य मे जो जितना अधिक निपुण है, उसे उतनी ही सामाजिक प्रतिष्ठा मिलती है ।

विश्व के विविध विषयो के जब आँकड़े प्रस्तुत किये जाते है तो यह देखकर तीव्र वेदना होती है कि उनमे भारतवर्ष पिछड़ी श्रेणी मे आता है । शिक्षा के क्षेत्र मे हम सबसे कमजोर, भारतीयो की औसत आय संसार मे सबसे कम, आरोग्य के नाम पर सबसे दुःखी, दुर्बल और रोगग्रस्त, आहार मे सबसे कम कैलोरी वाला, निर्धनता मे सबसे पहले दर्जे का । अवनति की कोई हद नही । कोई क्षेत्र नही छूटा जहाँ मात न खाई हो । क्या वह समृद्धि हम फिर से देख सकेंगे, जिसका वर्णन प्रसिद्ध यूनानी विद्वान एरियन ने इस तरह किया है—

"जो लोग भारत से आकर यहाँ बसे थे वे कैसे थे ? वे देवताओ के वंशज थे, उनके पास विपुल सोना था । वे रेशम के कामदार ऊनी दुशाले ओढते थे । हाथी दाँत की वस्तुये व्यवहार मे लाते थे और बहुमूल्य रत्नों के हार पहनते थे।"

जो विध्वंसक विज्ञान और एटमी हथियार इन दिनो बन रहे है, उनसे भी बडी शक्ति वाले आयुध यहाँ वैदिक युग मे प्रयुक्त हुये है । सरस्वती की उपासना के साथ-साथ शक्ति की भी समवेत उपासना इस देश मे हुई है । अथर्ववेद में अनेक स्थानों पर जो "अशनि" शब्द का प्रयोग हुआ है, उसका अर्थ आजकल की भीमकाय तोपो जैसा ही है । प्रोफेसर विल्सन का कथन है—"गोलों का आविष्कार सबसे पहले भारत मे हुआ था । योरोप के सम्पर्क मे आने के बहुत समय पहले उनका प्रयोग भारत मे होता था।"

कर्नल रशब्रुक विलियम ने एक स्थान पर लिखा है—"शीशे की गोलियाँ और बन्दूको के प्रयोग का हाल विस्तार से यजुर्वेद मे मिलता है । भारतवर्ष मे तोपो और बन्दूको का प्रयोग वैदिक काल से ही होता था ।

डफ महोदय लिखते है—"भारतीय विज्ञान इतना विस्तृत है कि योरोपीय विज्ञान के सब अंग वहाँ मिलते है ।"

कहाँ तक गिनाये, ऐसे आख्यानो से योरोप का इतिहास भरा पडा है फ्रेडरिक शेलिंग प्रो. मैक्समूलर, रोम्याँ रोलाँ, एम लुई जिकोलिएट विक्टर कोसिन आदि अनेक विद्वानो तथा दार्शनिको ने मुक्त कंठ से भारतीय गरिमा की प्रशसा की है । जो भी इस सस्कृति के प्रभाव मे आया उसी का मन इसे देखकर मोह गया । भारतीयों की सहृदयता ,श्रद्धा और ईश्वर विश्वास के आगे संसार नत-मस्तक हो जाता है ।

वह ज्ञान, वह गौरव, विज्ञान, कला, समृद्धि और संस्कृति सबका सब इस देश के गर्भ में अभी भी विद्यमान है । वह खोजें दृढ़ हैं, निरर्थक या लोप नही हुईं। उन विद्याओं का अस्तित्व अब भी विद्यमान है और यह प्रतीक्षा किया करता है कि कोई आये और हमारे अनन्त भंडार में से जितना मन चाहे, बटोर ले जाय । किन्तु कहाँ हैं वे कर्मवीर जो राष्ट्र के गौरव को फिर से ऊँचा उठा सके ।

हमने एक परिभाषा सीख ली है—"पतन की परिभाषा।" नशे मे झूमते हुये व्यक्ति को जैसे खुद का भी होश-हवास नही रहता ठीक उसी तरह हो गये हैं हम! हमारी रगों में विदेशीपन का, बनावट का नशा छा गया है । अपने सांस्कृतिक गौरव को भूल चूके हैं। तभी दिनों-दिन हमारी दुर्गति बढ़ती जा रहा है । बेकारी रह नही सकती, भ्रष्टाचार टिक नही सकता, व्यभिचार पनप नही सकता, अत्याचार अधिक दिन तक सर उठाये खड़ा नही रह सकता, पर हमारा आत्माभिमान तो जागे । हम जिस दिन अपने को समझ पायेगे उस दिन हमारी अवस्था ही भिन्न होगी। सर्वत्र हास-परिहास होगा। ज्ञान की गगा यहाँ बह रही होगी। समृद्धि का कुबेर अपना खजाना लुटा रहा होगा । सब कुछ होगा पर हमारी आध्यात्मिक वृत्तियाँ भी तो जागें। यदि इतना साहस हम मे पैदा हो जाय तो युग को बदलते देर न लगेगी । वह स्वर्णिम विहान विहँसता हुआ चला आयेगा । आइये ! अब उसी धर्म और संस्कृति के अवगाहन के लिए तैयार हो ।

भारतीय संस्कृति के विनाश का संकट

आजकल संस्कृति का अर्थ बहुत सीमित रूप मे लिया जाने लगा है। भारतीय जीवन-पद्धति, कला-कौशल, ज्ञान विज्ञान, हमारे सामाजिक जीवन, व्यापार सगठनो, उत्सव, पर्व, त्यौहार आदि जिनके सम्मिलित स्वरूप से हमारी सस्कृति का बोध होता था वहाँ आज सस्कृति का अर्थ खुदाई मे प्राप्त प्राचीन खण्डहरो के स्मृति चिन्ह, नृत्य-संगीत के कार्य क्रम या कुछ प्राचीन तथ्यो के पढ़ने लिख लेने तक ही संस्कृति की सीमा समझ ली जाती है । प्राचीन ध्वन्सावशेषो की खुदाई करके सस्कृति के बारे मे तथ्य निर्णय करने के प्रयत्न पर्याप्त रूप में होते जा रहे हैं। यह सब प्राचीन इतिहास और हमारे सांस्कृतिक गौरव की जानकारी के लिए आवश्यक भी है लेकिन इन्ही तथ्यों को संस्कृति मान लेना भारी भूल है । भारतीय- संस्कृति तो एक निरन्तर विकासशील जीवनपद्धति रही है, उसे इन संकीर्णताओं में नही बाँधा जा सकता । इतिहास के रूप में उसे एक अंग अवश्य माना जा सकता है ।

आजकल सांस्कृतिक कार्यक्रमों के नाम पर, नृत्य-संगीत के कार्यक्रम होते देखे जाते हैं। यद्यपि नृत्य-संगीत कला, आमोद-प्रमोद भी हमारी संस्कृति के अभिन्न अंग हैं लेकिन इन्हें सांस्कृतिक आदर्श मानकर चलना संस्कृति के बारे में अज्ञान प्रकट करना ही है । हमारी संस्कृति केवल, नाच गाने तक ही सीमित नही है । इसमें जहाँ आनन्द उल्लास का जीवन बिताने की छूट है, वहाँ जीवन के गम्भीर दर्शन से मनुष्य को महामानव बनने का विधान भी है। हमारे यहाँ का ऋषि कला का साधक भी होता था, तो जीवन और जगत के सूक्ष्मतम रहस्यो का उद्‌गाता—दृष्टा भी। पर्व-त्यौहारो के रूप मे सामूहिक आनन्द उल्लास का जीवन भी बिताया जाता था तो सामाजिक, राजनैतिक सुधारो पर ज्ञान-विज्ञान के क्षेत्र मे गम्भीर विचार-विमर्श भी होता था । ऐसी थी हमारी संस्कृति। उसे केवल नृत्य-संगीत के कार्यक्रमो तक ही सीमित रखना उसके महत्व को न समझना ही है ।

बहुत कुछ अर्थों मे संस्कृति, इतिहास की तरह पढ़ने-लिखने की वस्तु मान ली गई । हमारे दैनिक जीवन में सांस्कृतिक मूल्य नष्ट होते जा रहे है । संस्कृति के सम्बन्ध मे खोज करने वाले स्वय सांस्कृतिक जीवन नही बिताते । उनका रहन-सहन आहार-विहार जीवन-क्रम सब विपरीत ही देखे जाते है।

भारतीय सस्कृति के लिए एक सबसे बड़ा खतरा है, वह है—पाश्चात्य संस्कृति का प्रचार अभियान। इसकी शुरूआत तभी से हो गई थी, जब से अंग्रेज यहाँ पर आए थे । अपने शासन काल मे उन्होने सभी प्रकार अपनी सस्कृति के प्रसार की नींव मजबूत कर ली । ईसाई मिशनरियो के द्वारा प्रचार और स्कूल

कालेजों में शिक्षा के माध्यम से ईसाईयत का प्रसार भारत मे शुरू किया और यह आज के स्वतन्त्र भारत में बढ़ा ही है कम नही हुआ है ।

संस्कृति के इस प्रचार अभियान के कारण प्रतिवर्ष लाखों भारतीय ईसाई बन रहे हैं । स्वदेशी रहन-सहन, भाषा, भाव, विचारों का परित्याग करके वे अपने सांस्कृतिक गौरव को भूला रहे हैं । उधर विदेशी लोग अपनी संस्कृति के प्रसार के लिए करोड़ों रुपया पानी की तरह बहा रहे हैं । जन सेवा के लिए चलाए जाने वाले समस्त ईसाई चर्च, स्कूल, अस्पताल सेवा-संस्थायें आदि मूल रूप मे ईसाईयत के प्रचार संस्थान हैं । ये लोग भारतीयो की आस्थाओं को नष्ट करके, बहका फुसलाकर, नौकरी, विवाह, शिक्षा तथा अन्य वस्तुओ का लोभ देकर, उन्हें अपनी संस्कृति में रंग रहे हैं । आसाम, बम्बई, महाराष्ट्र, बिहार, उड़ीसा, केरल, मद्रास के आदिवासी क्षेत्रों में ईसाई मिशनरी पूरे जोर-शोर के साथ अपना काम कर रहे हैं । इस सम्बन्ध में जॉच-पड़ताल करने पर बड़े सनसनी पूर्ण तथ्य मिलते है।

ईसाई स्कूलों में पढ़ाई जाने वाली बहुत सी पुस्तको मे हमारी संस्कृति के आदर्श नायक राम और कृष्ण के सम्बन्ध मे घृणित विचार मिलते है । एक पुस्तक के अनुसार वह (श्रीकृष्ण) चोर था, उसने निरपराध धोबी का वध किया । ऐसे देवताओ की पूजा करना मूर्खता है । इसी तरह भगवान राम के बारे मे "राम बड़ा पापी था उसने रावण का वध किया।" फिर इस तरह हिन्दू-संस्कृति के आधारों के प्रति आस्था नष्ट करके वे ईसा के प्रति भक्ति जगाते है। उसे मानव का कल्याणकारी बताकर लोगो को उसकी पूजा करने, ईसाई बनने का कूटनीतिक प्रयत्न इन ईसाई मिशनरियो द्वारा हमारे देश में कम नही चल रहा । इससे हमारी संस्कृति की नीव ही खोखली होती जा रही है । भारतीय समाज का एक बहुत बड़ा भाग आज ईसाई बनकर अपनी प्रेरणा और जीवन पद्धति का आधार पश्चिम को मानकर चलता है । ये लोग भारत में इस तरह रहते है मानो ये विदेशी हो । कैसी विडम्बना है

हमारी संस्कृति के लिए विदेशियो द्वारा जहाँ ईयाईयत के प्रचार का खतरा है, उससे कम खतरा अपने स्वयं के पश्चिमी अनुकरण के प्रयास का भी नही है । हम लोग अपने रहन-सहन, जीवन पद्धति, विचारों की प्रेरणा के लिए पश्चिम की ओर देखते है। उनका अनुकरण करते हैं । जहाँ तक अपनी संस्कृति का सवाल है, हम उसे भूलते जा रहे है । आज हमारी बोली भाषा वस्त्र, रहने का ढंग विदेशी बनता जा रहा है ।

स्वच्छ और सादा ढीले वस्त्र जो हमारी भौगोलिक स्वास्थ्य सम्बन्धी परिस्थितियो के अनुकूल थे, उनकी जगह पश्चिम का अनुकरण करके भारी गर्मी मे भी कोट पैन्ट पहनते है । आज का शिक्षित समाज वस्त्रों की दृष्टि से पूरा पश्चिमी बन गया है । धोती-कुर्ता पहनने मे बहुत-से लोगो को शर्म और संकोच महसूस होता है । पढ़े-लिखे लोगों मे अंग्रेजी बोलना एक फैशन बन गया है । हिन्दी, संस्कृत या अन्य देशी भाषा बोलने मे मानो अपना छोटापन मालूम होता है । दिवाली आदि पर्व-त्यौहारो पर, किन्ही सास्कृतिक मेलों, पर, हममें वह उत्साह नही रहा, लेकिन 'फर्स्ट अप्रैल फूल' 'बडा दिन' जैसे पश्चिमी त्यौहार मनाने मे हम अपना बडप्पन समझते हैं।

एक समय था जब विश्व के विचारक, साहित्यकार भारत से प्रेरणा और मार्गदर्शन प्राप्त करते थे । इसे अपना आदि गुरु मानते थे । इसे सभी विदेशी विद्वानो ने स्वीकार किया है । लेकिन आज हमारे देश मे इससे विपरीत हो रहा है । आज हम साहित्यक विचार-साधना के क्षेत्र मे पश्चिम का अनुकरण करते है। इसका अर्थ यह नही कि हमे वहाँ के साहित्य का अध्ययन नही करना चाहिए, यह तो किसी भी विचारशील व्यक्ति के लिए आवश्यक है । किन्तु अपने मौलिक सांस्कृतिक तथ्यो, प्रेरणाओं को भुलाकर पश्चिम का अन्धानुकरण करना हमारी संस्कृति के लिए बड़ा खतरा है । इससे वह कमजोर होती है।

एक सबसे बडी बात यह है कि हममे भारतीयता का, अपनी संस्कृति का, गौरव नष्ट होता जा रहा है । भारतीय कहलाने मे हमारा सीना तन नही जाता । अपनी संस्कृति के प्रति हममे भक्ति भावना, निष्ठा आज नहीं रही है, ऐसी निष्ठा, जिसके लिए हमारे पूर्वजो ने अनगिनती कष्ट सहे थे, बड़े-बड़े प्रलोभनो को ठोकर मार दी थी।

पाश्चात्य देशों ने जहाँ अपनी सस्कृति, सभ्यता के प्रचार के लिये करोड़ो रुपया बहाया है, अनेकों कष्ट सहे है, वहाँ हमने अपनी संस्कृति के प्रति पूरी वफादारी भी नहीं निभायी है। काश! हमने इस सम्बन्ध मे थोड़ा भी प्रयत्न किया होता तो आज संसार की स्थिति इससे भिन्न होती। ईसाईयत के स्थान पर आज भारतीय संस्कृति मानव-संस्कृति का प्रभुत्व होता, जो ससार को तोड़ने के बजाय जोड़ती, विनाश के बजाय पालन- पोषण के साधनों की खोज करती। विघटन के स्थान पर एक सूत्रता पैदा करती। बुद्धि-चातुर्य, छल छद्म कूटनीति के स्थान पर हार्दिकता बढ़ती ।

आज के युग मे हमारे लिए बहुत बड़ी चुनौती है कि हम अपनी सस्कृति को नष्ट होने से बचायें । इसके प्रति आस्थावान् बने । सास्कृतिक मूल्यो को अपने जीवन मे उतारे । साथ ही इसका प्रचार-प्रसार भी करे ।

वर्ण व्यवस्था का स्वरूप और प्रयोजन

पूर्व काल मे समाज के कर्णधार ऋषि मुनियो ने आर्यो को, जो कि अब हिन्दू कहे जाते है, आवश्यकतानुसार केवल चार वर्गो मे विभक्त किया था ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र । यह चार वर्ग वर्ण कहे जाते थे। ऋषियो द्वारा यह विभाजन बडा ही वैज्ञानिक, प्रगतिशील और उपयोगी था। किन्तु तब इन वर्गो मे किसी प्रकार का जातीय भेदभाव अथवा आज की तरह ऊँच-नीच की भावना नही थी । चार वर्गो मे विभाजित होने पर सम्पूर्ण समाज एक आर्य जाति की सूत्रता मे आबद्ध था। सब आर्य थे और सबको ही समान रूप से सामाजिक अधिकार मिले हुए थे। यदि यह विभाजन ऊँच-नीच अथवा बड़े-छोटे के आधार पर किया गया होता तो शायद समाज का कोई आर्य सदस्य इसे मानने को तैयार न हुआ होता और यदि यह जोर-जबरदस्ती के आधार पर किया जाता तो उस समय आर्य वीर विद्रोह कर देते और इतना भयानक गृहयुद्ध होता कि भारत, भारतीय-सभ्यता-सस्कृति और धर्म की स्थापना करके जगद्गुरु के पद पर प्रतिष्ठित होने वाली आर्य जाति उस पूर्वकाल में कट मरकर कब की समाप्त हो गई होती क्योंकि उस स्वाधीनता और समानता के समय मे न तो किसी को दबाया जा सकता था और न कोई दब ही सकता था । दूरदर्शी ऋषि-मुनि इस आधार पर समाज में विभाजन, विघटन विद्रोह उत्पन्न करके आर्य जाति का अहित करने की कभी नही सोचते ।

ऋषियों ने अपने समाज में वर्ग-विभाजन अथवा वर्ण-व्यवस्था अच्छी प्रकार से सोच-समझ कर बड़े ही वैज्ञानिक ढंग पर सर्व सम्मति से की थी । यही कारण था कि आगे चलकर आर्य जाति अपना अतुलनीय विकास कर सकी और इस सर्व सम्मत वर्ण-विधान के सारा समाज सच्चाई को साथ मानता हुआ, इसके अनुसार अपना कर्तव्य करता आया। ऋषियो की स्थापित की हुई वर्ण-व्यवस्था हिन्दू समाज मे विघटन का कारण नही है। इसका कारण वे विकृतियाँ है, जो कालान्तर मे अनेको उपद्रवो, आक्रमणों और सामाजिक अस्त-व्यस्तता के कारण उत्पन्न हो गई और जिनको दूर करने की ओर कोई विशेष ध्यान नहीं दिया गया।

आदिकालीन भारतवर्ष मे आर्यो की अपेक्षा अनार्यो की संख्या बहुत रही है । जहाँ आर्य सृजनात्मक विचारधारा के अनुरूप काम करते हुऐ सभ्य, सुसस्कृत एव विकासोन्मुख, उन्नत समाज का निर्माण करते हुए एक स्थायित्व पाने के प्रयत्न मे लगे रहते थे, वहाँ केवल लूटमार करके अपनी जीविका चलाने वाले, अनार्य आये दिन उन पर आक्रमण कर दिया करते थे । उनका सामना करने के लिए सारे आर्य समुदाय को निर्माण कार्य छोडकर युद्ध मे लग जाना पड़ता था और इस प्रकार सभी बनी बनाई व्यवस्था बिगड़ जाती थी। फिर नये सिरे से काम शुरू करना पड़ता था । खेत उजड़ जाते थे, शिल्प नष्ट हो जाते थे और योजनायें बिगड़ जाती थी । साथ ही सैकड़ो महान् मस्तिष्क कटकर रणभूमि मे गिर जाते थे जिससे इनमे चल रही विकास की विचारधाराये जहाँ की तहाँ समाप्त हो जाती थी । इस प्रकार आए दिन बडी-बड़ी हानियाँ होती रहती थीं । जितना आगे बढ पाते थे, उतना ही पीछे हट जाना पडता था ।

निदान अनार्यों की इस वर्बरता से परेशान होकर समाज के मनीषी महात्माओ ने गहराई से विचारकर इस समस्या का कोई स्थायी हल निकाल लेने का निश्चय कर लिया ।

अस्तु, उन्होने विचार किया और पूरे समाज को चार वर्णों के नाम से चार वर्गों में विभक्त कर दिया। एक वर्ग में उन्होने वे व्यक्ति रक्खे जो चिन्तनशील स्वभाव के थे और अध्ययन एव अध्यापन, समाज सेवा एवं लोक नेतृत्व में जिनकी रुचि सर्वोपरि थी । इस वर्ग को उन्होंने ब्राह्मण कहा । दूसरे वर्ग में वे लोग लिए गये, जो स्वभाव से दुर्धर्ष और साहसी थे। शरीर से अपेक्षाकृत हृष्ट-पुष्ट और संग्राम कार्य मे जिनकी रुचि सर्वोपरि थी । इनको क्षत्रिय कहा गया । तीसरे वर्ग मे वे व्यक्ति शामिल किये गये, जो स्वभाव से उत्पादक, संगठनकर्ता मितव्ययी, शान्त और सहिष्णु थे। कृषि एवं वाणिज्य व्यवसाय मे जिनकी रुचि सर्वोपरि थी । इन तीसरे वर्ग के लोगो को वैश्य बताया गया । चौथे वर्ग मे उन सब लोगो को रखा गया जो अवशेष स्वभाव, साधारण रुचि और सामान्य शिल्प के थे और जो उपयुक्त तीनो वर्गों मे से किसी में भी समर्थ न हो सकते थे । इनको शूद्र की सज्ञा दी गई ।

ऋषियो का यह वर्ग विभाजन कितना वैज्ञानिक, व्यवहारिक और उपयोगी था इस पर विचार करने से तो उनकी मनीषा को ईश्वरी स्फुरणा ही कहते अच्छा लगता है ।

पहले इस वर्ग व्यवस्था की उपयोगिता पर विचार कीजिए। किसी भी सघर्ष के समय सारे के सारे लोग दौड़कर लड़ाई मे लग जाते थे और इसके पूर्व सब लोग सब कामों के करने में लगे रहते थे इसलिए विशेष युद्धाभ्यास के अभाव मे कोई दक्षता न प्राप्त कर पाते थे फलस्वरूप एक के स्थान पर चार मर कर शत्रुओ से पार पा सकते थे। इससे अनावश्यक जनक्षति हुआ करती थी।

इसके अतिरिक्त सब प्रकार के लोग होने से प्रथम वर्ग के लोग दया भाव से विचारपूर्वक लडते थे। रुचि एव स्वभाव के विपरीत तीसरे वर्ग के लोग वेगार टालने के कारण बेकार मारे जाते थे और चौथे लोग अनुशासन की महत्ता न जानते और परिस्थिति विशेष के लिए प्रत्युत्पन्न बुद्धि न होने से व्यूह बिगाड़ने और कमजोर पक्ष बनकर शत्रुओं को बढ़ने का अवसर देते थे। केवल दूसरे वर्ग के लोग ही रुचि से लड़ते-मरते थे सो भी अदक्षता एवं असंगति के कारण उतना कुछ न कर पाते थे, जितना अपनी वीरता के बल पर उन्हे कर दिखाना अपेक्षित होता था ।

लड़ाई मे एक साथ सबके लग जाने से बाकी कृषि, व्यवसाय एव अन्य सारे शिल्प बन्द हो जाते थे, जिससे लड़ाई के लिए रसद और हथियारो आदि की पूर्ति कम पड़ने लगती थी। घर अरक्षित एव अकेले रह जाते थे और स्त्री बच्चे भूख से लेकर भय तक के शिकार बने रहते थे। शिक्षा-दीक्षा का सारा काम जहाँ का तहाँ रह जाता चारो ओर एक अजीब अस्त व्यस्तता, अभाव और अधीरता का वातावरण छाया रहता था।

वर्ग-विभाजन हो जाने से इन सब अवस्थाओ मे सुधार हो गया। दूसरे वर्ग के क्षत्रिय कहे जाने वाले व्यक्ति अपना सारा समय और ध्यान युद्धाभ्यास मे लगने से युद्ध कला मे कौशल होकर अच्छे योद्धा बनने लगे। रणभूमि मे एक मन तन से छटे हुए सैनिकों के लड़ने से कम समय और कम बलिदान मे बड़ी-बड़ी विजय मिलने लगी और इधर विचारणा, विद्या, योजना, उत्पादन व्यवसाय और सामान्य शिल्प के अन्य सारे काम भी होते रहे, जिससे विजनता और विपन्नता के भयद वातावरण से शेष समाज की रक्षा होती रही । इस प्रकार जहाँ शीघ्र ही शत्रुओ का दमन हो गया, वहाँ समाज मे सम्पन्नता भी आने लगी। इस व्यवस्था की यह उपयोगिता भी मानी जायेगी ।

सक्रान्ति समाधान के लिए सुदूरदर्शी मनीषियों ने जिस वर्ग अथवा वर्ण-व्यवस्था को योजित किया था, उसका इतना व्यापक लाभ देखकर शान्ति समय के लिए भी उसे मान्य कर दिया। वे समदर्शी दार्शनिक यदि स्वप्न में भी यह देख पाते कि उसकी दी हुई विद्या को उनके ही अनुयायी उन्ही के रचे हुए समाज को नष्ट-भ्रष्ट करने में ही प्रयोग करने लगेगे तो निसन्देह वे निर्मोही एव निस्पृह महात्मा उस आपद्कालीन व्यवस्था को उसी समय समाप्त करके कोई दूसरी व्यवस्था दे गए होते ।

अब यदि यह भी मान लिया जाये कि समयानुसार यदि यह ऊँच-नीच भावजन्य जातिवादिता हिन्दू समाज में प्रवेश भी कर गई है तो अब बुद्धिमानी इसी में है कि युग की आवश्यकतानुसार इसे निकाल बाहर भी किया जाये । जिस प्रकार इसे किसी विवशता से कभी स्वीकार भी किया था तो अब इसके बहिष्कार करने मे ही कल्याण है । अन्यथा इसका जो कुफल आज तक हिन्दू समाज ने भोगा है, उसका शत सहस्रगुना कुफल आगे भोगेगा । समय के अनुसार यदि मान्यतायें न बदली गईं तो शरीर में विजातीय तत्वों की तरह यह शीघ्र ही हिन्दू समाज को ठिकाने लगा देगी।

हमारी जातिप्रथा और उसका वर्तमान स्वरूप

भारतवर्ष के पराधीन होने में जाति-पाँति भी एक बड़ा कारण रहा है । एक देश होते हुए भी जाति भेद के कारण यहाँ के निवासियो में एक राष्ट्रीयता के भाव का सदैव अभाव रहता था ।

विदेशी आक्रमण के समय जिस प्रकार राज्य विभाजन देश की पराजय का कारण बना, उसी प्रकार जाति भेद भी । एक ही देश का भाग होते हुए भी एक राजा से लड़ाई के समय दूसरा राजा उसकी मदद के लिए तैयार न होता था, जिससे सहज ही एक-एक करके विदेशियों ने भारत के सारे राजाओं को जीतकर या तो उनका राज्य अपने साम्राज्य मे मिला लिया अथवा उन्हे अपने अधीन कर लिया ।

इन भारतीय राजाओ की फूट तथा पारस्परिक अनैक्य का कारण केवल राजनीतिक ही नही था । इसमे वंशगत भेदभाव और ऊँच-नीच की भावना भी शामिल थी । राजपूत क्षत्रिय राजाओ मे भी देश की अन्य जातियों की तरह एक-दूसरे को ऊँच-नीच अथवा कुलीन-अनुलीन-समझने की कुप्रवृति मौजूद थी। सूर्य, अग्नि आदि वंशाधार के आधार पर एक-दूसरे को बड़ा अथवा छोटा मानते थे। केवल इतना ही नही इन वशो मे भी अवान्तरता थी और अनेक ऊँच-नीच वशो का क्रम चलता रहता था। राजपूत राजाओं का यह जातीय दृष्टिकोण ऊँच-नीच की गणना तक ही सीमित नही था, बल्कि वह रोटी, बेटी, स्वंयवर उत्सव तथा निमंत्रणों के समय स्पष्ट रूप से सामने आता था । अनेक राजाओं को जातीय आधार पर सभाओं में निम्न स्थान दिया जाता था, स्वयंवरों के समय उसका बहिष्कार अथवा तिरस्कार किया जाता था। पूर्वकालीन लिच्छवि, वज्जि आदि राजवंशों में श्रेष्ठता के आधार पर वैमनस्य रहा है, मौर्य, वृषल, नन्द आदि ऊँच-नीच के आधार पर एक-दूसरे के जानी दुश्मन रहे हैं । पृथ्वीराज चौहान और जयचन्द राठौर ने राजनीतिक आधार के अतिरिक्त श्रेष्ठता के दम्भ पर भी सर टकराये हैं । बनाफल, परिमाल, चंदेल व परिहारों ने कुलीनता के नाम पर सदियों खून बहाया है। राजपूत, आभीर, मराठे, जाट, गूजर आदि न जाने कितनी योद्धा जातियाँ क्षत्रिय-अक्षत्रिय होने के प्रश्न पर लड़ती-मरती रही हैं । इस प्रकार इस ऊँच-नीच, कुलीन, अकुलीन जातीय भेदभाव की भिन्नतापूर्ण भावना ने राजपूत राजाओ का सर्वनाश ही करके छोड़ा । जिसका फल यह हुआ की सम्पूर्ण हिन्दु जाति ही बर्वर, विदेशियो, विजातियो एवं विधर्मियो की गुलाम बनकर रह गई।

राजपूत राजाओं का यह भेदभाव केवल राजीतिक पराधीनता तक ही सीमित नही रहा । आगे चलकर भी उन्होंने आंख न खोली और श्रेष्ठता, कुलीनता का प्रमाण-पत्र प्राप्त करने के लिए विधर्मी विजेताओ के तलवे चाटे और एक-दूसरे को जड़-मूल से मिटा देने के लिए जी भरकर उनकी सहायता की। आगन्तुक आक्रान्ताओ ने राजपूत राजाओ की इस जातीय भेदभावना का खूब लाभ उठाया और उनके शौर्य का पराकाष्ठा तक शोषण किया और अपने साम्राज्य की जड़े मजबूत की ।

इस जाति भेद-भाव ने जब राज-काज चलाने वाले राजाओ को पराधीनता स्वीकार करने और राज्य खोदने तक तैयार कर दिया तो यह दम्भ साधारण समाज मे क्या-क्या करके न दिखा देता । जिस प्रकार राजपूत राजा जातीय दम्भ के वशीभूत होकर अपने पडौसी राजाओं की सहायता न करके विदेशियो से मिल जाया करते थे, उसी प्रकार समाज मे जनसाधारण की एक जाति पर होते हुए आक्रान्ताओ के अत्याचारो को देख कर प्रसन्न ही होते थे । उनमे से बहुत-सी जातियाँ भी कुलीनता प्राप्त करने अथवा अकुलीनो को

बर्बाद करने के लिए आक्रान्ताओं से जा मिली यह नही अनेक जाति भेद अथवा कुलवंश के आधार पर तिरस्कृत एवं बहिष्कृत होकर अपनी पीड़ा मिटाने के लिए आक्रान्ताओं एवं विजेताओं के धर्म मे ही दीक्षित हो गई, जो आज भी मेव, मलकानो, घोसियो आदि के रूप में मुसलमान हुईं, जातियाँ भारत मे मौजूद है। सरहद और अफ़गानिस्तान के पठान विशुद्ध वीर राजपूत थे। (जोकि तत्कालीन भारतवर्ष के प्रवेश द्वार 'आवागमन स्थान' जो कि विगड़कर अफगानिस्तान हो गया है) पर आक्रान्ताओ को रोकने के लिए बसाये गये थे। किन्तु बहुत समय तक सीमान्त पर रहने के कारण भारत के संकीर्ण एवं अंहकारपूर्ण जातीय दम्भ ने राजपूत तो दूर हिन्दू मानने तक से इन्कार कर दिया और यहाँ तक उनका बहिष्कार किया कि आखिर सामाजिकता प्राप्त करने के लिए उन्हें आक्रमणकारी से मिलना ही पड़ा।

यदि राजपूत राजाओ और भारत के सामरिक वर्गों के बीच दम्भपूर्ण जातिगत भेद-भाव और श्रेष्ठता-निकृष्टता का वैमनस्य न होता और उन सब मे एक जाति और पारस्परिक समानता का सद्भाव रहा होता तो भारत मे सैकड़ो आक्रान्ताओ का आना तो दूर एक काली चिड़िया भी तो पर न मार सकती थी और भारत मे जब तक यह आत्मिकता रही, उसका शौर्य सूर्य अपनी परमावधि पर ही चमकता रहा है। आगे भी जिस दिन भारत की हिन्दू-जाति अपनी इस जातीयता एव संकीर्णता से ऊपर उठकर समरस हो जायेगी, इस सनातन राष्ट्र की पताका दिग्दिगन्त में फहराती नजर आने लगेगी।

आज भारत मे जितने भी अहिन्दू समाज दीख रहे है, उनमे अस्सी प्रतिशत से अधिक भारत के वे वर्ग हैं, जो हिन्दुओ के बीच फैली जातिवाद तथा ऊँच-नीच की भावना से त्रस्त होकर उधर चले गये है और आज भी वर्ग के वर्ग, समुदाय के समुदाय, इलाके के इलाके और गाँव के गाँव उधर मिलते चले जा रहे है, किन्तु हिन्दू-समाज मे इसके प्रति कोई सक्रिय चिन्ता दिखाई नही देती।

जाति-भेद हिन्दू समाज की कोई धार्मिक अथवा वैधानिक व्यवस्था नही है। यह एक सामाजिक विकृति है, सामाजिक गन्दगी है, जो शताब्दियो पूर्व की राजनीतिक उथल-पुथल और परिवर्तनों से आ गई है। इधर अपने-अपने संस्कारों के अनुसार लाभ के लोभ मे एक वर्ण के लोगों ने दूसरे वर्ण के लोगो मे मिलना अथवा उसमे दीक्षित होकर नापसन्द भी करना छोड़ दिया है। ब्राह्मण निर्धन रहकर भी अध्यापन के फलस्वरूप पाये आदर सम्मान से सन्तुष्ट रहने लगे, क्षत्रिय राजदण्ड पाकर मगन हो गये और वैश्य व्यवसाय, व्यापार तथा समाज के सम्पूर्ण अर्थ तन्त्र पर एकाधिकार मिल जाने से आनन्दित रहने लगे। साथ ही इन तीनों वर्णों ने चौथे शूद्र वर्ण को अपनी सेवा के लोभ से कुछ सख्ती से अपनी स्थिति मे सन्तुष्ट रहने के लिए मजबूर किया। इस प्रकार यह चार वर्ण, चार भिन्न जातियो में स्थायी रूप से बदल गये।

अनन्तर समाज के विकास होने, जनसंख्या और आवश्यकताये बढ़ने से हर वर्ण की प्रत्येक विषय की आत्मनिर्भरता समाप्त होने लगी और एक-दूसरे के व्यवसायों तथा कर्मो मे प्रवेश करने को मजबूर होने लगें, जिसके परिणामस्वरूप एक-दूसरे के बीच ब्याह-शादियाँ भी हुईं, जिससे अनेक वर्णशंकर जातियो का आविर्भाव होने लगा। इधर प्रत्येक वर्ण मे जनसंख्या बढ़ जाने से उनमे व्यापार, व्यवसाय, जीविका के साधनों देशान्तर, आहार-बिहार एव आचार-विचार के आधार पर विभिन्न जातियो का नामकरण होने लगा। इसी प्रकार वर्णों से जातियाँ, जातियों से उपजातियाँ, उपजातियो से प्रजापतियाँ और प्रजापतियो से अनुजातियाँ दिनोदिन बनती ही चली गई।

धर्म प्रधान होने से हिन्दू सदैव से अपने धार्मिक नेताओ पर अपार श्रद्धा करते और उनके वचनो मे विश्वास करते रहे है। धर्म के आधार पर लाभ उठाने वाले नेताओ का जिन्होने अधिक मान किया उन्हे उन्होने ऊँचा और जिन्होने उतना सम्मान न कर पाया उन्हें नीच होने की व्यवस्था देनी शुरू कर दी। जरा-जरा सी भूल-चूक पर सामाजिक बहिष्कार होने लगा, तनिक से विरोध पर 'समाज निकाला' मिलने लगा।

इन सब कारणों के अतिरिक्त हिन्दुओं मे जातीय वैमनस्यता का सबसे बड़ा कारण अभी कुछ समय पूर्व आये उन आक्रान्ताओं का षडयन्त्र है, जो भारत मे केवल बसने अथवा राज्य करने के मन्तव्य से ही नही बल्कि यहाँ की हिन्दू जाति को मिटाकर पूरी तरह

अपने धर्म मे मिला लेना चाहते थे । उन्होने इस काम के लिए जितना तलवार से काम लिया उससे सौगुना भेद-नीति से काम लिया ।

सम्प्रदाय वृद्धि के स्वार्थ में लगे धार्मिक नेताओ को अपने साथ मिलाया । उन्हे सहायता की, पद और पदवियॉ दी और इसके बदले मे जातीय आधार पर मनमानी फूट डलवाई, अनन्त बहिष्कार कराये। एक ओर वे ऐसा करते थे और दूसरी ओर सहानुभूति का हाथ बढाकर अपने मे मिला लेते थे ।

इस प्रकार यदि गहराई से देखा जाय तो हिन्दू की जाति प्रथा के मूल मे अहित काक्षियो का षडयन्त्र ही है, कोई धार्मिक अथवा सामाजिक आधार नही है अतएव अपनी गलती समझने और इस परिस्थिति को सुधारने के लिए अव हमें कटिबद्ध होना ही चाहिए । एक जाति और एक राष्ट्र की कल्पना ही हमारे पूर्व गौरव को बचा सकती है, हमारी शक्ति और सगंठन को जीवित रख सकती है।

हिन्दू जाति का कलंक-अस्पृश्यता

यो तो उपजातियों और प्रजापतियो के रूप मे हिन्दू गठन पहले ही विशृखलित है । अस्पृश्यता ने तो उसमे दरार ही डाल दी । हिन्दू जाति, कुलीन और हरिजन दो धाराओ मे विभक्त होकर अपने अस्तित्व को खोने जा रही है। जीवन की जटिलताओ से ऊबे हुए सैकड़ो अमेरिकिन और पाश्चात्य देशो के निवासी जिनमे व्यवसायी, डाक्टर, वकील और छात्र शामिल है आत्मशोध और आत्म सन्तोष के लिए हिन्दू धर्म की शरण ले रहे है जो नये लोग हिन्दू धर्म की ओर झुके है, उनमे अमेरिका के प्रख्यात सिने कलाकार सिनात्रा और शर्ल मैक्लेन भी है। पर अपनी ही आधी जाति आज खुशी-खुशी ईसाई धर्म मे दीक्षित होती जा रही है । पाकिस्तान के शिक्षा मन्त्री ने बताया कि पिछले वर्ष पाकिस्तान मे जितने लोग ईसाई बने उनमे मुसलमान एक भी नही था। अधिकांश हरिजन हिन्दू थे। रॉची जिले में एक महीने मे १ हजार अस्पृश्य हिन्दू ईसाई बने। मध्य प्रदेश के झाबुआ, बस्तर जिले आन्ध्र, मद्रास तथा आसाम और नागालैण्ड में प्रति वर्ष हजारो की सख्या में लोग ईसाई बनते जा रहे है। इन दीक्षितो में अधिकाश हरिजन होते है, जो बड़ी आसानी से बहका लिए जाते है। जातीय अपमान से क्षुब्ध होकर डा. अम्बेडकर जैसे विद्वान हिन्दू हरिजन को बौद्ध धर्म की शरण लेनी पड़ी थी। ऐसा उन्होने बहुत दुखी एवं हिन्दुओ की दकियानूसी विचारधारा से तग होकर किया।

स्वराज्य सग्राम से एक बात निश्चित रूप से सामने आई है कि यदि विश्व के समक्ष धर्म और जातीय गौरव को स्थिर रखना है तो जात-पॉत का भेद मिटाकर जन्म जाति की बड़ाई का त्यागकर ही लेना चाहिये।

महात्मा नारायण स्वामी ने एक बार कहा था—"जात-पॉत और अस्पृश्यता का बन्धन हिन्दू जाति के लिये कलक का टीका है। उसने सारी जाति को छिन्न-भिन्न कर रखा है। हिन्दू जाति में परस्पर घृणा और द्वेष का प्रचार इसी की कृपा का कुफल है। इसलिए भारतीय संस्कृति की उन्नति के लिए इस बन्धन को सर्वप्रथम तोड़ना आवश्यक है।" इस तथ्य से कोई भी विचारशील व्यक्ति इनकार नही कर सकता।

महात्मा गॉधी जी की समाज सेवा मे हरिजनो के उत्थान का उद्देश्य पहले नम्बर पर था। आज जो थोड़ी सी सुविधाये हरिजनो को मिली है वह उन्ही के प्रयत्नो का फल है पर सुविधाये देकर उनकी समस्याओ का निराकरण नही किया जा सकता। उन्हे शिक्षा-दीक्षा का विशेष प्रबन्ध कर अब तक छाये कुसस्कारो को कम करना ठीक है पर देखना यह चाहिये कि वे उच्च वर्ग के साथ बैठकर भोजन कर सकते है या नहीं। सामाजिक उत्सवो मे, पारस्परिक व्यवहार, धार्मिक उपासनाओ आदि मे भी भाग ले सकते है या नहीं। मस्तिष्क इतना विवेकी और यथार्थवादी हो कि हरिजनो को मानवीय दृष्टिकोण से देखा जा सके तब काम चलेगा। हम मुसलमानो, ईसाइयों के साथ बैठकर भोजन कर सकते है तो भंगी, चमार और धोबी के साथ क्यो नही बैठ सकते ?

हरिजन अस्पृश्य है इस घृणित मनोवृत्ति का परित्याग किए बिना हिन्दू जाति सगठित नही हो सकती और न उसके अभाव मे देर तक अपना अस्तित्व ही बनाये रख सकती है। बौद्ध, जैन, दादू, कबीर, रैदास आदि धर्म और पथ हिन्दू धर्म से ही

अलग होकर बने है और उनका अधिकांश कारण छोटी जाति के लोगो की अवहेलना और उदासीनता ही रही है। परमात्मा की सृष्टि का हर व्यक्ति समान है चाहे उसका रंग-वर्ण, कुल और गोत्र कोई भी क्यो न हो ? वैसे हिन्दू एक जाति है उसमें कार्य की दृष्टि से भले ही अनेक इकाइयाँ हों। वह सब इकाइयाँ अपने-अपने स्थान पर महत्त्वपूर्ण है। न कोई छोटा न कोई बड़ा इसलिए मानवीय दृष्टि से भी हरिजनो या अस्पृश्यों को घृणित और उपेक्षित दृष्टि से देखना ठीक नही। इस कलंक को दूर करना हर बुद्धिमान और विचारशील भारतीय का कर्तव्य है। उसके बिना हम संसार के सामने स्थिर रहना दूर अपना अस्तित्व बनाये रखने में ही समर्थ न होगे।

जातीय संगठन की नींव कमजोर न पड़े

ससार मे आज तक जितनी जातियाँ आगे बढ़ी हैं- वे सब अपने संगठन-बल पर ही आगे बढ़ सकी हैं और पहले से आगे बढ़ी हुई जातियों का पतन उनकी विशृंखलता के कारण ही हुआ है।

संगठन का अर्थ है, सबका एक मत होकर किसी एक उद्देश्य के लिये एक-दूसरे के साथ मिलकर काम करना। जातियों एवं समाजो में इस प्रकार की एकता तभी आती है, जब वे बीच मे एक-दूसरे के हितो को ध्यान में रखते है और दूसरे के साथ प्रेम तथा न्याय का व्यवहार करते हैं।

जिन समाजों अथवा जातियो में लोग अपने को एक-दूसरे से श्रेष्ठ मानते है दूसरो के साथ समानता का व्यवहार नही करते उनमे किसी स्थायी सगठन की आशा नही की जा सकती। जन्म-जाति के आधार पर उपस्थित भेद-भाव किसी समाज मे भी सगठन की भावना उत्पन्न नही होने देता।

जातीय सगठन की दृष्टि से आज सबसे पिछडी जाति ससार मे हिन्दू जाति ही है। बहुत कुछ साधन और संख्या होते हुए भी हिन्दू जाति संसार की कमजोर जातियों मे मानी जाती है और इस कटु सत्य को आज का प्रत्येक हिन्दू स्वीकार भी करता है।

आज जो हिन्दू जाति ससार मे सबसे कमजोर मानी जाती है और सामाजिक दृष्टि से नीची देखी जाती है वही हिन्दू जाति एक दिन संसार की सबसे शक्तिशालिनी जाति रही है। संसार मे सबसे अधिक इसकी सभ्यता एवम् संस्कृति का प्रसार रहा है। अनेक विदेशी जातियों ने इसकी जीवन पद्धति अपनाकर अपने को इस समाज मे घुला-मिला दिया था।

आज हम जिस विशाल हिन्दू जाति को देख रहे है, उसमे संसार की कितनी जातियो की सन्निहित हैं, इसको खोज सकना इस समय सम्भव नही। हिन्दू-सस्कृति किसी एक जाति विशेष का वैचारिक सृजन नहीं है बल्कि समय-समय पर आकार मिल जाने वाली संसार की अनेक जातियों की विचारधाराओ का एक सम्मिलित प्रवाह है।

हिन्दू जाति का आदि नाम आर्य संसार मे सदैव ही सबसे अधिक संगठित एवम् प्रगतिशील रहे है। उनकी धार्मिक सहिष्णुता और सामाजिक उदारता ने एक दिन उन्हें उन्नति एवं यश के चरम शिखर पर पहुँचा दिया था। आर्यों की समानता देखकर ही ससार की अन्य जातियो के लोग इनके आचार-विचारों को अपनाकर, इस जाति के सामाजिक सगठन मे एक रूप हो गये थे।

हिन्दू जाति मे आज सम-सामाजिकता का जो अभाव दिखाई देता है, वह इस जाति की मौलिक सूझ-बूझ की विकृति नही है। यह उन जातियो एवम् समाजो का षडयन्त्र है, जो पिछले दो हजार वर्षो मे यहाँ आये और इस लेश जाति पर अपना स्थायी शासन स्थापति करने के प्रयत्न मे लगे रहे। ये समागत जातियाँ हिन्दुओ की प्रचण्ड शक्ति को अच्छी प्रकार जानती थी। उन्हे हिन्दू जाति मे मिल जाने की शंका सदा सताती रही है। अस्तु, उन्होने इस जाति का सामाजिक संगठन तोड़ने के भयंकर षडयन्त्र किये और किसी हद तक वे इसमे सफल भी हुए।

हिन्दुओं के बीच आज का जातिगत भेद-भाव इन्ही आक्रान्ता साम्राज्यवादियो के षडयन्त्र का परिणाम है। उन्होने न केवल पशु-बल का ही प्रयोग किया बल्कि जातीय भेद-भाव और असमानता फैलाने के लिये यहाँ के सामाजिक नेताओ और धर्माधिकारियो को घूस देकर धर्मग्रन्थों मे असगठन कर्ता नियमों एवम् आदेशों का समावेश कराया और राज-बल पर उनको मान्यता दिलाई।

किन्तु अब समय बदल गया है, हिन्दुओं में अपने इस सामाजिक असंगठन एवम् भेद-भाव की नाशकारी हानियों एवम् विकृतियो के प्रति चेतना आने लगी है, उन्होने अपने शक्तिशाली आर्य स्वरूप को पहचानना प्रारम्भ कर दिया है। इसको देखते हुये आशा की जाने लगी है कि वह दिन दूर नही जब यह हिन्दू जाति पुनः पूर्ववत सगठित होकर शक्तिशालिनी बन जायेगी और अपनी प्रलयंकारी विशेषता को प्राप्त कर न केवल अपने अन्दर फैले हुये जाति भेद एव सामाजिक विशृंखलता को दूर कर लेगी बल्कि वैदिक काल की तरह अन्य जातियो का संस्कार करके, उन्हें अपने मे मिलाने लगेगी।

हिन्दू जाति के बीच जातीय भेद-भाव न मिटने का विशेष कारण यह है कि अधिकतर हिन्दू इस जाति-भेद को धार्मिक नियम मानते हैं और इसको दूर करने में अधार्मिकता की शंका करते है, जबकि इस जातीय भेद-भाव से धर्म का कोई सम्बन्ध नही है यह शुद्ध रूप से सामाजिक विकृति ही है।

कहना न होगा कि जो आर्य जाति सदैव से अन्य जातियो का संस्कार करके उन्हे अपने मे मिलाने को अपना विशेष कर्तव्य मानती रही है वह भला अपने को ही अपने से भिन्न करने की मूर्खता किस प्रकार कर सकती है ?

आर्यो ने केवल भारत मे आई विदेशी जातियो को ही आर्यत्व में दीक्षित नही किया था बल्कि देश की सीमा से बाहर जाकर ईरान, चीन, मिस्र, जापान, वैवीलोनिया और असीरिया जैसे देशो में आर्यत्व की दीक्षा दी है, उन्हे अपने समाज में मिलाया है। आर्यो के इस सांस्कृतिक एवं दीक्षा अभियान के सैकड़ो चिन्ह विदेशो मे पाये जाते है। पुरातत्व खोजियो ने मूल ससार की समस्त जातियों को खोजकर प्रमाणित किया है कि योरोप की अधिकांश जातियाँ भारत के आर्यो की ही वंशज हैं। ऐशिया के अधिकाश देश तो विधर्मी आक्रमण के पूर्व तक आर्य देश रहे ही हैं।

जातीय सकीर्णता का आधार मानने वालो को चाहिये कि वे हिन्दू धर्म का ठीक-ठीक अध्ययन करें और उदारतापूर्वक वैयक्तिक हठ छोड़कर उसका ठीक-ठीक अर्थ हृदयंगम करे। ऐसा करने से उनकी यह भ्रान्ति दूर हो जायेगी और वे हिन्दुओ की विराट शक्ति और उनकी विशाल उदारता के दर्शन कर सकेंगे। वेदों, स्मृतियों एवं पुराणों मे एक नही सैकड़ों स्थानों पर अन्य जातियों को शुद्ध करके आर्य बनाने और अपने समाज मे मिलाने का स्पष्ट निर्देश दिया गया है।

ऋग्वेद में कहा गया है—

आसयतमिन्द्रयः स्वस्ति, शत्रुतूर्याय वृहतीमम् ध्राम्।

यथ दासान्यर्यारिभ वृत्राकरो, वज्रिन सुतुकान्त दुर्पारिभ॥

—हे इन्द्र ! हमे ऐसा बल दो कि उसके द्वारा हम अनार्य जातियो के मनुष्यो को सस्कृत करके आर्य बना ले। इस प्रकार शत्रु भाव का निराकरण करके हम कल्याणकारी हिंसाहीन शक्ति का प्रादुर्भाव कर सके।

'इन्द्रं वर्द्धन्तो अप्तुरः कृण्वन्दा विश्वमार्यम्। अपहनन्तो अरावण।

—"ईश्वर के नाम पर सब संसार को आर्य बनाये और स्वार्थरत लोगो को पराजित करके अग्रगामी हो।"

इस प्रकार एक जगह नही वेदो मे स्थान-स्थान पर ससार की अन्य अनार्य जातियो को आर्य बनाने का विधान दिया गया है। पतित हो जाने पर अपने लोगों को शुद्ध करके समाज में स्थान देने के आदेश और प्रायश्चित के विधानो से तो हिन्दुओ के धर्म-ग्रन्थ भरे पड़े है। इतना ही नही दूर देशो से जो जातियाँ शुद्ध करके आर्य बनाई गई उनकी घटनाओ का वर्णन धर्म ग्रन्थो मे मिलता है। यथा —

'मिश्र देशोद्भवाम्लेच्छाः, काश्यपेन सुशासित।
संस्कृता. शूद्रवर्णे ब्रह्म वर्णमुपागता।'
शिखा सूत्र समाधाय पठित्वा वेदमुत्तमम्।

अर्थात्—मिश्र देश मे उत्पन म्लेच्छ वेद पढ़कर और शिखा सूत्र धारण करके शुद्ध होने के बाद ब्राह्मण वर्ण को प्राप्त हो गये।

"वलाद्दासी कृतो म्लेच्छश्चाण्डालाद्यैश्च दस्युभि।
अशुभं कारित कर्म गवादि प्राणि हिंसनम्॥
उच्छिष्टं मार्जन चैव तथा तस्यैव भक्षणम्।

तत्स्त्रीणां तथा समस्तां भिश्व सहभोजनम् ॥
कृच्छ—सवत्सरं कृत्वा सांतपनाम् वुद्धिहेतवे।

ब्राह्मणः क्षत्रियस्त्वर्धं कृच्छान् कृत्वा विशुद्ध्यति ॥
मासोपितश्चरेद् वैश्य. शूद्रः पादेन शुद्धयति।"

अर्थात्—'जिन व्यक्तियों को म्लेच्छो, चाण्डालों अथवा अन्य विधर्मियों ने बलपूर्वक दास बना लिया और उनसे बलपूर्वक गो-वध आदि पाप कराया, जूठन खिलाई और धुलाई, अपनी स्त्रियों के साथ संगम कराया और उनके साथ एक बर्तन में खिलाया है, तो उनमें से ब्राह्मण एक वर्ष, क्षत्रिय छः मास, वैश्य एक मास और शूद्र एक सप्ताह तक कृच्छ-सातपन करके पुनः शुद्ध हो सकता है। '

इस प्रकार धर्म-ग्रन्थों का गहन अध्ययन करने पर पता चलता है कि आर्य जाति मे जातीय संगठन बनाये रखने और अपने धर्म को संसार में फैलाने के लिये स्थान-स्थान पर व्यवस्थायें दी हुई हैं। ऐसी दशा में हिन्दू समाज की विकृति—जाति भेद को धर्म के आधार पर मानना वास्तव मे अधार्मिकता ही हैं।

इसमें सन्देह नही कि आज हिन्दुओ को अपने धर्म की रक्षा करने, उसका संसार मे प्रसार करने, अपना सामाजिक संगठन सबल बनाने और बढ़ाने के लिए अपने मूल वैदिक धर्म की आज्ञाओ का पालन करना होगा। उन्हीं के अनुसार सामाजिक उदारता और धार्मिक असंकीर्णता को अपनाना होगा। तभी यह विशाल जाति अपने पूर्व गौरव को प्राप्त करेगी अन्यथा घुन की तरह लग हुये विधर्मी इसे समाप्त कर देगें।

भारत को ईसाई बनाने का षड़यन्त्र

'अति सर्वत्र वर्जयेत'—अर्थात् अति का हर क्षेत्र मे निषेध है। बुरी बात तो बुरी बात ही होती है, उसमे अति या अनीति का प्रश्न ही क्या ? अच्छी बात भी जब अपनी वाछित मर्यादा का उल्लंघन कर जाती है, तो वही बुराई की कोटि मे पहुँच जाती है।

धार्मिक सहिष्णुता एक महान् गुण है। किसी दूसरे के धार्मिक विचारो तथा कार्यो मे हस्तक्षेप न करना स्वयं ही एक धार्मिकता है। हिन्दुओ ने इस गुण का जितना व्यापक परिचय दिया है, उसका हजारवाँ भाग भी संसार की कोई अन्य जाति न दे सकी। बल्कि यह कहने में भी कोई अतिशयोक्ति नही है कि वेद-धर्म अनुयायियों को छोड़कर संसार की अधिकांश जातियों ने असहिष्णुता का ही परिचय दिया है।

किन्तु बहुत समय से हिन्दुओं की धार्मिक सहिष्णुता अति की सीमा में पहुँच गई है, जिसके फलस्वरूप गुण, अवगुण बन गया है। अतिशयता हो जाने से हिन्दुओं की सहिष्णुता धार्मिक उपेक्षा के दोष से दूषित हो गई है। होते-होते वे इतने धर्म निरपेक्ष बन गये कि अपने धर्म पर किये जाने वाले आघात भी इस प्रकार सहन करने लगे हैं, माना यह अन्य धर्मावलम्बियों का धार्मिक अधिकार हो, जिसमे हस्तक्षेप न करना उनका कर्तव्य है।

हिन्दुओं की इस सहिष्णुता से प्रोत्साहित होकर अन्य धर्मावलम्बियों ने क्या-क्या किया और इससे हिन्दू राष्ट्र को कितनी क्षति हुई है ? यह बात किसी से छिपी नहीं है। विगत हानियो तथा अत्याचारो की चर्चा करना बेकार है। किन्तु वर्तमान मे हिन्दू-जाति पर ईसाईयों का जो आक्रमण हो रहा है, उसकी ओर से आँखे बन्द नही की जा सकती हैं।

भारत एक धर्म निरपेक्ष देश है और भारत सरकार धर्मनिरपेक्षिता की संरक्षिका। विधान की इस धारा के अनुसार भारत मे सभी धर्मों को फलने-फूलने और विकसित होने का अधिकार है। किन्तु इसका यह आशय कदापि नही कि कोई एक धर्म दूसरे किसी धर्म को मिटाकर फूल-फल सकता है। ईसाई पादरी भारतीय विधान की इस धारा का दुरुपयोग करके हिन्दू धर्म को मिटाकर अपने ईसाई धर्म का विस्तार करने मे बुरी तरह जुटे हुए है।

भारत में पादिरयों का धर्म प्रचार हिन्दू धर्म को मिटाने का खुला षड़यन्त्र है, जो कि एक लम्बे अरसे से चला आ रहा है, अब उपेक्षावश और तीव्र तथा प्रबल हो गया है। ईसाई पादरियों के इस धर्म प्रचार का क्या उद्देश्य है ? यह समय-समय पर किये उनके कथनो, लेखो तथा वक्तव्यो से सहज ही पता लग जाता है।

'लाइट ऑफ लाइफ' केथोलिक पत्रिका के १९६४ के जुलाई अक मे ईसाई नवयुवको को परामर्श देते हुए निर्देश किया गया—"ईसाई छात्रो तथा स्नातको का यह कर्त्तव्य है कि वे ईसाई धर्म का प्रचार

करने के लिये पत्र-पत्रिकाओं मे लेख लिखा करे और इस विषय मे वे धर्म-निरपेक्ष नीति वाली पत्र-पत्रिकाओं का लाभ उठा सकते है। किन्तु यह आवश्यक नही कि वे शुरू-शुरू मे ही अपने लेखो मे ईसाइयत का प्रचार करने लगें। अच्छा तो यह होगा कि पहले वे सामान्य लेख लिखकर आगे चलकर के पत्रों में खुलकर ईसाई विचारधारा का प्रचार करे।"

यह क्या है ? ईसाई नवयुवको को धर्मनिरपेक्ष पत्र-पत्रिकाओ मे घुसने और उनके माध्यम से भारत मे ईसाइयत फैलाने के लिए खुला प्रोत्साहन तथा आह्वान है। इसे धर्मनिरपेक्षता का अनुचित लाभ उठाने के लिए एक षडयन्त्र के सिवाय और क्या कहा जायेगा। जहाँ धर्मनिरपेक्षता की नीति भारत के हिन्दू, मुस्लिम, सिक्ख, ईसाई सभी को एक समान तथा सामान्य राष्ट्रीय विचारधारा मे लाने का प्रयत्न कर रही है, वहाँ विदेशी मिशनरी ईसाई नवयुवको की धार्मिक भावनाओ को भडकाकर उन्हे षडयन्त्र का सहायक अस्त्र बनाने का प्रयत्न कर रहे है। क्या भारत के राष्ट्रीय हित मे सहन करने योग्य बात है ?

ईसाई पादरियो तथा मिशनरियो का ऐसा ज्वलन्त आह्वान और भयानक विचार न केवल भारत के हिन्दुओ अपितु सारी गैर ईसाई जनसंख्या की आँखे खोल देने को एक खुली चुनौती है। अपने धर्म की रक्षा तथा भारतीय राष्ट्र की एकता के लिए क्या यह आवश्यक प्रतीत नही होता कि गैर-ईसाई जनता विदेशी मिशनरियो के अनुचित इरादो को असम्भव बना देने के लिए आवाज उठाए। यदि भारत की ईसाई जनसख्या यो ही विदेशी मिशनरियो की गतिविधियो को उपेक्षा की दृष्टि से देखकर प्रसाद में ही पड़ी रही तो यह असम्भव बात न होगी कि ईसाई 'ईसाई भारत' के अपने ध्येय के बहुत कुछ समीप जा पहुँचें और तब कहा हिन्दू, क्या मुसलमान और क्या सिक्ख सभी धर्मों के मिट जाने का खतरा पैदा हो सकता है।

यह बात सही है कि ईसाई मिशनरियो को हिन्दुओ की अपेक्षा अन्य धर्म वालो पर अपना प्रपच चलाना आसान नहीं पड़ता। वे मुख्यत: हिन्दुओं को ईसाई बनाने में जुटे हुए है, इसके दो मुख्य कारण हैं—पहला, अति धर्म-सहिष्णुता, वे धर्म-बन्धुओ के बीच इसी अति के दोष से ईसाइयत का प्रचार सहन करते जा रहे हैं। दूसरा यह कि गैर ईसाई अहिन्दुओं की धार्मिक रूढ़िवादिता के कारण ईसाई मिशनरियो को उनके बीच जाल बिछाने का अधिक अवसर नही मिलता अहिन्दू गैर-ईसाइयो की रूढ़िवादिता उन्हे अपने बीच धँसने को साहस नही करने देती। किन्तु इसका यह अर्थ लगाना गलत होगा कि अहिन्दू गैर-ईसाई ईसाइयों के धार्मिक षडयन्त्र से सुरक्षित हैं और यदि वे ऐसा सोचते है तो गहरी भूल करते हैं। अहिन्दू गैर-ईसाईयो को भी इस षडयन्त्र की, जो ईसाइयो के बीच प्रचार-प्रपंच चला रखा है, उपेक्षा नही करनी चाहिए और समझ लेना चाहिए कि हिन्दुओं पर किया गया आघात परीक्षा रूप में उन पर भी एक आघात है।

कैथोलिक ईसाई-पत्रों के कथनो से यह तो स्पष्ट हो ही जाता है कि भारत के गैर-ईसाई समुदाय से ईसाई मिशनरियो को ईर्ष्या है और वे उनकी विशाल जनसख्या को फूटी आँखो भी नही देख पा रहे हैं। वे सम्पूर्ण भारत के ईसाइयो को ईसाई बनाकर 'ईसाई भारत' का स्वप्न देखते है और उसके लिए हर उचित अनुचित उपाय करते जा रहे हैं।

ईसाईयो से अपने को सुरक्षित समझने वाले बौद्ध, सिक्ख, पारसी, मुसलमान और यहूदी आदि को इस बात पर गहराई से विचार करना चाहिए कि भारत की धर्म-निरपेक्षता तथा हिन्दुओ की उपेक्षापूर्ण धार्मिक सहिष्णुता का अनुचित लाभ उठाते हुए यदि ईसाई मिशनरी इसी तेजी से हिन्दुओ को अपने जाल मे फँसाने मे सफल होते रहे तो शीघ्र ही उनकी जनसख्या भारत मे बहुत अधिक हो जायेगी और तब ऐसी स्थिति में भारत के सारे गैर ईसाई उनकी तुलना मे अल्पसख्यक हो जायेगे। क्या ईसाईयो का यह बहुमत तब शक्ति पाकर सम्पूर्ण भारत को ईसाई देखने के लिए व्यग्र पोप, पादरियो तथा प्रचारको को अल्पसंख्यक गैर ईसाईयो को अपने में आत्मसात करने के प्रपंचो के लिए साहस, अवसर तथा प्रोत्साहन नही देगा ? इसलिए भारत की धर्म-निरपेक्ष नीति, धार्मिक सहिष्णुता तथा राष्ट्रीय स्वरूप को सुरक्षित रखने और लोकतन्त्र की गरिमा बनाये रखने के लिए आवश्यक है कि भारत के सारे गैर-ईसाई जन-समुदाय एक साथ होकर ईसाइयो के इस बढ़ते धार्मिक साम्राज्य को रोकने का प्रयत्न करें।

हिन्दुओ का तो यह धार्मिक कर्त्तव्य है कि वे ईसाइयो के षडयन्त्र से आत्मरक्षा मे अपना तन-मन-धन लगा दे और गैर-ईसाई मिशनरियों की अराष्ट्रीय गतिविधियो को रोकने मे अपना नैतिक समर्थन देकर हिन्दुओं की हिमायत को आगे बढ़े और आज जो हिन्दुओ को लपेटती हुई ईसाइयत की लपट परोक्ष रूप से उनकी ओर बढ़ रही है, इसे यही पर बुझा दे। ऐसा करने से ही भारत में धर्मनिरपेक्षता, धार्मिक बन्धुत्व तथा सच्चे लोकतन्त्र की रक्षा हो सकेगी अन्यथा पुनः आजादी को खतरा की सम्भावना हो सकती है।

यह स्पष्ट है कि पाश्चात्य देशो की सरकारें तथा सस्थाये भारत मे मिशनरियो को एजेन्ट रूप मे भेजकर ईसाइयत को बढ़ावा दे रही हैं और एक प्रकार से वे धर्म का आधार लेकर उन देशों का साम्राज्य ही भारत में स्थापित करने का प्रयत्न कर रही है। विदेशो के इस धर्मधारी साम्राज्यवाद से बचाव हेतु सम्पूर्ण गैर ईसाइयो को एक मंच पर आकर ईसाइयों के मलीन मन्तव्यो को सफल होने से रोकने के लिए भरसक प्रयत्न करना ही चाहिए।

हिन्दू समाज का पुनर्सगठन—शुद्धि-प्रथा

सगठन शक्ति का राजनैतिक महत्त्व आज सब देख-समझ रहे है, पर एक समय ऐसा भी था जब हिन्दू-जाति ने यह सिद्ध कर दिखाया था कि सगठन केवल सीमा सुरक्षा के लिए ही आवश्यक नही है वरन् उससे समाज की सुख-सुविधाओ की भी अभिवृद्धि होती है। व्यवहार तथा आदर्शों की रक्षा के लिए भी सगठन अनिवार्य है। धर्म और सस्कृति की रक्षा जन-शक्ति के आधार पर ही सम्भव है। चार आश्रमो मे विभक्त हुई हिन्दू-जाति किसी समय धर्म और संस्कृति के नाम पर इतनी गहराई से जुडी हुई थी कि हिन्दू शब्द का उद्बोधन होते ही वे सब एक ध्वज के नीचे एकत्रित हो जाते थे, उनमे ऊँच-नीच का भेद-भाव न रहता था।

यह तो अन्तर्व्यवस्था थी। हिन्दू-धर्म सदैव से ही उदार रहा है, उसने अपने अध्यात्म और दर्शन का लाभ किसी भी जाति को देने मे संकीर्णता प्रदर्शित नही की। यही कारण था कि किसी समय शक, हूण, मगोल, अरब, पारसी आदि विभिन्न जाति-धर्म और सम्प्रदायो के लोग हिन्दू-सस्कृति की मान्यताओ से प्रभावित होकर इसमे सम्मिलत हो जाया करते थे, उन्हें शुद्ध कर लिया जाता था और अपनी जाति के एक अंग के रूप मे ही उन्हे विकसित कर लिया था।

इस विशेषता के कारण ही हिन्दू धर्म लगभग सम्पूर्ण एशिया मे छाया हुआ था। तिब्बत, चीन, लंका, वर्मा, सिंगापुर, जावा, सुमात्रा, इन्डोनेशिया, बोर्नियो, फीजी आदि प्रमुख स्थानो मे हिन्दू-धर्म फैला हुआ था उसके सास्कृतिक अवशेष अभी भी इन देशो में विद्यमान हैं। किन्तु जब से हिन्दुओ ने इस परम्परा का परित्याग किया उनकी जनसख्या ससार की सब प्रमुख जातियो से घटकर रह गई है। ईसाई धर्म को जन्म लिए अभी दो हजार वर्ष भी नही हुए आज उनकी संख्या लगभग एक अरब है और प्राय. सारे विश्व मे फैले हुए है। एक करोड़ से भी अधिक केवल हिन्दुओ से ही शुद्ध किए हुए ईसाई है। इसी प्रकार मुसलमानो की सख्या लगभग पचास करोड है, इनमे से हिन्दुस्तान और पाकिस्तान मे मुसलमानो का ३३ प्रतिशत भाग ऐसा है, जिन्हें केवल अपने मे मिला लिया गया है। यहूदी, जीरोट्रियाई, ताओवादी कन्फ्यूशियन्स की भी सख्या बढ़ी ही है पर हिन्दुओ का दुर्भाग्य ही कहना चाहिए कि उनकी ३३ करोड की संख्या जहाँ बढकर १०० करोड हो जानी चाहिए थी इतने वर्षो के बाद घटकर ३२२२२३२८६ रह गई है। बौद्ध, जैन, सिक्ख आदि अनेक धर्म तो बने ही हिन्दुओ से है पर वे अपने को उससे अलग मानने और रहने की चेष्टा कर रहे है।

हिन्दू जगत अभी इस महत्त्व को भूल रहा है पर अन्त मे न केवल अपनी आन्तरिक स्थितिवश वरन् हिन्दुओ की शक्ति और सगठन बढाने के लिए भी दूसरे धर्म मे परिवर्तित हुए हिन्दुओ, अन्य धर्मावलम्बियो और जातियो को भी आत्मसात् करने के लिए तैयार रहना होगा। यह कोई नई बात नही है। विभिन्न जातियो का समावेश हिन्दू-धर्म की आदि विशेषता है। इसमे. धार्मिक दोष नही बड़प्पन ही है। समुद्र सारे ससार में एक है, उसमे दुनियाँ भर की नदियाँ जाकर मिलती है, नदियाँ भी बहुत बडी-बडी है पर जो गौरव समुद्र को प्राप्त है वह क्या किसी बड़ी नदी को प्राप्त हो सकता है ? हिन्दू धर्म भी उतना ही गम्भीर, उतना ही व्यापक और विशाल है, जितना समुद्र। उसमे अन्य जातियो का प्रवेश न केवल धर्म के

अनुकूल है वरन् उसमें विश्व की शान्ति और समृद्धि को भी बल मिलेगा। आत्म-परायण होने के कारण उसमे व्यक्ति और समाज के लिए बन्धन नही है कुछ नैतिक मर्यादाये हैं, जो प्राणि मात्र के लौकिक और पारलौकिक उत्थान के लिए अनिवार्य और आवश्यक है, उन्हे अपनाने में भला किसी को क्यो संकोच होगा ? ईमानदारी, सच्चाई, नेकी आदि मानव धर्म हैं और हिन्दू-धर्म इन्ही का पर्याय ही तो है। अत: यदि हिन्दू धर्म के प्रसार और अन्य जातियों को शुद्ध कर अपने मे मिलाने के लिए कहा जाय तो उसके लिए भ्रम न होना चाहिए।

इतिहास साक्षी है कि हमारे देश मे यह प्रथा आदि काल से चलती आई है और विभिन्न जातियों के लोगो को शुद्ध कर हिन्दुओ मे मिलाया गया है। इन तथ्यों की पुष्टि के अनेको प्रमाण है। "रायल ऐशियाटिक सोसाइटी" की बम्बई शाखा के २१ दिसम्बर १८९६ के एक अंक के एक लेख मे प्रकाशित हुआ था, जिसमे सिद्ध किया गया था कि आर्य लोग यज्ञ के द्वारा उन लोगो को शुद्ध कर लिया करते थे, जो पहले से आर्य न होते थे। सामवेद के "ताण्डय् ब्राह्मण" मे अध्याय १७ मे ऐसा ही उल्लेख है, जिसमे ३३ अनार्य और एक उनका सरदार कुल ३४ व्यक्तियो को विधिवत् शुद्ध किया गया और हिन्दू-धर्म मे मिला लिया गया।

प्राचीनकाल में हिन्दुओ की इस उदार वृत्ति के कारण ही अनेक यहूदी, ईरानी, सिथियन, मग, शक, हूण आदि जातियाँ हिन्दू धर्म मे इस प्रकार विलीन हुई कि आज उन्हें हिन्दुओ के बीच से ढूँढ निकालना भी कठिन है। महाराष्ट्र के "चित्पावन ब्राह्मण" महान् वेदज्ञ माने जाते है, ये वशानुगत यहूदी और मिश्र के आस-पास के देशो से आये हुये है। "भविष्य पुरण" मे अफ्रीका के निवासियों को दीक्षित कर ब्राह्मण बना लेने का वर्णन मिलता है—

मिश्र देशोद्भवाम्लेच्छाः काश्यन सुशासित.।
संस्कृत शूद्रवर्णेन ब्रह्मवर्ण मुमागत.॥

अर्थात्—"मिश्र (अफ्रीका) के मूल-निवासी जो संस्कृत और सभ्यता की दृष्टि से शूद्रवत ही थे, उन्हें शुद्ध कर ब्राह्मण बना लिया गया।"

भिलसा (अब विदिशा) में गरुड़ध्वज की खुदाई से प्राप्त एक शिलालेख में लिखा है "एण्टिआल्कटस" नामक यूनानी राजा के राजपूत "हेलियोडोरिस" ने हिन्दू धर्म में विधिवत् दीक्षा ली और इसी प्रसन्नता में उसने भगवान वासुदेव का एक मंदिर निर्माण कराया। स. १०३८ के एक अन्य शिलालेख में भी ऐसा ही वर्णन है, जिसमे यह बताया गया है कि ईरान से आये हुए मग लोग यहाँ आकर बस गए और उन्होने वेदाध्ययन किया। बाद में उन्हें यज्ञोपवीत धारण कराकर ब्राह्मण बना लिया गया। मुलतान के समीप एक मन्दिर इन्होने बनवाया, और अन्त में वे इसी में पूजा-कर्म करने लगे।

ऐसे अनेको प्रमाण हैं जो शुद्धि प्रथा का अनुमोदन करते है। ऋग्वेद मे कहा गया है—

उतदेवा अवहितं उन्नयथा पुनः।
उताश्चक्रुषं देवा देवा जीवथा पुन.॥

हे विद्वानो ! यदि कुछ लोगो के आदर्श भिन रहे हैं या दूसरी जाति मे उनके छोटे आदर्श थे तो उन्हें ऊँचा स्थान और ज्ञान देकर उन्हें श्रेष्ठ बनाओ।

मनुस्मृति (११-१८) मे इस प्रकार के आदेश देकर कहा है—सर्वाणि ज्ञाति कर्माणि यथापूर्व समाचरेत "अर्थात्—शुद्ध हुआ पुरुष पहिले की तरह अपने वर्ण के सभी कर्त्तव्यो का पालन करे। आपस्तम्ब सूत्र मे कहा है—शुद्ध हो जाने पर उन्हे अपनी जाति के सब कर्म सिखाने चाहिए। सूत्रकार ने लिखा है—'ततुउर्ध्व प्रकृतिवत्—उनकी प्रकृति गुण कर्म स्वभाव को ऊर्ध्वगामी बनाने के लिए कहो।' 'पाराशर स्मृति मे स्वेच्छा, प्रयाद अथवा परिस्थितिवश हीन आचरण करने वालो को क्षम्य बताया है।" "देवस्य स्मृति" मे शुद्धि संस्कार के लिए आवश्यक प्रेरणा दी गई है—

बलाद्दाशी, कृतो म्लेच्छैश्चाण्डालाद्यैश्चदस्युभि।
अशुभं कारित कर्म गवादि प्राणीहिंसनम्॥
उच्छिष्टमार्जन दैव तथा तस्यैव भक्षणम्।
ब्राह्मण क्षत्रियस्तवर्ध कृच्छान कृत्वाविशुद्धयति।
मासोयिमश्चरेद्वैश्य. शूद्रः पादेनविशुद्धयति॥

अर्थात्—जिन लोगो का विधर्मियो, म्लेच्छो तथा दस्युओ ने पकड़कर बलपूर्वक धर्म परिवर्तित कर लिया

हो, उनमे जबदस्ती हिंसा कराई हो, जूठा भोजन खिलाया हो तो उन्हें कृच्छ सान्तपन करके ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य एवं शूद्र आदि श्रेणियो में मिला लेना चाहिये।

इसमें उस समय के अनुसार कड़े प्रायश्चित विधान भी बताए गए हैं पर जबकि अपने ही लोगो मे तपनिष्ठा नही रही तब दूसरे लोगो से वह कठिन् प्रक्रियाये कैसे कराई जा सकती है ? अत. अब केवल यज्ञ में मन्त्र दीक्षा और यज्ञोपवीत देकर अन्य धर्मावलम्बी या जाति के व्यक्ति को शुद्ध कर लेना चाहिए।

हिन्दू जाति सगंठन, सहयोग एकता, उदारता पर पहले से ही विश्वास करती आई है पर अब इस युग में जबकि विश्वशान्ति के लिए भारतीय धर्म, आदर्श और सिद्धान्तों की आवश्यकता है। इन तत्वों की आवश्यकता और भी अधिक बढ़ गई है। भलाई की शक्ति कितनी ही सुन्दर और ग्रहणीय क्यों न हो यदि वह सशक्त न हो तो अधिक दिन तक टिक नहीं सकती। अत: हिन्दू धर्म को संगठित और मजबूत बनाना भी नितान्त आवश्यक है। इसके लिए छुआछूत मिटाई जाय, भेद-भाव को नष्ट किया जाय, यह सब तो आवश्यक है ही पर शुद्धि प्रथा के द्वारा उन लोगो को जो अपने धर्म से च्युत् कर दिये गये हैं तथा अन्य जाति के लोगो को भी अपने मे मिलाने से संकोच नही करना चाहिए। अन्य जातियो, धर्मों के लोग यदि हिन्दू-जाति में सम्मिलित हो तो अपना बड़प्पन भी है कि लोग बाहर से आये और भारतीय धर्म और सस्कृति का लाभ उठाये।

श्रद्धा और सद्भावना के केन्द्र—देवालय

देवत्व के प्रति प्रगाढ़ निष्ठा और सम्मान की भावना भारतीय संस्कृति की प्राचीन परम्परा है। देवत्व का अर्थ है, विश्व कल्याण की कामना। जो सबके हित मे अपने हितो का होम कर दे वह देव-पुरुष है, ऐसे माननीय पुरुषों को सम्मान देने योग्य बात है, समाज को सुखी और समुन्नत बनने की कला सिखाने वाले और उस संकल्प की पूर्ति के लिये जीवन दान देने वालो की जितनी पूजा की जाये, वह कम ही है। उनके प्रति महान् श्रद्धा व्यक्त होनी ही चाहिए।

देवत्व के प्रति श्रद्धा और परस्परिक सद्भावना के प्रतीक के रूप में देव-मन्दिरो के निर्माण का विधान है। सद्भावना का लोक जीवन की सम्पन्नता से घनिष्ठ सम्बन्ध है। सामाजिक आचरण में जब दुर्भावनाये अनाचरण, व्यामोह, विक्षिप्तता, पारस्परिक वैमनस्य तथा आध्यात्मिक विकृति पैदा हो जाती है तो जन जीवन मे दु:ख-क्षोभ और असन्तोष उमड़ पड़ता है। आज का लोक जीवन इन आसुरी प्रभावो से पूर्णतया सराबोर है। इसी से लोकतान्त्रिक ढाँचा लडखड़ाता हुआ नजर आता है। इस मूढ़ता का कारण लोगो का भौतिकतावादी दृष्टिकोण है। विवेक या विचार शक्ति की न्यूनता के कारण लोग अपने मूल लक्ष्य से भटकते है। देव मूर्तियाँ लोगो के सद्भाव को जागृत करने मे अलौकिक शक्ति रखती हैं, किन्तु उनके पीछे यदि किसी महान व्यक्तित्व का हाथ न रहा तो केवल प्रतीक से किसी प्रकार के बचाव की संभावना न की जानी चाहिये। यह भूल यहाँ हुई है पर आगे इससे सबक लेना है।

मोहम्मद गजनवी ने सोमनाथ के मन्दिर पर आक्रमण किया। सोमनाथ के साथ करोड़ो रुपये की जागीरे थी। बड़े-बडे सन्त महात्मा वहाँ निवास करते थे, किन्तु मूर्तिवाद के नाम पर फैले आडम्बर के कारण वह स्थान लोगो की श्रद्धा बनाये न रख सका। बेचारी मूर्ति कैसे प्रतिवाद करती ? उसे तोडकर मोहम्मद गजनवी हीरे जवाहरातो के जखीरे भर ले गया । धन गया उतनी दु:खत घटना नही जितनी आस्थाओ पर आघात हुआ, यह हृदय छेदने वाली बात है। हिन्दुत्व के प्रति जिन्हे भी थोडी बहुत प्रीति होगी, उनके दिलो मे इस प्रकार की कसक उठना स्वाभाविक है।

इसमें एक बात सीखने को मिलती है कि देवालय बने किन्तु उनके साथ व्यक्तित्व का भी शिलान्यास हो। मूर्तियाँ स्थापित हों किन्तु सद्भावनाये जगाने वाली प्रवृत्तियाँ भी उनके साथ जोडी जाये। विचार और व्यवहार से शिक्षा व पूर्णता आती है। भावना के साथ कर्म की शक्ति भी चाहिए। देवालय शरीर का काम करते है, सद्भावानाये जागृत करने वाली प्रवृत्तियाँ उनमें "प्राण" का काम करती है। देह

और प्राण के सम्मिश्रण से चैतन्यता आती है। अकेली देह-निर्जीव है। हम देवालायो के महत्त्व को अस्वीकार नही करते, पर वह प्राण विहीन भी न हो।

इन दिनो देवमन्दिरो मे दिखावट और ढोग बनाकर लोगो की श्रद्धा और उनके विश्वास छीन लेने की जो चोर बाजारी चल रही है, उसे किस तरह दूर किया जाये यह एक विकट समस्या है। अधार्मिक लोगो का अन्ध श्रद्धा वालो के साथ गठ-बन्धन जो चल रहा है उसे कैसे दूर किया जाये ? समाज मे सौमनस्य, सांस्कृतिक उनयन और सदाचार जगाने की विवेकपूर्ण प्रवृत्तियॉ किस तरह जागरूक हो ? इन समस्याओ का समाधान न हुआ तो भारतीय अध्यात्म की जडे निरन्तर खोखली होती चली जायेगी और जो धर्म के बचे-खुचे अकुर शेष है, उन्हें भी नष्ट होने मे कितनी देर लगेगी ?

अब यह तथ्य लोगो को समझ ही लेना चाहिये कि तीर्थ-यात्रा और देवमन्दिरों के दर्शन का जो प्रयोजन लोग लेकर चलते है, वह वास्तव मे नही होता। तीर्थ-यात्रा के बाद भी लोगो को नैतिकता का, अच्छे रहन-सहन और व्यावहारिक आध्यात्म का विकास न हो तो कौन कह सकता है कि आपका श्रमण सफल रहा। इससे तो यही समझा जायेगा कि लोगो ने समय, श्रम और धन का ही अपव्यय किया है। इस जीवन में देवत्व को प्राप्त न कर सके तो कौन जाने मृत्यु के बाद कोई पारलौकिक सुख मिलेगा भी या नही। कोई भी विचारवान व्यक्ति इस बात पर विश्वास कर लेगा ऐसा समझना कठिन है।

देव-स्थानो का निर्माण लोगो मे श्रेष्ठ-संस्कार जागृत करने की दृष्टि से किया जाता है। यह आशा की जाती है कि महापुरुषो का सत्सग लाभ लोगो को अधिक मिले इसलिये सत्सग, स्वाध्याय , ठीक संगठन आदि का अखण्ड यज्ञ देवालयो मे यह सब कुछ नही होता। लोग आते है, चन्दन, अक्षत, पुष्प, पाई, पैसा की सस्ती भेट चढाकर अपनी अन्ध श्रद्धा व्यक्त करके चले जाते है। उनके लौकिक जीवन मे किसी प्रकार का प्रकाश उत्पन्न नही होता। वही आसक्ति, वही वासना, क्रोध, मोह सब कुछ वही। न पारिवारिक जीवन मे किसी तरह का उल्लास आया, न गन्दी आदते छूटीं। अन्त करण में अच्छे संस्कार न बढ़े और आप यह मान्यता बनाये बैठें हो कि परलोक मे आपको स्वर्ग मिलेगा तो इस पर कोई भी विश्वास नही करेगा। आत्मबल, उत्सर्ग, संयम, त्याग और सद्भावना की प्रामाणिकता इस जीवन मे मिली तो परमात्मा की अकृपा ही समझनी चाहिये। इसके बिना जीव का किसी प्रकार कल्याण सम्भव नहीं है ?

लोक जीवन मे जिस निवृत्ति की कामना करते हैं, उसका आधार है विवेक, जो आत्म-ज्ञान पैदा करता है। इस जीवन मे आत्म-ज्ञान का संपादन न हो और परलोक की जीवन मुक्ति पर विश्वास करें तो इसे हास्यास्पद ही माना जायेगा। निवृत्ति या मोक्ष–मुनष्य के आत्मज्ञान और सद्प्रवृत्तियो के रूप मे दिखाई देती है। इन्ही के आधार पर पारलौकिक मुक्ति पर विश्वास किया जा सकता है।

देवालयो का महत्व इसलिये नहीं होता कि उनमे परमात्मा की मूर्ति स्थापित होती है। प्रतिमा परमात्मा का प्रतीक मात्र है। अपनी श्रद्धा व्यक्त करने के लिये ईश्वर के बाह्य कलेवर को मूर्तिरूप मे मान लेते है किन्तु उसकी आत्मा सद्भावनाओं मे सन्निहत है। देवालय का अर्थ है, जहॉं देव-पुरुषो का निवास हो। उनके सत्सग से ही परमात्मा के आन्तरिक कलेवर को प्राप्त करते है, इसी दृष्टि से देव-स्थानो का महत्व होता है।

जड मे भी परमात्मा का अस्तित्व मानने की अपूर्व श्रद्धा और देवालयो की भावनात्मक विशेषता के परिणामस्वरूप दर्शक मे जो संस्कारो की सूक्ष्म प्रतिक्रिया उत्पन्न होती है, उसी से लोककल्याण का दर्शन करने के सम्बन्ध मे भी भोले लोगो की यह अन्ध श्रद्धा उन्हे दर्शन के मूल प्रयोजन एव उससे होने वाले लाभ से वचित ही रखती है। लाखो करोडो लोग प्रतिवर्ष तीर्थों तथा तीर्थपुरुषो के दर्शन करने देश के कौने-कौने से आते-जाते है। अनेको लोग तो प्रति दिन प्रातः साय मन्दिरो मे देव प्रतिमा के दर्शन करने जाया करते है। किन्तु क्या कहा जा सकता है कि इन लोगो को वह लाभ होता होगा जो उन्हे अभीष्ट रहा करता है। निश्चय ही नही। उन्हे इस बाह्य दर्शन द्वारा एक भ्रामक आत्म तुष्टि के अतिरिक्त और कुछ नही मिल सकता।

यदि केवल देवप्रतिमा, देवस्थान अथवा देवपुरुष को देखने मात्र से, हाथ जोडने, दण्डवत् करने, पैसा अथवा पूजा प्रसाद चढा देने भर से ही किसी के पापो का मोक्ष हो जाता, दुःख दारिद्रय दूर हो जाता, पुण्य, परमार्थ, स्वर्ग, मुक्ति आदि मिल सकते। मन, बुद्धि आत्मा की उन्नति हो सकती, जीवन मे तेजंस्विता, देवत्व अथवा निर्द्वन्द्वता का समावेश हो सकता तो दिन-रात देव प्रतिमाओ की परिचर्या करने वाले पुजारियो, मन्दिरो की सफाई-सँभाल करने वाले सेवकों को यह सभी अनायास ही मिल जाते। उनके सारे दुःख दूर हो जाते और सुख शान्ति पूर्ण स्वर्गीय जीवन के अधिकारी बन जाते। किन्तु ऐसा देखने मे नही आता। मन्दिरो के सेवक और प्रतिमाओं के पुजारी भी अन्य सामान्यजनों की भाँति ही अविशेष जीवन मे पड़े-पड़े दुःखों, द्वन्द्वो तथा शोक-संतापो को सहते रहते हैं। उनके उक्त जीवन मे रचमात्र भी परिवर्तन नही होता, यद्यपि उनकी पूरी जिन्दगी देव प्रतिमाओ के सानिध्य एवं देवस्थान की सेवा करते-करते बीत जाती है।

अनेक लोगो की धारणा रहती है कि दर्शन कर लेने, फूल माला चढा देने, दीपदान कर देने अथवा दण्डवत् प्रदक्षिणा का क्रम पूरा कर देने मात्र से ही देवता प्रसन्न होकर अभीष्ट मनोरथो को पूरा कर देगे। इस प्रकार के भ्रान्त विश्वासी यह नही समझ पाते कि परमात्मा के प्रतिनिधि देवता उन निकृष्ट कोटि के लोगो की तरह नही होते, जो हुजूर मे हाजिरी दे देने अथवा कोई भेट-उपहार उपस्थित कर देने, प्रशसा अथवा स्तवन वाक्यों का उच्चारण कर देने मात्र से प्रसन्न हो जाते है और अपनी खुशामद पसन्द आदत के कारण चाटुकार के दुर्गुण नहीं देखते और अपने निकट कर लेते है। यदि देवताओ की प्रकृति इसी प्रकार की होती तो उनमे और साधारण अधिकारियो मे कोई भेद न रहता। खुशामद सुनकर अथवा किन्ही अन्य प्रकारो से प्रसन्न होकर वे किसी पर भी अनुग्रह कर देते।

देवताओ की प्रसन्नता खुशामद पसन्द लोभी व्यक्तियो की तरह सस्ती नहीं होती। उनकी अनुकम्पा प्राप्त करने के लिए किसी को भी कदम-कदम पर अपने दोष दुर्गुण को दूर करना होगा, जीवन को पवित्र तथा पुण्यपूर्ण बनाना होगा। अपने मन वचन कर्मो मे देवत्य का समावेश करना होगा। जिसके लिए आत्म-संयम, त्याग तथा तपश्चर्यापूर्वक जीवन साधना करनी होगी। दिव्यता की यह उपलब्धि श्रम एवं समय साध्य है, जिसको केवल वही व्यक्ति प्राप्त कर सकता है, जो क्षण-क्षण पर अपने आचार-विचार तथा व्यवहार मे सावधान रहकर चलेगा। देव अनुग्रह के उपयुक्त पात्रता प्राप्त किये बिना कोई भी व्यक्ति केवल देवदर्शन अथवा दक्षिणा-प्रदक्षिणा द्वारा मनोरथ की सिद्धि नही कर सकता।

साधारण उपक्रमो द्वारा यदि देवताओं का अनुग्रह हो सकता, परमात्मा को प्रसन्न किया जा सकता तो ऋषि, मुनि कष्टसाध्य तपश्चर्या मे आजीवन अपने तन मन को न तपाये, वे भी कोई ऐसा ही सरल सस्ता मार्ग निकालकर अपने उद्देश्य मे कृतकृत्य हो जाते।

देवताओं, महात्माओ तथा देवस्थानों का दर्शन करना शुभ है। उनका एक सीमा तक महत्त्व भी और उपयोगिता भी है, किन्तु हमें उस तथ्य से भी अपरिचित अथवा अनभिज्ञ न रहना चाहिए, जिसके आधार पर दर्शन करने जैसी साधारण बात को इतना महत्त्व प्राप्त है। यदि देव-प्रतिमाओ, सत्पुरुषो तथा देवस्थानो के दर्शन के पीछे बर्तमान उपयोगी तथ्य को नही समझते तो देवमूर्तियों का, देवस्तर प्रतिमाओं, महात्माओ का, सामान्य व्यक्तियों और तीर्थ-स्थानो का साधारण शहरो अथवा गाँवो से अधिक कोई महत्त्व न होगा। तथ्य को देखे, समझे और हृदयंगम किए बिना दर्शनो का वास्तविक प्रयोजन सिद्ध न होगा।

किसी मांगलिक उपलब्धि के किए शुभ दर्शन प्रारम्भिक उपक्रम मात्र है। जब तक हम जो चीज देखते नही उसको जानने के विषय मे उत्कण्ठा नही होती, जब तक जिसके विषय मे जानकारी नही होती उसके गुणो का पता नही होता और जब तक गुणो का ज्ञान नहीं होगा, उन्हे अपनाने का प्रयास नही किया जा सकता। देखने से, दर्शन करने से, परिचय होता है, किसी के विषय मे ज्ञान होता है। ज्ञान से श्रद्धा और श्रद्धा से तथ्य तक पहुँचने का उत्साह प्राप्त होता है। तथ्य का ज्ञान होते ही वह हृदय मे आप से आप बैठ जाता है, जिससे मनुष्य का आचरण भी यथा योग्य ही ढल जाता है। इस क्रम में आगे बढ़ने पर ही दर्शनों का यथार्थ लाभ हुआ करता है। कोई यदि यह समझता है कि केवल मात्र किसी शुभ शुभाश्रय को

पलक उघारकर देख भर लेने से अभीष्ट उद्देश्य की पूर्ति हो जायेगी तो यह भारी भ्रम है।

दर्शन करने की सार्थकता तभी है, जब हम दर्शनीय की विशेषताओ को अपने जीवन मे भी प्रतिष्ठित करे। दर्शनार्थ जाने का अर्थ है, हृदय के गुण ग्रहण करने का उपक्रम करना। यदि कोई राम, कृष्ण, शिव अथवा हनुमान जी के दर्शन करने जाता है और प्रतिमा को नमस्कार कर अथवा कुछ पूजा-पत्री चढ़ाकर चला आता है तो उसका दर्शन अधूरा है। दर्शन तभी पूरा होगा, जब हम उनके चारु-चरित्र की जानकारी प्राप्त करे और उसे अपने जीवन का आदर्श बनाकर चलें। मन्दिर मे जाकर राम के दर्शनो द्वारा उनका अनुग्रह तभी प्राप्त किया जा सकता है, जब हम उन्ही की तरह ही माता-पिता के प्रति श्रद्धा, भाइयो के प्रति सौहार्द्र, पत्नी के प्रति अनन्य स्नेहवान् बनने का प्रयत्न करें। प्रतिमाओं के दर्शनो मे जो बुद्धिमान व्यक्ति अपने सत्प्रयोजन की सिद्धि के लिए प्रेरणा प्राप्त करता है वास्तव मे दर्शन तो वही करता है, बाकी तो लाखो करोडो दर्शक उस बच्चे की तरह झूठे आत्मसतोष से बहलते रहते है, जिसे दूध न पिलाने के मन्तव्य से माँ शहद लगी चूसनी मुँह मे दे देती है। बच्चा उसे यह समझकर चूसता रहता है कि वह माँ का स्तन पी रहा है। बच्चा बहल जाता है और उसका रोना-धोना बन्द हो जाता है। यद्यपि उस चूसनी से दूध का प्रयोजन पूरा नही होता तथापि बालक की व्यग्रता, तथा आकांक्षा कुछ देर को अवश्य बहल जाती है और उसे झूठा आत्मसंतोष हो जाता है। यही हाल उन दर्शको का समझना चाहिए, जो केवल किसी देवप्रतिमा को आँख से देख भर लेने से ही किसी उद्देश्य की पूर्ति की आशा बाँध लेते है।

यही बात किसी सत्पुरुष अथवा तीर्थ के दर्शनो मे भी है। जिनने महापुरुषो का दर्शन उनके हाड़-माँस से भौतिक एव बाह्य शरीर तक ही सीमित रखा और उनके हृदय, उनके विचारो अथवा गुणो मे गहराई तक घुसने का प्रयत्न नही किया, उन्होने उनके दर्शन ठीक उन धोबी, नाई, ड्राइवर, चपरासी आदि बाह्य सेवको की तरह ही किए जो महात्मा गाँधी को दिन-रात देखते रहे किन्तु कोई विशेष लाभ न उठा सके। जबकि उनकी शारीरिक सेवा न करते हुए भी उनके यथार्थ जवाहरलाल नेहरू, सरदार पटेल, डा. राजेन्द्र प्रसाद और सत विनोवा भावे संसार के श्रेष्ठतम व्यक्तित्व बन गए। इस विषमता एवं विपर्यय का कारण यही रहा कि जहाँ उक्त सेवको की दृष्टि तथा भक्ति गाँधी जी के पंच भौतिक शरीर तक ही सीमित थी, वहाँ इन प्रधान पुरुषो ने उनके चारु-चरित्र एवं आदर्श विचारों के दर्शन किए। व्यक्ति के स्थान पर व्यक्तित्व को प्रधानता देकर दर्शन करने वाले स्वभावत. सत्पुरुषों के समान ही महान बन जाते है। दर्शन लाभ की पूर्णता विचार एवं आचार को मिलाकर ही होती है, केवल शरीर देख लेने अथवा चरण-स्पर्श कर लेने मात्र से नही।

तीर्थावलोकन की सार्थकता तभी है जब कोई वहाँ जाकर यह जाने कि इस स्थान पर ऐसे क्या कार्य सम्पादित हुए हैं, जिनके कारण इसकी इतनी महिमा है।' इसके पीछे ऐसा कौन-सा उज्जवल इतिहास है जिससे आलोक पाने के लिए संसार के कौने-कौने से लोग दौडे चले आ रहे है। इस प्रकार की जानकारी पाए बिना और उसकी शिक्षा लिए बिना ही जो व्यक्ति लौट आता है वह मानो रीता ही लौट आया है। उसे तीर्थस्थल जाने और उसका दर्शन करने का कोई लाभ नही हुआ।

किसी भी विशिष्ट व्यक्ति, वस्तु अथवा स्थान का देखना, देव अथवा दिव्यता का दर्शन करना तभी सार्थक होता है, जब उसके गुणो, महत्त्व अथवा विशेषताओ को सूक्ष्मता से देखे, उनकी महत्ता को समझे, हृदयगम करे और जीवन विकास के लिए उससे प्रेरणा एव शिक्षा ग्रहण करे अन्यथा उथला एव दृग-दर्शन कौतूहल तृप्ति के अतिरिक्त अधिक लाभ न कर सकेगा।

मन्दिर जन-जागरण का उत्तरदायित्व सम्भालें

ईश्वर-भक्ति का मतलब इतना ही नही कि कुछ जपकर लिया जाये, देवप्रतिमा को भोग चढ़ा दिया जाय अथवा किसी धार्मिक पुस्तक का पाठ कर लिया जाय। थोडे-से क्रिया कृत्य से ईश्वर को प्रसन्न कर लेने वाली बात पूरी हो जाती तो ससार के सभी लोग परमात्मा की कृपा-अनुकम्पा स्वल्पश्रम से ही प्राप्त कर लेते। जीवन को सुविकसित, सुसस्कृत, सद्गुणी तथा

व्यवस्थित बनाने की कठिन साधना की कोई जरूरत न होती। ईश्वर का नाम लेते ही सारे लौकिक, पारलौकिक लाभ मिल जाते तो ससार का कोई भी व्यक्ति दीन-दुःखी या दरिद्री न होता सब आनन्द से सुखपूर्वक रह रहे होते।

ईश्वर उपासना का एक महत्त्वपूर्ण अंग धर्मनिष्ठा का अभाव न होना भी है। मनुष्य के भीतर भरे हुए कुविचार कुकर्म, दुर्भाव और दुष्प्रवृत्तियों का शमन न हो तो कर्म काण्ड मात्र का जप-तप आत्मिक स्तर को ऊपर नही उठा सकता इसके लिए सदाचार, सद्‌गुण और नैतिकता की भी आवश्यकता है। धर्मनिष्ठा का तात्पर्य यही है कि लोग जहाँ ईश्वर प्राप्ति के लिए जप-तप, पूजा, प्राणायाम आदि प्रक्रियाओ का प्रश्रय ग्रहण करें, वहाँ व्यक्तिगत जीवन मे स्वच्छता और सात्विकता की वृद्धि तथा बुराईयो का परित्याग भी करते रहें।

मन्दिरो के निर्माण का उद्देश्य जनमानस मे इस उभय पक्षीय व्यवस्था में सन्तुलन रखने मे योग देना था। जन-साधारण के अन्त.करण में उपासना और जीवन-शोधन की क्रिया को जागृत रखने, व्यक्ति को कर्त्तव्यपरायण, आदर्शवादी तथा सुविकसित व्यक्तित्व बनाये रखने की दृष्टि से ही किसी समय मन्दिरो का प्रादुर्भाव हुआ था। वह एक प्रकार से विद्या, बुद्धि संस्कार एवं सद्‌प्रवृत्तियो को चारो दिशाओं में फैलाने वाले केन्द्र समझे जाते थे। विद्वान, महात्मा जिनके व्यक्तिगत रूप से न कोई घर होते थे न परिवार, इन मन्दिरों मे रहकर समाज को समुन्नत रखने वाली प्रवृतियो का सचालन करते रहते थे। यही कारण था कि उन दिनो आमतौर पर समाज मे आसुरी शक्तियो की प्रबलता न होने पाती थी। मन्दिरो द्वारा प्रसारित ज्ञान और जीवन विद्या की प्रबलता के कारण बुराईयो को उग्र होने का अवसर ही न मिलता था।

तब मन्दिरो को धन-दान दक्षिणा तथा ब्राह्मणो और पुजारियो को भोजन कराने की पुण्य-परम्परा प्रचलित थी, उसका मतलब यही था कि सद्‌प्रवृत्तियो की अभिवृद्धि करने वाले इन संचालन केन्द्रो की शक्ति कम न हो और न ही उन्हे किसी प्रकार का अभाव रहे जिससे जन-जागरण के कार्यों मे किसी प्रकार की असुविधा जान पड़े। मन्दिरो, पुजारियो और ब्राह्मणो के प्रति, भले ही अन्धश्रद्धा के रूप में, भारतीय जनता मे वही श्रद्धा और आदर का भाव देखा जा सकता है। अपनी शक्ति और सामर्थ्य के अनुसार लोग धन, द्रव्य आदि से उनकी सहायता भी करते रहते है किन्तु मन्दिरों मे कर्तव्य-पालन की इस आर्ष-भावना का अब बिलकुल ह्रास हो चुका है। इतना ही नहीं वे पाप, आडम्बर, अन्धविश्वास, रूढ़िवादिता, भाग्यवाद आदि दुष्प्रवृत्तियो को प्रोत्साहन देने वाले केन्द्र बनते जा रहे है।

भारतवर्ष मे मन्दिरो की संख्या लगभग ६ लाख है। गाँव और शहरों की संख्या क्रमशः ५६७१६९ और २६९० है। यह संख्या भी लगभग ६ लाख तक ही पहुँचती है। औसतन हर गाँव में एक मन्दिर होना चाहिए। यहाँ की जनसख्या लगभग ४५ करोड है तो इस हिसाब से प्रत्येक ७५० व्यक्ति की आबादी वाले गाँव मे एक मन्दिर निश्चित रूप से हो गया। इन मन्दिरों मे पुजारी और कम से कम एक व्यक्ति उसका सहायक, दो व्यक्तियो का वेतन खर्च, भोग प्रसाद, शृंगार, मरम्मत आदि का कुल खर्च कम से कम १०० रू. मासिक मान लिया जाय तो प्रत्येक गाँव के लिए १२०० रु. का वार्षिक खर्च बँध गया। इसके साथ-साथ कभी-कभी उत्सव आदि भी होते रहते है उनमे भी काफी खर्च होता है। इस प्रकार जनता इतना मारा आर्थिक भार इसलिए वहन करती है कि उसे धार्मिक मार्गदर्शन मिले। पर यदि कोई परिणाम न निकले तो प्रति वर्ष ७२ करोड रुपए की धन-शक्ति को व्यर्थ ही गया समझना चाहिए।

जब इतनी शक्ति बुराइयों के अभिवर्द्धन मे लगी हुई हो तो उसके दुष्परिणामो पर भी सहज ही विचार किया जा सकता है। इतनी शक्ति को यदि समाज निर्माण के कार्यों मे लगाया गया होता तो आज जो सामाजिक दुर्दशा दिखाई देती है वह सामने न होती।

अब तक जो कुछ हुआ उसे इस दृष्टि से याद करना उचित ही है कि अब वैसी भूल की पुनरावृत्ति न होनी चाहिए। जिस कारण सामाजिक जीवन मे बुराइयाँ बढ़ीं मन्दिर उनका निराकरण न कर सके। हमारे देश की संस्कृति बहुत प्राचीन है, उसके आदर्श और सिद्धान्त व्यक्ति और समाज सबके लिए समान रूप से उपयोगी है, पर जनसाधारण की वस्तुस्थिति का पता न

हो तो वह संस्कृति कितनी ही श्रेष्ठ या पुरातन क्यों न हो उसका लाभ कहाँ रहा ? आज इस बात की *आवश्यकता है कि यह मन्दिर सांस्कृतिक, बौद्धिक,* भावनात्मक एवं नैतिक कार्यक्रमो को हाथ मे लेकर समाज के मार्गदर्शन का उत्तरदायित्व पूरा करें। यह कार्य रचनात्मक कार्यक्रमो द्वारा हो सकता है और मन्दिर उन्हे सुविधापूर्वक प्रसारित भी करते रह सकते हैं।

समर्थ गुरु रामदास ने शिवाजी की सेना के लिए रसद और सैनिको की आवश्यकता को पूरा करने के लिए हनुमान अखाडों की स्थापना की थी। वहाँ हनुमान जी की प्रतिमा स्थापित कर, उसकी विधिवत् पूजा, हनुमान चालीसा पाठ आदि के लिए महन्त और पुजारी नियुक्त थे, साथ ही कसरत, कुश्ती खेलकूद के स्वास्थ्यवर्द्धक आयोजन भी चलते थे। वे महावीर हनुमान का पूजन, वन्दना, आरती, प्रसाद की व्यवस्था करते थे पर साथ ही वे अधर्म का नाश और धर्म की रक्षा के लिये अपना सर्वस्व होम देने की प्रतिज्ञा को भी न भूलते थे और समय आने पर वे शिवाजी की सेना के कन्धे से कन्धा मिलाकर मुस्लिम आक्रमणकारियो से लोहा भी लेते थे।

गुरु गोविन्द सिंह ने गुरुद्वारों का निर्माण कीर्तन, पाठ, पूजन *आरती तथा प्रसाद के लिए ही नही किया* था वरन् वे सैनिक छावनियो का उद्देश्य भी पूरा करते थे। वहाँ सिक्ख नवयुवकों को अस्त्र-शस्त्र चलाने की शिक्षा भी दी जाती थी और ऐसे प्रवचन किऐ जाते थे, जिन्हे सुनकर उनमे देश और जाति के लिये मर मिटने की भावना पैदा होती थी। पूजा पाठ के कर्मकाण्ड आत्मकल्याण के अतिरिक्त देश की धार्मिक एकता और सगठन शक्ति को मजबूत करने के माध्यम भी थे। उनका एक उद्देश्य आसुरी शक्तियो से संघर्ष करना भी होता था।

समर्थ गुरु रामदास और गुरु गोविन्द सिंह ने अपने धार्मिक सगठनो को जो कार्यक्रम प्रदान किए थे, उनका अपना महत्त्व था और उन पर निष्ठावान रहने के कारण ही मराठे और सिक्ख इतना बड़ा काम कर पाये जो आज भी उनके गौरव को स्थिर किए हुये है।

छोटी-छोटी रचनात्मक प्रवृत्तियाँ प्राय हर मन्दिर में चलाई जा सकती है। २० व्यक्तियो को शिक्षा के लिए भी यदि एक मन्दिर मे प्रौढ़ पाठशाला चलाई जा सके तो प्रति वर्ष १ करोड़ २० लाख प्रौढ़ो को साक्षर बनाकर कुछ ही वर्षो में सारे देश की *निरक्षरता* को दूर किया जा सकता है। सायंकाल गाँवों या शहरों के प्राय: सभी निवासियों को अवकाश का समय मिलता है। इस समय मन्दिरों में प्रतिदिन संगीत, भजन, कीर्तन और प्रवचन की व्यवस्था हो जाये तो उससे लोगों को पर्याप्त मनोरंजन के साथ-साथ नैतिक प्रशिक्षण भी मिलता रहेगा।

मन्दिरो से संस्कारो की पद्धति का प्रचलन किया जाय तो उसमें सामाजिक जीवन मे *आत्म-*शोधन की एक नई चेतना का आविर्भाव हो सकता है। सस्कार मनुष्य जीवन को ऊँचा उठाने और उसे क्रमश: आध्यात्मिक लक्ष्य की ओर अग्रसर करने में बड़ा महत्त्व रखते हैं पर जनसाधारण का उनकी शिक्षाओं का ज्ञान नही होता, फलस्वरूप वे उनके वास्तविक लाभों से वंचित रह जाते है।

स्थानीय परिस्थितियो के अनुरूप कई प्रकार की प्रवृत्तियाँ इन मन्दिरो से प्रसारित की जा सकती हैं। प्रौढ़ शिक्षा, पुस्तकालय, समाज सुधार, व्यायामशालायें चलाने, शाक-सब्जी उगाने का आन्दोलन, संगीत विद्यालय, आसन प्राणायामो की शिक्षा, भजनोपदेशक तथा धर्मोपदेशक तैयार करने के लिए पाठ्यक्रम, प्राकृतिक चिकित्सा फर्स्ट एड आदि की विभिन्न रचनात्मक प्रवृत्तियाँ चलाई जा सकती है। इससे सामाजिक जीवन मे एकता, सगठन और अनुशासन की *भावना बढ़ती है तथा समाज को ऊँचा* उठाने वाले गुणों की प्रतिष्ठा भी होती है।

साधु लोक-मंगल की मुहिम सँभालें

समय था जब ससार मे भारतीय धर्म का बोलवाला था, उसकी सभ्यता एवं सस्कृति उच्चतम शिखर पर विराजमान थी। यह उच्चता उसे यो ही प्राप्त नही हो गई थी। इसके लिए भारतवासियों को त्याग और तपस्या करनी पडी थी। भारतीय समाज में दो वर्ग तो ऐसे थे, जिनका एकमात्र जीवन ध्येय, देश, धर्म तथा सभ्यता सस्कृति का विकास एव प्रचार करना ही था। वे दिन-रात देश धर्म की सेवा मे लगे रहते थे और समाज उन्हें इस उपकार के बदले मे साधना तथा सम्मान दिया करता था। यह दोनों वर्ग ब्राह्मण

एवं साधु नाम से प्रसिद्ध थे और आज भी प्रसिद्ध हैं तथा कमोवेश उसी तरह माने भी जाते हैं और यह अपेक्षा भी की जाती है कि वे देश धर्म की सेवा उसी प्रकार करेगे, जिस प्रकार पूर्वकालीन लोग करते रहे थे। किन्तु खेद है कि इन दोनों वर्गो ने अपने कर्तव्यों को तिलांजलि तो दे दी है, किन्तु अपने मान-सम्मान की पिपासा को नही त्यागा है। इस समय देश धर्म बड़ी विषम स्थिति से गुजर रहा है, साधु ब्राह्मणों को अपना दायित्व समझना तथा कर्तव्य करने के लिए पुन. परिकर बॉध कर मैदान मे उतरना होगा। अन्यथा नही कहा जा सकता कि काल करालता और विकृतियो की विषमता समाज, राष्ट्र तथा उन्हे किस स्थिति मे ले जाकर पटक दे ?

पूर्वकालीन ब्राह्मणो तथा सन्त-महात्माओ में कोई विशेष अन्तर नही था। उनके दायित्व एवं कर्तव्य समान ही थे साथ ही अधिकारो मे कोई विषमता नही थी। यह दोनो शब्द एक ही व्यक्तित्व के दो नाम थे। अन्तर ही था तो केवल स्थिति का, साधु-सन्त अधिकतर गृहत्यागी होते थे और उनका रहन-सहन उस स्थिति के अनुरूप रहता था। परिवार अथवा घर-गृहस्थी की परिधि से परे हो जाने से साधुओ का कार्य-क्षेत्र सारा देश रहा करता था। वे आजीवन परिभ्रमण करते हुए देश के कौने-कौने मे घूमते रहते थे और जहॉ भी विकृति अथवा अवांछनीयता देखते थे वही रुककर, सस्कार तथा शोधन का अपना कर्तव्य पालन किया करते थे।

ब्राह्मणों पर गृह त्याग का प्रतिबन्ध न था। वे इच्छानुसार परिवार बसाकर रह सकते थे, आजीविका के लिए अध्यापन तथा धर्म-शिक्षण का कार्य कर सकते थे। फिर भी समाज के प्रति उनका कर्तव्य वही था, जो साधु अथवा सन्यासी का। परिवार में रहने से ब्राह्मणो का कार्य-क्षेत्र सारा देश न होकर, उनका एक सीमित क्षेत्र ही रहा करता था। जहॉ वे घर-घर जाकर लोगो के धार्मिक स्वाध्याय की देख-भाल किया करते थे। कथा, प्रवचन तथा पूजा पाठ द्वारा लोगो की धर्मनिष्ठा को सम एव समुचित बनाए रहते थे।

आज समय कुछ बदल गया है। परिस्थितियॉ उन दिनो जैसी नही रह गई है। अधिकतर ब्राह्मणो को परिवार-पोषण के लिए अनेक काम करने पड़ गये है। आज उनके पास समाज सेवा के लिए उतना समय तथा साधन नही रह गया है जितना कि पहले था। किन्तु साधु-सन्तो तथा संन्यासियो की स्थिति यथावत् बनी हुई है। आज भी वे उसी प्रकार अग्रही, परिव्राजक तथा समाज द्वारा सम्मानित एवं पोषित हैं। उन्हें अपनी आजीविका अथवा जीवन रक्षा के लिए कोई उद्योग नही करना पड़ रहा है, समाज उनका सारा भार वैसे ही वहन कर रहा है जैसा कि पहले किया करता था। अस्तु, समाज सेवा, समाज सुधार तथा धर्म प्रचार का सारा दायित्व एवं कर्तव्य इन साधु-संन्यासियों तथा सन्त, महात्माओ पर आ गया है। जिसे उन्हे पूरा करना ही चाहिए।

किन्तु क्या आज के साधु-संन्यासी अपने दायित्व को समझ और कर्तव्य को पूरा कर रहे है ? इसका उत्तर 'न' में होने के सिवाय और क्या हो सकता है ? आज के साधु-जन, वेश-रचना के सिवाय शायद यह भी नही जानते है कि साधुता का क्या अर्थ होता है ? क्या आज के छप्पन-साठ लाख साधुओ में से कोई यह स्वीकार कर सकता है कि वेश-विन्यास से साधुता का कोई भी सम्बन्ध नही। साधु-सज्जन शब्द का पर्यायी है, जिसमे निष्कलंक सज्जनता है वही साधु कहलाने योग्य हो सकता है। जिसका सयम, श्रम, ज्ञान तथा मनोभावनाये व्यक्तिगत स्वार्थो मे ही न लगे रह कर समस्त मानव समाज की सेवा मे लगी हो वही साधु है। साधु उस व्यक्ति को ही माना जा सकता है जो अपने सर्वस्व को सार्वजनिक सम्पत्ति समझता हो और जन-सेवा के कार्यों में उपयोग करता हो। जिसके मन मन्दिर में "वसुधैव कुटुम्बकम्" की महान् ज्योति जल रही हो और जिसका आचरण उसी से प्रकाश एव प्रेरणा लेकर सक्रिय हो रहा हो, वही साधु है। उसी को साधु माना जाना चाहिए। पूर्वकालीन ऋषि-मुनियों अथवा साधु-सन्यासियो जैसा वेश बना लेना ही साधुता नही है।

साधुता तथा साधु-संन्यासियो के कर्तव्य समझना तो दूर, आज के साधु-जन शायद उस वेश-विन्यास का तात्पर्य भी नही जानते होगे, जिसे बनाए फिरते है और जिसके कारण वे जनता मे आदर की दृष्टि से देखे जाते है। जो वेश-विन्यास आज का साधु समुदाय बना घूमता है, वह पूर्वकालीन ऋषि-मुनियो का ही अनुकरण है। इस प्रकार का वेश-विन्यास ऋषियों के लिए

ऋषियो की तरह ईश्वर प्रेरित नही था। बल्कि ऋषियों ने इसे सामयिक परिस्थिति एवं अपनी स्थिति के अनुसार ही चुना था।

साधु का प्रथम धर्म है, अपरिग्रहण। अपनी जीवनचर्या में वे कम से कम खर्च करना अपना पावन कर्तव्य समझते थे। कमण्डलु नामक लौकी के खोखले से पात्र से काम चलाते थे। जंगल की साधारण लकड़ी के खड़ाऊँ पहनते थे। उस समय आज जैसी कपड़ो की बहुतायत न थी। जो कुछ कपड़ा होता भी था, समाज की सुविधा तथा आवश्यकता का ध्यान रखने वाले साधुजन स्वयं उसका प्रयोग न करते थे। जब तक सर्दी-गर्मी सहन होती थी एक कोपिन के सिवाय कुछ न पहनते थे। हवा तथा धूप से बचने के लिए भस्म मल लेते थे या पेड़ो की छाल छीलकर वल्कल-वस्त्र बना लेते थे । भोजन के नाम पर अधिकतर जगलो मे पैदा होने वाले फल-फूलो एवं कन्द-मूलो का ही सेवन करते थे। ऋषियो द्वारा जटा-जूट रखाये जाने का कारण यही रहा है कि जगंलो की ओर रहने के कारण वहाँ हजामत बनाने की सुविधा न थी। इसके लिए वे हर तीसरे दिन नगरो की ओर दौड़ते रहते तो उनके द्वारा समाज के लिए किये जाने वाले चिन्तन एव शोध-कार्यो मे विघ्न पड़ता। वे जटा-जूट रखा सकते थे किन्तु समाज सेवा मे लगे हुए जीवन का एक क्षण भी खराब करना स्वीकार नही कर सकते थे। इस प्रकार ऋषि-मुनियो के वेश-विन्यास एव रहन-सहन मे उनकी परिस्थिति तथा स्थिति की अनुरूपता के सिवाय और कुछ न था। किन्तु आज के साधु समाज ने केवल वेश-भूषा को ही धारण करना साधुता की चरमावधि मान लिया है।

आज का साधु समुदाय वेश-विन्यास बना लेने को ही साधुता प्राप्त कर लेना समझता है। वह यह नही समझ पाता कि यदि वेश की अनुरूपता अथवा अनुकरण करना किसी व्यक्ति को वैसा बना सकता जो नाटको एव स्वॉगों के नट, विदूषक सब राजा, साधु-सन्त महात्मा बन जाते जो उन जैसा विन्यास बनाते और अभिनय करते हैं। साधु के गुणो एव कर्मो से रहित रहकर जो अपना बाह्य कलेवर उन जैसा बना कर गली-गली घूमते-फिरते है, उन्हे कोई मूढ़-मति व्यक्ति भले ही साधु मान ले किन्तु जिसके पास जरा-सी बुद्धि होगी, साधुता का तनिक भी अर्थ समझता होगा—वह उनको प्रवंचक अथवा उस विदूषक के समान उपहासास्पद ही मानेंगे, जो लोगो को तरह-तरह के वेश बनाकर हँसाता और पैसा माँगता फिरता है। साधु के रूप में रहकर उन जैसा कर्तव्य न करना घोर विडम्बना है। आज ऐसे ही विन्यास साधुओं की तरह समाज मे साधु शब्द को हेय दृष्टि से देखा जाने लगा है। साधु शब्द सुनते ही किसी आडम्बरी, प्रवचक अथवा भिक्षुक की तस्वीर सामने आ जाती है।

आज देश में छप्पन लाख साधु बतलाये जाते हैं। यदि उनमें से अपाहिज, अपंग, अशिक्षित एव उचक्को को निकाल दिया जाये तब भी १०-२० लाख ऐसे साधु निकलेंगे, जो शिक्षित तथा समझदार होंगे। किन्तु खेद है कि साधुओ के बीच जो पुजने और पुजापा खाने की हवा चल रही है, वे भी उसी मे बहते चले जा रहे है। उन्हें अपने समुदाय तथा वर्ग के प्रवंचको का अनुकरण न करके साधुजनों के सच्चे कर्तव्य को पूरा करना चाहिए। उन्हें अपने उस समाज को वर्तमान दयनीय दशा के प्रति दयार्द्र एवं सवेदनशील होना चाहिए, जो उन्हें हार्दिक आदर, सम्मान तथा सब प्रकार के साधन देता रहा है। साधु होकर उपकार के बदले प्रत्युपकार न करने के समान कोई पाप नही। यह कृतघ्नता है जिसे शास्त्रो में महा पातक कहा गया है।

सज्जन एव सच्चे साधुओ को वर्गवाद के दलदल से निकलकर समाज सेवा के कार्य मे लग ही जाना चाहिये। उन्हे स्थानस्थ होकर पूजा लेने के स्थान पर परिव्रजन का कार्यक्रम एवं समाज-सुधार और गॉव-गॉव, नगर-नगर, द्वार-द्वार धर्मोद्धार एवं समाज-सुधार का शंख फूँक देना चाहिए। आज के कठिनतम आर्थिक युग मे अभाव के समय मे जनता की सहज श्रद्धा के शोषण रूप बनकर समाज का बोझ उठाना अनुचित ही कहा जायेगा। साधुजनो को अपना यह कलंक धो डालने के लिये पूर्वकालीन साधु परम्परा को सच्चे मायनो मे जाग्रत कर यह दिखला ही देना चाहिए। ऋषि-मुनियो के इस देश की वह साधुता अभी मर नही गई है, जिसके बल पर भारत का धर्म, उसकी सभ्यता, सस्कृति एव समाज ससार का सरताज बना रहा है। साधु समुदाय के पास ऐसा कोई पारिवारिक उत्तरदायित्व नही जो उन्हे उनके समय अथवा श्रम का कोई अश छीन रहा हो। सयोग भाग्य

अथवा संस्कारों वश साधुओ के लिये वे पूर्वकालीन सारी परिस्थितियाँ आज भी विद्यमान है, उनका समुचित उपयोग कर वे लोक-परलोक दोनों का साधन कर सकते हैं। उन्हे करना भी चाहिए। अन्यथा संसार मे बुद्धिवाद बहुत तेजी से बढ़ रहा है, श्रद्धा का अस्तित्व धुँधला पड़ता जा रहा है। भगवान न करे, यदि निषेधात्मक युग आ जाये तो इस साधु-समाज की क्या स्थिति हो सकती है ? यह साधुओ के लिये विचारणीय एवं करणीय है।

भिक्षावृत्ति भारतीय संस्कृति पर कलंक

आध्यात्मिक साधना का मुख्य उद्देश्य मानवता का उच्चतम स्तर प्राप्त करना ही है। मानवता की चरमावधि पर पहुँचकर मनुष्य देवत्व की परिधि मे प्रवेश करता है और वहाँ से शनै:-शनै: उठता हुआ ईश्वरीय परिधि की ओर बढ़ता जाता है। इस प्रकार ईश्वर प्राप्ति की सोपान-परम्परा में मनुष्य का विकास आदि सोपान है। आध्यात्मिक लक्ष्य प्राप्त करने के लिये जिज्ञासु व्यक्ति को सर्वप्रथम अपनी मनुष्यता का ही विकास करने का प्रयत्न करना चाहिए। जो साधक मनुष्यता का विकास न कर सीधे-सीधे ईश्वर प्राप्ति की कामना से साधना-रत रहते है, उनको अपने उद्देश्य मे सफलता मिल सकना असम्भव ही समझना चाहिये।

मुनष्यता के विकास का क्रम शरीर से चलता हुआ आत्मा तक पहुँचता है और तब आत्म-विकास से आध्यात्मिक विकास की ओर मार्ग जाता है। शारीरिक विकास का तात्पर्य उसके लम्बे-चौड़े मोटे ताजे होने से नहीं है। इसका मात्र मन्तव्य उसके पूर्ण आरोग्य से है।

शारीरिक, मानसिक, बौद्धिक अथवा आत्मिक विकास यो ही आप से आप नही हो जाता, उसके लिये कुछ निश्चित नियम एवं कर्तव्य है, जिनका सावधानीपूर्वक पालन करना होता है। इन नियमो एवं कर्तव्यों के क्रम को धर्म कहा जाता है। इस प्रकार धर्म का आचरण करना ही वह उपाय है, जिसके आधार पर मुनष्य आत्मविकास की ओर बढ़ता है।

जप-तप, पूजा-पाठ, दान, यज्ञ आदि धार्मिक कर्तव्यो मे अन्न संयम का विशेष महत्त्व है। मनुष्य प्राणधारी है और अन्न अर्थात् भोजन को आधार कहा गया है। मनुष्य भोजन न करेगा, तो किसी प्रकार जीवित न रह सकेगा। जीवन के रहते ही कोई साधना की जा सकती है, उसकी उपस्थिति में ही शारीरिक, मानसिक, बौद्धिक तथा आत्मिक विकास का प्रयत्न किया जा सकता है। यदि जीवन नही, तो कुछ भी नही। जीवन का अर्थ केवल श्वांसों का आवागमन मात्र ही नही है। जीवन का अर्थ है, प्राणो के साथ मनुष्य में स्वाभिमान, स्वास्थ्य, निर्भयता, आत्म-सम्मान, उत्साह, अखेद एवं अग्लानि आदि गुणो का होना। यदि मनुष्य की श्वाँस चलती है किन्तु उसमें इस प्रकार के गुण नही है, तो वह सच्चे अर्थों में जीवित नही माना जायेगा। आत्मरंजनापूर्वक स्वस्थ जीवन जीना ही जीना है, वैसे तो गति रूपी जीवन कीट-पतगो मे भी रहता है।

मनुष्य तथा अन्य प्राणियों के बीच जो बुद्धि, विवेक आदि भिन्नता बोधक विशेषताये है, उनमे स्वाभिमान का एक विशेष गुण है। स्वाभिमान मनुष्यता का प्रधान लक्षण है, जो अन्य जीवो मे नही पाया जाता। तिरस्कार, अपमान, उपेक्षा, अवहेलना आदि का आत्महन्ता मनुष्येतर प्राणियो के निकट कोई मूल्य नही होता। आत्म गौरव, आत्म-सम्मान एव आत्माभिमान आदि का उदात्त भाव आत्मा की प्रधान वांछा है, उसकी नैसर्गिक भूख है। इन अनुरंजनाओ के अभाव में आत्मा निर्बल एवं निस्तेज हो जाती है। यो तो आत्मा पशुओ में भी होती है किन्तु विवेकपूर्ण स्वाभिमान की अनुपस्थिति के कारण वह प्रबोध शून्यता की स्थिति में पड़ी सोती रहती है। आत्मा महान् है, उससे अधिक महान् इस संसार में और कुछ भी नहीं है। उसकी श्रेष्ठता की कोई सीमा नही। अस्तु, उसके लिए तद्नुरूप श्रेष्ठ एवं उत्कृष्ट परिस्थितियाँ ही अनिवार्य एवं वांछनीय है। तिरस्कार, तुच्छता, अपमान अथवा अवहेलना के वातावरण मे उसका विकसित होना तो दूर सजीव रह सकना भी कठिन है।

मनुष्य जीवन पर भोजन का प्रभाव बहुत गहराई तक पड़ता है। जितना सात्विक, शुद्ध एवं उपयुक्त भोजन किया जायेगा, मनुष्य का तन-मन भी उतना ही शुद्ध एव सात्विक बनेगा। निम्न कोटि एवं निम्न भावनाओ से प्राप्त अन्न मनुष्य के शरीर को अस्वस्थ एवं मलीन बना देता है। 'जैसा खाये अन्न, वैसा बने मन' वाली कहावत से सभी परिचित हैं। अन्न-उत्पादन से ग्रहण तक उसकी शुद्धता एवं स्वच्छता पर ध्यान

रखने का निर्देश शास्त्रो मे किया गया है, जिसमे उससे प्राप्त होने वाले तत्व एवं सूक्ष्म संस्कार विकृत होकर मनुष्य के तन-मन एव आत्मा पर कुप्रभाव न डालने पावे, उसकी प्रवृत्तियाँ पूर्ण पवित्र एव उपयुक्त बनी रहे, जिससे कि वह मनुष्यता के उन्नत सोपानो पर क्रम से बढता चला जाय।

परावलम्बन, पराधीनता अथवा अनाचरण से प्राप्त किया हुआ अन्न तो दूषित होता ही है, किन्तु भिक्षा से प्राप्त किया हुआ अन्न सबसे अधिक दूषित होता है, वह चाहे पैसा माँगकर खरीदा गया हो अथवा भोजन के रूप मे पाया गया हो। भिक्षा का अन्न मनुष्य के मन, बुद्धि तथा आत्मा के लिये विष ही है। भिखारी जब किसी से कुछ माँगता है, तब उसकी आत्मा मे एक दीनता, हीनता एवं ग्लानि होती है। वह स्वयं जानता है, कि अपना स्वाभिमान खोकर माँग रहा है। भिखारी यदि एक बार भूखा होने पर माँगता है, तो अनेक बार झूँठ बोलकर माँग लाता है। यह एक प्रकार की ठगी है, जिसके लिये न तो उसका मन प्रसन्न होता है और न बुद्धि। प्रत्युत् उसकी आत्मा इस निकृष्ट कार्य के लिये धिक्कार-भाव ही रखती है। ऐसा धिक्कारपूर्ण अन्न से स्वस्थ तत्वो का मिल सकना सम्भव नही। साथ ही अनेक बार तो देने वाला भिखारी के हठ के कारण से खीजकर ही उसे कुछ डाल देता है। देने वाले एव लेने वाले दोनो की असद्भावनाओ के प्रभाव से अन्न के सूक्ष्म सस्कार दूषित हो जाते है, जो झोली पर दयनीयता के रूप मे प्रतिफलित होते है। यही कारण है कि ग्लानिपूर्ण अन्न खाने से भिखारी दीन-हीन और मलीन दीखते रहते है। उनका शरीर रोगी तथा मुख निस्तेज ही बना रहता है। भिक्षा-भोजन करने वाला, चाहे वह कितना ही पौष्टिक भोजन क्यो न पाये, किसी प्रकार से स्वस्थ नही रह सकता।

भारतीय धर्म मे दान देने और लेने दोनो का विधान है। दान का पुण्य तो यज्ञादिक धर्म-कर्मों के समकक्ष ही बतलाया गया है। गीता मे भगवान श्रीकृष्ण ने कहा भी है—

'यज्ञ दान तप. कर्म न त्याज्यं कार्यमेव तत्।
यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषणाम्॥'

अर्थात् यज्ञ, दान तप-रूप जो कर्म है, वह त्यागने योग्य नही है। यह कर्म निश्चित रूप से बुद्धिमान लोगों को पवित्र करने वाले है।

इतना ही नही, दान को मानवता का लक्षण बतलाया गया है और कहा गया है कि यज्ञ में अन्य व्यक्तियो तथा समाज का दान द्वारा उपकार करने के उपरान्त शेषांश को अपने पर व्यय करने, उतने से ही निर्वाह करने वाला पुण्यपथ-गामी होता है। जो अपनी कमाई का एक भाग दान के रूप मे नही देता और सब का उपयोग स्वय ही करता है वह चोर के समान है।

गीता के अतिरिक्त अन्य धर्मशास्त्रो मे दान की महिमा का बखान किया गया है। मनु भगवान का कथन है—

'तपः परं कृतयुगे त्रेतायां ज्ञानमुच्यते।
द्वापरे यज्ञ सेवादुयनिमेक कलौयुगे॥'

अर्थात् सतयुग मे तप, त्रेता मे ज्ञान, द्वापर में यज्ञ और कलियुग मे दान ही धर्म के विशेष लक्षण है।

इस प्रकार सभी धर्म-ग्रन्थो मे दान की भूरि-भूरि महिमा गाई गई है। दान करने से जहाँ मनुष्यो मे उदारता की अभिवृद्धि होती है, वहाँ उसके द्वारा व्यक्तियो एव समाज का भी उपकार होता है। किन्तु जहाँ दान की महिमा का वर्णन पाया गया है, वहाँ इस बात का भी निर्देश है कि दान ऐसे व्यक्ति को ही देना चाहिए, जो उसका वास्तविक पात्र हो। अपात्र को दिया दान निष्फल चला जाता है और कुपात्र को दिया दान तो पाप का ही आवाहक होता है। दान द्वारा पुण्य-लाभ के लिये दानी को पात्रापात्र का विचार कर लेना बहुत आवश्यक है।

दान पाने और स्वीकार करने के अधिकारी केवल दो प्रकार के ही व्यक्ति होते है। एक तो वे जो सर्वथा अपाहिज, असमर्थ, अन्धे, कोढ़ी तथा अशक्त हो, जिनका शरीर अथवा परिस्थिति कमा सकने के सर्वथा अयोग्य हो। आकस्मिक आपत्ति मे पड़कर अपना सर्वस्व गँवा देने वाले भी परिस्थिति तक सहायता के रूप में किसी हद तक दान पाने और लेने के अधिकारी है। दूसरे प्रकार के, दान पाने और लेने के अधिकारी वह व्यक्ति माने जा सकते हैं, जिनके जीवन का अणु-क्षण सार्वजनिक सेवा-कार्यों मे लगा रहता है और जो दान मे पाये हुए धन अथवा अन्य वस्तुओं का

उप्योग अपने लिये उतना ही करते है, जिससे सेवा करने के लिये उनका शरीर बना रहे और शेष सारी दान पाई वस्तुएँ अथवा धन को सार्वजनिक सेवा मे ही लगा देते है।

प्राचीन काल मे ऐसे ही उज्जवल व्यक्तित्व एवं आदर्श चरित्र वाले सुधारक, सन्त, साधु तथा ब्राह्मण ही दान पाने और लेने के अधिकारी माने जाते थे और उन्ही को दान स्वीकार करने लिये कहा जाता था। समाजोत्थान के लिये अपना सारा समय देने वाले लोगो की सहायतार्थ एव साधनार्थ दी जाने वाली दान की परम्परा आज भी चली आती है, किन्तु इस पर से विवेक का अंकुश हटा लेने से यह दान की पुण्य परम्परा तुच्छ भिक्षावृत्ति मे विकृत हो गई है, जो व्यक्ति से लेकर राष्ट्र तक, किसी प्रकार भी कल्याणकारी नही है। आज इसमे सुधार किये जाने की बहुत बड़ी आवश्यकता आ पडी है।

आज देश मे भिखारियो की सख्या साठ-पैसठ लाख के लगभग अनुमान की जाती है, जिनमे से अधिकतर ऐसे लोग ही है, जो हट्टे-कट्टे तथा सब प्रकार से काम करने योग्य है, किन्तु उन लोगो ने आत्म सम्मान, स्वाभिमान तथा समाज-व्यवस्था को तिलाजंलि देकर भिक्षा को व्यवसाय बना लिया है। वे भिक्षा का तिरस्कृत अन्न स्वय खाने और अपने परिवार को खिलाने मे जरा भी संकोच नही करते। वे इस बात से न तो कोई सरोकार रखते है और न महत्त्व ही समझते है कि सदोष अथवा निर्दोष अन्न का मानव आत्मा पर एक स्थायी प्रभाव पड़ता है, जो अन्न के अनुसार दूषित या पवित्र होता है। भिक्षा व्यवसाय से पाई जीविका पर जीने वाले निश्चय ही आत्महन्ता होते हैं। उनका तथा उनकी आत्मा का पूर्ण पतन हो जाता है, जिससे वे इस लोक मे तो नरक जैसा निकृष्ट जीवन जीते ही है और अन्त मे नरकगामी होते है।

आत्म-गौरव को सबसे अधिक ठेस पहुँचाने और आत्मा को तिरस्कार करने वाली यदि कोई वृत्ति है तो वह है, भिक्षावृत्ति। भिखारी तो तृण के समान तुच्छ माना जाता है, न तो कोई कभी उसका सम्मान करता है और न उसके मानव होने का मूल्याकन करता है। सभी उसे ओछा, दीन-हीन, क्षुद्र तथा बोझ के समान ही मानते है। कोई भी व्यक्ति किसी भिखारी को अच्छी दृष्टि से नही देखता। वह जहाँ जाता है घृणा एव तिरस्कार का ही लक्ष्य बनता है।

इस भिक्षा-वृत्ति का कुप्रभाव न केवल भिखारी के आत्मसम्मान पर पडता है बल्कि इससे राष्ट्रीय गौरव को भी हानि पहुँचती है। एक तो भिखारियों की वृहत् संख्या के कारण हर गॉव, शहर, गली, कूँचो तथा आम सड़को पर भिक्षुक दृष्टिगोचर होते है, जिसमे ऐसा लगता है मानो भारत सामान्य, सज्जन अथवा परिश्रमी व्यक्तियो का देश न होकर, भिखारियो का देश हो। विदेशी पर्यटक जब यहाँ लाखो की तादाद मे—अपाहिज-शरीर ही नही तरुण-तन लोगों को भीख माँगते देखते हैं, तो उनका विचार इस महान् राष्ट्र के प्रति बडे ही तुच्छ एवं निकृष्ट ही बनते है और वे अपने-अपने देशो मे संस्मरण के आधार पर भारत का बडा ही दीन-हीन चित्र अकित करते है, जिससे ससार मे इस देश का बडा अपयश होता है, उसका गौरव गिरता है।

भिक्षा को व्यवसाय बनाकर जीविका कमाने वालो को तो मानवता के आत्म-गौरव की ओर ध्यान देना ही चाहिये साथ ही दाताओ को भी अपनी अवैधानिक दानवृत्ति मे सुधार करना चाहिए। वे दान दे, किन्तु सत्पात्र को ही अथवा कुपात्र या अनाधिकारी को दान अथवा भिक्षा देने का अर्थ है-व्यक्ति के साथ, राष्ट्र के आत्म-गौरव को पतनगामी बनाने मे सहायक होना। किसी की आत्मा को पतन की ओर प्रेरित या प्रोत्साहित करना एक पाप है, जिससे स्वयं प्रेरक की आत्मा भी प्रतिफल से प्रभावित होकर पतित हो जाती है। दाता अथवा याचक जो भी भिक्षावृत्ति को प्रोत्साहित करता है, निश्चय रूप से राष्ट्रीय अपराध के साथ-साथ आत्मिक पाप करता है, जिससे अब बचने और बचे रहने मे ही द्विविधि कल्याण है।

भिक्षावृत्ति की उपेक्षा की जाय

विदेशो मे भारतवर्ष का एक विशेषण यह भी है—'भिखारियो का देश।' सारे देश मे ५६ लाख लोग विधिवत् भिक्षा-व्यवसाय पर आश्रित है। कुछ परिवार ऐसे है, जिन्होंने इसे पैतृक व्यवसाय के रूप मे स्वीकार कर लिया है। कुछ परिवार ऐसे है, जिनकी आय ७०० रुपये से भी ऊपर है। कुछ भिखारियो के

पोस्ट-ऑफिस, बैंकों मे बचत के विधिवत खाते तक है।

भिक्षावृत्ति ने इस राष्ट्र का भारी अहित किया है। 'धर्म का त्याग कर दिया है' इस तरह कहकर भिखारी लोगों ने अपना सम्बन्ध धर्म से और जोड़ लिया है, फलस्वरूप लोगों की अन्ध-श्रद्धा का जमकर लाभ मिलता है, समझ में नही आता पर इतनी बड़ी जनसंख्या जो बिना परिश्रम किये अपने पेट भरती है, अर्थव्यवस्था की दृष्टि से बोझ ही है। भिखारियों को दिया जाने वाला धन यदि बचाया जा सके तो देश की पूरी सेना के लिए विशाल 'सुरक्षित अन्न क्षेत्र' बनाया जा सकता है।

दण्ड-विधान सहिता के अनुसार भिक्षा व्यवसाय आवारा लोगों का अर्थ माना गया है। ऐसे लोगों के कानूनी तौर पर दण्ड देने की व्यवस्था है। सार्वजनिक स्थानों पर भीख माँगने पर रोक लगाने के लिये अधिनियम भी बने है पर चूँकि उन्हे धर्म के नाम पर प्रोत्साहन मिलता है, इसलिये भीख माँगने वालो की भीड कम नही होती। अभी तक यह खाद्य समस्या और आर्थिक दृष्टि से ही अहित करता था पर अब जो तथ्य प्रकट हो रहे हैं, उनसे यह प्रकट होता है कि भिखारियो मे सैकड़ो अपराधो को प्रश्रय देने और छिपाने वाले है। कुछ दुष्ट लोग तो भिक्षा-व्यवसाय चलाने के लिए बच्चो को पकड ले जाते है और उनको अंग-भंग कर भिक्षा माँगने को विवश करते है।

भिक्षा-वृत्ति करवाने के उद्देश्य से जो व्यक्ति बच्चो को उठा ले जाते है, उनके विरुद्ध कड़ी कार्यवाही करने के लिए भारत सरकार को १९५० मे एक अधिनियम भी पास करना पडा। बच्चो के अग-भग के अपराध मे आजीवन करावास तक दण्ड देने की व्यवस्था है पर चूँकि भिखारियो को सार्वजनिक उपेक्षा, उदासीनता और अवहेलना का समुचित दण्ड नही मिलता, इसलिये यह व्यापार पहले से कम नही हुये विकसित ही होते रहे है।

भिक्षा-व्यवसायियो के कुछ स्तर तो अत्यन्त ही घृणित और समाज को वाम-पन्थी दिशा देने वाले है। सीधे-सादे ढंग से रोटी, आटा, पैसा, कपडा आदि माँगते है उनकी अपेक्षा कुछ चतुर भिखारी ऐसे होते है, जो अपने को विपत्ति-ग्रस्त, बाढ़-पीड़ित, चोरी हो गई है, जेब कट गई है, लड़की के विवाह के लिए धन चाहिये-इस तरह से लोगों की सहानुभूति प्राप्त कर पैसा ठगने का कार्य करते हैं।

. अन्ध-विश्वास को एक स्थान से दूसरे स्थान तक पहुँचाने का पाप इन काहिल भिखारियों और दूसरों की कमाई पर जीवित रहने वाले बाबाओं ने ही किया है। यह लोग कहीं ज्योतिषी बनते, कहीं वैद्य गुनियाँ बन कर लोगों की आध्यात्मिकी आस्थाओं का हनन करते और अन्ध-विश्वास के बीज बोते हैं। पलायनवाद की इस परम्परा ने अकेले ही जितना हिन्दू-धर्म और समाज का अपमान और पतन किया है, उतना अनेक कुरीतियों ने मिलकर भी नही किया।

इसलिये हर प्रबुद्ध व्यक्ति का यह कर्तव्य है कि वह भिखारियों की उपेक्षा करे, उन्हें भीख न दे। किसी भिखारी का भूख से तड़पकर मर जाना अच्छा है पर भीख देकर उन्हें दुष्कर्म की प्रेरणा देना तो दोहरा पाप है, एक स्वयं भिखारी के प्रति दूसरा समाज के प्रति। जो भीख देते हैं, वह समाज पर आर्थिक बोझ और अपराध बढ़ाने का पाप करते हैं, उससे बचना और देश को कर्मठ, स्वाभिमानी परिश्रमशील बनाने में सहयोग देना, अब हम सबका कर्तव्य होना चाहिये।

मृतक-भोज से किसी का कुछ लाभ नहीं

समय के अनुसार जो समाज अपने अनुपयोगी, अनावश्यक एवं अहितकर रीति-रिवाजो का त्याग नही करते वे बदलती और बढ़ती हुई दुनियाँ में ज्यादा दिन नही टिक पाते। शीघ्र ही अपनी कुप्रथाओ के नागपाश में जकड़े हुए दम तोड़ देते है।

अपने भारतीय समाज मे न जाने कितनी अनुपयुक्त प्रथा परम्पराये नागपाश की तरह लिपटी हुई है, जिसके कारण वह प्रगति पथ पर वांछित गति से अग्रसर नही हो पा रहा है। इस समय अनेक हानिकारक प्रथाओ की तरह एक मृतक-भोज की प्रथा भी है।

यह मृतक-भोज की अनावश्यक प्रथा इतनी खर्चीली है कि लोगो की आर्थिक स्थिति ही बिगाड देती है। इसमे मित्रो के साथ जाति-विरादरी के लगभग सभी लोगों को खिलाना-पिलाना पडता है। ऐसा नहीं

कि यह खिलाना-पिलाना दिवंगत आत्मा के क्रिया कर्ताओं की अपनी मर्जी पर निर्भर हो। यदि वह चाहे तो मृतक-भोज करें और यदि उनकी इच्छा न हो तो न करें।

यह एक अनिवार्य प्रथा है। इसमें किसी की मर्जी का कोई महत्व नही। जिसका कोई सम्बन्धी मर गया है, उसे उसके शोक के साथ मृतक-भोज का दण्ड भोगना ही होगा। उसको सजातीय लोगों को खिलाना-पिलाना ही होगा। फिर इसके लिए किसी की आर्थिक स्थिति अनुमति देती है या नहीं, इस प्रथा में इस विषय के लिए कोई भी गुञ्जायश नही है। पैसा हो तो और पैसा हो तो मृतक-भोज तो देना ही पड़ेगा। घर का जेवर बेचो, मकान रहन करो, कर्ज की भीख मागों और मृतक भोज दो। नही तो विविध विधि लाँछनाओ से तिरस्कृत किया जायेगा। जाति बाहर तक कर दिया जायेगा।

ऐसी दशा में तिरष्कार की दुर्गति से बचने के लिए लोगों को अपनी बर्बादी आमन्त्रित करके मृतक-भोज के लिए पैसा जुटाकर उक्त कुप्रथा का पेट भरना पड़ता है। मतृक-भोज की अपव्ययी प्रथा से अमीर-गरीब किसी भी व्यक्ति का छुटकारा नही। सबको समान रूप से इसका पालन करना ही पड़ता है।

अमीर लोगों अथवा ऊँची हैसियत वालो की तो बात ही छोड़ दीजिये। आज के महँगे दिनो मे जहाँ गरीब और अधिक गरीब होता जा रहा है, वहाँ अमीर की तिजोरियाँ चौड़ी होती जा रही हैं। अमीर और साधन सम्पन्न व्यक्तियो के पास तो आमदनी की कोई कमी नही रहती। मृतक-भोज जैसी खर्चीली प्रथा उनके लिए एक साधारण बात हो सकती है। किन्तु किसी समाज अथवा जाति मे इस प्रकार के अमीर व्यक्ति कितने होते है ? अधिक से अधिक चार-छ. प्रतिशत बाकी नब्बे-पिचानवें प्रतिशत तो ऐसे लोग ही होते हैं, जिन्हे परिवार की अनिवार्य आवश्यकताये ही पूरी करने मे कठिनाई होती रहती है। इस नब्बे-पिचानवे प्रतिशत मे आधे से अधिक ऐसे व्यक्ति होते है, जिन्हें रोज कुआँ खोदना और रोज पानी पीना होता है। इस प्रकार अमीरो के योग्य मृतक-भोज जैसी खर्चीली प्रथा पाँच कम शत-प्रतिशत लोगो की अभावग्रस्त स्थिति को किस दयनीय दशा में बदल देती होगी, इसकी कल्पना मात्र करने से ही विचारवान लोगों का हृदय भर उठता है।

कहना न होगा कि समाज अथवा जातियो में जितने भी खर्चीले प्रचलन चल रहे हैं, सब अमीरो के चलाये हुए चोचले ही हुआ करते हैं क्योकि अपव्ययी प्रदर्शनों तथा परम्पराओ के बहाने ही अमीरों को अपनी अमीरी दिखाने और उससे समाज अथवा जाति-विरादरी को प्रभावित करने का अवसर मिलता है। किसी धनी व्यक्ति का धन जब तक लोगो को प्रभावित नही करता उसके अहं को संतोष नही होता।

अमीरो के सिवाय गरीब आदमी धन साध्य किसी प्रथा-परम्परा की कल्पना भी नही कर सकता। यदि वह किसी योजना की कल्पना करेगा भी तो अपनी हैसियत और औकात के क्षितिज तक। पैसे भर की सामर्थ्य रखने वाला रुपये तक की तैयारी सोच ही नही सकता। इस प्रकार की सारी खर्चीली खुराफाते आलसी अमीरों के दिमाग की ही उपज हुआ करती है। पैसे के लिये उनको कोई विशेष कष्ट तो उठाना नहीं पड़ता। अनाप-शनाप आमदनी होती रहती है, इसलिये नामवरी के लिए खर्च करने मे कोई पीड़ा भी नही होती।

इसके साथ एक बात यह भी होती है कि धनी व्यक्ति अपनी जाति-विरादरी, समाज अथवा वर्ग के जन्म-जात नेता से ही हुआ करते है। साधारण लोग उन्हे अपनी जाति अथवा वर्ग का गौरव मानते है और उसी भावुकता मे उन्हे अपना अगुवा भी मान लेते है। अस्तु अपनी नेतृत्व भावना को चरितार्थ करने के लिए वे अपने प्रदर्शनपूर्ण चोचलो को जातीय नियम मान लेन के लिए तरह-तरह से मजबूर भी कर लेते है। इस प्रकार जब उनके चोचले एक प्रथा बन जाती है, तब इस अपवाद का भय नही रहता कि वैसा करने मे लोग उन्हे अभिमानी धन की शान दिखलाने वाला, अपने जातीय व्यवहारों मे अपनी खिचड़ी अलग पकाने वाला कहेगे। साथ ही जब उक्त प्रथाओ के अवसर पर वे तो उसके खर्चे को आसानी से वहन करते रहेगे किन्तु साधारण श्रेणी का व्यक्ति जब उसके दबाव से पिसने लगेगा, तब वह कितना ही स्वाभिमानी अथवा गुणी क्यों न हो उनकी आर्थिक क्षमता के सामने मुँह फैला

देगा और सहायता के लिए उनके पास दौड़ेगा और तब इस प्रकार योग्यताओ एवं गुणों पर धन को हावी रहने और समाज का नेतृत्व साथ में बनाये रखने का अवसर बना रहेगा। इसके अतिरिक्त एक लाभ और भी इस प्रकार की खर्चीली प्रथायें चलते रहने और उनका पालन करते रहने की मजबूरी से है कि कोई भी साधारण व्यक्ति आर्थिक दृष्टि से पनपकर उसके सम कक्ष नही आ सकता वह जो कुछ समय तक कमायेगा बचायेगा तब तक कोई एक अपव्ययी प्रथा आकर उसे खाली हाथ कर जायेगी। इस प्रकार उनकी अमीरी अधिक से अधिक अप्रतिम एवं निर्द्वन्द्विनी बनी रहेगी। भोले-भाले साधारण लोग अमीरो की इन गहराईयो को समझ नही पाते और कुछ अपने बडे लोग करते हैं, वही हम लोगो को भी करना चाहिए।" की भावुकता मे पडकर उनके चोचलो को सामाजिक अथवा जातीय प्रथा परम्परा के रूप मे अंगीकार करके उसके गुलाम बन जाते है। इस प्रकार अपने हाथ से अपने गले मे बर्बादी का नागपाश डाल देते है। इसलिये हर आदमी को असदिग्ध रूप से यह विश्वास कर लेना चाहिए कि कोई भी खर्चीली प्रथा परम्परा, फिर उसके साथ धर्म का ही नाम क्यो न जुडा हो, किसी अवसर पर किसी धनवान का दिया हुआ चोचला मात्र ही होता है, जिसे जन साधारण ने भावुकता अथवा अज्ञानवश देखा-देखी अपना लिया है। धर्म और आर्थिक अपव्ययिता का कोई सम्बन्ध नही होता है। धर्म का आधार सादगी, मितव्ययिता, सामान्यता, निरहकारिता, सार्वजनिकता एवं निर्विकार भावना ही हुआ करती है। कष्टकर व्यवस्था अथवा आर्थिक आयोजनों का धर्म-कर्म से रत्ती भर भी सम्बन्ध नही होता। वास्तविकता धार्मिकता से उसका कोई सम्पर्क नही हो सकता।

शोक-सम्वेदना के लिए घर आये हुए इष्ट-मित्रो को शिष्टाचार के नाते, यद्यपि उस समय न तो उसकी आवश्यकता होती है और न वह उपयुक्त होता है, जलपान के लिए पूछना किसी हद तक समझ में आता है किन्तु इतने बड़े भोज का आडम्बर किसी प्रकार भी समझ में नही आता।

लोकप्रियता पाने के लिए यदि कोई इस प्रकार के भोज करने लगे तो लोग उसे अहंकारा, अपव्ययी, प्रदर्शनवादी न जाने क्या-क्या कहने लगेगे। कहीं-कहो तो मृतक-भोज में धार्मिकता के नाम पर लोग अपना काम बना जाते है। शादी बरातो मे तो लोग समय अभाव तथा स्वाभिमान के नाते जाने में कभी-कभी आनाकानी भी करते है किन्तु मृतक भोज जैसे शोकपरक आयोजनों में सम्वेदना के नाते अधिक से अधिक लोग आते और अमीरी के चोचले से प्रभावित एवं प्रसन्न होकर चले जाते है।

किन्तु दुर्भाग्य से अमीरी का यह चोचला प्रथा बनकर समाज के साधारण एवं निर्धन लोगो के गले की फाँसी बन गया है। यदि वे मृतक-भोज की इस भयानक प्रथा का पालन करते है तो बर्बाद होते हैं और यदि इन्कार करते है तो जाति बहिष्कृत समझे जाते है। इस संकट से बचने के लिए समाज के साधारण लोगों से ही अपील की जा सकती है कि वे सब अपनी आर्थिक बर्बादी बचाने के लिये अमीरों के चोचले इस मृतक-भोज की हत्यारी प्रथा को अमीरो का विषय मानकर साहसपूर्वक छोड दे। इसकी पीछे न तो कोई धार्मिकता है न शास्त्रीयता और न मृतात्मा का कल्याण। यह विशुद्ध रूप से एक प्रदर्शन है, एक आडम्बर है, जिसकी नकल करने मे अन्य लोगों पर ही कुप्रभाव पडता है।

मृतक भोज के सम्बन्ध में इस प्रकार भी सोचें

यह बात नितान्त सत्य है कि किसी मृतक व्यक्ति का सम्बन्धी मृतक भोज खुशी से नही देता। वह इस अनुचित एवं अपव्ययी दण्ड को मजबूरन सहन करता है—क्योकि समाज मे इसकी प्रथा चल रही है और वह एक सामाजिक व्यक्ति है, समाज की रीति-नीतियो का उल्लघन कर सकना उसके वश की बात नही है।

किसी अमीर आदमी की बात तो छोड़ दीजिए। वह अपने मरो के नाम पर कुछ भी खर्च कर सकते हैं, बाँट सकते है, लुटा सकते है। उनमें सामर्थ्य होती है। "समरथ को नहि दोष गुंसाई" के अनुसार उन्हे तो कोई भी प्रदर्शन एव शान-शेखी जेवा देती है। प्रश्न उन साधारण व्यक्तियों का है, जो दोनों छाक अपने बच्चो के लिये भोजन भी कठिनता से जुटा पाते है और जिनकी सख्या समाज मे अस्सी-नब्बे प्रतिशत से कम

नहीं होती। इस प्रकार की आर्थिक आत्महत्या का प्रश्न उन्हीं सामान्य लोगों के लिये ही है।

समाज में जब तक मृतक-भोज जैसी विनाशकारी प्रथा प्रचलित ही है, तब उसको किस प्रकार रोका जाये ? इस पर विचार करने से इसी निष्कर्ष पर पहुँचना पड़ता है कि मृतक-भोज खाने वालों को ही इसका प्रचलन रोकने के लिये उदारतापूर्वक तत्पर होना चाहिये।

जब किसी का कोई स्वजन मर जाता है, तब सामाजिक नियम उसे मृतक भोज देने के लिए तकाजा करता है। इस तकाजे मे परोक्ष रूप से उस जातीय बहुमत का दबाव रहता है, जो उसके यहाँ खाने के लिए जाने वाला होता है। यद्यपि यह बहुमत मृतक व्यक्ति के घर जाकर उसके सम्बन्धी से सीधे साधे भोज की माँग नहीं करता, तब भी उसकी यह माँग जातीय बहिष्कार के रूप में नग्न हो उठती है, जब कोई आर्थिक कठिनाइयों के कारण मृतक भोज नही दे पाता अथवा देने मे आना-कानी करता है। इस प्रकार यह दबाव खाने वालों की ओर से ही पड़ा करता है। यदि भोजन का लोभ छोड़कर जातीय बन्धु थोड़ी उदारतापूर्वक काम ले तो यह समस्या सहज ही हल हो सकती है।

इस मान्यता मे कोई तथ्य नही कि घर मे बहुत लोगों के भोजन करने से सूतक दूर होता है और घर पवित्र होता है। कई बार इसी मान्यता के कारण बहुत से भाई किसी एक भाई के घर जाकर और खाकर पविद करते हैं। यदि ऐसा ही हो तो एक बड़े भोज का दण्ड देने के बजाय किसी ऐसी वस्तु की व्यवस्था की जा सकती है, जिसमें किसी गरीब आदमी का बहुत कुछ खर्च न हो। ऐसी वस्तुओ से शक्कर या गुड़, शरबत जैसी वस्तुओं तक सीमित रहा जा सकता है।

पुण्य पर प्रभाव पड़ने के कारण ही अच्छे और सच्चे सन्त महात्मा किसी का दान लेने अथवा अन्न खाने से यथासम्भव बचा करते हैं। दान लेना और दान रूप अन्न को खाना पचाना सबके वश की बात नही है। इन दोनो चीजो का प्रभाव मनुष्य की आत्मा पर अवश्य पड़ता है, वह सुनिश्चित तथ्य एव सत्य है। किन्तु इसका प्रभाव इतने परोक्ष एवं सूक्ष्म रूप से पड़ता है कि साधारण विवेक का व्यक्ति उसे देख जान नही पाता। उसका पता तब चल पाता है, जब सारे संस्कार विकृत हो जाते हैं और मनुष्य अपने आचरण में एक बड़ा और विपरीत परिवर्तन पाता है। किन्तु तब तक प्रभाव इतना गहरा हो चुका होता है कि उसको मिटा सकना टेढ़ी खीर बन जाता है। यही कारण है कि बुद्धिमान लोग दान रूप अन्न को समझ-बूझकर ही खाते है।

यह व्यवस्था तो उस अन्न की है जिसमें देने अथवा खिलाने वाले की आत्मिक श्रद्धा तथा प्रसन्नता रहा करती है। इसके विपरीत जिस अन्य भोजन अथवा अन्न दान में देने वाले की श्रद्धा भक्ति तो दूर उल्टे पीड़ा पूर्ण आहे जुड़ी रहती हैं, उसके भयंकर प्रभाव का तो अनुमान ही नही लगाया जा सकता और निश्चय ही मृतक भोज का दण्ड भुगतने वाले की आत्मा के आँसू उसमें सम्मिलित रहते हैं। भले ही मजबूरन कोई प्रथा-पालन की विवशता में मृतक भोज दे और कितनी ही प्रसन्नता क्यो न दिखाये और खाने वालो को धन्यवाद देकर आभार प्रकट करें, पर वास्तविकता यही होती है कि यह सारा शिष्टाचार ऊपरी होता है। भोज देने वाला मन ही मन रोया करता होगा। एक तो जिसका कोई स्वजन मर गया हो दूसरे उसे ऊपर से अपनी सामर्थ्य के बाहर मृतक भोज जैसे आर्थिक दण्ड को भुगतना पड़े और तब जब किसी की मृत्यु मे उसका कोई अपराध नही, कोई हाथ नही, तो वह रोयेगा नही क्या हँसेगा, खुश होगा ? वह न सही उसकी मूक आत्मा अवश्य ही इसके लिये समाज को कोसेगी। इसलिये, इस प्रकार मृत्यु-भोज का अन्न किसी भी खाने वाले के लिये हितकर नही है।

इस पाप-पुण्य की सूक्ष्म बात को छोड़कर यदि साधारण सामाजिकता की स्थूल बात भी ले ली जाये तब भी मृतक भोज खाने की प्रथा उचित नही। अब आज के अर्थाभाव एवं महार्घता के समय मे किसी के मरने पर मृतक-भोज मे इतना धन खर्च कर सकना कौन बुद्धिमानी की बात है ? जहाँ कठिनता से नमक रोटी जुड़ती हो, वहाँ साधारण स्थिति का कोई व्यक्ति इतने रुपये किस प्रकार बचाकर रख सकता है कि शोक-सयोग आने पर वह घर से तत्काल निकालकर मृतक-भोज आदि में खर्च कर सके। निश्चय ही उसे इस प्रथा पिशाचिनी की भेट-पूजा के लिये कर्ज लेना होता है और एक बार एक सामान्य आदमी के लम्बी

रकम कर्ज लेने का अर्थ है अपने को आजीवन मूल तो दूर ब्याज के हाथ बेच देना। बच्चों के पालन-पोषण और परिवार के संचालन के लिए आवश्यक कमाई का अधिकांश नियमित रूप मे महाजन के हवाले करते रहना अथवा अपनी जमीन-जायदाद, गहने, बर्तन बेचने के लिए मजबूर होना। मृतक-भोज की प्रथा ग्रस्त लोगो पर यह आर्थिक आपत्ति आये दिन ही रहती है, जिसको सभी प्रथा पालक देखते-सुनते ही रहते है।

खेद का विषय है कि किसी एक विषय मे खुद तो लोग कुछ जानते नही, केवल ऑख मीचे हुये लकीर पीटे चले आ रहे है और यदि कोई विचारशील व्यक्ति उनकी हित चिन्ता से कुछ बताकर सुधार करने का परामर्श देता है तो सुधार करना तो दूर उसकी बात भी ध्यान से नही सुनना चाहते। इसे समाज का दुर्भाग्य नही तो और क्या कहा जा सकता है ? जिन समाजो के सदस्य इस प्रकार के प्रतिगामी समाजों के सुधार के लिये उसके जागरूक तथा सम्पन्न व्यक्तियो को आगे निकलकर सामाजिक मूढ़ता के विरुद्ध सुधार का अभियान छेड ही देना चाहिये।

समाज मे मृतक-भोज की कुप्रथा इसी प्रकार की प्रतिगामिनी विचारधारा के कारण ही अब तक चली आ रही है नही तो इसकी नि:सारता, निरर्थकता तथा अहितकारिता बहुत पहले सिद्ध हो चुकी है और लोग इसके दु:खद परिणामो से बहुत अधिक त्रस्त हो चुके है। अब यह कुप्रथा अन्ध-विश्वास के एक कच्चे सूत्र के आधार पर टिकी है। अब आवश्यकता केवल इस बात की है कि समाज के बुद्धिमान साहसी लोग इसका प्रचलन उठाकर मृत्यु भोज के बहिष्कार की नई स्वस्थ एव हितकर परम्परा का सूत्रपात कर दे। सूत्रपात भर की देर है बाकी समाज के लोग तो भेडचाल की आदत वाले होने से यो ही बहिष्कार करने लगेंगे। अब देखना यह है कि मृतक भोज के बहिष्कार का प्रथम सूत्रधार बनकर श्रेय कौन साहसी कहाँ और किस समय लेता है ?

असलियत वास्तव मे यह है कि अपने किसी स्वजन सम्बन्धी की मृत्यु पर किसी को प्रसन्नता होती नही, जिसमें वह इस प्रकार के भोज करने के लिये उत्साहित हो। यह मृतक-भोज वह खुशी से नही करता बल्कि उससे जबरदस्ती कराया जाता है। यदि मृतक-भोज खाने वाले भोजन करने को तैयार न हों तो किसी भी शोक-संतप्त व्यक्ति को उत्साह न होगा कि वह एक बड़ी दावत का आयोजन करे ही और लोगों को खाने के लिए सानुरोध आमन्त्रित करे। यदि लोग एक बार खाने से इन्कार करे तो भोज देने को विवश—मृतक का सम्बन्धी खुशी-खुशी दस बार अपनी बर्बादी बचाने को तैयार हो जाये और लोगों का आभार माने।

यदि एक बार किसी खुशी के अवसर पर कोई किसी भोज का आयोजन करता है और उसके इष्ट-मित्र सम्बन्धी तथा सजातीय लोग आने और खाने से इन्कार कर दें, तब तो अवश्य कुछ दु:ख का विषय हो सकता है। मृतक-भोज के लिये आने और भोजन करने से इन्कार किये जाने पर आयोजक के दिल दु:खने का कोई प्रश्न ही नही उठता। यह तो उसकी प्रसन्नता का प्रसंग होगा। स्वजन के शोक के साथ मृतक-भोज की अनावश्यक, अपव्ययता के दोहरे दण्ड से बचकर वह न जाने कितना खुश होगा ?

हाँ इसमे थोड़ी-सी यह बात अवश्य हो सकती है कि इस भोज के मृतक का सम्बन्धी स्वजनों एव जातीय लोगों के आगमन से अपने तथा अपने घर को पवित्र होने की जो धारणा रखता है, उसको कुछ ठेस लगेगी। इसके स्थान पर पवित्रीकरण के लिए थोडा कर्मकाण्ड एवं थोड़ा दान-पुण्य स्वेच्छापूर्वक किया जा सकता है।

अब मृतक-भोज के समर्थकों एव परिपालको को सोचना चाहिए कि वे अपने किसी सजातीय बन्धु पर मृतक-भोज देने के लिए दबाव डालकर कितना बड़ा अत्याचार करते है। किसी का घर बरबाद कर देना सामाजिकता अथवा सजातीयता इसमे है कि मृतक-भोज का दण्ड देने के बजाय अपने जातीय बन्धु को अधिक से अधिक सान्त्वना दी जाये, उसे न घबराने के लिए ढाँढ़स बँधाया जाये और यदि घर का संचालक दिवङ्गत हो गया है तो उसकी विधवा तथा बच्चो की यथासम्भव सहायता की जाये। चाहिए तो यह कि उसकी जाति-बिरादरी के लोग और बन्धु-बांधव अपने शोक-संतप्त भाई को सान्त्वना एव सहायता दें किन्तु लोग उससे मृतक-भोज लेकर मरे को और मार डालते हैं और यदि कोई इस दण्ड का

भार वहन नहीं कर पाता तो उसको जाति बाहर करके दीन-दुनियाँ के अयोग्य बना देते हैं।

अपने किसी सजातीय अथवा बन्धु-बान्धव की इस प्रकार उभय प्रकारेण हत्या ठीक नही। इससे सामाजिक एवं जातीय ह्रास होता है। बन्धु-वध जैसा पाप लगता है। अस्तु, आवश्यक है कि मृतक भोज खाने वाले इसे हर प्रकार से अनुचित समझकर इसका सर्वथा बहिष्कार करके समाज एवं जाति का उपकार करें।

वेश-भूषा की मनोवैज्ञानिक कसौटी

एक दो नही सम्पूर्ण ६ वर्ष तक उसने पार्कों, थियेटरों, छविग्रहों और दूसरे-दूसरे सार्वजनिक स्थानो के चक्कर काटे। एक नहीं हजारों फोटोग्राफ लिये और जिस-जिस के फोटोग्राफ लिये उन-उन के व्यक्तिगत जीवन का परिचय और अध्ययन किया। सोचते होंगे कोई व्यर्थ के कामों में समय गँवाने वाला फक्कड़, पर नहीं वह है लन्दन के एक प्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक--श्रीनेक हेराल्ड जिन्होने इतने वर्ष के अध्ययन से महत्त्वपूर्ण निष्कर्ष यह निकाला कि वेश-भूषा का मनुष्य के चरित्र, स्वभाव, शील और सदाचार से गहनतम सम्बन्ध है।

पुरुषों की तरह की वेश-भूषा धारण करने वाली नवयुवतियों का मानसिक चित्रण और उनके व्यवहार की जानकारी देते हुए श्री हेराल्ड लिखते है—ऐसी युवतियों की चाल-ढाल, बोलचाल, उठने-बैठने के तौर-तरीको में भी पुरुष के से लक्षण प्रकट होने लगते हैं। वे अपने आपको पुरुष-सा अनुभव करती है, जिससे उनके लज्जा आदि नारी सुलभ गुणों का ह्रास होने लगता है। स्त्री जब स्त्री न रहकर पुरुष बनने लगती है, तब वह न केवल पारिवारिक उत्तरदायित्व निवाहने मे असमर्थ हो जाती है वरन् उसके वैयक्तिक जीवन की शुद्धता भी धूमिल पड़ने लगती है। पाश्चात्य देशो मे दाम्पत्य जीवन में उग्र होता हुआ अविश्वास उसी का एक दुष्परिणाम है।"

श्री हेराल्ड ने अपना विश्वास व्यक्त किया कि भारतीय आचार्यों ने वेश-भूषा के जो नियम और आचार बनाये वह केवल भौगोलिक अनुकूलता ही प्रदान नहीं करते वरन् स्त्री-पुरुषो की शारीरिक बनावट का दर्शक पर क्या प्रभाव पड़ता है, उस सूक्ष्म विज्ञान को दृष्टि में रखकर भी बनाये गये है। वेश-भूषा का मनोविज्ञान के साथ इतना बढ़िया सामञ्जस्य न तो विश्व के किसी देश में हुआ न किसी संस्कृति मे, यह भारतीय आचार्यों की मानवीय प्रकृति के अत्यन्त सूक्ष्म अध्ययन का परिणाम था।

आज पाश्चात्य देशो मे अमेरिका में सर्वाधिक *भारतीय पोशाक साड़ी का तो विशेष रूप से आकर्षण* और प्रचलन बढ़ रहा है, इसी ओर अपने देश के नवयुवक और नवयुवतियाँ विदेशी और सिनेमा टाइप वेश-भूषा अपनाती चली आ रही है। यह न केवल अन्धानुकरण की मूढ़ता है वरन् अपनी बौद्धिक मानसिक एवं आत्मिक कमजोरी का ही परिचायक है।

यदि इसे रोका न गया और लोगों ने पैंट, कोट, शूट, बूट, हैट, स्कर्ट, चुस्त पतलून, सलवार आदि भद्दे और भोंड़े परिधान न छोड़े तो और देशों की तरह भारतीयों का चारित्रिक पतन भी निश्चित ही है। श्री हेराल्ड लिखते हैं—कि सामाजिक विशेषताओ को इस सम्बन्ध में अभी विचार करना चाहिये अन्यथा वह दिन अधिक दूर नही जब पानी सिर से गुजर जायेगा।

भारतीय दर्शन मे आत्म-कल्याण के लिये बहुत उपाय हैं, सैकड़ो योग साधनाये है वैसे ही लोक-कल्याण के लिये भी अनेक परम्पराये मान्यताये और आचार-विचार प्रतिस्थापित किये गये हैं, उन सबका उद्देश्य जीवन को सशक्त और सस्कारवान् बनाना रहा है। अब जो परम्पराये विकृत हो चुकी हैं उनमें वेश-भूषा भी कम चिन्ताजनक नहीं हमें अनुभव करके ही *नहीं इस मनोवैज्ञानिक खोज से भी सीखना* चाहिये कि अपनी वेश-भूषा ओछापन नही बड़प्पन का ही प्रतीक है। हाँ काले अँग्रेज और काली मैम बनना हो तब तो कुछ भी पहना और ओढ़ा जा सकता है।

वैज्ञानिक कसौटी पर फेल-आधुनिक फैशन

साइन्स डाइजेस्ट के लेख एक मे अमेरिकन मेडिकल एसोसियेशन के डा. लिंडा एलेन लिखते है—मुझे बड़ा कौतूहल उत्पन्न हुआ जब मैंने त्वचा रोग की चिकित्सा के आँकड़ो पर दृष्टि दौड़ाते हुये पाया कि वह अधिकांश किशोरों तथा युवा-युवतियो को ही अधिक मात्रा में हो रहे है। यह बिलकुल उल्टी बात

थी। इस विस्मय ने मुझे इस पर गम्भीरता से जाँच करने की प्रेरणा दी।

डा. ऐलेन की जाँच के निष्कर्ष फैशन की अन्धी दौड़-दौडाने वालों को चौंका देने वाले हैं। उनका कहना है कि शरीर को छूती तंग पोशाकें पहनने के कारण किशोरो तथा युवक-युवतियों के शरीर में रक्त त्वचा, पपड़ीदार—त्वचा शाथ, विन्टर इच तथा खुजली जैसे त्वचा रोग तेजी से बढ़ रहे हैं, उन्होने यह भी चेतावनी दी है कि यदि युवक-युवतियों ने तग पोशाकें पहननी न छोड़ी तो आगे त्वचा रोग एक भीषण समस्या बन सकता है, कुछ रोग तो असाध्य और वशानुगत तक हो सकते हैं।

वस्त्र पहनने मे स्वच्छता, सफाई और कला का ध्यान रखा जाये इसमें कुछ हानि नही, वरन् यह एक प्रकार से आवश्यकता है पर उसके साथ ही स्वास्थ्य सामाजिकता के विवेकपूर्ण पहलू भी उपेक्षित नही किये जाने चाहिए। वस्त्र पहनने का उद्देश्य जहाँ शरीर के उन अंगो को ढकना है, जो लोगों की मनोवृत्ति दूषित कर सकते हैं। वहाँ यह भी ध्यान रखना चाहिए कि स्वास्थ्य के नियमों का उल्लंघन न हो अर्थात् मौसम का प्रभाव सारे शरीर पर पड़ता रहना चाहिये। जिन शरीरों मे ताजी हवा का स्पर्श नही बना रहता, वे मौसम के थोडे से भी परिवर्तन सहन नही कर पाते। थोड़े-से ही परिवर्तन से शरीर गड़बड़ करने लगता है। भारतीय वेश-भूषा का निर्धारण इन बातो को ध्यान मे रखने के साथ-साथ कला की दृष्टि से भी उच्चकोटि का है किन्तु आज का फैशन उसे नष्ट कर देने पर तुल गया है। अब जो तंग कपड़े पहनने जाते है, वह शरीर में इस तरह मढे होते है कि उनसे काम अंगों के प्रति लोगो का आकर्षण बढ़ता है, लोगो मे मनोविकार उत्पन्न होते है, साथ ही उनके स्वास्थ्य पर भी बुरा असर पड़ता है। डा. ऐलेन का कहना है कि इन तंग कपड़ो के यान्त्रिक दबाव और शरीर की रगड़ से ही त्वचा रोग पैदा होते है। यह पहलू ही कम चिन्ताजनक नही है।

इन दिनो आस्ट्रेलिया में प्रैक्टिस कर रहे अँग्रेज डा. लैडन कोर्टिने ने भी फैशन शास्त्र पर खोज की और बताया कि मिनी स्कर्ट तथा दूसरे अस्वाभाविक वस्त्र पहनना न केवल शारीरिक विकास में बाधा उत्पन्न करता है वरन् उसके कारण मस्तिष्क में घबराहट और स्नायुविक तनाव बढ़ता है, जो उभरती पीढ़ी के लिये एक प्रकार का अभिशाप है, इससे किशोरों का बौद्धिक तथा भाव विकास रुकता है।

उन्होंने बताया है कि मिनी स्कर्ट पहनने वाली लड़कियों को सार्वजनिक स्थानों, ट्रेनों, बसों में एक टाँग के ऊपर दूसरी टाँग चढ़ाकर बैठना पड़ता है। अधिक क्रासिंग के कारण एवडक्टर पेशियाँ सिकुड़ जाती हैं, जिससे कद छोटा हो जाने की सम्भावनायें बढ़ जाती हैं। साथ ही इस तरह की अस्वाभाविक पोशाक पहनने वालों का अपने ही ऊपर ध्यान बना रहता है हर आगन्तुक के प्रति उनमें घबराहट-सी होती है, जो उनमें स्नायुविक दुर्बलता पैदा करती है। यदि नई पीढ़ी को इन दोषों से बचना है तो फैशन की बाढ़ को रोकना ही पड़ेगा। उसकी आज्ञा, संस्कृति ही नहीं विज्ञान भी नही देता।

फैशन का कलंक धो डालिये

यह बात सही है कि कोई भी मनुष्य नही चाहता है कि वह किसी दूसरे की दृष्टि मे भद्दा, कुरूप अथवा अनाकर्षक लगे। प्रत्येक व्यक्ति की यही इच्छा रहती है कि वह देखने वालों की नजरों मे समाये। लोग उसे देखकर अनुभव करें कि यह कायदे-करीने का विशेष व्यक्ति है। यथा-शक्य दर्शनीय बनने का लोग प्रयत्न भी करते है।

आकर्षक दिखाई देने की इच्छा अपने आप में कोई बुरी बात नही है। हर प्रबुद्ध प्राणी सौन्दर्य-प्रेमी होता है। जब हम या आप ऐसी वेश-भूषा में दीखते हैं, जो आकर्षक हो तो एक प्रकार से लोगों की सौन्दर्य दृष्टि को सन्तुष्ट करते है, उन्हें प्रसन्न करते हैं, जिससे सद्‌भाव एवं सौहार्द्र का वातावरण उत्पन्न होता है। समाज में स्वच्छता, सुन्दरता और समीचीनता की प्रवृत्तियाँ बढ़ती है। इसलिए भली प्रकार का रहन-सहन किसी प्रकार से आलोचना का विषय नही माना जाता।

किन्तु जब यही अच्छी बात अपनी अपेक्षित सीमा के बाहर चली जाती है, तब बुराई की संज्ञा पाकर आक्षेप का विषय बन जाती है।

आज ढंग से रहने-सहने का अर्थ फैशन मान लिया गया है। अधिक से अधिक प्रदर्शन के साथ

सजे-बजे रहने में ही सुन्दरता, सुरूपता तथा आकर्षण का निवास समझना आज की एक विशेष अल्पज्ञता है। अँग्रेजी का ज्ञान तो दूर-भाषा का भी एक अक्षर न जानने वाले निरक्षर व्यक्ति तक कोट-पैंट, टाई और हैट-बूट में देखे जाते हैं। जाने कितने लोग बेजरूरत सैर-सपाटे और दिखावे के ही लिए मोटरें, बग्घियाँ, हाथी, घोड़े आदि सवारियो को रक्खा करते हैं। अनेक बड़े आदमी अपनी मोटरकारों में रेडियो, ट्रान्जिस्टर लगाये हुये शहर की सड़कों पर बजाते हुए चले जाते हैं। ट्रान्जिस्टर रेडियो तो आज के भारतीय नौजवानो का 'बगल-बच्चा' बन गया है। जिसे देखो, बैग की तरह लटकाये, झोले की तरह कन्धे पर डाले, पुस्तक की तरह हाथ में लिए अथवा किसी बड़े पूजा-पात्र की तरह दोनो हाथो में सँभाले घूम रहा है, जबकि उनके पास उसका कोई उपयोग नही है। महज एक फैशन तथा दिखावा भर है। अन्य नागरिकों को तो छोड़ दीजिए न जाने कितने रिक्शे, ताँगे वाले, ट्रांजिस्टर सेटो को अपने ताँगों तथा रिक्शो में लटकाये दीखते है। इस प्रकार के बचकाने, फैशन बनाने अथवा प्रदर्शनो में लोग कौन-सा सौन्दर्य और कौन-सी विशेषता समझते हैं ? उन्हे अपने तथा अपनी इन क्रियाओ के बीच असंगति का भी तो बोध होता नजर नही आता। वे यह बात तनिक भी तो अनुभव नहीं कर पाते कि उनका यह मूर्खतापूर्ण प्रदर्शन उनको उपहासास्पद बना देता है।

पहनावो तथा कपड़ो का फैशन तो आज पराकाष्ठा से भी आगे निकल गया है। कपड़ो की किस्मों की यदि आज सूची बनाई जाये तो वह एक बड़े पुराण से भी मोटा ग्रन्थ बन जायेगा और इससे भी मोटी वस्त्रो की सिलाई के प्रकारो की सूची बनेगी। आज शायद ही कोई ऐसा बदकिस्मत फूल अथवा फिल्म ऐक्टर-ऐक्ट्रैस हो। इतना ही नही साधु-सन्तो के रामनामी दुपट्टो की तरह अभिनेताओ के नामांकित कपड़े पहनने में लोग गौरव अनुभव करते है। फिल्मो के दृश्य तक आज नौजवानों के वस्त्रों पर अंकित देखे जा सकते है। जहाँ कभी अधिक से अधिक कपड़ो पर फूल-पत्तियाँ हंस, मयूरो अथवा पेड़-पौधो की छाप हुआ करती थी और जिनको भी भद्र लोग पसन्द नही करते थे, वहाँ आज अश्लील फिल्मो के अश्लील चित्र छपे दिखलाई देते हैं और नौजवान नागरिक उन्हें शौक से पहनते और शान समझते हैं, न जाने क्या हो गया है इस भारत को—भारत के नौजवान वर्ग को ?

आज का भारतीय नौजवान यह क्यो नही सोच पाता कि उसका देश गरीब है, आज उसे उसकी फैशनपरस्ती की आवश्यकता नही है, उसे जरूरत है उसकी मेहनत, मशक्कत और परिश्रम-परिशितस की ! उसे इस बात से आत्मग्लानि क्यों नही होती कि आज उसका अधनंगा भूखा राष्ट्र अन्य राष्ट्रो से अन्न की भीख माँग रहा है और वह इस प्रकार के फिजूलखर्च फैशन प्रदर्शन में अन्धा बना हुआ है ! वह यह जानने समझने की कोशिश क्यों नही करता कि वह जिस देश का नागरिक है और जिसके उत्थान पतन का कुछ दायित्व उसके कन्धों पर भी है, उसकी औसत आय पाँच-छः आना प्रतिदिन से अधिक नही है। आज उसके टूटी सड़कों और फूटे मकानों वाले देश मे टैरालीन, डेकरौन और नाइलौन जैसे कपड़ो की क्या शोभा है ? धूल उड़ाती गलियों और दुर्गन्धित बस्तियों के बीच उसके इन वस्त्रों की क्या संगति है ?

आज के इन जलते राष्ट्रीय सत्यों को भारतीय नौजवान वर्ग नही समझ पा रहा और न वह तब तक समझ ही पायेगा जब तक प्रयत्नपूर्वक उसके मस्तिष्क मे यह विचार नही भरे जायेंगे कि फैशनपरस्ती मानसिक न्यूनता का द्योतक है, आन्तरिक दरिद्रता का विज्ञापन है। उसका यह विचार कि बनाव-शृंगार अथवा प्रदर्शनपूर्ण, वेश-विन्यास से वह अपने व्यक्तित्व को ऊँचा कर रहा है—भ्रमपूर्ण है। बाहरी आडम्बरों से विरचित व्यक्तित्व स्वय इसका गवाह है कि व्यक्ति व्यक्तित्वहीन है, ओछा और बालवृत्ति वाला है। मनुष्य का व्यक्तित्व आत्मा की उच्चता है, जो चेहरे पर आकर्षण बनकर बोलती है। वस्त्रों की तड़क-भड़क व्यक्तित्व की छटा नही है और न उससे किसी के हीन व्यक्तित्व मे महानता का समावेश ही होता है। उसे यह भ्रान्त धारणा हृदय से निकाल देनी चाहिए कि वेशविन्यास की विलक्षणता उसे विलक्षण सिद्ध कर सकेगी। मनुष्य के व्यक्तित्व का विकास विद्या, बुद्धि तथा आत्मा की उत्कृष्टता का अनुगामी है। व्यक्तित्व विकास के लिये कपड़ो-लत्तो का सहारा लेना एक घातक फिजूलखर्ची है। इस प्रकार के सार्थक विचार

विश्वास से ही नवयुवक वर्ग कुछ सोचने-समझने में समर्थ हो सकेगा, नही तो आधुनिकता के अपनाने मे वह प्रदर्शन की मरु-मरीचिका में ही भटकता रहेगा।

आज किसी भी देश के नागरिको के लिए किसी भी देश के द्वार बन्द नही है। सब जगह जा सकते हैं। किसी देश की कोई भी बात किसी से छिपी नही है। संसार के उन्नतिशील देशो के नागरिक जब भारत के निरक्षर लोगो को सूट, पैंट पहने और टाई, चश्मा लगाये देखते होगे तो उनकी बालबुद्धि पर हँसते हुए क्या यह न कहते होगे कि आज के सभ्य युग मे भी भारतीय कितने असभ्य है कि वे पहनने ओढ़ने की आवश्यकता तथा चीजों के उपयोग का भी ज्ञान नही रखते। जब किसी प्रगतिशील देश वाले यहाँ के लोगों को फटी चप्पल, सिकुड़ी पैन्ट पहने और हाथ मे ट्राजिस्टर लटका देखते होगे तो क्या मन ही यह उपहास से न मान जाते होगे कि भारतीय अत्यधिक महत्वपूर्ण उपयोग की चीज को भी खिलौना समझते है और कोई आवश्यकता न होने पर भी उसे बचकाने मोह के साथ हाथ मे लिए घूमते है। वे यह भी नही जानते कि किसी चीज का अपना एक मूल्य, महत्त्व तथा समय होता है, उसका अपना एक स्थान होता है।

भारत के नागरिको की कारों, मोटरसाइकिल और यहाँ तक कि रिक्शो, ताँगो में गाते हुए रेडियो सेट तथा ट्रांजिस्टरो को देखकर संसार का कौन-सा देश इस बात पर विश्वास कर लेगा कि भारत एक गरीब देश है और मित्रो की सहायता का अधिकारी है ? और यदि वह उसको गरीब समझकर उसके कारणो पर सोचेगा तो इसी निष्कर्ष पर पहुँचेगा कि भारत की गरीबी के प्रमुख हेतुओं में से एक उसके नागरिकों की, फैशनपरस्ती और फिजूलखर्च है। यह एक राष्ट्रीय अपमान है, देश की गौरव-गरिमा पर लांछन है। इस पर हम सबको और खासतौर पर भारतीय नौजवानों को गम्भीरता से विचार ही नही करना है बल्कि अपनी बालवृतियों में सुधारकर कलंक मिटाने का प्रयत्न करना है। यदि हम कपड़ों-लत्तों में फैलसूफ हैं तो अपने परिवार वालों अथवा परोक्षरूप से अपने अनेक देश-बन्धुओं को नगा रहने पर मजबूर करते हैं।

सुन्दरता, वस्त्रों अथवा वेश-विन्यास की विचित्रता अथवा अपव्ययता में नहीं है, वह व्यवस्था एव करीने मे है। मोटे तथा सस्ते कपड़े भी यदि ठीक सिले-धुले और पहने गये है तो वे मनुष्य के व्यक्तित्व में चार चॉद लगा देगे। अपनी तथा अपने देश काल के अनुसार ही रहन-सहन रखना बुद्धिमानी, भद्रता तथा सज्जनता है। फैशन के नशे में सब कुछ समझने पर भी पैसा खोना सरासर नादानी है। उस पैसे को बचाकर हम सबको अपने-अपने परिवार तथा राष्ट्र की उन्नति पर खर्च कर जीवन से प्रदर्शन का कलंक धो डालने मे ही कल्याण है, शोभा है।

केश, वस्त्र और वेश सभ्यों जैसे रखिये

बाल-बुद्धि के लोग शारीरिक सौन्दर्य और रूप का आकर्षण बढ़ाने के लिये तरह-तरह से वेश-विन्यास और रूप-सज्जा किया करते हैं। सम्भव है इससे उन्हें कुछ क्षणिक सफलता मिलती हो, किन्तु इस प्रकार का भड़कीला वेश-विन्यास और बाहरी चमक बढ़ाने मे मनुष्य के चरित्र का पतन ही हुआ है। विचित्र प्रकार की वेश-भूषा, विदेशियों, की नकल अच्छे व्यक्तित्व का प्रतीक नही हो सकती। प्रत्येक देशकाल और परिस्थिति के अनुसार जहाँ संस्कृति रीति-रिवाज और सामाजिक आचार-संहिता मे एकता नही होती वैसे ही अपने धर्म, अपनी संस्कृति के अनुरूप केश, वस्त्र और वेश-भूषा से मनुष्य के चरित्र और आत्मिक बल का अनुमान किया जाता है। इस दृष्टि से अपनी भी एक प्रणाली है, उसी में सीमित रहने मे हमारा बड़प्पन, सादगी, शालीनता तथा सांस्कृतिक गौरव माना जा सकता है।

बालो से मनुष्य का व्यक्तित्व समझ में आता है। मनुष्य की उजड्डता, ओछापन और चारित्रिकहीनता की झलक भी बालो से मिलती है। छोटे-छोटे कटाये हुए बाल मनुष्य की योग्यता प्रकट करते है। सुव्यवस्थित ढंग से रखाये गये बाल व्यक्त करते हैं कि व्यक्ति का स्वभाव, आचरण सामान्य व्यक्तियो की अपेक्षा कुछ अधिक सुन्दर होना चाहिये किन्तु बड़े-बड़े बाल, अस्त-व्यस्त और बिखरे हुए बालों से मनुष्य का ओछापन जाहिर होता है। इससे मस्तिष्क के ज्ञान तन्तु दुर्बल पड़ जाते हैं। लम्बे बाल यदि ठीक प्रकार तेल डालकर और सवार कर न रखे जायँ तो सिर मे मैल जमा हो जाता है और फुन्सिया तथा गजापन का रोग उत्पन्न हो सकता है। इस तरह केश केवल व्यक्तित्व

की दृष्टि से ही महत्वपूर्ण नही हैं बल्कि उनका स्वास्थ्य के साथ भी अटूट सम्बन्ध है।

कुछ लोगों को यह भ्रम होता है कि धार्मिक दृष्टि से लम्बी जटाये रखना बड़प्पन का चिह्न है। ये आदर्श वे साधु-सन्तो और साधकों से अनुकरण करते हैं। सम्भव है जब केशकर्त्तन प्रारम्भ न हुआ तो लोग ऐसा करते हो या साधनाओं की शोध में इन छोटी-छोटी बातों से समय बचाकर अधिक समय आध्यात्मिक शोधों मे लगाने की आवश्यकता रही हो—तब लम्बी जटाओं को कुछ महत्व दिया जाता रहा हो। पर अब जब न तो ऐसे साधु-संत और महात्मा रहे और न ही उनके कटाने में किसी परेशानी का सामना करना पड़ता है तो लम्बे बाल रखने की कोई उपयोगिता समझ मे नही आती। सिर में व्यर्थ का बोझ बनाये रखना बुद्धिमानी की बात नहीं हो सकती। हलके छोटे बालो के सिर साफ और ज्ञान तन्तु ताजे बने रहते हैं। इससे सात्विकता बनी रहती है। बड़े बाल तमोगुण का प्रतीक होते हैं। इसी प्रकार बालों को तरह-तरह से स्त्रियो के समान काढ़ना और विचित्र तरह की आकृति बनाना भी बुरा है।

वस्त्रों के बारे मे भी ठीक ऐसी ही बात है। भारतीय संस्कृति की सर्वोपरि विशेषता यही रही है कि यहाँ जीवन की प्रत्येक क्षेत्र मे सादगी को ही अधिक महत्त्व दिया गया है। यह विशेषता वस्त्राभूषण के साथ भी जुड़ी हुई है। पिछले दिनो हमे जो यवनो और अँग्रेजों की दासता भुगतनी पड़ी, उससे हमारे सम्पूर्ण आचार-विचार ही परिवर्तित हो गए है। यह परिवर्तन खान-पान, रहन-सहन, बोल-चाल आदि सभी में समा गया है। वस्त्र भी आज हमारी सास्कृतिक विशेषता, गौरव, जलवायु आदि के अनुरूप नही हैं।

भारत उष्ण प्रकृति का देश है अतएव वस्त्रो की अधिकता की यहाँ कोई आवश्यकता प्रतीत नही होती। पूर्व पुरुषो के चित्रो से यह विदित होता है कि ऋषि-मुनि, सन्त, गृह-त्यागी, गृहस्थ व राजा लोग भी प्रायः उतने वस्त्र धारण करते थे, जो सदाचार और शील सरक्षण के लिये आवश्यक होते थे। विशेष प्रकार के वस्त्र पहनने की परम्परा थी। अधिकांश लोग अपने शरीर का अधिक से अधिक हिस्सा खुला रखते थे ताकि वे ऋतुओ के प्रभाव को आसानी से बर्दाश्त कर ले।

वस्त्र पहनने की जो परम्परा पूर्व पुरुषो की थी वह ही सरल और उपयोगी रही है। धोती, कुर्ता आदि का चयन सादगी और सरलता की दृष्टि से भी श्रेष्ठ रहा है और इसका सम्बन्ध स्वास्थ्य की स्थिरता से भी रहा है। किन्तु खेद की बात है अब वस्त्रों की दृष्टि से हमारी सांस्कृतिक-श्रेष्ठता लुप्त प्रायः हो चुकी है। पूर्णतया विदेशियो का अनुकरण हो रहा है।

पैन्ट और चूड़ीदार पायजामा, टोप, टाई आदि का प्रचलन सर्वथा अभारतीय है। ये यहाँ की जलवायु के अनुरूप भी नहीं है और इससे भद्रता भी प्रकट नही होती है। अब लोग है कि पैण्ट के साथ वे हर घड़ी कितनी गन्दगी साथ लिए घूमते है ? इसका स्वास्थ्य पर कितना बुरा असर पड़ता है ? दूसरे जो वस्त्र चुस्त होते है और जिनसे शरीर का उभार ज्यों का त्यों दिखाई देता है, वे अधिकाश वासना और कामुकता भड़काने वाले होते है। बनियान, कमीज, सूटर और कोट—एक के ऊपर एक—अनेक कपड़े पहन लेने से बेचारे शरीर की दुर्दशा होती है। चुस्त कपड़े स्वास्थ्य की दृष्टि से अच्छे नही माने जाते। नैसर्गिक रूप से शरीर को हर क्षण शुद्ध हवा मिलती रहनी चाहिये। यदि ऐसा न हुआ तो रोमकूप गन्दगी से भर जाते हैं और कोमल स्थानो मे हर घड़ी सीलन बनी रहने के कारण दाद, खाज, अकौता, फोड़ा और फुन्सियाँ बनी रहती है। किसी भी अवस्था में देश काल की परिस्थितियो के प्रतिकूल वस्त्र नुकसान देह ही हो सकते है।

अब यह बुराई स्त्रियो के जीवन मे प्रवेश करती जा रही है, यह एक चिंतनीय विषय है। स्त्रियो का आधुनिक पहनावा इतना फूहड़ और भड़कीला हो रहा है कि हर शर्मदार की आँखे नीची हो जाती है। दुराचार को प्रोत्साहन देने मे सिनेमा, नाच, अश्लील गाने जितने सहायक हो रहे हैं—वस्त्र-सज्जा, उससे कही अधिक ही है। बच्चियाँ अब उन वस्त्रो की ओर अधिक आकर्षित होती है, जो विचित्र प्रकार के रंग-रगीले तथा आधे छोटे होते हैं। स्त्रियों के वस्त्र ऐसे होने चाहिये, जिनसे उनका अधिकांश शरीर ढका रहे किन्तु वस्तुस्थिति इससे सर्वथा विपरीत है। यह बड़ी

चिन्ता की बात है। अब इसमें तीव्रता से परिवर्तन की आवश्यकता अनुभव की जा रही है।

स्त्रियो की भारतीय वेशभूषा को अन्तर्राष्ट्रीय प्रतिष्ठा प्राप्त है। अतः यह नहीं कहा जा सकता कि उनकी पोशाक किसी भी देश की महिलाओं से निकृष्ट है। आज जहाँ साड़ी और पूरी बाँह के सलूके का प्रचलन दूसरे देशो मे बढ़ रहा है, वहाँ यह सबसे अधिक आवश्यक है कि अपनी परम्पराओ का अनुशीलन पहले घर मे ही हो। हमारी बहिनो और बेटियो को इस बात पर अधिक ध्यान देना चाहिये और वस्त्रों की सादगी अपनाने का प्रयत्न करना चाहिए। यह सयम उन बालिकाओ को अधिक सिखाने की आवश्यकता है, जो इस समय शिक्षा के क्षेत्र मे बढ़ रही है क्योकि महिलाओ की भावी बागडोर उन्ही के हाथो मे आने वाली है।

स्नो आदि के उत्पादन मे तेजी से जो वृद्धि हो रही है, उससे और भी चिन्ता हो रही है। स्नो का १९५६ में ९१४४५० पौण्ड उत्पादन हुआ, जो दूसरे वर्ष १०८१८८९ पौण्ड हो गया। इससे यह पता चलता है कि मनुष्य अपने वेश-विन्यास मे किस तेजी के साथ अप्राकृतिक साधनो को बढा रहा है। नैतिक दृष्टि से यह सचमुच चिन्ता की बात है कि मनुष्य की आदतो मे छिछोरेपन की बढोत्तरी अधिक हो रही है। ऐडी से लेकर चोटी तक जिस प्रकार से आज लोग शरीर को अप्राकृतिक ढग से सजाते है उससे समाज का नैतिक पतन ही हुआ है।

मानवीय स्वभाव की छोटी-छोटी बाते भी सामूहिक तौर पर बडी प्रभावशील होती हैं इसलिए अब प्रत्येक विचारवान् के समक्ष समस्या बनकर खडी है। इसमे परिवर्तन किए बिना हमारे जातीय-जीवन संस्कृति का विकास होना—सम्भव नही है। राष्ट्र का नैतिक बल जाग्रत करने के लिए भी केश, वस्त्र और वेश-विन्यास आदि में क्रान्तिकारी परिवर्तन लाने पडेंगे। आत्म-गौरव भी इसी मे है कि अपनी सांस्कृतिक चेतना को समझे और उसे अपने जीवन मे धारण करें।

भारतीय वेशभूषा और वस्त्र धारण

मनुष्य के स्वास्थ्य का सम्बन्ध भोजन से तो है ही वस्त्रों से भी कम नही है। मानव का शरीर जिन पाँच तत्वों से बना है, उनमें वायु तथा प्रकाश का बहुत महत्त्व है। यह दोनों चीजें जीवन के लिये नितान्त आवश्यक है। यदि मनुष्य को कुछ दिन सूर्य का प्रकाश मिलना बन्द हो जाये तो वह शीघ्र विविध प्रकार के रोगो मे आक्रान्त हो जाये और वायु के अभाव मे तो यह एक क्षण भी जीवित नही रह सकता। वायु को मनुष्य का प्राण बतलाया गया है। संसार के उत्तरी तथा दक्षिणी ध्रुव पर बसने वाले क्षेत्रों मे सही है कि छः-छः महीने सूर्य के दर्शन नही होते। तब भी वहाँ पर प्रकृति की ओर मे एक अद्‌भुत आलोक किसी कौने से चमका करता है। साथ ही मनुष्य अनेक उपलब्ध वस्तुएँ जलाकर रोशनी और गर्मी पैदा करके सूर्य के अभाव को पूरा कर लेते हैं। तब भी उन ध्रुवीय क्षेत्रो में प्राणी तथा वनस्पति बहुत कम मात्रा मे पाये जाते है। अधिक ऊँचाइयों पर, जहाँ हवा विरल अथवा बिल्कुल नही होती, जाते समय मनुष्यों को श्वांस लेकर वायु की पूर्ति करने के लिये वैज्ञानिक ढंग से बने हवा के थैले ले जाने होते है। अस्तु, वायु और प्रकाश मानव जीवन के लिए आवश्यक पदार्थ है।

एक तो आज यों ही मनुष्य घरों में बन्द होकर इन दोनों प्राकृतिक तत्वो से दूर हो गया है। दूसरे उसे बाहर आने-जाने पर थोडा-बहुत संसर्ग प्राप्त हो सकता है, उसकी सम्भावना शरीर पर धारण किए जाने वाले वस्त्रों ने क्षीण कर दी है। आज की सभ्यता तथा सामाजिक व्यवस्था मे वस्त्र आवश्यक है। किन्तु इसका यह अर्थ तो नही है कि शरीर को वस्त्रो से इस बुरी तरह जकड़े रहा जाये कि वह वायु तथा प्रकाश के स्पर्श तक के लिए तरस जाये।

यो तो निसर्ग ने मनुष्य को नंगा, वस्त्रहीन पैदा किया है और उस दृष्टिकोण से वस्त्रावरण उसके लिए कृत्रिम तथा अस्वाभाविक आवश्यकता है। अब, चूंकि हजारों वर्षे से मनुष्य वस्त्रो को पहनता चला आया है, उसका शरीर सर्वथा, सब ऋतुओं तथा कालो मे नगा रह सकने में अक्षम हो गया है। साथ ही लोक-लज्जा तथा सामाजिक व्यवस्था और मानवीय मान्यताओ के कारण वस्त्र अनिवार्य आवश्यकता बन गया है। सभ्यता का अग मान लिया गया, शिष्टता तथा शालीनता का चिन्ह बन गया है। आज के युग मे, यदि कोई नंगा रहने लगे तो लोग उसे असभ्य, जंगली

असामाजिक अथवा सनकी मानेंगे। यद्यपि साधुओं का वह सम्प्रदाय जो नग्न अथवा दिगम्बर रहा करता है कुछ कम हो गया है और जो हैं भी वे वस्तियों से दूर रहते हैं, जब कभी बस्ती में आते हैं तो सम्पूर्ण नग्नता में कुछ कमी कर लेते हैं, तथापि वे समाज से अलग वर्ग के अपवाद स्वीकार किए जाते हैं। उनकी इस दिगम्बरता के साथ धार्मिकता का सम्बन्ध जुड़ा हुआ है, अन्यथा लोग उन्हें भी निर्लज्ज, लफंगा आदि न जाने क्या-क्या कहकर लांछित तथा अस्वीकार कर देते। तब भी जो अधिक शिक्षित, अधिक शिष्ट, साहसी तथा खुले दिमाग के हैं उन दिगम्बर साधुओं की नग्न दशा को मान्यता नही देते। तात्पर्य यह कि वस्त्र आज सभ्यता, शिष्टता तथा मानवता का चिन्ह बनकर अनिवार्य आवश्यकता बन गये हैं।

लज्जा-निवारण तथा ऋतु के प्रभाव से बचने के लिए मतलब भर के वस्त्र पहनना तो समझ में आता है किन्तु शौक, फैशन अथवा दिखावे के लिए वस्त्र पर वस्त्र लादे रहना किसी प्रकार भी समझ में नहीं आता। शरीर को इस प्रकार अनावश्यक वस्त्रों से जकड़े रहने का परिणाम यह होता है कि लोग सूर्य से स्वास्थ्यदायक प्रकाश और वायु की जीवनी शक्ति से वंचित रह जाते हैं। प्रकाश, वायु स्वास्थ्य के लिये ही नहीं जीवन के लिये भी आवश्यक है। हमारा यह वस्त्रों सम्बन्धी शौक उन्हें प्राप्त होने देने मे बाधक होता है। आजकल अधिकांश लोग जिस प्रकार दिखावे के लिए कई-कई वस्त्र कसे रहते हैं, वह निश्चय ही स्वास्थ्य के लिये घातक है। किसी-किसी बीमारी अथवा खास अवसर को छोड़कर सदा वस्त्रों से घिरे रहने को सभ्यता का लक्षण मानना भूल है।

यह बात जरूर है कि आज के समय में किसी को दिगम्बर अथवा एक लंगोटी लगाकर घूमने की राय जरूर नहीं दी जा सकती, तथापि वस्त्रों की इस अनावश्यक बहुतायत का भी समर्थन नही किया जा सकता। गर्म देशों अथवा गर्मी की ऋतु में सूती वस्त्र और ठण्ड मे ऊनी वस्त्र पहनना बुरा नही और न अधिक ठण्ड पड़ने पर शारीरिक स्थिति के अनुसार एक से अधिक वस्त्रो पर आपत्ति की जा सकती है, किन्तु शरीर रक्षा के दृष्टिकोण से न पहनकर शान-शौकत के लिए वस्त्र पर वस्त्र पहनना अवश्य आपत्तिजनक है। इससे व्यक्ति के स्वास्थ्य तथा व्यय पर कुप्रभाव पड़ता है और उसके माध्यम से पूरा समाज तथा राष्ट्र प्रभावित होता है।

यह व्यक्ति ही नही पूरे राष्ट्र के लिए दुर्भाग्य की बात है कि वस्त्रों को एक अनिवार्य आवश्यकता मान लिया गया है और उसे इतना महत्त्व दे दिया गया कि भोजन के समकक्ष हो गई है। किन्तु कोई-कोई लोग तो उसे भोजन से भी अधिक महत्त्व देते है और वस्त्रो की शान-शौकत के लिए भोजन का स्तर गिरा देते है। उनका सिद्धान्त होता है कि—खाया-पिया कौन देखता है ? इज्जत कपड़ो से बनती है। भोजन के नाम पर सूखी भले खा लें किन्तु समाज मे अच्छे कपड़े ही शोभा देते हैं। रौब खाने-पीने का नही कपड़ों का ही पड़ता है। कहना न होगा कि यह कितनी गलत मान्यता है। जो वस्त्र अस्वाभाविक हैं, अस्वास्थ्यकर है, उन्हें तो महत्त्व दिया जाये और भोजन जो कि शरीर से लेकर आध्यात्मिक उन्नति का मूल आधार है वह गौण माना जाये। इसे विपरीत बुद्धि के सिवाय और क्या कहा जा सकता है ?

सजावट, सुन्दरता अथवा आकर्षण के लिये किम्बा मान-सम्मान के लिये वस्त्रो का सहारा लेना अथवा उन्हें महत्त्व देना भी सर्वथा निरर्थक है। सुन्दरता का आधार कपड़े नही स्वास्थ्य है, जो कि सर्वदा स्वाभाविक रहन-सहन मे ही प्राप्त होता है। जो शोभा स्वस्थ शरीर मे होती है वह कपड़ो से सजे अस्वस्थ शरीर मे कहाँ ? सीधी-सच्ची बात तो यह है कि जिनका शरीर स्वाभाविक रूप से स्वस्थ तथा सुडौल होता है, उन्हे न तो ज्यादा वस्त्र पहनने की आवश्यकता होती है और न वे पहिनते ही है।

वस्त्रो को देश-काल के अनुसार ही पहनना ठीक है। हम भारतीयों के लिए भारतीय पहनावा उचित तथा लाभकारी है। किन्तु खेद का विषय है कि हमारे बीच से अपना स्वाभाविक तथा अनुकूल पहनावा तो उठता जा रहा है और उसके स्थान पर कोट, पतलून की विदेशी तथा अस्वाभाविक वेशभूषा बढ़ती जा रही है। अंग्रेजी राज्य के समय कभी इस प्रकार के पहनावे की विवशता रही होगी। किन्तु अब तो हम सब उस विवशता से मुक्त हो गये हैं, तब समझ मे नही आता कि भारतीय इन पहनावों को क्यो महत्त्व दिए जा रहे

हैं। आज शिक्षित तथा कर्मचारी वर्ग ही नहीं साधारण मजदूर पेशा और अनपढ़ लोग भी पतलून से कम बात नहीं करते। इसे मानसिक गुलामी के सिवाय और क्या कहा जा सकता है ? जबकि घोर दासता के समय देशी पोशाक का महत्त्व रखने वालों के प्रेरक उदाहरण मौजूद हैं।

पण्डित ईश्वरचन्द्र विद्यासागर अंग्रेजी राज्य में शिक्षा विभाग के ऊँचे पद पर थे। उन्हें बड़े-बड़े ऊँचे अफसरों से तो सम्बन्ध रहता ही था सप्ताह में दो-तीन बार बंगाल के गवर्नर से भी मिलना पड़ता था। किन्तु वे उनसे कभी भी कोट, पतलून पहनकर मिलने नहीं जाते थे। उनका पहनावा तनीदार कुरता तथा धोती ही रहता था। गवर्नर से मिलने के लिये 'प्रापर ड्रेस' का कानून बन जाने पर जब कोट, पतलून पहनने की विवशता आ पड़ी तो वे स्वदेश धनी एक दिन गवर्नर के पास गये और त्याग पत्र दे देने का प्रस्ताव किया। गवर्नर ने कारण पूछा तो उन्होंने साफ कह दिया कि मुझे कर्तव्यवश आपसे मिलने आना ही होगा अब जिसके लिए कोट, पतलून पहनना आवश्यक है। मैं अपनी देशी पोशाक का त्याग नहीं कर सकता इसलिये मजबूरी है कि पद से त्यागपत्र दे दूँ। बंगाल का अंग्रेजी गवर्नर विद्यासागर के इस स्वाभिमान से बहुत प्रभावित हुआ और उसने उनके लिए 'प्रापर ड्रेस' का नियम अपवाद कर दिया।

लोकमान्य तिलक और पण्डित मदनमोहन मालवीय अदालतों, कौंसिलों तथा इंगलैण्ड की पारलियामेन्टों तथा कौंसिलों में अपनी देशी पोशाक कुरता-धोती और पगडी पहनकर ही जाया करते थे। उन्होंने किसी दबाव अथवा प्रभाव से अपनी देशी वेशभूषा नहीं छोड़ी। जगत बंधु बापू तो इसके आदर्श उदाहरण है। वे भारत सम्राट जार्ज पञ्चम से मिलने गए। नियमानुसार उन्हें बादशाह से मिलने के लिए पोशाक पहनने के लिये कहा गया। उन्होंने स्वाभिमान पूर्वक उसके पालन से इन्कार करते हुये स्पष्ट कह दिया कि सम्राट से अपनी इसी भारतीय भूषा कोपीन तथा उत्तरीय पहने ही मिलेगे यदि उन्हें स्वीकार हो तो धन्यवाद अन्यथा मैं अपने देश बिना मिले ही वापस चला जाऊँगा। सम्राट जार्ज पञ्चम बापू की इस देशभक्ति से बड़ा प्रसन्न हुआ और लंगोटीधारी महात्मा से शाही पोशाक में बादशाह की हैसियत से मिले और खड़े होकर हाथ मिलाया। ऐसे-ऐसे ज्वलन्त उदाहरण होने पर भी हम भारतीयों को यदि आज स्वाधीनता के युग में भी अपने राष्ट्र वेश-विन्यास के प्रति आस्था नहीं है और भूतपूर्व गुलामी के अवशेष विदेशी वेश अपने शरीर पर धारण किए रहते हैं तो कहना होगा कि हम तन से तो स्वतन्त्र हो गये किन्तु मन से अभी भी अंग्रेजों के गुलाम बने हैं, जो निश्चय ही एक धिक्कारपूर्ण मनस्थिति है।

यदि प्रकृति, स्वास्थ्य तथा आवश्यकता के अनुसार देखा जाये तो पहनावे के विषय में भारतीय मनीषियों की मान्यता बहुत प्रशंसनीय तथा हितकर है। वे प्रकृति के इस नियम को जानते थे कि शारीरिक तथा मानसिक स्वास्थ्य रक्षा की दृष्टि से वायु तथा सूर्य के प्रकाश का हमारी देह से जितना सम्पर्क रहेगा उतना ही लाभदायक होगा। इसलिए उनका उद्देश्य, लज्जा निवारण के लिए वस्त्र धारण करना रहता था। प्राचीन काल में वे एक अधो वस्त्र टखनों तक और ऊपर एक उतना बड़ी ही उत्तरीय डाले रहते थे। बस इससे अधिक वे कुछ न पहनते थे और न ओढ़ते थे। जन-साधारण भी अधिक से अधिक अंगरखा, धोती और पगड़ी पहनते थे, जो काफी ढीले-ढाले और आरामदेह रहते थे। यह वस्त्र न केवल स्वास्थ्यदायक ही होते थे वरन्, सस्ते, सुलभ और जल्दी-जल्दी धोये जा सकने योग्य भी होते थे। जाड़ों में वे अपेक्षाकृत कुछ मोटे अथवा ऊनी वस्त्र पहन लेते थे। यही पहनावा भारतीय जलवायु तथा देश की आर्थिक स्थिति के अनुकूल है और यही सर्व साधारण को पहनना भी चाहिये। अधिक से अधिक अंगरखा के स्थान पर कुरता, पगडी के स्थान पर टोपी बदली जा सकती है। धोती-कुरता और टोपी वास्तविक भारतीय पहनावा है, इन्हें ही पहना जाना उचित है। अन्य अवसरों तथा देश काल के अनुसार और तरह का भी पहनावा अनुचित नहीं किन्तु वह होना देशी ही चाहिये विदेशी अथवा विजातीय नहीं। इसी में ध्येय है, गौरव है और स्वास्थ्य की सुरक्षा।

गौ की सांस्कृतिक प्रतिष्ठा हमारा परम धर्म

भारतीय संस्कृति का विकास जिस धरातल पर हुआ है, उसे अक्षुण्ण और स्थिर रखने वाले चार प्रमुख

आधार स्तम्भों में गौ का मुख्य स्थान है। गौ भारत की आत्मा है। शरीर में जितना आत्मा का महत्त्व है वही महत्त्व गौ का भारत के जीवन मे अनादि काल से है। हमारे कौटुम्बिक, सामाजिक, सांस्कृतिक स्वास्थ्य और आर्थिक जीवन मे गौ का मुख्य भाग होने से उसे माँ कहकर पुकारा है। गौ रक्षा करती है, सम्पत्ति देती है, शक्ति और शौर्य आदि गुणो की वृद्धि मे वह एक विदुषी माँ की भूमिका में प्रस्तुत करती है।

राष्ट्र के मानचिन्हों मे गाय का स्थान सर्वोपरि नही तो अद्वितीय अवश्य है। राष्ट्रीय जीवन मे उसके व्यापक महत्त्व पर प्रकाश डालते हुए स्वयं वेद ने कहा—

यज्ञ पदीराक्षीरा स्वधाप्राणा महीलुका।
वशा पर्जन्यत्नी देवान् अप्येति ब्रह्मणा॥

—अथर्व वेद १०/१०/६

अर्थात्—गौ यज्ञशाला जैसे पवित्र स्थान मे रखने योग्य है। इराक्षीरा अर्थात् सात्विक और तेज प्रदान करने वाला रूप दुग्ध भोजन देती है। स्वधा प्राण है–प्रत्येक प्राणी को अपना अस्तित्व धारण किए रहने के लिए यथेष्ट सहायता देने वाली है। गौ महीलु अर्थात् पृथ्वी की उर्वरा बनाये रखने वाली है। पर्जन्यपत्नी के रूप मे तृण आदि खाकर हृष्ट-पुष्ट होती है किसी के लिए भार नही बनती। अपने इस प्रभाव से वह प्रजा को अल्प प्रयास मे ही देवलोक का अधिकारी बनाती है।

गौ के महत्त्व और उपादेयता के लिए भारतीय संस्कृति अपवाद नही। ससार के विभिन्न धर्म मतावलम्बियो और महापुरुषो ने भी उसे माना है। विचार और विवेचन की दृष्टि से जहाँ हिन्दू धर्म के अनेक अंग बौद्ध, जैन, बल्लभ, सिक्ख, शैव, वैष्णव आदि सम्प्रदायो मे मिलता है, वहाँ गाय के महत्त्व को सबने एकमत होकर स्वीकार किया है।

महात्मा गाँधी का कथन है—"मेरे विचार मे गाय भारतीय संस्कृति का मेरुदण्ड है, उसे निकाल दो तो फिर सस्कृति का अस्तित्व ही कुछ नही बचता।" "मुझे ले लो मेरे प्राण ले लो पर गाय को छोड दो, इस जैसा पवित्र पशु नही"। यह शब्द महामना पं. मदनमोहन मालवीय के है। लाला लाजपतराय कहा करते थे—"दूध, घी पर ही भारत का जीवन निर्भर है गाये नहीं रहेगी तो हमारे बच्चे कैसे जियेगे ?" गुरु गोविन्द सिंह ने अपने शिष्यों को आदेश दिया था—

यही आशा पूर्ण करो तुम हमारी।
मिटें कष्ट गवन छूटे खेद भारी॥

मोहम्मद साहब की धर्मपत्नी आयशा हजरत की पवित्र वाणी है—"फरमाया रसूल अल्लाह ने कि गाय का दूध शिफा है और घी दवा उसका माँस नितान्त मर्ज है।" मुल्ला मोहम्मद बाकर हुसेनी ने गाय की तुलना फलदार वृक्ष से की है। हकीम अजमलखाँ—"न तो कुरान और न अरब की प्रथा ही गौ की कुर्बानी का समर्थन करती है।" बुद्ध धर्म की लोकनीति मे कहा गया है—"सब गृहस्थो को भोग देने वाले और पालने वाले गौ-बैल ही है इसलिए माता-पिता के समान उन्हे पूज्य माने और सत्कार करे।" (लोकनीत ६) ईजियन द्वीप समूह मे प्राचीनकाल मे गाय की जो प्रतिष्ठा थी उसका दिग्दर्शन वहाँ के सोने के सिक्को मे देखा जा सकता है। ग्रीक, रोमन, और नार्डिक मे गौ पालन भारत के समान ही परम धार्मिक कार्य माना गया । यही स्थान गौ को सुमेरियन और हिराइट संस्कृति मे भी मिला है। जरथुस्तीय गाथाओ, इजिपिशियन शिलालेखो और प्राचीन मिश्र की कहानियो में गौ-पूजन के स्पष्ट वर्णन मिलते है। गाय को सार्वभौमिक महत्त्व देने का एक ही कारण था, उसकी उपयोगिता, जो परिस्थितियाँ बदल जाने पर भी कम नही हुई वरन् आज तो उसकी आवश्यकता और भी अधिक है।

गौवश की दुर्दशा भारत मे अंग्रेजी शासनकाल से प्रारम्भ हुई। अंग्रेज लोग गायों का माँस खाते थे इसलिए यहाँ व्यापक रूप से गायें काटी जाने लगी। आज भी भारतवर्ष से दुनियाँ के सब देशों से अधिक गोमाँस ब्रिटेन को जाता है पर अंग्रेजो की दृष्टि मे भी गाय की उपयोगिता कम नहीं। कितना बडा धोखा है कि इग्लैण्ड मे हमारी गायो के माँस का सबसे बडा ग्राहक है जबकि स्वयं इंग्लैण्ड मे गौ के काटने में प्रतिबन्ध है। सर जान उडरफ ने इस सम्बन्ध मे बड़े महत्वपूर्ण विचार व्यक्त किये हैं—"गौ-हत्या से सम्बन्धित कलकत्ता के एक सम्मेलन मे उन्होने कहा—गौ माँसाहारियो के स्वार्थ के लिये गाय और बैलो पर आक्रमण किया जाता है। उनके स्वार्थ के

लिए दूसरो का स्वार्थ क्यो नष्ट किया जाय, थोड़े-से मॉसाहारियों के लिए हत्या जारी रहे और जिनका दूध का स्वार्थ है, वे थोड़ी विल्लाहट मचाकर ही चुप है यह आश्चर्य है।"

भारतवर्ष कृषि प्रधान देश है। यहाँ अधिकांश किसान है इसलिए यह बताने की आवश्यकता नही कि गौ-वंश भारतवर्ष के लिए कितना उपयोगी है ? महात्मा गाँधी ने एक ही शब्द मे उस पर प्रकाश डाल दिया है वे लिखते है—"भारत की सुख-समृद्धि गौ और उसकी सन्तान के साथ जुड़ी हुई है।"

हिन्दुस्तान का जूता विदेशो मे मशहूर है। अच्छी किस्म का चमडा मरे हुए जानवर की अपेक्षा वध किए जानवर का होता है अत: यहाँ गायें असंख्य मात्रा मे कटती है। 'क्रोमलेदर' नामक चमड़ा जिसके बहुत कीमती जूते बनते है वह गर्भिणी गाय को मारकर, उसके बच्चे की जीवित खाल उधेड़कर बनाया जाता है। सरकारी रिपोर्टो के आधार पर सन् १९५२—५३ में छियालिस लाख दस हजार गायो की खाले बाहर भेजी गई, जिनका मूल्य सात करोड़ छप्पन लाख दस हजार रुपये होता है। बछडो की खाले इससे अलग है। उनकी संख्या भी उत्तरोत्तर बढती जा रही है। सन् १९४५—४६ मे १,७२,००० बछड़ो की खालें विदेश गई, जबकि १९५२—५३ मे यही संख्या बढकर २००७९६० हो गई। यह केवल १० प्रतिशत भाग था शेष ९० प्रतिशत की खपत देश मे ही हो जाती है। तात्पर्य यह है कि इस संख्या से दस गुने से भी अधिक गायो का वध होता है। इसके लिये बम्बई, मद्रास आदि बडे शहरो में विशाल स्लाटर हाउस (वध—केन्द्र) बने हुए है और वहाँ प्रतिदिन हजारो की संख्या मे गायें काटी जाती है।

विदेशो को माल निर्यात करने वाले २२ मे से केवल तीन बन्दरगाहो से गौ मॉस के निर्यात ऑकड़े इस तरह है—बम्बई से ३१६९९५० रुपये, कलकत्ता से २१६९३५० रुपये और मद्रास से २९९१३९ रुपये का। यह १९५२-५३ के ऑकडे है जबकि इन दिनो यह औसत काफी अधिक बढ़ गया है। जहाँ एक ओर संविधान मे गौ-सरक्षण की बात कही गई है, वहाँ सरकार द्वारा गौ-वध को प्रोत्साहन दिया जाना इस देश के लिए बड़े दुर्भाग्य की बात है।

सन् १९४२ में ५३७०००० गायें काटी गईं थी। दरभंगा गोशाला सोसायटी के संचालक श्री धर्मलाल सिंह का हिसाब है कि एक करोड़ बाईस लाख गाये वर्ष भर में काटी जाती हैं। इसका मतलब यह हुआ कि भारतवर्ष मे प्रतिदिन लगभग ३४००० और प्रति मिनट २५ गायों के गले पर छुरी फेर दी जाती है। यह कितना भीषण हत्याकांड है ? इसके अतिरिक्त कसाइयो के हाथ से खींची गई खालो का वर्णन तो और भी आतंकित करने वाला है। कहते हैं कि किसी पत्थर से कूट-कूट कर जिन्दा गायों की खाल काढ़ ली जाती है जिससे सर्वोत्तम किस्म के जूते, चमडे के बैग, अटैचिया और बेल्ट आदि बनते हैं। अहिंसावादी देश भारत के लिए यह नृशंस हिंसा एक प्रकार का अशोभनीय कलंक है।

ऐसा लगता है आज गौ-माता की चीत्कार भारतीय जनता को उद्वेलित कर रही है। हम जिस श्रद्धा को खो बैठे है, उसका स्मरण होना पुण्योदय ही है। इस संघर्ष की बेला मे एक व्रत हमारा भी है कि हम सच्चे अर्थो मे गौ-भक्त बनकर उसका अनुग्रह प्राप्त करे पर अभी तो यही एक बहुत बड़ा कार्य हमारे सामने है। गौवंश की रक्षा और उसमे अपना सहयोग होना नितान्त आवश्यक है। हमे इस आधार स्तम्भ को भी खडा रखना है, ताकि हमारी सस्कृति का धरातल गिरने न पाये, हमारी अध्यात्मिक हानि न होने पाये।

वृक्षों का आध्यात्मिक महत्त्व

बहुत समय से हम भारतवासी वनो एव वृक्षो का महत्त्व भूल गये है। हमारे देश की समग्र सभ्यता, सस्कृति, धर्म एव अध्यात्मदर्शन का विकास वनो मे वृक्षो के नीचे ही हुआ है। इम सब वैदिक सभ्यता अनुयायी है और हमारा धर्म भी वैदिक ही है।

इस वैदिक धर्म एवं वैदिक सभ्यता के प्रणेता ऋषि-मुनियो ने वनो के बीच वृक्षो के नीचे बैठकर ही चिन्तन, मनन एव ग्रहण किया था। वैदिक ज्ञान से वाङ्मय मे आण्यक ग्रन्थो का विशेष स्थान है। ग्रन्थों का यह आवरण्यक नाम ही इस बात का द्योतक है कि

इनका प्रणयन वनों में ही किया गया है। अरण्य का अर्थ वन ही होता है।

जिन वृक्षों के नीचे बैठकर ऋषियों ने ईश्वरीय ज्ञान की प्राप्ति की और हमारे सामाजिक जीवन की रूप-रेखा बनाई, वन के बीच बने आश्रमों के जिन वृक्षों के नीचे गुरुकुलों मे राष्ट्र के कर्णधारों, राजाओं, अमात्यों, राजगुरुओ, सेनापतियों, राजनीतिज्ञो, विद्वानों, कवियों, दार्शनिकों एवं कलाकारों का निर्माण किया गया, जो वृक्ष उन गुरुकुलो की भोजन व्यवस्था, छाया तथा निर्माण सामग्री के साधक बने, उन वृक्षो के महत्व का विस्मरण कर देना हम भारतवासियों के लिये कृतघ्नता के समान पाप है। वृक्षो के पूजन एवं आरोपण की जो पुण्य-परम्परा भारतीय धर्म-विधान मे पाई जाती है, वह वृक्षों के प्रति कृतज्ञता की अभिव्यक्ति ही है।

इस परम्परा को चलाने में ऋषियो का उद्देश्य यही रहा है कि जन साधारण धर्माचार के माध्यम से वृक्षों के सम्पर्क में आता रहे, जिससे उनके लाभ, उनकी उपयोगिता, उनके महत्व एवं उनके उपकार से अवगत रहे। उनकी रक्षा करे और उनके उच्छेद करने पाप समझता रहे।

किन्तु खेद है कि ऋषियो का यह मन्तव्य आज लीक मात्र पीटने के रूप मे रह गया है। वृक्ष पूजा के मूल मन्तव्य को पूरी तरह भुला दिया गया हे। अब तो लोगो का दु साहस यहाँ तक बढ़ गया है कि जिन वृक्षों की पूजा करते हैं, जिन पर जल एवं चन्दन, रोली चढ़ाते हैं, जिनको सूत्र दान करते और हाथ जोड़कर प्रदक्षिणा करते हैं, उन्हें थोड़े से स्वार्थ के लिये काट तक डालते हैं। वृक्षों के प्रति भारतीयो की यह अधार्मिक बुद्धि सोच का विषय है।

आज संसार में सबसे अधिक वृक्ष भारतवर्ष मे ही काटे जाते है। चकबन्दी की चर्चा होते ही बाग के बाग साफ कर दिये गये है, जंगल के जंगल काट गिरा दिए गये हैं और नित्य-प्रति गिराये जा रहे है। वृक्षो के प्रति भारतीयो की यह निर्दयता अशोभनीय है। जीवों की भाँति ही वृक्षो पर भी दया करनी चाहिए। हरे वृक्षो को काटना न केवल वनस्पति के रूप मे देश की सम्पत्ति को हानि पहुँचाना है, अपितु यह जीव हत्या के समान एक पाप भी है।

यदि जड़-जीवन की बात छोड़ भी दी जाये तो भी संसार का अनन्त उपकार करने वाले वृक्षों का ह्रास करना मानव-समाज ही नही सम्पूर्ण जीव-जगत को हानि पहुँचाना है। यदि एक बार वृक्षों को जड़ भी मान लिया जाये तब भी यह सोच सकने का अवसर है कि जड़ होकर भी वृक्ष संसार का कितना उपकार करते हैं और हम चेतन होकर भी उस अनबोल उपकारी पर कुल्हाड़ी चलाते हैं।

वृक्षों को काटने अथवा नष्ट करने वालों की तुलना दुष्ट तथा क्रूर पक्षी बाज से की गई है, जो सुकुमार पक्षियों को मार डालता है। वेद के ऋषि ने कहा है—

मा का कम्बीर मुह हो वनस्पतिन शस्तीर्वि हिनीनशः।
मोत सूरो अह एवा चन ग्रीवा अदधते वेः॥

अर्थात्—जिस प्रकार दुष्ट बाज पक्षी दूसरे पक्षियो की गर्दन तोड़कर उन्हें कष्ट पहुँचाता और मार डालता है, तुम उस प्रकार के न बनो। इन वृक्षों को कष्ट न दो और न इन्हें काटो ही क्योकि यह वृक्ष पशु-पक्षियो तथा अन्य जीव-जन्तुओ को शरण देते है।

आध्यात्मिक उन्नति के लिये मुनष्य का परोपकारी होना आवश्यक है। मनुष्य का स्वयं परोपकारी होना और किसी परोपकारी के प्रति आदर भाव रखना, श्रद्धा करना अथवा उसकी रक्षा करना भी परोपकार ही है और यदि विचारपूर्वक देखा जावे तो पता चलेगा कि किसी की सेवा करना, भला अथवा सहायता करना एकधा परोपकार करना है, किन्तु किसी परोपकारी, समाज सेवी, दानी, दयालु आदि परमार्थी व्यक्तियो के प्रति श्रद्धा रखना, आपत्ति के समय उनकी रक्षा मे सहायक होना, उनके पुण्य कार्यों मे सहयोग करना द्विधा परोपकार है। एक तो व्यक्ति रूप में परोपकारी की सेवा करना दूसरे ऐसे व्यक्ति का पोषण परिवर्धन, रक्षा करना, परोक्ष रूप मे उन सब लोगो की सेवा सहायता में मूल परोपकारी के माध्यम से भागीदार बनना है।

इस द्विधा परोपकार का पुण्यफल पाने के लिये मुनष्यो को वृक्ष जैसे नि स्वार्थ परोपकारी की हर प्रकार से सेवा, सहायता तथा सुरक्षा करनी चाहिए। वृक्षो के परोपकार का यदि लेखा-जोखा लिया जाये तो पता चलेगा कि जीव-जन्तुओ तथा पक्षियो को शरण तथा

भोजन-वास देने के अतिरिक्त वृक्ष मनुष्य जीवन के प्राय: सभी क्षेत्रो मे किसी न किसी रूप में उपयोगी होते है। छाया, फल-फूल, ईधन, कोयला, इमारती लकडी, गंध, औषधियाँ, गोद, लाख, राल, शहद आदि न जाने जीवनोपयोगी कितनी चीजे वृक्षो से ही पाई जाती है। मेवे, मसाले आदि सब वृक्षो से ही मिलते है। अब तो कागज एव कपडा भी वृक्षो के गूदे, छाल, पत्तियो तथा रेशो से बनने लगा है। हल से लेकर खुरपी तक और बैलगाड़ी से लेकर हवाई जहाज तक के निर्माण मे वृक्षों से प्राप्त होने वाली लकड़ी का विशेष स्थान है।

धार्मिक एवं आध्यात्मिक क्षेत्र मे होने वाली अधिकांश वस्तुये काठ की ही बनती है। यज्ञ के उपकरण, उपादान तथा सामग्री वृक्षो की सहायता से ही उपलब्ध की जाती है। प्राण-रक्षक ऑक्सीजन गैस का देना और घातक गैस कार्बन डाइआक्साइड गैस का शोषण करना वृक्षो का पुण्य कार्य है। यदि ऐसा न हो तो पृथ्वी पर प्राणियो का जीवन असम्भव हो जाये। वृक्ष मेघो को बनने और बरसने मे किस सीमा तक सहायक होते है ? इस सत्य को विज्ञान का बाल विद्यार्थी तक जानता है। जंगल न केवल बाढ रोकने के ही पुण्य कार्य का सम्पादन करते है बल्कि वे धरती के क्षरण तथा मरुवर्धन को भी रोकते है। पृथ्वी की उर्वरा शक्ति मे वृक्ष अनेक प्रकार से सहायक होते है। उनसे उपकारी वृक्षो को पालना, उनकी रक्षा करना तथा उनको लगाना कितना महान पुण्य हो सकता है और इनका काटना तथा उजाड़ना कितना जघन्य पाप हो सकता है, इसको कोई भी आध्यात्मिक उन्नति का आकाक्षी व्यक्ति सहज ही मे समझ सकता है। प्राणी मात्र के परमोपकारी वृक्षो को पाल-पोस तथा आरोपण करके अध्यात्म दिशा मे उल्लेखनीय लाभ उठाया जा सकता है।

पूर्वकाल मे गुरु-आश्रम तथा गुरुकुल वन मे वृक्षो के बीच ही स्थापित किये जाते थे। विद्यार्थी स्वय अपने हाथो से वृक्षो को लगाते तथा सींचते थे। उन्ही के नीचे बैठकर पढ़ते तथा उन्ही की छाया मे शयन भी करते थे। ऐसे नियम का कारण यही था कि जहाँ इस प्रकार वे प्रकृति के संसर्ग मे रहकर मन, बुद्धि तथा आत्मा को शुद्ध रखते थे, वहाँ शरीर से स्वस्थ भी रहते थे। वृक्ष साधको की आध्यात्मिक भावनाएँ जगाने, बढ़ाने तथा स्थिर रखने में स्वाभाविक रूप से सहायक होते थे। यही कारण है कि उन-दिनों वृक्षो के बीच स्थापित गुरुकुलों से पढ़कर निकलने वाले स्नातक एवं आचार्य बड़े ही स्वस्थ, सुन्दर, सबल, विद्वान तथा चरित्रवान होते थे। अरण्य-विद्यालयो मे शिक्षित एवं दीक्षित विद्यार्थी काम, क्रोध, मोह, लोभ आदि किसी प्रकार के विकारो से आजीवन परास्त न होते थे। वृक्षों का यह उपयोगी आध्यात्मिक महत्त्व आज भी कम नहीं है। उनके उन दिव्य गुणों मे किसी प्रकार की कमी नही आई है। आज विद्यालयों, गृहों तथा धार्मिक स्थानो को यथासम्भव हरे-भरे वृक्षो से सकुल रखने का प्रयत्न किया जाता है। कमी केवल यह हो गई है मनुष्य ने वृक्षो के इस आध्यात्मिक महत्त्व को भुला दिया है। वह उन्हें और अधिक पालने-पोषने तथा लगाने मे पुन: प्रवृत्त हो जाये तो वनस्पति के अधिक सम्पर्क मात्र से ही वह न जाने कितना आध्यात्मिक लाभ उठाले ?

फ़ूलो-फलो एवं हरीतिमा से भरी हुई वृक्षावली मनुष्य की सौन्दर्य चेतना को उद्‌बुध करने मे सबसे अधिक सफल सहायक है। संसार का सारा सौन्दर्य प्रकृति की सुन्दरता का ही प्रतिबिम्ब है। जिस समय फली-फूली एव रंग-बिरंगी प्रकृति पर मुनष्य की दृष्टि पडती है, उस समय उसकी आत्मा मे जो सात्विक सौन्दर्यानुभूति होती है, वह आध्यात्मिक अनुभूति ही होती है। उस समय उसके प्राणो मे स्वय परमात्मा ही सौन्दर्य बोध मे प्रबुद्ध हुआ करता है। नि:सन्देह, यदि मनुष्य की वह सौन्दर्यानुभूति स्थायी हो जाये तो उसकी पावन-पुलक उसे जीवन मुक्त ही बना दे। प्राकृतिक सौन्दर्य जहाँ मनुष्य को प्रसन्न बनाता है, वहाँ उसके मन, बुद्धि तथा आत्मा को निर्विकारता भी प्रदान करता है, मनुष्य की यह त्रिविधि निर्विकारिता आध्यात्मिक उन्नति की आधारभूत भूमिका है।

वृक्षो के इसी अनिवर्चनीय महत्त्व के कारण भारतवर्ष के अध्यात्म प्रणेता ऋषि, मुनियो ने वृक्षारोपण एव उनके पालन-पोषण को एक धार्मिक पुण्य उनके उन्मूलन एव विनष्ट करने को भयानक पाप बतलाया है। वृक्षो का महत्त्व बतलाते हुए विष्णु-स्मृति मे वर्णन किया है—

वृक्षारोपयितुर्वृक्षाः परलोके पुत्रा भवन्ति।
वृक्षप्रदो वृक्ष प्रसूनैर्देवान् प्रीणायति।

फलैश्चातिथीन् छाययाचाभ्यागतान्।
देवे वर्षन्युदकेन पितृान।
पुष्प प्रदानेन श्रीमान् भवति।
कूपाराम तडागेषु देवतायतनेषुच।
पुनःसंस्कार कर्ता च लभते मौलिक फलम्॥

अर्थात्—जो मनुष्य वृक्ष लगाता है, वे वृक्ष परलोक मे उसके पुत्र बन कर जन्म लेते है। वृक्षों का दान देने वाला उसके फूलो से देवताओ को प्रसन्न करता है। फलो द्वारा अतिथियो को सन्तुष्ट करता है और वर्षा में छाया द्वारा पथिको को सुख देता है फल तथा जल द्वारा पितरो को प्रसन्न् करता है। पुष्पो-फूलो का दान करने वाला श्रीमन्त और कुआँ, तालाब तथा देवस्थानों का संस्कार कराने वाला नया बनवाने के समान पुण्यफल प्राप्त किया करता है।

इस प्रकार वृक्षारोपण तथा पोषण के आध्यात्मिक महत्त्व को समझते हुए प्रत्येक धर्म प्रेमी तथा आध्यात्मिक जिज्ञासु को अपने जीवन में अनेक वृक्ष लगाने चाहिए और उन्हे पुत्र की तरह प्रेम से पालन करना चाहिए और जहाँ तक सम्भव हो किसी लोभ, लाभ अथवा आवश्यकता से कोई हरा वृक्ष को काटना ही नही चाहिए। इन दिनो वर्षा ऋतु चल रही है, जिनके लिए सभव हो खाली जमीन पर वृक्ष लगाकर एक श्रेष्ठ पुण्य परमार्थ उपार्जित करना चाहिए।

सिनेमा से हमारी संस्कृति और नैतिकता का नाश

आज के वैज्ञानिक युग मे सिनेमा ने जितनी लोकप्रियता और सफलता पाई है, शायद ही उतनी किसी अन्य व्यवसाय को मिली हो। इसके साथ-साथ यह भी उतना ही सच है कि समाज पर जितना बुरा असर सिनेमा का हो रहा है, उतना कुप्रभाव शायद ही किसी दूसरी चीज का हो रहा हो। यो समझिये कि सिनेमा के कारण ही आज समाज मे अनैतिकता, उच्छृङ्खलता, अव्यवस्था, अशिष्टता, व्यभिचार, चोरी, हत्या, डाकेजनी, फैशन आदि का बोलबाला है। आज जितनी भी बुराइयाँ वर्तमान समाज मे बढ़ती जा रही हैं, उनकी बहुत हद तक जिम्मेदारी आज कल की गन्दी फिल्मो पर है। चोरी करने की नई-नई विधियाँ, डाके डालने की कलाये, शराब आदि नशो का प्रयोग, निर्लज्जता एवं अनुशासनहीनता आदि बाते अधिकतर लोग सिनेमाओ से सीखकर उनको जीवन मे प्रयुक्त करने लगते हैं। व्यभिचार, गुण्डागिरी आदि का शहरो में जो जोर दिखाई देता है, वह भी बहुत हद तक सिनेमा की ही देन है।

जो लोग यह समझते हैं कि सिनेमा केवल मनोरंजन एव तरोताजगी का एक साधन मात्र है, वे भ्रम मे हैं। जिसका दुष्प्रभाव हमारे देश के सुकुमार बालकों एवं तरुणों पर गहराई से पड़ रहा हो, उसे केवल मनोरंजन एवं दिल बहलाव का साधन मात्र समझना भूल होगी। मनोरजन कुछ ही समय के लिए होता है और बाद में उसे भुला दिया जाता है जब कोई क्रिया जीवन पर गहरा प्रभाव डालने वाली हो जाती है, तब वह मनोरजन न रहकर संस्कार बन जाती है। आज सिनेमा मनोरंजन न होकर जीवन पर कुसंस्कार डालने का भयानक कार्य कर रहा है। अनुभव तो यह वताता है कि अच्छी शिक्षा तथा शुभ-संस्कार माता-पिता अपने पुत्र पर या शिक्षक अपने छात्र पर नही डाल सकते पर सिनेमा की रग-बिरंगी विलासी दुनियाँ उन बालको पर अनैतिकता के सस्कार शीघ्र और स्थायी रूप से डाल देती है।

हमे ऐसे कुत्सित मनोरंजन का पूर्ण बहिष्कार कर देना चाहिये, जिसमे अनैतिकता और वासना को उद्दीप्त करने वाली प्रचुर सामग्री रहती है। सिनेमा ने ही हमारी भारतीय सस्कृति की आदर्श परम्पराओ को तहस-नहस कर समाज में अनैतिकता का प्रचार किया है। आज क्या बालक-क्या युवक और क्या बूढ़े सभी सिनेमा के शौकीन हो रहे है। विद्यार्थियो पर तो इसका रग खूब चढ़ा हुआ है। उन्होंने तो फिल्मी कलाकारो को देवताओ का दर्जा दे रखा है। पहले लोग अपने घरो को सजाने के लिए देवताओं के चित्र लगाते थे परन्तु आज उनकी जगह अभिनेता-अभिनेत्रियो ने ले ली है। आजकल के विद्यार्थियो से यदि किसी सिने-कलाकार की जीवनी के बारे पूछा जाय तो वे अपको इतनी जानकारी देगे कि आप सुनकर दग हो जायेगे उन्हे देश-विदेश की सामाजिक, आर्थिक एवं राजनैतिक घटनाओ की जानकारी नाम मात्र को ही होगी पर सिनेमा-कलाकारो के बारे मे वे आपको बिल्कुल सही-सही बात बता देंगे।

आजकल युवक-युवतियाँ सिनेमा के पर्दे पर अनेक रंगीन प्रसंग एवं चरित्र देखकर अपने को उसी अनुसार ढालने का प्रयत्न करते है। जितने नये फैशन और नई पोशाके निकलती है, प्राय. सभी का स्रोत फिल्मी कलाकार होते है। बहुत-से लोग तो उन्हें आदर्श मानकर उनका अनुसरण करते हैं। "दलीपकट" राजकट" "साधना कट" तो इतने प्रसिद्ध हो चुके हैं कि शायद ही कोई छात्र उनके प्रभाव से वंचित हो। कुमारी "साधनाकट" अवश्य कहलाना चाहेंगी, चाहे रूप आबनूस के कुन्दे की तरह क्यों न हो ? पति को नाजनीन, साधनाकट पत्नी चाहिये और पत्नी को पति चाहिये जो सुन्दरता मे चाँद का टुकडा हो।

फिल्म-उद्योग जिसे हमारे राष्ट्र नायक देश के सांस्कृतिक जीवन का शृंगार बनाना चाहते हैं, हमारी रुचियों मे किस प्रकार अराजकता उत्पन्न कर रहा है, इसका आभास उपर्युक्त बातो से मिल जाता है। यदि यही स्थिति बनी रही तो भविष्य की उच्छृङ्खलता और समाज विरोधी अराजकता एव कुरुचिपूर्ण फैशन परस्ती भोले तरुण-तरुणियो का किस गहरे गर्त मे ले जाकर पटकेगी, इसकी कल्पना मात्र से हृदय कॉप उठता है।

हमें उन युवक-युवतियो पर ही नही उन माता-पिताओ की नासमझी पर भी बडा तरस आता है। जो छोटे-छोटे कोमल मति, अबोध बालक-बालिकाओ को अपने साथ सिनेमा दिखलाने ले जाते है और उनमें सिनेमा का विषैला शौक पैदा कर उनके जीवन को बर्बाद करने मे सहायक होते हैं। अपनी प्यारी सन्तान को हँसते-हँसते विनाश के इस दारुण अग्निकुण्ड में झोंकने वाले इन माता-पिताओ को क्या कहा जाये ?

सिद्धान्ततः सिनेमा विज्ञान से किसी का विरोध नही, विरोध उसमे व्याप्त बुराइयों से है। निश्चय ही सिनेमा लोक-शिक्षा एव जन-जागरण का एक बढ़िया साधन हो सकता है, यदि उसके द्वारा जनता को नैतिकता का पाठ पढ़ाया जाय। चलचित्र द्वारा जनता पर जितनी आसानी से अच्छे सस्कार डाले जा सकते है, उतने अन्य साधनो द्वारा शायद ही डाले जा सके पर उसके लिए आदर्श फिल्मो का निर्माण किया जाना चाहिए। पहले अधिकतर ऐसी ही सुरुचिपूर्ण एवं सदाचार सम्पन्न फिल्मे बनती भी थी। पर अब बहुत कम फिल्में इस ढग की बन रही है। फिल्म निर्माताओ ने धन के लालच में जनता को निम्न स्तर की हीन भावनाओ को भड़काकर उन्हें कुमार्गगामी बनाने को घोर पाप कर्म शुरू कर दिया है, जो हमारी आने वाली पीढ़ी को शारीरिक, मानसिक एवं आध्यात्मिक दृष्टि से बिल्कुल खोखला बना रहा है। अब तो फिल्म निर्माताओ ने पाश्चात्य देशो की तरह सिनेमा के पर्दे पर अर्धनग्न अवस्था में नृत्य एवं अन्य गन्दे अंगविक्षेप का प्रदर्शन करना भी आरम्भ कर दिया है। इन सब बातों से यदि फिल्म में कुछ अच्छाई भी हो तो वह सब दब जाती है और जो बालक या युवक ऐसी फिल्में देखते है, उनके कोमल मस्तिष्क में अस्वस्थ संस्कार जम जाते है। इसके लिए तो वस्तुतः उनके माता-पिता ही जिम्मेदार हैं, जो उन्हें ऐसी फिल्में देखने के लिए भेजते हैं या स्वय अपने साथ ले जाते हैं।

यो तो सरकार द्वारा सिनेमा-फिल्मों पर नियन्त्रण रखने के लिए एक सेंसर बोर्ड नियुक्त किया गया है पर ऐसा लगता है कि इसमें सम्मिलित व्यक्ति भी भारतीय संस्कृति, सदाचार एवं नैतिकता के हामी नही है, तभी यों आजकल ऐसी फिल्में धडल्ले से प्रमाणित की जा रही हैं, जिनमें गन्दे गाने, भोंड़े मजाक तथा अश्लील प्रेम-प्रसग प्रदर्शित किये जाते है। यह और भी खेद और परिताप का विषय है कि धार्मिक फिल्मों मे भी अश्लील एवं वासना को उखाड़ने वाले दृश्यो का समावेश रहता है। जब तक सिनेमाओ में इन कथित कुमारियो का अभिनय है, तब तक वे धार्मिक होते हुए भी दर्शकों के मन पर कोई अच्छा संस्कार नहीं डाल पाते, बल्कि ऐसे फिल्म भी मन मे सहज विकार पैदा कर देते है। वस्तुतः फिल्मे ऐसी हो, जिनमे हमारे मन पर अच्छा संस्कार हो, हमारी भावनायें उन्नत हो और समाज की बुराइयाँ और कुरीतियाँ दूर हो। इसके लिए सेन्सर बोर्ड मे अच्छे चारित्र्य सम्पन्न व्यक्तियो का होना अनिवार्य है। भ्रष्ट सिनेमा, फिल्मो के लिए सेन्सर बोर्ड और पर्याप्त रूप से हमारी सरकार ही जिम्मेदार है। समाज मे चारित्र्य, नैतिकता, पुरुषार्थ आदि का विकास करने के लिए हमे ऐसी फिल्में चाहिये, जो इन आदर्शों से अभिभूत हो, साथ ही साथ जिनसे स्वस्थ मनोरंजन भी हो।

दर्शकों का भी कर्तव्य है कि वे गन्दी, अनैतिकतापूर्ण एव अश्लील, फिल्मो का पूर्ण

बहिष्कार कर अपने तन-मन-धन को बर्बाद होने से बचायें।

संस्कृति के अग्रदूत चेतें, उत्तरदायित्व निभाने आगे आएँ

भारत में जन्मी देवसंस्कृति विश्व सम्पदा है। सूरज पूरब से निकलता है तो भी सारे संसार को प्राण चेतना प्रदान करता है। सूर्य किरणों की तरह ही देवसंस्कृति ने भी पुरातन काल में संसार भर के मनुष्य का प्रगति, व्यवस्था, शालीनता का पाठ पढ़ाया है। मध्यकाल में छाये कुछ शताब्दियो के कुहासे के छट जाने के वाद अव फिर ऐसी स्थिति है कि वह विश्व के पुनर्निर्माण में अपना महान योगदान देने की भूमिका सम्पन्न कर सके।

गत सौ वर्षों में भौतिक दृष्टि से विश्व प्रगति की दिशा में आगे वढ़ा है। वैज्ञानिक अविष्कारो ने सुविधा साधन वढ़ाए हैं। आर्थिक और बौद्धिक दृष्टि से हुई इस प्रगति के बावजूद हम पाते है कि शारीरिक और मानसिक स्वास्थ्य की दृष्टि से मनुष्य और अधिक दुर्वल-उद्विग्न, अधिक सकीर्ण एव अभाव ग्रस्त हो गया है। परिवार संस्था में न अब पारस्परिक स्नेह है न सहकार। आपस के टकराव व आपाधापी की नीति के कारण अपराधी दुष्प्रवृत्तियों को ऐसी बाढ़ आई है, जिसने चिर संचित सभ्यता को समूल नष्ट कर देने की चुनौती खड़ी कर दी है। कुल मिलाकर आज का व्यक्ति पूर्वजो को तुलना मे चेतना की दृष्टि से दीन दरिद्र और संवेदना शून्य हो चला है, भले ही बाहर से वह सम्पन्नता शालीनता का मुखौटा बाँधे क्यों न फिरता हो।

दूरदर्शियो का कथन है कि "प्रगति के साथ खड़ी दुर्गति से व्यक्ति की जो दुर्गति हुई है, उसके परिणाम सारे संसार के लिये अभिशाप बनकर भविष्य को अन्धकारमय किये दे रहे है। लक्ष्य विहीन प्रगति की परिणति निश्चित ही भयावह होगी। चिंतन की विकृति की अदृश्य जगत मे प्रतिक्रिया प्रकृति कोप एवं विक्षुब्ध वातावरण के रूप में देखी जा सकती है। ऐसा लगता है, मानो सामूहिक महाविनाश की सुनियोजित तैयारी चल रही है।" परिस्थितियो को देखते हुए यह निष्कर्ष सत्य प्रतीत होता लगता है।

समाधान एक ही है कि चिन्तन, चरित्र और व्यवहार मे आदर्शवादी आस्थाओ की प्रतिष्ठापना करने वाली देव संस्कृति को पुनर्जीवित किया जाय, शालीनता, सहकार, स्नेह-सद्भाव से भरा जीवन ही भारत की देवसंस्कृति का पर्याय है, जिसकी उपेक्षा से मनुष्य के पतन का माहौल बना है।

मानवी गरिमा को सुरक्षित रखने वाली देव संस्कृति को प्रखर बनाया जाना ही आज का युग धर्म है। भारतीय संस्कृति के अनुयायी भले ही किसी भी देश में रहते हो, उनमे से प्रत्येक का यह कर्तव्य है कि वह अपनी-अपनी सन्तति की ही नही सारे संसार की सुख-शान्ति हेतु फिर से उन देव परम्पराओं को पुन-र्जीवित करने मे भाव भरा योगदान दें, जिन्हें प्रचलित कर कभी भारतवासियो ने सतयुगी परिस्थितियाँ विनिर्मित की थीं।

वैज्ञानिको, बुद्धिजीवियो द्वारा पिछले दिनों किये गए कार्यों से यह कही अधिक महत्त्वपूर्ण है कि भावनाओं, आकांक्षाओ एवं गतिविधियो मे उत्कृष्टता का समावेश कर सकने मे सर्वथा समर्थ देवसंस्कृति के स्वरूप एव उद्देश्य को सही रूप मे संसार भर के सम्मुख प्रस्तुत करने में कुछ उठा न रखा जाये। इसके सहारे ही मानवता को विनाश की चुनौती से बचाया जा सकता है। समय की माँग है कि ध्वंस लीला आरम्भ होने के पूर्व ही संस्कृति के अग्रदूत चेते उज्जवल भविष्य के मार्ग में आए अवरोधो को दूर हटाएँ।

भारत भूमि से भूतकाल की तरह इन दिनो भी विश्वमानव को भ्रातियो से उबरने का मार्ग दिखाने वाला अभियान तूफानी गति से चल पड़ा है। उसके सत्परिणाम भी सामने आ रहे हैं। लेकिन युग परिवर्तन के ये प्रयास किसी छोटी सीमा मे अवरुद्ध नही रखे जा सकते। इन्हे विश्वव्यापी बनाने का काम उनका है जो भारतीय संस्कृति की गरिमा से परिचित है और अन्य देशो मे निवास करने के कारण उसे फैला सकने में समर्थ है। दीपक जहाँ जलता है, वही रोशनी देता है। हीटर जहाँ जलता है, वही गर्मी फैलाता है। हर प्रवासी भारतीय का सामयिक एव चिर स्थायी कर्तव्य यही है कि वह जहाँ भी रहे यहाँ अन्यान्य प्रकार की सृजन-सेवाएँ करते हुए युग समस्याओ के समाधान हेतु सम्बद्ध क्षेत्र को परिचित प्रभावित करने

मे कुछ उठा न रखें। विश्वमानव की सेवा-साधना का यह पुण्य सम्पादन हमारे पूर्वजों की परम्पराओं का पुनर्जीवन ही है। जिन्होंने धरती को "स्वर्गादपि गरीयसी" का मान दिलाया व स्वयं देव मानव कहलाए।

यह सब कैसे किया जाय ? इसका एक ही उत्तर है कि प्रवासी भारतीय स्वयं देवसंस्कृति का उत्तराधिकारी प्रतिनिधि अनुभव करें। सम्पर्क क्षेत्र को इस प्रकार की महिमा व परिणति समझाते रहे। शुभारम्भ वे निजी जीवन और परिवार से करें। जिनके अपने विश्वास प्रगाढ़ हैं—जो आदर्शों का स्वयं परिपालन करते हैं, उन्हीं के लिये यह संभव है कि वे दूसरों को आकर्षित अनुप्राणित करें अपनाने के लिए सहमत करें।

इस दृष्टि से आवश्यक है कि प्रवासी भारतीय जहाँ भी रहते हो, संघ बद्ध होकर रहे। परस्पर मिलने-जुलने का क्रम बनाएँ और ऐसे उपाय सोचे—अपनाएँ जिनसे अपने समुदाय मे देव संस्कृति की निष्ठा और परम्परा प्रगाढ़ बनी रहे, साथ ही उस स्थान पर भी प्रकाश फैलाना सभव हो सके, जहाँ अभी समुचित जानकारी के अभाव मे अन्धकार जैसी स्थिति बनी हुई है।

युगान्तर चेतना का उद्‌भव प्रज्ञा अभियान के रूप मे भारत भूमि से पुनः हो रहा है। ऐसा कुछ इस माध्यम से किया जा रहा है, जिस पर गर्व किया जा सके। अब बारी उस सभ्यता का देश-देशान्तरों मे प्रतिनिधित्व करने वाले प्रवासी भारतीयों की है, जिन्हें हर क्षेत्र के मनुष्य समुदाय को देवसंस्कृति का वह स्वरूप समझाना है जो सव्याप्त पतन पराभव तथा भावी महाविनाश से समूची मनुष्य जाति को बचा सकती है।

सर्वप्रथम कार्य तो यह है कि विभिन्न जाति या सम्प्रदाय के व्यक्ति जो प्रवासी भारतीयो के रूप में विदेशों मे बसे है, एक परिवार की तरह रहने लगे। भारत बहुत बड़ा देश है। उसमें अनेको भाषाएँ बोली जाती है और अनेकों सम्प्रदायों की भरमार है। इस विभिन्नता, विचित्रता के बावजूद एकात्मता यहाँ की विशेषता है। देवसंस्कृति के अनुयायी प्राचीन काल से इसी प्रकार की एकता बनाये रहे हैं। दर्शन की भिन्नता के कारण उन्होंने कभी व्यवहार भेद नहीं होने दिया। अब नवयुग की वेला में वर्ग भेद न पनपने देकर एक माता के पुत्रों जैसी एकात्मता उत्पन्न करनी चाहिए।

युग निर्माण योजना की लाल मशाल इसी संघ शक्ति का प्रतीक है। सभी को अब इसके नीचे एक जुट हो जाना चाहिए। इस हेतु आवश्यकता है कि समय-समय पर इन देशों के सम्मेलन समारोह होते रहें। इससे एक-दूसरे को परिचित होने का अवसर मिलता है और प्रेमभाव बढ़ता है। मिल-जुलकर विचार करने पर ऐसा मार्ग मिलता है, जिससे सामयिक कठिनाईयों से निपटना एवं प्रगतिशीलता के मार्ग पर चल सकना संभव हो सके। इन दिनों हमें युग निर्माण सम्मेलनों की हर क्षेत्र में व्यवस्था बनानी चाहिए ताकि समीपवर्ती लोग सफलतापूर्वक उनमें सम्मिलित होते रहें। पूरे देश या क्षेत्र का बड़ा समारोह तो यदा-कदा कही-कही ही हो सकता है क्योकि उसके लिए बड़े साधन जुटाने पड़ते हैं, जिनकी व्यवस्था बनाना प्राय बड़ों के सहायोग, साधन, सम्पन्न एवं प्रखर व्यक्तियो से ही संभव है।

प्रायः इकयानवे देशों में प्रवासी भारतीय अच्छी संख्या में रहते हैं। आवश्यकता इस बात की है कि सामूहिक गायत्री पुरश्चरण, प्रज्ञा पुराण कथा गायत्री यज्ञ, युग निर्माण सम्मेलन, संगीत-कीर्तन जैसे कार्यक्रमो के साथ सम्मेलन समारोहों का भी क्रम चल पड़े। वे कभी-कभी देश भर मे होते रह सकते हैं। अन्यथा क्षेत्रीय एवं स्थानीय स्तर पर तो उन्हें लगातार किया ही जाना चाहिए पारस्परिक स्नेह सौजन्य उत्पन्न करने वाली घनिष्ठता इस आधार पर और आगे बढ़ाई जा सकती है। साथ ही ऐसी योजनाएँ भी उसी अवसर पर बनती रह सकती है, जिनका कार्यान्वयन स्थानीय परिस्थितियो मे संभव हो।

दूसरा कार्यक्रम जो शुभारम्भ के रूप में किया जाना चाहिए वह यह है कि प्रज्ञा प्रकाशन विभाग हर देश मे स्थापित किया जाय, जिससे देव-संस्कृति के आधार पर भूत सिद्धान्तों और प्रचलनों की महत्ता एव उपयोगिता से सर्वसाधारण को अवगत कराते रह सकना सभव हो सके। समारोह प्रवचन तो यदा-कदा ही होते हैं, जबकि बौद्धिक प्रशिक्षण की आवश्यकता निरन्तर बनी रहती है। यह कार्य तभी हो सकता है,

जबकि नियमित रूप से उस विषय का साहित्य उपलब्ध होता रहे। इनकी छाप अधिक समय तक बनी रहती है। सतत् साहित्य साथ रहने से ही संस्कार प्रबल होते हैं। सशक्त लोक शिक्षण की गाड़ी उससे कम में नहीं चल सकती।

इस सन्दर्भ मे कुछ राष्ट्रों विशेषतः यू. के. के परिजनो ने उत्साहवर्धक कदम उठाए हैं और दूसरो के द्वारा अपनाए जाने योग्य उदाहरण प्रस्तुत किए हैं। अच्छा तो यह हो कि हर देश में प्रवासी भारतीयो के द्वारा गायत्री परिवार सम्मेलन सम्पन्न हो। यह कार्य इंग्लैण्ड वालों ने सर्वप्रथम कर दिखाया। अब अन्य देशों की बारी है। उन्हे भी इस कार्य को छुट-पुट ढंग से नहीं, योजनाबद्ध रूप से बड़े आकार में बड़े संरजाम के साथ सम्पन्न करना चाहिए। हर सम्मेलन का उद्देश्य देवसंस्कृति के प्रचार-प्रसार हेतु कार्यक्रमों का सुनियोजित क्रियान्वयन होना चाहिए।

आशा की जानी चाहिए कि अब तक जिन ९१ देशों मे युगान्तरीय चेतना का आलोक पहुँचा है, उन सभी स्थानों पर ऐसे ही विशालकाय आयोजन होगे और उनकी शाखा-प्रशाखाओं के रूप में छोटे-छोटे स्थानीय प्रज्ञा समारोहो का क्रम भी भली प्रकार चल पड़ेगा। यही प्रक्रिया भारतभूमि मे अपनाई गयी है। इससे बड़ी संख्या में जन मानस प्रभावित हुआ है एवं नितान्त अछूते पड़े क्षेत्रो तक प्रज्ञा आलोक पहुँचा है। यही क्रम देश-देशान्तरों में क्रियान्वित किया जाना है।

साहित्य प्रकाशन के सम्बन्ध मे भी इंग्लैण्ड द्वारा उठाया गया प्रथम कदम भूरि-भूरि प्रशंसा के योग्य है। पिछले दिनों वहाँ से एक स्मारिका प्रकाशित हुई। उसमें मिशन के महत्त्वपूर्ण पक्षों पर प्रकाश डाला गया था। भारतवर्ष मे इस प्रयास को बहुत सराहा गया है और उसके आयोजनकर्त्ताओं की मुक्त कण्ठ से प्रशंसा हुई। ऐसे ही वार्षिक प्रकाशन अपने-अपने देशों मे अन्याय प्रवासी बन्धु भी कर सकते है। यह प्रयोग न तो खर्चीला है, न समय साध्य। इसकी लागत विज्ञापनों से ही निकल आती है। अधिक दौड़-धूप करने पर अधिक व्यक्तियों से सम्पर्क कर पाना, कुछ बचत कर प्रज्ञा आयोजनो का खर्च जुटा सकना ही संभव है।

स्थायी प्रकाशन की बात हर देशों में सोची जानी चाहिए। देव-संस्कृति के आदेशों से अनुप्राणित साहित्य को घर-घर पहुँचाने और युग सन्देश से जन-जन को अवगत कराने के लिये प्रज्ञा साहित्य की बड़े परिमाण में आवश्यकता है। युग समस्याओ के *समाधान की अनेकानेक दिशाधाराएँ है।* उनसे सर्वसाधारण को परिचित कराने के लिए आवश्यक है कि प्राणवान, संस्था एवं सामयिक साहित्य प्रकाशन नियमित रूप से होता रहे। भारत में चालीस पैसा सीरीज की फोल्डर पुस्तिकाएँ हर वर्ष लाखो-करोड़ों की संख्या मे प्रकाशित प्रचारित होती हैं। आवश्यकता है कि यही प्रकाशन क्रम हर देश मे हर भाषा मे स्थानीय परिस्थितियो के अनुसार चल पड़े।

भारत से छपा साहित्य भेजा जाय, इसकी तुलना में सरल तरीका यही है कि हर देश में प्रज्ञा प्रकाशन के लिये अपनी-अपनी व्यवस्था हो। छोटी फोटो ऑफसेट प्रेसों के माध्यम से न्यूनतम पूँजी से भी यह प्रकाशन क्रम चलता रह सकता है। प्रकाशन को खपाने के लिये स्थायी सदस्यो की शृंखला बने। सदस्यो के पास नियमित रूप से फोल्डर साहित्य पहुँचता और वितरित होता रहे। हर महीने एक सेट छपता रहे तो यह मासिक पत्रिका प्रकाशित करने की तुलना में कही अधिक सुगम और प्रभावी कार्यक्रम माना जा सकता है। इसकी पहल भी इंग्लैण्ड से होगी तो इसका अनुकरण चौहत्तर अन्य देशो मे भी चल पड़ेगा। *इसकी भाव-भरी आशा की गयी है और कार्यान्वयन* पर पूरा विश्वास रखा गया है।

वाणी के माध्यम से प्रवचन समारोहों की योजना बनानी चाहिए और लेखनी के माध्यम से साहित्य प्रकाशन की व्यवस्था होनी चाहिए। इन दिनो वाणी और लेखनी की शक्ति ही विचार परिवर्तन की दृष्टि से समर्थ साधन माने गए हैं। युग परिवर्तन का अर्थ विचार परिवर्तन है। इसके लिये उपरोक्त दोनो साधनों का उपयोग किया जाना चाहिए।

समारोह प्रेस प्रकाशन के बाद तीसरा उपाय है साप्ताहिक सत्संग। इसके लिये अपना स्थान बनाया जा सकता है। किसी अन्य के स्थान का भी उस अवधि के लिये उपयोग हो सकता है। केन्द्रीय कार्यालय के लिए भी आखिर स्थान तो चाहिए ही

और यदि स्थान हो तो उसमें गतिविधियाँ भी चलनी चाहिए। यह क्रम साप्ताहिक उपासना एव कथा सत्संग के रूप मे चलता रहे। धार्मिक शिक्षा की साप्ताहिक पाठशालाएँ भी चलती रह सकती हैं। जिसमे बच्चे वृद्ध सभी समान रूप से शिक्षण प्राप्त किया करें।

यदि स्थान उपयुक्त मिल जाए एव ऑफसेट प्रेस या साइक्लो स्टाइल मशीन की व्यवस्था बन जाए तो साहित्य की प्रतियाँ हाथो-हाथ पाठकों के पास सरलता-पूर्वक पहुँचाई जाती रह सकती है।

उठाने के लिये तो अगले दिनो अनेको कदम है पर शुभारम्भ तीन कार्यक्रमों से करना चाहिए। श्री गणेश के रूप मे इतने से भी काम चल जाएगा। एक समारोह की योजना दूसरा प्रकाशनो की व्यवस्था तीसरा साप्ताहिक पूजा तथा शिक्षा। जहाँ इतना बन पडेगा, वहाँ अगले अति महत्त्वपूर्ण कदम उठाने में भी कोई सदेह न रहेगा।

प्रवासी परिजन हमारी अपनी राष्ट्र भूमि के सदेश-वाहक के रूप मे विश्व भर मे विद्यमान है। यदि वे सस्कृति रक्षा, प्रज्ञा प्रसार एवं उत्कृष्ट आदर्शवादिता से सारे विश्व समुदाय को अनुप्राणित करने का दायित्व अपने हाथो मे ले ले तो यह आशा की जा सकती है कि ऋषि का आप्त वचन "उदार चरितानां तु वसुधैव कुटुम्बकम्" निश्चित ही शीघ्र ही सार्थक होगा, चरितार्थ होगा।

भारतीय तत्वज्ञान के वर्चस्व की गौरव-गाथा

जर्मनी के प्रख्यात विद्वान तथा भारतीय संस्कृति के आराधक मैक्स मूलर ने सन् १९५८ की एक परिचर्चा मे महारानी विक्टोरिया से कहा—"यदि मुझसे पूछा जाय कि किस देश में मानव मस्तिष्क ने अपनी मानसिक एवं बौद्धिक शक्तियो को विकसित करके सही अर्थों मे सदुपयोग किया है, जीवन के गम्भीरतम प्रश्नों पर गहराई से विचार किया और समाधान ढूँढ निकाले, तो मै भारत की ओर संकेत करूँगा, जिसकी ओर प्लेटो और कांट जैसे दार्शनिको के दर्शन का अध्ययन करने वालो का ध्यान भी आकृष्ट होना चाहिए।"

"यदि कोई पूछे कि किस साहित्य का आश्रय लेकर सेमैटिक, यूनानी और रोमन विचारधारा में बहते हुए योरोपीय अपने आध्यात्मिक जीवन को अधिकाधिक विकसित कर सकेंगे, जो इहलोक से ही सम्बद्ध न हो, अपितु शाश्वत एवं दिव्य हो, तो फिर मैं भारतवर्ष की ओर इशारा करूँगा।"

अपनी ज्ञान-पिपासा को परितृप्त करने सदियो पूर्व आये प्रसिद्ध विद्वान लार्ड विलिंग्डन ने लिखा है कि—"समस्त भारतीय चाहे वे प्रासादों में रहने वाले राजकुमार हों या झोपड़े मे रहने वाले गरीब—ससार के वे सर्वोत्तम शील सम्पन्न लोग हैं, मानो यह उनका जातिगत धर्म है। उनकी वाणी एवं व्यवहार में माधुर्य एवं शालीनता का अनुपम उदाहरण दिखाई पड़ता है। वे दयालुता एव, सहानुभूति के किसी कर्म को नही भूलते।"

आठवी शताब्दी में अलहजीज नामक मुस्लिम विद्वान भारत परिभ्रमण के लिए आया था। अपने साहित्य संग्रह मे उसने लिखा है—"भारत रहस्यमय विद्याओ एवं भौतिक विद्याओ का आविष्कारक है।"

सैमुअल जानसन लिखते है—"हिन्दू लोग धार्मिक, प्रसन्नचित्त, न्यायप्रिय, सत्यभाषी, दयालु, कृतज्ञ, ईश्वर भक्त तथा भावनाशील होते है। ये विशेषताएँ उन्हें सॉस्कृतिक विरासत के रूप मे मिली हैं।"

पेरिस विश्वविद्यालय के प्रो. लुई टिनाऊ ने अपनी एक पुस्तक मे उल्लेख किया है—"ससार के देशो मे भारतवर्ष के प्रति लोगो का प्रेम और आदर उसकी बौद्धिक, नैतिक, और आध्यात्मिक सम्पत्ति के कारण रहा है। अपनी उन विशेषताओ को यदि भारतीय पुन. जागृत कर ले, तो आज भी विश्व का मार्गदर्शन कर सकने मे सक्षम हो सकता है। जीने की तथा परस्पर मानवी सम्बन्धो की इतनी सुन्दर सर्वांगपूर्ण आचार सहिता विश्व के किसी भी धर्म अथवा सस्कृति मे नही जो कि भारतीय सस्कृति मे है।"

इस सस्कृति के प्रति विदेशी मनीषियो, विद्वानो की श्रद्धा अकारण नही रही है। ज्ञान एव विज्ञान की जो सुविकसित जानकारियाँ आज ससार मे दिखाई पड़ रही है, उनमे कुछ योगदान भारत का रहा है। समय-समय पर यह देश विश्व-वसुधा को अपनी भौतिक और आध्यात्मिक ज्ञान की धाराओ से

अभिसिंचित करता रहा है। इस सत्य के प्रमाण आज भी इतिहासकार देते है। उल्लेख मिलता है कि दक्षिण-पूर्वी ऐशिया ने भारत से ही अपनी संस्कृति ली। ईसा से पाँचवी शताब्दी पूर्व भारत के व्यापारी सुमात्रा, मलाया और पास के अन्य द्वीपों में जाकर बस गये, वहाँ के निवासियो से वैवाहिक सम्बन्ध भी स्थापित कर लिये। चौथी शताब्दी के पूर्व में अपनी विशिष्टता के कारण संस्कृति उन देशों की राजभाषा बन चुकी थी। राज्यों की सामूहिक शक्ति जावा के वोरोबदर स्तूप ओर कम्बोडिया के शैव मन्दिर मे सन्निहित थी। राजतन्त्र इन धर्म संस्थानो के आधीन रहकर कार्य करता था। चीन, जापान, तिब्बत, कोरिया की संस्कृतियो पर भारत की अमिट छाप आज देखी जा सकती है। बौद्ध स्तूपों, मन्दिरों के ध्वशावशेष अनेको स्थानों पर बिखरे पड़े हैं।

भारतीय तत्वज्ञान की स्पष्ट छाप पश्चिमी विचारकों पर भी दिखाई पड़ती है। गणितज्ञ पाइथागोरस उपनिषद् की दार्शनिक विचारधारा से विशेष प्रभावित था। कितने ही पश्चिमी विद्वानों ने तो भारतीय साहित्य में समाहित विचारों से प्रेरणाये लेकर अनेकों कृतियाँ रचीं, जो अपने समय में अनुपम कहलायीं, गेटे ने सर विलियम जोन्स शकुन्तला नाटक के अनुवाद से अपने ड्रामा 'फास्ट' की भूमिका के लिए आधार प्राप्त किया। दार्शनिक फिकटे तथा हैगल वेदान्त के अद्वैतवाद के आधार पर एकेश्वरवाद (मानिज्म) पर रचनाये प्रस्तुत कर सके। अमरीकी विचारक थोरो तथा एमरसन ने भारतीय दर्शन के प्रभाव का ही प्रचार-प्रसार अपनी शैली मे किया।

गणित विद्या का मूल आविष्कार का भारत ही है। शून्य का अक शतोत्तर गणना तथा सख्याओं के लिखने की आधुनिक प्रणाली मूलत: भारत की ही देन है। इससे पहले अंको को भिन्न-भिन्न चिन्हो द्वारा प्रदर्शित करने की रीति थी। इससे बडी संख्याओं के लिखने मे बड़ी कठिनाई होती थी। उदाहरणार्थ—फिनीशियन रीति से-नौ को नौ लम्बी लकीरो मे लिखने की परम्परा थी। यजुर्वेद संहिता अध्याय—१७ के मन्त्र—२ में दस खरब तक की संख्या का उल्लेख एक पर ११ शून्य के रूप मे किया गया है। जबकि यूनान की बड़ी से बड़ी सख्या का नाम मिरियड था तथा रोम की मिल्ली, यह दोनो ही क्रमश: दस हजार तथा एक हजार की अधिकतम संख्या को दर्शाते थे। भारतीय विद्वान आर्यभट्ट ने वर्गमूल, बीजगणित, वर्ग समीकरण तथा घनमूल जैसी गणितीय विद्याओ को आविष्कार किया, जो आज विश्व भर मे प्रचलित है।

अरब निवासी अकों को हिंदसा कहते थे, क्योकि उन्होने अंक विद्या भारत से अपनाई। इनसे पाश्चात्य विद्वानों ने सीखकर अरेजिक नोटेसन नाम रखा था। अनुमान है कि भारत की अक प्रणाली का योरोप मे प्रचार पन्द्रहवीं शताब्दी में हुआ तथा सत्रहवीं सदी तक समस्त योरोप मे प्रयोग होने लगा। पाई की कल्पना तथा मान ३.१४१६ की खोज का श्रेय आर्यभट्ट को है। गंवेषक मोहम्मद विनमूसा ने ९२५ ई. पाई का मान देते हुए यह लिखा है कि यह मान हिन्दू ज्योतिर्विदों का दिया हुआ है। सदियों पूर्व भारतीय ज्योतिर्विदों ने यह कल्पना की कि पृथ्वी सूर्य के चारो ओर घूमती है। सूर्यग्रहण तथा चन्द्रग्रहण के समय का सही आकलन करने वाली ज्योतिष विद्या इस देश की ही देन है। जर्मनी के कितने ही विश्वविद्यालयो मे आज भी वेदो की दुर्लभ प्रतियाँ सुरक्षित रखी हुई है तथा उनमें वर्णित कितनी ही गुह्यतम विद्याओ पर वहाँ के वैज्ञानिक अन्वेषणरत है।

'वसुधैव कुटुम्बकम्' की भावना से प्रेरित होकर 'बहुजन हिताय' की दृष्टि से यहाँ के निवासी समय-समय पर देश की सीमाओ को लाँघते हुए अपने ज्ञान-विज्ञान की सम्पति को उन्मुक्त हाथो से बांटने के लिए दूसरे देशों मे भी पहुँचते रहे हैं। तब आज जैसे यातायात के सुविकसित साधन भी न थे। दुर्गम पहाड़ो, नदियों, रेगिस्तान, बीहड़ो की कष्टसाध्य यात्राये उनको पावन मनोरथ से डिगा नही पाती थी। वृहत्तर भारत की नीव उनके इन दुस्साहसी प्रयत्नों से ही पड़ी। कुमारजीव, कश्यप मतग, बुद्धयश तथा गुणवर्मन आदि बौद्ध भिक्षुओ ने प्राणो को हथेली पर रखकर पैदल चीन की यात्राये की। उनके भाषणो, उपदेशो से वहाँ के मनीषी इतने अधिक प्रभावित हुए कि उस भूमि की चरणरज मस्तक पर लगाने चल पड़े। जिसने अमृततुल्य तत्वज्ञान को जन्म दिया। फाह्यान, ह्वेनसाग, इत्सिग आदि चीनी विद्वान भारत आये तथा बर्षो तक अपनी ज्ञान-पिपासा शांत करते रहे। जो मिला उसे अपने देशवासियो मे बाँटने वापिस लौटे। मगोलिया,

साईबेरिया, कोरिया आदि मे भी भारतीय विद्वानों के पहुँचने तथा संस्कृति के प्रचार का उल्लेख मिलता है।

कलिंग युद्ध के बाद अशोक का हृदय-परिवर्तन हुआ। प्रायश्चित के लिए उसने बौद्ध धर्म मे दीक्षित होकर धर्म प्रचार के लिए न केवल स्वयं कार्य करना आरम्भ किया, वरन् अपने पुत्र-पुत्री को भी वैसे ही अनुकरण के लिए प्रेरित किया। श्रीलका में उसने अपने पुत्र महेन्द्र और पुत्री संघमित्रा को प्रचारार्थ भेजा। गया से बोधिवृक्ष की एक शाखा लेकर उन्होने लंका में आरोपित की। बौद्ध धर्म के धार्मिक चिन्ह, ग्रंन्थों एवं प्रासादो के रूप मे जो लंका में दिखाई पड़ते हैं, वे महेन्द्र संघमित्रा के प्रयासो के ही पुण्य प्रतिफल है। वर्मा का पुरातन नाम ब्रह्मदेश है। जिस पर भारतीय प्रभाव की झलक स्पष्ट दिखाई पड़ती है। बौद्ध भिक्षु यहाँ भी पहुँचे।

कम्बोडिया, तीसरी से सातवीं शताब्दी तक हिन्दू गणराज्य रहा। वहाँ के निवासियो का विश्वास है कि इस देश का नाम भारत के ही एक ब्राह्मण ऋषि कौडिण्य के नाम पर पड़ा, जिनने यहाँ की एक नाग कन्या से विवाह किया और अपना राज्य स्थापित किया। उनके बाद जयवर्मन, यशोवर्मन, सूर्यवर्मन आदि राजा हुए। यहाँ के प्रख्यात मन्दिर है—अङ्कोर के । जिनकी दीवारों के पत्थरों पर रामायण के दृश्य खुदे हुए है। लाओस के कुछ मन्दिरों में भी रामकथा के दृश्य देखे जा सकते हैं।

इण्डोनेशिया यों तो वर्तमान में मुस्लिम देश है, किन्तु भारतीय संस्कृति की अमिट छाप इस पर आज भी है। इण्डोनेशिया यूनानी भाषा का शब्द है, जिसका अर्थ होता है—भारत द्वीप। जावा, सुमात्रा, बोर्नियों-आदि इसके द्वीप हैं। प्राचीनकाल मे वे सभी भारत के अंग रहे थे। रक्त एवं संस्कृति दोनो ही दृष्टियों से वहाँ के निवासी भारतीयों से अविछिन्न रूप में जुड़े हुए हैं। जावा के लोगों में विश्वास है कि भारत के पाराशर तथा व्यास ऋषि वहाँ गये थे तथा बस्तियाँ बसाई थी। शैलेन्द्र राजवंश द्वारा बरोबुदुर जैसे मन्दिर वहाँ बनावाये गये, जिसमें बुद्ध की ४३२ मूर्तियाँ हैं। उन मूर्तियों पर गुप्तकला की भी स्पष्ट छाप है। मन्दिर का बौद्ध स्तूप कलाकृति एवं सौन्दर्य की दृष्टि से संसार भर में सर्वोत्कृष्ट माना जाता है। जावा के जोग, जकार्ता की रामलीला एवं नाटक संसार भर में प्रसिद्ध हैं। वे मूलतः राम-कथानक पर आधारित होते हैं। मन्दिर की प्रस्तर भित्तियो पर सम्पूर्ण रामकथा का चित्रण किया गया है। सुमात्रा मे हिन्दू राज्य की स्थापना तथा भारतीय संस्कृति का विस्तार चौथी शताब्दी में हुआ। पलेमवंग नामक स्थान कभी सुमात्रा की राजधानी था, जहाँ भारतीय धर्म संस्कृति एवं अध्यात्म विषयो का शिक्षण होता था। पाली एवं संस्कृत भाषा यहाँ पढ़ाई जाती थी। इण्डोनेशिया के बाली द्वीप के विषय में चीनी कहते है कि चौथी शताब्दी मे कौन्डिण्यवंशी भारतीय राजा ने हिन्दू राज्य की स्थापना की थी, जो दसवीं शताब्दी तक कायम रहा। बाद में वह हालेण्ड के आधीन आ गया।

बोर्नियो द्वीप सबसे बड़ा है। यहाँ हिन्दू राज्य की स्थापना पहली सदी में हो गई थी। शिव, अगस्त्य, गणेश, ब्रह्मा, स्कन्द आदि ऋषियो एवं देवताओं की मूर्तियां यहाँ प्राप्त हुयी तथा कितने ही पुरातन हिन्दू मन्दिर आज भी मौजूद हैं, जो यह बताते है कि यह द्वीप भारतीय सस्कृति का गढ़ रह चुका है।

इतिहासकारों का मत है कि थाईलैंड का पुराना नाम स्याम देश था। तीसरी शताब्दी में वह भारत का उपनिवेश बना तथा बारहवी शताब्दी तक भारत के आधीन रहा। स्याम की सभ्यता भारतीय संस्कृति से पूरी तरह अनुप्राणित है। उसकी लिपि का उद्गम पाली भाषा से हुआ है, जो भारत की देन है। उनके रीति-रिवाजों में भारतीय जैसा साम्य दिखाई पड़ता है। दशहरा जैसे पर्व धूमधाम से मानये जाते हैं। थाई जीवन में राम एवं रामायण के कथानक की प्रेरणायें गहराई तक जड़े जमाये हुई हैं। अष्टमी, पूर्णिमा, अमावस्या आदि पर्वों पर भारत की तरह वहाँ भी छुट्टियाँ रहती हैं। थाई रामायण का नाम 'रामकियेन' है, जिसका अर्थ होता है—राम कीर्ति। थाईलैण्ड में अयोध्या और लोपपुरी जैसी नगरियाँ हैं।

तिब्बती साहित्य पर बौद्ध धर्म का गहरा प्रभाव है। वहाँ के राजा सांगचन गंम्पो ने भारतीय लिपि के आधार पर तिब्बत की वर्णमाला का आविष्कार किया, नालन्दा के आचार्य शान्तरक्षित ने सन् ७४७ में तिब्बत पहुँचकर 'समयें' नामक पहला विहार बनवाया। तत्पश्चात् काश्मीर के भिक्षुक पद्म संभव के प्रयत्नों से

वहाँ महायान की तान्त्रिक शाखा का प्रचार हुआ। लामावाद की उत्पत्ति उसी से हुई।

ऐसे अगणित प्रमाण संसार के विभिन्न देशों में बिखरे पड़े हैं, जो यह बताते हैं कि भारत समय-समय पर अपने भौतिक एवं आध्यात्मिक ज्ञान सागर से इस वसुधा को अभिसिंचित करता रहा। उस स्वर्णिम इतिहास के साथ पतन पराभव के युग की भी एक कहानी है। अपनी सांस्कृतिक विशेषताओं को भूलने, उपेक्षा करने का ही दुष्परिणाम देशवासियों को हजारो वर्षों की यन्त्रणाभरी पराधीनता के रूप मे भुगतना पड़ा है। उत्थान-पतन के इस चक्र के बावजूद भी भारत अपनी सांस्कृतिक विशेषताओं के बीज सुरक्षित रखे हुए है। उसके पास ऋषि प्रणीत पारसतुल्य अध्यात्म विद्या की विरासत है, जिसके सम्पर्क में आकार लोहे जैसे नगण्य व्यक्तित्व भी कुन्दन जैसे बहुमूल्य खरे बन सकते हैं। बीसवीं सदी के परमाणु युग में मानवी सभ्यता को स्वयं के आविष्कारो से भस्मीभूत हो जाने का संकट आ खड़ा हुआ है। इस संकट बेला मे विश्व की निगाहें भारत की ओर लगी हुई हैं। इस देश की समता, शुचिता, सहिष्णुता तथा 'वसुधैव कुटुम्बकम' की उदात भावना पर आधारित संस्कृति को सही रूप में प्रस्तुत करने के लिए प्रखर व्यक्तित्व उभरकर सामने आ सकें तो आसन्न उन विश्व विभीषिका से मुक्ति मिल सकती है। तब सचमुच ही वह सपना साकार हो सकता है, जो पॉच दशक पूर्व स्वामी विवेकानन्द ने देखा था और कहा था—"एक दिन भारत अपनी आध्यात्मिक विशेषताओं के साथ उभरकर पुन: विश्व रंगमंच पर सामने आयेगा, विश्व का मुकुटमणि बनेगा तथा हर क्षेत्र में संसार का मार्ग दर्शन करने में सक्षम होगा।"

देव संस्कृति व्यापक बनेगी, सीमित न रहेगी

भारतीय संस्कृति—देव-संस्कृति

भारत एक देश नही, मानवी उत्कृष्टता एवं संस्कृति का उद्गम केन्द्र है। हिमालय के शिखरों पर जमी बर्फ जल धारा बनकर बहती है और सुविस्तृत धरातल को सरसता एवं हरीतिमा से भरती है। भारत धर्म और अध्यात्म का को उदयाचल है, जहाँ से सूर्य उगता और समस्त भूमण्डल को आलोक से भरता है। एक तरह से यह आलोक प्रकाश ही जीवन है, जिसके सहारे वनस्पतियाँ उगती, घटाएँ बरसती और प्राणियों में सजीव हलचलें होती है।

बीज में वृक्ष की समस्त विशेषताएँ सूक्ष्म रूप मे छिपी पड़ी होती है। परन्तु ये स्वत: विकसित नही हो पाती। उन्हें अंकुरित विकसित करके विशाल बनाने के लिये प्रयास करने पड़ते हैं। ठीक यही बात मनुष्य के सम्बन्ध मे है। सृष्टा ने उसे सृजा तो अपने हाथो से है और उसे असीम संवेदनाओ से परिपूर्ण भी बनाया है पर साथ ही इतनी कमी भी छोड़ी है कि विकास के प्रयत्न बन पड़ें तो ही उसे ऊंचा उठने का अवसर मिलेगा। स्पष्ट है कि जिन्हें सुसंस्कारिता का वातावरण मिला, वे प्रगति पथ पर अग्रसर होते चले गये। जिन्हे उससे वंचित रहना पड़ा वे अभी भी वन्य प्राणियो की तरह रहते और गयी-बीती परिस्थितियो मे समय गुजारते है। इस प्रगतिशीलता के युग मे भी ऐसे वनमानुषों की कमी नही, जिन्हें बन्दर की औलाद ही नही, उसकी प्रत्यक्ष प्रतिकृति भी कहा जा सकता है। यह पिछड़ापन और कुछ नही, प्रकारान्तर से संस्कृति का प्रकाश न पहुंच सकने के कारण उत्पन्न हुआ अभिशाप भर है।

यह न तो आत्म प्रशसा है, न ही अतिशयोक्ति कि देव संस्कृति भारत भूमि से ही प्रभातकालीन सूर्य की तरह उगी और समस्त धरातल को प्रगति, समृद्धि, शक्ति एवं सभ्यता जैसे दिव्य अनुदानो से सरावोर करती चली गई। विश्व-इतिहास के पृष्ठ इन प्रमाणो से भरे पड़े हैं कि मानवी गरिमा को उच्चस्तरीय बनाने और सर्वांगीण प्रगति का द्वार खोलने में उस तत्वदर्शन (फिलासफी) का असाधारण योगदान रहा है, जिसे धर्म, अध्यात्म या आदर्श निर्धारण कहा जा सकता है। इस भूमि पर जन्मे दिव्यदर्शी, तपस्वी, माहमनीषियो ने मानव समुदाय को जिस चिन्तन, चरित्र, रुझान, निर्धारण एवं प्रयास पुरुषार्थ की ओर अग्रसर किया, वह स्वर्गीय वरदान सिद्ध हुआ। प्रगति की दिशा मे चल रही क्रमिक गतिशीलता के पीछे जिस दिव्य अनुदान की झाँकी मिलती है, उसे पर्यवेक्षक एक स्वर से भारत की

देवसंस्कृति का अनुदान मानते और कृतज्ञतापूर्वक शतशत नमन करते है। इतिहास के पृष्ठो पर इन तत्वो का विस्तार से उल्लेख है कि देवसंस्कृति का प्रवाह मलयज पवन की तरह समस्त ससार मे बिखरा और उसने बिना किसी भेदभाव के हर क्षेत्र को समुन्नत एव सुसंस्कृत बनाने मे भारी योगदान दिया। किसी समय इस तत्वदर्शन को सर्वत्र जगद्गुरु, चक्रवर्ती, धरती का स्वर्ग जैसे नामो से कृतज्ञतापूर्वक स्मरण किया जाता था। इसे श्रेष्ठता के प्रति सहज-श्रद्धा की स्वत. स्फुरणा ही कहा जा सकता है।

प्रवासी भारतीय इतना तो करें

संस्कृतियो के पक्षधर अनेक देशो में बसकर अपने राष्ट्रीय संविधान एव नागरिक कर्तव्यो का निष्ठा-पूर्वक पालन करते हैं। इतने पर भी उन विभिन्न देशवासियो को अपनी आध्यात्मिक मान्यता एवं सास्कृतिक एकता का क्षेत्र व्यापक बनाये रहने मे कोई कठिनाई नही होती। ईसाई धर्म रोम में उगा और इस्लाम अरब मे पनपा। फिर भी उनके अनुयायी अनेक देशो मे बसे और वहाँ के वफादार नागरिक रहते हुये भी अपनी भावनाओ को व्यापक बनाये हुए हैं। उसे देश या जाति या व्यवसाय के छोटे बंधनो मे कैद नही होने देते। जब भी अवसर मिलता है, मक्का, यरूशलेम आदि जा पहुँचते है। बौद्ध देशो के निवासी अपनी गुरुभूमि भारत माता के दर्शन करने निरन्तर आते रहते है। भावनात्मक एकता का दायरा असीम है। इस आधार पर बनी आत्मीयता तब तक स्थायी रहेगी जब तक कि मुनष्य श्रद्धा तत्व को सर्वथा तिलांजलि न दे दे।

राष्ट्रीयता की दृष्टि से भारत भूमि के लोग अनेक देशो मे बसे होने के कारण स्वभावत: वहाँ के वफादार नागरिक रहेगे और कानून व्यवस्था के अनुबधो का सचाई के साथ पालन करेगे। इतने पर भी आध्यात्मिक एवं सांस्कृतिक एकता का तथ्य अपने स्थान पर यथावत बना रहता है। उस पर किसी भौतिक रेखा विभाजन को कोई असर नहीं पड़ना चाहिए।

कई भाई बड़े होने पर आर्जीविका उपार्जन के लिये सुदूर क्षेत्रो में जा पहुचते या जा बसते है। फिर भी उनकी कोटुम्बिकता, भावनात्मक एकता यथावत बनी रहती है। बहुत दिनो तक मिलना-जुलना न बन पड़ने पर भी जब कभी घर-परिवार की बात आती है तो दूरवर्ती होने पर भी सब भाई एक सूत्र में बँधे होने की अनुभूति करते हैं और समय-समय पर उससे प्रेरित होकर ऐसे कदम भी उठाते हैं मानो वे मीलों की दूरी आ पड़ने पर भी एक-दूसरे से पृथक् नहीं हो पाये। इन भाइयों में से किसी की मृत्यु हो जाये और उनके पीछे विधवा तथा अनाथ बालकों के परिपोषण का प्रश्न आ पड़े तो दूरवर्ती होते हुये भी वैसी ही सहानुभूति दर्शाई जाती है मानो वे अभी भी उसी पुरातन घर-परिवार के सदस्य बने हुये हो, जिसमें कि जन्मे और खेले थे। उन कुटुम्बियों के बीच रज खुशी मे ही नही अन्य प्रकार से भी वे एक-दूसरे को सहारा देने की बात सोचते रहते है। वैसा कुछ बन न पड़े तो भी गहरी सहानुभूति तो रहती ही है।

राम-लक्ष्मण के वनवास भुगतने पर भरत और शत्रुघ्न प्राय. उसी स्तर को तपस्वी जीवन जीते रहे। इसका कारण वह सघन सवेदना ही थी, जो शरीरो के दूर रहने पर भी आत्मीयता के आधार पर बनी निकटता मे किसी प्रकार की व्यतिरेक उत्पन्न न कर सकी।

भारतीय मूल के व्यक्ति किसी भी देश मे जा बसें, अपनी सास्कृतिक एकता एव आत्मीयता के बंधनो से मुक्त नही हो सकते। ये ऐसे सुदृढ है कि उन्हें मीलों की दूरी तो महत्व ही क्या रखती है। जन्म जन्मान्तरो के साथ बदलती हुई स्मृति भी तोड़ सकने में समर्थ नही हो सकती।

अनेकता में एकता—देव-संस्कृति की विशेषता

यहाँ एक बात और याद रखनी चाहिए कि सस्कृति का माता की तरह अत्यत विशाल हृदय है। धर्म सम्प्रदाय उसके छोटे-छोटे बाल-बच्चो की तरह हैं, जो आकृति-प्रकृति मे एक-दूसरे से अनमेल होते हुए भी माता की गोद मे समान रूप से खेलते और सहानुभूति, स्नेह, सहयोग पाते है। भारत एक विचित्र देश है। इसमे धर्म, सम्प्रदायों की जाति विरादरियों की, प्रथा परम्पराओ की बहुलता है। भाषाये भी ढेरो बोली जाती है। इनके प्रति परम्परागत रुझान और प्रचलनों का अभ्यास बना रहने पर भी सास्कृतिक एकता में

कोई अन्तर नहीं आता। इसीलिए एक ही धर्म संस्कृति के लोग मात्र प्रान्त, भाषा, सम्प्रदाय, प्रथा प्रचलन जैसे छोटे कारणों को लेकर एक-दूसरे से पृथक् अनुभव करें उदासीनता बरतें और असहयोग दिखायें तो इसे दुर्भाग्यपूर्ण ही कहा जा सकता है।

यह एक शोचनीय बात है कि देवसंस्कृति की गरिमा को उसके उत्तराधिकारी ही उपेक्षा के गर्त में धकेलते चले जा रहे हैं, जबकि अन्यत्र धर्म-संस्कृतियों में वैसी अवमानना दृष्टिगोचर नही होती। संस्कृति को प्रथा प्रचलन की परिपाटी भर मान बैठना भूल है। उसके साथ एक महान परम्परा की दिव्यधारा प्रवाहित होती है। उसे यदि सही रूप से समझाया और अपनाया जा सके तो अतीत जैसे गौरव, वातावरण और वैभव का पुनर्जीवित हो उठना सुनिश्चित है। अस्तु, प्रयत्न यह होना चाहिए कि देवसंस्कृति के दर्शन, स्वरूप, प्रचलन, प्रतिपादन को जानने, अपनाने के अवसर संसार भर के मुनष्य समुदाय को मिलता रहे। यदि वर्तमान परिस्थितियों मे वैसा न बन पड़े तो कम से कम इतना तो होना चाहिए कि जो लोग भारतीय संस्कृति पर विश्वास करते है, वे उसके स्वरूप को भली प्रकार समझे और जितना संभव हो, उतना अपनाए रहने का सच्चे मन से प्रयास करें।

यह आवश्यकता भारत व बाहर बसे प्रत्येक देव-संस्कृति के अनुयायी को अनुभव करनी चाहिए कि मध्यकालीन कुरीतियो, अन्धविश्वासों एवं धर्म क्षेत्र मे घुस पड़ी अनेकानेक विकृतियों को बुहारने के उपरांत जो शाश्वत और सत्य बच जाता है, उसे न केवल मान्यता देने का, वरन् जन-जन को अवगत कराने तथा व्यवहार में सुस्थिर बनाए रहने का भाव भरा प्रसास किया जाय।

प्रवासी भारतीयों को भिन्न परिस्थितियों, भिन्न वातावरण मे एवं भिन्न प्रकार के व्यक्तियों के बीच निर्वाह करना पड़ता है। स्वभावतः बहुसंख्यक लोगों का प्रभाव अल्पसख्यको पर पड़ता है। इन दिनो भारतीय सस्कृति की अवहेलना उसके अनुयायियो द्वारा ही की जाने के कारण विदेशो में उनका पक्ष और भी अधिक कमजोर पड़ता है। स्थिरता एव प्रोत्साहन का आधार न मिलने और सामने ईसाइयत जैसे प्रचलनों का दबाव पड़ने से गाड़ी स्वभावत. उसी पटरी पर घूमने लगती है। प्रवासी भारतियों को हर पीढ़ी अपने पूर्वजों की तुलना मे देवसंस्कृति के लिये कम रुचि दिखाती और अधिक उपेक्षा बरतती देखी जा सकती है। प्रवाह इसी दिशा में बहता रहा तो वह दिन दूर नही, जब प्रवासी भारतीय अपनी सांस्कृतिक आस्थाओ से विरत होते-होते किसी दिन उसे पूर्णतया तिलांज्जलि दे बैठेंगे।

होना यह चाहिए था कि प्रवासी भारतीय अपने-अपने देशों मे अपने राष्ट्र के प्रति पूरी निष्ठा रखते हुए वहाँ भारतीय संस्कृति के प्रतिनिधि बनकर रहते-अपनी स्थिति संगठित एवं प्रभावोत्पादक बनाते अपरिचित लोगों को इस गरिमा से परिचित एवं प्रभावित करते। ऐसा बन पड़ा होता तो शताब्दियो से बसे प्रवासी भारतीय उन-उन देशों में से असंख्य लोगो को इस महान् परम्परा का अनुयायी बनाने मे सफल हो चुके होते। किन्तु होता उलटा रहा है। बढ़ना तो दूर, वे घटे ही हैं, जबकि सर्वत्र जनसख्या वृद्धि की बाढ़ सी आयी है।

भावी संभावनायें

भारतीय संस्कृति की महानता को देखते हुए विज्ञ समुदाय की यह मान्यता दिन-दिन सुदृढ़ होती जा रही है कि अगले दिनों समस्त विश्व की एक समन्वित संस्कृति होगी और उसका निर्धारण भारतीय संस्कृति के सिद्धान्तो एवं प्रचलनों के आधार पर होगा। ऐसी स्थिति में इस महान् परम्परा के अनुयायियों का धर्म कर्तव्य हो जाता है कि वे न केवल उसके दर्शन, स्वरूप, व्यवहार, प्रयोग-उपयोग आदि से सर्वसाधारण को परिचित करें वरन् स्वय इस प्रकार की जीवनचर्या भी अपनायें जिससे सिद्धान्त एवं व्यवहार दोनो का समन्वय हो, प्रतिपादन-अनुगमन के दोनों ही क्षेत्र गौरवान्वित हो सकें।

इस सन्दर्भ मे एक ऐसा सशक्त तंत्र खड़ा होना चाहिये, जो भारत भूमि को इस बात के लिए बाधित करे कि वह अपना पयपान प्रवासी बालको को पिलाते रहने का उपक्रम करे और साथ ही प्रवासी भारतीयों में अनुदान से लाभान्वित होने की आकांक्षा जगाये। ईसाई देशो के मिशन एशिया, अफ्रीका के अनेक देशों में अपनी सामर्थ्य का बढ़ा-चढ़ा उपयोग ईसाई संस्कृति

के विस्तार मे करते है। प्रवासी देवपुत्रो से इतना तो न सही, इतना तो बन पड़ना ही चाहिये कि स्वयं में भावनात्मक कुण्ठा पनपने की स्थिति न आ पाये। विश्वास किया जाना चाहिए कि ऐसा प्रयास तंत्र खड़ा होगा तो विश्व के कौने-कौने मे बसे हुए भारत भूमि के संस्कृति प्रेमी उसका स्वागत ही नहीं, सहयोग भी करेगे।

पिछले दिनो भारत से धर्म-प्रचारकों के रूप मे अर्थ लोलुप ही जाते रहे हैं। योग शिक्षा से लेकर आश्रम मंदिर आदि बनाने के बहाने चन्दा एकत्र करना और उसे समेट-बटोर कर ले आना। यही एक धंधा उन लोगो का रहा है, जो प्रवासी भारतीयों मे धर्मप्रचार का लबादा ओढ़कर पहुँचते रहे हैं। स्वभावत: इससे अश्रद्धा बढ़ी है और इस प्रकार के प्रचारको का आगमन आशंका और अविश्वास की दृष्टि से देखा जाने लगा है। यदि इस गंदगी को साफ कर ईसाई चर्च जैसा रचनात्मक कार्यक्रम लेकर आगे बढ़ा जा सके तो नि सन्देह एक बड़ा काम हो सकता है। प्रवासी भारतीय सांस्कृतिक दृष्टि से न केवल स्वयं समर्थ सम्पन्न हो सकते हैं, वरन् अपने सम्पर्क क्षेत्र मे असंख्यको को प्रभावित कर सकने वालो का सफल सार्थक तंत्र खड़ा कर सकते है।

बौद्धकाल में नालन्दा, तक्षशिला जैसे विश्वविद्यालय प्रधानतया इसी प्रयोजन में निरत रहते थे कि देवसंस्कृति से विश्व के कौने-कौने को लाभान्वित कर सकने वाले व्यक्तित्वों को ढाला जाय। इससे पूर्व वानप्रस्थो और संन्यासियों की परम्परा प्रव्रज्या अपनाकर बादलों की तरह सुदूर क्षेत्रों में पहुँचती और बरसती रही है। आज की स्थिति में दूसरा प्रयत्न यह हो सकता है कि भारत के लोग वहाँ संभालने पहुँचे और वहाँ के लोग भारत में प्रशिक्षण प्राप्त करने आये जिसके सहारे विभिन्न देशो में बसे हुए भारतीय अपने समुदाय को सांस्कृतिक दृष्टि से न केवल प्रौढ़ परिपक्व बना सकें वरन् उन क्षेत्रो में देवसंस्कृति के अग्रदूत बनकर आलोक वितरण की समर्थ भूमिका निभा सकें।

विशेष उत्तरदायित्व

कोई बात कितनी ही महान् क्यों न हो, यदि वह व्यवहार में न उतरे, चिन्तन पर छाई न रहे तो पुस्तकों में सीमाबद्ध रहने पर भी वह उपेक्षित होते-होते विस्मृति के गर्त में जा गिरेगी और अपना अस्तित्व गँवा देगी। देवसंस्कृति के उत्तराधिकारियों के कधों पर यह विशेष जिम्मेदारी है कि यदि इन्हें पूर्वजों की थाती पर गर्व अनुभव होता हो तो उतना साहस भी जुटायें कि उसे अपनी जीवनचर्या में समाविष्ट रहने का अवसर मिलता रहे। भावी पीढ़ियो को, पड़ौसी-स्नेही सम्बन्धियों को किसी संस्कृति का महत्व तथा उपयोग तभी विदित हो सकता है, जब वे उसे प्रत्यक्ष व्यवहार मे क्रियान्वित होते देखेगे।

तत्वदर्शन अन्तराल की गहराई में घुसा होता है। वह प्रत्यक्षत. दिखाई नही देता। परिचय मिलने और प्रभाव पड़ने की स्थिति तब बनती है, जब किसी परिपाटी को आँखों से देखने और कान से सुनने का अवसर मिलता है। देवमानवों द्वारा युग-युगो के अनुसंधान और तप साधन से उपार्जित सम्पदा एक ही है "उनके द्वारा निर्धारित, प्रतिपादित भारतीय संस्कृति"। उसे उपेक्षा के गर्त मे गिरकर नष्ट होते हुए मूकदर्शक की तरह देखते रहना इस बात का परिचायक है कि अब हम भावनाशून्य हो चले। श्रद्धा और कृतज्ञता का उत्तराधिकार के साथ कंधो पर आने वाली जिम्मेदारी का हमें भान ही नही रह गया। यह ऐसी स्थिति है, जिसे अनास्था जन्य दुर्भाग्य ही कहा जा सकता है। वह यदि पनपे तो भावनाशीलों का कर्तव्य है कि समय रहते स्थिति को सुधारें।

अगले दिनो भारत में जन्मी देवसस्कृति ही विश्व संस्कृति बनेगी। उसकी गरिमा को समय रहते इतना उभार देना चाहिये कि बिना कठिनाई के उसे श्रद्धा अर्जित करने का भूतकाल जैसा अवसर मिल सके। इस प्रयास में एक महत्वपूर्ण कड़ी यह हो सकती है कि भारत-भूमि और प्रवासी भारतियो के बीच सांस्कृतिक आदान-प्रदान अधिक सुनियोजित ढंग से तत्काल आरम्भ हो सके। 'युगान्तर चेतना' के माध्यम से भारतवर्ष से कार्य का शुभारंभ किया जा रहा है।

विश्व को देवमानवों के अजस्र अनुदान

भारत भूमि की परम्परागत महानता इतने तक सीमित नही थी कि यहाँ के निवासी समर्थ, समृद्ध एवं सुसंस्कृत भर थे। यदि बात इतनी छोटी होती तो उस प्रकार के उदाहरण अन्यत्र भी खोजे जा सकते थे।

अपनी-अपनी परिधि में अपने ढंग से सभी उत्कर्ष अभ्युदय के प्रयत्न करते और योग्यता एवं परस्थिति के अनुरूप सफल भी होते रहते थे। कौन कितना सफल हुआ अन्तर मात्र इतने भर का ही तो रहा। परिणामों मे इस अनुपात से अन्तर तो रहेगा ही, पर तथ्य एवं प्रयत्न को असाधारण या अनुपम नही कहा जा सकता। भारत भूमि को 'स्वर्गादपि गरीयसी' इसीलिए कहा जाता है कि उसके अपने कुछ मौलिक निर्धारण एवं प्रयास थे। इनमें सर्वोपरि यह था कि जो पाया जाय उसे बिना अपने पराये को भेद-भाव कि बाँटा-बिखेरा जाय। इस विभाजन वितरण में विशेष तथा अधिक जरूरतमन्दों की प्राथमिकता देने की नीति को पूरा-पूरा समावेश किया गया।

स्वर्गलोक के निवासियों की सम्पदा उन्हीं के काम आती है। धरती वाले उस वैभव का लाभ वहाँ उठा पाते हैं। देवताओं में देने को प्रवृत्ति तो है पर साथ ही इस स्तर की कि जो अनुनयपूर्वक माँगे उसी को अनुग्रहपूर्वक दिया जाय। बिना माँगे-स्वत. विपन्नता को तलाश करना और बिना याचना के उस विपमता को निरस्त करने के लिए जा पहुँचना यह विशेषता धरती के देवमानवों मे ही पाई जाती है। व्यवहार मे इसे तब उभरते देखा जाता है, जब कभी भूकम्प, दुर्भिक्ष, बाढ़, अग्निकाण्ड, महामारी, दुर्घटनाएँ सामने आती हैं। अनेकों भावनाशील उस समय अपनी सहायता लेकर संकटग्रस्तों की सहायता को दौड़ते हैं। यह विशेष अवसर की विशेष बाते हुई। उसे स्वभाव मे जीवन क्रम में सम्मिलित रखा जाय-निरन्तर बरता जाय तो फिर इसे देवताओं से भी विशिष्ट कहा जायेगा। यही कारण है कि देवमानवो की मन.स्थिति एवं जीवनचर्या को सुरदुर्लभ कहा गया है। उस आनन्द से वंचित रहने के कारण देवता धरती पर उतरते और मनुष्य जन्म लेकर अपने को कृत-कृत्य करते है। भारत-भूमि को 'स्वर्गादपि गरीयसी' इसी दृष्टि से कहा जाता रहा है कि इस पर जन्मे और बढ़े व्यक्ति सदा से यह ध्यान रखते रहे कि उन्हें हर स्तर का वैभव प्रचुर परिमाण में कमाना तो है पर अकेले खाना नही है। जो हस्तगत होगा उसे अधिक अभाव ग्रस्तों को प्राथमिकता दते हुए व्यापक क्षेत्र मे वितरण करते रहेंगे।

अतीत के विभूतिवानो-देवमानवों की इस विशेषता का सर्वविदित प्रमाण यह भी है कि उनने अपने देश के कौने-कौने मे सुसस्कारिता का वैभव बढ़ाने मे कमी न रखी। इसके अतिरिक्त समस्त वसुधा को अपना कुटुम्ब मानकर कष्ट साध्य यात्राये करते हुए वहाँ जा पहुँचे जहाँ पिछड़ेपन का अनुपात अपेक्षाकृत अधिक था। इतिहास साक्षी है कि अभ्युदय का वातावरण बनाने के लिए विश्व के कौने-कौने मे इस भूमि की प्राणवान आत्माये पहुँचती और वहाँ सर्वतोमुखी प्रगतिशीलता का वातवरण बनाती रही है। बादलों के ऐश्वर्य की गरिमा इसीलिए है कि वे जहाँ भी पहुँचते है, सरसता को उपहार देते है। सूर्य की वन्दना इसीलिए है कि उनका सम्पर्क क्षेत्र गर्मी और रोशनी से रहित रह ही नही सकता। भारत के देवमानवो ने समस्त विश्व को जो अजस्र अनुदान दिए हैं, उनका कृतज्ञतापूर्वक अनन्तकाल तक स्मरण किया जाता रहेगा।

संस्कृति का पराभव-काल

मध्यकाल के अन्धकार युग ने इस 'स्वर्गादपी गरीयसी' भारत भूमि की सारी विशेयताओ का अपहरण कर लिया। पतन और पराभव ही पल्ले रह गया। अब हम दानी नही याचक भर बनकर रह गए हैं। शासन, अर्थ, शिक्षा, विज्ञान आदि भौतिक क्षेत्रो मे ही नही संस्कृति की दृष्टि से भी भारतवर्ष ज्ञायातक भर है। निर्यातक बनने की स्थिति तो अभी तक नही बन पाई। इस दृष्टि से ईसाई-मिशन निर्यातक होने का गौरव प्राप्त करते है। इस देश के साधुबाबा, धर्म प्रचारक और दूसरे लोग कभी विदेश जाते है तो लालच की ऑखें और याचना की झोली भर लेकर बाहर पहुँचते हैं। बहाने बनाने के हजार रास्ते हैं। माँगने के लिए भी अनेका सच्चे-झूठे कारण एव पाखण्ड खड़े किये जा सकते हैं। दृष्टि तो वही रही, जिसके कारण उनके प्रति जन-साधारण को श्रद्धा घटती और प्रभावोत्पादक सामर्थ्य मिटती है।

यहाँ चर्चा समर्थ देशो से राजनैतिक, वैज्ञानिक, *आर्थिक याचना के होते रहने वाले प्रयत्नों की नही हो* रही वह दूसरे लोगो के सोचने की बात है। अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर आर्थिक एवं राजनैतिक सामजस्य एव सन्तुलन के निर्धारण का दायित्व एक वर्ग-विशेष

पर है, इन पंक्तियों में उस सांस्कृतिक दरिद्रता का उहापोह चल रहा है, जिसके कारण पूर्वजों की भाँति भारत-भूमि के देव पुत्र विश्व मानक को वह भी नही दे पाते, जिसको उनके अपेक्षा की जाती है। जबकि इस गई गुजरी स्थिति मे भी दे सकने योग्य उनके पास बहुत कुछ है।

सर्व विदित है कि भौतिकवादी दृष्टिकोण और सम्पन्नता के दुरुपयोग ने नैतिक मूल्यों का बुरी तरह ह्रास किया है। फलतः पारस्परिक स्नेह सहयोग में भारी कमी आई है। स्वार्थपरता और निष्ठुरता बढ़ने से सारा प्रचलन ही उलट गया है और विषाक्त वातावरण ने जनजीवन को अनिश्चित, अशान्त और आतंकित करके रख दिया है। इन दिनों समृद्धि तो निश्चित रूप से बढ़ी है पर साथ ही यह भी स्पष्ट है कि पूर्वजों को स्वल्प साधन वाली स्थिति की तुलना मे वह अत्यन्त तुच्छ और कष्ट कारक बनकर रह रही है। इस व्यापक विपन्नता को दूर करने के लिए भारत अभी भी इस स्थिति मे है कि पूर्वजों के प्रतिपादनो और निर्धारणो से अवगत कराते हुए, विश्व-मानस को यह सुझाये कि विनाश के कगार पर खड़ी सभ्यता को पीछे लौटने और शान्तिपूर्वक जीने का क्या तरीका हो सकता है।

उज्ज्वल भविष्य, एक सुनिश्चित सत्य

निःसन्देह भारत बहुत कुछ खो चुका उसके पास जो बचा है, अस्त-व्यस्त और नष्ट-भ्रष्ट है। फिर भी उसके कुछ टुकड़े ऐसे हैं, जिन्हें अभी भी डूबते को तिनके के सहारे की तरह प्रयुक्त किया जा सकता है। जैसे संयुक्त परिवार पद्धति, पतिव्रत धर्म, जीवित और मृतक पूर्वजों के लिए चरण स्पर्श, श्राद्ध तर्पण जैसे माध्यमों से कृतज्ञता ज्ञापन, परलोक पर विश्वास से नीति नियन्त्रण, परमार्थ के लिए अंशदान, प्राणियों के प्रति करुणा, स्वल्प-सन्तोष, अतीन्द्रिय क्षमताओ का क्षेत्र जैसे अनेकों प्रचलन ऐसे हैं कि उन्हे विश्व प्रचलन मे स्थान देने की बात नेय सिरे से नये प्रयत्नों से उठाई जा सके तो भारत वैसा ही श्रेयाधिकारी हो सकता है जैसा कि इन दिनों समर्थ देश अपने शस्त्र एवं साधन देकर वर्चस्व प्राप्त कर रहे हैं। आवश्यकता मात्र समर्थता एवं प्रभुत्व को परिभाषाएँ बदलने की है। यह पुरुषार्थ वर्तमान प्रतिकूल परिस्थितियों में ही किया जाना है। यह असम्भव नहीं पूर्णरूपेण सम्भव है।

वैभव न सही, दिशा दे सकने वाला आलोक अभी भी पूर्वजों की तिजोरियो में भरा पड़ा है और उनका प्रमाण परिचय अभी भी टूटे झोंपड़ों में अपने अस्तित्व को ज्यों का त्यो करके जीवित रखे हुए है। यह बपौती भी इतनी मूल्यवान है कि इसे संसार की मण्डी में प्रस्तुत किया जा सके तो विचारशील उसका महत्व समझे बिना न रहेगी। इतना ही नही उसे अपनाए जाने की भी पूरी-पूरी संभावना है क्योंकि इस महान अनुसरण के विकल्प मे एक ही मार्ग बच रहा है मनुष्य-समुदाय द्वारा सामूहिक आत्महत्या के वरण किया जाना।

परिस्थितियों ने सभी की चेतना को झकझोरा है। इस संदर्भ मे भारत की सांस्कृतिक गरिमा ने भी करवट बदली है और समय की माँग को पूरा करने के लिए उन कर्त्तव्यो को अपनाने को निश्चय किया है जिसके लिए पूर्वजों की आत्माएँ कहती-कचोटती ही नहीं, धिक्कारती भी रही है। समृद्धि ही सब कुछ नही है। संस्कृति का महत्त्व परोक्ष होते हुए भी इतना अधिक है कि उसके बिना भौतिक उपलब्धियाँ आकर्षक होते हुए भी परिणाम मे अभिशाप ही बनकर रहती है। सम्पदा का अपना महत्व है संस्कृति का अपना। दोनों ही उपयोगिता तो है पर समता नही। संस्कृति मुनष्यता को प्राण है और सम्पदा कलेवर। कलेवर के न रहने पर भी प्राण का अस्तित्व रह सकता है पर प्राण के बिना कलेवर की तत्काल दुर्गति आरम्भ हो जाती है। वैभव उपार्जन में पिछड़े होने पर भी भारत विश्व को सांस्कृतिक अनुदान आध्यात्मिक दृष्टिकोण एव शालीनता से भरी-पूरी परम्पराओं का निर्यात कर सकता है। इन अनुदानो से विश्व संकट को विनाशोन्मुख विभीषिका को समापन में उतनी राहत मिल सकती है कि मानवी अस्तित्व को संतोष की साँस लेने का उज्जवल भविष्य के पूर्ण दर्शन कर सकने का अवसर मिल सके।

संस्कृति के पुनरुत्थान का संकल्प

इन दिनों भारत की सांस्कृतिक विरासत को नये सिरे से सँभालने, सँजोने, सुधारने के अतिरिक्त उसे जन-जन तक पहुँचाने का निश्चय जिन चेतना केन्द्रों ने किया है, उनमें भारत के 'युगान्तर चेतना' मिशन को अग्रिम एवं मूर्धन्य माना जाता है। उसकी बहुमुखी

गतिविधियाँ लोकमानस के परिष्कार के, सत्प्रवृत्ति संवर्धन, अनौचित्य-उन्मूलन के मोर्चों पर एक साथ घमासान युद्ध रचे हुए हैं। सृजनात्मक लक्ष्य लेकर चलने वालो को भी जहाँ-तहाँ खोदना काटना पड़ता है। सुधार और परिवर्तन के अप्रिय प्रसंगो को अनिवार्य जितने न्यूनतम अनुपात में लेकर इस मिशन की समूची सामर्थ्य इसी एक प्रयोजन पर केन्द्रीभूत हो रही है कि मनुष्य-समुदाय को किस प्रकार सुसंस्कृत, समुन्नत एवं विभूतिवान बनाया जाय। यह कार्य सास्कृतिक चेतना उभारने से ही सम्भव है सो उसी पक्ष को प्रमुखता देकर चला जा रहा है।

शान्तिकुंज हरिद्वार के "युगान्तर चेतना" अभियान का यह निश्चय है कि विश्व-भर में देव संस्कृति का आलोक पहुँचाने और जन-जन को उत्कृष्ट चिन्तन एवं आदर्श कर्तव्य का महत्त्व हृदयंगम कराने का प्रबल प्रयत्न किया जाय। यह निर्धारण ठीक वैसा ही है जैसा कि अतीत मे महामनीषियों ने एक सुनिश्चित नीति की तरह अपनाया था अगणित प्राणवान इस निर्धारण को सफल बनाने में भारी योगदान देते और कृत-कृत्य होते रहे हैं। इन दिनों निर्धारणो की उत्कृष्टता ही न रही तो फिर सहयोग भी किसका मिले ? क्यो मिले ? इस विपन्नता के रहते हुए भी इस परिवार ने अपने देश को सुधारने की बात को प्रमुखता देते हुए भी उतने तक सीमित न रहने का निश्चय किया है और समूचे विश्व-परिवार मे सांस्कृतिक उत्कृष्टता की भावभरी उमंगे उभारने का कार्यक्रम बनाया है। इस परिवार के इस विश्वस्तरीय स्वरूप की विचारधारा और कार्य-पद्धति को एक शब्द मे समझना हो तो उसे "आप्त-निर्धारणो का सार, संक्षेप एवं सामयिक परिस्थितियों से तालमेल बिठा सकने वाला सुनियोजन" कह सकते हैं। सागर को गागर मे देखना हो तो अतीत की सुविस्तृत सांस्कृतिक परम्पराओ को पुनर्जीवित करने वाले इस छोटे प्रयत्न किन्तु महान प्रयोजन को सूक्ष्म दृष्टि से देखा और गहराई मे प्रवेश करके समझा जा सकता है। साधनो-परिस्थितियो की अनुकूलता न रहने से स्वरूप छोटा हो सकता है पर उस उद्देश्य मे रत्तीभर भी कमी नही रखी गई है, जिसके आधार पर देव-मानवो ने उत्कृष्टता की संस्कृति को सृजा-पौधा और विश्व-वसुधा के प्रत्येक घटक को लाभान्वित करने का व्रत निभाया था। इस मिशन की "विश्व निर्माण योजना" इसी प्राप्त परम्परा की छोटी किन्तु यथावत् क्रियान्वित होने वाली प्रक्रिया है।

इस योजना के अनेको पक्ष है जिन्हें प्राय: दूसरे मिशनों द्वारा किए जा रहे व्यापक प्रयत्नों से मिलता-जुलता समझा जा सकता है। उन बहुमुखी प्रयत्नो में से इन पंक्तियों में जिसकी चर्चा की जा रही है वह है—प्रवासी भारतीय-बन्धुओं को देव-संस्कृति के प्रभाव में उसी स्तर पर रखे रहना जैसा कि उन्हें रहना चाहिए। भारतीय मूल के अंश-वंश वाले लोगो से यह प्रयत्न आरम्भ किया जा रहा है कि उन की रक्त परम्परा से जुड़ी हुई दैवी सम्पदा को उभारने और परिपुष्ट करने का काम हाथ में लिया जाय और देखा जाय कि इस उर्वर भूमि में प्रस्तुत प्रयत्नों को कितनी सफलता मिली ? मोर्चे पर भेजने से पहले शस्त्रों की क्षमता और प्रयोक्ताओं की दक्षता जानी जाती है। विश्व-सुधार का महान् लक्ष्य सर्वप्रथम इस प्रयोगशाला में जाना परखा जा रहा है कि भारतीय मूल के लोगों का सुरुचि उभारने और परिपक्व करने में कितनी सफलता मिली ?

युगांतर चेतना के तीन कार्यक्रम

प्रवासी भारतियों की सख्या प्राय: पौने तीन करोड़ है। वे संसार के प्राय: ९१ देशों मे न्यूनाधिक मात्रा में बिखरे हुए है। इन सभी से सम्पर्क साधने, भावना सूत्र जोड़ने का युगान्तर चेतना मिशन ने अब निश्चय किया है। हृदय द्वारा शरीर के विभिन्न अवयवों में रक्त पहुँचाने का माध्यम धमनियाँ ही होती है। प्रवासी भारतियों मे सांस्कृतिक चेतना जगाने और उनके माध्यम से उन क्षेत्रो मे आलोक वितरण का प्रबन्ध करने की योजना का प्रथम चरण यही है कि धमनियो की शिथिलता और अशुद्धता दूर करके, उन्हे प्रखर एवं सतत् प्रवाहमान बनाया जाय। इसके लिए तीन कार्यक्रम बने हैं—(१) भारत से ऐसे प्रचारक भेजे जाये जो उन क्षेत्रों में सास्कृतिक चेतना उभारने के उद्देश्य पूरा कर सके। (२) ऐसा साहित्य विनिर्मित किया और पहुँचाया जाय जो प्रवासी समुदाय की वर्तमान मन:स्थिति एवं परिस्थिति से ताल-मेल बिठाते हुए अपनी महान् परम्पराओ को अपनाने की प्रेरणा दे सके। (३) भारत मे एक ऐसा प्रशिक्षण केन्द्र बनाया जाय, जहाँ प्रवासी भारतीय समय-समय पर आकर रह

सके। तीर्थयात्री मात्र पर्यटन का आनन्द ही नही सांस्कृतिक चेतना को हृदयंगम करने और आगे बढ़ाने का प्रकाश पा सके।

यह तीनो ही कार्य अपने ढंग के अनोखे होते हुए भी नितान्त आवश्यक है। इन्हें किए बिना यह प्रयोजन पूरा नही हो सकेगा, जिसमे देवसंस्कृति को प्राचीन काल की तरह विश्व के कोने-कोने मे पहुँचाने का निर्धारण किया गया है। चूँकि इस निर्धारण मे प्राथमिकता सरलता और आवश्यकता की दृष्टि से प्रवासी भारतीयो को दी गई है। इसलिए उपयुक्त ताल-मेल बिठाने की दृष्टि से उन्हे उपरोक्त तीन कार्यक्रमो को आधारभूत निर्धारण मानकर ही चल र होगा।

गायत्री नगर, शान्तिकुन्ज, हरिद्वार, उत्तर प्रदेश मे इतना स्थान, साधन, वातावरण एवं प्रखरता सम्पन्न लोक सेवी समुदाय विद्यमान है कि उपरोक्त योजना का सुव्यवस्थित रूप से क्रियान्वयन सभव हो सके। इस मिशन के प्रतिनिधियो/कार्यर्त्ताओ ने १९८० के दशक मे प्रवासी भारतीयो के बाहुल्य वाले प्रायः दो दर्जन देशो मे दौरा किया और सम्पर्क साधा है। फलत वह पृष्ठभूमि बनी है, जिसके आधार पर उपरोक्त त्रिसूत्री योजना को मूर्त-रूप दे सकना अविलम्ब सम्भव हो सके। आलोक वितरण की यह प्रक्रिया आगे भी सतत् रूप से चलती रहेगी।

यो इस सदर्भ मे भारत मे जब तब भाव-भरी चर्चा होती रहती है और कुछ करने की बात पर भी थोडा-बहुत विचार मंथन हुआ करता है। कभी-कभी कुछ योजनाएँ भी कागजो पर छपती और प्रचारित होती रहती है पर ऐसा देखने मे नही आया कि कही कोई साहसिक कदम उठाये गये हो। किसी भी योजना के पीछे दूरदर्शिता एवं व्यापकता की एक बहुत बड़ी कमी रही है। छुट-पुट रूप से वैयक्तिक या तथाकथित सस्थाओ के माध्यम से योग साधन, धर्म प्रचार जैसे प्रयासो की गतिविधियाँ ही अपने बहिरंग स्वरूप मे कही-कही, कभी-कभी दृष्टिगोचर होती रहती हैं। ऐसा प्रयास जिसमे आदि से अन्त तक की बात विचार की गई हो और समग्र सुनियोजित कार्यक्रम बनाकर कुछ सक्रियता की बात विचारी गई हो, सुनिश्चित कदम बढ़ाये गये हो, अब तक बन नही पड़ा। इस महत् आवश्यकता को बड़ी तैयारी के साथ एक बड़े सशक्त तंत्र के माध्यम से पूर्ति करने का संकल्प ऐसा है, जिसे विश्व-आकाश में देव-सस्कृति का अरुणोदय, अभिनन्दनीय एवं उत्साहवर्धक प्रयोग ही कहा जा सकता है।

प्रवासी भारतीयों के लिये एक सुनिश्चित कार्यक्रम

"युगान्तर चेतना" के तत्वावधान में प्रवासी भारतीयो से शुभारम्भ करके विश्वभर में देवसंस्कृति का आलोक पहुँचाने का जो निश्चय निर्धारण किया गया है, उसे योजना मात्र न रहने देकर एक सुव्यवस्थित क्रिया-प्रक्रिया में परिणित किया जा रहा है। यों इस दिशा में युग निर्माण योजना के अन्तर्गत आरंभ से ही प्रयास जारी रखे और प्रयत्न किए जा रहे है। पर वे थे इसी स्तर के कि जब, जहाँ, जितना जिस प्रकार संभव हुआ, वहाँ उतना किया गया और न कुछ से कुछ अच्छा मानकर काम चलता रहा पर अब युग सन्धि की बेला में जबकि समूची मनुष्यता को नवनिर्माण की महाकाल प्रक्रिया से होकर गुजरना पड़ रहा है। इस प्रश्न को उपेक्षित नही रखा जा सकता कि देवसस्कृति का स्वरूप एवं वर्चस्व जन-जन के सामने हो और नव निर्माण में उसे प्रमुखतापूर्वक अपनाए जाने के संसाधन बढ़े।

कहा जाता रहा है कि विश्वभर में देव-सस्कृति का आलोक पहुँचाने की दृष्टि से प्रवासी भारतियों को मध्यवर्ती कडी की भूमिका प्रस्तुत करनी होगी। अतएव उन्हें प्रमुखता मिलने की बात स्वाभाविक एवं सुस्पष्ट है। इन दिनों क्या किया जाना चाहिये इसके लिए निम्नलिखित तीन प्रयत्न करने होंगे—

(१) ऐसी प्राणवान प्रतिभाओ का निर्यात जो उन स्थानो मे देर तक ठहरें और वहाँ सगठक, प्रचारक एव मार्गदर्शक के रूप में कुमारजीव जैसे उदाहरण प्रस्तुत करे। ऐसी प्रतिभाओ को ढालने के लिये नालन्दा, तक्षशिला जैसे समर्थ निर्माण केन्द्रों की आवश्यकता पड़ेगी।

(२) अभीष्ट उद्देश्य की पूर्ति कर सकने वाला ऐसा साहित्य प्रकाशित करना, जो देवसस्कृति के तत्वदर्शन की सामयिक विचार पद्धति के साथ तालमेल

बिठा सके और सरलतापूर्वक हृदयंगम हो सके। यह साहित्य आकार में छोटा किन्तु अत्यन्त सारगर्भित होगा। ऐसा, जो पके व सुपाच्य भोजन की तरह सहज ही गले उतरता और सरलतापूर्वक पचता रहे। यह प्रकाशन उन सभी भाषाओं में होगा जो समस्त विश्व के प्रवासी समुदाय में प्रचलित हैं।

(३) भारत में समय-समय पर आते रहने वाले प्रवासियों के लिये हरिद्वार में आवास, भोजन, वाहन, गाइड एवं विचार-विनिमय के लिये एक सादगी किन्तु सारी आवश्यक आधुनिक सुविधाओं से युक्त "संस्कृति भवन" की स्थापना। इसमें पर्यटकों के अतिरिक्त वे लोग भी रहेंगे और प्रशिक्षण प्राप्त करेंगे जो अपने देशों में इस योजना के अंग बनकर सांस्कृतिक पुनरोत्थान के महान् प्रयोजन मे भागीदार बनना चाहते है। इन्हें भाषण, संगीत, तत्वदर्शन, धर्मविज्ञान एवं पौरोहित्य से सम्बन्धित सभी आवश्यक कर्मकाण्डों को सम्पन्न करा सकने की योग्यता उत्पन्न कराई जायेगी।

इन तीनो प्रयासो का स्वरूप और महत्त्व असाधारण है। इसलिये उन्हें हाथ में लेने और आगे बढ़ाने का शुभारम्भ तो तत्काल ही करना होगा। यह बात दूसरी है कि साधनों की स्वल्पता के कारण उन्हे थोड़े-थोड़े करके छोटे-छोटे खण्डो मे धीरे-धीरे बनाया, चलाया और बढ़ाया जाय।

कुछ व्यावहारिक समस्यायें और उनका समाधान

विश्वव्यापी सम्पर्क सूत्र साधने के लिए सबसे प्रथम आवश्यकता ऐसे सूचना सग्रह के निमित्त बनाये गये कार्यालय की है, जो विभिन्न सूत्रो से यह पता लगाये कि किस देश मे, किन स्थानों, किस व्यवसाय में लगे, किस भाषा के जानकार, किस रुचि, रुझान एवं स्तर के भारतीय मूल के लोग कितनी-कितनी संख्या मे हैं, उनमे से कितनों ने स्थायी नागरिकता स्वीकार करली और कितने वापस लौटने की तैयारी में हैं। किनकी स्थिति सुविधायुक्त और किनकी कठिनाइयो से घिरी उलझी है। यह जानकारियाँ उपलब्ध होने के उपरान्त ही इस निष्कर्ष पर पहुँचा जा सकेगा कि उनके भौतिक स्थायित्व और सांस्कृतिक उत्कर्ष के संदर्भ में क्या कुछ कर सकना उचित एवं शक्य है ?

इनमे से कितनों को ही यह असुविधा होती है कि बालको की शादी विवाह में उपयुक्त जोड़े ढूँढ़ने में अत्यधिक कठिनाई अनुभव करते हैं। इस समस्या को सुलझाने में सहायता दे सकने वाला तंत्र यो पूरी तरह सफल तो तभी हो सकता है, जब उसी देश या समीपवर्ती देशों का मिला-जुला कर एक स्वरूप बनाया गया हो। जब तक वह स्थिति न आवे तब तक यह कार्य इस तन्त्र के अन्तर्गत भी चल सकता है, जो भारत में प्रवासी भारतियों की सुख-सुविधा के लिए खड़ा किया गया है।

दूसरी कठिनाई है मातृभाषा के शिक्षण तथा सांस्कृतिक शिक्षा की। उन-उन देशों की सरकारें अपनी-अपनी मान्य भाषाओ के माध्यम से शिक्षा व्यवस्था चलाती हैं। भारतीय भाषाओ की न वहाँ उचित व्यवस्था है और न मान्यता। अपने-अपने धंधों में लगे अभिभावक न तो स्वयं पढ़ा पाते हैं और न कोई ऐसी व्यवस्था कर सकते हैं कि उनके बच्चे मातृ भाषा भी सीख सकें। सांस्कृतिक जानकारी का भी कोई प्रबन्ध नहीं। पाधा पण्डित होते तो हैं पर वे देव पूजा कराने और दक्षिणा बटोरने के अतिरिक्त और कुछ जानते ही नहीं। जो जानते बताते हैं, वह लाल बुझक्कड़ों जैसा बेतुका और असमाधान कारक होता है। फलतः उसे जानने मानने पर उल्टी सांस्कृतिक मूल्यों के प्रति अश्रद्धा ही बढ़ती है। ऐसी दशा में यह आवश्यक है कि भारतीय भाषाओ का एक संक्षिप्त किन्तु सुनियोजित पाठ्यक्रम हो साथ ही एक कोर्स ऐसा भी हो, जिससे उन्हे ऐसी धार्मिक जानकारी मिल सके जिसके आधार पर उन्हें किसी अन्य सस्कृति की तुलना में अपनी परम्परा को हेय या हीन अनुभव न करना पडे। इन पाठ्यक्रमो को पत्राचार विद्यालयो की तरह भी चलाया जा सकता है और उसकी परीक्षा लेने प्रमाणपत्र देने जैसा प्रबन्ध भी हो सकता है। 'बाइबिल सोसाइटी' ऐसा ही उपक्रम चलाती है। इसी आधार पर सारे विश्व मे उन्होने नैष्ठिक कार्यकर्ताओ का एक विशाल संगठित तत्र खड़ा भी किया है।

स्वावलम्बी प्रकाशन तंत्र

जिन देशो में भारतीयों की संख्या अधिक है, धार्मिक साहित्य छापने का तन्त्र वही खड़ा करना चाहिए। लिखने की जिम्मेदारी भारत मे उठाई जा सकती है पर छापकर वहाँ तक पहुँचाने में जो डाक खर्च लगता है, उसे वहन कर सकना कठिन है। उस स्थिति मे वह साहित्य बहुत महँगा पड़ेगा और लोकप्रिय न हो सकेगा। होना यह चाहिए कि प्रवासियों के उपयुक्त साहित्य यहाँ के मनीषी लिखें। उसकी थोड़ी-थोड़ी प्रतियाँ उन देशों के प्रकाशन तंत्र को भेजे। वे लोग इसकी "आफसैट" प्रिंटिंग व्यवस्था कर लें। इस प्रकार प्रकाशित हुआ साहित्य सस्ता पड़ेगा, अधिकाधिक लोगों तक पहुँच सकेगा और उससे कुछ बचत होती होगी तो उस लाभ से उस संस्थान का खर्च भी चलता रह सकता है।

विदेशों मे अग्रेजी मुद्रण का तो प्रबन्ध है पर भारतीय भाषाओं के न तो टाइप मिलते हैं न कम्पोजीटर। ऐसी दशा मे वहाँ मुद्रण का प्रबन्ध बन नही पड़ता। भारत मे छपाया जाय तो मार्ग-व्यय पुस्तको की लागत से भी महँगा पड़ता है। भारत से पुस्तके ढूँढी, मँगाई जाये तो इस प्रयोजन का व्यक्ति कदाचित् ही कोई मिले जिससे प्रवासियों की जिज्ञासा एवं आवश्यकता का समाधान बन पड़े। यह कार्य भारतीय मनीषियो का है कि वे समय के अनुरूप धार्मिक साहित्य सृजें। उसकी आरम्भिक प्रतियाँ भारत मे छापने के उपरान्त भावी प्रकाशन का कार्य उन-उन देशों के प्रकाशन सस्थानों को सौप दें। "आफसैट" प्रिन्टिंग में पृष्ठों की ज्यों की त्यों फोटो प्रति उतरती और सरलतापूर्वक छपती रह सकती है। जो साहित्य अग्रेजी में छपे वह सामान्य टाइप प्रेस में भी मुद्रित होता रह सकता है। इस प्रक्रिया को अपनाने मे निरत प्रवासी भारतियों को उसी प्रकार की सुविधा मिलने लगेगी जिस प्रकार कि ईसाई मिशनों द्वारा संसार भर के ईसाईयों को उनकी अवश्यकता का साहित्य उन्ही की भाषा में उपलब्ध कराया जाता है।

संस्कार युक्त शिक्षा की व्यवस्था

समुचित शिक्षा के लिए कितने ही प्रवासी अपने बालकों को भारत में भेजना चाहते हैं। विशेषतया कन्याओ के बारे में वहाँ की सहशिक्षा उन्हे प्रतिकूल ही पड़ती है। अपने बालको को अशिक्षित कौन रखना चाहे ? फिर उस वातावरण में झोकने के अतिरिक्त और कोई चारा रह नही जाता, जिसमें घुसने के बाद पढ़ाई पूरी करते-करते वे आधे ईसाई बन जाते हैं। दोनों ही स्थिति उनके लिए असह्य पड़ती हैं। न अशिक्षित रखते बनता है और न पैसा खर्च कर विधर्मी बनाने के कृत्य पर सतोष होता है। ऐसी दशा में असख्यो प्रवासी अपने बालको को भारत में जहाँ-तहाँ पढ़ने भेजते हैं। पर यहाँ भी वह अपेक्षा पूरी नही होती जो अभिभावकों ने सोची थी। ऐसी दशा मे एक उपाय यह होना चाहिए कि भारत मे ऐसे विद्यालय न सही छात्रावास तो बन ही जाये, जहाँ उनके अभिभावक निश्चिन्ततापूर्वक यह अनुभव कर सकें कि उनके बच्चे न केवल उपयुक्त शिक्षण ही पा रहे होंगे वरन् उन्हें सुसंस्कारिता दे सकने वाला उच्च स्तरीय संरक्षण भी मिल रहा होगा।

सशक्त सुव्यवस्थित धर्मतंत्र

धर्मतन्त्र भी राजतन्त्र की तरह एक समर्थ सत्ता है। उसके प्रति श्रद्धालुओं की भावभरी श्रद्धाजलियाँ प्रस्तुत होती हैं। अनुयायी पूजा-उपासना से लेकर धार्मिक आयोजनो एवं कार्य-कलापों मे ढेरो समय लगाते है। इसके अतिरिक्त दान पुण्य के रूप मे प्रचुर धनराशि भी निकलती है। भारत की तरह प्रवासी समुदाय भी इस संदर्भ मे उदारतापूर्वक खर्च करता है। किन्तु उस श्रद्धा सचय का भारत की तरह वहाँ भी अपव्यय ही होता है। प्रवासी समुदाय को चर्च से प्रेरणा लेकर ऐसी व्यवस्था बनानी चाहिये कि श्रम, समय, भावना एवं धन के रूप मे प्रस्तुत की जाने वाली श्रद्धांजलि का एक-एक कण सदुद्देश्य के लिये प्रयुक्त हो। इसके लिए विश्वस्तरीय "युगान्तरीय चेतना अभियान" के रूप में एक धार्मिक तन्त्र का गठन हर देश मे हो सकता है। उसे सुनियोजित रीति से चलाने के लिये ऐसे संचालकों की—पादरियो की आवश्यकता पड़ेगी जो मनमानी न बरतें। एक अनुशासन में रहकर सुनियोजित कार्य पद्धति को पूरा करने में निरत रहकर उस धर्म एवं सस्कृति की सच्ची सेवा करें, जिसकी दुहाई देकर वे निरर्थक या अनुपयुक्त विडम्बनाएं रचते रहते हैं।

ईसाई मिशन के पादरियों के लिये एक पाठ्य-पद्धति निर्धारित की है। उसे पूर्ण कर लेने के उपरान्त ही किसी को मान्यता प्राप्त पादरी बनने का अधिकार मिलता है। यही पद्धति प्रवासी क्षेत्र में धर्म चेतना का सूत्र-सचालन करने वाले पुरोहितो के सम्बन्ध में होनी चाहिए। यह विश्वविद्यालय फिलहाल गायत्री नगर, हरिद्वार में आरंभ किया जाय। शिक्षण प्राप्त करने कुछ लोग प्रारम्भ में यही आवें। पीछे उसकी शाखा अपने-अपने देश मे स्थापित करके उस प्रशिक्षण के अन्तर्गत धर्म पुरोहितों का—भारतीय पादरियो का उत्पादन करें। इस प्रक्रिया के चल पड़ने पर विश्व भर के प्रवासियों को अभिनव आधार प्राप्त होगा, सांस्कृतिक क्षुधा निवारण हेतु स्वावलम्बी बन जाने पर उन्हे धर्म चेतना का समुचित सत्परिणाम उपलब्ध होने लगेगा।

ऊपर की पंक्तियों में कुछ आवश्यक प्रसंगो की संक्षिप्त चर्चा की गई है। हर दिशा की स्थिति को देखते हुए वहाँ के लिए अन्य अतिरिक्त आधार सोचे और सभाले जा सकते हैं। समस्याओं पर गम्भीर चिन्तन और उनके समाधान का उपाय-उपचार खोजते रहने के लिए निष्णातों, विशेषज्ञों एवं भावनाशीलों की गम्भीर मन्त्रणाये चलती रह सकती है और उस ऊहापोह के प्रसंग एवं निष्कर्षों से प्रवासियो एव उनके हितैषियो को अवगत कराये जाते रहने का सिलसिला चल सकता है।

शांति कुंज : हरिद्वार सांस्कृतिक पुनरुत्थान का केन्द्र

काम बहुत बड़ा है। उससे सम्बन्धित प्रश्न, समाधान, आधार, प्रयास भी अगणित है। इन्हें एक सूत्र मे बाँधने और क्रमिक गति से प्रगति पथ पर आगे बढ़ने के लिए एक केन्द्रीय तन्त्र खड़ा किये जाने की अनिवार्य आवश्यकता अनुभव की गई और उसकी पूर्ति के लिए अविलंब कदम बढ़ाने की बात सोची गई। इसके लिए शांतिकुंज-गायत्री नगर-हरिद्वार के तत्वावधान मे अन्यान्य सांस्कृतिक प्रवृत्तियो के साथ-साथ एक "प्रवासी कक्ष" और स्थापित किया जा रहा है। संस्थान की अन्यान्य इमारतों मे एक प्रवासी कक्ष भी होगा। उसमे उपरोक्त गतिविधियों के सचालन का एक सुव्यवस्थित कार्यालय चलता रहेगा।

इस विभाग की एक आकर्षक व्यवस्था यह भी होगी कि भारत आने पर किसी भी देश मे बसने वाले प्रवासी भारतीय को गंगा, हिमालय के इस तीर्थ स्थान में पधारने पर इस भवन में वैसी ही सन्तोषजनक सुविधा मिलेगी जैसी कि भारतीय आतिथ्य के अनुरूप होनी चाहिए। होटल अत्यधिक महँगे हैं। धर्मशालाओ में भेड़ बाड़ो जैसी गंदगी पाई जाती है। शान्तिकुंज का प्रवासी भवन किसी भी आगन्तुक को हर दृष्टि से सुविधा संतोष प्रदान कर सकने योग्य मिलेगा। निवास, भोजन, वाहन, सहायक आदि की यथासंभव सुविधाएँ उपलब्ध कराई जायेगी। बदले में किसी से कुछ चाहा या माँगा न जायेगा। इच्छा दान पर तो कोई प्रतिबन्ध होगा नही। इस आश्रम में पहुँचने पर हर प्रवासी को यह अनुभव होगा कि वह अपने निजी घर मे जा पहुँचा और बिछुड़ों को मातृभूमि का जो दुलार, सौजन्य, आतिथ्य मिलना चाहिए वह उसे मिल रहा है। परिभ्रमण के अतिरिक्त योजनाबद्ध संस्कृति प्रशिक्षण इस आश्रम की अपनी मौलिक विशेषता होगी।

प्रवासी आश्रम मे दफ्तर, शोध, सूचना-संग्रह, प्रेस, प्रकाशन, विद्यालय, छात्रावास, पत्राचार आदि की ऐसी व्यवस्था जुटाई जाती है, जिसमे ऊपर की पंक्तियो मे चर्चा किए गए साधनों को जुटाने का प्रयास निरन्तर चलता रहे। प्रचारकों का विद्यालय अपने ढंग का अनोखा होगा, जिसमे भारत से अन्यत्र भेजे जाने वाले और उन देशों से यहाँ प्रशिक्षण के लिए आने वाले दोनो ही स्तर के शिक्षार्थी अपने विषय में सफल सिद्ध होने वाले प्रवीण, पारंगत बन सकेगे।

भारत भूमि को अपने दूरवर्ती बालकों के लिए अब से बहुत पहले ही इतना तो कर ही गुजरना चाहिए था। विलब हो जाने पर भी सही अवलंबन उत्साहवर्धक ही माना जाएगा। साधनो के जुटने के साथ-साथ यह स्थापना इतनी प्रखर और सफल होगी कि निराशा भरे अँधेरे वातावरण में बिजली चमकने और अदृश्य के दीख पड़ने पर उठने वाले उत्साह जैसा आनन्द मिल सके।

प्रवासी भारतीयों में सांस्कृतिक चेतना जागी

देव-संस्कृति का विश्वव्यापी विस्तार

देव-सस्कृति प्राचीनकाल में समूचे विश्व के हर क्षेत्र एव समुदाय को सद्भावनाओ और सत्प्रवृत्तियों से अनुप्राणित एव सराबोर बनाने मे समर्थ और सफल रही है। सतयुग इसी का प्रमाण है। यह समृद्धि एक वर्ग समुदाय विशेष तक सीमित नही रही। सूर्य की ऊर्जा ने बादलो की सरसता और वायु की सजीवता बनकर इस धरती पर न केवल निवास करने वाले मनुष्यो को वरन् समूचे प्राणि समुदाय को सुखी समुन्नत बनाने मे अपनी क्षमता को लगाया। फलतः कृतज्ञता भरा सद्भाव, सम्मान पाया।

इस प्रवृत्ति की पुनरावृत्ति इन दिनो नितान्त आवश्यक हो रही है। दुर्बुद्धि जन्य दुराचरण ने व्यक्ति और समाज के हर क्षेत्र को उलझाकर रख दिया है। साधनो का तो बाहुल्य है पर उनका सदुपयोग न होने के कारण वे सुख-सन्तोष देने-प्रगति मे सहायक बनने के स्थान पर उलटे विपत्ति की विभीषिकाये विनिर्मित कर रहे है। समाधान के रास्ते बन्द जैसे दीखते है। सर्वनाश की घड़ी निकट आती चली जा रही है। ऐसी विषम बेला मे कारगर उपाय एक ही रह जाता है कि देव-संस्कृति को पुनर्जीवित किया जाय। उसका आलोक जन-जन तक पहुँचने दिया जाय। उत्कृष्ट चिन्तन और आदर्श कर्तृत्व की परम्पराओ को लोक व्यवहार मे मान्यता मिल सकी तो ही सुखद सम्भावनाओ का आधार बन सकेगा।

विज्ञान और बौद्धिक विकास ने संसार को बहुत छोटा—एक गॉव-मुहल्ले की तरह अत्यन्त निकट एवं सघन बनाकर रख दिया है। अब बड़ी समस्याओ के विचार क्षेत्रीय दृष्टिकोण अपनाने से हल नही हो सकते। उसके लिये व्यापक दृष्टि, व्यापक कार्य पद्धति और व्यापक परिधि की बात ध्यान मे रखनी होगी। उलझने स्थानीय दीखती भले हो, पर वे एक-दूसरे के साथ इस प्रकार जुड़ी और गुँथी हुई हैं कि छोटे क्षेत्र का समाधान कारगर हो नही सकेगा। समूचा गॉव जल रहा हो तो किसी कोने को न जलने देने की चेष्टा भर करने से क्या काम चलेगा ? अब किसी देश या वर्ग की प्रगति से बात नहीं बनती। अनास्था संकट के कारण उत्पन्न असंख्य विग्रहों का समाधान महाप्रज्ञा को—उदार सार्वभौम चेतना को मान्यता देते हुये लोक मानस को देव-संस्कृति का पक्षधर बनाने से ही हो सकेगा।

राजनैतिक या साम्प्रदायिक उपनिवेशवाद के दिन अब लद गये। एक विश्व की बात सोचने के साथ ही एक संस्कृति को भी ध्यान में रखना होगा। प्रचलित अनेकानेक संस्कृतियो के उपयोगी एवं महत्त्वपूर्ण अंश यदि एक स्थान पर एकत्रित कर दिये जायें तो उसका स्वरूप एक देव-संस्कृति जैसा बनता है। इस दृष्टि से पुरातन भारतीय संस्कृति का स्वरूप अनायास ही इस स्तर का बनता है कि उसे मानवी संस्कृति का स्थान मिल सके।

देव-संस्कृति को व्यापक बनाने में, उसका स्वरूप निखारने में भारत भूमि मे प्रबल प्रयत्न होना चाहिये, ताकि उसकी उपयोगिता बौद्धिक प्रतिपादनो मे, नही, परिणति को देखकर समझी और अपनाई जा सके। इस दृष्टि से भारत भूमि मे युगान्तर चेतना के, युग निर्माण योजना के प्रबल प्रयास चल भी रहे हैं और आशाजनक गति से सफल भी हो रहे है। पर इतने भर से सन्तुष्ट हो बैठने से काम चलने वाला नही है। इन प्रयोगों को विश्वव्यापी बनाये जाने की भी आवश्यकता है।

प्रवासी परिजनों से अपेक्षाएँ

इस प्रयोजन मे विश्व के कौने-कौने में फैले हुये प्रवासी भारतीयो की स्थिति अत्यन्त महत्त्व की है। वे सौभाग्यवश ससार के कौने-कौने में फैले है। जिन कार्यों मे वे लगे हैं वे भी महत्त्वपूर्ण है। उनका व्यक्तित्व एव प्रभाव भी है। जिन कार्यों में हाथ डाले, सफल बन सके, इतना कौशल भी उनमे है, अपनी सस्कृति की गरिमा से वे अवगत भी है और श्रद्धालु भी। इतने पर भी उन्हे यह सुझाया नही गया है कि जिन देशों में वे निवास करते हैं, उनकी अन्य प्रकार की सेवा-साधना करते हुये वे एक प्रयास यह भी करे कि उस क्षेत्र के जन समुदाय को देव-संस्कृति का परिचय एवं अपनाने का उत्साह उपलब्ध हो सके। यदि यह तथ्य ध्यान मे आया होता तो निश्चय ही अब तक

उनकी प्रतिभा की परिणति अत्यन्त सुखद हो चुकी होती और उससे शालीनता संवर्धन के सदुद्देश्य की पूर्ति में असाधारण योगदान मिला होता।

यहाँ इस तथ्य को भली भाँति समझ लिया जाना चाहिये कि धर्म परिवर्तन वाले हथकण्डे अब उतने आकर्षक एवं उत्साहवर्धक नहीं रहे, जितने पहले कभी थे। अब यह सोचना बेकार हो चला है कि एक सम्प्रदाय के अनुयायी यदि दूसरे सम्प्रदाय मे प्रवेश पा लें तो उनका स्तर बदल जायेगा। लेबिल बदल देने से बोतल में भरे पदार्थ का स्वरूप नही बदलता। आवश्यकता तो उस पदार्थ को बदलने की है, जो बोतल में भरा हुआ है। सम्प्रदाय और संस्कृति मे जमीन-आसमान जितना अन्तर है। देव-संस्कृति मनुष्य मात्र के लिये है और उसे अपनाया जाना परम्परागत सम्प्रदाय में बने रहकर भी हो सकता है। अगले दिनों समस्त विश्व को, समूचे मानव समाज को, एक राष्ट्र, एक धर्म, एक व्यवस्था और एक भाषा के माध्यम से नये आधार पर गठित होना है तो सम्प्रदाय परिवर्तन के लिए व्यर्थ की दौड़-धूप करने की उपयोगिता रह नही जाती। जिनका दृष्टिकोण छिछले स्तर का हो, वे अधिक उत्साह दिखा भी सकते हैं, पर देवसंस्कृति के विस्तार की बात सोचने वालो को अपनी योजना का स्वरूप बिना सम्प्रदाय परिवर्तन को महत्त्व दिये मात्र चिन्तन और चरित्र में उत्कृष्टता का समावेश करने भर तक सीमित रखना है।

देवसंस्कृति के विश्व विस्तार में प्रवासी भारतीयो की विशेष स्थिति है। अस्तु उनकी भूमिका भी विशेष हो सकती है। वस्तुस्थिति से उन्हें अवगत और उत्तरदायित्वों का स्मरण कराया जा सके तो निश्चय ही वे बहुत कुछ कर सकने की स्थिति मे होगे। उसे करने मे वे आनाकानी भी नही करेंगे।

उत्तरदायित्वों का निर्वाह इस प्रकार हो

इस प्रयास का प्रथम चरण यह होना चाहिए कि प्रवासी परिवारो और समुदायो को अपने निजी क्षेत्र मे देव-संस्कृति के दर्शन, स्वरूप एवं व्यवहार की समुचित जानकारी हो। उस जानकारी का स्तर ऐसा हो जिससे न केवल उनके अपने परिवार को प्रभावित रहने का अवसर मिले वरन् वे सब अपने सम्पर्क क्षेत्र पर भी इस विषय की गहरी छाप छोड़ सके। इस पृष्ठभूमि को बनाने के लिये संगठित प्रयत्न करने होगे ज्ञान-वर्धक साहित्य प्रस्तुत करना होगा। विचार-विमर्श, प्रवचन, परामर्श का मंच विनिर्मित करना होगा। साथ ही ऐसे रचनात्मक क्रियाकलापों का विस्तार करना होगा जो सम्पर्क में आने वालो को उद्देश्य एवं प्रयास की गरिमा से प्रभावित कर सकें। इसके लिये हर जगह इस युगान्तर चेतना मिशन के संगठन खड़े होने चाहिए और उन्हे देव-संस्कृति को निजी परिवार संस्थाओं से लेकर सम्पर्क क्षेत्र में इसकी महत्ता से प्रभावित करने वाले कार्यक्रम बनाने चाहिये।

प्रारम्भिक कार्यक्रम :

दो कार्यक्रम ऐसे हैं जो प्रारम्भिक प्रयास के रूप मे तत्काल क्रियान्वित किये जा सकते हैं। इनमें से एक है—सस्ते संस्कृति साहित्य का स्थानीय प्रकाशन और उसे घर-घर मे पढ़ाने वापस लेने की व्यवस्था। दूसरा है—हर प्रभावी व्यक्ति का जन्म-दिवसोत्सव मनाने का अत्यन्त सस्ता किन्तु प्रभावोत्पादक कार्यक्रम। यह दोनो ही प्रयोग भारत में अत्यन्त लोकप्रिय एवं सफल हुए है।

देव-संस्कृति का आधुनिक प्रस्तुतीकरण युग साहित्य के रूप में प्रकाशित हुआ है। अनेकों छोटी-बड़ी पुस्तके छपी हैं तथा कई अति भावनापूर्ण मासिक पत्रिकाएँ प्रकाशित होती है। इनका सार-संक्षेप प्रवासी-संगठन स्थानीय संस्करण के रूप मे स्वयं ही छापें। भारतीय भाषाओं के टाइप न मिलने पर भारत मे छपी पुस्तको को ही 'आफसैट' प्रेस पर छापा जा सकता है। इसके प्रकाशन विक्रय का सारा उत्तरदायित्व वे सगठन ही उठा सकते हैं। इसमे थोडी पूँजी, मेहनत और सूझ-बूझ तो लगेगी पर न तो आर्थिक दृष्टि से हानि रहेगी और न किसी अन्य प्रकार की कठिनाई का सामना करना पड़ेगा।

इसी प्रकार जन्म-दिवसोत्सवों की सरल पद्धति को सर्वत्र सीधा अपनाया जा सकता है। कोई कठिनाई हो तो भारत से एक टैप मँगाकर टेपरिकार्डर के सहारे उसे सीखा जा सकता है। "टेप योजना" के अन्तर्गत भारत में मिशन के छोटे-छोटे उद्बोधन तथा देवकन्याओं के सगीत घर-घर मे पहुँचे और लोकप्रिय हुये हैं। प्रवासी भारतीय इस व्यवस्था का लाभ उठा

सकते है। इन दो के बाद अन्य कार्यक्रमों को क्रमश. हाथ मे लिया व आगे बढ़ाया जा सकता है।

भारत मे युगनिर्माण परिवार की सदस्यता का शुल्क है दस पैसा नित्य तथा एक घण्टा समय देव-संस्कृति के प्रसार-विस्तार मे नियमित रूप से लगाना। दस पैसा "ज्ञानघट" नामक डिब्बे में जमा किये जाते है। समय को संगठन के काम मे लगाया जाता है। यही प्रक्रिया प्रवासी परिवारो मे भी चल पड़े तो प्रसार विस्तार के लिये जिन साधनों की आवश्यकता है, वे सहज ही जुटने लगेगे।

सर्वेक्षण के अनुसार इन दिनो उच्च शिक्षित एम. डी. योग्यता के १५ हजार डॉक्टर विदेशों मे हैं, जिन्हे भारत मे इस स्तर के डॉक्टरों का १३ प्रतिशत समझा जा सकता है ? इनके अतिरिक्त मध्यवर्ती योग्यता के एम. बी. बी. एस डॉक्टरो का नम्बर आता है। वे भारत मे प्रति वर्ष प्रायः १२,५०० की सख्या मे निकलते है, जिनमे से लगभग एक हजार प्रति वर्ष विदेश चले जाते है। अकेले ब्रिटेन मे इन दिनो लगभग १० हजार भारतीय डॉक्टर है। इनमे से ७००० सरकारी अस्पतालो मे काम करते है। ७०० वहाँ की राष्ट्रीय स्वास्थ्य सेवाओ में लगे है और शेष स्थायी रूप से वही रहकर निजी प्रेक्टिस करते है।

डॉक्टरों के बाद इंजीनियरों, प्रोफेसरों तथा अन्य उच्चस्तरीय योग्यता के व्यक्तियों का नम्बर आता है। सन् १९७९ तक प्राप्त आँकड़ों के अनुसार इनमे ८४९७ विभिन्न क्षेत्रो मे कार्यरत वैज्ञानिक, ११५६७ इंजीनियर, २१५९० टेक्नीशियन एवं १५५० शिक्षण क्षेत्र के विद्वान थे। व्यवसाय मे भी इनकी अच्छी गति है। अपने-अपने कार्य क्षेत्रो मे वे सफलतापूर्वक प्रगति कर रहे है और उन देशों की समृद्धि बढाने में महत्वपूर्ण योगदान दे रहे है।

दक्षता और प्रतिभा को एक कौने पर रखकर मात्र संख्या की दृष्टि से देखा जाय तो भी वे इतनी बड़ी सख्या मे हैं कि उन्हें कितने ही देशो की समूची जनसंख्या की तुलना मे कही अधिक देखा जा सकता है। पौने तीन करोड़ बिखरे भारतीयों की तुलना मे लगभग ६९ सर्वसत्ता सम्पन्न देश भी हलके पड़ते हैं। इनकी जनसंख्या अपने मे तीन करोड़ से कही कम है। बहुत छोटी जनशक्ति वाले देशो को देखा जाय तो उनकी संख्या मे दर्जनो देशों का योग भी हल्का पड़ता है। उदाहरणार्थ, कुछ देशो की जनसख्याओ के आँकड़े इस प्रकार है—अफगानिस्तान (१९५ लाख), अल्जीरिया (१७० लाख), अण्डोरा (३०,७००), अंगोला (५६ लाख), अर्जेन्टीना (२४५ लाख), आस्ट्रिया (७४ लाख), आस्ट्रेलिया (१३५ लाख), बेल्जियम (९८ लाख), बल्गेरिया (९७ लाख), नार्वे (४० लाख), नीदरलैण्ड्स (१३८ लाख), मोजांबिक (१ करोड), मलेशिया (१२६ लाख), हांगकाग (४५ लाख), इजराइल (३९ लाख), डेनमार्क (५१ लाख), कनाडा (२३० लाख), चिली (१०४ लाख), ग्रीस (९२ लाख) इत्यादि। ऐसे करीब ५० से भी अधिक देश और हैं, जिनकी जनसख्या नवीनतम जानकारियों के अनुसार ढाई करोड़ से कम बैठती है। जबकि प्रवासी भारतीयो की कुल सख्या इससे कही अधिक है।

संस्कृति विस्तार की असीम सम्भावनाएँ

प्रवासियो मे न तो प्रतिभा की कमी है, न योग्यता की, न भावना की। कठिनाई मात्र इतनी है कि उन्हे सुझाया, झकझोरा नही गया। यदि अनुरोध किया गया होता और एक सुनिश्चित कार्यक्रम सामने रखा गया होता तो कोई कारण नही कि उनका देव-सस्कृति को प्रखर परिपुष्ट बनाने जैसे महान् कार्य में समुचित योगदान न मिला होता। अधिक न सही, इतना प्रयास तो भारत भूमि से ही हो सकता था कि उन्हे उपरोक्त प्रयोजन के लिये आमन्त्रित किया गया होता और उन प्रतिभाओ के सहयोग से विश्व के ९१ प्रमुख देशों में देव-सस्कृति के प्रति श्रद्धा सम्मान का प्रसार विस्तार का वातावरण बनाया गया होता।

इस सन्दर्भ मे दुर्भाग्य एक ही रहा है कि भारत भूमि से तथाकथित धर्म-प्रचारक लेक्चर-बाजी करने रग-बिरंगी वेश-भूषा मे पहुँचते और जिस-तिस बहाने चन्दा लूटकर लाते रहे। यदि पादरियो की तरह वे प्रवासी देशो में जा बसते और लम्बी अवधि तक वहाँ ठहरकर चर्च कार्यकर्ताओ की तरह जनसेवा में निरत रहते तो स्थिति दूसरी ही होती। तब भारतीय धर्म-प्रचारको तथा योगी नामधारियो के प्रति जो

अश्रद्धा का वातावरण है, वह न होकर सम्मान और सहयोग की परिस्थितियाँ दृष्टिगोचर होती।

युगान्तर चेतना

परिवार इस ऋषि परम्परा को हाथ में लेकर आगे बढ़ा है, जिसे अपनाकर इस देश मे महा-मनीषियो ने विश्व के कौने-कौने तक पहुँचने और वहाँ की स्थिति सम्भालने में अपने को खपा देने का आदर्श उपस्थित किया था। परिवार के मस्तिष्क में प्रवासी परिजनों के माध्यम से विश्व के नवनिर्माण मे देव-संस्कृति के आलोक में बहुत कुछ करने की योजना और तैयारी है। इसकी प्रारम्भिक एवं अति संक्षिप्त जानकारी इन पंक्तियों में प्रस्तुत की गयी है। जैसे-जैसे अनुकूलता उपलब्ध होती जायेगी वैसे-वैसे उपरोक्त शुभारम्भों का विस्तार होता चला जायेगा। नव-सृजन की इस पुनीत वेला में हमें ऐतिहासिक कदम उठाने होंगे। इसमें प्रवासी भारतीय भी अपने हिस्से का उत्तरदायित्व उठाकर विश्ववसुधा को कृत-कृत्य करेंगे। इसके आसार बनते और बढ़ते ही जा रहे हैं।

जीवन्त सांस्कृतिक चेतना : एक अनिवार्य आवश्यकता

बिखराव से शक्ति का अपव्यय होता है और टकराव से विपत्ति आती है। इस सिद्धान्त को कही भी जाना-परखा जा सकता है। विशेषतया इसका खरापन वहाँ देखा जा सकता है; जहाँ अल्पसख्यको की स्थिति में रहकर निर्वाह करना पड़ता है। प्रवासी भारतीय जहाँ कही भी बसे है, वहाँ वे सांस्कृतिक दृष्टि से अल्पसंख्यक बनकर रह रहे होगे। उनके लिये सुख-शान्ति और प्रगति का उपयुक्त मार्ग यह है कि अपने सांस्कृतिक परिवार का एक कुटुम्ब बनायें तथा मिलजुलकर रहे। सहानुभूति बरतें और जहाँ आवश्यक हो वहाँ सहयोग करने में पीछे न रहे।

भारत मे जाति बिरादरी और सम्प्रदाय के नाम पर फूट बहुत है। इन छोटे आधारो पर वे छोटे-छोटे समुदायो मे बँट जाते है। एक-दूसरे से विलग रहते है। इस महामारी ने विश्व के सबसे अधिक क्षमता सम्पन्न परिवार को गया-गुजरा और दीन-दरिद्र बनाकर रख दिया। इस व्याधि को प्रवासी भारतीय अपने यहाँ न पनपने दें। जाति-पाँति के, मत-सम्प्रदाय के नाम पर भेदभाव न रहने दे। समानता बरतें और इन कारणों से विलगाव उत्पन्न न होने दे।

सांस्कृतिक संगठन सहयोग का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण आधार देवालय माने गये है। उनमें सभी जाया करे। अवकाश के दिन सभी लोग एक नियत समय पर नियमित रूप से एकत्रित हुआ करें। सामूहिक प्रार्थना, हवन, भजन, कीर्तन के उपरान्त इस बात का विचार-विनिमय हुआ करे कि आदर्श एव अभ्युदय की ओर बढ़ने के लिये वर्तमान परिस्थितियों मे कहाँ, किस प्रकार, क्या किया जाना चाहिये ? चिन्तन, चरित्र एवं व्यवहार में शालीनता का समावेश ही धर्मचर्चा का एकमात्र उद्देश्य है। उसे ऐतिहासिक कथा पुराणों के माध्यम से भी कहा जा सकता है और संगीत प्रवचनों के सहारे भी हृदयंगम कराया जा सकता है। देवालयों में यह प्रसंग नियमित एवं सुनियोजित ढंग से चले ताकि वे सच्चे अर्थों मे जनजागरण के केन्द्र बन सके।

भारत मे अनेक देवी-देवताओ की मान्यता है। भारत वंशी बाहर जाकर भी उसी भेद-उपभेद के झंझट में जा फँसते हैं। मस्जिदो में, गिरजाघरों में, गुरुद्वारो मे इस प्रकार की खीचातान नही होती। अपने-अपने अलग-अलग देवता बनाने और मनाने की अपेक्षा यह उत्तम है कि मन्दिर भले ही थोड़े हो पर शानदार, सुव्यवस्थित और योजनाबद्ध रीति से कार्य सलग्न हो। भारतीयो के समस्त धर्म-सस्थानो को एक सूत्र मे बाँधने के लिये "युगान्तर चेतना" के अन्तर्गत एक 'भारतीय समाज' गठित कर लिया जाय। उसके तत्वावधान मे विनिर्मित देवालयो की गतिविधियाँ चलने लगें तो एक अच्छी परम्परा का शुभारम्भ होगा।

आद्यशक्ति गायत्री, भारतीय संस्कृति की जननी है, उसे वेदमाता, देवमाता, विश्वमाता कहा गया है। अच्छा हो, प्रवासी भारतीयो का एक प्रज्ञापीठ-देवमन्दिर बने और उसमे वे सभी गतिविधियाँ चल पड़ें जो भारत मे गायत्री परिवार की युगान्तर चेतना के तत्वावधान मे समस्त विश्व भर में युगनिर्माण योजना के कार्यक्रम सहित चलाई जा रही है।

कार्यक्रम की एक रूपरेखा

भारत की गायत्री प्रज्ञापीठो में प्रातः सांय पूजा-आरती, सामूहिक प्रार्थना, रात्रि मे कथा होती है। दो-दो घण्टे की तीन शिक्षण कक्षाएँ चलती हैं। एक बालको के लिये, दूसरी महिलाओ के लिये, तीसरी पुरुषो के लिये। समय स्थानीय सुविधा के अनुसार रखा जा सकता है। इन पाठशालाओ मे हिन्दी भाषा का, भारतीय संस्कृति के दर्शन एवं व्यवहार का अध्ययन-अध्यापन चलता रहे। प्रज्ञापीठ में अभीष्ट प्रयोजनों को पूरा कर सकने वाला साहित्य रहे, जिसे घर-घर पहुँचाने और वापिस लाने का उपक्रम चलाया जाय।

भारत मे प्रज्ञा-संस्थानों में दो कार्यकर्ता नियुक्त रहते हैं। एक देवालय मे उपस्थित रहता है और स्थानीय प्रशिक्षण की उपरोक्त व्यवस्था चलाता है। दूसरा जनसम्पर्क साधने के लिये परिभ्रमण पर निकलता है। घर-घर साहित्य पहुँचाना वापिस लाना उसका प्रमुख काम होता है। इस माध्यम से दैनिक स्वाध्याय और सस्कृति शिक्षण का काम नियमित रूप से चलता रहता है। इस परिव्राजक का एक काम यह भी होता है कि जिनकी रुचि हो उन लोगों के घरो पर जन्मोत्सवो की व्यवस्था करें। यह व्यवस्था बहुत ही सस्ती, आकर्षक, भावभरी एवं प्रेरणाप्रद होती है। साथ ही व्यय की दृष्टि से उसे इतना सरल बनाया गया है कि हर स्थिति का-यहाँ तक कि अति निर्धन व्यक्ति भी उसे सरलतापूर्वक मना सके। इसमें मित्र, पड़ौसी एकत्रित होते और नैतिक एवं सांस्कृतिक पुनरुत्थान के सम्बन्ध में अति महत्त्वपूर्ण जानकारी प्राप्त करते हैं। यही उपक्रम प्रवासी भारतीयों को भी अपने यहाँ चलाना चाहिये। प्रज्ञा-सस्थान बन सके तो उसी के प्रागण में भारत की प्रमुख भाषा हिन्दी तथा आवश्यकतानुसार अन्य प्रान्तीय भाषाओं की शिक्षण व्यवस्था चलती रह सकती है। यह एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण आवश्यकता है क्योंकि विदेशों मे कदाचित ही कहीं भारतीय भाषाओं के शिक्षण का सरकारी प्रबन्ध होता है। इस आवश्यकता की पूर्ति स्वयं ही करनी होगी। देवालयों में भी यह कार्य होता रह सकता है।

बच्चों के नामकरण, अन्नप्राशन, मुण्डन, विद्यारम्भ, यज्ञोपवीत संस्कार कराये जाने चाहिये। इन पारिवारिक समारोहों के माध्यम से कुशल पुरोहित भारतीय परम्परा के अनुरूप नैतिक, पारिवारिक एवं सामाजिक जीवन की गरिमा एवं उपयोगिता समझाये रह सकते हैं। इस प्रकार ही घर मे इन धार्मिक आयोजनों के माध्यम से सास्कृतिक आलोक पहुँचने का सिलसिला बना रह सकता है। विवाह, वानप्रस्थ, अन्त्येष्टि और श्राद्ध-तर्पण जैसे संस्कार होते रहें तो विस्मृति होती जा रही सांस्कृतिक परम्पराओ की जानकारी मिलती और श्रद्धा बनी रह सकती है।

भारतीय पर्वों में दिवाली, वसन्तपंचमी, होली, गायत्री जयन्ती, गुरुपूर्णिमा, श्रावणी, विजयादशमी प्रमुख है। इनके अतिरिक्त रामनवमी, कृष्ण जन्माष्टमी और शिवरात्रि का भी जहाँ प्रचलन हो, वहाँ उन्हें सामूहिक रूप से मनाया जाना चाहिये। पर्व-त्यौहारों के पीछे अत्यन्त महत्त्वपूर्ण तथ्य एवं उद्देश्य छिपे पड़े हैं। उन्हें घरेलू पूजा-पत्री, पकवान, रोशनी तक सीमित न रखकर सम्मिलित रूप से मनाया जाना चाहिये। सामूहिक गायत्री जप, हवन, भजन, कीर्तन, प्रवचन, दीपदान जैसे उपचार तो इन सभी समारोहो में समान रहे किन्तु जो पर्व मनाया गया है, उसकी प्रेरणा से उपस्थित लोगो को अवगत कराया जा सके तो प्रतीत होगा कि प्रत्येक पर्व अपने आप मे एक शास्त्र छिपाये हुये हैं। इन प्रेरणाओ से उपस्थित लोगो मे सांस्कृतिक चेतना की उमंगें उभारने में असाधारण योगदान मिल सकता है।

आश्विन और चैत्र की नवरात्रियो में प्रातःकाल सामूहिक जप अनुष्ठान तथा रात्रि को ज्ञानयज्ञ का प्रशिक्षण सत्र चलता रहे। अन्तिम दिन गायत्री यज्ञ एवं सहभोज, कन्याभोज आदि हुआ करें, रात्रि को दीवाली मने तो वह आयोजन भी एक प्रकार से सत्र समारोह जैसा उपयोगी एवं प्रेरणाप्रद हो सकता है। भारत के विभिन्न क्षेत्रों मे नवरात्रियाँ, कई प्रकार के समारोहों के साथ मनाई जाती है। रामलीला, रासलीला, गनगौर-गरवा, टेसू, झाँझी, शस्त्रपूजन जैसे कितने ही प्रकार के मेले, समारोह धूमधाम भरे आयोजन होते है, जिनमें भारी जनसमुदाय एकत्रित होकर मनोरंजन, उत्साह एवं प्रकाश परिचय प्राप्त करता है। प्रवासी भारतीय अपने यहाँ के समारोह प्रचलनो को किसी नवरात्रि के अवसर पर किया करें तो उससे जोशीली परम्परा चल पड़ेगी।

धर्म प्रयोजनों के प्रति उपेक्षा-अन्यमनस्कता दूर करने के लिये ऐसे धूमधाम भरे उत्सव सदा सर्वोपयोगी एवं प्रेरणाप्रद सिद्ध होते हैं। यदि पूर्व प्रचलनों में कोई अन्य समारोह होता आ रहा हो तो उसे भी इस प्रकार नियोजित किया जा सकता है कि वह मनोरंजन धूमधाम तक ही सीमित होकर न रह जाय, सम्मिलित होने वालों को उपयोगी प्रेरणाएँ भी उपलब्ध होती रहें। इसके लिये चित्र-प्रदर्शनियाँ, फिल्म प्रदर्शन, नाटक, कविता-सम्मेलन, संगीत-सम्मेलन जैसे आयोजन भी रखे जा सकते हैं।

परम्परा नहीं, विवेक को महत्त्व

शादियों और मृतक संस्कारों के सम्बन्ध मे प्रवासी भारतीयों को परम्परागत चित्र-विचित्र प्रथाओं के निभाने से तदनुरूप व्यवस्था बनाने में भारी कठिनाई होती है। इनमें बरती जाने वाली विभिन्नताएँ दूर की जानी चाहिये और सर्वसुलभ एकरूपता का स्वरूप बनना चाहिए। भारत मे यह दोनों ही व्यवस्थाएँ बहुत खर्चीली बन गयी हैं। उनमे अनावश्यक आडम्बर भी बहुत जुड़ गये हैं। इन सबके निर्वाह मे भारी असुविधाओं का सामना करना पड़ता है और समय तथा धन की अनावश्यक बर्बादी होती है। सम्भवतः प्रवासी भारतीयों में भी ऐसी ही जटिलताएँ चल रही हो, उन्हें सुधारा जाना चाहिये और सरलता एवं संक्षेपन का स्वरूप निर्धारण होना चाहिये। भारत में इन प्रचलनो में इन दिनो भारी सुधार-परिवर्तन हो रहा है। एक ही तिथि पर एक ही स्थान पर अनेक जोड़ों के विवाहो के सामूहिक आयोजन बहुत ही लोकप्रिय हुये हैं और कुछ जाति पंचायतों ने तो अपने समुदायो के लिये इसे एक मान्यता प्राप्त व्यवस्था ही बना लिया है। ऐसे ही प्रचलन प्रवासी भारतीयो मे भी चल पड़ने चाहिये।

मध्यकाल के अन्धकार युग में भारतीय समाज में अनेकों कुप्रथाएं फैलीं और उनके कारण उनके दुष्परिणाम अभी तक भुगतने पड़ रहे हैं। सम्भव है यह कुरीतियां प्रवासियो में भी न्यूनाधिक मात्रा मे चल रही हो। उनके सुधार का प्रयास इसी उत्साह एवं साहस के साथ उन सभी स्थानों से होना चाहिये, जहाँ भारतीय मूल के लोग थोड़ी या अधिक संख्या मे बसे हो।

जाति-बिरादरी के नाम पर ऊँच-नीच की मान्यता अनुपयुक्त है। वंश गोत्र की मान्यता भले ही बनी रहे पर उस कारण किसी को ऊँचा या नीचा न माना जाय और न किसी प्रकार का भेदभाव बरता जाय। इसी प्रकार पन्थ-संम्प्रदाय के कारण ऐसी खाई पैदा न होने दी जाय, जिससे बिलगाव बढ़ता हो। इस युग मे समता और एकता सर्वमान्य सिद्धान्त बन चुके हैं। भारतीय समाज में भी उनका समुचित स्वागत होना चाहिये। न ऊँच-नीच की चर्चा चलने दें और न एक को दूसरे से अलग करने वाली दीवारें खड़ी करें।

नवरात्रियो मे या किन्ही अन्य पर्वों पर बालकों के संस्कार एवं यज्ञोपवीत सामूहिक रूप से भी कराये जा सकते हैं। घरो मे इनकी अलग-अलग व्यवस्था न बन पड़ने पर प्रायः उपेक्षा ही होने लगती है। यदि उन्हें सम्मिलित रूप से मनाया जाने लगे तो सुविधा, मितव्ययिता, शोभा जैसे कई लाभ मिलेगे और जहाँ उनके प्रति उपेक्षा बरती जाने लगी है, वहाँ भी यह प्रचलन चल पड़ेगे। श्रावणी के अवसर पर नये वर्ष का नया यज्ञोपवीत बदलना एवं आश्विन को पितृ अमावस्या को मृतात्माओं का श्राद्ध-तर्पण ये सामूहिक रूप से हो सकता है।

रामायण-गीता-भागवत-महाभारत आदि के प्रेरक प्रसंगों की कथाएँ जब-तब होती रहें तो उनके माध्यम से भी नैतिकता, पारिवारिकता एवं सामाजिकता का उपयोगी शिक्षण देने की व्यवस्था कर कुशल वक्ता बन सकते हैं। इन ग्रन्थों से प्रेरणाप्रद कथा कह सकने की पद्धति हरिद्वार (भारत) के शान्तिकुंज मे विकसित की है और इस प्रयोजन के लिये अतिरिक्त पुस्तके छापी हैं। यहाँ तक कि सत्यनारायण कथा का भी ऐसा परिष्कृत संस्करण प्रस्तुत किया है, जिसके सहारे उस पुरातन परिपाटी को ही नवयुग की आवश्यकता पूर्ण करने के लिये भली प्रकार प्रयुक्त किया जा सके।

देवालयो को ईसाई चर्चों से प्रेरणा लेनी चाहिये और धर्म पुरोहितो को पादरियों से। वे पूजा-उपासना का उपक्रम चलाते और धार्मिक कर्मकाण्ड सम्पन्न करते है किन्तु इतने भर से सीमित सन्तुष्ट नही हो बैठते। मिशन की विचारधारा फैलाने और उस प्रयोजन के लिये जनसम्पर्क साधने के लिये निरन्तर प्रयत्न करते रहते हैं। चिकित्सा, शिक्षा, असमर्थों की सहायता जैसे

समस्त विश्व.....अजस्र अनुदान १.२५०

ऐसे काम भी वे करते है, जिनसे धर्म के साथ सेवा और सहायता का सम्मिलन परिलक्षित हो और सर्व-साधारण की सहानुभूति अर्जित हो। भारतीयो के धर्म सस्थानो एव संगठनो को भी अपने कार्यक्रमों मे ऐसा कुछ जोडकर रखना चाहिये।

धर्म का वास्तविक उद्देश्य है जन साधारण की दुष्प्रवृतियों को छुड़ाना और सत्प्रवृतियाँ अपनाने के लिये उत्साह उभारना धार्मिकता के इन विधि निषेध पक्षों को कहां, किस प्रकार उपयोग मे लाया जा सकता है ? उसका अवसर देखा और उपाय खोजा जाय तो कितने ही ऐसे काम सामने आ सकते है, जिन्हे हाथ मे लिया और अग्रगामी बनाया जा सके। माँसाहार, नशेबाजी, अशिष्टता, आलस्य, अस्वच्छता, प्रमाद, क्रोध, जुआ, चोरी, व्यभिचार आदि कितने ही ऐसे अनुपयुक्त कार्य है, जिनमे संलग्न लोगो को छुडाने और जो नही लगे है, उन्हें बचाने के लिये प्रतिज्ञा आन्दोलन चलाने का उपक्रम, धार्मिक समुदायो द्वारा बनाया जा सकता है। घरो मे आदर्श वाक्य एवं आदर्श चित्र लगाने के लिये प्रचार अभियान पर निकला जा सके तो अपने घरों की दीवारें, अल्मारियाँ, खिड़कियाँ, मेज कुर्सियाँ बोलती पुस्तको की तरह सांस्कृतिक मान्यताओ को प्रकट करने लगेगी।

इन पंक्तियों मे थोड़े से ऐसे संकेत किये गये हैं, जिनसे प्रवासी बन्धु अपने क्षेत्र समुदाय मे धार्मिकता का सांस्कृतिक वातावरण बनाये रह सके। इससे प्रखरता और जागरूकता बनी रहेगी तथा वह आशंका न रहेगी जिसमें विदेशो मे जाकर भारत मूल के लोगो को पाश्चात्य प्रवाह के समुद्र मे घुल जाने की चिन्ता बनी रहती है। होना यह चाहिये कि संगठित एवं सुसंस्कृत भारतीय प्रवासी अपने-अपने क्षेत्रों में इस देवसंस्कृति का प्रसार विस्तार से करें और अनेको को उसी प्रकार अनुयायी बनायें जिस प्रकार अन्य धर्मावलम्बी अपने-अपने विस्तार के लिये बहुत कुछ करते और सफल होते देखे जाते हैं।

भारतीय संस्कृति की रक्षा कीजिए

जैसे कोई विशालकाय जहाज, अपने मल्लाह की इच्छा और प्रेरणा के अनुसार अपनी दिशा और गति का निर्माण करता हुआ वहाँ जा पहुँचता है जहाँ नाविक को अभीष्ट होता है। उसी प्रकार जीवन का सुसज्जित जहाज भी उसी दिशा मे उसी गति से अग्रसर होता है, जिसके लिए अन्तः प्रदेश की प्रेरणा होती है। एक व्यक्ति का आदर्श लक्ष एवं कार्यक्रम एक प्रकार का है तो दूसरे का उससे सर्वथा भिन्न, सर्वथा विपरीत दिशा मे अग्रसर होता दिखाई पड़ता है। इस भिन्नता का मूल कारण उन दोनों की अन्तःप्रेरणा की भिन्नता ही है।

जीवन की नीति निर्धारण करने वाली अन्तः प्रेरणा को संस्कृति कहते हैं। यह किसी मे जन्म जात नहीं होती वरन् समीपवर्ती वातावरण, अनुकरण, शिक्षण, चिन्तन के आधार पर विनिर्मित होती है। मनुष्य जिस बात में सुखानुभूति की मान्यता बना लेता है, उसी ओर उसका मन ललचाता है और अपने समस्त साधनों के साथ उधर ही उन्मुख होता है। मनुष्य का अन्तःकरण कुछ मूलभूत आदर्शों, भावनाओं और मान्यताओं से अनुप्राणित होता है। इन आधारो पर हमारा भावना क्षेत्र जैसा बन जाता है वैसा ही जीवन क्रम बनता है और समाज के सामने हम उसी रूप में उपस्थित होते हैं।

यो मनुष्य भी अन्य प्राणियो की तरह एक पशु है। थोड़ी बुद्धि अधिक रहने से वह अपेक्षा कृत कुछ अधिक सुख-साधन प्राप्त कर सकता है इतना ही सामान्यतः उसे बुद्धि विशेषता का लाभ है। पर यदि उसकी अन्तःप्रेरणा उच्च भावनाओं, आदर्शों एवम् आकांक्षाओ से अनुप्राणित हुई तो वह असामान्य प्रकार का, उच्चकोटि का, सत्पुरुषो जैसा जीवन-यापन करता हुआ न केवल स्वयं सच्ची सुख शान्ति का अधिकारी बनता है वरन् दूसरे अनेकों को भी आनन्द और सन्तोष की परिस्थितियों तक ले पहुँचने मे सहायक होता है। यदि वह अन्तःप्रेरणाएँ निकृष्ट कोटि की हुई तो न केवल स्वयं रोग, शोक, अज्ञान, दारिद्र, चिन्ता, भय, द्वेष, दुर्भाव, अपकीर्ति एवम् नाना प्रकार के दुःखो का भागी बनता है वरन् अपने से सम्बद्ध लोगों को भी दुर्मति एवम् दुर्गति का शिकार बना देता है। जीवन में जो कुछ श्रेष्ठता या निकृष्टता दिखाई देती है, उसका मूल आधार उसकी अन्तःप्रेरणा ही है। इसी को 'संस्कृति' के नाम से पुकारते हैं।

जिस प्रकार कोई पौधा अपने आप उगे और बिना किसी के संरक्षण के बढ़े तो वह जगली किस्म का कुरूप हो जाता है पर यदि वही पौधा किसी चतुर

माली की देख-रेख मे अच्छी जमीन, अच्छे खाद पानी एवम् संरक्षण के साथ बढ़ाया जाय, समय-समय पर काटा-छाँटा या सुधारा जाय तो बहुत ही सुन्दर एवं सुविकसित हो सकता है। मानव जीवन की स्थिति भी इसी प्रकार की है, उसे उचित दिशा मे उचित रीति से विकसित करने की, जो वैज्ञानिक पद्धति है उसे 'संस्कृति' कहा जाता है।

भारतीय संस्कृति-मानव संस्कृति है। उसमें मानवता के सभी सद्गुणो को भली प्रकार विकसित करने वाले सभी तत्व पर्याप्त मात्रा मे मौजूद है। जिस प्रकार काश्मीर में पैदा होने वाली केशर, 'काश्मीरी केशर' के नाम से अपनी जन्मभूमि के नाम पर प्रसिद्ध है। इस नाम के अर्थ यह नही है कि उसका उपयोग केवल काश्मीर निवासियों तक ही सीमित है। भारतीय संस्कृति नाम भी इसीलिए पड़ा कि वह भारत मे पैदा हुई वस्तुतः वह विश्व संस्कृति है। मानव संस्कृति है। सारे विश्व के मानवो की अन्तः प्रेरणा को श्रेष्ठ दिशा मे प्रेरित करने की क्षमता उसमें कूट-कूट कर भरी हुई है। इस सस्कृति को साम्प्रदायिकता या संकीर्णता कहना वस्तुस्थिति से सर्वथा अपरिचित होना ही है।

विभिन्न संस्कृतियाँ विभिन्न प्रकार की भावनाओं, आदर्शो एवम् आकांक्षाओ की प्रतीक है। जीवन-यापन के तौर-तरीकों के साथ कुछ प्रेरणाएँ भी अविछिन्न रूप से जुड़ी होती है। पाश्चात्य संस्कृति और भारतीय संस्कृति की तुलना कीजिए, जहाँ दोनो के आदर्श भिन्न-भिन्न है, वहाँ उनके बाह्य व्यवहार आचार व्यवहार भी भिन्न है। यो बाह्य आचार व्यवहार के साथ अनिवार्य रूप से कोई आदर्श या सिद्धान्त जुड़े हुए नहीं हैं। पर देखा यही जाता है कि जिस प्रकार से जिस ढग से, जिस तर्ज तरीके से जीवन व्यवहार बनाया जाता है, उसके साथ जो परम्परागत आदर्श एवं सिद्धान्त जुडे होते है वह भी अपने आप ही साथ-साथ चले आते हैं। नाटक मे अभिनेता जिस समय जो पोशाक पहन लेते हैं, जिस तरह के सामान से अपने आपको सुसज्जित कर लेते है उतनी देर तक उनके हाव-भाव तौर-तरीके सोचने तथा काम करने के ढंग भी वैसे ही हो जाते है। जब वे जनानी पोशाक पहनते है तो उनकी भाव-चेष्टाएँ औरतों जैसी हो जाती है, वही पात्र जब राजा, योद्धा विदूषक या साधु बनकर आता है तो उस पोशाक एव साज-सज्जा के अनुरूप उनके हाव-भाव-विचार, भाषण एव रग ढंग भी बन जाते है। यह तो हुई नाटक की बात पर व्यावहारिक जीवन मे भी यही तथ्य काम करता है। जीवन-यापन की विभिन्न प्रणालियो के साथ उसे अपनाने वाले समाज या दर्शन के सिद्धान्त प्रयोग होते-होते अब वह स्थिति आ पहुँची है कि एक प्रकार का जीवन-यापन उसी प्रकार की परम्पराओ को अपनाने की, उसी प्रकार के आदर्शों पर चलने की प्रेरणा देते है। संस्कृतियाँ जहाँ किसी समाज या धर्म की प्रतीक है, वहाँ वे उनकी परम्पराओ की प्रेरक भी है। जिस प्रकार का भेष, भाषा, भाव हम अपनाते है अनायास ही उनके मूल उद्‌गम के साथ जुड़ी हुई भाव परम्परा को भी हम अपना लेते हैं। संस्कृतियाँ ही किसी जाति की वास्तविक प्रतीक हैं। यदि कोई देश अपनी संस्कृति को त्यागकर दूसरे देश की सस्कृति को अपना लेता है तो समझना चाहिए कि बौद्धिक दृष्टि से उसने आत्मसमर्पण इस देश के आगे कर दिया।

मुसलमान और ईसाई संस्कृतियो के उदाहरण हमारे सामने स्पष्ट है। इस देश के मुसलमान रक्त और वंश की दृष्टि से विशुद्ध हिन्दू हैं। उनके पूर्वज कुछ सौ वर्ष पहले तक उसी प्रकार के कट्टर हिन्दू थे जैसे हम सब है। पर उनके पूर्वजो ने किसी कारण वश वह परम्परा त्यागकर मुसलमानी संस्कृति अपना ली। फल यह हुआ कि उनके सारे आदर्श, विचार, व्यवहार वैसे हो गये जैसे कि मुस्लिम सस्कृति के मूल स्थान अरब आदि के निवासियो के होते हैं। वे अपना तीर्थ मक्का मदीना को मानते है, मथुरा से उन्हें कोई वास्ता नही। आहार-व्यवहार, पोशाक, रहन-सहन, तौर-तरीका, पर्व-त्यौहार, दर्शन, धर्म, पूर्वजो के प्रति सम्मान उसी ढाँचे मे ढल गये जैसे कि अरब निवासियो के होते है। वे अपने पड़ौसी भारतीयो को विराना और हजारो मील रहने वाले सुदूर देशो के मुसलमानों को अपना सगा मानते है। उनकी स्वाभाविक सहानुभूति कहाँ है किनके साथ है यह कोई छिपी बात नही प्रकट रहस्य है ? संस्कृतियो का वस्तुत. ऐसा ही प्रभाव होता है।

किसी धर्म में दीक्षित होने और उसकी सस्कृति अपना लेने में कुछ अन्तर तो है पर नाम मात्र का ही है। भारत मे ईसाई सस्कृति फैल रही है। स्कूल और कालेजो के छात्र-छात्राएँ क्या पढ़ते है क्या नही, यह

दूसरी बात है, पर वे वहाँ के वातावरण में से अँग्रेजी भाषा सीखने के अतिरिक्त अँग्रेजी, संस्कृत भी सीखते है। अध्यापक और अध्यापिकाएँ अपने व्यवहारिक जीवन से, अपने आचार-विचार से, भाषा भेष भाव से, बच्चो पर यही संस्कार डालते हैं कि उन्हे न केवल अँग्रेजी पढनी चाहिए वरन् अँग्रेजी मूल संस्कृति का भी अनुकरण करना चाहिए। गीली मिट्टी के समान हमारे कोमल बच्चे उस ढाँचे में ढलते है और धीरे-धीरे वे आधे ईसाई बनकर वहाँ से निकलते है। सिरो पर ढूँढने पर भी किसी के चोटी न मिलेगी। जनेऊ तलाश कराये जायें तो किसी विरले के कधे पर ही उसके दर्शन होगे। खड़े होकर पेशाब करने से लेकर चाय, डबल रोटी और अण्डे के आहार तक सभ्यता के चिह्न माने जाते है। सभ्य कहलाने वाले लोगो के जो प्रीतिभोज होटलो में होते है उसमे मास, मदिरा आवश्यक हैं। अपनी मातृ-भाषा को हेय समझकर उसमे बातचीत करने को बेइज्जती समझते है और अँग्रेजी मे बात करना, अँग्रेजी मे पत्र लिखना बड़प्पन एवं गौरव का चिह्न मानते है। भारत की गर्म जलवायु की दृष्टि से ठंडे देश के उपयुक्त अँग्रेजी पोशाक सर्वथा अनुपयुक्त है। फिर भी लोग इसलिए उसे पहिनते है कि अँग्रेजियत कोई बहुत बड़ी बात है। नेकटाई ईसाई धर्म का एक धर्म चिह्न है, पर हम खुशी-खुशी उसे बाँधते हैं। जरा से वजन का चार पैसे मूल्य का जनेऊ हमे बेकार लगता है और आधी छटाक भारी डेढ़ रुपया मूल्य की नेक टाई जिससे गला बाँध देने पर आराम से हवा आने का मार्ग भी रुक जाय हमे अच्छी लगती है। यह सब उस संस्कृति के आगे आत्मसमर्पण कर देने की ही महिमा है।

बात यही तक समाप्त नही होती। इस किस्म का आचार-विचार छोड़कर दूसरी किस्म का आचार विचार अपनाने तक ही यह प्रक्रिया सीमित हो तो किसी प्रकार सन्तोष भी किया जा सकता है पर वास्तविकता ऐसी है जिस पर हमें गंभीरतापूर्वक विचार करना आवश्यक है। पाश्चात्य भाषा भेष-भाव अपना कर हम भावना एवं मान्यताएँ भी उन्ही देशों की अपना लेते हैं। हमारे दम्पत्ति जीवन के आदर्श भी अब वही होते जाते हैं जो पाश्चात्य देशो के हैं। पतिव्रत और पत्नीव्रत पश्चिम मे नही हैं इसलिए उन्हें इस देश से भी विदा करने की तैयारी हो चुकी है। सम्मिलित कुटुम्ब प्रथा उस संस्कृति मे बेकार मानी जाती है, हम भी सम्मिलित परिवारो को समाप्त कर रहे हैं। विवाह होते ही पति-पत्नी सारे कुटुम्ब से अलग रहने की बात सोचते हैं और वही करते हैं। पश्चिम में आहार की स्वच्छता रहती है पर पवित्रता को व्यर्थ माना जाता है हम भी जिस-तिस के हाथ का बना, भक्ष-अभक्ष का विचार छोड़कर चाहे जो खाने लगे हैं। पश्चिम- वासियों का दृष्टिकोण खाओ-पीओ मजा करो है। हम भी ऊँचे आदर्शवाद का कष्ट साध्य जीवन व्यतीत करने की आकाक्षा को त्यागकर विलासी जीवन की ओर अग्रसर हो रहे हैं और जिस प्रकार भी नीति-अनीति से सम्भव हो उसके साधन जुटाने में कटिबद्ध हो रहे हैं। ईसाईयत हमें प्यारी लगती है। हिन्दुत्व, बेवकूफी का चिह्न प्रतीत होता है। शेक्सपियर और मिल्टन हमें विद्वान दीखते हैं, कालिदास और भवभूति का नाम भी याद नही होता।

ईसाई सस्कृति को अपनाकर हम अपने आदर्श ही नही, राष्ट्रीय गौरव और जातीय आदर्शों को भी तिलांजलि देते चले जा रहे हैं। यही चिन्ता की बात है। यह दौड़ इसी गतिविधि से चलती रही तभी आज कुछ सौ वर्षो मे ही हमारे भाई मुसलमान बनकर अपनी आस्था को कही से कही ले जा पहुँचे, उसी प्रकार हमारी भावी पीढ़ियाँ भी इस पाश्चात्य सस्कृति को अपनाकर अपना सद्भाव हिन्दुत्व से हटाकर भारतीय आदर्शों से विमुख होकर ईसाइयों जैसा बना लेगी। यदि हमने अपनी परम्पराओ का त्यागकर दूसरी संस्कृति अपना ली तो यह बौद्धिक आत्म-समर्पण राजनीतिक पराधीनता की अपेक्षा अधिक चिन्ताजनक ही होगा।

क्या हमारे लिए यह उचित होगा कि अपनी महान जाति को इस सांस्कृतिक पराधीनता के चंगुल में फंसते हुए देखते रहें और चुपचाप आसू बहाते रहें। नही, इतने से काम न चलेगा। हमें अपने राष्ट्रीय और जातीय गौरव की रक्षा के लिये ही नही—मानवता, धार्मिकता और आध्यात्मिकता के आदर्शों को जीवित रखने के लिए उस भारतीय सस्कृति को जीवित रखना होगा, जिसकी गोद मे पलकर इस देश के निवासी देवता की पदवी प्राप्त करते रहे है। जो संस्कृति घर-घर मे नर-रत्नो को, महापुरुषो को जन्म देने की अपनी प्रामाणिकता लाखों वर्षो से प्रमाणित करती आ रही है,

उसे इस प्रकार आसुरी संस्कृति के आगे पद-दलित और पराङमुख होते देखना हमारे लिए एक बड़ी ही लज्जास्पद बात होगी। जिस संस्कृति की रक्षा के लिए शत्रुओं के आक्रमणों से बचाने के लिए लाखो शिवाजी, प्रताप, बन्दा बैरागी, हकीकतराय, गुरु गोविन्द सिंह अपनी गर्दनें कटा चुके उसे हम कूड़ा समझकर नष्ट होने के लिए फेंक दी जाने दें, क्या यह हमारे लिए एक कलक की बात नही होगी ? यदि भारतीय सस्कृति नष्ट हो गई, पद-दलित एवं उपेक्षित होकर समाप्त हुई तो यह मानवता के लिए एक भारी दुर्घटना होगी। ऋषियों ने लाखों वर्षों के कठिन प्रयत्न से जिन आदर्शों को जिन परम्पराओं को मानव जीवन के स्वस्थ विकास के लिए उपयोगी बताया, करोड़ों मनुष्यो पर लाखों वर्षों तक जिसका प्रयोग परीक्षण करके सर्वथा उपयोगी साबित किया, उसे इस तरह पद-दलित होने देना हमारे कपूत होने का ही एक प्रमाण होगा। देवता और ऋषियो की इस पवित्र धरोहर को—भारतीय संस्कृति को यदि हम पाश्चात्य संस्कृति के आगे आत्मसमर्पण करने से बचा नहीं सकते तो यही मानना पड़ेगा कि हमने अपने रक्त में से उन पूर्वजो के अंश को बहिष्कृत कर दिया, जिनकी उज्जवल कीर्ति से आज भी इतिहास के पन्ने जगमगा रहे है।

हमे अपने जीवनयापन के सामान्य कार्यक्रम मे ईसाईयत को ढूँढ़-ढूँढ़कर निकालना होगा और उसके स्थान पर भारतीयता की प्रतिष्ठापना करनी होगी। अँग्रेज चले गये अब अँग्रेजियत की गुलामी क्यो की जाय ? हैट पेन्ट मे क्या खूबसूरती है जो हमारे धोती कुर्ते मे नही है। उसे हम स्वयं पहने और बच्चो को पहनावे।अँग्रेजी भाषा को केवल एक विदेशी उपयोगी भाषा की दृष्टि से पढ़ें तो सही पर उसे अपनी मातृ भाषा से अधिक मान न हो। अपने दैनिक जीवन में पत्र-व्यवहार, स्वाध्याय और अध्ययन मे हिन्दी का माध्यम ही अपनावे। जिस भाषा के माध्यम से हम पढ़ते और बोलते है, उसी के भाव एवं आदर्श हमारे मस्तिष्क मे स्थान जमाते है। भारतीय साहित्य में ही वह क्षमता है जो भारतीय आदर्शों की ओर हमें प्रेरित करे। रामायण और गीता, वेद और धर्मशास्त्रो का अपने पूर्वजों के पुनीत चरित्रो और कृतियो का थोड़ा-बहुत अध्ययन हमारे नैतिक जीवन में आवश्यक रूप से स्थान प्राप्त करे। चोटी हममें से हर एक के सिर पर होनी चाहिए। जनेऊ के बिना कोई कन्धा खाली न हो। हिन्दू सस्कृति के दो प्रधान प्रतीक शिखा और सूत्र-चोटी और जनेऊ आज बुरी तरह उपेक्षित हो रहे हैं, जन साधारण की सांस्कृतिक निष्ठा को कायम रखने के लिए इन दोनो प्रतीकों की आवश्यकता एवं अनिवार्यता उसी प्रकार समझी जाय, जिस प्रकार मुसलमानो में सुन्नत को एक आवश्यक सास्कृतिक प्रतीक माना जाता है। हमारे आहार मे स्वच्छता के साथ पवित्रता भी रहे। भक्ष-अभक्ष के भेद को तिलांजलि देने की प्रवृत्ति की भर्त्सना की जानी चाहिए।

पतिव्रत और पत्नीव्रत के आदर्शों पर जोर दिया जाय। लड़कियाँ इस प्रकार का वेश-विन्यास न बनावें जो दूसरों में अवांछनीय उत्तेजना उत्पन्न करे। फैशन परस्ती और विलासिता, हमारे लिए घातक सिद्ध होगी। पर्दा बुरी बला है नारी का हर प्रकार का विकास किया जाय पर नर-नारी के कार्यक्षेत्रो को मिला देने की पाश्चात्य मान्यता हमारे दम्पत्ति आदर्शों को नष्ट किये बिना न रहेगी इस खतरे से समाज को सावधान करना—भारतीय संस्कृति की रक्षा के लिए आवश्यक है। हर बच्चे के षोडश संस्कार कराये जायँ ताकि बालक पर तथा घर वालों पर भारतीयता के आदर्शों की छाप पड़े, संस्कार कराने वाले ऐसे पुरोहित पैदा हों, जो न केवल धार्मिक कर्मकाण्ड विधिवत् पूरे करें वरन् भारतीय आदर्शो की शिक्षा और प्रेरणा उन धर्म अवसरो पर लोगो को प्रदान करें। हमारा प्रत्येक त्यौहार एक सामूहिक सामाजिक संस्कार है, उन्हे इस प्रकार मनाया जाय कि जन साधारण अपने वर्तमान जीवन को प्राचीन आदर्शों के अनुरूप ढालने की प्रेरणा प्राप्त करें।

स्वर्णिम अतीत पर एक दृष्टि

अपने गौरवमय अतीत की एक झांकी

आदर्श सहित उद्देश्य को यदि जीवन-लक्ष्य बनाया जाय तो मनुष्य की अन्तः चेतना अत्यन्त बलिष्ठ होती जाती है और उस सामर्थ्य के कारण जीवनोपयोगी सभी आवश्यक सुविधा-साधन तो सहज मे जुटते ही रहते है, साथ ही वे परिस्थितियाँ भी प्रस्तुत होती रहती है जिनके कारण आत्म-सन्तोष मिलता रहे, आत्म-गौरव उपलब्ध होता रहे। आत्मबल ही इस ससार मे सबसे बडा बल और वैभव है, इसे प्राप्त करने के उपरान्त न कोई दुःख शेष रहता है और न अभाव, न दारिद्रिय का कोई कारण शेष बचता है। अपने गुण-कर्म-स्वभाव की उत्कृष्टता यदि सम्पादित कर ली जाय तो भौतिक दृष्टि से तृप्तिदायक सुख और आनन्ददायक शान्ति की प्रचुर मात्रा सदैव सामने खडी रहती है। ऐसे व्यक्ति स्वय श्रेय प्राप्त करते है और अपनी पीठ पर बिठाकर अनेको को पार उतारते है। उनके चरण-चिन्हो का अनुगमन करते हुए अनेको अल्प-सामर्थ्यवान उन्नति के उच्च शिखर पर चढ़ने का प्रकाश एव साहस प्राप्त करते है।

प्राचीन काल में सम्पत्ति का अर्थ होता था दैवी सम्पत्ति-गुण, कर्म, स्वभाव के व्यक्तिगत जीवन की उत्कृष्टता, व्यक्तित्व की प्रखरता। जिसके पास यह पूँजी थी, उसे सम्पत्तिवान कहा जाता था। उस समय प्रगति का अर्थ था—'अपनेपन' की परिधि को अधिकाधिक व्यापक, विस्तृत बनाना। आत्मीयता को शरीर और परिवार तक सीमित न रखकर उसे मनुष्य मात्र तक प्राणि मात्र तक विस्तृत करना। दूसरो के दुःख मे दुःखी और दूसरों के सुख मे सुखी रहना। अपनी चेतना तथा कर्तव्य से सुविस्तृत क्षेत्र को लाभान्वित करना। देश, धर्म, समाज और संस्कृति को मानवता की परिपुष्टि के लिये बढ़े-चढ़े साहस और पुरुषार्थ का परिचय देना।

उन दिनो हर व्यक्ति सुसम्पन्न बनना चाहता था, पर वह सम्पन्ता चाँदी के टुकडों, विलासिता के उपकरणो एवं ठाठ-बाट के अहंकारी प्रदर्शनो तक सीमित न थी। सामान्य लोगों की तुलना मे कौन कितने बडे आदर्शवादी कीर्तिमान स्थापित कर सका इसी कसौटी पर व्यक्ति का वर्चस्व परखा जाता था। जो महामानव की, भूसुर की भूमिका सम्पन्न करते थे, उन्हें ही सम्पत्तिशाली माना जाता था। लिप्सा-लोलुप, कृपण और कृतघ्न, संकीर्ण, स्वार्थी जहाँ-तहाँ उस जमाने मे भी थे और उनके पास दूसरो की तुलना मे वैभव भी अधिक रहता था, उससे शौक-मौज का लाभ भी उन्हे मिलता था, पर आत्म-सतोष और लोकसम्मान से सर्वथा वंचित वे अभागे निकृष्ट नर-कीटो की तरह ही मौत के दिन पूरे करते थे। उन्हे विज्ञ समाज मे कगाल कहकर उपहासास्पद एवं घृणास्पद माना जाता था, भले ही अमीरी का ठाठ-बाट उनके पास कितना ही बढ़ा-चढा क्यो न हो?

प्राचीन भारत का इतिहास देश मे जन्मे नर-रत्नो का इतिहास है। भारत भूमि ने अन्न, वृक्ष, खनिज जैसी प्रकृति सम्पदाये उत्पन्न करके भौतिक सम्पदाओं के ही भण्डार नही भरे वरन् देव-मानवो का भी प्रचुर मात्रा मे उत्पादन किया। घर-घर मे नर-रत्नों की खान थी। किसकी चमक कितनी प्रखर है, इसकी प्रतिस्पर्द्धा रहती थी। महानता की कसौटी पर किसका कितना बढा-चढा मूल्यांकन होता है, इसी महत्वाकाक्षा से हर किसी का मन उद्वेलित रहता था। शूरवीर उन दिनो तलवार चलाने वाले ही नही माने जाते थे, वरन् उन्हे भी योद्धा घोषित किया जाता था, जिनने अपनी पशु-प्रवृत्तियो को, तृष्णा-वासना को, संकीर्ण स्वार्थपरता को पैरो तले रौद सच्ची विजय प्राप्त की। ऐसे आत्मजयी योद्धा ही अभिनन्दन और अभिवादन के पात्र समझे जाते थे। हर वर्ग मे हर क्षेत्र मे ऐसे आत्मजयी योद्धा भरे पड़े थे, उनके गौरवशाली अस्तित्व भारत माता की कीर्ति-ध्वजा दशो दिशाओ मे उड़ाते थे। इस आधार पर सुविकसित भारत की गौरव-गरिमा के सामने समस्त विश्व श्रद्धावनत मस्तक झुकाये खड़ा रहता

था। उनकी विजय दुंदुभि विश्व के कोने-कोने मे गूँजती, प्रतिध्वनित होती सुनाई पड़ती थी। प्राचीन इतिहास के जितने भी पृष्ठ पलटे जाये उनमे भारत की इसी विशिष्टता का उल्लेख स्वर्णाक्षरों में लिखा हुआ मिलता चला जायेगा।

उन दिनों अभिभावक यह प्रयत्न करते थे कि गर्भावस्था मे पहुँचते ही बालक महामानवो की भूमिका मे अवतरित हो। इसलिए उनकी शिक्षा उसी दिन से आरम्भ हो जाती थी, जिस दिन कि उसने गर्भ में प्रवेश किया। अर्जुन और सुभद्रा ने यही निश्चय किया था वे कि वे शूकर-कूकर की तरह ढेरों बच्चे नही जनेगे। एक उत्पन्न करेगे और उसे सुसंस्कृत की तरह बनाने के लिये अपने आपको उस प्रकार का साँचा बनायेंगे जिससे उत्पन्न संतान महानता के साँचे मे ढली हुई हो। वैसा ही हुआ भी। पति-पत्नी ने परस्पर संवाद और व्यवहार वीरोचित रखे, फलतः अभिमन्यु अभीष्ट विशेषता लेता आया। उसने उतना चक्रव्यूह आसानी से वेधन कर लिया जितना कि माता-पिता से गर्भावस्था में सीखा था।

मदालसा ने अपने कुछ बालकों को ब्रह्मज्ञानी बनाया। जब तक वे बालक गर्भावस्था में रहे, तब तक उसने अपना चिन्तन और चरित्र वैसा ही ढाला जैसी कि उसे संतान चाहिये थी। फलतः वे ब्रह्मवेत्ताओ के सस्कार लेकर जन्मे। एक बालक को उसने अपनी इच्छानुसार राज्य शासन कर सकने योग्य भी ढाला और वह भी ठीक उसकी इच्छानुसार जन्मा।

कुन्ती को देव गुणो से सुसज्जित सतान की आवश्यकता थी। उसने देव-तत्वो से अपना रोम-रोम ओत-प्रोत किया और जिस-जिस देवी शक्ति से सुसज्जित बालक की आकांक्षा की ठीक उसी स्तर के उत्पन्न किये। सूर्य गुर्ण सम्पन्न कर्ण, इन्द्र पुत्र-अर्जुन, धर्मराज पुत्र-युधिष्ठिर, पवन पुत्र-भीम, अश्विनीकुमार, से-नकुल, सहदेव, उत्पन्न माने जाते है। वह विद्या उन दिनों घर-घर में ज्ञात थी। सभी जानते थे कि अभिभावकों की आकांक्षा, निष्ठा और क्रिया जिस स्तर की होगी वैसे ही बालक जन्मेगे। इसलिये बच्चो का शिक्षण अभिभावक आत्म निर्माण के रूप मे आरभ करते थे।

अंजनी को जैसा बालक अभीष्ट था वैसी उसने गर्भावस्था में तैयारी की। "राम काज कीन्हे बिना मोहि कहाँ विश्राम" वाली क्षमता को लेकर हनुमान जन्मे। वे वज्र-अंगी (बजरंगी) अनायास ही नही थे। माता की महत्त्वाकांक्षा के अनुरूप ही यह निर्माण संभव हुआ था।

राम चाहते थे कि उनके बालक विशिष्ट महानता से ओत-प्रोत हैं। राजमहल का वातावरण इसके लिये अनुकूल न था, तो उन्होने सीताजी को ब्रह्मर्षि वाल्मीकि के आश्रम मे भेजा, ताकि गर्भावस्था मे माता को भ्रूण के उपयुक्त वातावरण मे रहने का अवसर मिले। लव-कुश जन्मे तो वे ठीक वैसे ही थे जैसा कि उनके अभिभावको ने चाहा।

शकुन्तला कण्व ऋषि के आश्रम मे पली थी। उसके पेट मे दुष्यन्त का गर्भ आया तो उसने यही चाहा कि सन्तान अपने देश का मुख उज्जवल करे। फलतः सिंह-शावकों से खेलने वाला भरत उसकी कोख से जन्मा और उस महाप्रतापी के पुरुषार्थ ने उसी के नाम पर इस पूरे देश का नामकरण 'भारतवर्ष' के रूप में कर दिया।

नचिकेता के उदारचेता पिता वाजिस्रवा जब समस्त धन-धान्य लोक मंगल के लिये दान दे चुके तो उसने पूछा आप लोभ त्याग की परीक्षा मे सफल हो चुके, फिर मोह त्याग मे क्यों असफल होते है, मुझे खिलौना बनाकर क्यो अपने पास रखना चाहते है, लोक मगल के लिये मुझे भी दान क्यो नही दे देते? वाजिस्रवा ने पुत्र को अपने से बढ़कर आदर्शवादी देखा तो हर्षोल्लास से उनकी आँखे डबडबा आयी। उन्होने तत्काल महातपस्वी यमाचार्य के हाथ मे अपने पुत्र नचिकेता का हाथ सौप दिया और वह ब्रह्मवेत्ता बनकर इस विश्व-वसुधा का गौरव बढ़ाने मे समर्थ हुआ।

आद्यशंकराचार्य की माता अपने इकलौते पुत्र को भौतिक प्रगति में सुख-समृद्धि युक्त देखना चाहती थी। पुत्र वधू और पौत्र के साथ रहने को लालायित थी। माता की मोह ममता को उनके दस वर्षीय बालक ने चतुरतापूर्वक तोड़-मोड़ कर फेंक दिया। प्रसिद्ध है कि उन्हे नदी मे नहाने के समय 'मगर ने पकडा' तो

चिल्ला करके बोले कि मुझे शंकरजी को दान करो अन्यथा मगर खा जायेगा। माता ने अपना बालक शिवजी को दान कर दिया। वे मगर के मुँह मे से छूटकर बाहर आ गये और परिव्राजक बनकर भारतीय सस्कृति का पुनरुत्थान करने में समर्थ हुए।

ध्रुव ने माता के मोह को निरस्त किया और तप साधना में संलग्न होकर ध्रुव तारा के रूप में ब्रह्माण्ड को अपनी कक्षा मे घुमाने वाले केन्द्र बिन्दु बने । प्रहलाद छोटा बालक तो था पर उसे मोह-ग्रस्त पिता का वह आदेश-आग्रह स्वीकार न हुआ, जिसके अनुसार नीति-अनीति का ध्यान न करके अधिक से अधिक वैभव उपार्जन के लिये समझाया जाता था।

समर्थ गुरु रामदास के घरवाले उन्हे विवाह के बन्धन में बाँधकर सामान्य प्राणियो की तरह जीने के लिये विवश कर रहे थे। बात यहाँ तक पहुँच गयी कि विवाह वेदी पर वधू को बिठा दिया गया। उनकी अन्तरात्मा ने पुकारा कि इन्द्रिय तृप्ति का पशु प्रयोजन करते हुए मानव जीवन को व्यर्थ न कर, अपनी दिव्य क्षमताओ को स्त्री-बच्चो के छोटे दायरे मे खर्च न कर उसे विश्व-वसुधा की सम्पदा बना। अन्तरात्मा की पुकार उन्होने सुनी और विवाह वेदी पर से उठकर तावड़तोड़ भाग खड़े हुए। वेदी की अवज्ञा जरूर हुई, पर उनका फैसला भी धर्म की परिधि से बाहर नही था। मोह-ग्रस्तो का मोह तोड देना भी तो एक धर्म ही है। बडे-वूढे क्षोभ व्यक्त करते रहे पर समर्थ गुरु रामदास वह करने मे समर्थ हुए, जो सौ जन्मो तक विवाह और सन्तानोत्पादन करते रहने पर भी नही कर सकते थे।

दशरथ भी कुछ ऐसा ही परामर्श राम को दे रहे थे कि 'वरदान कैकेयी को दिया है, तुम्हे वन जाने का आदेश नही दिया। झूँठा पडूँगा, तो कैकेयी के सामने मै पडूँगा। तुम वन मत जाओ।' राम ने उनका मोह तोडा और कहा कि सन्तान सुख बड़ा नही है, कर्तव्य बड़ा है।

कृष्ण ने भी गोपियो का और अपनी दोनो माताओं का मोह तोड़कर ब्रज को छोड़ा था। उन्होंने सभी स्वजनो और प्रेमियो को समझाया कि जो उच्च कर्तव्यों मे बाधा पहुँचाये वह प्रेम नहीं मोह है। मोह के बन्धन तोड़ने में अधर्म नही है। यह कहकर कृष्ण वृज का परित्याग करके कर्तव्य की पुकार पूरी करने के लिये अनीति के विरुद्ध संघर्ष करने की तैयारी करने के लिये अन्यत्र चले गये। तब वे किशोरावस्था में पदार्पण ही कर रहे थे।

गुरु गोविन्दसिंह के बालकों के सामने जीवित रहने के लिए इस्लाम स्वीकार करने की शर्त थी, बच्चों ने हँसते-हँसते जीवित दीवार में चुने जाने की दुरुह पीड़ा सहकर अपने प्राण गँवाये। वे जानते थे कि जीवन-मरण का कोई महत्त्व नही। सर्वोपरि महता आदर्शों की रक्षा करना है।

कुन्ती अज्ञातवास की अवधि मे अपने बालकों को लेकर एक ब्राह्मण परिवार मे छिपी हुई दिन काट रहीं थी। उस गाँव में हर घर से मनुष्य राक्षस के द्वारा खाये जाने का क्रम चल रहा था। उस दिन आश्रय-दाता ब्राह्मण के इकलौते पुत्र की बारी आ गयी । पाँचो बच्चे मचल पड़े। हममे से एक राक्षस के सामने क्यों न चला जाय? और ब्राह्मण बालक को क्यो न बचा लिया जाय? उनके प्रबल आग्रह ने कुन्ती को बात मानने के लिये बाध्य कर दिया। अब इस सौभाग्य का लाभ कौन उठाये? इस बात पर सब बच्चे आपस मे लडने लगे। अन्तत: गोली निकालकर भाग्य का फैसला कराया गया। निर्णय भीम के पक्ष में हुआ। वह राक्षस के सामने हँसता-उछलता चला गया और स्वयं शिकार बनने के स्थान पर उलटा उसे ही मारकर आया। बच्चे उन दिनों जानते थे कि मरना भी यदि उद्देश्य के लिये सम्भव हो सके तो वह हजार बार जीने की अपेक्षा अधिक श्रेयस्कर है।

विवाह आदर्शो की स्थापना के लिये दो आत्माओं के मिलन के रूप मे होते थे, कामुकता के घृणित प्रयोजन की पूर्ति के लिये नही। दोनो मिलकर परिवार को एक छोटे आदर्श राष्ट्र के रूप मे विकसित करते थे। परिवारों की संरचना एक सुव्यवस्थित समाज संरचना की प्रयोगशाला के रूप में होती थी। इस पर पति-पत्नी न्यूनतम संतानोत्पादन करते थे। बच्चों को सुसस्कृत बनाने पर ध्यान देते थे। विवाहित होने पर भी संतानोत्पादन थोड़े ही करते थे। जो करते थे उनके सामने विशेष लक्ष्य रहता था। वासनात्मक उन्माद उन्हें

इसके लिये प्रेरित नही करता था। यह आदर्श केवल ऋषियो वरन् सामान्य स्तर के लोगों में भी प्रचलित था।

गृहस्थ जीवन में भी जन साधारण के बीच आदर्शों की घोर प्रतिस्पर्द्धा और प्रतिद्वन्द्विता ठनी रहती थी। कौन किससे आगे निकलता है यह चुनौती अपने अपने क्षेत्र में हर कोई अपने साथियों को देता रहता था। राम और भरत दोनों के सामने ऐसा ही धर्म संकट उत्पन्न था। दोनों ही चाहते थे कि त्याग और आदर्श के क्षेत्र मे उनकी हेटी न होने पाये। 'राज्य हमें नही दूसरे को मिले' इस प्रतिद्वन्द्विता में कोई हारा नही। फैसला यह हुआ कि राम की तरह ही भरत भी चौदह वर्ष तक तपस्वी जीवन जीयेगे। राज सिंहासन पर राम की खड़ाऊँ स्थापित की जायेंगी।

विश्वामित्र उन दिनों नवयुग का सूत्रपात कर रहे थे, उन्हें साधनों की आवश्यकता थी। उनके शिष्य हरिश्चन्द्र ने पूर्ण निस्पृहता का परिचय दिया। अपनी सारी सम्पदा ऋषि के हवाले कर दी। कमी पड़ी तो अपने को स्त्री बच्चों को बेचकर प्रस्तुत आवश्यकता की पूर्ति करने का आदर्श प्रस्तुत किया। सुदामा के गुरुकुल की अभावग्रस्त स्थिति दूर करने के लिये कृष्ण ने अपनी द्वारिका की अधिकांश सम्पत्ति का अधिकांश भाग ऋषि सुदामा को सौंप दिया था। राजा कर्ण को विपुल वेतन मिलता था, वे अपनी दैनिक आय मे से अपने निर्वाह की न्यूनतम राशि लेकर शेष उसी दिन सत्प्रयोजनों के लिये दान कर देते थे। मरते समय दाँतों मे लगा सोना तक दान कर जाने वाले कर्ण की परम्परा उन दिनो सभी सुसम्पन्न व्यक्तियो में प्रचलित थी। तभी किसी के पास धन जमा हो भी गया तो विशिष्ट अवसर सामने आते ही उसने भामाशाह की तरह सारी सम्पदा प्रताप जैसे प्रयोजनो के लिये सौंपते हुए अपना भार हलका कर लिया।

राजा जनक व्यक्तिगत निर्वाह के लिये कृषि करते थे और स्वयं हल चलाते थे। राज्यकोष प्रजा की अमानत था और उसी के लिये खर्च होता था। ऐसा ही आचरण अन्य राजा भी करते थे। रानी अहिल्या बाई के राज्यकोप मे से अधिकांश धर्म प्रयोजनो के लिये खर्च होता रहा। राजनैतिक विकृतियों का [illegible] करने के लिये प्रस्तुत [illegible] योजनायें और सामाजिक अव्यवस्थाओं का निराकरण करने के लिये प्रस्तुत वाजपेय यज्ञ अभियानों मे न केवल राजाओ के राज्यकोप खाली होते थे वरन् सम्पन्न लोगो की सम्पन्नता भी झाड़-बुहार कर साफ कर दी जाती थी।

उन दिनो लोकमंगल के प्रयोजनो में निरत साधु संस्था के सदस्य-साधु और ब्राह्मण अपने आप मे एक पवित्र संस्था होते थे। परमार्थ जीवन जीते थे उन्हे जनता मुक्त हस्त से दान देती थी। कब किस प्रयोजन के लिये कितना खर्च किया जाय यह निर्णय उन ऋषि कल्प महामानवो को ही सौंप दिया जाता था और ब्रह्मभोज तथा दान-दक्षिणा के रूप मे वे देव पुरुष पर्याप्त साधन-सामग्री प्राप्त कर लेते थे। फलस्वरूप लोकमंगल की विभिन्न प्रवृत्तियाँ सहज ही फलती फूलती रहती थी। प्रत्येक हर्ष एवं पर्व के अवसर पर दान-पुण्य की आवश्यकता हर गृहस्थ में समझी जाती थी। गृहस्थो की दान प्रवृत्ति विभिन्न कर्मकाण्डो एवं धर्मायोजनो के माध्यम से उठी-उभरी रहती थी। फलतः समाज मे इन प्रवृत्तियो को ऊँचा उठाने वाले क्रिया-कलाप इतने बढ़े-चढ़े रहते थे कि न केवल अपना देश वरन् समस्त विश्व उस दान-पुण्य की जनभावना से समुचित लाभ उठाता रहता था।

मन्दिर उन दिनो देव प्रतिमा पूजन भर तक की रूढ़ियाँ पूरी नही करते थे। उन दिनो के समस्त देवालय अपने क्षेत्र मे आदर्शवादी प्रेरणाओ का आलोक फैलाने वाले सफल केन्द्र विन्दु बनकर अनेकानेक रचनात्मक धर्म-प्रवृत्तियो का संचालन करते थे। कोई मन्दिर, देवालय अभावग्रस्त नही रहता था और उपलब्ध साधनो को मन्दिरो का संचालनकर्ता पुरोहित पूरी तरह जन-कल्याण मे ही प्रयुक्त करता था। गृहस्थ अपना घर परिवार तो चलाते ही थे पर साधु ब्राह्मणों द्वारा संचालित धर्म प्रयोजनो में कहीं कुछ भी कमी न पड़ने पाये इसका पूरा-पूरा ध्यान रखते थे। व्यक्तिगत वैभव वृद्धि के ऐलान पर धर्म-प्रयोजनो के लिये कुछ अधिक रहने की प्रवृत्ति हर साधन सम्पन्न मनुष्य के मन मे निरन्तर उफनती रहती थी।

इन परिस्थितियो जैसा इस देश का प्रत्येक नागरिक आदर्शवादिता की प्रतिमूर्ति था। हर भारतीय

का चरित्र एक महामानव का चरित्र था। उनमें से कभी-कभी कोई दृष्टान्त, उदाहरण चर्चा का विषय भी बनते रहे है, पर जब सभी लोग उस स्तर के थे तो चर्चा भी आखिर कहाँ तक की जाय?

अभिभावकों के प्रति संतान के कर्तव्यों के उदाहरण ढूँढ़े तो श्रवणकुमार द्वारा अन्धे माँ-बाप को कंधे पर काँवर में बिठाकर तीर्थयात्रा कराना, भीष्म पितामह का अपने पिता की प्रसन्नता के लिये आजीवन अविवाहित रहना, ययाति पुत्र का अपना यौवन वृद्ध पिता को देना, सत्यवान का तपस्वी पिता की सेवा व्यवस्था लकड़हारा बनकर करते रहना-उन दिनों के सामान्य सन्तान को कर्तव्य-परायणता के स्तर पर पहुँचा हुआ पाया जायेगा।

पतिव्रत धर्म निर्वाह करने वाली सावित्री, दमयन्ती, सीता, गान्धारी सर्वत्र मिलेगी। स्वयं कष्टमय जीवन स्वीकार करके, पतियो को कर्तव्य पथ पर धकेलने वाली वीर नारियाँ घर-घर मे मौजूद थी। वे उन्हें नीचे नही गिराती थी। वरन् ऊँचा उठाती थी। पुत्रों को गुरुकुल के लिये, पतियों को धर्म युद्ध के लिये भेजते हुए वे मोहग्रस्तता के आँसू नही बहाती थी वरन् गर्व-गौरव के साथ आरती उतारते हुए विदा करती थी। हाड़ा की रानी की तरह उन्हे अपना सिर काटकर पति को मोहग्रस्तता से उबारने में आपत्ति नही होती थी। पन्नादाई को अपना बच्चा प्यारा तो था, पर सौंपे हुए कर्तव्य से अधिक नहीं। उसने स्वामी का बच्चा बचाने के लिये अपने लाड़ले की आहुति चढ़ाते हुए आघात तो सहा पर मन यह सोचकर हल्का कर लिया कि उसने नारी की गरिमा की एक उपयुक्त स्थापना करने मे गौरवमयी परम्परा सही रूप में निवाही। चित्तौड की रानियों ने अपना शरीर नही, नारी का साहस जीवित रखना उचित समझा और वे जीवित जलने जैसे कष्ट को सहने के लिये प्रसन्नतापूर्वक तैयार हो गयी।

विवाह हर लड़की के लिये न तो आवश्यक है और न अनिवार्य यदि किसी में लोक-कल्याण के लिये कुछ कर गुजरने का साहस हो तो उसे अविवाहित रहकर अपनी शक्तियों का पूर्ण समर्पण लोक-मंगल के लिये करना चाहिये। इसके अगणित उदाहरण प्राचीन इतिहास के पृष्ठों पर अंकित है। मनु-पुत्री इला ने ब्रह्मवादिनी का आदर्श निबाहा और वे ब्रह्मवेत्ताओं में अग्रणी थीं। ऋग्वेद में घोसा, गोधा, विश्ववारा, अपाला जुहू, अदिति, सरमा, रोमशा, उर्वशी, लोपामुद्रा, शाश्वती, सूर्या आदि ब्रह्मवादिनी महिलाओं का वर्णन मिलता है।

तैत्तिरीय ब्राह्मण में सीता और सावित्री नामक दो ब्रह्मवादिनियों का वर्णन है। सिद्धा, सुलभा, शिवा श्रीव्रती, स्वधा, वपुना आदि कितनी ही कन्यायें ऐसी हुई हैं, जिन्होंने गृहस्थ मे प्रवेश करने की अपेक्षा पुरुष ऋषियों की भाँति लोक-मंगल के लिये अपना जीवन समर्पित किया और यह सिद्ध किया कि नारी के लिये विवाहित होना कोई अनिवार्य आवश्यकता नही है। वह पुरुषों की तरह ही इच्छा और रुचि का विषय रहा है।

भारत की समुन्नत परिस्थिति और परिष्कृत मनःस्थिति का श्रेय यहाँ के ऋषियों को दिया जाता है। यह उचित भी है। उज्जवल चरित्र, उत्कृष्ट चिन्तन और साहसिक पुरुषार्थ का त्रिविध समन्वय जिन व्यक्तियों मे होगा, वे स्वयं तो ऊँचें उठेगे ही अपने साथ-साथ लोक मानस को और समस्त वातावरण को भी ऊँचा उठायेंगे। ऋषियों की क्रिया-प्रक्रिया यही थी। वे सार्वजनिक क्षेत्र के हर पक्ष को देखते और सँभालते थे। द्रोणाचार्य, विश्वामित्र, परशुराम जैसे ऋषि धनुर्वेद मे पारंगत थे। ये शस्त्र निर्माण और संचालन की शोध एव शिक्षा के कार्य मे सलग्न थे ताकि असुरता से सफलतापूर्वक जूझा जा सके। चरक, सुश्रुत, वागभट्ट अश्विनी कुमार, धन्वन्तरि जैसे ऋषि स्वास्थ्य सबधित और चिकित्सा के रहस्यों को ढूँढ़ने और उसे सर्वसाधारण के लिये प्रस्तुत करने मे संलग्न थे। नागार्जुन, हारीत और सुषेन जैसे ऋषि रसायन विद्या के विकास और विस्तार में जुटे हुए थे। विश्वकर्मा, शतोधन जैसे ऋषियो ने शिल्प एवं वास्तुकला के सम्बन्ध में जो खोजा उससे विश्व सौंदर्य मे असाधारण वृद्धि हुई। नारद, उपमन्यु उद्दालक, जैसे ऋषि स्वर-शास्त्र के सामगान मे पारंगत थे। उन्होने गान-वाद्य की कला के मर्मों से जन मानस को आन्दोलित किया और उसके रसास्वादन का विधि विधान समझाया।

उत्कच, विदुध, महानन्द जैसे ऋषि कृषि और पशुपालन का विज्ञान विकसित करने मे जुटे थे। व्यास परम्परा के ऋषियों ने शास्त्र रचना की मुहिम सँभाली। सूत परम्परा के ऋषि प्रवचन कर्त्ता थे। चाणक्य, याज्ञवल्क्य, कण्व, धौम्य, जैसे ऋषियों द्वारा विश्व विद्यालय स्तर के शिक्षा संस्थान चलाये जाते थे। छोटे-बड़े गुरुकुल तो प्राय. सभी ऋषि चलाते थे। कपिल, कणाद, गौतम, पातञ्जलि जैसे दार्शनिको द्वारा विश्वमानव की बौद्धिक क्षुधा बुझाने के लिये बहुमूल्य प्रतिपादन किये जाते रहे। वशिष्ठ, शुक्राचार्य, विदुर आदि ऋषि राजतंत्र का मार्ग दर्शन करने मे निरत थे। च्यवन, दधीचि आदि ऋषियो ने तप साधना करके मानवी अन्तःस्थल मे छिपी रहस्यमय शक्तियो का उपयोग का पथ प्रशस्त किया था। लोकमंगल के अनेकानेक प्रयोजनों में यह ऋषि वर्ग लोग निरन्तर सलग्न रहते थे।

अनीतिपूर्ण प्रतिबन्धो को धर्म-मर्यादा का नाम जब भी दिया गया तब तुरन्त उसके विरुद्ध विद्रोह खड़ा किया गया। बड़े भाई की आज्ञा छोटे भाई को माननी चाहिए, इस मोटे अनुशासन के नियम के साथ जब अनीति को जोड़ा गया तो विभीषण ने अपने बड़े भाई का परमार्श मानने से स्पष्ट इन्कार कर दिया। इतना ही नही उसके पराभव में ही सच्चे भ्रातृ प्रेम का दर्शन किया। हिरण्यकश्यपु पिता तो था, पर वह जो कहता था अनीति मूलक था। प्रहलाद उसके विरुद्ध तनकर खड़ा हो गया और अन्त तक विरोध पर डटा रहा। भरत ने माता का कहना न मानकर राज लेने के आदेश को स्पष्ट अस्वीकार कर दिया। राजा बलि ने गुरूशुक्राचार्य की अवज्ञा करके वामन को दान देने का साहस दिखाया। एक ओर जहाँ धर्म अनुशासन पालन के लिये भारतीय सस्कृति मे निर्देश है, वहाँ यह छूट भी पूरी तरह दी गयी है कि यदि स्वजन अथवा बड़े कहे जाने वाले लोग भी अनीति के लिये बाध्य करें तो स्वीकार करने से स्पष्ट इन्कार कर दिया जाये।

व्यक्तिगत सुख-सुविधाओ को परामर्श प्रयोजनो के लिये। निछावर करते रहने मे हर व्यक्ति ने यहाँ अपने को सौभाग्यशाली माना है। दधीचि ने अपनी अस्थियाँ निकालकर देवताओ को दे दीं। शुनि शेप नरमेध की प्रथम आहुति बनने के लिये आगे आया। मोरध्वज को पुत्र दान मे संकोच नही हुआ। शिवि ने अपना माँस निकालकर दिया। हरिश्चन्द्र ने अपनी सारी सम्पदा विश्वामित्र को सोपी। संयम राय ने अपने स्वामी पृथ्वीराज के प्राण बचाने के लिये अपने अंग काट-काटकर गिद्धो को डाले थे और उस समय की स्वामी-सेवक के बीच रहने वाली वफादारी का उदाहरण प्रस्तुत किया था। तब हम घर मे भामाशाह थे। संचित पूँजी को परमार्थ के लिए सुरक्षित अमानत भर माना जाता था, समय आने पर देने में किसी को कोई संकोच नही होता था।

आदर्शवादी उदाहरणो का उल्लेख करते रहना असम्भव है, क्योकि प्राचीन भारत मे प्रायः हर व्यक्ति-आदर्शवादी था। संकीर्ण स्वार्थ परता से भरा व्यक्ति वाद उन दिनो भर्त्सनीय आसुरी प्रवृति में गिना जाता था। ऐसे निक्रष्टता के उदाहरण कदाचित ही कही दीख पड़ते थे।

भारत की सर्वतोमुखी प्रगति और गौरव-गरिमा के अन्तराल मे वस्तुतः यही महानता का भावनात्मक इतिहास छिपा पड़ा है। इसी के फलस्वरूप यह देश भौतिक सम्पदाओ से सम्पन्न रहा। हर्षोल्लास के प्रचुर साधनो से भण्डर भरे रहे। शारीरिक बलिष्ठता और मानषिक प्रबुद्धता का स्तर बहुत ऊँचा रहा। मनुष्य-मनुष्य के बीच सघन आत्मीयता बिखरी पड़ती थी। मिल-जुल कर बढ़ी कमाने-खाने की प्रवृत्ति के हर क्षेत्र मे संतोष जनक प्रगति का पथ प्रशस्थ किया था, सयमशीलता, सज्जनता, सादगी और शालीनता की विभूतियाँ हर व्यक्ति को उपलब्ध थी। गुण, कर्म, स्वभाव की उत्कृष्टता मे प्रत्येक एक-दूसरे से आगे बढ़ने की प्रतिस्पर्द्धा मे निरत था। उन परिस्थितियो मे सर्वत्र सुखः -शान्ति का साम्राज्य था। यहाँ के निवासी देवता कहे जाते थे और यह देश स्वर्ग माना जाता था। इस वैभव को भारतवासियो ने अपनी भौगोलिक सीमाओ मे सीमित नही रखा वरन् विश्व को कोने-कोने में जाकर बखेरा। इससे हमारे महान् पूर्वज धन्य हुए और उनके महान् कर्तृत्व से समस्त भूमण्डल कृत-कृत्य हुआ। यही है हमारे भूतकालीन इतिहास की झलक। इसी मार्ग का अनुमान करने के लिये युग की आवश्यकता पुकार-पुकार कर हमारा आवाहन कर रही है।

तीर्थयात्रा हमारी परम्परा

यह सही है कि जहाँ फूल खिलता है, वहाँ मधुमक्खियाँ, तितलियाँ और भौंरे खिंचते चले आते है। ससार के कोने-कोने से ज्ञान की क्षुधा और सम्पदा की आवश्यकता पूरी करने के लिये यहाँ विभिन्न वर्गों के लोग आते थे और अपनी मनोकामनाये पूरी करके लौटते थे। पर यह भी सही है कि मलयज पवन अपने वैभव को बिखेरने दरवाजे-दरवाजे जाता है। सूर्य की किरणे वीरान पहाड़ो को भी प्रकाशित करती है, बादल दुर्गम महा-वनो को भी शीतल करते है। सन्त परिव्राजक बनकर पिछड़े हुए क्षेत्रो मे स्वयं पहुँचते हैं। अशक्त रोगी तो अस्पताल पहुँच नही पाता उसके घर तक डाक्टर को ही पहुँचना पड़ता है।

भारतीय संस्कृति में तीर्थयात्रा को अत्यधिक महत्त्व दिया गया है और उसका बढ-चढ कर पुण्य माहात्म्य गाया गया है। यह तीर्थ यात्रा आज की लकीर पीटने वाली विडम्बना से सर्वथा भिन्न थी। आज तो अमुक स्थान पर बने अमुक मन्दिर की प्रतिमा के दर्शन करने, अमुक नदी, सरोवर मे नहा लेने को तीर्थ मान लिया जाता है। रेल, मोटर आदि द्रुतगामी वाहनो में सवार होकर लोग वहाँ जाते है। प्रसाद पैसा चढ़ाते है, दर्शक स्नान से निवृत होकर उल्टे पाँव लौट आते हैं और मान बैठते है कि पुण्य मिल गया । यह आज के अन्धकार युग की अविवेकी मान्यताये हैं। जो प्राचीन काल के क्रिया-कलाप की भौंड़ी नकल है। वास्तविक प्रयोजन को तो लोग समझने की चेष्टा तक नही करते।

प्राचीन काल में लोग अपना घर छोड़कर सुदूर क्षेत्र की पैदल यात्रा करते थे। सन्त विनोवा भावे की तरह वे गाँव-गाँव पड़ाव डालते थे। वहाँ की समस्याओं का समाधान करने के लिये परामर्श एवं सहयोग प्रदान करते थे। अमुक स्थान पर एक रास्ते से जाते और फिर दूसरे रास्ते से लौटने का कार्यक्रम रहता था। इसलिये उसे परिक्रमा प्रदक्षिणा कहा जाता था। इससे अधिक स्थानों से सम्पर्क बना सकना सम्भव होता था। कहाँ तक जाना है इसके लिये कोई तीर्थ चुन लेते थे। तीर्थ तो भारत का हर गाँव नगर और वन था। किसी स्थान विशेष का महत्त्व न था। सुविधानुसार कोई भी स्थान चुन लिया और उस लक्ष्य स्थान के नाम पर तीर्थयात्रा का नामकरण कर दिया। लोग टोलियाँ बनाकर प्रचार मंडली, श्रमदान मंडली, सहयोग मंडली के रूप में निकलते थे।

उसमें ऐसे भी वर्गों के लोग सम्मिलित रहते थे जो जन समस्याओ के समाधान मे अपनी क्षमताओं को दे सकने योग्य हो। आवश्यक नही था कि वे तीर्थयात्रा मंडलियाँ धकापेल चलती रहे और एक दिन ही रहने की लकीर पीटे। जहाँ आवश्यकता समझी जाती, वहाँ अधिक दिन का भी पड़ाव डाला जाता था और यदि उपयोगिता समझी गयी तो दल के कुछ सदस्य वहाँ अधिक दिनों के लिये अथवा सदा के लिये ही रुक जाते थे। शेष लोग आगे के लिये प्रयास करते थे।

यह तीर्थयात्रा प्रत्येक धार्मिक व्यक्ति के लिये अत्यन्त आवश्यक धर्म-कृत्य मानी जाती थी। इसलिये लोग वानप्रस्थ, संन्यास मे तो निश्चित रूप से लम्बी और दीर्घकालीन तीर्थयात्राये करते थे। जिनसे बन पड़ता था वे गृहस्थ भी कुछ दिन के लिये अवकाश लेकर इस धर्म प्रशिक्षण के लिये निकलते थे और घर वालो से कह जाते थे कि प्रयत्न नियत अवधि मे ही यात्रा पूरी करने का करेगे, परन्तु यदि मार्ग की परिस्थितियो तथा आवश्यकताओ ने बाध्य किया तो अधिक समय भी लग सकता है। इसलिये जो प्रबन्ध उनकी अनुपस्थिति मे आवश्यक व्यवस्था संभालने के लिए किया गया है, उसे आगे भी जारी रखा जाय। उन दिनों सम्मिलित कुटुम्ब प्रथा थी। हर परिवार यह आवश्यक समझता था कि उसका कम से कम एक सदस्य तो तीर्थयात्रा पर रहे ही। एक वापिस आ जाय तो दूसरा चला जाय। जो जाय उसकी गृहस्थी का पालन-पोषण संयुक्त परिवार करे।

परिव्राजक लोक-सेवक लोक मंगल की वही आवश्यकता पूरी करते थे, जो पवन, सूर्य, बादल आदि घर-घर पहुँचकर जीवन दान देने के लिये अनवरत् क्रम से करते रहते हैं। साधु और ब्राह्मणों के लिये तो

परिव्रज्या अनिवार्य ही थी। गृहस्थ भी उस पुण्य प्रयोजन में सहयोग करने से पीछे नही रहते थे। प्राचीन भारत की इस पुण्य परम्परा ने ऐसे सुयोग्यतम भावनाशील लोकसेवी विपुल संख्या में निकाले थे, जो अपने क्षेत्र तक अपनी प्रतिभा को अवरुद्ध न करके उसका व्यापक क्षेत्रों में उपयोग करके अत्यन्त महत्त्वपूर्ण भूमिका का सम्पादन करते थे।

पुण्य किसी के मत्थे चाँदी-ताँबे के टुकड़े फेंक देने से नहीं हो सकता। इससे तो लोगों में भिक्षा के हीन वृत्ति और अकर्मण्यता उत्पन्न होती है। असली दान तो पिछड़े हुए लोगों को ऊपर उठाने के लिये, उन्हें सम्भव सहयोग प्रदान करना ही हो सकता है। इसके लिये व्यक्तिगत सम्पर्क प्रोत्साहन एवं क्रियात्मक सहयोग की आवश्यकता पड़ती है। चिरस्थायी सत्परिणाम उत्पन्न करने वाली पुण्य-प्रक्रिया यही है। आपत्तिकाल में किन्ही संकटग्रस्त लोगो को अन्न, वस्त्र, निवास आदि देने की भी आवश्यकता पडती है, पर स्थिर समाधान तो उन कारणों को हटाने से ही सम्भव है, जिनने व्यक्ति को विपन्न परिस्थितियों में धकेला। इस उद्देश्य की पूर्ति जन संपर्क और जन सहयोग में अपने आपको घुलाये बिना अन्य किसी प्रकार हो ही नही सकती। सुदूर देशो की समस्याओं को समाधान देने के लिये उन क्षेत्रों मे जाना आवश्यक था इसलिये जिनमें परमार्थ भावना की प्रखरता होती थी, वे तीर्थयात्रा के लिये साहस एकत्रित करते थे और उसके साधन जुटाने थे।

जनता इन तीर्थयात्राओं की उपयोगिता समझती थी, इसलिये उनकी शरीर यात्रा का समुचित प्रबन्ध करने के लिये आवश्यक व्यवस्था जुटाने वाले साधन खड़े करना परमार्थ प्रयोजनों में ही गिनती थी। धर्मशालाये विशुद्ध रूप से धर्म प्रचारको के निवास के लिये ही बनती थीं। भोग-भण्डार का प्रबन्ध इसीलिये रहता था कि तीर्थयात्रा वाले परिव्राजकों को सुविधापूर्वक भोजन मिल जाय। अन्न क्षेत्र इसीलिये खोले जाते थे। प्याऊ इन पथिको के लिये ही थी। अतिथि सत्कार का जो प्रचलन था, उसमे भी यही भाव था कि साधु-संस्था के सदस्य सत-ब्राह्मण तीर्थ यात्री जिधर से निकलें उधर उन्हें शरीर यात्रा सम्बन्धी किसी कठिनाई का सामना न करना पड़े। सद्गृहस्थ इस आवश्यकता को जुटाना अपना पुण्य कर्तव्य समझें यही था अतिथि सत्कार। माता-पिता और गुरु के समान ही अतिथि भी माना गया था। अतिथि का स्पष्ट अर्थ, धर्म प्रचारक है। उन दिनो तीर्थयात्रियों को शरीर निर्माण की सुविधायें हर जगह सरलतापूर्वक मिल जाती थी। इसलिये वे अपना कार्य अपरिग्रही रहकर भी सुविधा के साथ सम्पन्न करते रहते थे।

सुयोग्य लोकसेवी अन्य क्षेत्रो में रहकर ही सेवा कार्य करें। यह तो बहुत घाटे का काम था। हर जगह मोती उगते नहीं। समुद्र के अमुक क्षेत्र से संग्रह करके उन्हे विभिन्न क्षेत्रों में भेजना पड़ता है। हाथी हर जगह कहाँ होते हैं, जहाँ उनके झुण्ड हैं, वही से पकड़-पकड़कर उन्हें जगह-जगह ले जाया जाता है, सन्त और लोकसेवक हर गाँव, हर नगर मे तो होते नही। वे कहीं-कहीं और कभी-कभी ही पैदा होते हैं। उन देव विभूतियों की सार्थकता इसी में है कि वे परिभ्रमण करके सूर्य, चन्द्रमा और पवन-वरुण की तरह जगह-जगह पहुँचे और वहाँ के निवासियो की आवश्यकता पूरी करें। यदि हर लोक सेवक अपनी जन्मभूमि मे ही कार्य करने की सोचे तो फिर बहुत थोड़े स्थानों में ही प्रकाश टिमटिमाता दिखाई देगा। और अन्य सभी जगह अन्धकार छाया रहेगा। सम वितरण, सम विभाजन के साम्य सिद्धान्त की माँग यही है कि एक क्षेत्र में उत्पन्न हुई विशेष सम्पत्ति को वही तक सीमित न रहने दिया जाय वरन् उससे अधिकाधिक लोगों को लाभ उठाने का अवसर मिलना चाहिये। धरती सभी की है, यदि अमीर लोग ही उस सम्पदा को दबाकर बैठ जायें तो धरती माता के अन्य पुत्रो को माता के पय-पान से वंचित रहना पड़ेगा। क्षेत्रीय सीमाओं तक संकुचित रहने की बात धर्म और विवेक में से किसी भी कसौटी पर सही नही उतरती। लड़की जिस घर में पैदा होती है, वह सयानी होने पर उसी मे नही बनी रहती, वरन् दूसरा घर बसाती है। इसी प्रकार उदारचेता लोकसेवी भी अपने ही स्थान पर सदा-सर्वदा के लिये जमे रहने की बात नही सोचते, उन्हें वे स्थान ढूँढ़ने पड़ते है, जहाँ अन्धकार अधिक है

और जहाँ जाकर वे अधिक महत्वपूर्ण सेवा कर सकते हैं।

तीर्थयात्रा इन्हीं समस्त आदर्शों को अपने भीतर भरे बैठी है। उस महान् परम्परा में विश्व मानव के सुख सौभाग्य के उज्जवल भविष्य की समस्त सम्भावनायें छिपी पड़ी हैं। इसलिये उसे अधिकाधिक महत्वपूर्ण फलदायक धर्मकृत्य माना गया है। प्राचीन भारत में प्रवुद्ध और समर्थ व्यक्ति अपनी मंडलियाँ लेकर इस महान् प्रयोजन के लिये लम्बी यात्राओं का कार्यक्रम बनाते थे और निश्चय करते थे कि वे सुविधाजनक स्थानों में रहने की लुब्ध दुर्बलता को मन में आश्रय न देकर वहाँ निवास करेंगे जहाँ अधिक पिछड़ापन है और जहाँ उनकी प्रतिभा का अधिक अच्छा उपयोग सभव है।

इस तीर्थ यात्रा प्रवृत्ति को प्राचीन भारत में पूरी तरह हृदयंगम किया गया था और उसे पूरी तरह कार्यान्वित किया गया था। यही कारण है कि यातायात की घोर दुर्गमता रहने पर भी प्रकाश वितरणकर्त्ता वहाँ तब तक जीवन का संदेश लेकर पहुँचे और अपना सर्वस्व होम कर भागीरथ प्रयत्नों द्वारा अज्ञान, अभाव और अशक्ति का उन्मूलन किया और सर्वतोमुखी सुख-समृद्धि की गगा बहाई। यही कारण था कि भारत में कही भी पतन और पिछड़ापन दृष्टिगोचर नही होता था। क्या सुविधा भरे और क्या असुविधा के सभी क्षेत्रों मे उदीयमान सौभाग्य सूर्य का आलोक परिलक्षित होता था। इस पुण्य भूमि को स्वर्गोपम देवभूमि बनाने में इन तीर्थयात्रियों को प्रमुख भूमिका रही है।

लोक सेवी परिव्राजक सन्तों ने अपनी गतिविधियाँ भारत की भौगोलिक सीमाओं के भीतर अवरुद्ध नही की वरन् समस्त विश्व को अपना घर और समस्त मानव जाति को अपना परिवार माना। अस्तु वे पिछडेपन से जूझने के लिये दुर्गमता को चुनौती देते हुए धरती के सुदूरवर्ती क्षेत्रों में प्रसन्नतापूर्वक गये और यदि लौटना आवश्यक न लगा तो वहीं डेरा डालकर बस गये। जहाँ जन्मा जाय वही रहा जाय यदि यही आग्रह होता तो हिमालय की बर्फ गलकर नदियों के रूप में शुष्क क्षेत्रों को सींचते हुए करने के लिये समुद्र तक दौड़े जाने का कष्ट न उठाती। फिर समुद्र का जल बादल बनकर अन्यत्र बरसने को सहमत न होता और सृष्टि का सारा क्रम संतुलन ही बिगड़ जाता। महामानवों का चिन्तन भूमि या परिधि से ऊँचा उठा हुआ होता है। उनकी आत्मीयता किसी भू-खण्ड में नहीं बँधती वरन् वे अधिक विपन्नता से अधिक कड़ा संघर्ष करने का लक्ष्य सामने रखकर अपना कार्यक्षेत्र निर्धारित करते हैं। अस्तु इस देश के महामानवों की दृष्टि इस बात पर जमी रही कि किस भू-खण्ड में किस स्तर का पिछड़ापन अधिक है और वहाँ पहुँचकर किस क्रिया पद्धति को अपनाकर किन समस्याओं को कैसे हल किया जाय? यही थी उस जमाने की धर्म विस्तार पद्धति। इसमें केवल पूजा-पाठ शास्त्र वाचन ही नहीं माना जाता था वरन् स्थानीय समस्याओं में से प्रत्येक के समाधान को धर्म सेवा मे सम्मलित कर लिया जाता था। अधिक जटिल समस्या को सर्वप्रथम समाधान के लिये हाथ में लिया जाता था।

इस परिष्कृत दृष्टिकोण को लेकर भारतीय तीर्थयात्री, धर्म प्रचारक, लोकसेवी विश्व के विभिन्न क्षेत्रों, प्रदेशों में पहुँचे और वहाँ की शासन प्रक्रिया को दिशा, प्रेरणा देकर सुव्यवस्थित किया । स्पष्ट है कि सुशासन के बिना प्रजा को स्थिरता एव प्रगति का लाभ मिल ही नहीं सकता। भारतीय धर्म प्रचारकों ने सुदूर देशों की कबाइली सामन्तशाही को हटाकर वहाँ प्रजा द्वारा प्रजा के लिये शासन का लक्ष्य लेकर सुशासनों को स्थापना की। इस संस्थापना नेतृत्व के लिये उन्हे कृतज्ञतापूर्वक चक्रवर्ती कहा गया । जहाँ सम्पत्ति के अभाव से दरिद्रता का साम्राज्य था, वहाँ कृषि, पशुपालन, शिल्प, उद्योग की सुव्यवस्था बनाकर सम्पन्नता के साधन जुटाये, इसलिये उन्हे वरदानी भूदेव कहा गया। अशिक्षा और अविद्या से छुटकारा दिलाकर वैयक्तिक और सामाजिक समर्थता का पथ प्रशस्त किया इसलिये उन्हें 'जगद्गुरु' का सम्मान मिला। यह सर्वतोमुखी सेवा साधना थी। भारतीय परिव्राजकों से ऐसा ही बहुमुखी लाभ समस्त ससार की जनता ने उठाया। उन दिनो धर्म शब्द का प्रयोजन मानव जाति की सर्वतोमुखी प्रगति के लिये ही किया जाता था। पूजा-पाठ अथवा प्रथा-प्रचलनो की छोटी-सी सीमाओं

मे धर्म का विशाल कलेवर सीमाबद्ध हो भी नही सकता था। धर्मशास्त्रों, धर्म-कृत्यो एवं प्रचलनो की अमुक पद्धति थी तो पर वह रूढ़ि मात्र नही थी। उसके आधार पर मानव जाति के समस्त पक्षो को समुन्नत एवं परिष्कृत किया जाता था। उसी प्रयोजन के लिये भारतीय दर्शन एव धर्म का तत्व ज्ञान एवं ब्रह्मविद्या की साधना एवं उपासना का विशालकाय ढांचा खड़ा किया गया था।

प्राचीन काल में यातायात आज की तरह सरल न था । तब रेल, मोटर आदि का नाम न था। न तो बढ़िया सड़के थी और न नदियों पर सुदृढ़ पुलों की व्यवस्था थी। ऊबड़- खाबड़ कच्ची सड़के, जगह-जगह नदी-नालो के अवरोध, सुदूर क्षेत्र मे फैले सघन वन, जल और वनस्पति से रहित मरुस्थल, सिंह, व्याघ्र, सर्प आदि हिंस्र-जन्तुओ के आक्रमण, डाकुओ का बाहुल्य, हिमाच्छादित गिरि-शृग ग्रीष्म मे तपता भूतल, कीचड़-दलदल की सड़ी जल-वायु-भोजन, जल और निवास सम्बन्धी घोर असुविधा, भाषा भिन्नता के कारण दूर देश के लोगो से विचार-विनिमय की कठिनाई, स्थानीय प्रथा परम्परा से अपरिचित होने के कारण विग्रह की संभावना, अजनबी लोग, अपरिचित क्षेत्र जैसी असख्य कठिनाइयो के कारण उन दिनो लम्बी यात्राये करना स्पष्ट- एक दुस्साहस था। उस ओर कदम बढ़ाने वाले हथेली पर जान रखकर ही उस प्रकार का निर्णय करते थे।

ऐसी साहसिक यात्रायें कोई छोटे स्वार्थो को लेकर नही कर सकता। स्वार्थ तो तात्कालिक लाभ खोजता है। जिसमे कष्ट अधिक सुख कम हो, उसे कभी कोई स्वार्थ परायण व्यक्ति स्वीकार नही करेगा। क्षुधार्थ या आपत्तिग्रस्त तो जीवन रक्षा के लिये दूर देशो मे भी जा सकता है, जिस देश मे सुख-सुविधाओ का बाहुल्य हो वहाँ के लोग उस आनन्दी जीवन को छोड़कर प्राण संकट मे डालने वाली यात्रा के लिये कटिबद्ध हो तो समझना चाहिये कि उन्हे कोई अत्यन्त उच्चकोटि की अन्त- प्रेरणा ने ही आन्दोलित किया होगा। सचमुच ऐसा ही होता था। लोकमंगल के लिये अधिकाधिक तप-त्याग कर सकने योग्य- साहसी आत्मबल-यही तो आध्यात्म साधना की एक मात्र उपलब्धि है। व्यक्तिगत जीवन की पवित्रता एव महानता जब प्रखर परिपक्व हो जाती है तो वे जन कल्याण के लिये बढ़े-चढ़े दुस्साहसी पुरुषार्थ करने के लिये मचलते है। इसी छटपटाहट से भारतीय महामानवो का अन्त.करण उल्लसित रहता था और वही तड़पन विश्व कल्याण के निमित्त घर छोड़कर सुदूर देशो के लिये महाप्रयाण के रूप मे फलित होती थी। यही थी प्राचीनकाल की तीर्थयात्रायें, जिन्हे यहाँ के आस्था क्षेत्र मे अत्यन्त गहरा और अत्यन्त सम्मानास्पद गौरव प्रदान किया गया था। तीर्थयात्री अपनी ऑखो और दूसरो की ऑखो में एक प्रकार से बलिदानी शहीद स्तर के माने जाते थे। उनका कर्तृत्व कितने लोगो का कितना उच्चस्तरीय हित साधन करेगा, इसका चित्र जब कभी-कभी किसी की आँखो के सामने उपस्थित होता था, वह उनके आगे सहज ही श्रद्धावनत खड़ा होता था। उन दिनों तीर्थयात्री पृथ्वी पर विचरण करने वाले स्वर्ग लोक के देवता ही माने जाते थे। उनका दर्शन, सान्निध्य प्राप्त कर एवं उनको सहयोग देकर सामान्य नागरिक कृतकृत्य हुए बिना नही रहता था।

पूर्वजों की पुण्य परम्परायें हम फिर अपनायें

संसार के कोने-कोने में सस्कृति समृद्धि और व्यवस्था की स्थापना करने को हमारे पूर्व पुरुषो ने अपने जीवन का प्रधान लक्ष्य माना था। इसके लिये वे सबसे पहले आत्म निर्माण करते थे। अपने व्यक्तित्व को हर दृष्टि से उपरोक्त लक्ष्य की पूर्ति के लिये उपयुक्त बनाते थे। जैसा खिलौना ढालना हो उसके अनरूप सॉचा तैयार करना पड़ता है। गुण, कर्म, स्वभाव की दृष्टि से आदर्श सिद्ध होने वाले व्यक्ति ही अपने चरित्र एव चिन्तन की छाप दूसरो पर छोड़ सकते है। निकृष्ट स्तर के लोग उत्कृष्टता का उपदेश करे तो उपहासास्पद विडम्बना ही बन जाती है। लोग उन उपदेशों का पालन करना तो दूर उल्टे उन उपदेशक की तरह उसके उपदेशो, प्रतिपादनो को भी दिल्लगी की बात समझते हैं। यह तथ्य प्राचीन काल मे भली प्रकार समझ लिया गया था। अस्तु यहाँ के नर-रत्न अपने

आपको तप, साधना, सयम की अग्नि में तपाकर खरा सोना बनाते थे और विद्या प्रतिभा एवं शालीनता के लिये घोर परिश्रम करते थे।

आत्म-समर्पण और लोक मंगल यों दो कार्य दीखते हैं पर वस्तुतः वे दोनों परस्पर अविच्छिन्न रूप से जुड़े हुए हैं। जो आत्म समर्पण करेगा उसकी सुविकसित महानता लोक कल्याण के लिये अग्रसर हुए बिना चैन से बैठ ही न सकेगी और जो सच्चे मन से जन-कल्याण की परमार्थ सेवा साधना करना चाहता हो, उसे वह कार्य आत्मोत्कर्ष के लिये उग्र प्रयास करते हुए आरंभ करना होगा। वस्तुतः आत्मोतकर्ष और लोक-कल्याण महान् जीवन रूपी रथ के दो पहिये हैं, जिनके सही होने पर ही अभीष्ट दिशा में गतिशीलता उत्पन्न होती है।

भारतीय जीवन का आदर्श और उसका क्रियाकलाप बार-बार कसौटियों पर कसने से यही दो लक्ष्य सामने आते हैं, जिनके लिये इस देश के महान् नागरिक निरन्तर घोर प्रयत्न करते रहे। उनकी महत्त्वाकांक्षायें इन्ही दो लक्ष्यों के इर्द-गिर्द घूमती थीं। फलतः प्रगति भी आशातीत हुई। भारत स्वयं तो समुन्नत रहा है, उसने अन्यत्र भी अपनी विभूतियाँ बिखेरी और विश्व मानव की गौरव गरिमा में चार चाँद लगाये।

जब से संसार में लिखित न सही अलिखित इतिहास के सूत्र मिलते हैं, तब से ऐसे ही प्रमाण सम्मुख आते हैं। जिनमें भारतीय नर-रत्नों द्वारा व्यापक क्षेत्र मे विविध विधि सेवा साधन के सत्कृत्य प्रस्तुत किये जाते रहे। उन दिनों वस्तुतः समस्त संसार ही भारत का अपना कार्यक्षेत्र था। रात्रि विश्राम के लिये या अण्डे देने के लिये जिस प्रकार पक्षी किसी पेड़ पर घोसला बना लेते हैं और थकान दूर करके फिर उन्मुक्त आकाश में उड़ते हैं, ठीक उसी प्रकार यहाँ नयी पीढ़ियों के प्रजनन प्रशिक्षण के सुविधा साधन जुटाये जाते थे। थोड़े लोग निर्वाह साधने की व्यवस्था भी करते थे। इसके आगे जो जन-बल, बुद्धि-बल और धन-बल बच जाता था, उसे विश्व कल्याण के एक मात्र प्रयोजन के लिये ही नियोजित किया जाता था। हमारे देश में यही परम्परा थी । हर भावनाशील का चिन्तन और कर्तव्य इसी दिशा में गतिशील था। परिणाम प्रत्यक्ष है। भारत के देवमान्य अपने देश में सतयुगी स्वर्गीय परिस्थितियाँ बनाये रहे, साथ ही विभूतियों के अवशेष सुदूर क्षेत्रों में बिखेरकर मानवता का अविस्मरणीय कीर्तिमान स्थापित करते रहें।

इसके प्रमाण जिस भूखण्ड में ढूँढे जाँए मिल जायेंगे। पौराणिक कथा प्रसंगों से इस तथ्य का प्रतिपादन भली प्रकार होता है। किसी भी देश की पौराणिक गाथाओं, लोककथाओं और किम्वदन्तियों का विश्लेषण किया जाय तो निष्कर्ष एक ही निकेलगा कि भारत भूमि के निवासी देव पुरुष उस क्षेत्र में पहुँचकर ऐसी स्थापनायें करते रहे, जिनसे दुःख की दयनीयता का सुख-सौभाग्य में परिणत हो सकना संभव हुआ। दैवी सहायता के रूप में भारत से प्रकाश एवं सहयोग का आशातीत अनुदान प्राप्त हुआ।

जब से भग्नावशेष, वस्तु, प्रमाण आदि के प्रमाण मिलने आरम्भ हुए हैं, तब से उन भारतीय गौरव गाथाओं की, प्रचलित दन्तकथाओं की और भी अधिक पुष्टि होती गयी है। उसके उपरान्त लिखित इतिहास का समय आता है। भाषा और लिपि का विकास विस्तार होने के उपरान्त संसार में आगे-पीछे लेखन-कार्य आरम्भ हुआ और उसमें तत्कालीन परिस्थितियों का वर्णन किया गया। उसमें से असंख्य लेख प्रमाण नष्ट होते गये। उनमें से जहाँ-जहाँ जो प्रमाण मिले, उनमें सबकी दिशा एक ही है कि सृजन का नेतृत्व करने वाले भूदेव उस भूमि को सुमन्नत बनाने मे अधिक परिश्रम करते रहे। उस क्षेत्र की विकृतियो के साथ प्राणपण से जूझे। शिलालेख, काष्ठ फलक-लेख, चर्मपट्ट लेख भोजपत्र लेख, भित्ति लेख आदि के प्राचीनतम प्रमाण जहाँ भी मिले है। वही से भारतीय गरिमा की प्रामाणिकता ही सिद्ध हुई है। वस्तुत. सभ्यता की जन्मदात्री यह भारत भूमि ही है और यही से उदय हुआ सर्वतोमुखी उत्कर्ष का सूर्य समस्त विश्व में अपनी प्रकाश की किरणें फैलाता चला गया। यह क्रम हजारो-लाखों वर्षों तक चला गया। पीछे पतन और पराभव का युग आया। इस देश के निवासियों में स्वार्थ बुद्धि जगी, व्यक्तिवाद पनपा, निजी सुख सुविधाओं के बढ़ाने की बात सूझी, विलास

लिप्सा में मन डोला, अहंकार की तृप्ति के लिये संग्रह और वर्चस्व के प्रदर्शन की दुर्बुद्धि जगी। लोग सामूहिक स्वार्थ की अपेक्षा करके व्यक्तिगत वैभव और सुख-साधन बढ़ाने की ओर मुडें। जहाँ अन्त. प्रवृत्तियाँ पतनोन्मुख होगी, वहाँ बहिरंग क्रिया-कलाप में निकृष्टता, दुष्टता आदि की मात्रा बढ़ेगी। कुकृत्य होगे और गुत्थियाँ उलझेगी। सकटों और विग्रहों की बाढ़ आयेगी। उत्कृष्ट चिन्तन की परम्पराओं वाला भारत जब संकीर्ण स्वार्थपरता के गर्त में गिरा तो उसकी स्थिति पतितों जैसी दयनीय होती चली गयी।

प्राचीन भारत की समस्त गौरव-गरिमा का केन्द्र बिन्दु एक ही था कि उस समय का मनुष्य सकीर्ण स्वार्थपरता की सड़ाँध मे मरने वाली मन. स्थिति से घोर घृणा करता था। उसके सामने ऊँचा लक्ष्य रहता था और ऊँचा आदर्श। अपने निकृष्ट अहं की पूर्ति तक सीमित रहने के लिये कोई घिनौना व्यक्ति ही तैयार होता था। पेट और प्रजनन भर के लिये जिसने मानव जीवन का बहुमूल्य अवसर गँवा दिया उसे आत्म-प्रताड़ना की, विज्ञ-भर्त्सना की इतनी करारी मार सहनी पड़ती थी कि लिप्सा-लालसा में जो हाथ लगता था वह नगण्य ही रह जाता था। अस्तु किसी को भी अमीर या बड़ा आदमी बनने की हविश नही उठती थी। हर कोई उदार, महान् व्यापक बनकर जीवन लक्ष्य प्राप्त करने के लिये आतुर रहता था। उसकी गतिविधियाँ, योजनायें, आकांक्षा, विचारणा एक ही केन्द्र के इर्द-गिर्द घूमती रहती थी कि वह अपनी आत्मीयता एव ममता को अधिकाधिक व्यापक कैसे बनाये? सच्चा ईश्वर भक्त, सच्चा आध्यात्मवादी, सच्चा मनुष्य कैसे कहलाये? और उस जीवन लक्ष्य को प्राप्त करने के लिये त्याग- बलिदान की सेवा साधना मे संलग्न होने के लिये कितना बढ़-चढ़कर दुस्साहस प्रस्तुत करें। अपने क्रियाकलापों को कितना आदर्श, कितना अनुकरणीय बनाये। पतन, पीड़ा और पिछड़ेपन से जूझते हुए कितने प्रखर शौर्य साहस का परिचय दे। अपनेपन का क्षेत्र कितना व्यापक और विस्तृत बनाये? जब अन्तःकरण में इसीप्रकार के उफान उठेंगे तो स्वभावतः मनुष्य को उसी राह पर चलना पड़ेगा जिससे मनुष्यता गौरवान्वित होती हो। स्पष्ट है जहाँ उत्कृष्टता होगी वहाँ सम्पन्नता की प्रगति की कभी-कभी नही रहेगी। ऐसे व्यक्तित्त्व जहाँ भी रहते है, वहाँ सम्पत्तियो और विभूतियो का इतना बाहुल्य रहता है कि उस समस्त क्षेत्र मे वैभव बिखरा पड़ा रहे और उसे समस्त भूमण्डल में बिखेर कर सुख-शान्ति का अजस्र अनुदान दिया जा सकें।

यही है वह मार्ग जिस पर हमारे पूर्वज चले थे। यही थी वह दिशा जिस पर उनके चरण अनवरत् गति से बढ़े थे। यही था वह लक्ष्य जिसकी पूर्ति को उन्होने जीवन का लक्ष्य माना था। इसी स्तर के क्रिया-कलापों मे उन्हे संतोष होता था। ऐसे ही कृत्यों मे सलग्न रहने में वे अपने श्रम-समय को धन्य मानते थे। फलतः उनका समग्र व्यक्तित्व देवोपम बनता था। वे स्वयं स्वर्गीय शान्ति का हर घड़ी आनन्द लेते थे। उनके कुटुम्बी स्नेहसिक्त वातावरण में परिपूर्ण वैभव जितना उल्लास अनुभव करते थे। उनका समस्त प्रभाव क्षेत्र आदर्शवादिता की सुगन्ध से भरा रहता था। वे चन्दन वृक्ष जैसा आत्मविकास करते थे और अपने समीपवर्ती क्षेत्र मे उगे हुए झाड़-झंखाड़ों को अपने सरीखे बनाने की मंगलमयी सफलता प्राप्त करते थे। यही था हमारे पूर्वजों का जीवन लक्ष्य, इसी के लिये समर्पित था उनका चिन्तन और कर्तृत्व। आन्तरिक महानता को बढ़ाकर उन्होने अपने देश और धर्म को गौरवान्वित किया था और इसी उपलब्धि का यत्किंचित प्रसाद पाकर समग्र मानवता को, समस्त विश्व वसुधा को समुन्त एवं सुविकसित होने *का अवसर मिला था।*

हमें इन विश्व संकट के क्षणो में विशेष उत्तरदायित्वो को वहन करना है। अन्धकार के निवारण की जिम्मेदारी सूर्य के कन्धो पर है। यदि वह इससे इन्कार करे तो फिर सौर-मण्डल के ग्रह उपग्रहों का सर्वनाश ही समझना चाहिये।

अपनी प्राचीन गौरव–गरिमा को प्राप्त करना, पूर्वजो की कीर्ति को धवल बनाये रखना हमारा परम पवित्र कर्तव्य है। आज जिस पथ भ्रष्टता को अपनाकर हम पतन के गर्त मे गिर पड़े है, उससे निकलने का उत्कृष्ट प्रयास हमें करना चाहिये। प्रगति के पथ पर ससार के अनेक देश आगे निकल गये-हम पिछडी स्थिति मे पड़े है। इस आत्म-ग्लानि की प्रताड़ना हमे

अनुभव करनी चाहिये और कृमि-कीटको की तरह पेट प्रजनन के निमित्त जिया जाने वाला निकृष्ट जीवन जीने से हमे इन्कार कर देना चाहिये। उदात्त, मानवतावादी आदर्शयुक्त, उत्कृष्ट जीवन क्रम अपनाकर और तदनुरूप दृष्टिकोण अपनाना ही हमारे लिये उचित है। आर्थिक, नैतिक, बौद्धिक, सामाजिक आदि भावनात्मक क्षेत्रो मे जो विकृतियाँ घुस पड़ी है, उन्हें देखना और सुधारना अपना प्रथम कर्तव्य है। जिन दुर्बलताओं और पथभ्रष्टताओ ने सब प्रकार दीन-हीन बना दिया उनका उन्मूलन करना नव जागरण का प्रथम चरण है। व्यक्तित्व की दृष्टि से परिपक्व होने पर ही हम सच्चे अर्थों मे समर्थ बलिष्ठ और समुन्नत बन सकेगे। अपने देश के कोने-कोने से विकृतियो और विडम्बनाओ को निकाल बाहर करने के लिये कटिबद्ध होना चाहिये। आत्मिक और भौतिक प्रगति की दिशा मे अग्रसर होने के लिये हमें पूरे उत्साह एव साहस का प्रयोग करना चाहिये। अपना पिछड़ापन दूर करके ही मानव जाति की, समस्त विश्व की महती सेवा कर सकना हमारे लिये सम्भव होगा।

हम व्यक्तिगत रूप से अधिकाधिक प्रगति करे और सामाजिक रूप से अधिकाधिक समुन्नत होने का प्रयास करे, पर साथ ही यह भी ध्यान रखें कि उपलब्ध विभूतियो एव सम्पदाओं का उपयोग संकीर्ण स्वार्थपरता के सीमा बन्धनों मे ही अवरुद्ध न कर दिया जाय। पिछड़ापन जहाँ कही भी दिखाई पड़े हम वही दौड़ जायें और प्रगति का प्रयास इस प्रकार वितरित करें कि किसी भी कोने में पतन का अन्धकार छिपा न रहने पाये।

हम सदा से 'वसुधैव कुटुम्बकम्' के आदर्श को अपनाये रहे है। विश्व मानव को अपना विस्तार क्षेत्र माना है। अपनेपन की सीमा निज के शरीर परिवार तक अवरुद्ध नही करनी चाहिये वरन् उन्हे इतना व्यापक बनाना चाहिये कि भारत भूमि का कोना-कोना उसके प्रकाश से आलोकित हो उठे। समस्त विश्व को उसकी ऊष्मा प्राप्त करने का अवसर मिले।

भूतकाल में आत्मिक दृष्टि से उच्च स्तर पर पहुँचा हुआ भारत अपनी गौरव गरिमा विनिर्मित करने में और समस्त विश्व को अपने अनुदानों से भर देने में समर्थ हुआ था। वही राजमार्ग फिर हमारा आवाहन करता है। ससार मे धन, विज्ञान एवं बुद्धि बल भले ही बढ़ गया हो, तथाकथित प्रगतिशील लोग सुविधा साधनों से भले ही पट गये हों, पर उनका आत्मिक पिछड़ापन अभी भी उन्हें घोर अशान्ति में घिरी हुई उलझनों से जकड़े हुए है। निर्धनो, अशिक्षितों अस्वस्थों से भी कही गई-गुजरी मनः स्थिति में इन उन्नतिशील देशों को रहना पड़ता है। उनके सिर चढ़ी हुई दुष्प्रवृत्तियाँ तो उन्हे भीतर ही भीतर खोखला किये दे रही हैं।

इस स्थिति में भारत अपनी प्राचीन गौरव-गरिमा को विकसित करके न केवल अपना पिछडापन दूर कर सकता है वरन् समस्त संसार को इतना अधिक आत्मिक अनुदान दे सकता है, जिसकी तुलना मे उनकी अब तक की समस्त भौतिक प्रगति को तुच्छ ठहराया जा सके।

सर्वग्रासी वर्तमान विश्व सकट के क्षणों मे हमें अपनी गतिविधियो का निर्धारण फिर से करना चाहिये। अपनी चिन्तन दिशा को फिर से परिष्कृत करना चाहिये, ताकि अपना ही नही समस्त ससार का सर्वतोमुखी कल्याण कर सकने मे समर्थ हो सके।

भूतकाल मे हमारे पूर्वज समस्त विश्व का मार्ग-दर्शन करने में किस प्रकार सफल हो सके, इसके लिये उन्होने अपने में किस स्तर की क्षमता एव आदर्शवादिता को विकसित किया, यही इस रचना का मूल उद्देश्य है। विश्व सेवा की दिशा मे किये गये पूर्वजो के महान् प्रयास हमारे लिये प्रेरक पथ-प्रदर्शक बन सके इसीलिये इतिहास के कुछ महत्त्वपूर्ण पृष्ठो को पढ़ना तथा अपनी सांस्कृतिक गरिमा को समझना आवश्यक है। यह पृष्ठ इसी प्रयोजन की पूर्ति के लिये लिखे गये है।

बृहत्तर भारत और उसकी सीमायें

प्राचीन भारत का भौगोलिक सीमांकन करना कठिन है? क्योकि उन दिनों शासन क्षेत्र का बहुत महत्त्व न था। यातायात के साधन कम होने से राजा और प्रजा दोनो को ही बड़े राज्यो मे कठिनाई पड़ती थी, इसलिये छोटे-छोटे गणतत्र ही शासन का विस्तार

उतना रखते थे, जितने में सुव्यवस्था का उत्तरदायित्व आसानी से निबाहा जा सके। चक्रवर्ती शासन सत्ता असीम होती थी। वह प्रान्त-प्रदेशो की सीमा से आगे वढ़कर समस्त विश्व मे राजकीय नीति एव मर्यादाओ का नियंत्रण करती थी। कही भी अनीति का प्रवेश और उच्छृंखलता का शासन सत्ता में समावेश नही होने देती थी। इस प्रकार उन दिनो विश्व राज्य-सघ भी था, जिसे चक्रवर्ती सत्ता कहते थे। छोटे-छोटे गणतन्त्र भी थे जो नीति और मर्यादा की दृष्टि से तो पराधीन थे बाकी अर्थ-व्यवस्था एवं शासन संचालन में स्वतंत्र थे।

राजकीय दृष्टि से देखा जाय तो आज जितना वड़ा भारत है उतने मे ही सैकड़ो गणतंत्र थे, जो परस्पर सहयोग के आधार पर सर्वतोमुखी प्रगति के लिये मिलजुल कर बिना किसी विद्वेष, विग्रह के लोक-व्यवस्था के लिये कार्य करते थे। उन दिनों राज्यतंत्र का नही लोक मानस पर धर्म तंत्र का शासन था। इसलिये देश की सीमा निर्धारित करते समय यह देखना पड़ता था कि कितना क्षेत्र किस सांस्कृतिक आलोक से प्रभावित और प्रकाशित हो रहा है। इस दृष्टि से भारत की सीमाये लगभग विश्व सीमा जितनी थी क्योकि यहाँ के तत्वदर्शी विज्ञ मनीषी अपने मस्तिष्क में किसी छोटे क्षेत्र या वर्ग का हित साधन करने की बात न सोचकर समस्त विश्व की समृद्धि एवं प्रगति को ध्यान मे रखकर अपने चिन्तन एव कर्तृत्व का निर्धारण करते थे। "वसुधैव कुटुम्बकम्" की भावना उन्हें किसी क्षेत्र विशेष के हित साधन तक सीमित रहने नही दे सकती थी।

लोक शिक्षण एवं सांस्कृतिक विस्तार की दृष्टि से भारत "जगद्गुरु" था। शासन नियमन की दृष्टि से चक्रवर्ती दोनो को मिलाकर सोचा जाय तो यो कहना पड़ेगा कि राजतत्र और धर्मतंत्र का लाभ समस्त विश्व को निरन्तर पहुँचाते रहने के कारण भारत की भौगोलिक मर्यादाये समस्त भूमण्डल में सुविस्तृत थी।

भारत का हृदय उत्तराखण्ड या आर्यवर्त कहा जा सकता है, पर उसका सुविकसित शरीर तो समस्त ससार ही रहा है। यहाँ के निवासी उन दिनों के यातायात साधनो के अनुसार जितने क्षेत्र मे पहुँच सके और अपनी सेवा साधना से वहाँ प्रगति एव समृद्धि के बीजारोपण कर सके उसे बिना सकोच भारत देश कहा जा सकता है। इस सीमा मे यो आता तो समस्त संसार है पर यदि विशिष्ट प्रभाव और विशिष्ट प्रयास को आधार मानकर सीमा निर्धारण किया जाय तो एशिया महाद्वीप का अधिकांश भूखण्ड भारत की भौगोलिक परम्पराओ मे आ जाता है।

इन दिनो लंका, नेपाल, भूटान, सिक्किम, वर्मा, पाकिस्तान, बगलादेश, भारत से अलग कट गये है। यह सभी इसी शताब्दी तक अपने देश के अविच्छिन्न अग रहे है। एक सौ वर्ष पहले का यदि भूगोल देखा जाय तो यह सभी देश भारत के साथ जुडे हुए दिखाई देगे। दरिद्रताग्रस्त कुटुम्ब में से हर एक किशोर लड़का निकल भागने और अपना अलग घर बसाने की बात सोचता है। ठीक उसी दृष्टिकोण से उपरोक्त देशो का विलगाव हुआ है।

इससे आगे के क्षेत्र मे कुछ शताब्दियों से पहले की स्थिति पर दृष्टिपात करें तो प्रतीत होगा कि भारत का विस्तार पूरे एशिया महाद्वीप में था। बृहत्तर भारत की भौगोलिक सीमाये इस विशाल भूखण्ड के समुद्र तटवर्ती क्षेत्रो तक सुविकसित होती चली गयी थी। पूर्व एशिया मे इण्डोनेशिया, इण्डोचायना, मलेशिया के अन्दर आने वाले समस्त देश और द्वीप भारत के अंग थे। मध्य एशिया मे चीन, तुर्किस्तान, रूस, जापान, कोरिया, मगोलिया आदि पर पूरी तरह भारत का वर्चस्व था। पश्चिम एशिया मे ईरान, ईराक, अरब, अफगानिस्तान जैसे वे देश जो इन दिनो इस्लाम धर्म के केन्द्र है उन दिनो भारत की सांस्कृतिक सीमा के अन्तर्गत ही आते थे, उन दिनो की भौगोलिक सीमाओ का निर्धारण किया जाय तो पूर्व एशिया, मध्य एशिया और पश्चिम एशिया के तीनो क्षेत्रो को मिलाकर प्राय पूरा एशिया बृहत्तर भारत की परिधि मे आता था। निरन्तर का सघन सम्पर्क और प्रखर आदान-प्रदान सम्बन्ध सूत्रो को पूरी तरह सुदृढ़ बनाये हुए था।

महाभारत युद्ध मे एकत्रित राजाओं और उनकी सेनाओ का वर्णन पढ़ने से स्पष्ट हो जाता है कि प्रायः समस्त एशिया के गणतन्त्र उस विश्वयुद्ध मे सम्मिलित थे। इसका तात्पर्य यही निकलता है कि वे सभी गणतत्र विशाल भारत की, महाभारत की सीमा में आते

थे, जो इस महायुद्ध में सम्मिलित हुए थे अन्यथा किसी को दूसरे की आग मे कूदने की क्या आवश्यकता पड़ती? महाभारत वस्तुतः एक गृहयुद्ध ही था, जिसमें बृहत्तर भारत के सभी क्षेत्र प्रदेशों को सम्मिलित होना पडा था। यों यह प्रभाव क्षेत्र योरोप, अफ्रीका आदि समीपवर्ती महाद्वीपो को भी छूता था और उसकी कुछ किरण अमेरिका, आस्ट्रेलिया खण्डो तक पहुँचती थी किन्तु सघन सम्बन्धो की कसौटी को ही प्रधानता दी जाय तो भी समस्त एशिया तो बृहत्तर भारत के अन्तर्गत आता ही है।

यह नही समझना चाहिये कि विश्व निर्माण अभियान पर निकले हुए भारतीय केवल धर्म प्रचार ही करते थे। यो यह भी एक महत्त्वपूर्ण कार्य था, पर लक्ष्य इतने तक ही सीमित न था। व्यवसाय, शिक्षा चिकित्सा, सुशासन आदि अनेक उपलब्धियो से सुदूर देशो को लाभान्वित करना हमारे पूर्वजो का प्रयोजन था। अस्तु न केवल धर्म प्रचारक वरन् सभी विशेषताओ के विशेषज्ञ अपनी-अपनी क्षमता का अनुदान विश्व नागरिको को प्रदान करने के लिये उत्साह और साहसपूर्वक अपनी यात्रा आरम्भ करते थे। उन दिनों नौकायन और दुर्गम पैदल थल-यात्रा ही केवल मात्र साधन इन यात्राओं के थे। घोड़े, ऊँट, हाथी आदि भी कभी-कभी काम आते थे, तो भी पशुओ द्वारा खींचे जाने वाले वाहनो के उपयुक्त सड़के प्रायः नही थी। इन परिस्थितियो मे अधिक सरल उपाय जलयात्रा का ही रह जाता था। विश्व परिवार के साथ सम्पर्क बनाने के लिये प्राचीन काल मे भारत ने अपने जलयान अधिकाधिक सुविकसित किये थे। जल- मार्गों की जानकारी, नौकायन विज्ञान को सुविकसित करने के लिये घोर प्रयत्न किया था। भारतीय समुद्र तटो पर अच्छे बन्दरगाह थे। अन्य देशो में भी उन्हें सुविधाजनक बन्दरगाह बनाने पड़े।

केरल, चोल और पाण्ड्य नामक दक्षिण भारत के राज्यों का व्यापार ग्रीस, रोम और चीन के साथ होता था। सीरिया के इतिहास से विदित होता है कि उन लोगों ने युद्ध मे भारतीय हाथी प्रयुक्त किये थे और अप्रत्याशित सफलतायें पायी थी। मिश्र के पिरामिडों मे दिवंगत राजाओं के मृत शरीर उपलब्ध हुए वे भारत के बने कपड़ो में लिपटे पाये गये। चन्द्रगुप्त मौर्य की जलसेना बहुत विकसित और विस्तृत थी। इसका विवरण चाणक्य कृत अर्थशास्त्र में दिया गया है। प्रसिद्ध यात्री मेगस्थनीज ने भी अपने यात्रा विवरण में भारत की समुन्नत जल शक्ति का उल्लेख किया है।

सुदूर पूर्व के देश किसी समय भारत के लिये घर आँगन जैसे बन गये थे। बौद्ध ग्रन्थ "महा जातक" में भारतीय की वर्मा और अनाम यात्राओं के वर्णन है। इतिहासकार पैरिप्लस के अनुसार, मछलीपट्टन बन्दरगाह से व्यापारी जलयान पूर्वी द्वीप समूहों के लिये बहुधा आया-जाया करते थे। "सुसोन्दिजातक" के अनुसार भडौच (गुजरात) से भी जलयात्रियों के पूर्वी द्वीप समूहों के लिये जाने का वर्णन है। जावा के प्रचलित इतिहास मे यह बताया गया है कि सौराष्ट्र और कलिंग के लोग वहाँ जाकर बसे थे और उस देश को समुन्नत बनाया था।.

इतिहासज्ञ पोकरु ने अपनी पुस्तक "इण्डिया इन ग्रीस" नामक पुस्तक मे लिखा है कि ईसा से ४०० वर्ष पूर्व भारतीय दार्शनिक उस देश मे धर्म शिक्षा देने पहुँचे थे। मगध और सिन्धु तट निवासी क्षत्रियो ने यूनान मे व्यवस्थित राजसत्ता की स्थापना की थी।

गार्डन चाइल्ड की "न्यू लाइट ऑन दि मोस्ट ऐशिएक्ट ईस्ट" के अनुसार यूनानी सभ्यता का मूल स्रोत भारतीय सभ्यता है। सर जान मार्शल लियोनार्ड वूली ने जो खोजे की है, उनसे प्राचीन यूनान में विवाह सस्कार अग्नि की परिक्रमा करते हुए होते थे तथा मुर्दे जलाये जाते थे।

प्राचीन काल में भारत का विस्तार कितना व्यापक था और उसके प्रभाव क्षेत्र मे किस सीमा तक प्राय समस्त एशिया आ चुका था, उसकी अधिक जानकारी प्राप्त करने के लिये हमे निम्न पुस्तके पढ़नी चाहिये—

(१) फणीन्द्रनाथ कृत-इण्डियन टीचर्स ऑफ चाइना। (२) राहुल सांकृत्यायन कृत जापान। (३) स्टेन कृत एन्शिएन्ट खोतान। (४) वी. ए. स्मिथ कृत-अर्ली हिस्ट्री ऑफ इण्डिया (५) रामचन्द्र वर्मा कृत अरब और भारत के सम्बन्ध। (६) अनेस्नी कृत-हिस्ट्री ऑफ जावानीज बुद्धिज्म। (७) बुद्धिस्ट रिकार्ड ऑफ दी वेस्टर्न वर्ल्ड। (८) वाडेल्ल कृत—लामाइज्म

स्टेन कृत--इनर मोस्ट ऐशिया (१०) जनार्दन झा कृत--बौद्धकालीन भारत (११) जगमोहन वर्मा कृत-फाहियान।

कलकत्ता की "दि ग्रेटर इण्डिया सोसायटी" ने अपनी "प्रोग्रेस ऑफ ग्रेटर इण्डिया रिसर्च" योजना के अन्तर्गत सन् १९१७ से १९४२ की अवधि मे अफगानिस्तान सेन्ट्रल एशिया, तिब्बत, मंगोलिया, मंचूरिया, बर्मा, स्याम, कम्बोडिया, चम्बा, जावा, बाली, बोर्नियो, सेलवेस, सुमात्रा, मलाया, सीलोन आदि पर श्री यू.एन. घोषाल के द्वारा किये गये शोध कार्य को प्रकाशित किया था।

इस प्रकार का प्रामाणिक ऐतिहासिक साहित्य पढ़ने से हम सहज ही इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि भारत किसी भौगोलिक सीमा की परिधि मे अवरुद्ध नही था वरन् उसका कार्यक्षेत्र समस्त विश्व था। वे अपनी ही तरह संसार को सुखी और समुन्नत बनाने के महान मिशन मे निरत जीवन व्यतीत करते थे।

विश्व के कोने-कोने में फैली हुई भारतीय सभ्यता

पुराण साहित्य पर दृष्टिपात करने से पता चलता है कि विश्वामित्र के पतित पुत्रों को देश निकाला मिला तो वे आस्ट्रेलिया चल गये और उस देश को नये सिरे से बसाया । इस प्रकार तृणबिन्दु राजकुमार के भी उस देश में जा बसने का विवरण मिलता है। ऋषि पुलस्त्य भी उस देश मे धर्म स्थापना के लिए गये थे, आस्ट्रेलिया की आदिम जातियाँ अभी तक जो भाषा बोलती है, उनमे भारतीय कोल, भील, सथाल एव द्रविण क्षेत्र में बोली जाने वाली भाषाओ के शब्दो का बाहुल्य है। इन लोगों में भारत जैसी वर्ण-व्यवस्था एवं जाति-पाति की ऊँच-नीच की मान्यता अभी भी प्रचलित है। शब्द बेधी बाण का एक प्रकार इन आदिवासियो का 'बूमरांग' अस्त्र है, जो निशाना बेध कर वापिस लौट आता है। पुनर्जन्म के सम्बन्ध में इन लोगो की भारत जैसी ही मान्यता है।

अमेरिका को भारतीय इतिहास पुराणों मे पाताल लोक में कहा गया है और वहाँ नागराज के शासन की चर्चा की गयी है। अभी भी उस देश मे प्राप्त प्रतिमाओं और अवशेषों में नाग देवताओ की आकृतियाँ मिलती हैं। यह 'नाग' भारत की एक जाति थी। नागालैण्ड इन्ही लोगो का क्षेत्र था। यह जाति आसाम से लेकर मध्य भारत तक फैली हुई थी। नागपुर आदि नगर आजकल जहाँ है, वहाँ नागवशी लोग ही रहते थे। अभी भी 'नाग' गोत्र वालो की संख्या अन्य गोत्रवालो की जितनी ही है। यही लोग आगे बढ़कर अमेरिका पहुँचे थे। भारत की नाग पूजा प्रख्यात है। अनन्त, वासुकि वासुदेव के नाम से सर्प पूजा का देवाराधन में महत्त्वपूर्ण स्थान है। नाग पंचमी तो नाग पूजा का विशेष पूजन पर्व है। संभवतः सर्प पूजक होने के कारण उन्हे भी नाग कहा जाने लगा है। उस वर्ग के अमेरिका पहुँचने के प्रमाणो की कमी नही है। रावण के भाई अहिरावण का पाताल लोक मे निवास वाल्मीकि रामायण से सिद्ध है। दोनों भाइयो मे समय-समय पर कई प्रकार के आदान-प्रदान होते रहते थे। अन्य असुर भी परिस्थितिवश पाताल लोक गये और बसे है दुर्गा सप्तशती मे एक श्लोक है—

दैत्याश्च देवा निहते शुम्भे देवीरपौ युधिः।
निशुम्भे च महावीर्ये शेषाः पातालमाययुः ॥

अर्थात्- 'देवी ने जब शभु-निशंभु को मार डाला तो बचे-खुचे असुर भागकर पाताल लोक चले गये।"

"अमर कोष" मे पाताल लोक के कई नाम गिनाये गये है।

अधो, भुवन, पाताल, बलिसद्मः रासातलम्।
नाग लोकोऽथ कुहरं सुषिरं विवरं विलम्॥

"पाताल, रसातल, बलिगृह, नागलोक, कुहर, विवर आदि शब्द एक ही अमेरिका देश के बोधक है।"

दक्षिण अमेरिका के बोलिविया नगर के समीप खुदाई करके पुरातत्व विभाग ने जो अवशेष प्राप्त किये है, उनसे उस क्षेत्र पर सूर्यवंशी इन्का राजाओ के शासन का प्रमाण मिलता है। कुछ ऐसे भी आधार है, जो प्राचीन काल मे इस देश पर राजा बलि का राज्य होने की साक्षी देते है।

मैक्सिको (अमेरिका) के आदि निवासियों की एक जाति "अपाच्य" है। अपाच्यो के बारे में "एतरेय

ब्राह्मण" के रुद्र महा अभिशेक प्रकरण में वर्णन आता है—

तस्मादेतस्यां प्रतीच्यां दिशि येऽनीच्यानां राजानो ये पाच्यानां स्वाराज्यायैव तेऽभिषिच्यन्ते स्वरा लित्ये नानाभिषिक्ता नाचक्षते।

इस वर्णन मे पश्छिम दिशा के सुदूर देश मे 'उपाच्यं' एवं 'नीच्यं' लोगो के निवास की चर्चा हैं।

महाभारत मे उद्दालक ऋषि के पाताल जाने का वर्णन है। महाभारत मे पाताल नरेश अपनी सेना समेत लडने आये थे। अर्जुन की पत्नी 'उलूपी' अमेरिका से ही विवाह होकर भारत आयी थी। सम्राट चन्द्रगुप्त को यूनान के सिल्युकश की बेटी विवाही थी। मेवाड़ के राजा गोह की पत्नी ईरान के राजा नोशेरवा की पौत्री थी।

भारत से मग नामक एक पराक्रमी जाति मगेलिया मे जाकर बसी उसने अपने वश के नाम पर उस देश का नामकरण 'मंगोलिया' किया। इन लोगों को दूसरा नाम शक था और उस देश का 'शाकद्वीप' भी कहा जाता था। मग और शक एक ही वंश के दो नाम थे। 'साम्ब पुराण' अध्याय २५ मे इन लोगो के सम्बन्ध में निम्न विवरण प्राप्त होता है—

लवणोदात्परं पारे क्षीरोदेव समावृतः।
जम्बू द्वीपात्परं तस्याच्छाक द्वीप इति श्रुतः॥
तत्र पुण्य जनपदाश्चातुर्वर्ण्य समाश्रिताः।
मगाश्च मामगाश्चैव मानसा म दगा स्तथा॥
मगाब्राह्मण भूयिष्ठा मामगा क्षत्रिया स्तथा।
वैश्यास्तु मानसा ज्ञेया शूद्रा स्तेषान्तु मन्दगाः॥
विवस्वतं पूजयन्तो धूप गन्धादिभिः शुभिः।
अष्टादशकुलानीह मगानां वेद वादिनाम्॥
यास्यन्ति च त्वया सार्द्ध यत्र सन्निहितो रविः।

अर्थात्- 'लवण सागर से आगे क्षीर सागर से घिरा-शाक द्वीप है। यह जम्बू द्वीप से बहुत दूर है। उस राज्य में ब्राह्मण, क्षत्रिम, वैश्य, शूद्र चारों वर्ण बसते हैं। वे सूर्य उपासक हैं। उनके अठारह कुल वेदपाठी हैं। इन्ही को शक भी कहते है।

महाभारत से भी इसकी पुष्टि होती है। वर्णन है—

शाक द्वीपं च वक्ष्यामि यथावत् इह पार्थिवः।
तत्र पुण्या जनपदाश्चत्वारो लोक सम्यताः।
मंगाश्च मशकाश्चैव मन्दगा मानसास्तथा।
मंगा ब्राह्मण भूयिष्ठः स्वकर्म निरता नृप।

इस विवरण से शाक द्वीप में मंग लोगों द्वारा निवास तथा शासन करने की स्पष्ट चर्चा है।

अफ्रीका में पाये जाने वाले जुलू लोग 'झल्ल' वंश के क्षत्रियों की संतानें है।

प्रो. टेलर ने अपने ग्रन्थ "ओरिजन ऑफ आर्यन्स" ग्रन्थ में ऐसे अनेक प्रमाण प्रस्तुत किये हैं जिससे वर्तमान योरोपियन नस्ल का, आर्य रक्त के साथ मगोल जाति वाली महिलाओ का संकरण होने से उद्‌भव माना गया है "ऋग्वैदिक इण्डिया" ग्रन्थ मे भी इसी तथ्य की पुष्टि करने वाले प्रमाणों की भरमार है। 'हार्म्सवर्थ हिस्ट्री ऑफ दि वर्ल्ड" ग्रन्थ में भी वर्तमान योरोपियन नस्ल का विश्लेषण करते हुए यही निष्कर्ष निकाला है कि इस क्षेत्र मे बसने वाली आदिम जातियों के साथ एशिया से आये आर्य लोगो का सकरण हुआ और वर्तमान योरोपियन जातियो की वंश परम्परा विकसित हुई।

"मेन्युअल ऑफ हिस्ट्री" ग्रन्थ से यह मण्णा नगर रोडेशिया मे सिद्ध होता है। वहाँ सोना भी निकलता था और हाथियों का भी बाहुल्य था। एतरेय ब्राह्मण मे वर्णित मण्णाम् स्थान यह मण्णा ही माना जा सकता है। उस प्रदेश के बिखरे पड़े अवशेष जिस प्राचीन सभ्यता के प्रमाण प्रस्तुत करते है, यह सम्राट भरत के काल के ही हो सकते हैं।

रथक्रान्ते नराः कृष्णाः प्रायशो विकृताननाः।
आम मांस भुजः सर्व शूराः कुंचित मूर्द्धजाः॥

"उस अफ्रीकी क्षेत्र के लोग काले रंग के चौड़े होठ, नाक वाले, कच्चा मांस खाने वाले, शूरवीर और घुँघराले वालो वाले होते है।"

अफ्रीका के रोडेशिया देश में ऐसे खण्डहर एवं पुरातत्व प्रमाण पाये जाते है, जिनसे प्रतीत होता है कि

हजारो वर्ष पहले यहाँ कोई सभ्य जाति आ गयी थी। योरोपियनो और अरबों के पहुँचने पर वहाँ विकट वन्य प्रदेश ही फैला पड़ा था और उनमे आदिम जातियाँ ही रहती थी। यह खण्डहर जिस काल की साक्षी देते है, उसे भारतीयो के अफ्रीका प्रवास का काल कह सकते हैं।

एतरेय ब्राह्मण के ३९वें अध्याय मे एक ऋचा आती है।"

हिरण्येन परिवृत्तान्कृष्णान शुक्ल दतो मृगान्।
मृष्णारे भरतोऽददाच्छन्तं वर्द्धानन सप्त च ॥

अर्थात्—"सम्राट भरत ने मष्णार देश मे स्वर्ण आभूषण से सजे हुए सफेद दाँत वाले एक सौ सात हाथियों के झुण्ड का दान किया।"

सरस्वत्या सया कण्वो मिश्रदेश मुपाययौ।
म्लेच्छा संस्कृत्य चाभाय्यत्तदा दश सहस्रकान्।
सपत्नी कांश्च तान् म्लेच्छान् शूद्र वर्गाय चाकरोत।

दस सहस्रास्तरा तेषां मध्ये वैश्या वभूविरे।
तेषां चकार राजानं राज पुत्रं पुरन्दरम्॥

—भविष्य पुराण

कण्व ऋषि मिश्र देश गये। वहाँ उन्होने दस हजार म्लेच्छो को सुसंस्कृत बनाया। इनमे से कुछ को वैश्य कुछ को शूद्र और कुछ को क्षत्रिय की संज्ञा दी गयी।"

उमेश चन्द्र विद्यारत्न कृत "मानवेर आदि जन्मभूमि" नामक बगला ग्रन्थ मे ऐसे अनेक आधार प्रस्तुत किये है। जिनमें चीन, जापान, वर्मा, स्याम आदि देशों मे बसने वाली मंगोल जाति का उद्भव आर्य जाति से होना सिद्ध किया गया है। जलवायु और भूमि की विशेषता तथा उस क्षेत्र मे रहने वाले आदिवासियो के ससर्ग के गोल चेहरे, चपटी नाक, पीला रंग, तिरछी आँखो की आकृति जैसा अन्तर आ गया। मगोलियन वस्तुतः कोई स्वतत्र जाति नही वरन् आर्य रक्त का ही संकरीकरण तथा जलवायु के आधार पर उत्पन्न हुआ यत्किंचित परिवर्तन है।

तथैव मलय द्वीप मेव मेव सुसंवृतम्।
नित्य प्रमुदिता स्फीता लंका नान महापुरी।

—ब्राह्मण पुराण

"मलय देश में सुखी समुन्नत और सुविस्तृत लका नामक महानगरी लंका थी।"

यत्न वन्तो यव द्वीपः सप्त राज्योप शोभते।

—वाल्मीकि रामायण

"यव द्वीप सात राज्यो मे विभक्त सुशोभित था।"

अंगद्वीप यव द्वीपं मलय द्वीप एव च ।
शंख द्वीप कुश द्वीप वराह द्वीप मेव च ।
एवं षडेते कतिपय अनुद्वीपा समन्ततः ।
भारतं द्वीप देशो वै दक्षिणा बहु विस्तरः।

—वायु पुराण

"अंग द्वीप, यव द्वीप, मलयद्वीप, शंखद्वीप, कुशद्वीप, वाराह द्वीप-यह सब भारत के ही अनुद्वीप (उपनिवेश) है। वे बहुत विस्तृत क्षेत्र मे फैले है।"

"राज निघण्टु" मे वैश्य-वर्ण के देश-देशान्तरों मे बसे हुए वर्गो के कई नाम गिनाये गये है।"

वैशस्तु व्यवहर्ता वार्तिकः पणिको वणिक।

"व्यवहर्ता (बोहरे) विट्, वार्तिक, पणिक और वणिक—यह वैश्य वर्ग ही है।"

इस क्षेत्र मे चलने वाली स्थानीय भाषाओ मे अभी भी संस्कृत शब्दो की भरमार है। इतिहास वेत्ता वेरोडल कीथ के अनुसार "मेसोपोटामिया" के एक राजा दशरथ थे। दूसरा एक राजा हरि भी हुआ है। इस क्षेत्र पर शासन करने वाला वंश 'खत्री' था जो क्षत्री का अपभ्रश है। भारत के पजाब प्रान्त मे क्षत्री को 'खत्री' अभी भी कहते है। खत्री पजाब मे बसी एक प्रसिद्ध जाति है।

"ऐशिया माइनर" एव "नियर ईस्ट" के नाम से माने जाने वाले क्षेत्र मे फारस, मेडिटेरेनियन सागर, अरब, मेसोपोटामिया क्षेत्र आते है। सीरिया से पूर्व को लगा हुआ "फिनीसिया" है। बेविलोनिया, उसके दक्षिण मे ही चाल्डिया भी यही है। इस समूचे क्षेत्र मे किसी समय भारतीय संस्कृति का बोलवाला था। यहाँ पणि,

पण्य जाति निवास करती थी जो भारत के पाण्ड्य वर्गो वैश्यो को ही एक उपजाति थी। यह लोग व्यवसाय का उद्देश्य लेकर वहाँ गये थे। चोल वंश के लोग भी उस क्षेत्र मे बसे थे और नौकायन व्यवसाय मे प्रवीण थे। यह चोल वंश दक्षिण भारत से वहाँ जाकर बसा था। "हिस्टोरियन हिस्ट्री ऑफ दि वर्ल्ड" ग्रन्थ में बेबिलोनिया के प्राचीन निवासियो को भारतीय वंश का ही माना गया है। वे लोग भारत के पूजे जाने वाले देवताओ की ही आराधना करते थे।

विद्वान् पीकाक लिखित "इण्डिया इन ग्रीस" ग्रन्थ मे जो प्रमाण और आधार प्रस्तुत किये गये हैं, उनसे सिद्ध होता है कि मिश्र के प्राचीन निवासी अपने को सूर्य वशी क्षत्री कहते थे और अपने को आदि मनु की सन्तान मानते है। सूर्य देवता उनका उपास्य था।

कर्नल अल्काट ने "थियोसोफिस्ट" में यह प्रमाणित किया था कि अब से कोई आठ हजार वर्ष पहले भारतवासी मिश्र पहुँचे और उन्होने उस क्षेत्र को एक उपनिवेश की तरह बसाया।

इतिहासवेत्ताओ का कथन है कि ईरान, सीरिया आदि मध्य पश्चिमी एशिया मे बसे हुए आर्य लोग समीपवर्ती छोटे से समुद्र को पार करके अफ्रीका महाद्वीप मे पहुँचे और उन्होने वहाँ बसने तथा सभ्यता विस्तार का उपक्रम चलाया।

रामानुज सम्प्रदाय के आदि संस्थापक "यवनाचार्य" थे। वे अरब से भारत आये थे। उन दिनो भारतीय विद्वान ब्राह्मण अरब क्षेत्र मे भी निवास करते थे। विद्वान विलफोर्ड का इस संबध मे एक प्रमाणित लेख "एशियाटिक रिसर्चेज" के भाग १० मे छपा है। उन्होने सिद्ध किया है कि यवनाचार्य का जन्म अरब मे ब्राह्मण वंश मे हुआ। वे आलेक्जेन्ड्रिया विश्वविद्यालय मे पढे थे और धर्म प्रचार के लिये भारत आये थे।

महाराज धृतराष्ट्र की पत्नी गान्धारी गान्धार देश की राजकुमारी थी। आज का कन्धार ही प्राचीन काल का गान्धार है। पंचतत्र मे कौलिक की प्रेयसी चीना नामक लड़की का वर्णन है। यह चीन देश की थी।

'महाभारत' मीमासा ग्रन्थ के लेखक राय बहादुर चिन्तामणि विनायक वैद्य ने अनेकों प्रमाण प्रस्तुत करते हुए यह सिद्ध किया है कि कन्धार, गजनी, अफगानिस्तान, ब्लूचिस्तान, कलात आदि भारत की उत्तरी सीमा से लगे हुए क्षेत्र को भारतीयों ने ही बसाया और समुन्नत बनाया था।

स्पष्ट है कि धर्म प्रचार के लिये, शासन सत्ता की स्थापना, शिक्षा, कला, कौशल प्रशिक्षण के लिये शिक्षा कला चिकित्सा विज्ञान आदि में जानकारी देने के लिये सुयोग्य मनीषी बड़ी संख्या में समस्त संसार में जाया करते थे। यह जहाँ अपनी अधिक आवश्यकता समझते थे, वहाँ रुक जाते थे, भारतीय सभ्यता का विस्तार इसी आधार पर फैला है।

एक कारण यह भी था कि किन्हीं अपराधों के कारण देश निकाले का दण्ड पाये हुए लोग इस देश मे चले गये और वहाँ जाकर बस गये। इन लोगों ने भी उन देशो के पिछड़ेपन को दूर करने के लिये बहुत कुछ किया।

सेवा-भाव से गये हुए अथवा बहिष्कृत क्षुब्ध, रुष्ट होकर गये हुए लोग विदेशो में बस गये। उनकी पीढ़ियाँ क्रमश- वही के लोगो में घुलती गयी। जब तक भारत के साथ उनका सम्पर्क रहा, आते-जाते रहे अथवा इस देश के धर्म प्रचारक वहाँ पहुँचकर उपयुक्त मार्गदर्शन करते रहे। तब तक उनकी सस्कृति अक्षुण्ण बनी रही, पर जब से सबंध सूत्र ढीले हो गये और स्थानीय लोगो में ही वे अधिक घुलते गये तो उनकी संस्कृति भी वहाँ जैसी ही बन गयी। इन लोगो पर भारत के सस्कार कम रहे गये और उसी देश की परम्पराओ मे वे ढल गये। ऐसे लोगो की ससार भर में बहुत बड़ी सख्या रही है।

इतिहासकार प्रो. हीरन ने चीन निवासियो के अति प्राचीन उद्‌भव स्रोतों का वर्णन करते हुए लिखा है कि चीन को भारत का ही विकास विस्तार कहा जा सकता है।

स्कन्ध पुराण में राजवंशो का वर्णन करते हुए "तुर्वसो भननः जनाः" वाक्य आता है। यवनों की उत्पत्ति तुर्वस से हुई, जो राजा ययाति का पुत्र था। पिता से अनबन होने के कारण वह देश छोड़कर अन्यत्र चला गया था। इसी प्रकार शक जाति की उत्पत्ति के बारे में कहा गया है— "नरिष्यन्त शका

पुत्राः।" शक राजकुमार से शक जाति उत्पन्न हुई। यह शक राजा इक्ष्वाकु का पौत्र था। मिश्र, ग्रीक, चीन, आदि देशों के निवासी प्रचीनकाल में यवन एवं शक नाम से संबोधित किये जाते थे।

शनकैस्तु क्रियालोपादिय: क्षत्रिय जात:।
वृषलत्वं गता लोके ब्राह्मणा दर्शनेन च ।
पोण्ड्र काश्चौड् द्रविणाः कम्बोजायवनाः शकाः।
पारदा पल्हवाश्चीनां किराता दरदाः खशाः।
मुख बाहु रुपज्जानां या लोके जातयो वहिः।
म्लेच्छवाचश्वार्य वाचः सर्वे ते दस्यूवां स्मृताः।

—मनुस्मृति

धीरे-धीरे क्रिया लोप हो जाने से, ब्राह्मणों का सम्पर्क टूट जाने से संसार में फैली हुई क्षत्रिय जातियाँ वृषल और दस्यु बन गयी। पौन्ड्र, औड्र, द्रविड़, कम्बोज, यवन, शक, दरद, खस, आदि जातियाँ इसी प्रकार बनी। वे आर्य भाषा भूलकर म्लेच्छ भाषा तथा परम्परा अपना बैठी।

प्रो मैक्सलूर ने भौगोलिक और ऐतिहासिक प्रमाण प्रस्तुत करते हुए सिद्ध किया है कि पारसी लोग फारस मे जाकर बसने से पूर्व भारत के ही निवासी थे। ईरान मे बसने वाले भारत से ही वहाँ पहुँचे थे। ईरान शब्द को भाषावेत्ताओं ने "आर्यान" शब्द का अपभ्रश माना है।

अरब देशो मे पायी जाने वाली शक जाति व्रतहीन ब्राह्मणों से उत्पन्न है। मनुस्मृति के अनुसार पतित बहिष्कृत ब्राह्मणो की कई जातियो मे से एक शेख भी कही जाती थी।

व्रात्यस्तु जायते विप्रात्पापात्मा भूर्ज कण्टकः।
आवन्त्य वाटधानों च पुष्पधः शेख एव च ।
तानन्तु व्याजहारं तान्वः प्रजाभक्षीष्टेति। ते एतेऽन्ध्राः पुण्ड्राः शवराः पुलिन्दाः मुतिवा ईत्युदंत्या वह व भवन्ति।

—एतरेय ब्राह्मण ७।४।१८

"अनुचित आचरण के कारण उन्हें देश निकाला दिया गया। वे अन्यत्र चले गये और उनसे आन्ध्र, पुण्ड्र, शवर, पुलिन्द आदि जातियाँ उत्पन्न हुई।"

मनुस्मृति मे पतित क्षत्रियों से उत्पन्न जातियो का उल्लेख करते हुए उन्हें "किराता. यवनाः शकाः के वर्णो मे गिनाया गया है।

शकः यवन काम्बोजाः पारदाः पल्लवा स्तथा।
कौलि सर्पाः समहिषा दार्वाश्चोलाः सकरेलाः।
सर्व ते क्षत्रियास्तात धर्मस्तेषा निराकृतः।

—महाभारत

"शक, यवन, कम्बोज, पारद, पल्लव, कौल, नाग, दर्व चोल आदि जातियाँ बहिष्कृत क्षत्रियो से ही बन गयी।

कही-कही तो यह विदेश गये भारतीय बहुत अच्छी स्थिति में बने रहे किन्तु कहीं परिस्थितियो ने बहुत ही गयी-गुजरी स्थिति में डाल दिया। वे वनवासियों की स्थिति मे जंगलों में जाकर रहने लगे। कही-कही खानाबदोशो के रूप में उन्हे भ्रमणशील जीवन अपनाकर अपना निर्वाह करना पडा।

ई. मार्सडन नौरिस, मैनिंग, जान हट्ट, रोस्ट, क्लैडविल आदि विश्वप्रसिद्ध पुरातत्ववेत्ता इसी निष्कर्ष पर पहुँचे है कि आस्ट्रेलिया की अदिम जातियो का मूल भारत हैं। भारतीय लोग ही चिर प्राचीन काल मे जाकर वहाँ बसे थे और सुविधा-साधनों के अभाव मे पिछडते हुए वर्तमान आदिवासी स्थिति में आ पहुँचे।

अब से कोई एक हजार वर्ष पूर्व भारत के कुछ धर्म प्रचारक अपने परिवारो सहित विश्व के कोने-कोने में धर्म-चक्र प्रवर्तन के लिये, धर्मसृजन के लिये निकले थे। उनने जन्मभूमि का मोह छोड़ा और समस्त विश्व को अपना घर और समस्त मानव परिवार को अपना परिवार माना। उन्होने जहाँ आवश्यकता और अनुकूलता देखी वही बसते और बढ़ते चले गये। इन भ्रमणशील वर्गों की एक जाति ही बन गयी, जिसे अब "रोमनी" के नाम से पहचाना और पुकारा जाता है। इसका अस्तित्व अभी भी ईरान, तुर्की, मिश्र, अमेरिका, सोवियत संघ तथा योरोप के कितने ही देशों में पाया जाता है।

ठण्डे शीत देशो में जहाँ आमतौर से लोग गोरे रंग के होते हैं, वहाँ रोमनी वंश के लोग अभी भी भारतीय नख-शिख एव आकृति-प्रकृति के होते है।

उनकी अपनी विशेषताये है, जो स्थानीय निवासियो से सर्वथा भिन्न स्तर की दिखाई देती है। इनका रग भी गोरो की तुलना मे काफी काला मटमैला होता है। उन्हे भारतीय मूल का मानने मे किसी को कोई आपत्ति नही होती।

इतिहास पुराण के पृष्ठ उलटने से हमे इसी निष्कर्ष पर पहुँचना पड़ता है कि किसी समय भारतीय समस्त विश्व से अपना सम्पर्क बनाये हुए थे और विभिन्न क्रियाकलापो से ससार के बहुत बडे क्षेत्र की सेवा सहायता कर रहे थे।

जड़ सूख जाने से पत्तो का सूख जाना भी स्वाभाविक है। भारत कमजोर हुआ तो यहाँ से विदेशो मे गये लोग भी सम्बन्ध सूत्र ढीला हो जाने अथवा टूट जाने से वही के निवासी बन गये। स्थानीय धर्म परम्परा एव सस्कृति अपनाकर वही के निवासी वन गये। आज भी हमे दूर देशो मे यही बिराने बने हुए अपने बहुत बड़ी सख्या मे फैले हुए दीख सकते है।

विश्व निर्माण की ओर से आँखें न मूँद लें

समस्त भूमण्डल को किसी समय हम किस प्रकार अपना घर मानकर उसे सजाने-सभालने और सर्वांग सुन्दर बनाने मे लगे हुए थे, इस गौरव गरिमा को जानने के साथ ही हमे अपनी पुण्य परम्परा का बोध होना चाहिये। वर्तमान दुर्व्यवस्था पर ग्लानि अनुभव करनी चाहिये और आत्मगौरव की ऐसी किरणे अन्त करण मे जगानी चाहिये, जिनके आधार पर पुन: भूतकालीन स्थिति मे लौट चलने की, पूर्वजो की महान् धरोहर सँभालने की बेचैनी अनुभव होने लगे। इतिहास का प्रमुख उद्देश्य भविष्य निर्माण की प्रेरणा देना ही होता है। अतीत के गौरव को यदि भावनापूर्वक पढ़ा जाय तो आज हमारे भीतर वैसी ही स्फुरणा उत्पन्न होनी चाहिये।

एशिया को चार भागो मे विभक्त कर सकते है (१) मध्य एशिया—जिसमे भारत की सीमा से लगे उत्तर दिशा मे चीन, रूस आते है। (२) पश्चिम एशिया—जिसमे अरब देश, ईराक, ईरान आदि आते है। (३) पूर्वी एशिया-जिसमे इण्डोनेशिया, इण्डोचायना, मलेशिया आदि आते है। (४) मूल भारत– जो आज तो छोटा रह गया है पर कुछ दिन पूर्व उसका विस्तार था। तिब्बत, नैपाल, ईराक, वर्मा, लंका, पाकिस्तान, बगलादेश यह सब इसी शताब्दी तक भारत के ही अविच्छिन्न अंग थे। अब दुर्भाग्य ने उन्हे हमसे अलग कर दिया तो भी कल तक वे अपने ही थे उसे भुलाया नही जा सकता है। इन क्षेत्रो में फैला जन समूह भारतीय लोगों से ही बना है, उनकी नस्ल और संस्कृति मे यत्किंचित ही अन्तर आया है। इनको अधिकाश जनता हिन्दू अथवा बौद्ध धर्म की अनुगामिनी है। यों इस्लाम धर्म भी इन विलग हुए क्षेत्रो मे फैला है और ईसाई मतानुयायी भी बढ़े है, फिर भी नस्ल, रक्त और पूर्वजो का इतिहास इतना महत्त्वहीन नहीं होता कि उसे सहज ही उपेक्षित कर दिया जाय। इस गयी-गुजरी स्थिति मे भी मूल भारत के क्षेत्र मे भारतीयता का गहरा पुट अभी भी विद्यमान है।

ससार जिन महाद्वीपो मे विभक्त है, उनमे अमेरिका, योरोप, अफ्रीका और एशिया मुख्य हैं। आस्ट्रेलिया को भी यो महाद्वीप ही माना जाता हैं और न्यूजीलैण्ड को भी कोई-कोई इसी वर्ग मे गिन लेते हैं।

विश्व के इस समस्त भू-भाग मे भारतीय धर्म एवं सस्कृति का वैभव विस्तार प्रमाण सिद्ध है। इन सभी महाद्वीपों में किसी समय भारतवासी पहुँचे है और उन क्षेत्रो के विकास मे बहुमूल्य योगदान देते रहे है। यही कारण है कि इन देशो के पुरुषार्थी एव परमार्थ परायण महामानवो को विश्व नागरिको द्वारा जगद्गुरु चक्रवर्ती शासक, देव मानव आदि नामो से सबोधित किया जाता रहा है।

अगले पृष्ठो मे यह पढ़ा जा सकेगा कि अन्य समस्त द्वीपो मे और अपने एशिया के पूर्वी, मध्यवर्ती और पश्चिमी भागो मे कितनी गहराई तक भारतीयता ओत-प्रोत रही है। इस व्यापक क्षेत्र को भारत का कितना बडा अनुदान मिलता रहा है।

यो इतिहास के पृष्ठो पर धार्मिक विस्तार का ही अधिक उल्लेख मिलता है, पर इसका अर्थ यह न समझा जाय कि अर्थ व्यवस्था, शासन स्थापना, समाज सगठन, कला, उद्योग, शिल्प आदि मे वह योगदान स्वल्प रहा है। वस्तुतः प्राचीनकाल मे राजवशो को

तथा धर्म धारणाओं को ही अधिक महत्व दिया जाता था और इतिहासकार उसी प्रकार की प्रवृत्तियों को पुस्तकों, शिलालेखों, ताम्र-पत्रों, भित्ति चित्रों में अंकित करते थे। वस्तुतः भारत का योगदान सर्वतोमुखी रहा है।

इस गयी-गुजरी स्थिति में भी विश्व के लिये हम बहुत कुछ कर सकते हैं। धन, विज्ञान, कला, शिल्प, अस्त्र आदि के क्षेत्रों मे समुन्नत कहलाने वाले देश कितने ही आगे बढ़ गये हों, पर वे आध्यात्मवादी, उदात्त दृष्टिकोण में अभी भी कहीं पीछे हैं और यह दार्शनिक कमी उन्हें इतनी महँगी पड़ रही है कि भौतिक प्रगति का सारा आनंद ही चला गया। सच तो यह है कि एकांगी प्रगति उनके गले मे नाग-फाँस बन कर रह रही है और अपनी कराल दाढ़ों से उन्हें ग्रसित करती चली जा रही है।

भारत का तत्वज्ञान वह अमृत है, जिसे प्राप्त करके अभावग्रस्त परिस्थितियों में भी अजस्र आनन्द अनुभव किया जा सकता है। फिर जब समृद्धि भी साथ हो तो कहना ही क्या? समस्त विश्व यह आशा लगाये बैठा हैं कि आज नहीं तो कल भारत से सूर्योदय होगा और उसकी प्रकाश किरणें सर्वग्रासी अन्धकार को दूर करेंगी। समय आ गया हैं कि हम आगे बढ़ें। अपने का सुधार, अपने घर का सुधार,- किन्तु इस प्रकाश-प्रक्रिया अपने छोटे दायरे तक ही सीमाबद्ध न रखे। उसका अधिकाधिक विस्तृत क्षेत्र में प्रसार करें और मानव जाति की, युग की महती आवश्यकता को पूर्ण करने के लिये वह सब कुछ कर गुजरें जो इन परिस्थितियों मे संभव है। आत्म निर्माण के अतिरिक्त हमारे विकास कार्यक्रमो में विश्व निर्माण का लक्ष्य जुड़ा रहना चाहिये। हमारे पूर्वज इसी प्रकार की बहुमुखी सेवा साधना का लक्ष्य बनाकर चले थे। हमारी गतिविधियाँ भी इसी प्रकार की होनी चाहिये।

अब समस्त विश्व एक छोटे परिवार की तरह हो गया है। मात्र अपनी कोठरी पर झाड़ू लगा लेने से काम नही चलेगा। पूरा घर बुहारना पड़ेगा। कोई व्यक्ति या देश अपनी कितनी ही उन्नति क्यो न कर ले, अन्यत्र विकृति बिखरी होगी तो वह उन्नति भी स्थिर न रह सकेगी। हमे आरम्भ से ही अपने विकास कार्यक्रमों में आत्मोत्कर्ष के साथ-साथ विश्व कल्याण की गतिविधियों को भी विस्तृत करते चलना चाहिये। हमारी प्रधान पूँजी आध्यात्मवादी तत्व दर्शन है। उसकी अभी कमी नही है। स्वामी विवेकानन्द, रामतीर्थ आदि ने विश्व कल्याण की जिन प्रवृत्तियों को हाथ में लिया था, उन्हें यथावत् चालू रखने की आज वैसी ही आवश्यकता है।

अमेरिका और भारतीय संस्कृति

अमेरिका महाद्वीप मे मानवीय सभ्यता चिर प्राचीन है। वहाँ भी उसी समय से मनुष्य बसते है जबसे कि अन्य देशो मे बसे और बढ़े है। प्राचीनकाल मे रूस और अलास्का के बीच वाला समुद्र नही था। मध्य एशिया के वे लोग जिन्होने भारत बसाया, दूसरे रास्ते अमेरिका पहुँचे थे और वहाँ आबाद हुए थे। कोलम्बस के पहुँचने के समय उस देश मे प्राय दस लाख के लगभग आदिवासी (इण्डियन) रहते थे।

आधुनिक अमेरिका का इतिहास थोड़े ही दिनो का है। योरोप से भारत के लिये सीधा रास्ता तलाश करने के लिये निकला हुआ क्रिस्टोफर कोलम्बस का जलयान १२ अक्टूबर १४९२ को रास्ता भूलकर संयोगवश इस महाद्वीप के तट पर जा लगा, जिसे आजकल अमेरिका कहते है। कोलम्बस ने सर्वप्रथम वहाँ स्पेन का झण्डा गाढ़ा। पीछे वहाँ की प्राकृतिक सम्पदा से लाभान्वित होने के लिये योरोप के दूसरे देशो से भी लोग वहाँ पहुँचे और बसे। हालैण्ड, फ्रांस, इटली, इंग्लैण्ड, पुर्तगाल आदि के लोग ने वहाँ अपनी बस्तियाँ बसायी।

जब योरोपियन लोग अमेरिका महाद्वीप मे पहुँचे तब वह भूखण्ड सर्वथा जनशून्य था। वहाँ बहुसख्यक आदिवासी रहते थे, जिनके चेहरे भी भारतीयों से मिलते-जुलते थे और चूँकि कोलम्बस भारत की तलाश मे निकला था, इसलिये उतरते ही उसने यह समझा कि वह भारत आ पहुँचा। अस्तु, वहाँ के निवासियों को उसने भारतीय (इण्डियन) कहकर सम्बोधित किया। उनके शरीर अपेक्षाकृत अधिक लालिमा लिये हुए थे, इसलिये उस विशेषता के अनुरूप उन्हे (रैड इण्डियन) कहा जाने लगा।

गोरो ने जब उन्हें उजाड़ना शुरू किया और उनके अधिकृत क्षेत्र को हथियाया तो उन्होने संघर्ष भी किया। किन्तु पुराने हाथ से चलाये जाने वाले शस्त्रो और पुरानी युद्ध कला को बारूदी अस्त्रों और चातुर्य पूर्ण युद्ध कौशल के मुकाबिले में सफलता नही मिली। रैड इण्डियनो का भारी विनाश हुआ। वे बुहत थोड़े रह गये। वंशनाश को बचाने के लिये पीछे गोरों को भी समझ आयी और उन्हें सन् १८८७ मे कानूनी संरक्षण मिला। अब उनकी सख्या सारे अमेरिका मे ५ लाख के करीब है। उनकी कुछ बस्तियाँ कैलीफोर्निया, आरीजोना, न्यूमैक्सिको आदि मे बस गई है।

इन रैड इण्डियनो के दो कबीले 'होपी' और 'हूजा' वनवासी होते हुए भी शाकाहारी हैं। भारतीयो की तरह वे अहिंसा पर विश्वास करते है। वनस्पति और अन्न पर गुजारा करते हैं। अपने को देवता की सन्तान मानते है। इनकी शान्त और सरल प्रकृति देखते हुए उनकी धर्म प्रकृति में भारतीय आचार की अभी भी झाँकी मिल सकती है।

कहा जाता है कि योरोपियनो के जाने से पूर्व अमेरिका वीरान पड़ा था । उन्होने जाकर उसे बसाया और सुसस्कृत बनाया, पर वस्तुतः बात ऐसी है नही। स्पेनिश सैनिक और अधिकारी जब मैक्सिकों पहुँचे तो वहाँ भी उन्होंने ऐसे ही एण्ड्रीज सभ्यता के प्रमाण पाये। पुरातत्ववेत्ताओं ने ग्वालेटा मे माया सभ्यता के अवशेष पाये और यूक्जाक्टन नगरी में ऐसे अवशेष देखे जो वहाँ ईसा की प्रथम शताब्दी में एक समुन्नत सभ्यता का परिचय देते थे। यह खोजबीन जारी रही। उस देश मे बिखरे हुए अनेक अवशेष खोजे गये तो स्पष्ट हुआ कि वहाँ ईसा से एक हजार वर्ष पूर्व भी सुयोग्य और साधन सम्पन्न हुआ कि मनुष्यो की बस्तियाँ मौजूद थी। कोलम्बिया, इक्वेडर, पेरू, बोलविया, चिली आदि मे जो प्रमाण बिखरे पड़े हैं उनसे पता चलता है कि वह देश सर्वथा सदा से वीरान नही रहा है। किसी समय उस देश की स्थिति सुविकसित देशों जैसी ही थी। वहाँ 'माया', 'कुज्का', 'एण्ड्रीज' सभ्यताओं के समुन्नत लोग निवास करते थे।

शोध प्रयत्नों से स्पष्ट होता है कि 'माया' सभ्यता के लोगों का गणित का अच्छा ज्ञान था। उनका अपना पञ्चांग था, उसमें ३६५ दिन होते थे। नक्षत्र विद्या वे जानते थे और ग्रहण कब पड़ेगा उसकी पूर्व जानकारी रखते थे। उनके भव्य मन्दिर थे, जिनमें अखण्ड अग्नि की स्थापना रहती थी तथा पूजा होती थी। शुक्र ग्रह को अपनी सूर्य परिक्रमा पूरी करने मे ५२ वर्ष लगते हैं, इसी आधार पर अखण्ड अग्नि का नवीनीकरण भी ५२ वर्ष उपरान्त होता रहता था।

भारतीय पौराणिक उल्लेख और मैक्सिको में प्रचलित 'किजक्स' गाथाओ मे आश्चर्यजनक साम्य था। दोनो की तुलना करने पर लगता है कि बिना तथ्य पूर्ण आधारो के दन्त-कथाओं मे इतना अधिक साम्य नही हो सकता । महाभारत के अनुसार माया नगरी पाताल पुरी मे थी, वहाँ की राजकुमारी उलूपी का विवाह अर्जुन के साथ हुआ था। "विष्णु पुराण" मे पाताल लोक का और भी अधिक विस्तारपूर्वक वर्णन है और वह अमेरिका की प्राचीन स्थिति पर वैसा ही प्रकाश डालता है जैसा कि उस तत्व के ज्ञाता पुरातत्व वेत्ता बताते है। मैक्सिको की दन्त-कथाये ही नहीं वहाँ के सरकारी इतिहास में भी ऐसा ही वर्णन है कि उनके पूर्वज पूर्व मे आये थे। जेम्स चर्चमूर ने उन पूर्वजों को विशाल भूखण्ड के स्वामी, अत्यन्त शक्तिशाली और जलयात्रा करने मे निष्णात बताया है। वाल्मीकि रामायण मे भी माया सभ्यता के अनुयायी भारतीयो की चर्चा लगभग इन्ही शब्दो मे की गयी है। डा. मार्टिन का प्रतिपादन है कि पूर्व से सूर्यवंशी लोग पुरातन अमेरिका में आकर बसे थे।

मैक्सिको की पुराण कथा है कि इस देश मे एक लम्बी दाढी, ऊँचे कद, काले बाल ओर श्वेत वर्ण का महापुरुष किसी अज्ञात देश से आया। उसने इस देश मे कृषि शिल्प तथा शिक्षा का प्रशिक्षण किया। उसका नाम "क्वेट सालकटली" था। उस की कृपा से मैक्सिको समुन्नत हुआ। "काकेस्ट आव मैक्सिको" के लेखक पोस्कार का अनुमान है कि यह महापुरुष भारत से आया था और उसका भारतीय नाम "साल कटक्ट" था।

वाल्मीकि रामायण सर्ग ८ श्लोक २३-२४ में वर्णन है कि देवताओं से पराजित होकर "साल कटंकट" वंश के असुर पाताल लोक चले गये थे। ये लोग मूलतः लंका के निवासी थे। अहिरावण आदि का पाताल में रहना और उनका लंका के साथ संपर्क सूत्र जुड़ा होना भी रामायण में लिखा है। इससे भी पाताल लोक अमेरिका में भारतीयो का आवागमन सिद्ध होता है।

अशक्नुवन्तस्ते विष्णुं प्रत्योदधुं बलार्दिताः।
त्यक्त्वा लंका गता वस्तु पातालं सह पत्नयः॥
सुमालिनं समासाद्य राक्षसं रघुसत्तम्।
स्थिताः प्रख्यात वीर्यासो वंशे साल कटंकटे॥

अर्थात्- "देवराज विष्णु का सामना न कर सकने पर पराजित असुर लंका से पाताल लोक सपरिवार चले गये। साल कटंकट वंश के असुरों ने अपना निवास वही बनाया।

मैक्सिको निवासियों की प्राचीन सभ्यता 'मय' कहलाती है। इसके विभिन्न पक्षों का पर्यवेक्षण करने पर उसके साथ भारतीय सभ्यता का असाधारण साम्य दृष्टिगोचर होता है।

लैलो मिचल द्वारा लिखित "काकेस्ट ऑफ दि माया" ग्रन्थ मे मैक्सिको मे ऐसे अनेक प्रमाणों का संग्रह है, जिनसे पुरातन भारत और मैक्सिको की सांस्कृति घनिष्ठता सहज सिद्ध होती है।

मैक्सिको के प्राचीन मन्दिर "कोपन" की दीवारों पर हाथी पर सवार महावत के भित्ति चित्र मे भारतीय चित्रकला की अमिट छाप है। 'निकल' मे मुण्डधारी शिव की प्रतिमा एक भव्य वेदी पर प्रतिष्ठित मिली है। अनन्त, वासुकि और तक्षक सर्प देवताओ की प्रतिमाये मन्दिरो के स्तम्भो पर खुदी मिली है। 'क्वीरिग्वा' मे मिली मिट्टी की प्राचीन प्रतिमाओ मे भारतीय शिल्प देखा जा सकता है। मन्दिर मे भित्ति चित्रो पर सोने का काम हुआ है। जिस काल के मन्दिर है, उस समय सोना केवल देवताओ के लिये ही भारत मे प्रचलित हुआ था। अन्यत्र न तो वह उपलब्ध था और न उसका प्रयोग होता था। स्वर्ग खचित मैक्सिको के भित्ति चित्रो की कला उस देश के साथ भारत की घनिष्ठता का प्रमाण देती है। मय-सभ्यता मे गणेश, इन्द्र और हनुमान की देव पूजा प्रचलित थी। मृतकों का दाह-संस्कार होता था। श्राद्ध, तर्पण का प्रचलन था। धार्मिक और दार्शनिक मान्यतायें भी भारत से मिलती-जुलती थी। इस प्रकार के अनेक प्रमाण भारत और मैक्सिको के बीच आवागमन और सांस्कृतिक आदान-प्रदान का प्रमाणिक परिचय प्रस्तुत करते हैं।

मैक्सिको के सरकारी इतिहास ग्रन्थ मे उल्लेख है कि उस देश में माया सभ्यता पर प्रकाश डालने वाला किसी समय प्रचुर साहित्य उपलब्ध था । लेकिन उसे ईसाई विशप 'डियागों ने होली की तरह जलवा दिया, किसी प्रकार तीन पुस्तके बच गयी थी, जिनमें से एक पेरिस में एक मेड्रिड में और तीसरी ड्रेसडन में सुरक्षित है।

शोधकर्त्ताओं ने यह स्वीकार किया है कि माया और इन्का सभ्यताओं के समय यहाँ के निवासी नाप-तोल, शासन व्यवस्था, धर्म, सामाजिक प्ररम्पराओ तथा उस क्षेत्र को सुरम्य और समुन्नत बनाने मे शताब्दियों तक बड़ा परिश्रम करते रहे। समय के किस कुचक्र ने उन्हें क्यों और कैसे विनाश के गर्त में धकेल दिया इस संबंध में भी कुछ अधिकृत रूप से नही कहा जा सकता। तो भी यह मानने मे अड़चन नही रह जाती कि उस देश को समुन्नत बनाने का श्रीगणेश भारतवासियों द्वारा ही किया गया था।

कुछ समय पूर्व अमेरिका की "जान होपकिन्स" नामक पत्रिका मे एक शोधपूर्ण लेख छपा था, जिसमे अनेक प्रमाण यह सिद्ध करने के लिये प्रस्तुत किये गये थे कि प्राचीन भारत और प्राचीन अमेरिका मे घनिष्ठ सम्बन्ध था। व्यापारी और धर्मोपदेशक लम्बी जल यात्राये करके आते-जाते थे।

उपलब्ध खण्डहरो मे मन्दिरों और देवी-देवताओ की मूर्तियो के जो अवशेष उपलब्ध हुए है, वे बताते हैं कि उस समय अमेरिका एक प्रकार से भारतवर्ष का सांस्कृतिक उपनिवेश ही था। इन्द्र, अग्नि, गणेश, शिव और सूर्य की मूर्तियाँ वैसी ही है जैसी भारत मे पायी जाती है। मन्दिरो और भवनो का निर्माण भारतीय वास्तु कला के अनुरूप ही है। राजमुकुट, आभूषण, पात्र, शस्त्र औजार आदि का मिलान करने पर उनका

साम्य तत्कालीन भारतीय प्रचलन के अतिरिक्त और किसी के साथ बैठता ही नहीं। उन दिनों मैक्सिको मे 'राम-सितवा' त्यौहार भारी उत्साह के साथ मनाया जाता था। भारत मे रामलीला जैसा "राम-सीता" के चरित्रो का उसमे प्रदर्शन होता था। एक खण्डहर मे नाग-प्रतिमा ठीक उसी आकृति की है जैसी भारत के साँची नगर मे विद्यमान है।

भारत मे जिस प्रकार समाधि, स्तूप एव स्मारक बनाये जाते है। ठीक उसी प्रकार के गगनचुम्बी स्तूप अमेरिका मे बनते थे, जिन्हे 'टिकल' कहा जाता था। "टिकलो" मे देव पूजा के विविध विधि-विधान सम्पन्न होते थे।

टोलो (मैक्सिको) मे विशालकाय पाषाण-स्तम्भों पर भारतीय देवताओ की प्रतिमाये बड़े कलात्मक ढग से खुदी हुई है। कोयून (हाण्यूरास-दक्षिण अमेरिका) मे दैत्य की मूर्ति भी उसी आकृति मे है जिस प्रकार असुरो का अपने यहाँ वर्णन पाया जाता है। "कापूरिगो" (ग्वाटेमाला) मे उपलब्ध शिला-प्रतिमाओ मे स्पष्टत. भारतीय शिल्प छलकता देखा जा सकता है। जिस प्रकार अनेक खम्भों वाले मन्दिर भारत मे जहाँ-तहाँ दीख पडते है, उसी प्रकार "यूक्टास" के ध्वंशावशेष 'थाउजेण्ड कालम्स' (हजार स्तम्भ) को देखा जा सकता है। बिना चूना-गारे की सहायता से केवल पत्थरो से बने भवन भारत की विशिष्ट वास्तु कला के अग है। ऐसा ही एक तक्षशिला जैसा ध्वस्त खण्डहर चाको (अमेरिका) मे विद्यमान है। पत्थरों की कलात्मक खुदाई के वैसे ही नमूने अमेरिका के खण्डहरों मे भी मिले है जैसे कि उत्तर भारत के प्राचीन राजमहलो अथवा देवालयो मे दृष्टिगोचर होते है।

इसी काल के शिलालेख भारत के साथ सास्कृतिक सम्बन्ध होने की पुष्टि करते हैं। "सालोमन का न्याय" और "महा साधना जातक" की साहित्यिक पृष्ठभूमि मे असाधारण साम्य है। विशालकाय जलयान बनाने का इतिहास भारत नेतृत्व मे ही आरंभ होता है। सुदूर के भूखण्डो तक समुद्र की दूरी को चीरते हुए पहुँच सकने की क्षमता उसी की थी। यही कारण है कि अमेरिका जैसे दूरवर्ती देश में भी भारतीयो का आवास-प्रवास क्रम चल पड़ना संभव हो सका।

अमेरिका प्राचीन काल में सर्वथा सुनसान अथवा अविज्ञात देश नही रहा है। सत्रहवी और अठारहवी शताब्दी मे गोरे लोग वहाँ जाकर बसे और उस महाद्वीप को फिर से आबाद किया। इससे पूर्व वहाँ 'मय सभ्यता' के ऐसे अनेकानेक प्रमाण पाये गये हैं कि वहाँ सुविकसित और सुसम्पन्न लोग निवास करते थे। १८०० फीट ऊँचा शिवलिंग-विशाल सूर्य मंदिर-विशाल भवन, वास्तु शिक्षा, लेखन-वाचन उपकरण, कई तरह के औजार-प्रामाणिक काल गणना का पचांग वहाँ मिले है और प्राचीन काल की मय सभ्यता का पता चला है।

पुराणो के अनुसार "मय सभ्यता" का नामकरण मय-दानव के नाम पर हुआ। जो देवों से युद्ध मे हार कर पाताल लोक चला गया था। पृथ्वी का गोलार्द्ध देखने से स्पष्ट हो जाता है कि अमेरिका भारत के ठीक पीछे या नीचे है। पाताल अर्थात् नीचे का लोक, इसे नागलोक भी कहते है। इस क्षेत्र के निवासी नागवंशी थे। इसी से इसका नाम नागलोक पडा। दुर्गा सप्तशती मे कितने ही राक्षसो के पाताल चले जाने का वर्णन है। भगवती दुर्गा ने उन्हे परामर्श दिया—"यूय प्रयात पाताल यदि जीवितुमिच्छथ.।" अर्थात् "यदि तुम जीवित रहना चाहते हो तो पाताल चले जाओ।" वे लोग बडी संख्या मे पाताल चले गये और वहाँ बस गये। अपने समुन्नत ज्ञान एवं पराक्रम से उनने उस भूमि-क्षेत्र को समृद्ध बनाया।

लाखो वर्षों मे पृथ्वी का मानचित्र बहुत बदलता रहा है। आज जहाँ समुद्र है वहाँ कभी थल था। इस समय जो भू-भाग दिखाई पड़ते है, वे कभी अथाह जलराशि के गर्त मे डूबे हुए थे। भू-गर्भ में होने वाली उथल-पुथल, हिम प्रलय, वृष्टि असन्तुलन, पृथ्वी की धुरी मे हेरफेर, ध्रुव प्रदेशों मे परिवर्तन जैसे कारणो ने थल को जल मे और जल को थल मे परिणित किया है इसलिये भू-खण्ड कटते और जुड़ते रहे है। आज के कितने ही क्षेत्र जो समुद्र पार है, वे प्राचीन काल में एक ही थल भाग के अन्तर्गत थे और बिना जलयानो के ही वहाँ जाना सम्भव था। इसके अतिरिक्त नौकानयन की कला भी अति प्राचीन काल से ही मनुष्यों द्वारा प्रयुक्त होती आयी है। उस समय के दुस्साहसी लोग लम्बी

समुद्र यात्राये करने मे अपने पुरुषार्थ का परिचय देते रहे है। इसलिये इस संदेह के लिये गुंजायश नही रह जाती कि जो देश आज समुद्र पार है, वहाँ भारतीय सभ्यता किस प्रकार पहुँच पायी होगी? वस्तुतः वैसी कठिनाई थी नही और सुदूर देशो का यातायात उन दिनो के साधनो से भी भली प्रकार सम्पन्न हो जाता था।

अब से दो-सौ वर्ष पूर्व तुर्की नौ सेना के अध्यक्ष पीरी का बहुत-सा सामान तोपकापी के राजभवन मे मिला था। उसमे एक अति प्राचीन काल में भू-सर्वेक्षण का एक नक्शा भी मिला। यह मुद्दतों वर्लिन के शाही अजायबघर मे रखा रहा। उस पर ससार भर के भू-विज्ञान वेत्ता खोज करते रहे। अन्तत. अमेरिका के विशेषज्ञ आलिंगटन मलारी ने उस पर जो रिपोर्ट दी है उसमें उस नक्शे को किसी समय का अत्यन्त प्रामाणिक बताया गया है। इसमें भारत, मिश्र, मध्यपूर्व तथा योरोप को एक ही थल-खण्ड दिखाया गया है। समुद्री व्यवधान जिस तरह अब हो गये और उस कारण से जो विभाजन हो गया है, वह उस समय नही था। तब अमेरिका से भी उस भू-खण्ड की दूरी अधिक नही थी। उस समय बहुत-सा अमेरिका तो पानी में डूबा हुआ था, जो पीछे समुद्र तल से उभर कर ऊपर आ गया।

सन् १९२७ मे "तिआ हुआना" (पेरू दक्षिण अमेरिका) मे पुरातत्व विभाग ने जो खुदाई कराई है, उसमे एक ऐसा शिव त्रिशुल मिला है, जिसकी ऊँचाई ८०० फीट है। इसी मे २० टन भारी और २४ फीट लम्बा एक शिवलिंग भी है, जिस पर ग्रह-नक्षत्रो की आन्तरिक स्थिति अंकित है। एक ही पत्थर से तराशा हुआ १० टन भारी सूर्य मन्दिर द्वार तीन कतारो मे उपलब्ध ४८ प्रतिमाये भी इस काल के कला कौशल की साक्षी देते है।

शोधकर्त्ता एच एस. वेलामी और पी अलान ने उस सामिग्री पर एक शोध-पुस्तक प्रकाशित की है, जिसमे सिद्ध किया गया है कि यह सामग्री अब से २७ हजार वर्ष पुरानी है। उस समय के पंचाग से पता होता है कि उस समय पृथ्वी की धुरी और कक्षा वर्तमान समय की अपेक्षा भिन्न प्रकार की थीं। तब वर्ष २८२ दिन का था, ३६५ दिन का नही।

पेरू शब्द का अर्थ संस्कृत में "सूर्य का देश" है। सूर्य-पुत्रो का देश पेरू कहा जाय यह स्वाभाविक ही है। भारतीयो का दिया हुआ यही नामकरण पेरू मे अब भी प्रचलित है।

अमरीका से २४०० मील दूर "हवाई द्वीप समूह" पर आज अमेरिका का शासन है। किसी समय वहाँ भारतीयो का आधिपत्य था। वहाँ की चट्टानो पर जो आकृतियाँ खुदी हुई है, वे मोहनजोदड़ो और हड़प्पा मे पायी गई मुहरो पर खुदी आकृतियो से हूबहू मिलती हैं। शिलालेखो और उपलब्ध प्रतिमाओं मे सूर्य देवता तथा त्रिशूल, चक्र, पद्म, शख आदि देव आयुधो की आकृतियाँ है। इसी द्वीप समूह के एक द्वीप 'कोउ आई' के संग्रहालय में ऐसे अनेक प्रमाण सुरक्षित हैं और भारतीय पुरातत्ववेत्ता डा. छावड़ा ने उस देश मे भ्रमण करके ऐसे ४० प्रमाण सग्रह किये थे, जिनसे भारत के साथ उन देशो के प्रगाढ़ सम्बन्धो का परिचय मिलता है। हवाई द्वीप निवासी लोगो की आम धारणा है कि उनके पूर्वज भारतीय थे। उनकी मुखाकृतियाँ स्पष्टतः भारतीयो से ही मिलती है। यूरोपियनो तथा अमरीकनो से उनका रक्त सम्बन्ध तनिक भी नहीं दीखता, यो अब वहाँ पाश्चात्य सभ्यता का ही बोलबाला है। इस प्रदेश की भाषा मे सस्कृत शब्दो की भरमार पाई जाती है।

अमेरिका मे इग्लैण्ड के लोग अधिक पहुँचे। जन-बल, धन-बल और शस्त्र-बल की शक्तियाँ भी उन्हीं के पास अधिक थी, तदनुसार उन्ही का शासन उस देश पर स्थापित हो गया। पहले इग्लैंड की सरकार ही वहाँ पर शासन करती थी। पीछे वह देश स्वतत्र हो गया। फिर भी वहाँ की संस्कृति भाषा और विशिष्टता अभी भी इग्लैण्ड मूल के लोगो की ही है। इसी विशाल भू-भाग पर एक खण्ड कनाडा है। कनाडा ४० लाख वर्ग मील मे बसा है। बहुत-सा क्षेत्र अँग्रेजो का है ३० प्रतिशत फ्रांसीसी रहते है। बडी संख्या मे योरोपियन भी रहते हैं। आबादी २५ करोड के करीब है।

कनाडा में भी आदिवासी बसे हुए हैं। उन्हे भारती मूल का माना जाता है। संयुक्त राज्य अमेरिका में उन्हे रैड इण्डियन कहा जाता है किन्तु कनाडा के मूल निवासी 'इण्डियन' शब्द से ही संबोधित किये जाते हैं। उनके साथ रैड का विशेषण नही लगाया जाता। इतिहासविशेषज्ञो का मत है कि प्राचीन काल मे ऐशिया और अमेरिका के बीच थल-मार्ग था। मध्य एशिया के आर्य वश के लोग वहाँ पहुँचे तो उन्होने इन 'इण्डियनो' को वहाँ बसा पाया। अब से ढाई सौ वर्ष पूर्व उनकी संख्या कनाडा मे दो लाख थी। उजाड़ने की हठ ने उन्हें बर्बाद कर दिया। पीछे वहाँ भी समझ आयी और तब से उन्हे कुछ विशेष सुविधायें दी और उनकी समस्याओं का समाधान खोजने के लिये एक विशेष विभाग बनाया। वंश-विनाश से बचे लोगों की सख्या अब पुनः बढ़ने लगी है और दो लाख के करीब जा पहुँची है। अब उनकी व्यवस्थित बस्तियाँ भी वुडलैण्ड, आनेटोरिया, मेकेजी, प्रेरीज, कोलम्बिया, यूकोन आदि क्षेत्र में स्थापित हो गयी है।

अमेरिका निवासियो को भारतीय दर्शन और संस्कृति मे गहरी दिलचस्पी है। यो उस देश मे पूरी तरह ईसाई धर्म ही फैला हुआ है अन्य धर्मावलबी नगण्य संख्या मे है। फिर भी वहाँ के विज्ञ वर्ग का विश्वास है कि भारतीय और मानवता एक ही तथ्य के दो नाम है भारतीय सस्कृति कभी विश्व संस्कृति रही है और भविष्य में यदि समस्त विश्व मे सांस्कृतिक एकता स्थापित करने की आवश्यकता पड़े तो उस प्रयोजन की पूर्ति मे भारतीय तत्व दर्शन की ही प्रमुख भूमिका रहेगी। उसमे वे सभी बीज मौजूद है, जिनके आधार पर मानवीय एकता और महानता का परिपोषण हो सके। भूतकाल में विश्व को अनुपम अनुदान देने वाली और मानवीय उत्कर्ष में असाधारण योगदान देने वाली भारतीय सस्कृति को अमेरिका मे बहुत श्रद्धा और गभीरता से समझने का प्रयत्न किया जाता है, ताकि प्रगति और शान्ति के लिये भविष्य में भी उन तथ्यों का उपयोग किया जा सके।

अमेरिका के तत्वदर्शी 'विल ड्यूरेस' ने भारत भूमि को अनेक दृष्टिकोणों से अमरीका की भी माता माना है। वे कहते हैं—"भारतभूमि में उत्पन्न बौद्ध धर्म ईसाई धर्म की नीव रखी—उनकी संस्कृति ने हमारी ईसाइयत को जन्म दिया-वहाँ की प्रचीन गणतंत्र प्रणाली ने अर्वाचीन प्रजातंत्र को जन्म दिया है। दर्शन और संस्कृति की दृष्टि से वह समस्त मानव जाति को बहुमूल्य प्रेरणायें प्रदान करती रही है। भारत भूमि उस देशवासियो की ही नही अमेरिकनों की भी माता है।"

अमेरिका के प्रख्यात दार्शनिक एमर्सन और थोरो पर भारतीय विचारधारा का गहरा प्रभाव पड़ा है और उनने जो कुछ लिखा है, उससे भारतीय चिन्तन का आभार पग-पग पर परिलिक्षित होता है। एमर्सन के काव्य 'ब्रह्म' को गीता और उपनियदो का सार ही कहना चाहिये। उनका 'दि ओवर सोल' निबध भारतीय चिन्तन का प्रामाणिक परिचय माना जाता है।

अमरीकी कवि "हिवटमैन" के कविता "लीव्स ऑफ ग्रास" को वेदान्त का भावानुवाद कहा गया है। उस देश के मान्य लेखक मार्कट्वेन सन् १८९५ मे भारत-भ्रमण के लिये आये थे। लौटने पर उन्होने अपना भ्रमण वृतान्त "फ्लाइग द इक्वेयर" नामक पुस्तक के रूप में छपाया है। इसमे उन्होने भारतीय दर्शन और आध्यामिक चिन्तन की गरिमा पर गहरा प्रकाश डाला है। अमरीका के अर्वाचीन लेखक और कवि टी. एस इलियट की रचनाओ और कविताओ मे उपनिषदों के सदर्भ भरे पड़े रहते है। केलिफोर्निया में "क्रिस्तकर इशरवुड" ने गीता के समस्त श्लोको का अँग्रेजी पद्यों मे अनुवाद किया है। इतना ही नहीं वे भारतीय योग पद्धति से साधारण जीवन भी बिताते रहे है।

अग्रेजी का एक लोकप्रिय उपन्यास "रेजर्स एज" है। "कठोपनिषद्" के "क्षुरस्य धारा निशिता दुरत्यया" श्लोक के प्रथम शब्द "क्षुरस्य धारा" पर इसका नामकरण किया गया है। "क्षुरस्य" का अर्थ "रेजर" स्पष्ट है। यह उपन्यास अमेरिका मे इतना लोकप्रिय हुआ कि इसकी तीस लाख प्रतियाँ हाथो-हाथ बिक गयी।

इसी परम्परा मे हर्मन मैलाविन और एमोस ब्रोन्सन आल्कोट के नाम आते है, जिन्होने भारतीय दर्शन को गहराई तक समझने में अपने जीवन का अधिकांश भाग समर्पित कर दिया और जो पाया उसे

बड़ी सुन्दरता के साथ जन साधारण तक पहुँचाने का प्रयत्न किया। महाकवि वाल्ट ह्विटमैन की "दि क्राटिलस" पढ़ने से वे अमेरिकी नहीं वरन् भक्ति-भावनाओं से ओत-प्रोत कोई सन्त प्रतीत होते थे।

हारवर्ड विश्वविद्यालय से अब तक "प्राच्य ग्रन्थमाला" के अन्तर्गत ४० से अधिक ग्रन्थ प्रकाशित हुए हैं। इसकी पाठ्य-सामग्री में विशेषतया भारतीय धर्म अध्यात्म तथा दर्शन का ही प्रमुख रूप से उल्लेख है। "येल" की पुस्तक "हिन्दू-पैंथिज्म" सामान्य पाठक को संक्षेप में हिन्दू धर्म की अच्छी जानकारी करा देती है।

राल्फ वाल्डो इमर्सन, हेनरी डेविड थोरो जैसे विद्वानों ने न केवल जनता को भारतीय दर्शन से परिचित कराया, वरन् स्वयं अपने आचार-व्यवहार को उसी ढांचे में ढालने का सफल प्रयत्न किया। उनके विचारों पर भारतीय चिन्तन की गहरी छाप थी। उनने अपनी लेखनी और करनी से जो कुछ कहा है, उसे तत्वतः भारतीय दर्शन का अपने ढग से किया हुआ प्रचार कहा जाय तो इसमें कुछ भी अत्युक्ति न होगी उन्होंने अमेरिकन जनता के मन में भारतीय दर्शन के प्रति गहरी श्रद्धा जमाने और अभिरुचि उत्पन्न करने की महत्त्वपूर्ण भूमिका प्रस्तुत की है।

अमेरिका के संस्कृतज्ञ उद्भट विद्वान मौरिस ब्लूमफील्ड एवं वाल्टीमोर ने वेद चेतना पर एक शोधपूर्ण ग्रन्थ लिखा है, जो "हारवर्ड ओरियण्टल सीरीज" के अन्तर्गत छपा है। इसके लेखन, सम्पादन और प्रकाशन में १४ वर्ष लगे हैं और प्रचुर धन खर्च हुआ है। इस ग्रन्थ में वेदों के महत्त्वपूर्ण और जटिल प्रमाणों का सरलता एवं प्रमाणिकता के साथ प्रस्तुतीकरण किया गया है। यों इस विषय पर इससे पूर्व वान थियोडोर वर्ग, जार्ज वुडलर आदि विद्वान कलम उठाते रहे है, पर "वैदिक कौन्कोडन्स" ने बिखरी जानकारियों को एक सूत्र में पिरो देने और जन साधारण को वेदों की पृष्ठभूमि बता देने मे अनौखी सफलता प्राप्त की है।

जर्मन विद्वान मैक्समूलर ने अपनी पुस्तक "दि सीक्रेट बुक ऑफ ईस्ट" प्रकाशित करायी तो पाश्चात्य जगत को भारत की महान संस्कृति एवं दार्शनिक पृष्ठभूमि का पता चला। इसके बाद दूसरी पुस्तक "इन्ट्रोडक्शन टू दि साइन्स आफ रिलीजन" छपी। उन्हीं दिनों जेम्स फ्रीमेन क्लार्क की "टैन ग्रेट रिलीजन्स" छपी। इन पुस्तकों का समस्त योरोप विशेषतया अमरीका में जोरों का स्वागत हुआ। तब तक भारतीय दर्शन का रूढ़िवादी, पुरातन पंथी मात्र समझा जाता था । इन पुस्तकों ने लोगों की आँखें खोल दी। क्लार्क अमेरिकी थे। उनकी पुस्तक इतनी लोकप्रिय हुई कि थोड़े ही समय में उसके २३ संस्करण बिक गये। भारतीय धर्म और दर्शन की खोज के लिये अमरीका उत्साह और भी आगे बढ़ा और आत्मिक ज्ञान-पिपासा पर गहरा प्रकाश डालने वाले ग्रन्थ एक के बाद एक प्रकाशित होते चले गये। एडवर्ड हैल की "द एज ऑफ फेबल" एव "ओरियण्टल रिलीजन एण्ड देअर रिलेशन्स टु यूनिवर्सल रिलीजन" नाम की पुस्तकें छपी। हिन्दू धर्म और बौद्ध धर्म के सम्बन्ध में जानकारी देने वाली उपयुक्त पुस्तक "दि एज ऑफ फेबल" उस देश के ज्ञान-पिपासुओं में बहुत लोकप्रिय है। एडविन आनरोल्ड के "लाइट ऑफ एशिया" मे भारत के स्वर्णिम अतीत का अच्छा वर्णन है। इस संदर्भ मे अधिक अध्ययन, अन्वेषण करने के लिये "अमेरिकन ओरियन्टल सोसायटी" एवं "यूनिटेरियल सोसायटी" ने महत्त्वपूर्ण कार्य किया है। उनके प्रयास से उस देश के प्रबुद्ध वर्ग ने भारतीय दर्शन की गरिमा अधिक अच्छी तरह जानने और उससे प्रकाश ग्रहण करने का अवसर प्राप्त किया हैं। इस प्रयास में संलग्न विद्वान एलब्रिज सेल्सबरी, विलियम हविटनी, एलटू येल का नाम विशेष रूप से स्मरणीय है।

अमेरिका और भारत के प्राचीन एव अर्वाचीन सम्बन्धों पर प्रकाश डालने वाली पुस्तकों में से कुछ निम्नलिखित है-

(१) चमनलाल कृत-हिन्दू अमेरिका (२) चेसली बैटी कृत-अमेरिका बिफोर कोलम्बस (३) प्रो. हेम्बेरटो कृत-टेन थाउजैण्ड इयर्स ओल्ड सिविलेजेशन्स इन अमेरिका (४) स्वान्टन कृत-इन्डियन ट्राइब्स ऑफ नार्थ अमेरिका (५) कम्पाजेट कृत-दी हेरिटेज ऑफ अमेरिका (६) रावलिन्सन कृत-इण्टर पीस बिट्वीन इण्डिया एण्ड

दि वेस्ट (७) हेरिसन कृत-इण्डिया एण्ड द यूनाइटेड स्टेट्स (८) जे.टी.रीड कृत-टू कल्चर्स मीट एट तारा देवी (९) थैकर कृत-लास्ट वर्ड ऑफ ए अमेरिकन लेडी एबाउट इण्डिया (१०) पी._ एस. वर्मा कृत-हन्ड्रैड फिफ्टीन इयर्स ऑफ इण्डो अमेरिकन कोआपरेशन इन कल्चरल फील्ड्स (११) टीचिंग ऑफ सिक्स गुरुज इन अमेरिका (१२) इन्फ्लुऐस ऑफ इण्डियन फिलासफी इन वेस्टर्न कल्चर (१३) एमर्सन कृत-ए वैस्टर्न स्प्रिचुअल लीडर इम्प्रेस्टेड वाद इण्डियन फिलासफी (१४) जान रीड कृत-इण्डियन इन्फ्लुऐंस आन यू एस. ए(१५) पी एस वारी कृत-वेदान्त इन यू. एस. ए. (१६) टी. जबेज कृत-इण्डिया अमेरिका एण्ड वर्ल्ड ब्रदरहुड (१७) फीचर कृत-बुक्स ऑन इण्डिया।

अमेरिका में आठ विश्वविद्यालयों मे सस्कृत शिक्षा की व्यवस्था है—येल, हारवर्ड, कोलम्बिया, पेन्सलवेनिया, जौन्स, हाफकिन्स, शिकागो, प्रिसटन। कैलीफोर्निया मे सस्कृत शिक्षा पहले से ही दी जाती है। अब अन्यान्य शिक्षा संस्थाओ में भी इसका प्रचलन हो रहा है।

विश्व मे बौद्ध धर्म सुधरे हुए हिन्दू धर्म के रूप मे हो गया है, अतः उसका प्राचीन ब्राह्मण धर्म की तुलना मे अधिक स्वागत हुआ है। अमेरिका मे बौद्ध धर्म को सम्मानस्पद स्थान मिला है।

सन् १९१५ की जनगणना मे वहाँ केवल ४० हजार बौद्ध थे। सन् १९६१ की जनगणना मे उनकी सख्या ५ लाख तक पहुँच गयी। हवाई द्वीप समूह मे बौद्ध धर्मानुयायी बहुत बड़ी संख्या मे रहते है। पहला बौद्ध मठ. अमेरिका के सेन फ्रान्सिस्को नगर में सन् १९०५ में बना था।

अब उस देश मे ५४ मठ और ७० स्थिवर हैं। "फ्रेण्ड्स ऑफ बुद्धिज्म सोसायटी" इस दिशा में सराहनीय काम कर रही है। इसके लिये आचार्य धर्मपाल ने लगभग वैसा ही कार्य किया जैसा स्वामी विवेकानन्द ने।

थियोसोफिकल सोसायटी के संस्थापक कर्नल अल्काट अमरीकी थे। उन्होने १८८० मे लंका आकर बौद्ध धर्म की दीक्षा ली थी। मैडम ब्लैवटस्की, ऐनी बेसेण्ट आदि की सहायता से उन्होंने संसार में थियोसाफी का प्रसार किया। कहना न होगा कि इस दर्शन में ८० प्रतिशत हिन्दू धर्म की मान्यताओं का ही समावेश है।

स्वामी विवेकानन्द, स्वामी रामतीर्थ आदि भारतीय सन्तो ने अमेरिका मे जिस तरह, जिस रूप में हिन्दू धर्म को प्रस्तुत किया उससे वहाँ इसके प्रति और भी अधिक श्रद्धा सद्भावना का विकास हुआ।

अमेरिका के आध्यात्मिक नेताओं ने शिकागो नगर मे "विश्व धर्म सम्मेलन" का आयोजन किया जो सन् १८९३ में मई से अक्टूबर तक चला। इसमें भारत के प्रतिनिधि के रूप मे स्वामी विवेकानन्द और अन्य कई विद्वान पहुँचे। इसके बाद स्वामी जी ने घूम-घूमकर कई संस्थाओ मे भाषण दिये और भारतीय तत्व ज्ञान की जीवन में कितनी आवश्यकता है, इस तथ्य का परिचय कराया। तत्कालीन पत्रों ने स्वामीजी के विचारों का भरसक प्रसार किया और उनके प्रतिपादन को एक स्वर से सराहा।

स्वामी विवेकानन्द द्वारा स्थापित वेदान्त आन्दोलन का आरभ न्यूयार्क से हुआ था। अब तक वह बहुत व्यापक बन चुका है। उसका सचालन दस समर्थ केन्द्रो द्वारा होता है। ये केन्द्र बोस्टन, प्रोविडेन्स, सेन फ्रासिस्को, पोर्टलैण्ड, 'शिकागो सेण्टलुई, लॉस एंजिल्स, सियेटल में स्थापित है। इनमें "सेन एनटोन घेरी" का आश्रम सबसे पुराना है। कैलीफोर्निया मे दो वेदान्त आश्रम है—एक 'आलमा आश्रम' दूसरा 'लेक्टाही'। पोर्टलैण्ड आश्रम १२० एकड़ में है। न्यूयार्क मे रामकृष्ण विवेकानन्द केन्द्र ने एक नया आश्रम 'थाउजैण्ड पार्क' विवेकानन्द कुटीर के नाम से खोला है। इन केन्द्रो मे कितने ही हिन्दू मिशनरी रहते है और प्रचार कार्य करते है। वेदान्त धर्म का प्रतिपादन करने वाला छोटा-बड़ा अग्रेजी साहित्य भी इन केन्द्रो से प्रकाशित होता है। इन केन्द्रों को अमेरिकी जनता ने प्रचुर साधन प्रदान किये है। प्रभावित, सम्बन्धित और सहयोगी लोगो में उच्चकोटि के बुद्धिजीवी कलाकार एवं प्रभावशाली लोगों की बहुत बड़ी संख्या है।

स्वामी विवेकानन्द के पश्चात् स्वामी रामतीर्थ ने अमरीकी जनता को हिन्दू दर्शन के बारे मे महत्वपूर्ण

जानकारी दी और उस ओर प्रबुद्ध वर्ग की गहरी दिलचस्पी पैदा की। वे १९०२ मे जापान के 'विश्व धर्म सम्मेलन' में भाग लेने के उपरान्त अमेरिका पहुँचे तो वे उस देश मे लगभग दो वर्ष रहे। इस अवधि मे उन्होंने वहाँ की जनता पर जो छाप छोड़ी वह चिरकाल तक अविस्मरणीय मानी जाती रहेगी। वहाँ के पत्रो ने उन्हें 'जागृत ईसा' तक कहा।

योरोप का आर्यावर्त–जर्मनी

जर्मनीवासियो की मान्यता है कि वे आर्य रक्त के विशुद्ध उत्तराधिकारी हैं। प्राचीनकाल में हिमालय की उपत्यकाओ में आर्य वंश विकसित हुआ था। वहाँ से वे लोग भारत की ओर गये। भू-मण्डल के अधिकाधिक क्षेत्र की सेवा साधना करने की महत्वाकांक्षाओ ने उन्हें भारत से मध्य एशिया के मार्ग से होकर योरोप महाद्वीप की ओर गतिशील होने की प्रेरणा दी। उन दिनो योरोप का जितना क्षेत्र यातायात की सम्भव सीमाओं मे आ सका, वहाँ वे गये और बसे।

चूँकि अन्यान्य क्षेत्रो में स्वल्प संख्या मे पहुँचे थे इसलिये वहाँ के आदिवासियों के साथ उनका रक्त सम्मिश्रण होता चला गया और ऐसी नस्ल बन गयी जिसे विशुद्ध आर्यवंशी नही कह सकते।

द्वितीय महायुद्ध में पराजित जर्मनी के अधिनायक हिटलर ने अपनी पुस्तक "मीन केम्फ" मे इस तथ्य को बहुत जोर- शोर से उभारा कि जर्मन लोग ही विशुद्ध आर्य रक्त के है। उसी देश मे प्रागैतिहासिक काल मे आर्य लोग समुचित संख्या में बसे और उन्होने रक्त शुद्धि का विशेष रूप मे ध्यान रखा। वह परम्परा यथावत् कायम है और जर्मन लोग नस्ल की दृष्टि से विशुद्ध आर्य वशी कहलाने के अधिकारी है। भारतीयो के बारे में उसने आक्षेप लगाया है कि वे लोग अब विशुद्ध आर्य वश के नही रहे । द्रविण आदि अनार्यों के साथ उनके रक्त का सम्मिश्रण हुआ है। अन्यान्य देशो से भी बहुत लोग वहाँ आते, बसते और वश वृद्धि करते रहे है। इस प्रकार भारतीय रक्त की दृष्टि से वर्णशंकर स्तर के हो गये है। उनकी मुखाकृति और दूसरी विशेषतायें वैसी नही रही जैसी कि आर्य वंशियो की होनी चाहिये।

यो जर्मनी मे इन दिनो ईसाई धर्म ही प्रचलित है, वहाँ के निवासी हिन्दू धर्मानुयायी नही है, तो भी उन्हे आर्य संस्कृति और उसके तत्वदर्शन पर भारी गर्व है। उसके सम्बन्ध में अधिकाधिक जानने की, सारगर्भित रहस्यों के उद्घाटन की और सर्वतोमुखी प्रगति के आधारभूत प्रकाश को अपनाने की इतनी तीव्र उत्कण्ठा है, जितनी कि हम भारतीयो में भी नही देखी जाती।

हिटलर ने नाजी पार्टी का प्रतीक चिन्ह 'स्वास्तिक' (卐) बनाया था। यही आर्य धर्म का आदि प्रतीक है। स्वास्तिक का ही सुधरा रूप 'ॐ' है 'ॐ' का उपयोग प्रत्येक मंत्र के आरम्भ में तथा अन्यत्र उपासना क्रमो मे होता है। मांगलिक कार्यो एवं स्थानो मे स्वास्तिक को चित्रित किया जाता है। भारत मे साम्प्रदायिक बिखराव आने से और भी प्रकार की साकेतिक पूजायें चल पड़ी है किन्तु आर्य वश के आदि प्रतीक स्वास्तिक को आधारभूत पाकर जर्मनी ने उसी को अपने सास्कृतिक सम्बल के रूप मे अपनाया।

जर्मन विद्वानो ने यह सिद्ध किया है कि जर्मन शब्द 'शर्मन' शब्द अपभ्रश है। भूतकाल मे वहाँ भारतीय ब्राहाण पहुँचे थे और उस देश का नामकरण करते हुए सास्कृतिक मान्यताओ का सूत्रपात किया था।

हिटलर ने जर्मन जाति को आर्य रक्त की उत्तराधिकारी के रूप मे राजनैतिक रग देकर बहुत उभारा था, यह ठीक है, पर इससे पूर्व भी उस देश के विद्वान बहुत दिनो से भारतीय संस्कृति की ओर असाधारण रूप से आकर्षित रहे है। वे उसके सम्बन्ध मे अधिकाधिक जानने के लिये घोर परिश्रम भी करते रहे है। कहते है कि उनका आकर्षण इसलिये भी अधिक था कि वेद को ज्ञान के अतिरिक्त विज्ञान का भी भण्डागार माना जाता रहा और यह समझा जाता रहा है कि यदि वेद भण्डार के रहस्यमय वैज्ञानिक तथ्यो को जाना जा सके तो भौतिक प्रगति के अनेको सारगर्भित सूत्र हाथ मे आ सकते है। सम्भव है जर्मन मनीषियो ने ज्ञान के साथ विज्ञान का दुहरा लाभ प्राप्त करने की दृष्टि से प्राचीन भारत के आर्य साहित्य की खोजबीन करने मे अधिक उत्साह दिखाया हो।

जो हो यह निश्चित है कि जिस लगन, परिश्रम और मनोयोग के साथ पिछली शताब्दियो में जर्मन मनीषियों द्वारा आर्य-साहित्य की खोज की गयी है वह अनौखी है। संसारभर में अन्यत्र कही से भी उतना उत्साह नही दिखाया गया। यहॉं तक कि भारत मे भी उतनी अभिरुचि और तत्परता नही रही। सस्कृत के अतिरिक्त अन्य किसी भाषा मे वेद का अनुवाद होने का श्रेय जर्मनी को ही मिलेगा। भारत मे हिन्दी भाषा मे जो अनुवाद हुए हैं, उनमे से बहुतों मे प्रायः जर्मन अनुवाद का सहारा लिया गया है।

वेदो की ज्ञान गरिमा और महत्ता से विज्ञ समाज को परिचित कराने, विस्तृत करने मे जर्मन विद्वान प्रो. मैक्समूलर ने असाधारण श्रम और मनोयोग नियोजित किया है। संस्कृत भाषा के इस महापण्डित ने ऋग्वेद का अनुवाद किया। वह सन् १८९४ में प्रकाशित हुआ। इसके अतिरिक्त उन्होने वेद वाङ्मय के महत्वपूर्ण तथ्यो को प्रकाश में लाने के लिये अन्य कई गवेषणा भरे ग्रन्थ लिखे हैं। 'सीक्रेट बुक ऑफ दि ईस्ट' पुस्तकमाला के अन्तर्गत इनका प्रकाशन हुआ है और वह शोध-निबन्धो मे प्राच्य विद्या के सम्बन्ध में बहुत ही प्रामाणिक माने जाते हैं। वेद के इतिहास पर उनका 'गोटेनगन' ग्रन्थ खोजपूर्ण है।

प्रो. मैक्समूलर के ग्रन्थो का सार सन् १८३८ मे डा. रोसेन ने प्रकाशित कराया। इसके बाद कितने ही जर्मन विद्वानो की रुचि वैदिक साहित्य की ओर बढ़ी और उन्होने कितने ही महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ लिखे। हेनरिक स्तिमरा का सन् १८७९ मे प्रकाशित 'प्राचीन भारतीय जीवन और वैदिक युग में आर्यो की आध्यात्मिक संस्कृति' पठनीय है। हैरमण्ड ओल्डेन का 'वेद-धर्म' पुरातन भारत की आध्यात्मिक जीवनचर्या पर प्रकाश डालता है। यह ग्रन्थ सन् १८९४ में छपा। सन् १८९१ में अल्फ्रेड हिलीब्रेण्ड का "भारतीय देवताओ की सामाजिक भूमिका" प्रकाशित हुआ सन् १९२७ से लेकर १९२९ तक जर्मनी की प्रकाश संस्थाओ ने वेदो के कई संस्करण छापे।

'वेद और ब्राह्मणत्व' ग्रन्थ जर्मन विद्वान् के. एल. गोगुनेर ने लिखा। हैफमैन का 'दि विजडम ऑफ दि वेदाज' में जर्मन और भारतीय सस्कृति का तुलनात्मक और समन्वयात्मक विश्लेषण किया गया है। हैरमन लसमेल का 'दि ओल्ड आर्यन ऑफ दि काइण्ड एण्ड देयर गाड्स' ग्रन्थ १९३५ में प्रकाशित हुआ, उसमें वेदकालीन भारतीय गौरव-गरिमा पर प्रकाश डाला गया। हरमैन व्रथद् के 'दि हाउस ऑफ द अर्थ' ग्रन्थ में वेद साहित्य के सम्बन्ध में प्रस्तुत होने वाली अनेक शंकाओ और जिज्ञासाओ का सारगर्भित समाधान है।

सन् १८८८ मे प्राग के कार्ल विश्वविद्यालय ने 'ऋग्वेद' छः खण्डों में प्रकाशित किया। इसे उच्चारण की दृष्टि से बहुत प्रामाणिक माना जाता है। १९१३ में अल्फ्रेड हिलिब्रेण्ड ने भी ऋग्वेद का एक अनुवाद प्रकाशित कराया। कैम्ब्रिज से सन् १९२३ में के. एल गोल्डेनर का ऋग्वेद का अनुवाद दो खण्डों में प्रकाशित हुआ है। ऋग्वेद के काल और इतिहास के सम्बन्ध में एक गवेषणात्मक माल्टट ग्रन्थ भ्रूष्ट ने प्रकाशित कराया है।

अथर्व वेद का जर्मन भाषा में अनुवाद फ्रेडरिक ने किया जो सन् १९२३ मे छपा। जूलियस ग्रिल का आयुर्वेद का अनुवाद पूरा तो नही है पर जितना भी अंश छपा है माननीय है। ग्रिल ने अथर्ववेद के कुछ अंशों का जर्मन भाषा में पद्यानुवाद किया है जो सन् १८७९ में छपा था।

संस्कृत विद्वान पाल डेनसन ने "१६ उपनिषद्" नामक ग्रन्थ छपाया, पर इतने से ही उन्हे संतोष नहीं हुआ। पीछे उन्होने 'उपनिषदों की दार्शनिकता' पर प्रकाश डालने वाला वृहद् ग्रन्थ लिखा और १९१५ में छपाया। एक अन्य जर्मन हर्टेलर ने "उपनिषदों की ज्ञान गरिमा" नामक ग्रन्थ लिखा और सन् १९२१ मे प्रकाशित कराया। उन्ही दिनो विद्वान हिल ब्रोथ ने "भारतीय ब्राह्मण और उपनिषद्" ग्रन्थ प्रकाशित कराया। ब्रोथ का शोध कार्य जारी रहा और उन्होंने १९५१ में और भी अधिक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ "दि ब्रेथ ऑफ द एटलेल" प्रकाशित कराया। इन ग्रन्थो का गम्भीरतापूर्वक अध्ययन करने से पता चलता है कि लेखकों को भारतीय धर्म एवं संस्कृति में कितनी गहरी दिलचस्पी थी और उन्होने तत्सम्बन्धी ज्ञान का उद्घाटन करने के लिये कितना अधिक श्रम किया।

ए. हिल्ले ब्राण्डट् लिखित "वेदिशे माइथालोजी" ग्रन्थ वेद-साहित्य पर अच्छा प्रभाव डालता है। ओल्डन बर्ग, मेक्डानेल, रिचर्ड पिसेल, एल. अल्सफर्ड, हेनरी ल्यूडर्स ने वेद साहित्य में से एक से बढ़कर एक महत्वपूर्ण सन्दर्भ जनसाधारण के सम्मुख प्रस्तुत किये। प्रो. शेक्टेलोविम ने वैदिक सूक्तो की ऐसी सुन्दर व्याख्या की जिसे पढ़कर पाश्चात्य विद्वानो का ध्यान इस अद्भुत ज्ञान की ओर विशेष रूप से आकृष्ट हुआ।

मार्टिन हाग, एच ओर्टल, जुलियस एगलिंग ने ब्राह्मण ग्रन्थो पर शोध कार्य किया। "शतपथ ब्राह्मण" जैसा विशाल ग्रन्थ जर्मन भाषा में "सैक्रेड बुक ऑफ द ईस्ट" सीरीज के अन्तर्गत चार सीरिज मे छपा है। हर्मन ऑल्डेन बर्ग ने "दि वेल्टाशायुजु देर ब्राह्मण टेकस्टे" मे ब्राह्मण ग्रन्थो पर अत्यन्त गम्भीर और विवेचनापूर्ण प्रकाश डाला है।

स्टेन कोनो ने भी जर्मन भाषा में ब्राह्मण ग्रन्थों पर शोधपूर्ण निबन्ध लिखे है। विल्हेम राड लिखित "स्टाट उष्ठ गोसिल्ल शथ इन आल्टेन इण्डियेन" ग्रन्थ में ब्रह्मण ग्रन्थो के दर्शन पर गम्भीर प्रकाश डाला गया है। कार्ल होफमन का अधिकांश समय ब्राह्मण ग्रन्थो के अनुसंधान मे ही बीता।

"एकड् वटिल ड्यूपेरनि" का सम्पादित "५० उपनिषदों का संकलन" जर्मन देश मे बड़े चाव से पढा गया। आर्थर शोपेनहार, ओटो बोथालिकड् हिल्ले ग्राण्डट् योहाल्लेस हर्टेल, एडवर्ड एअर ने उपनिषदो की विवेचना पर सारगर्भित ग्रन्थ लिखे है। पो. पालड्यून का ६० उपनिषदो का समीक्षा सहित अनुवाद ग्रन्थ "दि फिलासफी देर उपनिषद्स" पढ़ने से प्रतीत होता है कि वे इस महान् दर्शन से कितने अधिक प्रभावित थे। उनने अपना नाम बदलकर "देवसेन" रख लिया था। उपनिषद् साहित्य पर ओल्डेन वर्ग का "दि लेअरे देर उपनिषदेन डन्ठ द आन फ्राड्डे देज बुद्धिज्युस" तथा जैकोबी का "दि एण्ड विक्लुग देर गाटेस डी वी देन इण्डर्न" ग्रन्थ पढ़ने से प्रतीत होता है कि इन लोगो ने कितनी गहराई से उन्हे पढ़ा और खोजा है और उनका सारतत्व विज्ञ समाज के सम्मुख रखा है।

वेद, ब्राह्मण, उपनिषदों से आगे बढ़कर जर्मन विद्वानों ने पुराणों पर भी खोज की है और उनमे से कइयो को अनुवाद सहित प्रकाशित कराया है। पुराणो पर समीक्षात्मक तथा गवेषणात्मक ग्रन्थ भी छापे हैं। ज्यूरिथ का पुराणो का जर्मन अनुवाद छापा गया और उसके कई संस्करण प्रकाशित हुए। हाइनरिथ जिमर का "भारतीय पुराण" सन् १९२६ में छापा था। इसे पढने पर पुराणो के काल, उद्देश्य और आधार पर नवीन दृष्टिकोण उपलब्ध होता है।

भारतीय संस्कृति के विभिन्न पक्षो पर प्रकाश डालने वाले कितने ही ग्रन्थ भी जर्मनी मे छिपे है। लेखको ने गम्भीर अध्ययन करके विस्मृत तथ्यो को विज्ञ समाज के सामने खोजपूर्ण सामग्री के रूप मे प्रस्तुत किया है। एफ. फनसेकर का ग्रन्थ "गंगा की कथा" बर्लिन से सन् १८५७ मे प्रकाशित हुआ था। उसमे पवित्र गंगा तथा उससे सम्बन्धित उपाख्यानो पर सारगर्भित प्रकाश डाला गया है। फनसेकर का ही एक दूसरा ग्रन्थ हैम्बर्ग से "भारतीय दर्शन" पर प्रकाशित हुआ है। इसमे पौर्वात्य और पाश्चत्य दर्शन शास्त्रो की तुलना करते हुए भारत के तत्वदर्शियो की सूक्ष्म बुद्धि को मुक्त कण्ठ से सराहा गया है।

"प्राचीन भारतीय साहित्य का इतिहास" नामक ग्रन्थ विक्टर निल्स ने लिखा है। यह इतना महत्त्वपूर्ण है कि उसका अनुवाद अग्रेजी मे हुआ जिससे अग्रेजी भाषी जनता को महत्त्वपूर्ण जानकारी प्राप्त हुई।

जोहान जैकब मेयर ने कौटिल्य के अर्थशास्त्र का अनुवाद किया जो १९२६ मे प्रकाशित हुआ. रिचार्ड स्मिथ ने वात्सायन के कामसूत्र का अनुवाद किया वह सन् १८९७ मे प्रकाशित हुआ। जर्मन भाषा के एक ग्रन्थ "मातग लीला" का भी रोचक अनुवाद उपलब्ध है।

संस्कृत व्याकरण की जटिलता सर्वविदित है। जर्मन विद्वान यह प्रयत्न करते रहे कि उन्हे इस व्याकरण को जर्मन भाषा में उपलब्ध करने में सफलता मिले तो संस्कृत के महत्त्वपूर्ण ग्रन्थो का समझना और उनका सार निकालना संभव हो सके। "जिन खोजा तिन पाइयाँ" की उक्ति के अनुसार इस कार्य मे कई

जर्मन विद्वान लगे और कठोर परिश्रम के बाद अन्ततः उन्होंने सफलता प्राप्त कर ही ली।

डा. कीलहर्न विशेषतया इसी प्रयोजन के लिए भारत आये और उन्होंने अनेक संस्कृत विद्वानों से बड़ी अनुनय-विनय के पश्चात् सस्कृत व्याकरण का ज्ञान प्राप्त किया। इससे पूर्व और भी कई जर्मन, विद्वान इस दिशा मे प्रयास कर चुके थे। इनमे ओटो बोथलिंग अल्ब्रद वेवर, थियोडोर गोल्डस्टकर जो एगलिंग वी. लेक्खि. आर, फ्राके नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। इन लोगो ने भी सस्कृत व्याकरण को जर्मन भाषा मे प्रस्तुत करने के लिये घोर परिश्रम किया था। कीलहर्न ने इन प्रयत्नो मे एक सुनहरी कड़ी और जोड़ दी। उन्होंने पातञ्जलि महाभाष्य पर एक सुन्दर ग्रन्थ लिखा है। वे भारत में बहुत दिनों तक अध्ययन करने के उपरान्त जर्मनी लौट गये और वहाँ उन्होंने प्रो. मैक्समूलर के साथ वेदो के अनुवाद कार्य मे सहयोग दिया । जर्मनी के गार्टिजन विश्वविद्यालय मे वे संस्कृत के प्राध्यापक नियुक्त हुए। इसके अतिरिक्त उन्होंने "एन साइक्लोपीडिया ऑफ आर्यन रिसर्च" नामक ग्रन्थ का सम्पादन किया जो अनेक जानकारियो से परिपूर्ण था।

संस्कृत व्याकरण पर जर्मन भाषा में दो और भी महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ हैं।

(१) एडल्फ स्टेंजलर कृत-"ऐलीमेण्टर बुख दो संस्कृत स्प्राखे" और जैकब वाकर नागेल कृत-"आलटियडशे ग्रेमेटिका"। इन ग्रन्थो के सहारे जर्मन विद्वानो को सस्कृत साहित्य का गहन अध्ययन कर सकने की चाबी मिल गयी।

जर्मनी मे अभी भी भारतीय दर्शन के प्रति गहरी आस्था है। वहाँ ग्यारह विश्वविद्यालयो मे भारतीय भाषाओं के पढ़ाने तथा शोध अन्वेषण की व्यवस्था है। योग विद्या सिखाने वाली पचास पंजीकृत पाठशालायें भी चलती हैं।

जर्मनी के दार्शनिक काण्ट, हीगल शोपनहार, गेटे, शिलर, हेरमेन हेस आदि के विचारों पर भारतीय संस्कृति की गहरी छाप है। यहाँ तक कि बिस्मार्क, लूथर, कार्ल मार्क्स तक ने अपने सुधारवादी दर्शनों मे भारतीय मान्यताओं से प्रेरणा ग्रहण की है। नीत्से जैसा अतिमानववादी नास्तिक तक अपने विचारों की पुष्टि में भारतीय प्रतिपादनो को प्रधाण रूप मे प्रस्तुत करता रहा है।

उपरोक्त पंक्तियो मे जर्मनी मे भारतीय तत्वज्ञान के प्रति असाधारण श्रद्धा को ध्यान में रखते हुए प्रमुखता के साथ चर्चा की गयी हैं पर यह उत्साह न्यूनाधिक मात्रा में योरोप के अन्य देशों मे भी विद्यमान है। अंग्रेजी, फ्रेंच, ग्रीक, लैटिन आदि भाषाओं मे भी आर्य साहित्य के अनुवाद कम नही हुए है। उन देशों के निवासियों में भी भारतीय तत्व दर्शन के समझने की उत्कृष्ट अभिलाषा देखी जाती है। विश्वविद्यालयों के माध्यम से ऐसी शोधें होती रहती है, जिससे भारतीय मान्यताओ का सहज ही प्रतिपादन होता है।

योरोप के कतिपय देशों में ऐसे प्रमाण मिलते रहते है, जिनसे यह सिद्ध होता है कि उस क्षेत्र मे भी समय-समय पर भारतीय पहुँचते रहे है और राजनैतिक आर्थिक एव धार्मिक चेतना उत्पन्न करने के लिये वहाँ के निवासियो की महत्त्वपूर्ण सहायता करते रहे है।

ईसा मसीह के बारे में प्रसिद्ध है कि वे तक्षशिला विश्वविद्यालय के छात्र रहे और वहाँ बौद्ध दर्शन का अध्ययन करके वापिस लौट गये। अपने यहाँ की भाषा और स्थिति के अनुरूप उन्होंने बौद्ध दर्शन के प्रेम अहिंसा आदि सिद्धान्तो का प्रचार, प्रतिपादन अपने ढंग से किया। उनके उत्तराधिकारियों ने उसका नामकरण अपने गुरू के नाम पर "ईसा-धर्म" अथवा "ईसाई धर्म" कर दिया। वस्तुत. भारतीय दर्शन का क्षेत्रीय विचार ही ईसाई धर्म के रूप में विकसित हुआ है और आज योरोप का अधिकाश भाग उस प्रकाश से लाभान्वित हो रहा है।

जर्मनी के प्रायः प्रत्येक कालेज मे सस्कृत भाषा पढ़ाने की व्यवस्था है। संसार मे एक मात्र जर्मन रेडियो ही महीने मे दो बार संस्कृत भाषा मे प्रसारण करता है। ऐसी व्यवस्था स्वयं भारत तक मे नहीं है। इन दिनो भी उस देश मे सस्कृत भाषा के ऐसे उद्‌भट विद्वान मिलेंगे जो हमारे आचार्य परीक्षोत्तीर्ण स्नातकों की सिट्टी-पिट्टी गुम कर सकें।

भारतीय योग और संस्कृति की थोड़ी सी चर्चा करने वाले भी जर्मनी मे बहुत लोकप्रिय हो जाते है।

महेश योगी ने अपना प्रचार करने मे पश्चिम जर्मनी मे ही अधिक सफलता पायी। वहाँ के नागरिको ने एक हवाई जहाज उन्हें भेट किया। वहाँ सामान्य ज्ञान के भारतीय विद्यार्थी योग की चर्चा करके जर्मन नागरिकों से अच्छा धन कमा लेते हैं।

गांधी जन्म-शताब्दी जितने समारोह के साथ जर्मनी में मनायी गयी थी, उतनी शायद ही किसी देश में मनी हो। सरकार ने गाधी जी का टिकट निकाला और वहाँ के रेडियो, टेलिविजन तथा प्रेस ने गाँधी सिद्धान्तो पर पूरे उत्साह के साथ प्रकाश डाला। कॉलेजो मे "गाँधी व्याख्यान मालायें" चली और यह सिलसिला प्रायः एक वर्ष तक चलता रहा।

उस देश में "भारत-जर्मन सोसायटी" एक सुदृढ़ संस्था है, जिसके तीस नगरो मे शाखा कार्यालय है। इस सगठन के द्वारा भारत और जर्मन को सांस्कृतिक दृष्टि से अधिक समीप लाने का प्रयत्न किया जाता है और उस देश में पढ़ने वाले छात्रो के लिये आवश्यक सुविधाये जुटाने का प्रयत्न किया जाता है।

अफ्रीका महाद्वीप में भारतीय संस्कृति

भारतीय महामानवो का जन्म भले ही उदयाचल पर उगते सूर्य की तरह रहा हो, पर वे एक सीमित क्षेत्र की सम्पत्ति बनकर नहीं रहे। उनके सामने "समस्त धरती अपनी, समस्त मानव परिवार-अपना परिवार" का उदात्त लक्ष्य था। इसलिये दुर्गमता से जूझते हुए उन्होंने सुदूर भू-खण्डो तक अपने क्रिया-कलापो को व्यापक बनाने का संकल्प साकार बनाने के लिये अनवरत् रूप से प्रयास किया। "कृण्वन्तोविश्व मार्यम्" का लक्ष्य जिनके सामने हो वे सीमित परिधि मे अवरुद्ध रह भी नहीं सकते।

एक समय था जब भारतीय धर्म-प्रचारक अफ्रीका महाद्वीप मे भी पहुँचे थे और वहाँ स्थिति के अनुरूप भौतिक एव आत्मिक प्रगति के लिये मार्गदर्शन एव सहयोग प्रदान किया था।

प्राचीन काल की अफ्रीकी सभ्यता का विवरण वहाँ उपलब्ध जिन अवशेषो के आधार पर मिलता है, वे यही प्रमाणित करते है कि वहाँ पर सभ्यता का उद्‌भव भारतीयता के अनुगमन जैसा हुआ है। वहाँ की सभ्यतायें, प्रथाये बहुत कुछ ऐसी हैं जिससे पता चलता है कि वे आरंभ मे भारतीय स्तर में ही रही होगी और पीछे बदलते-बिगड़ते इस रूप मे आ गयी, जिन्हें पिछडेपन की निशानी ही कहा जा सकात है।

प्रागैतिहासिक काल मे भारत और अफ्रीका एक ही महाद्वीप मे थे और आवागमन के लिये थल मार्ग सुगम था। भौगोलिक उथल-पुथल ने बीच में समुद्र खडा कर दिया और यातायात के लिये जलयानो की आवश्यकता पडने लगी।

पूर्वी अफ्रीका की भाषा "स्वाहिली" मे हिन्दी संस्कृत भाषा के शब्दों का आश्चर्यजनक बाहुल्य है। वहाँ की लोक गाथाओ और पुरातत्व उपलब्धियों से स्पष्ट है कि किसी समय उस क्षेत्र मे भारतीय संस्कृति का ही प्राधान्य था।

पुरातत्ववेत्ता हूगो ओवरमीर ने अफ्रीका के देवी देवताओ की आकृति का हिन्दू देवताओ से पूर्ण साम्य सिद्ध करने वाले चित्र अपनी पुस्तक मे प्रकाशित किये हैं। लम्बे समय तक अफ्रीका का पर्यटन करने वाली योरोपीय महिला सारा लैटन ने अफ्रीकी भाषा मे सस्कृत शब्दों का भारी सख्या मे समावेश बतलाया है और लिखा है कि उस महाद्वीप के आदिवासियो मे हिन्दुओ की तरह ही हवन का प्रचलन देखा गया है।

अफ्रीका महाद्वीप प्राय ४० देशो मे बँटा हुआ है। उनके पुरातत्व विभागो, संग्रहालयो एव उपलब्ध इतिहासो को ध्यानपूर्वक देखा जाय तो प्रतीत होगा कि इन सब के पीछे भारतीय गरिमा झाँकती है। अफ्रीकी सभ्यता के विभिन्न स्वरूपो को अनेकानेक कबीलो की मान्यताओ और प्रथा परम्पराओ के रूप मे देखा जा सकता है। उनके बीच भिन्नता भी बहुत है। पर यदि उन सबके पीछे मूल तथ्यो का निरूपण किया जाय तो सहज ही इस निष्कर्ष पर पहुँचना पडता है कि वे यह मान्यताये किसी उच्चस्तरीय भारतीय मान्यताओं के अनुकरण के पीछे चलती है। स्पष्ट है कि यदि उच्च आदर्शो की साज-सभाल न की जायेगी तो वे भी मनुष्य की पशुप्रवृत्तियो मे घुलते-मिलते अन्तत. विकृतियो के निकृष्ट स्तर पर आ गिरेगी। रूढियो, मूढताओ, अन्धविश्वासो का इतिहास का यही है कि लोगों ने आदर्श को भुला दिया, प्रचलन मात्र को

अपनाया और पीछे वे प्रचलन विवेकशीलता से हटते-हटते पशुप्रवृत्तियो के सहगामी हो गये। इस प्रकार धर्म प्रचलनो की भी वह स्थिति आ गयी, जिसे अनुपयुक्त एव उपहासास्पद कहा जा सके। अफ्रीका के कबीलो की पिछले दिनों और इन दिनों भी चाहे ऐसी ही स्थिति रही हो तो भी उनकी प्राचीन परम्परा एव दार्शनिकता ऐसी रही है, जिसे भारत की सहगामिनी एवं प्रशंसनीय कहा जा सके। इस तथ्य को अफ्रीका के सम्बन्ध मे शोध कार्य करने वाले प्रायः सभी विद्वानो ने एक स्वर से स्वीकार किया है।

भारतीय महासागर में मैडागास्कर (माला ग्यासी) द्वीपो के निवासी उस क्षेत्र मे रहने वाले लोगो से नही मिलते, उनका रक्त भिन्न है। मैडागास्कर यों अफ्रीका महाद्वीप के समीप है, पर उसके निवासियो की नस्ल भारतीय आर्यो की है। सभ्यता भी वहाँ की भारतीयो जैसी है। नाम भी उनके ऐसे है जो भारतीयो से मिल सके।

जिस प्रकार योरोप में जर्मनी, अमेरीका मे मैक्सिको, भारतीय सस्कृति के केन्द्र-स्तम्भ रहे है, उसी प्रकार अफ्रीका महाद्वीप मे मिश्र देश को भारतीय सस्कृति का केन्द्र माना जा सकता था। उस सुरम्य क्षेत्र को सर्वप्रथम भारतीयो ने ही आबाद किया था। वहाँ भारत वंशी राजा राज करते थे और उस क्षेत्र की जनता भारतीय धर्म की अनुयायी थी। इस्लाम का प्रवेश उस देश मे होने से पूर्व का मिश्र का सारा इतिहास इन्ही प्रमाणो से भरा पड़ा है कि वहाँ भारतीय धर्म की ध्वजा फहराती थी और उसका प्रकाश अर्फ्रीका के सुदूर क्षेत्रो तक पहुँचता था।

भविष्य पुराण खण्ड ४, अध्याय २१ के श्लोक १६ मे ऋषियां के मिश्र मे जाने और वहाँ भारतीय सभ्यता का विस्तार करने का स्पष्ट वर्णन है।

सरस्वत्यज्ञया कण्वो मिश्र देश मुपाययो।
म्लेच्छान् संस्कृत्यं चाभाष्य तदा दश सहस्रकन॥

अर्थात्- "सरस्वती की आज्ञा से कण्व ऋषि मिश्र देश को गये और वहाँ उन्होने दश हजार म्लेच्छो को सुसस्कृत बनाया।"

"हिस्टोरियन्स हिस्ट्री ऑफ दि वर्ल्ड" ग्रन्थ में इस्लाम के प्रवेश से पूर्व की मिश्र की स्थिति पर विस्तृत प्रकाश डाला गया है। इस काल में मिश्री सभ्यता भारत से लगभग पूर्णतया मेल खाती थी। उस देश के नागरिक यह मानते थे कि उनके पूर्वज देव देश से आकर यहाँ बसे थे। उस देव देश का जो वर्णन किया जाता था उसकी भौगोलिक स्थिति तथा सभ्यता की रूप रेखा भारत की स्थिति से सर्वथा मिलती-जुलती थी। वे 'मनस' को आदि शासक मानते थे और उसका आचार-व्यवहार वैसा ही बताते थे जैसा भारत मे। 'मनस्' और 'मनु' का शब्द-साम्य भी स्पष्ट है। मिश्र के पुरातन देवता भी थोड़े शब्द-भेद के साथ वे ही थे, जो भारत मे माने और पूजे जाते है। *वर्ण-व्यवस्था, राज-धर्म, युद्ध-आचार, व्यवहार*-सहिता, धार्मिक सामान्य शिष्टाचार आदि में भारत और मिश्र की सभ्यता इतनी अधिक मिलती थी मानो वे माता और पुत्री अथवा सहोदर बहने ही हों।

इतिहासकार *हिरोडोटस* ने *भारत* और मिश्र की मान्यताओ, परम्पराओ का साम्य सिद्ध करने वाले अनेकानेक प्रमाण और तथ्य प्रस्तुत किये हैं। दर्शन पक्ष तो दोनो का आश्चर्यजनक रूप से एक ही बिन्दु पर केन्द्रित रहा है।

किसी समय मिश्र की नील नदी से लेकर भारत की गंगा के मध्य के समस्त क्षेत्र मे एक ही सभ्यता और भाषा थी। मिश्र, बैबीलोन, सीरिया, मोहनजोदडो मे उपलब्ध शिलालेखो मे एक ही भाषा का प्रयोग पाया जाता है। इससे इस तथ्य की और अधिक पुष्टि होती है कि प्राचीन भारत एशिया, योरोप और अफ्रीका महाद्वीपो तक फैला हुआ था।

एक समय था जब भारत और मिश्र के लोग समान रूप से सूर्योपासक थे। फराऊन शासक सूर्यवंशी थे। पिरामिडो के भीतर सूर्य देवता की प्रतिमाये पायी है। मृतक के सिरहाने सोने के पत्रक पर गौमाता की प्रतिमाये बनी हुई मिली हैं। गाय भी उस नस्ल और आकृति की जैसी भारत मे होती है। लगता है वैतरणी पार करने के लिये गाय की पूँछ पकड़कर पार होने की भारतीय मान्यता का ही यह अनुकरण है।

गनेरा के पिरामिडो के पास एक विशालकाय नरसिंह की मूर्ति है। भारत मे *नरसिह अवतार* का जो स्वरूप वर्णन किया गया है लगभग उसी से

मिलती-जुलती इस विशालकाय प्रतिमा की आकृति है। इसके समीप ही वहाँ एक भव्य मन्दिर है, जिसकी बनावट और व्यवस्था हिन्दू-मन्दिरों और साधना-गृहों जैसी है। इसमे अब मूर्तियाँ तो क्या रह पाती, पर अन्य सब दृष्टियों से उसका मन्दिर होना ही स्पष्ट है। सूर्यवंशी राजाओं का अपने पिरामिडों के समीप नृसिंह की प्रतिमा तथा मन्दिर का निर्माण स्वाभाविक भी था।

मिश्र पर शासन करने वाले "हिस्री" (क्षत्री) राजा सूर्य और वरुण की पूजा करते थे। मन्दिरो की परिक्रमा करने का प्रचलन था। मूर्तियो को स्थापित करने का स्थान 'स्ताना' कहा जाता था। पुजारियो को आदेश था कि स्वच्छ रहा करें। हिस्री राज में मृतकों की चिता जलाई जाती थी और १३ दिन शोक मनाया जाता था। यह शासक अपने को भृगु के वंशज बताते थे। अमेरिकी विद्वान कर्नल अल्काट ने लिखा है कि अब से आठ हजार वर्ष पूर्व हिन्दी सभ्यता मिश्र मे पहुँची थी और उसका विकास मिश्री सभ्यता के रूप में आरम्भ हुआ था।

'अलमरना' की खुदाई मे जो प्रमाण मिले हैं, उनसे स्पष्ट है कि मिश्र के निवासी गौ भक्त और सूर्य पूजक थे। डा प्राणनाथ ने भाषा विस्तार के इतिहास का वर्णन करते हुए लिखा है कि भूतकाल मे मिश्र की राज-भाषा संस्कृत थी। अब भी वहाँ की भाषा में सस्कृत शब्दों की भरमार है। पुराने मिश्र के देवी-देवता हिन्दू-देवताओ के ही अनुरूप एव उनके उत्तराधिकारी है। वहाँ के मन्दिरो की रचना भारतीय वास्तुशिल्प की ही प्रतिकृति है।

काहिरा के पुरातत्व संग्रहालय मे प्राचीन योद्धाओ की जो मूर्तियाँ संग्रहीत है, उन्हें देखकर सहज ही त्रेता और द्वापर के भारतीय योद्धाओं की आकृति एव आयुध अलंकारो के साथ उनकी गहरी संगति बैठ जाती है।

इस्लाम आगमन से पूर्व मिश्र की संस्कृति मे पुरोहितो का वर्चस्व था। उनका सिर मुड़ाना, व्रत-उपवास करना, दिन मे कई बार स्नान करना, चमडे का प्रयोग न करना, मांस न खाना आदि नियमों का पालन भारतीय पण्डित पुरोहितो जैसा ही है। यह पुरोहित 'शेन' कहलाते थे, यह पदवी भारत की 'शर्मा' जैसी ही थी। प्राचीन मिश्र मे पूर्णिमा को होम करना, धर्मोत्सव, दिवाली का दीपदान समारोह, नई फसल आने पर अन्न का हवन, मकर संक्रान्ति का विशाल पर्व, मंगल कलशो का उपयोग, व्रत अनुष्ठान मे अनिवार्य रूप से पत्नी की उपस्थिति, मूर्तियों के जलूस, संगीतमय कीर्तन आदि प्रथाओ को देखते हुए स्पष्ट हो जाता है कि उस देश के साथ भारत की कितनी सास्कृतिक एकता थी? गौ को परम पवित्र और पूजनीय मानना, जूते उतारकर शुभ कार्यों मे सम्मिलित होना, पुष्पहारो का उपयोग, हाथ-मुँह धोकर भोजन करने की रिवाज जैसी अनेक बाते प्राचीन मिश्र मे भारत जैसी ही थी। स्त्रियो के वस्त्र आभूषण वेश-भूषा, सज्जा, वेश-विन्यास, मेहदी रचाना आदि कितने ही प्रचलनो मे भारत के साथ अद्भुत साम्य था।

मिश्र के पिरामिड, मात्र भवन निर्माण कला की दृष्टि से ही अद्भुत नही थे। उनके साथ वह विज्ञान भी साक्षी रूप में भी विद्यमान है, जो उस समय के बढ़े-चढ़े मानवी ज्ञान पर प्रकाश डालते है। सम्राट "खूफू" का वियूप मे बना पिरामिड पृथ्वी के गुरुत्वाकर्षण केन्द्र बिन्दु पर है। उस स्थान से एक सीधी रेखा खींच दी जाय तो गुरुत्वाकर्षण की दृष्टि से पृथ्वी ठीक दो भागो मे विभक्त हो जायेगी। उसकी ऊँचाई इस प्रकार नाप-तोल कर रखी गयी है कि पृथ्वी और सूर्य के बीच की दूरी की गणना सहज में की जा सके। उस दूरी का यह पिरामिड दस हजार लाखवाँ भाग है। इस सख्या की पिरामिड की ऊँचाई से गुणा कर दे तो ९ करोड़ ३० लाख मील दूरी बन जाती है।

मिश्र इतिहास के विशेषज्ञ प्रो. ब्रूसवे ने लिखा है-"ईसा के जन्म से बहुत पहले भारतीयो ने स्वेज मुहाना पार करके मिश्र में नील नदी के उस तटस्थ उपजाऊ क्षेत्र मे अपनी बस्तियाँ बसायी।" ऐसा ही निष्कर्ष अमरीकी इतिहास वेत्ता एडी. मार ने निकाला है। उनका कथन है कि अब से साढ़े तीन हजार वर्ष पुराने ऐसे कितने ही प्रमाण उपलब्ध हैं, जिनसे सिद्ध होता है कि भारतवासी एशिया, अफ्रीका और योरोप के कितने ही देशो में व्यवसाय तथा धर्म प्रचार के लिये

जाया करते थे? वे मिश्र मे गये और बसे। अरब एबीसीनिया आदि मे उन्होने बस्तियाँ बसायी। मिश्र की प्राचीन गुफाओं, देवालय, स्मारक आदि का शिल्प सर्वथा भारतीय मूल का है। इमली की लकड़ी तथा दूसरी ऐसी चीजे इन अवशेषो में मिली हैं, जो उन दिनो केवल भारत मे ही उपलब्ध थी।

पिरामिडों मे सुरक्षित मुर्दे तथा अन्यत्र जहाँ-तहाँ पायी गयी खोपडियो मे से अस्सी प्रतिशत आर्य नस्ल के लोगो की है। पुराणो में जिस कृष्णा नदी का उल्लेख है, वही वर्तमान नील नदी है। कुश द्वीप एक बर्बर देश के नाम से इन ग्रन्थो मे वर्तमान मिश्र देश का उल्लेख *मिलता* है।

हैदराबाद के सैयद जलालुद्दीन भारत से जाकर मिश्र मे बसे और उन्होने वहाँ अरबी साहित्य के नये युग का श्रीगणेश किया। उन्हे उस देश में दो लगनशील शिष्य मिले- रशीद रियाज और जगलूल । इनकी सहायता से उन्होने अरबी साहित्य-सृजन से लेकर उसका प्रचलन, विस्तार करने तक कैं अनेक सूत्रो का सचालन किया। अमरीका और फ्रांस तक मे अरबी के अध्ययन केन्द्र खुल गये। इन्ही के प्रयास से अरबी के दो प्रमुख दैनिक पत्रो का आरम्भ और संचालन भी हुआ। "अल अहराम" और "अल हिलाल" उस देश के इन दिनो भी प्रमुख पत्र हैं।

दुर्भाग्य ने यह परिस्थिति उत्पन्न कर दी जो हृदय के सिकुड जाने पर नस-नाडियो मे रक्त न पहुँचने के कारण शरीर की दुर्दशा की तरह सामने आयी। भारत अधकार युग के गर्त मे धँसता चला गया, धार्मिक क्षेत्रो मे फूट फैली, साम्प्रदायिक विघटन के लिये अनेक मतवादी आगे आये। वैदिक धर्म नष्ट हुआ। धार्मिक एवं दार्शनिक अराजकता फैली। देश मत-मतान्तरों मे विभक्त होता और विखरता चला गया। सास्कृतिक एकता नष्ट होने पर सामाजिक एकता स्थिर रह ही नही सकती। देश मे फूट फैली, व्यक्तिवाद पनपा। सकीर्ण स्वार्थपरता को आश्रय मिला। फलतः अपनी ही समस्याये इतनी उलझ गयीं कि उनका सुलझाना ही कठिन पड़ गया। ऐसी दशा मे सुदूर देशों मे फैले हुए सास्कृतिक विस्तार को पोषण देने की बात कौन सोचता?

इन उलझनों से भारतीय प्रचारको द्वारा अन्य देशों मे पहुँचाने वाला भावनात्मक रक्त-प्रवाह रुक गया और कितने ही देशों की तरह अफ्रीका महाद्वीप के मिश्र आदि केन्द्रो को भी प्रकाश पोषण नही पहुँचा। वे समीपवर्ती आकर्षणो और आक्रमणों के शिकार होते चले गये। अब अफ्रीका मे इस्लाम धर्म की प्रमुखता है। ईसाई धर्म इसके बाद आता है। यह स्वाभाविक भी था। अरब लोग अपने समीपवर्ती इस क्षेत्र मे इस्लाम को लेकर गये और वहाँ के भोले लोगों को अपना अनुयायी बना लिया। पिछले दो सौ वर्षो मे योरोपियन ईसाइयों का प्रवेश हुआ तो वहाँ आधे से कुछ ही कम लोग इस धर्म में भी दीक्षित हो गये। हिन्दू धर्म वहाँ उतना ही है, जो भारतीय मूल के लोगो के साथ पहुँचा है और उन्ही तक सीमित है।

मौरीशस-छोटा भारत

अफ्रीका महाद्वीप के अन्तर्गत २९ मील चौडा ३९ मील लम्बा, ८॥ लाख की आबादी का मौरीशस एक छोटा-सा द्वीप है। इसमें ६० प्रतिशत लगभग ४॥ लाख भारतीय मूल के लोग बसते हैं। भारतीय मे ५३ प्रतिशत हिन्दू है, शेष लोगो मे २५ हजार चीनी, १० हजार गोरे तथा कुछ अफ्रीकी नस्ल के हैं। यह द्वीप भारत से लगभग २ हजार मील मैडागास्कर से ५०० मील है। अफ्रीकी तट से सवा हजार मील दूर है।

पन्द्रहवी शताब्दी तक मौरीशस बिल्कुल वीरान पडा था। वहाँ समुद्री लुटेरे ही कभी-कभी अपना डेरा डालते थे। सोलहवी शताब्दी के आदि मे यहाँ पुर्तगालियो ने बसने का प्रयत्न किया, पर वे समुद्री तूफानो तथा चूहो के उत्पात से डरकर उखड़ गये। इसके बाद १५९८ मे डचो ने बसने का प्रयत्न किया, पर वे भी उसे अस्वास्थ्यकर कहकर चले गये। १७५१ मे फ्रांसीसी यहाँ आये और उन्होने अफ्रीका से गुलाम पकड़कर यहाँ बसाये। सन् १८८० मे अंग्रेजो ने इसे आक्रमण करके हथिया लिया। अंग्रेजो ने भारत से मजदूर लाकर इस देश मे बसाये। ३४९०३६ पुरुष तथा १०४७२८ महिलाये वहाँ लाकर बसायी गयीं। इस प्रकार वहाँ भारतीयो की बस्ती बसती चली गयी।

विदेशी गुलामी से मौरीशस १२ मार्च १९६८ को स्वतंत्र हुआ और उस देश के निवासियो की चुनी हुई सरकार बनी। जिसके प्रधानमत्री भारतीय मूल के श्रीशिवसागर रामगुलाम बने। चाय और चीनी का उत्पादन यहाँ विशेष रूप से होता है।

सन् १७२९ मे मौरीशस पर फ्रांसीसी शासन था। उसी वर्ष भारतीयो का एक दल श्रमिको के रूप मे वहाँ पहुँचा। उसमें बंगाली, बिहारी, उड़िया तथा आसामी लोग थे। पोर्टलुई राजधानी के निर्माण में इन श्रमिकों ने भारी योगदान दिया। इसके बाद १८३४ मे अंग्रेज बहुत से श्रमिकों को ५ वर्ष के ठेके की शर्त पर वहाँ ले गये, इनमें हिन्दी भाषी प्रान्तो के लोग अधिक थे, उसमें भी बिहार के सबसे ज्यादा। उनके साथ भोजपुरी बोली गयी। भोजपुरी और हिन्दी मिश्रित भाषा ही वहाँ उत्तर भारतीयों की भाषा है। उसमे कितने ही फ्रांसीसी भाषा के शब्द भी आत्मसात हो गये हैं। रामायण का अच्छा प्रचलन है, जहाँ-तहाँ रामलोला भी होती है।

कहा जा सकता है कि भारतीय ने ही मौरीशस को बसाया। उन्होने गन्ने की कटाई की और चीनी के कारखाने लगाये। शमारेल की पीली पहाड़ी पर रग-बिरंगी मिट्टी पायी जाती है, उसकी तुलना सूर्य की सतरंगी किरणों से की जाती है, पर वस्तुतः उसके चालीस प्रकार तक के रग गिने जा चुके हैं। इस मिट्टी को सफेद शीशी मे भरें तो इन्द्रधनुष जैसा दिखाई पड़ता है। मौरीशस में एक विचित्र पेड़ है "टालोपोट"। इस पर सौ वर्ष मे एक ही बार फूल आता है और उसके बाद उसकी मृत्यु हो जाती है। खेती में जिधर भी नजर डाली जाय गन्ना ही गन्ना उगा हुआ दिखाई पड़ता है। दस दस मील पर मौसम बदलने वाला यह विलक्षण टापू है। पोर्टलुई में गर्मी है, तो वाक्वा में हलकी ठण्ड और आगे बढे तो क्यूपिय में पूर्ण ठण्ड अनुभव होने लगेगी। मौरीशस का पुराना इतिहास नही है। न वहाँ के कोई आदिवासी है। वर्तमान प्रजा के पूर्वज भारत, अफ्रीका, फ्रांस, मैडागास्कर और चीन से वहाँ पहुँचे थे। इन सबकी अपनी-अपनी भाषा और सस्कृति है। सभी सहिष्णुता पूर्वक मिल-जुलकर रहते है। पहली जनवरी नया वर्ष यहाँ सभी वर्गों का त्यौहार बन गया है। जनता मे धार्मिक रुचि अधिक है। सभी अपने-अपने धर्म-स्थानो में उत्साहपूर्वक जाते है। मन्दिर, मस्जिद और गिरिजाघर भीड़ से भरे रहते हैं।

कीर्तन, स्नान के लिये हिन्दू कम से कम एक लाख की सख्या में समुद्र में स्नान और पूजन के लिये उसी तरह पहुँचते है जैसे भारत मे सोमवती अमावस्या को गंगा आदि नदियों पर धार्मिक लोगों की भीड़ होती है। शिवरात्रि पर दक्षिण मौरीशस के तालाब में नहाने के लिये भी हिन्दू जनता इसी उत्साह के साथ पहुँचती है। साधारणतया पेण्ट पहिनने वाले भी उस दिन धोती पहिनते है, तालाब का जल लेकर अपने घर पहुँचते है तो उनका स्वागत होता है।

पहले वहाँ हिन्दू मृतको को जलाने की व्यवस्था नही थी। अब सभी नगरो मे सुव्यवस्थित शमशान बना दिये गये है। दाह-क्रिया का प्रचलन कराने मे वहाँ की आर्य समाज ने बहुत प्रचार और आन्दोलन किया था। गुजरात की तरह मौरीशस के हिन्दू निवासी अपने नाम के साथ पिता का नाम भी जोड़ते है। मौरीशस के कितने ही नगरो के नाम भारत जैसे ही है। जैसे आनन्द ग्राम, चित्रकूट, कृषि नगर, लालकारी सोनामुखी, महेश्वर नगरी, धारा नगरी, पुरी, मायापुरी आदि।

चार्ल्स डार्विन यहाँ १८३६ में पहुँचे और उन्होने प्रथम बार भारतीयो को देखा। उन्होने अपने भ्रमण-वृत्तान्त में लिखा है कि "मै नही जानता था कि भारतीय इतने सुन्दर होते है।"

एयर इण्डिया के हवाई जहाज साढ़े पाँच घण्टे मे बम्बई से चलकर मौरीशस पहुँचा देते है। पानी के जहाज से अफ्रीका होकर जाना पड़ता है। कभी भारत से मौरीशस जाने मे महीनो लग जाते थे।

सभी धर्मो के लोग सह-अस्तित्व और सहयोग के साथ कितनी अच्छी तरह रह सकते हैं, इस आदर्श की यह देश एक सफल प्रयोगशाला है। फ्रासीसियों के यहाँ के २३ बड़े सुगर मिल है। चीन वाले व्यापार करते है। मुसलमानो का रुझान तिजारत और कारीगरी की ओर है। हिन्दुओ में से अधिकतर कृषि करते है। चाय, तम्बाकू, अदरक का निर्यात होता है, किन्तु चावल

और गेहूँ आयात करना पडता है। आलू अपने काम चलाने लायक हो जाता है। लघु उद्योग पनप रहे है, जिससे वहाँ की समृद्धि बढ रही है। बेकारी की समस्या नही है।

इस टापू की लोक भाषा "किओल" है। विभिन्न वर्गो के लोग जब मिलते है तो "किओल" मे बात करते है। स्कूलो में अंग्रेजी और फ्रेंच पढ़ाई जाती है। अधिकांश स्कूल निजी संस्थाओ द्वारा चलाये जाते है। जिन्हे सरकारी मान्यताये और सहायता उपलब्ध होती है। रेडियो और टेलीविजन पर हिन्दी और भोजपुरी के कार्यक्रम भी चलते है।

ग्रामीण क्षेत्र में रहने वाले हिन्दुओ के घरो के सामने हनुमान जी का भगवा ध्वज गढ़ा दिखाई देता है। रामायण कथा तथा कीर्तन आदि की धूम मची रहती है। उत्साहपूर्वक इसमे जनता भाग लेती है। जो चढावा आता है, उसे धार्मिक विद्यालयों के सचालन मे खर्च किया जाता है। आर्य समाज ने भी इस क्षेत्र मे अच्छा काम किया है। उसके सगठन तथा भवन भी जगह-जगह है, पर वहाँ सनातनी और आर्य समाजी मिल-जुलकर ही समस्त धार्मिक आयोजन करते है। उनमे कट्टरता का विष नही घुला है। रविवार के आर्य समाज सत्संगो मे भी लोग वैसी ही भावनापूर्वक जाते है जैसे कि देवालयो और कथा-कीर्तनो में। होली, दिवाली तथा अन्य त्यौहार भारत की भाँति ही बड़ी धूमधाम से मनाये जाते है। मौरीशसीय हिन्दू सभा-मौरीशस सनातन धर्म टेम्पल फेडरेशन-मौरीशस ब्राह्मण महासभा-भारतीय गगा स्नान समिति आदि सस्थाये उस क्षेत्र मे अपने-अपने ढग से धार्मिक वातावरण बनाने एवं धर्म निष्ठा जागृत करने के लिये प्रयत्नशील रहती है। मौरीशस सनातन धर्म मन्दिर संघ ने एक सुन्दर ग्रन्थ प्रकाशित किया है "मौरीशस मन्दिर चित्रावली" इसमें उस देश के प्रमुख ६७ मन्दिरो के चित्र तथा विवरण प्रकाशित किये गये हैं। इन मन्दिरो का संचालन करने वाली संस्थाओ के अलग-अलग नाम है।

मौरीशस मे "हिन्दी प्रचारिणी सभा" तथा "पोर्टलुई हिन्दी सभा" ने हिन्दी प्रचार की दृष्टि से बहुत काम किया है उस देश में १७५ हिन्दी पाठशालायें चलती है जिनमें "हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग" की परीक्षाये ली जाती हैं। हर गाँव में शिव मन्दिर पाया जायगा। दूसरे देवताओं के भी मन्दिर है। तुलसी कृत रामायण का यहाँ बहुत प्रसार है। स्वामी कृष्णानन्द जी के प्रयत्न से भारतीय जनता ने रामायण की एक लाख प्रतियाँ वहाँ भेजी है, जिन्हे हर घर मे पहुँचाया गया है। "पोर्ट लुइस हिन्दी परिषद्" की ओर से हिन्दी प्रसार का कार्यक्रम उत्साहपूर्वक चलाया जा रहा है। परिषद् की एक त्रैमासिक पत्रिका निकलती है। उसने कुछ पुस्तके भी प्रकाशित की हैं।

आर्य समाज संस्था उस देश मे बहुत समय से काम कर रही है। उसके द्वारा दो कालेज चलाये जा रहे हैं। सन् १९७३ मे वहाँ एक विशाल आर्य सम्मेलन बुलाया गया था, जिसमें भारत से भी बहुत-से लोग गये थे। "सनातन धर्मसभा" का काम श्री विद्यानिवास पाण्डेय के नेतृत्व मे चल रहा है। कितने ही मन्दिर तथा हिन्दी पाठशालायें यह संस्था चलाती है। पौरोहित्य कर्म सिखाने की भी पाठशालाये है। रामकृष्ण मिशन का कार्य इन दिनो स्वामी तत्वबोधानन्द चलाते है। स्वामी कृष्णानन्दजी ने घर-घर रामायण पहुँचाने का प्रयत्न किया है। अन्य कई संस्थाये तथा समाज सेवी उस देश को बौद्धिक तथा भावनात्मक दृष्टि से ऊँचा उठाने में सलग्न है।

ईसाई मिशनरी यहाँ पूरी तरह सक्रिय हैं। भारतीय लोगो को ही ईसाई बनाने मे उन्हें अधिक सफलता मिली है। चीनी, अफ्रीका तथा मुस्लिम सगठन भी वहाँ कई एक है। और भी कई सस्थायें सराहनीय कार्य कर रही है। मोरक्का मे नदी तट पर २२ एकड़ भूमि मे फैला गान्धी इंस्टीट्यूट श्रीनटराजन के सचालकत्व मे चल रहा है। इसमे पुस्तकालय, कला-भवन, सग्रहालय, सभा भवन आदि कक्ष है। भारतीय भाषाओ के पढ़ाने का भी इसमे प्रबन्ध है।

"मौरीशस टाइम्स" इस देश का प्रमुख अंग्रेजी साप्ताहिक पत्र है। प्रो. विष्णुदयाल ने उस देश की परिस्थितियो तथा समस्याओ से सम्बन्धित कई पुस्तकें लिखी है।

सन् १९०१ में गाँधीजी मौरीशस गये और उन्होने अपना भाषण गुजराती में दिया। गांधीजी की प्रेरणा से सन् १९०७ में डाक्टर मणिलाल वहाँ गये। इन्ही दिनो वहाँ आर्य समाज की स्थापना हुई और १५ मार्च १९०९ से प्रथम साप्ताहिक पत्र "हिन्दुस्तानी" का प्रकाशन हुआ। इसके बाद कई पत्र निकले और बन्द हुए। "आर्योदय", "जनता" नाम से साप्ताहिक और "जमाना" (पाक्षिक) पिछले दिनों अपने ढग से चल रहे थे। पं. आत्मारामजी लिखित "मौरीशस का इतिहास" "हिन्दू मौरीशस" पुस्तकों से वहाँ के भारतीयों की स्थिति तथा भूमिका पर प्रकाश पड़ता है।

आस्ट्रेलिया महाद्वीप के भारतीय

आस्ट्रेलिया महाद्वीप का आधुनिक इतिहास योरोपियन जातियों के उस क्षेत्र में प्रवेश करने के साथ आरम्भ होता है, पर इससे पूर्व वहाँ जनशून्य स्थिति नहीं थी। वहाँ ऐसे लोग बसे हुए पाये गये, जो आधुनिक शिक्षा और सभ्यता की दृष्टि से पिछड़े हुए भले ही कहे जाये, पर उनकी अपनी एक विशिष्ट जीवन-यापन पद्धति थी।

आस्ट्रेलिया के आदिवासियों की मान्यतायें भारतीयों से मिलती-जुलती हैं। वे हर जीव में तथा पदार्थ में एक आत्मा का निवास मानते है और उसके प्रति पूरी श्रद्धा व्यक्त करते है। वृक्षों का पूरा सम्मान किया जाता है। यहाँ तक कि उनके चिकित्सक यदि किसी वृक्ष की अस्वस्थता दूर करने के लिये नर रक्त सेवन की अवस्था बताते है तो परिवार के युवक अपना रक्त देने मे प्रसन्नता भरा सौभाग्य अनुभव करते है।

मृतक संस्कार करते समय मुर्दे का मुण्डन कराया जाता है और परिवार के लोग भी मुण्डन कराते हैं। मृतक का दाह-संस्कार करने के लिये उसकी पूरी झोपड़ी को ही जला दिया जाता है। उनका 'बूमरांग' अस्त्र शब्दभेदी वाण का काम करता है। वहाँ के आदिवासी उसे बनाने और चलाने मे विशेष प्रवीणता प्राप्त करते है। वह घुमावदार यात्रा पथ बनाकर सनसनाता हुआ जाता है और अचूक निशाना बेधता, अथवा चलाने वाले के पास वापस लौट आता है। इस कौशल को देखकर विविध प्रकार के चातुर्य कौतूहल दिखाने वाले लोग भी अवाक् रह जाते है।

आस्ट्रेलिया के निवासियो का कोई लिखित और प्रामाणिक इतिहास तो उपलब्ध नही है, पर जो कुछ पुरातन अवशेष उस महाद्वीप मे पाये जाते है, उनसे सहज ही यह निष्कर्ष निकलता है कि वर्तमान आदिवासियो के पूर्वज सुयोग्य भी रहे हैं और सुसंस्कृत भी। उनकी अभिरुचि और क्रिया पद्धति का प्राचीन भारतवासियों के साथ बहुत कुछ साम्य प्रतीत होता है और यह निष्कर्ष है कि वे प्रागैतिहासिक काल में भारत से ही जलयात्रा करते हुए वहाँ पहुँचे थे। भारतीय आदिकाल से ही नौकानयन विद्या में पारंगत रहे है और सुदूर देशो से अपना सम्पर्क बनाये रहे है। जल मार्ग से उनका यातायात क्रम बड़े उत्साहपूर्वक चलता था। आस्ट्रेलिया मे भी वे इसी भू-भ्रमण उत्साह को लेकर पहुँचे होगे और धरती माता के प्रत्येक क्षेत्र को मानव प्राणियों द्वारा सुविकसित बनाने का लक्ष्य लेकर वहाँ बस गये होगे।

मध्यकाल मे भारत के साथ उनका सम्बन्ध टूट जाने से विकास के आवश्यक साधन उपलब्ध नही रहे होगे और परिस्थितियों की जटिलता ने उन्हें क्रमशः पिछड़ेपन के गर्त में धकेल दिया होगा। साधनहीन होने पर भी आस्ट्रेलियाई आदिवासी लम्बी अवधि तक प्रकृति के साथ संघर्ष करते हुए अपना अस्तित्व बनाये रहे, यह भी उनकी कम साहसिकता और कम सूझ-बूझ नही मानी जायेगी।

आधुनिक आस्ट्रेलिया की खोज सन् १७७० मे जेम्स कुक नामक अंग्रेज नाविक ने की और अपने देश के आधिपत्य का झण्डा वहाँ जाकर गाड़ा। इसके बाद अंग्रेज वहाँ बसने लगे और अपनी बस्तियाँ बसाने लगे। सन् १८४० मे वहाँ सुव्यवस्थित अर्थ-व्यवस्था स्थापित हो सकी। सर्व प्रथम भेड़ पालने का उद्योग वहाँ बड़े पैमाने पर आरम्भ किया गया। कृषि की व्यवस्था भी बनायी गयी। १८२३ में संविधान बना और विधिवत् शासन-तत्र स्थापित हुआ। इंग्लैण्ड का राजा ही वहाँ का राजा था। चुनाव सर्वप्रथम सन् १९०१ मे हुआ। अब वहाँ प्रजातंत्र है, पर वह ब्रिटिश कामन वैल्थ के अन्तर्गत ही है। आस्ट्रेलिया क्षेत्र मे

६०० टापू है। इनमे से १३ को पर्यटकों के लिये विकसित किया गया है।

आस्ट्रेलिया का क्षेत्रफल भारत की अपेक्षा दूने से भी अधिक है किन्तु आबादी नगण्य, कुल एक करोड़ बीस लाख। यह जनसख्या उतनी है जितनी बम्बई, कलकत्ता और दिल्ली इन तीनो शहरों को मिलाकर होती है। यहाँ जलवायु बहुत अच्छा है। पुरुष की औसत आयु ६८ वर्ष और स्त्रियो की ७४ वर्ष है। जीवन स्तर ऊँचा है, फिर भी जन्म दर बहुत कम है। लोग सीमित संख्या मे ही बच्चे उत्पन्न करने का पूरा ध्यान रखते है।

इस देश मे अधिकाश अग्रेज ही बसे है। वे ६७ प्रतिशत है। इसके बाद इटली, जर्मनी हालैण्ड, अमेरिका तथा योरोप के अन्य देशो के निवासी है। अब बाहर के लोगो को बहुत कम ही प्रवेश करने दिया जाता है। यहाँ एशियाई लोगो की सख्या कुल मिलाकर ७ लाख है। इनमें कुछ भारतीय कृषक और श्रमिक भी है, कुछ नौकरी, व्यवसाय भी करते है।

जब जेम्स कुक वहाँ पहुँचा था, तब आस्ट्रेलिया के मूल निवासी तीन लाख से अधिक थे। कत्लेआम मे वे मुट्ठी भर ही बच सके। इसके बाद उनकी नस्ल को जीवित रखने के लिये वैसे ही प्रयत्न हुए जैसे कि अब भारत मे सिंह आदि की रक्षा के लिये किये जा रहे है। पिछले पचास वर्ष से उन्हे शान्ति से जीवित रहने का अधिकार मिला है। इस अवधि मे वे बढने लगे है और एक लाख चालीस हजार की संख्या में जा पहुँचे। ये लोग दुर्गम वन्य-प्रदेशो मे खानाबदोश जैसा जीवन-यापन करते हुए निर्वाह करते है। अब उन्हे नागरिक जीवन-यापन करने का अभ्यस्त बनाया जा रहा है।

आस्ट्रेलिया और एशिया के बीच समुद्र की दूरी बहुत दिखाई पडती है, पर सुदूर पूर्व मे जावा, सुमात्रा आदि द्वीपो मे होकर जलमार्ग से वहाँ पहुँचना बहुत लम्बा नही, बीच-बीच में पडने वाले द्वीपो में ठहराते हुए आस्ट्रेलिया तक की लम्बी यात्रा अभी मध्य स्तर की नौकाये कर सकती है। प्राचीन काल में भारत का विस्तार स्वर्ण द्वीप समूहो तक हो चुका था। उस मार्ग से प्राचीन भारतीय आस्ट्रेलिया तक पहुँचे हों तो कुछ आश्चर्य नही। संसार भर के भूखण्डों को समुन्नत बनाने की महत्त्वाकांक्षा उन्हें इस दुर्गम एवं अविज्ञात समझे जाने वाले क्षेत्र मे ले पहुँची हो तो यह कोई असम्भव बात नही है।

अंग्रेजी शासन-काल मे प्रोत्साहन पर कुछ भारतीय श्रमिक भी वहाँ पहुँचे और उसी देश के नागरिक बनकर वहाँ बस गये। उन भारतीय मूल के लोगों की पीढ़ियाँ अब उसी देश की पूर्ण नागरिक हैं। आस्ट्रेलिया के 'बुलगेलाते' कस्बे मे सिखो के दो गुरुद्वारे है। यहाँ पंजाब से आये हुए सिखो के ४० हजार परिवार स्थाई निवासी बनकर बस गये है। पहले एक ही गुरुद्वारा था, पर अब परस्पर की फूट ने उन्हे भी दो भागो में विभक्त कर दिया है। गिरिजाघरों की तरह यहाँ भी रविवार को पूजा-पाठ होता है।

समय-समय पर अभी वहाँ अन्य देशवासी विशेष प्रयोजनों के लिये जाते रहते है। नौकरी, शिक्षा, पर्यटन आदि कई प्रयोजनो के लिये अन्य देशो से लोग वहाँ पहुँचते है, जिनमें भारतीय भी शामिल हैं। इन्हे स्थायी रूप से नही रहने दिया जाता। नियत समय तक ठहरने की सुविधा उन्हे मिलती है। गोरे लोगो की तुलना मे भारतीयो को और भी कम सुविधा मिलती है।

इस परिस्थिति मे भी लगभग १५ हजार भारतीय उस देश मे रह रहे है। १९८१ की जनगणना के अनुसार आस्ट्रेलिया मे हिन्दुओ और सिखो की सयुक्त संख्या २२६८० थी, जिनमे पुरुष १४७८० और स्त्रियाँ ७९०० थी। उस देश की कुल जनसख्या एक करोड़ अट्ठाईस लाख के करीब थी।

नवीनतम जानकारी के अनुसार उस देश मे ३३३९ भारतीय व्यक्ति तकनीकी कार्यो मे और ३७८४ उत्पादन एव व्यापार मे सलग्न हैं। शेष उनके आश्रित परिवारीजन है।

भारतीय संस्कृति का विराट् विस्तार

भारतीय प्रतिभाये 'वसुधैव कुटुम्बकम्' की भावना को हृदयंगम करके जहाँ कहीं पिछड़ापन देखा वहीं दौड़-दौड़कर पहुँचती रही है। हमारे पूर्वजो का घर-परिवार कुछ व्यक्तियो या कुछ इमारतों तक सीमित न था। वे समस्त विश्व को अपना घर मानते थे और अपने को विश्व नागरिक के रूप में समझकर समस्त संसार को समुन्नत करने का उत्तरदायित्व अनुभव करते थे। भारत की भौगोलिक सीमाओ के अन्तर्गत तो उनके कल्याणकारी क्रिया-कलाप गतिशील रहते ही थे, पर वे उतनी छोटी परिधि मे सीमित नही रहते थे। समस्त मानव जाति मे आत्मीयता की भावना रखते हुए वे धरती के एक छोर से दूसरे छोर तक प्रयाण करते थे और जहाँ कही पिछड़ापन देखते वही उसे मिटाने के लिये डट जाते। अपने को पूरी तरह खपाकर भी अभावो को समुन्नत स्थिति मे बदलते थे।

अज्ञान और अभावों की निवृत्ति के लिये, प्रगति तथा समृद्धि का सम्वर्धन करने के लिये भारतीय प्रतिभाये निरन्तर विश्व के कोने-कोने मे पहुँचती रही है। इसका विवरण इतिहास के पृष्ठो मे भरा पड़ा है। भारतीय धर्म पुराणो मे भी उन प्रमाणो और प्रयासो का विस्तृत विवरण मिलता है यथा अमेरिका से व्यास ऋषि ने अपने पुत्र शुकदेव को मोक्ष धर्म का उपदेश लेने के लिये भारत मे मिथिलापुरी मे राजा जनक के पास भेजा। यात्रा के उन देशो का क्रमश वर्णन है कि—

स तं व्राह्मण श्रिया युक्तं व्रह्मणा तुल्य वर्चसम्।
मेने पुत्रं यदा व्यासो मोक्षधर्म विशारदम्॥
उवाच गच्छेति तदा जनकं मिथिलेश्वरम्।
स ते वक्ष्यति मोक्षार्थं निखिलं मिथिलेश्वरः॥
मेरोर्हरेश्च द्वे वर्षे वर्ष हैमवतं तत.।
क्रमेणैव व्यक्तिक्रम्य भारतं वर्षमासदत्॥
स देशान् विविधान पश्यंश्चनिहूणनिषेवितान्।
आर्यावर्तमिमं देशमाजगाम महामुनिः।
पितुर्वचनमाज्ञाय तमेवार्थं विचिन्तयन्॥
अध्वानं सोऽतिचक्राम खचरः खेचरन्निव॥

(महा. शान्ति प. मोक्ष अ.३२३ ।२९)

"व्यास ऋषि ने ब्राह्मीश्री से युक्त ब्रह्मतुल्य, तेज वाले अपने पुत्र शुकदेव को मोक्ष धर्म मे विशारद, प्रवीण समझा और उससे कहा कि मिथिला के राजा जनक के पास जा, वह तेरे लिये समस्त मोक्ष विषय को बतलायेगा। वह यह सुनकर शुकदेव मिथिला की ओर चल पडे। मार्ग मे मेरुवर्ष और हरिवर्ष इन दो देशों को पुनः हैमवत देश को क्रमशः लांघकर भारतवर्ष मे आये एवं चीन, हूण जनो से सेवित भिन्न-भिन्न देशो को देखते हुए आर्यावर्त देश मे आये। पिता के वचन को मानकर उसी लक्ष्य को ध्यान में रखते हुए पक्षी की भाँति लम्बी यात्रा की।

अमेरिका के पुरातत्व वेत्ता उस देश के प्राचीन इतिहास मे 'मय' सभ्यता का समुन्नत विस्तार स्वीकार करते है। इस सम्बन्ध मे अनेकों अवशेष, साक्षियाँ प्राप्त हुई है। मैक्सिको निवासी अभी भी अपने को 'मय' का वशज मानते है। इस मय जाति और उसकी सभ्यता का निर्यात भारत से ही हुआ है।

प्राचीन भारत मे असुर सभ्यता प्रख्यात् थी। उसका देव जातियो के साथ दीर्घकालीन सघर्ष चलता रहा है। मय असुरो का ही एक समुन्नत वंश था। महाभारत मे इस वश की चर्चा आयी है। इन्द्रप्रस्थ का राजप्रसाद कभी 'मयो' के ही आधिपत्य में रहा है। उज्जैन में सन् १९३८-३९ मे पुरातत्व द्वारा करायी गयी खुदाई मे जो मुद्राये मिली उनमे 'मय' शासको का उल्लेख है। ज्योतिष के प्रमुख ग्रन्थ "सूर्य सिद्धान्त" का निर्माता मयासुर माना गया है। उसका काल ईसा से एक शताब्दी पूर्व कहा जाता है। "सूर्य सिद्धान्त" के आरम्भ मे इस ग्रन्थ निर्माता तथा प्रयोजन के विषय मे कहा गया है—

"अल्पावशिष्टेतु कृते मय नाम महासुरः।"

अर्थात्—"जो थोड़ा शोध कार्य शेष रह गया था उसे मयासुर ने पूरा किया।"

पाचवी शताब्दी के ज्योतिर्विज्ञान वेत्ता आचार्य वराहमिहिर ने मय, यवन आदि पण्डितो की चर्चा की है—

मय भवन मणित्थ शक्ति पूर्वे दिवस।
करादिषु वासराः प्रदिष्टः इसी नर ॥

प्राचीन काल मे मलाया प्रायद्वीप के अनेक टापुओ मे सोने की खदाने थी। वे गहराई तक खोदी गयी और लगता है, उनमे से प्रचुर स्वर्ण सम्पदा निकाली गयी है। अँग्रेजी विश्व कोष मे इस खुदाई के बारे मे है मत व्यक्त किया गया है। कि "यह कार्य भारतीयो के कौशल का है ही उस समय उस क्षेत्र पर छाये हुए थे।" इस स्वर्ण दोहन का उल्लेख "स्कन्ध पुराण" के नागर खण्ड १९४वे अध्याय मे मिलता है—

तेऽत्र स्वर्णस्य लोभेन देवता दर्शनाय च।
नित्यं चैवा गमिष्यन्ति त्यक्त्वा रक्ष. कृतं भयम्॥

अर्थात्—"भारतवासी स्वर्ण सम्पदा लाने और देव-दर्शनो का प्रयोजन पूरा करने के लिए राक्षसो का भय त्यागकर उस क्षेत्र मे निरन्तर आवागमन रखते थे।"

स सर्वान् म्लेच्छ नृपतीन सागर द्वीप वासिन।
करमाहारयामास रत्नानि विविधानि च ॥

अर्थात्—"भीम ने समुद्र मे बसे हुए अनेक द्वीपो को जीतकर वहाँ के म्लेच्छ राजाओ को वशवर्ती करके कर एव रत्नादि प्राप्त किये।"

महाराज विक्रमादित्य की प्रशसा मे किसी कवि ने कहा है—

नौका लक्ष्य चतुष्टयं विजयिनो यस्य प्रयाणेऽभवत्।
सोयं विक्रम भूपति र्विजयेत नान्यो धरित्री तले ॥

अर्थात्—"जिन महाराज विक्रम द्वारा दिग्विजय करते समय चार लाख नौकाओ का प्रयोग किया गया उनकी जय हो।"

द्रोपदी युधिष्ठर से कहती है।

जम्बूद्वीपो महाराज नाना जनपदै युत।
त्वया पुरुष शार्दूल दण्डेन मृदित. प्रभो॥
जम्बू द्वीपेन सदृशः क्रौंच द्वीपो नराधिप।
अधरेण महामेरो दण्डेन मृदितस्त्वथा॥
द्वीपाश्चं सान्तर द्वीपा नाना जनपदाश्रयाः।
विगाह्य सागरं वीर दण्डेन मृदितस्त्वया॥

—महाभारत

अर्थात्—"हे महाराज! युधिष्ठिर! आपने जम्बू-द्वीप को जीतकर आबाद किया। फिर क्रोच द्वीप, शाक द्वीप और अन्यान्य द्वीप-उपद्वीपो को सागर पार जाकर बसाया।"

शका यवन काम्बोजास्तत. क्षत्रिय जातय.।
वृषलत्वं परिणता ब्राह्मण नाम दर्शनात्॥

—महाभारत अनुशासन पर्व

अर्थात्—"शक, यवन, यूनानी, कम्बोडिया, निवासी पहले क्षत्रिय थे। पर जब वहाँ ब्राह्मण नही पहुँचे तो वे कर्तव्यच्युत होकर अन्य धर्मावलम्बी बन गये।"

अंग द्वीपं यव द्वीपं मलय द्वीपमेव च।
शंख द्वीपं कुश द्वीपं वराह द्वीप मेव च॥
एवं षडेते कथित अनुद्वीप. समन्तत ।
भारत द्वीप देश वै दक्षिणो बहु विस्तर ॥

—वायु पुराण

अर्थात्—"भारत द्वीप के दक्षिण महासागर मे बहुत से द्वीप फैले है। अग द्वीप, कुश द्वीप, यव द्वीप, मलय द्वीप, शख द्वीप, बराह द्वीप—यह छः द्वीप भारत के अनुद्वीप (उपनिवेश) है।"

आजकल जिस देश को लका कहा जाता है उसका प्राचीन नाम सिहल द्वीप है। पर भारत मे लका और सिहल द्वीप को अलग-अलग माना गया है।

सिंहलान वर्वरान् म्लेच्छान् य च लंका निवासिन।

—महाभारत वनपर्व अ५१ श्लोक २२२

इसमें सिंहलद्वीपवासियों को, तातरियों को, म्लेच्छो को, लंका निवासियो को अलग-अलग करके गिना गया है। इसी प्रकार का वर्णन मारकण्डेय पुराण (अध्याय ५८) मे आता है—

लंका काल जिनाश्चैव शैलिका निकटास्तथा।
ऋषभा. सिंहलाश्चैव तथा कांची निवासिन.॥

अर्थात्—"लंका, कालजिन शैलिक, ऋषभ, सिंहल, काची आदि के निवासी।"

पाण्डवो द्वारा आयोजित राजसूय यज्ञ में सिंहल द्वीप के राजा ने बहुमूल्य रत्न और मोती भेट स्वरूप भेजे थे, इसका उल्लेख महाभारत के समापर्व मे आता है—

समुद्र सारं वैदूर्य संघास्तथैव चे।
शतशश्च कुथांस्तत्र सिंहला. सभुपाहरन्।

वाल्मीकि रामायण मे भी दक्षिण महासागर के महाद्वीपो का वर्णन रोचकतापूर्वक किया गया है—

यत्नवन्तो यवद्वीप-सप्त राज्योपशाभित.।
सुवर्ण रूप्यक द्वीपं सुवर्ण कर मंडितम्॥
यवद्वीप मतिक्रम्य शिशिरो नाम पर्वत:।
ततो रक्त जल प्राप्य श्रोणाख्यं शीघ्र वाहिनम्॥
गत्वा पारं समुद्रस्य सिद्धचारण सेवितम्।
पर्वत: प्रभवा. नद्य: सुभीम बहु निष्करा ॥
तत. समुद्र द्वीपोश्च सुभीमान्द्रष्टुमहथ॥

उपरोक्त श्लोको मे स्वर्णद्वीपो की शृंखला मे गिने जाने वाले जावा आदि टापुओं की प्राकृतिक शोभा, सम्पदा एव स्थिति का वर्णन है। उस क्षेत्र मे पहुँचती रहने वाली प्रतिभाओ के द्वारा यह विवरण प्रस्तुत किये जाते रहे है।

इस प्रकार के अनेक उल्लेखो से यह सहज ही प्रमाणित होता है कि भारतीय प्रतिभाये विश्व के कोने-कोने मे धर्म परायणता, शासकीय सुव्यवस्था, अर्थ समृद्धि एवं कला, शिल्प, विज्ञान आदि की अभिवृद्धि के लिये निरन्तर लम्बी यात्राये करती रही है और संसार भर के मनीषियो एवं शासको की आवश्यक सहायता प्राप्त करने के लिये भारत में आवागमन होता रहा है।

बौद्ध धर्म का उदय एक क्रान्तिकारी अवतरण

जिन दिनो भारतीय वर्चस्व अधोपतन के गर्त मे औंधे मुँह गिर पडा था और उसकी दुर्दशा से दूरवर्ती क्षेत्रो मे विविध विश्व नारकीय विकृतियो उत्पन्न हो रही थी, उन्ही दिनो एक महान् क्रान्ति का अवतरण हुआ। यह क्रान्ति भगवान बुद्ध के नेतृत्व मे प्रकट हुई। स्थिति को बदला जाना आवश्यक था। ऐसी व्यापक आवश्यकताओं की पूर्ति सुगठित क्रान्तियाँ ही सम्पन्न करती है। उसका नेतृत्व श्रेय किसी को भी क्यो न मिले पर वस्तुत: उस परिवर्तन अभियान मे जन-भावना का उभार ही काम करता है। यह अलग बात है कि उसे उभारने वालो की अग्रिम पक्ति में कौन था? नेतृत्व किसने किया और श्रेय किसे मिला?

यह आवश्यकता अनुभव हुई कि प्रतिगामी परिस्थितियो को बदला जाय। भारत के प्राचीन वर्चस्व और कर्तव्य का पुनरुद्धार किया जाय। सत्र्याप्त विकृतियो और विपत्तियो का निराकरण किया जाय। इसके लिये आँधी-तूफान जैसे परिवर्तन अभियान की आवश्यकता थी। वह भगवान बुद्ध के अन्त.करण मे सर्व प्रथम एक चिनगारी के रूप मे फूटी और देखते-देखते सुविस्तृत दावानल के रूप मे प्रखर एव प्रचण्ड हो गयी।

समय की पुकार ने एक सामान्य स्थिति और सामान्य स्तर के राजकुमार का अन्त:करण छुआ। इस भाव-विभोर ने ठान ठानी कि वह वैयक्तिक सुख-सुविधाओ का त्याग करेगा, अपने परिवार को भी कठिनाइयाँ सहने को बाध्य करेगा और उस कष्ट मार्ग पर चलेगा जिस पर चलते हुए बीज गलता है और अपने अस्तित्व को दूसरो की सुख-सुविधा के लिये अभिनव वृक्ष के रूप मे परिणित कर देता है। इसी भार व साहसिक सकल्प का नाम भगवान बुद्ध का अवतरण है। यो बाहर बुद्ध-चरित्र एक व्यक्ति विशेष का विशिष्ट कर्तव्य दिखा पड़ता है, पर वस्तुत: तात्विक दृष्टि से उसे एक विद्रोह ही कहना चाहिये, जिसने तात्कालिक विकृतियो का उन्मूलन करने वाली एक ज्वाला के रूप मे जन्म लिया था। समय-समय पर

भगवान के अवतार भी इसी प्रयोजन के लिये होते रहते हैं। धर्म की स्थापना का दूसरा पक्ष अधर्म का उन्मूलन है। दोनो पक्षों को मिलाकर एक पूरी बात बनती है। भगवान बुद्ध ने सामयिक विकृतियो के प्रति विद्रोह एव सघर्ष खड़ा किया, साथ ही ऐसी भावनात्मक नव-निर्माण की आधार शिला भी रखी जिस पर मानवी गरिमा का सुदृढ़ दुर्ग पुनः स्थापित किया जा सके। इस उभय पक्षीय अभियान का नाम ही बुद्ध भगवान का अवतरण है भारतीय इतिहास मे इस अवतरण को असामान्य और अति महत्वपूर्ण माना जाता रहेगा।

अन्धकार युग की विकृतियों के कारण उत्पन्न हुए असंतुलन का निराकरण करने के लिये अतीत की अगणित महाक्रान्तियो की तरह अब से कोई ढाई हजार वर्ष पूर्व एक क्रान्ति भगवान बुद्ध के नेतृत्व में हुई। उन्होने तत्कालीन अनाचार को ध्यानपूर्वक देखा, उसके दुष्परिणामो को समझा और प्रवाह को बदलने के लिये अपनी सम्पूर्ण साहसिकता एवं सद्भावना प्रयुक्त करते हुए जुट गये। सदुद्देश्य के लिये जब कोई प्रामाणिक व्यक्ति आगे आता है, अपनी निःस्वार्थ परमार्थ निष्ठा एव दूरदर्शितापूर्ण रूपरेखा से जनमानस को प्रभावित करता है, तो अगणित साथी, अनुयायी कदम से कदम, कन्धे से कन्धा मिलाकर साथ चलने के लिये तैयार हो जाते है। भगवान बुद्ध चले तो अकेले पर उन्हे साथियो, अनुयायियो की कमी नही रही।

भगवान बुद्ध के अवतरण युग मे सर्वत्र अवांछनीयता का बोलबाला था। धर्म का आडम्बर ओढ़कर अधर्म का नग्न नर्तन चल रहा था। भारतीय धर्म अपना मानव धर्म जैसा शाश्वत स्वरूप खो चुका था। अन्धविश्वासो और रूढियो को ही धर्म का पर्यायवाची माना जाने लगा था। गुण-कर्म-स्वभाव के आधार पर विनिर्मित वर्ण-व्यवस्था के स्थान पर जन्म जाति की ऊँच-नीच छूतछात पनप गयी थी। जातियो-उपजातियो के नाम पर देश के सहस्रो टुकड़े होकर बिखर रहे थे। जातियो के लिये अलग-अलग कानून और अधिकार, सुविधा और प्रतिबन्ध ऐसे बने थे जिनमे न्याय और औचित्य की बेतरह अवज्ञा की गयी थी। ब्राह्मण अत्यधिक सुविधा और सम्मान के पात्र थे। क्षत्रियों को हर तरह की मनमानी करने की छूट थी। शूद्रों और अछूतों के अधिकार लगभग पशुओं जितने ही सीमित रह गये थे। साधना के नाम पर स्वेच्छाचारी तांत्रिक वाममार्ग का बोलबाला था। यज्ञ का पवित्र धर्मकृत्य निरीह पशुओं को भून खाने की भट्टी मात्र रह गया था। अविवेक और अनाचार की दिशा में बहते हुए इस प्रवाह ने नीति, न्याय और औचित्य का गला घोंट दिया था । ऐसे समय मे भगवान बुद्ध जन्मे। चारो ओर छाये इस सघन अन्धकार को देखा उनकी आत्मा छटपटाने लगी। उन्होंने अपनी आहुति देकर अंधकार से लडने का निश्चय किया। व्यक्तिगत सुख-सुविधाओ और महत्वाकाक्षाओ को तिलांजलि देने के बाद ही मनुष्य किन्ही महान् आदर्शो को पूरा कर सकने मे समर्थ होता है। बुद्ध ने उसी शाश्वत मार्ग को अपनाया, वे अपने राज-वैभव और पारिवारिक सुख को ठुकराकर युग की पुकार को पूरा करने के लिये घर छोडकर निकल पडे और निश्चय किया कि वे अपने लिये, अपने छोटे परिवार के लिये नही जियेगे, वरन् लोक-मंगल के लिये ही उनका समग्र समर्पण होगा।

दूसरा कदम भगवान बुद्ध ने यह उठाया कि अपने को महान् प्रयोजन की पूर्ति के लायक क्षमता सम्पन्न बनाने में जुटा दिया। उन्होने तप किया, अपने उन दोष-दुर्गुणो को धोया जिनके रहते सार्वजनिक सेवा विषाक्त हो जाती है और हित साधन करने का उद्देश्य उल्टा अहितकर परिणाम प्रस्तुत करता है। ज्ञान की साधना परमार्थ परायण व्यक्ति के लिये आवश्यक है। आत्म-निरीक्षण, आत्म-सुधार और आत्म-विकास की चतुर्विधि तपश्चर्या से ही आत्मा को परमात्मा स्तर तक पहुँचाया जा सकता है। इस प्रकार आत्मिक दृष्टि से ऊँचा उठा हुआ व्यक्ति ही स्वपर कल्याण कर सकने मे समर्थ होता है।. बुद्ध इस महासत्य को जानते थे इसलिये वे गृह त्याग के उपरान्त बोधि गया में बोधि द्रुम के नीचे बैठकर सत्य का प्रकाश पाने के लिये साधनारत हो गये। यहाँ उन्हे बुधत्व प्राप्त हुआ। वे राजकुमार गौतम से बदलकर भगवान बुद्ध बन गये।

तीसरा कदम बुद्ध का था—धर्म-चक्र-प्रवर्तन। लोक-मानस मे छाई हुई काली घटाओ को निरस्त करने

के लिये सद्ज्ञान की ज्योति जलाना अनिवार्य होता है। वही उन्हे भी करना पड़ा। घर-घर जाकर जन-जन से सम्पर्क बनाना भिक्षावृत्ति अपनाकर ही हो सकता है सो उन्होंने उसी वृत्ति को धारण किया। अपने को भिक्षु श्रेणी में जा बिठाया। ज्ञान प्रसार का कार्य एकांगी भी नहीं हो सकता था, इसलिये उन्होंने शिष्य, अनुयायी बनाये। जिन्हें परिपक्व पाया उन्हें सद्ज्ञान का आलोक सर्वत्र फैलाने के लिये परिव्राजक बनाया। यही धर्म चक्र प्रवर्तन अभियान था। भावनात्मक जड़ता की मृत-मूर्छित स्थिति से उबारकर सजग और सक्रिय बनाने के लिये आत्मदानी व्यक्तियो को समग्र निष्ठा से जुटना पड़ता है। बुद्ध ने अपने शिष्य इसीलिये बनाये। इसी प्रयोजन को जीवन-लक्ष्य की पूर्ति का सर्वश्रेष्ठ साधन बनाया। उनके प्रभाव और परामर्श के प्रकाश मे सहस्रों नर-नारी आगे आये और एक स्थान पर रहकर नही देश-देशान्तरों में ज्ञान का प्रकाश फैलाने को कटिबद्ध हो गये। धर्म-चक्र का अभियान अग्रगामी हुआ और वह धर्म विजय के रूप मे सुविस्तृत बन गया। भूतकाल मे प्रतापी राजा देश-विजय के लिये निकलते थे, अपना आधिपत्य सुदूर क्षेत्रो मे स्थापित करते थे। बुद्ध का अभियान इससे भिन्न था। उन्होने देश विजय के स्थान पर धर्म विजय की योजना बनायी और उसे किसी देश धर्म तक सीमित न रखकर विश्वव्यापी बनाने का कार्यक्रम निर्धारित किया।

वाराणसी से उत्तर दिशा मे छः मील पर सारनाथ मे उन्होंने धर्म-चक्र प्रवर्तन आरम्भ किया। तब उनके पास उपयुक्त शिष्यो की संख्या केवल पाँच थी। इतनी कम सख्या के बल पर पर इतना विशाल प्रयोजन कैसे पूरा हो सकता है, इसकी उन्होंने तनिक भी चिन्ता नही की। वे जानते थे कि यदि आदर्श ऊँचा हो- संचालन दूरदर्शितापूर्ण हो और कर्मरत मनुष्य भाव भरे हो तो सदुद्देश्य निश्चित रूप से आगे बढ़ते है और अन्तत. पूर्ण होकर रहते है। बुद्ध ने कौडिन्य, वप्र, महानाम, भद्र और अश्वजित नाम के तत्कालीन पॉच शिष्यो को बुलाकर प्रवज्या की दीक्षा दी और कहा-भिक्षुओ ! अब तुम जाओ और मनुष्यों तथा देवताओ की भलाई के लिये जीने की विद्या समझाओ।'

बौद्ध-धर्म मध्यम मार्ग का उपदेश देता है। उसमे कट्टरता नही है। परिस्थितियो के अनुसार नियम-उपनियमो मे थोड़ी शिथिलता बरतने की गुजायश है, ताकि हर स्थिति का मनुष्य उसमे प्रवेश कर सके। चरित्र और आदर्शों को तो कड़ाई से पालने पर ज़ोर दिया गया है, पर बाह्य व्यवहार एवं रहन-सहन मे थोड़ी भिन्नता रहने पर आपत्ति नही की गयी। 'अंगुत्तर निकाय' मे एक जगह वर्णन है—'वज्जी पुत्रक नामक भिक्षु तथागत के सम्मुख उपस्थित हुआ और बोला-श्रमणो के लिये जो २५० नियम निर्धारित है वे मुझसे नहीं सधते। इस पर भगवान बुद्ध ने कहा— "तब तुम तीन नियमो को पालते हुए अपना धर्म निबाहो।"

बौद्ध धर्म को हिन्दू धर्म से पृथक् मानना सर्वथा भूल है। भगवान बुद्ध एक सुधारवादी थे। उन्होने हिन्दू धर्म मे प्रविष्ट हुई सामयिक विकृतियो का विरोध करके ऋषि प्रणीत भारतीय धर्म के मूलभूत आदर्शों की स्थापना मात्र की है। कोई नया धर्म नही चलाया। उनके समय मे तांत्रिक वामाचार का बोलबाला था। देवताओं के नाम पर पशुबलि का घिनौना प्रचलन चल पड़ा था। अनाचार को धर्म का आवरण उढ़ाकर वर्ग-भेद, वर्ण-भेद के विष वृक्ष उगाये जा रहे थे। ईश्वर भक्ति के नाम पर उपहासास्पद कर्मकाण्डो का आकाश-पाताल जितना महत्व बताया जा रहा था। मनुष्य दास-दासी के रूप मे खरीद-बेचे और दान दिये जा रहे थे और भी न जाने क्या-क्या हो रहा था। उन दिनों वैदिक धर्म-ब्राह्मण धर्म मात्र बनकर रह गया था। पुरोहित वर्ग और उनके पिछलग्गू लोग ही देव कृपा एवं धर्म-धारण की आशा करते थे। शेष तो हेय उपेक्षित बना दिये थे। यह धार्मिक क्षेत्र में उत्पन्न हुई विकृतियाँ देश के समस्त वातावरण को विषाक्त बनाये हुए थी। उनका धुआँ पूरे मानसिक, सामाजिक, नैतिक, आर्थिक, राजनैतिक स्तर को कलुषित बनाता चला जा रहा था। बुद्ध ने विष वृक्ष के पत्ते काटने के झंझट मे न पड़कर जड पर प्रहार किया। भावनात्मक अपकर्ष को समस्त अवाछनीयताओ का उद्गम समझकर उन्होने सुधार भी वही से आरम्भ किया। वे जानते थे कि भावनात्मक परिष्कार लाये बिना विभिन्न क्षेत्रो मे

फैली अगणित विपन्नताओ का और किसी उपाय से समाधान सम्भव न हो सकेगा। अत वे समस्त क्रान्तियो की जननी भाव क्रान्ति मे जुट गये।

ससार के इतिहासज्ञ और तत्ववेत्ता एक स्वर से इस तथ्य का समर्थन करते है कि हिन्दू धर्म और बौद्ध धर्म पूर्णतया एक है। उनमें भिन्नता एवं पृथकता की कही कोई गुञ्जाइश नही है। अधिक से अधिक यह कहा जा सकता है कि बौद्ध धर्म हिन्दू धर्म की एक सुधरी हुई प्रक्रिया है। इस सम्बन्ध मे अधिक जानकारी देने वाले कुछ ग्रन्थ ये है—

(१) इलियट कृत-हिन्दू धर्म तथा बौद्ध मत (२) कीपले कृत वृहत्तर भारत में भारतीय संस्कृति का प्रभाव (३) लेबी कृत-कनिष्क और शालवाहन (४) मजूमदार कृत-क्लासिक एज (५) चन्द्रगुप्त विद्यालंकार कृत-वृहत्तर भारत (६) पी. बी. बापट सम्पदाति-बौद्ध धर्म के २५९० वर्ष। इन ग्रन्थो के पढने से बौद्ध काल में भारतीय सस्कृति के समस्त एशिया मे हुए प्रभाव, विस्तार की अच्छी जानकारी उपलब्ध होती है।

एशिया मे बुद्ध धर्म के विस्तार पर प्रकाश डालने वाले ग्रन्थो मे से निम्नलिखित दो ग्रन्थ भी विशेष महत्वपूर्ण है—(१) एलाइस कृत-दी गार्डस ऑफ नार्दर्न बुद्धिज्म-देयर हिस्ट्री आइक्रोनोग्राफी एण्ड प्रोग्रेसिव इमोल्यूशन थ्रू दि नार्दर्न बुद्धिस्ट कन्ट्रीजं विद ए जनरल इन्ट्रोडक्शन ऑन बुद्धिज्म (२) स्टोन कृत-हिस्ट्री ऑफ बुद्धिज्म।

इन ग्रन्थों से यही निष्कर्ष निकलता है कि बौद्ध प्रचारक अपने धर्म विजय अभियान के अन्तर्गत ससार भर मे भारतीय संस्कृति के मूलभूत भी सिद्धान्तो का प्रकाश फैलाने के लिये ही गये थे। बौद्ध धर्म में कही भी हिन्दू धर्म की निन्दा नही है, केवल थोड़ी-सी विकृतियों का ही विरोध किया गया है। अधिकाश मान्यताये तो वही ऋषि प्रणीत और शास्त्र सम्मत है तो अनादिकाल से वैदिक धर्म के अन्तर्गत चली आ रही है।

बुद्ध का प्रतिपादन तीन सूत्रों में सार रूप से प्रस्तुत किया गया है। 'बुद्ध शरणम् गच्छामि' 'धम्मं शरन गच्छामि' 'सघ शरणं गच्छामि'। "हम बुद्धि के विवेक की शरण मे जाते हैं।" "हम धर्म की नीति निष्ठा का वरण करते है" 'हम सघ बद्ध होकर विकसित होने का व्रत लेते है।" विवेक न्याय और एकता यही है। वे सूत्र जो बौद्ध धर्म के आधार लक्ष्य है, उन्हीं को सनातन वैदिक धर्म का सार भी कह सकते है। इस प्रकार वे प्राचीन आर्ष धर्म के पुनरुद्धार कर्ता ही कहे जा सकते है। उनका अलग से कोई सम्प्रदाय स्थापित करने का विचार स्वप्न मे भी नही था। उन्होने अपने प्रवचनो मे स्थान-स्थान पर आर्य मान्यताओं के ही उद्धरण और प्रमाण प्रस्तुत किये है।

हिन्दू धर्म से बौद्ध धर्म का जो विरोध दीखता है वह उथला है, उसके अन्तराल मे एकता के ही तथ्य भरे पडे है। बुद्ध न संस्कृत ज्ञाता थे और न वेद मर्मज्ञ। उन्हे बताया गया कि हिसा यज्ञ के लिये आवश्यक है। उन्होने तत्काल यज्ञ का ही खण्डन कर दिया। पण्डितो ने कहा-यज्ञ का प्रतिपादन वेद करता है। उन्होंने वेद का खण्डन कर दिया। लोगो ने कहा वेद ईश्वर निर्मित है, उन्होंने ईश्वर का खण्डन कर दिया। उस खण्ड के पीछे विवेक, न्याय और औचित्य का समर्थन है। किसी प्रचलन से उनका कोई द्वेष न था। यदि कोई तत्वज्ञानी उन्हे यह बताते कि वास्तविक यज्ञ, वास्तविक वेद और वास्तविक ईश्वर प्रचलित पा खण्डपूर्ण प्रतिपादन से भिन्न है तो उन्हे खण्डन करने की कोई आवश्यकता न पड़ती। उन्हे खण्डन-मण्डन में नहीं, केवल सत्य के प्रतिपादन मे रुचि थी। वे विवेक और न्याय को सर्वोच्च स्थान देने के पक्ष मे थे। विवेक विरोधी ईश्वर, वेद और यज्ञ जैसे सर्वमान्य आधारो को भी उन्होने अस्वीकार करके अपनी सत्य निष्ठा एव साहसिकता का ही परिचय दिया। विज्ञजनो ने यह एक स्वर से स्वीकार किया है कि बौद्ध और हिन्दू धर्म एक है। भारतीय दर्शन मे विचार स्वतत्रता के लिये पूरी गुञ्जायश है। यही कारण है कि यहाँ छ दर्शनो का उद्भव हुआ और उनमें मतभेद स्पष्ट है। शैव और वैष्णव धर्म-श्रोत और स्मार्त, आचार-आगम और निगम दर्शन पहले से ही प्रचलित थे। इसी प्रकार बौद्ध धर्म को अधिक से अधिक हिन्दू धर्म का सुधरा हुआ रूप भर माना जा सकता है। ईसाई धर्म मे भी पुरातन पंथी और सुधार पंथी दो वर्ग है। मुसलमानों

मे भी सिया-सुन्नी का भेद है। इतने पर भी इसाई धर्म या मुसलमान धर्म दो-दो नही माने जाते। ब्राह्मण धर्म और बौद्ध धर्म को एक ही हिन्दू धर्म की दो शाखाओ से अधिक और कुछ नही माना जा सकता।

ओल्डेनवर्ग कृत जर्मन ग्रन्थ—"फिलासफी डेर उपनिषेदेन-डड आन फाडगे आन बुद्धिस्मस्स" मे बौद्ध मान्यताओ और उपनिषद् मान्यताओ को समतुल्य बताया गया है। अनेक प्रमाण प्रस्तुत करते हुए ग्रन्थकार ने बताया है कि उपनिषदो के प्रतिपादन और बौद्ध सिद्धान्तो मे तत्वतः कोई अन्तर नही है। केवल पुरानी शैली की नये ढंग से कहा भर गया है।

रहेज डेविड्स कृत—"एन्साक्लोपीडिया ऑफ रिलीजन एण्ड एथिक्स सेक्ट्स बुद्धिस्ट्स" के उल्लेखानुसार बुद्ध और हिन्दू धर्म एक ही वृक्ष की दो शाखाओ की तरह मिल-जुलकर रहे। उनमे कोई विग्रह उत्पन्न नही हुआ। ब्राह्मण वर्ग ने अपने निहित स्वार्थों पर आघात पड़ते देखकर विरोध तो किया पर वह प्रत्यक्ष न होकर परोक्ष था। वे सैद्धान्तिक विरोध न करके व्यक्तिगत लाछन लगाते थे। इस प्रकार अश्रद्धा उत्पन्न करके भावुक लोगो को उस प्रवाह मे सम्मिलित होने से रोकना ही उनकी नीति थी। इसका कोई बडा प्रभाव नही पड़ा। हॉ सफलता के वेग मे थोडी अड़चन जरूर पैदा होती रही।

यही कारण है कि आज भी समस्त ससार मे बौद्ध प्रतिपादनो के सम्मुख मस्तक झुकाया जाता है। अन्य धर्मावलम्बी ही नही नास्तिक तक उस दर्शन के प्रति अपनी गहन श्रद्धा व्यक्त करते है। सर एडविन आर्नोल्ड की "दि लाइट आव एशिया" मे प्रेरक समीक्षा भरी पड़ी है। शोपनहार, रेनर मेरिया, रिल्के जोन, मेसफील्ड, टी एस इलियट, एडिथ सिटनैल, डब्ल्यू यीट्स, एडल्स हक्सले, कार्ल गस्टव, जुंग आदि विद्वानो ने अपनी लेखनी से जन साधारण को बौद्ध सिद्धान्तो का प्रेरक परिचय दिया है। यद्यपि वे ईसाई धर्मावलम्बी रहे, पर उनकी लेखनी यह बताती है कि उनकी श्रद्धा धर्म के प्रति अपने धर्म से कम नही थी। अनीश्वरवादी कहे जाने वाले आज के दार्शनिक बरट्रेंड रसल ने तो यहाँ तक कहा है कि—"यदि मुझे किसी धर्म का अनुयायी बनना पड़ा तो वह एक मात्र बौद्ध धर्म ही होगा।"

जयदेव के "गीत गोविन्द" की अष्टपदी मे अवतारो का वर्णन तथा स्तवन है उसी सन्दर्भ मे एक पद है—

निन्दसि यज्ञ विधेर अहह श्रुति जातम् ।
सदय हृदय दर्शित्त पशुघातम् ।
केशव धृत बुद्ध शरीर -जय जगदीश हरे ॥

अर्थात्—जिस यज्ञ विधि मे हिंसा होती थी, उसको हे सदय हृदय! आपने निन्दित ठहराया । हे बुद्ध! शरीर में अवतरित हुए कृष्ण, आपकी जय हो।"

उपर्युक्त पद का भाष्य इस प्रकार हुआ है—

"यज्ञस्य विधान बोधक वेद समूहं निन्दसि-ननु सर्वम् इति अर्थ।"

अर्थात—"बुद्ध केवल पशु हिंसा वाले यज्ञ विधान की निन्दा करते है। समस्त श्रुति-ज्ञान की नहीं।"

"गीत गोविन्द" में बुद्धावतार को भगवान कृष्ण का ही अवतार माना है और उनके बुद्ध रूप की वन्दना करते हुए आगे कहा है—

वेदं उद्धरते, जगन् निवहते, भूगोल मुद् विभ्रते।
दैत्यं दारयते, वलि चलयते, क्षत्रं क्षयं कुर्वते॥
पौलस्त्यं जयते, हलं कलहते, कारुण्ययाततन्वते।
म्लेच्छां मूर्च्छते, दशां कुते कृष्णाय तुभ्यं नम
कारुण्यं कुपयातन्वते बुद्ध रूपेण विस्तरयते॥

अर्थात—"जिन्होने" वेदो का उद्धार किया, जगत को ऊँचा उठाया, धरती का भार सँभाला, असुरो को विदीर्ण किया, बलि प्रथा को बन्द किया, क्षत्रपतियो के क्षत्र गिराये, रावण को जीता, हल चलाया, करुण का विस्तार किया, म्लेच्छो को मूर्छित किया। इस प्रकार दश बार अवतार लेने वाले कृष्ण आपको नमस्कार है। आपकी लीला ही बुद्ध रूप मे विस्तृत है।

उस समय अधिकांश व्यक्ति ऐसे थे, जो परम्परागत ब्रह्मण धर्म को अपनाये थे, पर बौद्ध धर्म के पक्के समर्थक थे। इन दिनो जैसे सनातन धर्मी और आर्य समाजी मान्यतायें एक ही परिवार मे या एक ही व्यक्ति मे समाहित देखी जा सकती हैं, लगभग उसी प्रकार की बात उन दिनो थी।इसलिए हिन्दू धर्म और

बौद्ध धर्म साथ- साथ बढ़े पनपे। पीछे पुरोहितो ने अपने वर्चस्व और अर्थ लाभ को हानि पहुंचते देखकर विरोध को उग्र अवश्य किया, पर सर्वसाधारण के मन पर उस तरह की विरोधात्मक छाप न थी।कुछ समय की चें- चें- मे- मे के बाद बौद्ध धर्म और हिन्दू धर्म का एक प्रकार से समन्वित आधार बन गया था और उसी को जनता तथा विज्ञ व्यक्तियो ने स्वीकार कर लिया था । गुप्त वंश के शासक यों वैष्णव थे, पर उनकी पूरी सहानुभूति बौद्ध ओन्दोलन के साथ थी । मथुरा, सारनाथ, नालन्दा, अजन्ता, बाग, धान्यकुट, कन्नौज, कौशल, मगध, ताम्रलिप्ति प्रभृति स्थानो मे यो पुरातन हिन्दू धर्म का ही प्रचलन था, पर उन स्थानों के बौद्ध केन्द्र बनने मे किसी ने कोई आपत्ति नही की वरन् पूरी सहानुभूति ही दिखाई । राजा हर्ष वर्धन यो वैष्णव था, पर उसने बौद्ध आचार को पूरी तरह अपना लिया था।

नालन्दा विश्व विद्यालय की संसार भर मे ख्याति थी और संसार भर के छात्र भारतीय धर्म विज्ञान का अध्ययन करने के लिये आते थे। नालन्दा का बौद्ध बिहार उन दिनो पूरी समृद्धि पर था । ऐसी ही धर्म -संस्थाये उन दिनों और भी अनेको थीं। विक्रम शिला, ओदन्तपुर, सोमपुरी, जगद्दल के महाविद्यालय समृद्ध अध्ययन के केन्द्र थे। उनके पुस्तकालय और विद्यालय अनेको प्रतिभाशाली विद्वान उत्पन्न करते चले जाते थे और इन संस्थाओं द्वारा उत्पादित ज्ञान सम्पदा से समस्त मानव जाति लाभान्वित हो रही थी । इन शिक्षण संस्थाओं में समस्त हिन्दू दर्शन पढ़ाया जाता था। बौद्ध और हिन्दू धर्म की समन्वित शिक्षा पद्धति बिल्कुल स्वभाविक थी, क्योंकि ऐसा ही अनेक दर्शनों को पहले भी हिन्दू धर्म का अंग स्वीकार किया जा चुका था। तब अधिक प्रखर बौद्ध को हिन्दू धर्म का एक अविच्छिन्न अंग मानने मे किसी की आपत्ति भी क्या हो सकती थी ?

बुद्ध की विचारधारा से मिलते-जुलते धर्म प्रवाह उन दिनो जैन सम्प्रदाय के संस्थापक वर्धमान महावीर आजीवक सम्प्रदाय के सस्थापक मंखलि पुत्र गोसोल जैसे कई प्रतिभाशाली धर्मगुरु प्रवाहित कर रहे थे। पर उनका लक्ष्य व्यक्तिगत स्वर्ग-मुक्ति तक सीमित रहने से तप, तितीक्षा, संयम, साधना पर तो बहुत ध्यान दिया गया किन्तु धर्म विजय जैसे अभियान में कोई उत्साह न था । यदि वे सब मिल-जुल कर परमार्थ को भी साधना लक्ष्य मे सम्मिलित रखते और तपस्वी लोग उस दिशा में भी प्रयास करते तो निस्संदेह उन सम्मिलित प्रयत्नों से उससे कही अधिक कार्य होता जितना अकेले बौद्ध धर्म द्वारा सम्पन्न हुआ।

बुद्ध ने अपने शिष्यो को जो धर्म-दर्शन पढ़ाया, उसमे संयम की व्रतशीलता, साधना की, तपश्चर्या की, आत्मशोधन और आत्मपरिष्कार की दृष्टि से प्रमुखता तो थी, पर धर्म विजय जैसे परमार्थ प्रयोजन की संलग्नता को भी कम महत्व नहीं दिया गया था । विश्व-मानव को परिष्कृत बनाने में दिये गये योगदा को उन्होने जीवन लक्ष्य की पूर्ति का अनिवार्य साध बताया और कहा कि उसके लिये हर धर्म प्रेमी व अपनी-अपनी स्थिति के अनुरुप बढ़-चढ़कर त्या -बलिदान प्रस्तुत करना चाहिये । इसी दार्शनि विशेषता के कारण बुद्ध धर्मानुयायियों के धन से समर्थन से, सहयोग से उस मिशन को भरपूर सींच और जो अधिक भावनाशील और साहसी थे वे आगे बढ़कर आत्मदानी वर्ग में सम्मिलित हो गये ।उन्होंने अपनी पात्रता बढ़ाने के लिये तपश्चर्या एवं ज्ञान साधना की और साथ ही इस बात की भी तैयारी जारी रखी कि लोभ की परिधि से ऊपर ऊँचे उठकर धर्म विजय के लिये कठिनतम कष्टों को सहन करते हुए शेष जीवन अविच्छिन्न उत्साह, पुरुषार्थ एव साहस के साथ व्यतीत करे। उन्होने सासारिक सुखो से मुँह मोड़ा परिवार के मोह को त्याग, तितिक्षा व्रत धारण किया । हिमाच्छादित दुर्गम प्रदेशो को लांघा, हिंस्र जन्तुओं से भरे जंगलो मे होकर राह बनायी, खाद्य सामग्री और जल से रहित लम्बे मरुस्थलो को पार किया, कधे पर चीवर और हाथ मे भिक्षा पात्र जैसी अपरिग्रही स्थिति स्वीकार की । ऋतु प्रकोपों को सहते हुए अपरिचित प्रदेशो में प्रवेश किया, छोटी नावों मे बैठकर समुद्र यात्रायें की, अजनबी क्षेत्रो की भाषायें सीखीं और वहाँ के निवासियो से सम्पर्क सम्भव किया । इन धर्म प्रचारकों मे सुसम्पन्न वर्ग के ऐसे सुयोग्य व्यक्ति थे, जिन्हे प्रचुर सुख-सुविधायें प्राप्त थीं और वे इस प्रकार

मे पडने की अपेक्षा मौज-मजा की जिन्दगी जी सकते थे। बुद्ध स्वयं राजकुमार थे। अशोक के पुत्र महेन्द्र और पुत्री संघमित्रा ने घर त्याग कर परिव्राजक धर्म स्वीकार किया । यह परम्परा चली सो चलती ही गयी।

धर्म क्षेत्र मे प्रवेश करने वाले प्राय: स्वेच्छाचार बरतते हैं। वे अपने क्रियाकलाप पर किसी का नियंत्रण स्वीकार नही करते फलत: उस वर्ग मे फैली हुई विशृंखलता कोई कार्य नही करने देती धर्म की एक विशेषता उसकी अनुशासनशीलता भी थी । व्यक्तिगत जीवन मे श्रवणो को कठोरतापूर्वक रहना पड़ता था और सामूहिक जीवन मे वे संघ द्वारा निर्धारित कार्य पद्धति का श्रद्धा भरे अनुशासन के साथ पालन करते थे।व्यक्तिगत महत्वाकांक्षाओ से, पद प्रतिष्ठाओ से दूर रहकर ही लक्ष्य की पूर्ति की दिशा मे आगे बढ़ा जा सकता है, यह बात आरम्भ से ही मन मे भरी जाती थी और कहा जाता था कि जो अपने यश, वर्चस्व के लिये लालायित होगा वही धर्म-चक्र मे सबसे बड़ा अवरोध गिना जायेगा। निजी यशस्विता साथियो को गिराकर और अपना कुछ विलक्षण खडा करके ही उपलब्ध हो सकती है, जो इसके लिये मरेगा वह धर्म विजय के लक्ष्य को क्षति पहुँचाये बिना न रहेगा । इन आदर्शो को श्रद्धा के साथ अंगीकार करने का परिणाम यह हुआ कि बौद्ध धर्म प्रचारक निर्धारित लक्ष्य की पूर्ति की दिशा मे आशातीत सफलता के साथ अग्रसर हो सकने मे समर्थ बन सके।

सम्प्रदाय नहीं दर्शन, शिष्य नहीं उत्तराधिकारी

भगवान बुद्ध का महानिर्वाण अब से कोई ढाई हजार वर्ष पूर्व हुआ। उनकी २५००वी निर्वाण शताब्दी मई १९५६ में मनायी गयी थी।बोधगया मे उत्तीर्ण लेख मे यह तिथि ईसा से ५४४ वर्ष पूर्व बताई गयी है।ईसा से ६२३ वर्ष पूर्व उनका जन्म हुआ । पिता शुद्धोधन-कौशल राज्य के अधीन शाक्य गणतत्र के प्रमुख शासक थे । उनकी माता महामाया जब कपिलवस्तु से अपने मायके देवग्रह जा रही थीं, तब लुम्बिनी वन मे दो साल वृक्षो की छाया मे बुद्ध का जन्म हुआ । सम्राट अशोक ने उस जन्म स्थान पर स्मारक बनवाया, जो अभी भी उस घटना की साक्षी देता है। लगभग ८० वर्ष की आयु तक वे जीवित रहे। वैसाखी पूर्णिमा उनकी निधन तिथि मानी जाती है। उसी दिन वे जन्मे भी थे । कहते हैं कि जिन दो साल वृक्षो के नीचे उनका जन्म हुआ था, वहीं निर्वाण भी हुआ । समय की विकृतियो के साथ जूझना बौद्ध अभियान की अपनी विशेषता थी। धर्म-सम्प्रदायो और साधना केन्द्रो की प्रक्रिया व्यक्तिगत जीवन को परिष्कृत बनाने तक सीमा मे अवरुद्ध रहती आयी है। उसमे प्राचीन परम्पराओ का समर्थन करने का प्रचलन रहा है।बुद्ध ने उस परम्परा को तोड़ा और क्रांतिकारी प्रक्रिया अपनायी । जन्म-जाति और ऊँच-नीच के प्रचलन पर उन्होने कुठाराघात किया । चुन्द लुहार, उपलि नाई, अम्बपाली वेश्या, मल्लिका शूद्रा का उनके वर्ग मे सवर्णो से कम सम्मान नही था । ब्राह्मणवाद के आतक से वे डरे नहीं। यज्ञो मे मन्दिरो मे प्रचलित पशुबलि का विरोध करके उन्होने पुरोहित वर्ग को खुली चुनौती दी। वामाचार की मद्य, मास, मुद्रा, मैथुन की निकृष्ट भौतिक लिप्साओ को उन्होने धर्म क्षेत्र की विकृतियाँ घोषित किया और इस संघर्ष मे उन्हे पग-पग पर विविध विध संघर्षो का सामना करना पड़ा। पुरोहितो और रूढ़िवादियो ने उन्हे गिराने के लिये बुरी से बुरी दुरभिसंधियाँ करने मे कसर न रखी । पर वे आत्मा साधना के साथ लोकमंगल के लिये कठोर प्रयत्न करने मे अपने मन्तव्य से तनिक भी पीछे न हटे।

रचनात्मक कार्यो मे बौद्ध प्रवृत्तियो का समुचित सम्मान था। पाठशालाये, चिकित्सालय, जलाशय, उद्यान, विश्रामगृह, अन्नक्षेत्र, आदि की स्थापना एवं बनवाने मे उन्होने समर्थ व्यक्तियो को पूरा प्रोत्साहन दिया।पशुओं की हत्या और उनके साथ निर्दय व्यवहार को रोकने मे समुचित प्रयास किया। ऐसे करुणा संवर्धन के सेवा-साधना भरे कार्यो ने जन साधारण के मन मे और भी अधिक गहरा स्थान प्राप्त किया।

भगवान बुद्ध ने सर्व प्रथम जिन पाँच शिष्यो को शिक्षा दी, उन्हे धर्म-चक्र प्रवर्तन के लिये धर्म विजय के लिए प्रचार परिव्रज्या पर भेज दिया गया। पाँचो शिष्य विभिन्न दिशाओ मे धर्म प्रचार के लिये चल पड़े।

स्वय बुद्ध ने भी एक मण्डली वनायी और वे स्वयं भी ज्ञान का आलोक फैलाने के लिये भ्रमण करने लगे। बौद्ध धर्म के "महा-वग्ग" ग्रन्थ मे इस धर्म-चक्र प्रवर्तन के उद्देश्य स्वरूप और क्रिया-कलाप का विस्तारपूर्वक वर्णन है। मगध राज्य में गया, उर वेल, राजग्रह, नालन्दा पाटलिपुत्र, दक्षिणगिरि, अन्धकबिन्द, कल्लवाल, सुत्तगाम , स्थानो मे बुद्ध के प्रचार कार्य का विस्तृत उल्लेख मिलता है। उन्होने कौशल राज्य मे जाकर भी अपनी प्रचार प्रक्रिया को विस्तृत बनाया।

बुद्ध के प्रतिपादन इतने प्रखर, तथ्यपूर्ण और न्यायोचित थे कि उन्होंने राजा प्रजा सभी के विवेक को झकझोरा और उस विचारधारा को अपनाने के लिये बाध्य किया। मगध का राजा विम्बसार उनका अनुयायी बना। कौशलराज प्रसेनजित ने सपरिवार उनसे दीक्षा ली। अवन्ति नरेश प्रद्योत्त, कौशाम्बी के राजा उदयन ने भी बुद्ध-धर्म ग्रहण किया । राजा ही नही उस काल के सभी वर्गों में मूर्धन्य व्यक्ति उस प्रतिपादन से प्रभावित होकर अभियान में सम्मिलित हो गये । सुदत अनाथ पिण्डक जैसे व्यापारी, यश जैसे समृद्ध नागरिक, काश्यप जैसे विद्वान जीवक जैसे कुशल चिकित्सक, मौदगल्यायन जैसे महा पण्डित, भद्रा, और क्षेमा जैसी प्रतिष्ठित महिलाये उस महा अभियान को सफल बनाने के लिये सहयोग देने लगे। बुद्ध द्वारा आरम्भ किया गया लोकमानस नवनिर्माण-धर्मचक्र, द्रुत गति से अग्रगानी बनने लगा । छोटा बीज अकुरित होकर किस प्रकार ऊँचा उठता है, इसका जीवन्त उदाहरण पाँच से आरम्भ हुये धर्म-प्रवर्तन अभियान के कुछ ही दिनो में व्यापक वनने की प्रक्रिया मे दृष्टिगोचर होने लगा।

यह धर्म-चक्र प्रवर्तन मात्र कुछ के प्रयासो तक ही सीमित नही रहा, वरन् अन्य अनेक महामानवो ने अपने -अपने क्षेत्र मे अपने-अपने ढग से उसे आगे बढ़ाया । वर्धमान महावीर उन्ही दिनों लगभग ऐसा ही समस्त विश्व को भारत के प्रयास करने में निरत थे। पीछे इस प्रयास को जैन धर्म नाम दिया गया। भारत से बाहर भी ये विचार क्रान्ति लहरें मारने लगी । लगभग उन्ही दिनों यूनान में परमेनाइडीस, चीन मे लुताजे और कन्फ्यूशस, ग्रीस, मे सुकरात, बैबिलोनिया मे ईसा मसीह, ईरान में जरथुस्त्र ऐसे ही प्रयास करने में संलग्न हुए। क्रान्ति की हवा सभी दिशाओं मे अपने साथ ऐसे दावानल को लेकर फैली कि अन्धकार, अनाचार का प्रचलन पग-पग पर रोष एवं तिरष्कार का भाजन वनने लगा।

बुद्ध के जीवन काल मे वह अभियान प्रधानता भारत की सीमाओ मे ही रहा, पर उसका क्षेत्र बराबर बढ़ता और व्यापक वनता चला गया।उसमें सम्भ्रात लोग शामिल होते चले गये । विचारशील वर्ग ने मुक्त कण्ठ से उसे सराहा और सहयोग दिया । तदनुसार जनता ने भी उसे श्रद्धापूर्वक शिरोधार्य किया। भद्रक अनुरुद्ध, किम्विल, भृगु, नन्द, आनन्द, उपलि, जैसे प्रभावशाली लोगों का समर्थन मिला । शाक्य, मल्ल, मग्ग, कोलिय, बुलि, मौर्य और लिच्छिव देश के लोगों ने सामूहिक रूप मे बौद्ध-धर्म मे प्रवेश किया । वैशाली और कुशीनार के राजाओ का सहयोग प्रयोजन मे बहुत सहायक सिद्ध हुआ।

महिलाये भी उस महाक्रांति को अग्रगामी बनाने मे पूरे उत्साह के साथ आयी। महा प्रजापति गौतमी के प्रभाव से शाक्य वंश की सहस्त्रो महिलाये बुद्ध की अनुगामिनी बनी । विशाखा और अम्बपाली ने उस अभियान मे बढ़-चढकर भाग लिया। अनाथ पिण्डक की पुत्री के अथक प्रयास ने तो सारे भाग प्रदेश को ही उस रंग मे रग दिया। कौशाम्बी की रानी सामावती ने अपने पति उदयन को बौद्ध धर्म मे दीक्षित कराके ही दम लिया । महिला भिक्षुणियाँ पुरुष भिक्षुओ से किसी भी क्षेत्र मे पीछे न थी। अम्बपाली ने विशाल आम्रवन बौद्ध विहार के लिये दान दे दिया।

"अर्ली हिस्ट्री ऑफ दि बुद्धिज्म एण्ड दि बुद्धिस्ट स्कूल " ग्रन्थ के अनुसार बुद्ध के जीवन काल में ही उनका अभियान महाकच्छ, सुप्पारक, रोरुक, अपारात्र कुरु भद्र आदि भारत के उत्तर-पश्चिम के राज्यो मे पूरी तरह जड़ जमा चुका था । इन राज्यो मे अनेको बुद्ध विहार वन चुके थे।

भगवान बुद्ध ने दूसरे धर्म संस्थापको की तरह अपनी पूजा कराने या सस्ते स्वर्ग के टिकिट बाटने के लिये छुट-पुट कार्यक्रमो का प्रचलन नहीं किया । उनने अपने अनुयायियो को समग्र क्रान्ति के लिये, सद्धर्म की प्रतिष्ठापना के लिये प्रेरित किया था। अस्तु उनके

अनुयायी अपने धर्म गुरु के न रहने पर भी उस पुनीत प्रक्रिया को अग्रगामी बनाने के लिये उत्साहपूर्वक तत्पर बने रहे सम्पन्न लोगों ने मुक्त हस्त से अपने खजाने खाली कर दिये । प्रभावशाली लोगो ने अपनी प्रतिभा का पूरा-पूरा लाभ उस मिशन को दिया । विद्वानो ने समर्थन का पहाड़ जितना साहित्य जुटा दिया । प्रचारकों की टोलियाँ अतीव कष्ट सहन करती हुई देश देशान्तरों को प्रयाण करती रही । इन सबके समन्वित त्याग बलिदान का ही प्रभाव था कि बौद्ध धर्म अपने समय मे एक महत्वपूर्ण और अनुपम भूमिका सम्पादन करने में समर्थ हो सका .। दूसरे म्रत-मतान्तरवादियो की तरह यदि बुद्ध धर्म भी गुरुवन्दना अथवा कर्मकाण्डों के टण्ट-घण्ट तक सीमित रहा होता तो निश्चय ही बरसाती मेंढकों की उत्पन्न हुए अगणित सम्प्रदायो की तरह वह भी उपहासास्पद स्थिति मे पड़ा रह जाता । थोड़े अन्धानुयायियो के अतिरिक्त और कोई उस विडम्बना की छाया को छूने के लिये तैयार न होता । बुद्ध धर्म की स्थापना एक क्रान्तिकारी अभियान के रुप में हुई थी। अस्तु, उनका नश्वर शरीर न रहने पर भी उस अभियान में कोई शिथिलता नहीं आयी वरन् चौगुने-सौगुने उत्साह के साथ वह अग्रगामी होता चला गया ।

बौद्ध-धर्म के सबसे बड़े आश्रयदाता सम्राट अशोक थे । वे शासन व्यवस्था के आवश्यक कार्यों से बची हुई प्राय: सम्पूर्ण शक्ति धर्म-चक्र-प्रवर्तन में लगाते थे । विदेशो तथा भारत के सुदूर क्षेत्रो में धर्म प्रचार के लिये अभीष्ट यात्रा साधन वे ही जुटाते थे। विद्वानो, प्रचारकों की शिक्षा -दीक्षा के कितने ही विहार बनाने और चलाने का श्रेय उन्ही को है। नेपाल के राजवंश मे उन्होंने अपनी एक पुत्री का विवाह कर उस क्षेत्र मे धर्म-चक्र-प्रवर्तन का नया अध्याय खोला। उनके पुत्र और पुत्री लका आदि देशो मे गये और वहाँ सघ की स्थापना की।

धार्मिक स्तर ही नहीं अशोक के प्रयास राजनीति स्तर पर भी जारी रहे । उन्होंने अपने राजदूत अन्याय देशो मे भेजकर वहाँ के राजाओं को बौद्ध-धर्मानुयायी होने एव राजाश्रय देने का सफल अनुरोध किया । भारत उन दिनो अनेक स्वतंत्र राज्यों में बँटा हुआ था उसके कितने ही राजाओं ने आदरपूर्वक के अनुरोध को स्वीकार किया और अपने देशों मे धर्म चक्र प्रवर्तन के लिये सहयोगात्मक उत्साह दिखाया । भारत से बाहर गान्धार, सुवर्ण-भूमि, मलाया, सुमात्रा, सीरिया, मिश्र, मैसेडोनिया, इपिरस, सिरेनिया, यवन आदि देशों में धर्म-प्रचार का पथ प्रशस्त होता चला गया। बौद्ध प्रचारको की लगन और निष्ठा की जितनी सराहना की जाय उतनी ही प्रशंसा इन राजनैतिक और आर्थिक प्रयत्नो की भी करनी पड़ेगी, जिनके आधार पर प्रचारको को महत्वपूर्ण सफलताये उपलब्ध करना संभव हो सका ।

अशोक के बाद राजाश्रय देने वालो मे कनिष्क का नाम आता है। मध्य एशिया, चीन, जापान, तिब्बत, बर्मा, थाईलैण्ड, कम्बोडिया, आदि देशो मे धर्म विस्तार का श्रेय कनिष्क की अशोक परम्परा अपनाने वाली निष्ठा को दिया जा सकता है।

भारत मे मगध, कौशल, उज्जयिनी, मैसूर, काश्मीर, आन्ध्रा, पुलिन्द, चोल, पाण्ड्य आदि देशो का राजाश्रय बौद्ध-धर्म को उपलब्ध था । नालन्दा, वलभी, विक्रमशिला, ओदन्तपुरी, विक्रमपुरी, सोमपुरी, मथुरा आदि की समुन्नत शिक्षण–संस्थाये इन्ही के सहयोग से चलती थीं। सारनाथ, अजन्ता, धान्यकूट, साँची, कन्नौज आदि के विशाल देवालय राजकीय सम्पत्ति से ही निर्मित हो सके थे। सम्राट हर्षवर्धन ने इस दिशा में अधिक समर्थ उत्साह दिखाया। मिलिन्द (मिना-दर) का नाम भी इसी श्रेणी में आता है। यह ग्रीक था, इसका काल ईसा की पाँचवी शताब्दी माना जाता है। उसका उल्लेख "मिलिन्द पन्ह" नामक बौद्ध-जातक मे विस्तारपूर्वक आता है। उसके प्रभाव से कन्धार, पेशावर, काबुल घाटी तथा उत्तर भारत के काश्मीर, पंजाब आदि कितने ही प्रदेश बौद्ध धर्म मे दीक्षित हुए।

कनिष्क कुशाण वंशी चीनी तुर्किस्तान का नागरिक था। उसका समय ईसा की प्रथम शताब्दी माना है। मध्य एशिया के सुविस्तृत क्षेत्र मे तथा भारत के कतिपय क्षेत्रो में उसका राज्य फैला हुआ था। उसने कितने ही विहार तथा चैत्य बनवाये। इनमे पेशावर का स्तूप ४०० फुट ऊँचा था। बौद्ध-साहित्य को उसने

मध्य एशिया की अनेक भाषाओ मे विद्वानो द्वारा अनुदित कराया और उस क्षेत्र के अनेक देशो में धर्म प्रचारक भेजने तथा उन्हे प्रशिक्षित करने के लिये आश्चर्यजनक कार्य किया । कनिष्क के सिक्को पर भगवान बुद्ध का चित्र अकित था।

हर्ष देश के राजा हर्षवर्धन बौद्ध-धर्म की निष्ठा मे पूरी तरह रगे हुए थे। वे नालन्दा विश्वविद्यालय के सरक्षक थे तथा धर्म-चक्र-प्रवर्तन मे भारी योगदान देते थे। इनके समय मे भारत मे ब्राह्मण-धर्म और बौद्ध-धर्म के बीच संघर्ष चल रहा था, तो भी हर्षवर्धन दोनो को परस्पर पूरक और एक ही वृक्ष की दो डालियाँ मानते थे। राज्याश्रय मे १००० बौद्ध भिक्षुओ तथा ५०० ब्राह्मण सन्तो के लिये निर्वाह तथा शिक्षा की व्यवस्था होती थी। चीनी यात्री युआनच्वांग सन् ६३० से ६४४ तक चौदह वर्ष भारत मे रहा। उन दिनो हर्षवर्धन का शासन काल था। च्वांग ने धर्म निष्ठा का विस्तृत विवरण किया है और एक संस्मरण मे यह भी लिखा है कि हर्ष ने समस्त राज्य-कोष तथा व्यक्तिगत सम्पत्ति धर्म-चक्र-प्रवर्तन के लिये दान करते हुए अपने शरीर के बहुमूल्य वस्त्र तक उतारकर दान कर दिये थे और अन्ततः अपनी बहिन राज्यश्री के दिये पुराने वस्त्र को पहिनकर दान वेदी से उठा था।

विदेशी आक्रमणकारियो ने भारत मे अपना लूट-खसोट का मनोरथ तो अच्छी तरह से पूरा किया, पर साथ ही वे इस देश की तत्कालीन श्रेष्ठ संस्कृति के सामने परास्त भी होते चले गये। इतिहास मे मीनान्डर नामक एक ऐसे ग्रीक आक्रमणकारी का वर्णन है जो क्षेत्र-विजय मे तो सफल रहा, पर धर्म-विजय क्षेत्र मे पराजित होकर रह गया। बौद्ध-भिक्षु नागसेन के साथ उसकी लम्बी चर्चा दार्शनिक विषयो पर रही, फलत. वह इतना प्रभावित हुआ कि बौद्ध-धर्म मे ही दीक्षित हो गया।

एक मीनान्डर ही नही उन दिनो यूनान के अनेक राजा बौद्ध धर्म के अनुयायी बन चुके थे। इसका क्रमबद्ध इतिहास तो उपलब्ध नही पर यूची शासक "हतिय" के सिक्को पर शिव और त्रिशूल की मूर्ति छपी रहने से यह स्पष्ट है कि वहाँ भारतीय धर्म का प्रचलन था। ग्रीक और पार्थियन लोगो के लेख प्राकृत भाषा मे है। उनके सिक्को पर राजा के धार्मिक होने का उल्लेख है।

कुशान वंशी कनिष्क का अधिकृत प्रदेश उज्जैन तथा साँची से लेकर गोबी मरुस्थल तक फैला पड़ा था। उत्तरी भारत से लेकर चीनी तुर्किस्तान तक उसी का राज्य था। चीनी भाषा के "धर्मपिटिक निदान सूत्र" का उल्लेख है कि कनिष्क ने पाटलिपुत्र पर चढ़ाई की और उसे जीता। किन्तु जब वह महाभिक्षु अश्वघोष के द्वारा बौद्ध-धर्म के सम्पर्क मे आया तो उसने जीता हुआ सब कुछ लौटा दिया और केवल "अश्वघोष" नामक विद्वान को तथा भगवान बुद्ध के कमण्डल को लेकर हर्जाने की भरपाई कर ली, वह स्वय भी बौद्ध-धर्म मे दीक्षित हो गया।

कनिष्क को वृत्तिक अशोक कहा जाता है। उसने अपने राज्य मे बौद्ध-धर्म का प्रचार करने के लिये भारी प्रयास किया। चीन, तिब्बत, मंगोलिया, खोतान आदि क्षेत्रो से उपलब्ध साहित्य से स्पष्ट है कि उन दिनो कनिष्क को शासनाध्यक्ष के रूप मे ही नही धर्माध्यक्ष के रूप मे भी लोक श्रद्धा उपलब्ध थी। मध्य एशिया मे बौद्ध-धर्म की जड़ जमाने का बहुत कुछ श्रेय कनिष्क को दिया जा सकता है, जिसने प्रचारकों के लिये सभी आवश्यक सुविधा सामग्री उपलब्ध की और प्रजा को उसके अनगमन के लिये प्रोत्साहित किया। उसने अपनी राजधानी पेशावर मे तेरह मजिला एक बुद्ध स्मारक स्तूप बनवाया जो नौवी शताब्दी तक खड़ा रहा। उन दिनो उसे ससार की उच्चतम इमारत मे गिना जाता था।

वेल्स लिखित "अण्डर लाइन ऑफ हिस्ट्री" मे कहा गया है कि यूनान पर बौद्ध-धर्म का भारी प्रभाव पड़ा। अशोक २५० वर्ष बाद इस क्षेत्र के जूडिया प्रदेश मे ईसा उत्पन्न हुए। उनकी शिक्षाओं पर बुद्ध-दर्शन का प्रभाव अत्यन्त स्पष्ट है। अशोक द्वारा यूनान मे "थेराप्यूत" नामक वैद्य भेजे गये। उसने चिकित्सा के साथ-साथ धर्म प्रचार भी जारी रखा। उनके अनुयायियो का "थेराप्यूत" एक वर्ग भी बन गया। पीछे उनकी चिकित्सा पद्धति पाश्चात्य चिकित्सा पद्धति का एक अग बन गयी, जिसे 'थेराप्यूटिक्स' कहते है। सिकन्दरिया के प्रचारको के साथ-साथ

व्यापारी भी पहुँचे और वहाँ उनने अपनी बस्तियाँ बसायीं। इतिहास लेखक क्लेमेण्ट और क्रिस्टोस्टम के अनुसार सिकन्दरिया में कई जाति के भारतीय बड़ी संख्या मे रहते थे।

प्रचण्ड अभियान अक्सर आँधी तूफान की तरह बढ़ते है। तब उनके सामने दो कठिनाइयाँ उत्पन्न होती है। एक यह कि उनमे कूड़ा-कचरा आकर मिल जाता है और वह उस पवित्र प्रवाह को गन्दा बनाने लगता है। दूसरी यह कि अगणित मनुष्यों के सहकार से आन्दोलन चलने के कारण उसकी विभिन्न दिशाओ मे खीचातान होती है। कोई प्रवाह को एक दिशा मे ले जाना चाहता है तो कोई दूसरी दिशा मे। इन दो कठिनाइयो के कारण सदुद्देश्य पूर्ण अभियानो के सामने भी उनके असफल हो जाने का खतरा उत्पन्न हो जाता है। दूरदर्शी नेतृत्व इन दोनो चट्टानो से बचाकर जहाज को आगे बढ़ाता है।

बुद्ध के नेतृत्व मे भी आरम्भ हुई विचार क्रान्ति को भी इन दो कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। उस अभियान में उच्छृंखल तत्व घुस पड़े थे और अपनी महत्वाकांक्षाओ की पूर्ति के लिये उस प्रवाह का उपयोग करना चाहते थे। यदि उनकी बात चलने दी जाती तो उससे चन्द तत्वो का व्यक्तिगत लाभ तो खूब होता, पर लक्ष्य की पूर्ति कठिन हो जाती। बुद्ध की मृत्यु के कुछ ही समय उपरान्त सुभद्र नामक महत्वाकांक्षी भिक्षु ने खुलेआम करना शुरू कर दिया "अच्छा हुआ बुद्ध मर गये। हम लोग उनके चंगुल से छूटे, अब हम स्वच्छन्दतापूर्वक जो चाहेगे सो करेंगे।" इस प्रकार के महत्वाकाक्षी व्यक्ति कम नही थे और वे अपना-अपना अलग वर्ग खड़ा करने को उतारू थे। इसी प्रकार विचार क्रान्ति की मूल दिशा मे अस्त-व्यस्तता उत्पन्न करके कोई उसे तंत्र-विद्या मे, कोई ज्ञान-वैराग्य मे कोई-कोई बहूमूल्य स्मारक निर्माण मे, कोई अध्ययन-अध्यापन मे सीमाबद्ध करना चाहते थे। इस खींचतान को रोकने के लिये दूरदर्शी विवेकवान लोगो ने समय-समय पर विचारशील लोगो की महापरिषदे बुलायी, जिन्हे "संगीति" नाम दिया गया। इतिहास मे ऐसी कई सगीतियो का विवरण मिलता है।

प्रथम संगीति

मगध के राजा अजातशत्रु के आवाहन पर प्रथम संगीति राज गृह के समीप सप्तपर्णी गुहा में हुई। इसमे ५०० अर्हन्त एकत्रित हुए। सभापतित्व महा काश्यप ने किया। परिषद् सात मास तक चली। इसमे उपलि और आनन्द नाम के दो विद्वान् भिक्षुओं को बौद्ध दर्शन तथा बौद्ध आचार का एक प्रामाणिक कार्य करने का स्वरूप सौपा गया। भगवान बुद्ध मात्र प्रवचन करते थे। उनके विचारो और निर्देशो को लेखबद्ध करना आरश्यक था। इस प्रथम परिषद् को यही महत्वपूर्ण कार्य करना था।

द्वितीय संगीति

स्थविर "यश" ने द्वितीय सगीति वैशाली में बुलाई। यह आठ मास तक चली। इसमें ७०० भिक्षु सम्मिलित हुए। इसका मुख्य उद्देश्य संघ में पड़ी फूट और विशृंखलता का निराकरण करना था। मतभेद बढ़ रहे थे और आक्षेप के कारण उत्पन्न हो रहे थे। भिक्षुओं का आचार गिर रहा था और वे मर्यादाओं को तोड़कर मनमानी करने पर उतारू थे। इसलिये इस सगीति मे ऐसे निर्णय किये गये, जिनसे स्वेच्छाचार की संघ द्वारा तथा जनता द्वारा भर्त्सना की जा सके। संघ के सदस्यों को अनुशासन मे रहने के लिये बाध्य होना पड़े।

तृतीय संगीति

सम्राट अशोक ने बौद्ध-क्रान्ति को विश्वव्यापी बनाने के उद्देश्य से तृतीय संगीति का आयोजन किया। मौदागलि पुत्र तिष्य ने उसका आमंत्रण भेजा। "अशोकाराम" में एक हजार भिक्षु एकत्र हुए, नौ मास तक वह सम्मेलन चला। 'त्रिपिटिक' का संकलन कार्य वही सपन्न हुआ। सबसे महत्वपूर्ण बात थी भारत से बाहर समस्त विश्व मे बौद्ध-दर्शन को व्यापक बनाने के लिये प्रभावशाली कार्यक्रम की रूपरेखा तैयार करना।

योजना सुनिश्चित हुई और नौ प्रचारक मण्डल देश-देशान्तरो को भेजे गये। (१) मज्झान्तिक (२) महादेव (३) राकीवत (४) योनधम्म राकीवत (५) महाधम्य राकीवत (६) मज्झिम आदि (७) महा

राकीवत (८) सोण उत्तर (९) महिन्द आदि। इन नौ प्रचारको के नेतृत्व मे भिक्षु-मण्डलियाँ धर्म-विजय के लिये निकल पड़ी और उन्होने भारत के सुदूर प्रान्तो की तथा विश्व के विभिन्न भागों की यात्राओं के लिये कमर कस ली। गान्धार यूनान, अरब, मिस्र, पेगू, सालमीन, लंका, मध्य एशिया, पूर्वी द्वीप समूह आदि देशो में यह मण्डलियाँ कष्ट साध्य यात्राये पूरी करती हुई पहुँची और उन्होने दूरवर्ती स्थानों मे भाषा सम्बन्धी कठिनाइयो का सामना करते हुए धर्म-संस्थापना मे आशातीत सफलतायें प्राप्त की। बौद्ध-साहित्य के "महावंश" और "दीपवंश" नामक पहली भाषा के प्रामाणिक ग्रन्थो मे इन यात्राओं का विस्तारपूर्वक वर्णन है। सम्राट अशोक के तेरहवे शिलालेख मे भी इन प्रचार यात्राओ का वर्णन है। उसमें लिखा है— *धर्म-विजय देवताओ की विजय है। अन्तिम ओन,* तरूमय, अन्तिकिनी, मक, अलिसुन्दर, राजाओ ने बौद्ध धर्म स्वीकार किया। चोल, पाण्ड्य, ताम्रपर्णी, योन, कम्बोज, नाम पंक्तियों, भोज पितिनिको, अन्ध पुलिन्दो पर धर्म विजय प्राप्त हुई। "इन क्षेत्रो को अब के भूगोल के अनुसार सीरिया, मिस्र, उत्तरी अफ्रीका, एपिरस, मेसिडोनिया, लंका, कम्बोज, यूनान कहा जाता है।

"महावंश" के अनुसार काश्मीर और गान्धार मे ८० सहस्र, वनवासी मे ६० हजार, अपरान्त मे ३७ हजार, महाराष्ट्र में ८४ हजार, योन में ७० हजार, सुवर्ण भूमि मे और ६० हजार मनुष्यों ने बुद्ध धर्म की दीक्षा ग्रहण की। इन सभी देशो मे बौद्ध विहार स्थापित हुए। उनमे धर्म-विजय अभियान को आगे बढ़ाने के लिये बड़ी संख्या मे भिक्षु और भिक्षुणियाँ प्रशिक्षण प्राप्त करने लगे।

चतुर्थ संगीति

महा श्रमण पार्श्व ने कनिष्क के प्रोत्साहन से चौथी सगीति बुलाई। उसका आयोजन काश्मीर मे श्रीनगर के निकट कुण्डल वन में किया गया। सभापति वसुमित्र थे और उपसभापति अश्वघोष। ५०० विद्वान् भिक्षु उसमें सम्मिलित हुए। त्रिपिटक ग्रन्थ के सूत्र, विनय और अभिधर्म अध्यायो पर एक-एक लाख श्लोकों के भाष्य की रचना का निर्णय इसी में हुआ। बौद्ध-धर्म में जो मतभेद उत्पन्न हो गये थे, उनका निराकरण एवं समन्वय इसी संगीति में किया गया।

चुल्ल वग्ग, महा वग्ग, और दीपवश बौद्ध ग्रन्थों में इन संगीतियों का जो विवरण दिया गया है, उसमें कुछ-कुछ मतभेद भी हैं। किस संगीति में कितने भिक्षु एकत्रित हुए, उनकी संख्या इन ग्रन्थों में समान नहीं है। कारण और विवरणों में अन्तर है। इस मतभेद के आधार पर प्रथम संगीति महाकाश्यप ने बुलाई थी। राजा अजातशत्रु ने उसका प्रबन्ध काराया था। उन दिनों के संघ प्रमुख आनन्द पर जो आक्षेप लगाये जा रहे थे, उनका निराकरण किया गया। दूसरी परिषद् में भिक्षुओ ने उच्छृंखलता बरतनी आरम्भ कर दी। उन पर दस प्रतिबन्ध लगाते हुए कठोर आचार संहिता निर्धारित की गयी थी। तीसरी परिषद् मे उच्छृंखलता बरतने वाले भिक्षुओ को संघ के पृथक् किया गया था। चौथी परिषद् में विभिन्न देशों के बीच भाषा सम्बन्धी कठिनाई का हल खोजने के लिये सस्कृत को विश्वभाषा घोषित किया गया था।

इन चार महा परिषदो के अतिरिक्त स्थानीय छोटी-छोटी सगीतियों के भी विवरण मिलते हैं। महावंश के अनुसार लंका मे तीन परिषदें हुई। पहली राजा देवानांप्रिय तिष्य (२४७ से २०७ ईसा पूर्व) के शासन काल मे अरिट्ठ थेर के सभापतित्व मे, राजधानी अनुराधपुर में सम्पन्न हुई। इसमें अशोक पुत्र महेन्द्र भी सम्मिलित हुए। दूसरी राजा बट्टगामणि अभय (१०१-७७ ईसा से पूर्व) के शासन काल में, थेर रक्षित की अध्यक्षता मे, अक्षु विहार में। तीसरी सन् १८६५ में सिंहल रत्नकर मे हिक्क दुबे श्री सुमगल की अध्यक्षता में।

थाईलैण्ड (स्याम) में दो परिषदें हुई। एक चिगमाई मे- राजा धर्म चक्रवर्ती तिलक के शासन काल मे, दूसरी बैकाक मे।

मॉडले के राजा "भिनदीन मन" की संरक्षता मे प्रथम परिषद हुई, जो राजमहल में पाँच महीने तक चली। इसमें २४०० बौद्ध विद्वान एकत्रित हुए। दूसरी परिषद् रंगून मे हुई। अभिवज महारथ गुरु भदन्त रेवत इसके अध्यक्ष थे। इसमे ५०० भिक्षु सम्मिलित हुए।

लंका, स्याम और वर्मा में हुई उपरोक्त संगीतियो का उद्देश्य, सामयिक समस्याओं का समाधान, भावी कार्यक्रमों का निर्धारण एवं धर्मचक्र प्रवर्तन को अधिकाधिक गति देते हुए धर्म-विजय के लक्ष्य को अधिक से अधिक समीप लाना था। उपासनात्मक कर्मकाण्ड एवं प्रार्थना प्रवचन भी उनमें होते रहे, पर उन सम्मेलनों का प्रमुख प्रयोजन यही था कि भगवान बुद्ध ने व्यापक अन्धकार से जूझने का जो लक्ष्य सामने रखा था, उसमें उनके अनुयायी शिथिलता न आने दें और साहसिक कदम बढ़ाने के लिये संगठित प्रयत्न करें।

भगवान बुद्ध अपने उत्तराधिकार मे जो त्याग, बलिदान, साहस और पुरुषार्थ अनुयायियो को दे गये थे, उसे उन्होने बहुत सँभाल, सँजोकर रखा और मिशन को ही अपना जीवित धर्म-गुरु मानकर उसे खीचने के लिये शक्ति भर अनवरत् प्रयत्न करते रहे।

उन दिनो संस्कृत पण्डितों को भाषा थी और पाली सामान्य जनो की। पर सस्कृत में भी बौद्ध-धर्म को प्रस्तुत करने वाले ग्रन्थ लिखे जाते रहे। विद्वानो ने यह साहित्य सृजन इतने उत्साह के साथ किया कि ब्राह्मण धर्म के ग्रन्थो का विस्तार उनके सामने हल्का पड़ने लगा।

साहित्य-सृजन की तरह बुद्ध के अनुयायियो में धर्म-संस्थान बनाने के लिये भी बहुत उत्साह रहा। तथागत के जीवन से संबधित स्थानों में तथा अन्य प्रचार सुविधा के क्षेत्रों मे विशालकाय भवन खड़े किये गये। ये केवल स्मारक नही थे, वरन् उन्हें धर्म-चक्र प्रवर्तन के लिये प्रकाश केन्द्रों के अनुरूप बनाया गया था। धर्म-प्रचारको के निवास, निर्वाह, प्रशिक्षण के लिये वहाँ आवश्यक सुविधायें उपलब्ध थी। इन केन्द्रो में उन सभी प्रवृत्तियो को विकसित किया जाता था, जिससे धर्म-धारणा की पुष्टि और विश्वव्यापी प्रचार अभियान की गतिशीलता को समुचित पोषण मिलता रहे।

भारत मे भगवान की स्मृति मे बने चार स्थान अधिक महत्वपूर्ण है— (१) लुम्बिनी जहाँ वे जन्मे (२) बोध गया—जहां आत्मबोध प्राप्त हुआ। (३) सारनाथ-जहाँ प्रथम प्रवचन दिया (४) कुशीनगर-जहाँ शरीर त्यागा। इसके अतिरिक्त (१) श्रावस्ती (२) संकाश्य (३) राजगृह (४) वैशाली भी तथागत के समय में धर्म-चक्र प्रवर्तन के केन्द्र रहे हैं। इन आठो स्थानों को बौद्ध धर्मावलम्बी एक प्रकार से तीर्थ मानते हैं और श्रद्धापूर्वक उनकी दर्शन यात्रा करते हैं।

लुम्बिनी-नेपाल की तरा मे सामिनदेई कस्बे के निकट है। बोधगया हिन्दुओ के गया तीर्थ से छ. मील आगे है। सारनाथ-वाराणसी के समीप है। कुशीनगर-गोरखपुर जिले के कासिया के समीप है। श्रीवस्ती-जिसे जैतवन विहार भी कहते हैं, उत्तर प्रदेश के बहराइच नगर से लगभग २० मील दूर है। संकाश्य—(सांकिया-बसन्तपुर, फर्रुखाबाद, उ. प्र. के) देहाती क्षेत्र मे है। राजगृह—पटना जिले का राजगीर नगर है। वैशाली- बिहार के मुजफ्फरपुर जिले के बसाढ़ गाँव के समीप था। आठों स्थानो को बौद्ध साहित्य मे "अट्ठ महाठानानि" अष्ट महास्थान कहा जाता है।

इसके अतिरिक्त भारत में कुछ और भी स्थान ऐसे हैं, जिनसे वहाँ किसी समय बौद्ध-धर्म के महत्वपूर्ण केन्द्र होने का प्रमाण मिलता है। (१) साँची (बम्बई से ५४९ मील) (२) नालन्दा (बिहार से राजगीर कस्बे के निकट बड़ा गाँव) (३) गिरनार (जूनागढ़, सौराष्ट्र से ७ मील) समीप ही सिद्धसर की गुफायें, (४) तलाजा (भावनगर-सौराष्ट्र) समीप ही सान्हा मे ६२ गुफाये। (५) बलभी (भावनगर से २२ मील) (६) कम्पिल्य (गुजरात मे नवसारी के निकट) महाराष्ट्र प्रान्त में भज, कोण्डाणे, पितलखोर, अजन्ता, बेदसा, नासिक, जुन्नर, कोले, कान्हेरी, गोआ। दक्षिण भारत में नागार्जुन, कोण्डा महिओल, जगप्प पेटा, गुसिवाडा, घण्टिशाल, नागपट्टम, श्रीमूलवासम्, कांचीपुरम् आदि। अमरावती का स्तूप अपने ढग का अनौखा है। ऐसे सहस्त्रों स्थान अब भी भारत मे जहाँ-तहाँ देखे जा सकते है, जहाँ किसी समय बौद्ध-धर्म की साधना तथा शिक्षा के विशालकाय प्रयासो का सहज ही आभास मिलता है।

अपने समय मे भगवान बुद्ध की प्रेरणा और उनके अनुयायियो की उदारता, कर्मठता ने जो कार्य किया उससे एक बार भारत-भूमि मे चिर-अतीत की झांकी पुनः होने लगी। लगभग ढाई लाख भिक्षु और भिक्षुणी सृजन सेना के रूप मे भावनात्मक नव निर्माण

के लिये जुट गये। उसका सत्यपरिणाम भारत में सतयुगी परिस्थितियों के रूप में सामने आया और उन दिनों समस्त एशिया में, समस्त विश्व में एक नवीन उल्लास का संचार हुआ। बौद्ध-धर्म के प्रभाव, प्रसार की अवधि को उस समय का सुखद सौभाग्य काल कहा जा सकता है।

मध्य-एशिया का खोतान-क्षेत्र बृहत्तर भारत का एक अंग

"तकला-मकन" मरुस्थल के दक्षिणी सिरे पर युरगकाश नदी बहती है। उसकी हरी-भरी सुरम्य घाटी का नाम खोतान हैं। यह क्षेत्र यारकन्द से दक्षिण-पूर्व मे लगभग २०० मील है। युरंगकाश और कराकाश नदियाँ इसे सींचती है। दोनों नदियाँ जहाँ मिलों है, वहाँ से उनका सम्मिलित नाम "खोतान" पड़ जाता है। यह क्षेत्र आजकल चीनी तुर्किस्तान के अन्तर्गत आता है।

इस क्षेत्र पर ईसा से ५३ वर्ष पूर्व राजा विजय सभव का शासन था। इसके बाद कण्व राजा भूमिमित्र का शासन हुआ। इन्हीं दिनो काश्मीर से अर्हत विरोचन नामक एक बौद्ध भिक्षु खोतान पहुँचा । उसने राजा को बौद्ध धर्म का अनुयायी बनाया और प्रजाजनो ने भी उसे उत्साहपूर्वक स्वीकार किया । उसी समय "सरमा" नामक एक बौद्ध बिहार बना और सस्कृत से मिलती-जुलती 'ली' भाषा का प्रसार हुआ । तिब्वती सूत्रो मे प्रथम बौद्ध राजा विजय -संम्भव को ही बताया गया है। उनके वशज विजय-वीर्य ने 'गन्क्तर ' चैत्य और 'गोशंग' बिहार का निर्माण कराया।

इसके बाद इस वंश के ११वें राजा विजय-जय ने चीन की राजकुमारी 'लुशी से अपना विवाह कर लिया। उसके नाम से राजधानी से ६ मील पर "लुसी बौद्ध विहार" बना। इस प्रकार चीनियों को उस प्रदेश मे धुस-पैठ करने का अवसर मिला और अन्ततः उस क्षेत्र की आधी आबादी चीनी और आधी भारतीय हो गयी।

विजय-जय के तीन पुत्र थे । इसमे से विजय धर्म राज्याधिकारी बना दूसरा धर्मानन्द बौद्ध-भिक्षु बन गया । उसने भारत की तीर्थयात्रा की और वापस लौटकर उस क्षेत्र में बौद्ध धर्म का प्रचार किया । उन्हीं दिनो आठ नये विहार बने । भारत से मंत्र सिद्ध नामक एक प्रकाण्ड विद्वान वहाँ धर्म प्रचार के लिये पहुँचा, उसने "संगतीर" नामक एक नये विहार की स्थापना की।

सन् ४०४ मे चीनी यात्री फाहियान कूच होता हुआ खोतान पहुँचा । उसने इस क्षेत्र की समृद्धि को भरपूर सराहा है और लिखा है—"यहाँ के सब निवासी बौद्ध है । घर-घर के आगे स्तूप बने हैं। इस देश मे १४ बड़े संघाराम हैं । पर्वो पर प्रतिमाओं के शानदार जुलूस निकलते हैं, उसके निर्माण में ८० वर्ष लगे हैं। तीन राजाओं के शासन मे वह पूरा पाया है । स्तूप की ऊँचाई २९० फुट है ।"

सन् ५१२ मे एक दूसरा यात्री "सुंगयुग" खोतान पहुँचा । उसने लिखा है—"यहाँ मुर्दे जलाये जाते हैं। हड्डियो पर स्तूप खड़ा किया जाता है। मृतक के सम्बन्धी शिर के बाल मुड़ाते है।"

सन् ६४४ मे तीसरा यात्री हवानत्साग खोतान पहुँचा उसने लिखा है—"यहाँ की भाषा भारतीयो मे मिलती-जुलती है। लिपि मे भी थोड़ा-सा ही अन्तर है। बौद्ध धर्म को मान्यता है । इस क्षेत्र मे १६ के करीब सघाराम है, यहाँ का राजा बौद्ध है और अपने को वैराचन वंश का कहता है। "

तिब्वत के इतिहास से पता चलता है कि सन् १००७ में इस क्षेत्र पर एक चीनी राजा "लो युल"का आधित्य हो गया था, उसने बौद्ध धर्म को उखाडने के लिये भारी आत्याचार किये । अन्ततः भिक्षुगण वहाँ से भाग खड़े हुए और वे तिब्वत और गान्धार क्षेत्र मे छितरा गये । तुर्की इतिहास के अनुसार सन् १००० मे तुर्क आक्रान्ता यूसुफ कादरखाँ ने इस क्षेत्र पर हमला किया और वहाँ फैले हुए बुद्ध धर्म को उखाड़कर इस्लाम धर्म की स्थापना की। १२५ वर्ष के शासन काल मे उन्होने वहाँ की जनता मे से अधिकाश को बलपूर्वक मुसलमान बना लिया। १२१८ मे मगोल आक्रमणकारी चगेज खाँ ने इस क्षेत्र पर हमला किया, उसने मंगोलिया से लेकर आस्ट्रिया तक अपना आधिपत्य जमाया। इसी सिलसिले मे खोतान भी उसके कब्जे मे आ गया। उसके बेटे कुवेलई खा ने

इस प्रदेश को पूरी तर इस्लाम का अनुयायी बना दिया। सन् १८७८ में इस देश पर चीन का कब्जा हो गया, अब वह उसके "सिनक्याग" प्रान्त का एक प्रमुख अंग बनकर रह गया है।

"दन्दान यूलिक" नगर मे भी अभी भी चारों ओर बौद्ध अवशेष बिखरे पड़े हैं। खुदाई में एस और बौद्ध मन्दिर निकला है, जिसमे खड़ी और बैठी भगवान बुद्ध की कितनी ही प्रतिमाये हैं। दीवारो पर तथागत की जीवन चर्चा से सम्बन्धित भित्ति चित्र है। लकड़ी पर गणेश प्रतिमा है। कुबेर वैश्रवण की मूर्तियाँ भी मिली हैं। इसी मन्दिर में एक ग्रन्थ भी मिला है, जो ब्राँह्मी लिपि मे है। तालपत्रो पर तथा काष्ठ पत्रों पर लिखे और भी लेख है।

योतकन नगर के पास समज्ञा (मो. मो. जोह) नामक एक स्थान के समीप स्तूपों के सैकड़ों ध्वंशावशेष अभी भी उपलब्ध है। "हो-को" के जर्जरित विहार मे बुद्ध भगवान के दस बड़े चित्र तथा ब्राह्मी लिपि तथा संस्कृत भाषा मे ताल-पत्रो पर लिखे आठवीं शताब्दी के ग्रन्थ मिले है। इसी मे एक शंकर जी का काष्ठ चित्र भी है।

पुरातत्ववेत्ता अर्ल स्टेन ने "एनशिएण्ट खोतान"—"इनरमोस्ट एशिया" आदि ग्रन्थो मे उन अवशेषों और उद्धरणो का विस्तारपूर्वक वर्णन किया है, जिनसे खोतान-क्षेत्र मे प्राचीनकाल की बौद्ध सस्कृति पर गहरा प्रकाश पड़ता है। युरकाश नदी के पश्चिमी किनारे पर बसे रोतकन नगर मे जो अवशेष मिले हैं, उनमें भारतीय राजाओं के आठ सिक्के मिले है, उनमे छः काश्मीरी शासको के है और दो काबुल के हिन्दू राजा सामन्त रवे के। एक मुहर पर गौमाता की छाप है।

निय नगर मे खरोस्ट्री लिपि और संस्कृत भाषा मे काष्ठ-पत्रको पर लिखे लेख मिले हैं। कुछ चमड़े पर भी लिखे है। एक स्तूप तो अभी भी वहाँ जीवित अवस्था मे खड़ा है, जिसकी दीवारो पर बुद्ध के चित्र बने है। एन्देर नगर के समीप रेत के टीले मे दबा एक मन्दिर मिला है, जिसमे बुद्ध की चार मूर्तियाँ और कुछ रत्न जटित आभूषण भी मिले है। एक गणेश चित्र भी है। तिब्बती भाषा मे लिखा "शालिस्तम्भ-सूत्र" भी यहाँ प्राप्त हुआ है। "डलाय मजर" स्थान के आस-पास बौद्ध विहारों के ढेरो अवशेष बिखरे हुए हैं। "अर्ककदम तिमि" नगर का जर्जर स्तूप वहाँ किसी समय की बड़ी-चढ़ी बौद्ध संस्कृति का स्मरण दिलाता है। "अक्सिपिल" के ध्वस्त मदिर की दीवारो पर तथागत की अभय मुद्रा मे मूर्तियाँ बनी है। ऐसी ही अन्य कितनी ही टूटी मूर्तियाँ यहाँ उपलब्ध हुई है। "अक्सिपिल" के उत्तर में रेत के टीलो मे दबा किसी समय का रबक विहार और स्तूप मिला है। इसमे आदम कद बुद्ध प्रतिमा भी है। भित्ति चित्रो मे बुद्ध के जीवन वृत्तान्त से सम्बन्धित घटनायें अकित है।

इतिहास बताता है कि खोतान को अशोक पुत्र कुस्तन ने ईसा से २४० वर्ष पूर्व बसाया। उसके प्रपौत्र विजय-संभव ने बौद्ध-धर्म के प्रचार मे विशेष रुचि ली और पहला विहार ईसा से २११ वर्ष पूर्व स्थापित हुआ। आठवीं सदी तक इस क्षेत्र मे लगभग १००० वर्ष तक बौद्ध धर्म छाया रहा। निय, काल मदन, (चर्चेन) क्रोराइना, लूलन और कोक्कुक (काशनर) उके प्रमुख केन्द्र थे।

आज का चीनी तुर्किस्तान ईसा की प्रथम शताब्दी मे चार राज्यो मे बँटा था— (१) मरुक (अक्सु) (२) आंग्रदेश (कर शहर) (३) का ओ चंग (४) कूचा। इन चारो मे सबसे समृद्ध था कूचा, जहाँ बौद्ध धर्म की गहरी जड़ जमी। चीनी इतिहासकारो ने लिखा है कि उन दिनों कूचा मे लगभग एक हजार बौद्ध विहार और मन्दिर थे। स्तूपो का जाल बिछा हुआ था। यहीं से शेष तीन राज्यो मे प्रचार की योजना बनाई जाती थी।

बौद्ध साहित्य का क्षेत्र की भाषाओ में अनुवाद कार्य करने के लिये राज्याश्रय से बड़ी राशि प्राप्त होती थी। सहस्रों विद्वान उस कार्य मे जुटे रहते थे। इन ग्रन्थो को वहाँ के धर्म-स्थानों और पुस्तकालयो मे सम्मानपूर्ण स्थान मिला। इससे इस विचारधारा के व्यापक बनने मे बड़ी सहायता मिली। इससे पूर्व उस क्षेत्र में कन्फ्यूशियस धर्म और ताओ मत फैला हुआ था। निःसंदेह बौद्ध दर्शन उसकी तुलना मे अधिक गहरा और अधिक प्रभावोत्पादक था। साथ ही बौद्ध भिक्षु स्वयं जिस प्रकार का आदर्श जीवन व्यतीत करते थे, वह भी कम आकर्षक नहीं था। जनता का हृदय

जीतने और बुद्धि को आकर्षित करने मे इन दोनों ही कारणों से आशाजनक सफलता प्राप्त हुई। बुद्धिजीवियों ने उसका भरपूर समर्थन और स्वागत किया। विद्वान "माउतिसिड" ने द्वितीय शताब्दी के अन्त मे एक वार्तिक भाष्य लिखा, जिसमे बौद्ध धर्म के साथ चीन के प्रचलित धर्मो की तुलना की गयी और बौद्ध दर्शन को हर दृष्टि से श्रेष्ठ ठहराया। ऐसा ही प्रतिपादन अन्य स्थानीय विद्वानो ने भी किया है। युन कांग-हंडमेन उन-हुआंग आदि से उपलब्ध प्रमाणों के आधार पर इस तथ्य की भली प्रकार पुष्टि से होती है।

ईसा की प्रथम सदी मे मध्य एशिया के खोतान से लवनौर तक के लम्बे प्रदेश में बौद्ध धर्म का बोलबाला था। इस प्रदेश की सरकारी भाषा खरोष्ट्री थी, जिसे संस्कृत की ही पुत्री कहा जा सकता है। इलियट कृत 'हिन्दुइज्म एण्ड बुद्धिज्म' ग्रन्थ से स्पष्ट है कि मध्य एशिया की तारिम घाटी मे किसी समय बौद्ध धर्म ही व्याप्त था। उस क्षेत्र की सीमा थी—उत्तर मे 'टीनशान' पर्वत श्रेणी, दक्षिण मे काश्मीर, तिब्बती पठार और कुनलुन पर्वत श्रेणी-पूर्व में चीन 'ननशान' पर्वत शृखला पश्चिम मे इमोश पर्वत श्रेणी। इस क्षेत्र को आजकल रूसी और चीनी तुर्किस्तान कहा जाता है। यह ३६ से ४३ अक्षांश और ७३ से ९२ देशांश (ग्रीनविच से पूर्व) मे स्थित है। तारिम घाटी की पूर्व से पश्चिम तक की लम्बाई ९०० मील और उत्तर मे कूचा से लेकर दक्षिण में कुनलुन तलहटी तक की चौड़ाई ३०० मील से कम नही है। बौद्ध धर्म इस क्षेत्र में मुद्दतो तक फला-फूला।

मध्य एशिया यद्यपि एक विस्तृत क्षेत्र है, किन्तु उसका बड़ा भाग मरुस्थलीय है। इसके पूर्व और पश्चिम में "तकला मकन" का मरुस्थल है, जिसकी सीमा पर निजना, बारकन्द एवं तारिम नदियो की घाटियों पर मरुद्यानो (ओसिस) के हरे-भरे मैदान है। दक्षिण में कुनलुन पर्वत की तलहटी के ढलवॉ किनारो पर भी मरुद्यानों की पट्टियाँ हैं। पश्चिम एवं उत्तर में काशगर, यारकन्द, कूचा और कर शहर में खोतान के प्रसिद्ध मरुद्यान अवस्थित हैं।

मध्य एशिया के विस्तृत क्षेत्र में बसने योग्य स्थान केवल मरुद्यान ही थे, जिनके इर्द-गिर्द ही विभिन्न जातियो के लोग निवास करते थे, उन्ही क्षेत्रों में बौद्ध धर्म का प्रचार था। कुछ शताब्दियों तक यह क्षेत्र बौद्ध धर्म एवं संस्कृति के केन्द्र बने रहे। अब चीनियों का अधिकार हो जाने से सभी स्थानो के नाम भी बदल गये है। अब काशगर को "को-शां" कूचा को "फू चिह" यारकन्द को "ना-फो वो" निय को "नीजम" तुरफन को "कावचेंग" खोतान को "कुस तन" कहा जाता है। इनमें तारिम घाटी के दक्षिण में खोतान सबसे बड़ा एवं महत्त्वपूर्ण उद्यान है। सेनर्ट कृत "खरोष्ट्री डाक्यूमेन्ट्स" ग्रन्थ में पाँच छोटे राज्यों की चर्चा है, जिनके नाम पेपिया, तजक, अमगोक, माहिरी, एवं मास्यान थे। इनके राजा 'कुशान' शाही पदवी धारण करते थे। उन्हे महाराज, रायतिराय और देवपुत्र भी कहा जाता था।

बहुत प्राचीन काल मे चीन का पश्चिम से सम्बन्ध दो व्यापारिक मार्गों द्वारा स्थापित था। ये मार्ग मध्य एशिया से होकर जाते थे। चीन की सीमा से तारिम घाटी होकर बलख तक यह मार्ग चले गये थे। इन्हे "सिल्क मार्ग" कहा जाता था। चीन का रेशम रोमन साम्राज्य के देशो मे बड़े पैमाने पर इन्ही रास्तों से जाता था, इसीलिये उनका नाम सिल्क मार्ग पड़ गया था। पहली शताब्दी से लेकर ग्यारहवी शताब्दी तक इन रास्तों का व्यवसाय तथा यातायात प्रयोजनों के लिये भरपूर प्रयोग होता था। इनके अतिरिक्त एक तीसरा मार्ग और था जो भारत और मध्य एशिया को मिलाता था। यह श्रीनगर से गिलगिट होता हुआ काशगर तक पहुँचता था, भारत से मध्य एशिया में बुद्ध धर्म मुख्यतः इसी मार्ग से गया था।

कान्सू प्रान्त मे स्थित 'तुन हाग' नगर तीसरी शताब्दी मे बौद्ध धर्म के प्रचारको का प्रमुख केन्द्र था। शोधकर्ता इलियट के तत्वावधान में फ्रांसीसी पुरातत्व वेत्ताओं ने कुचियन, खोतानी, सीरिक, तिब्बती और संस्कृत भाषाओ के जो प्राचीन ग्रन्थ एवं लेख उपलब्ध किये हैं, उनमे बौद्ध धर्म द्वारा बहुत कठिनाइयो का सामना करके, इस मार्ग का निर्माण और उपयोग करने का उल्लेख है। 'सैण्ड बरीड रुइन्स ऑफ खोतान' ग्रन्थ मे भी इस मार्ग के प्रयोजन, निर्माण और उपयोग की चर्चा है।

बौद्ध इतिहासकार 'बुद्ध घोष' ने इस क्षेत्र का उल्लेख 'कुरुरथ्य' नाम से किया है। उसने अपने ग्रन्थ "पापांक दानी" में भगवान बुद्ध के उपदेशों का प्रचार करने के लिये उत्साही धर्मप्रचारकों के भारत से जाने की चर्चा की है।

पर्जिटेर कृत 'डायनेस्टीज ऑफ दि कलि एज' (कलियुगीन राजाओं की वंशावलि) में उल्लेख है कि भगवान बुद्ध की मृत्यु के उपरान्त सम्राट अशोक ने बौद्ध गुरु मोदगलि पुत्र तिष्य ने 'तृतीय बौद्ध महासभा' (संगीति) बुलाई, जिसमें निश्चय किया गया कि तथागत के धर्म सन्देशों का प्रसार करने के लिये विदेशों में धर्म पुरोहित भेजे जाँय। तदनुसार गान्धार के लिये मज्झन्तिक, यूनान में महा रक्षित और लंका में महा महिन्द के नेतृत्व मे धर्म विजय के लिये प्रचार मण्डल भेजे गये। इस निर्णय का उल्लेख टाइनर कृत-'इंगलिश ट्रांस्लेशन ऑफ महावंश में भी है और अशोक के 'तेरहवें शिलालेख में भी उसकी चर्चा है।

कनिष्की का राज खोतान से लेकर सिन्ध तक फैला था। तक्षशिला विश्वविद्यालय की वृद्धि उसकी सहायता से ही हुई थी, उसमें छात्रों के अतिरिक्त तीन हजार अध्यापकों तथा प्रचारकों के रहने योग्य कमरे बने थे। मथुरा में कनिष्क की मूर्ति के साथ जो शिलालेख पाया गया है, उससे प्रतीत होता है कि उसका राज्य बढ़ते-बढ़ते मथुरा तक पहुँच गया था।

'एपीग्राफिका इण्डिया' ग्रन्थ के भाग ६ मे विस्तारपूर्वक उन प्रमाणों का संकलन है, जिनसे यह सिद्ध होता है कि मध्य एशिया के सुविस्तृत भाग मे बौद्ध धर्म फैला हुआ था। प्राकृत और संस्कृत के अतिरिक्त उस क्षेत्र मे खरोष्ट्री, उइगुरु, तोरवारी, खोतानी, कूचीं, सोगरी आदि जो स्थानीय भाषाये प्रचलित थीं, उनमें भी बौद्ध धर्म के ग्रन्थों का अनुवाद उपलब्ध हुआ है।

पुरातत्ववेत्ताओं ने मध्य एशिया क्षेत्र के पिछले इतिहास पर प्रकाश डालने वाली खोजें बहुत परिश्रम पूर्वक की हैं। कालोनेल बोवर ने भोज-पत्रों पर लिखा एक प्राचीन ग्रन्थ बहुत कीमत देकर खरीदा था। यह क्षेत्रा कूत्र में कुमतुरा स्थान मे रेत के नीचे गढ़ा हुआ मिला था। यह चौथी शताब्दी का संस्कृत भाषा का ग्रन्थ है। फ्रांसीसी विद्वान डुट्रेइल डीरिहन्स ने भी खोतान से ऐसा ही भोजपत्रो पर लिखा हुआ प्राचीन ग्रन्थ प्राप्त किया था। यह बौद्ध धर्म का प्रसिद्ध ग्रन्थ 'धम्मपद' ग्रन्थ है, जो प्राकृत भाषा में है और खरोष्ट्री लिपि मे दूसरी शताब्दी में लिखा गया है। इसी प्रकार सर अर्ल स्टेन, व्हान लोकोड, पाल पीलिअर, सेनर्ट, बुहलर, कोनाव आदि विद्वानों ने इसप्रकार की खोज में बहुत प्रयत्न किया है। रूस के क्लेमेन्टज और जापान के काउण्ट ओनानी मे इन प्रयत्नो में पीछे नही रहे हैं। हार्नेल रचित 'मैनसुक्रिप्ट रिमेन्स ऑफ बुद्दिष्ट लिटरेचर फाउण्ड इन तुर्किस्थान' ग्रन्थ में इन खोजो का निष्कर्ष प्रस्तुत किया गया है।

इनके अतिरिक्त एच. डब्ल्यू बेली के 'बुद्दिस्ट टेक्स्ट्स' नान जिओ के 'ए केटलॉग ऑफ दि चाइनीज ट्रान्सलेशन्स ऑफ दि बुद्धिस्ट ट्रिपिटिक', टी. बेरो के 'दि लेगुएज ऑफ खरोष्ट्री डाक्यूमेन्ट्स फ्राम चाइनीज तुर्किस्तान', जे. टाकाकुम् कृत 'ए रिकार्ड ऑफ दि बुद्दिस्ट रिलीजन' आदि ग्रन्थो में विस्तारपूर्वक इन खोजों का वर्णन किया गया है, जो प्राचीनकाल में मध्य एशिया के सुविस्तृत क्षेत्र पर प्रकाश डालती है। पिछले दिनो इस प्रकार के जो प्रमाण मिले है, उनकी संख्या ७६४ है।

सत्रहवी शताब्दी के प्रवासी भारतीयो का बहुत बड़ा समुदाय मध्य एशिया के ताशकन्द नगर तथा आस-पास के क़स्बो मे बसा हुआ था। ताशकन्द, बुखारा, समरकन्द आदि मे उनकी कितनी ही कारवाँ सराये थी। 'मारगोलान' 'नैपानगन' मे भारतीयो की अच्छी बस्तियाँ बसी हुई थी। समरकन्द और बुखारा की चाय-मण्डी पर उनका आधिपत्य था।

मध्य एशिया का तुर्किस्तानी भाग पीछे कुछ तो रूस में जुड़ गया और कुछ चीन मे। इससे पूर्व उसकी स्थिति स्वतत्र थी। इस समय वहाँ भारतीय विभिन्न व्यवसायों में लगे थे। जौहरी, स्वर्णकार, व्यापारी, साहूकार, वस्त्र निर्माता, किसान, पुस्तक व्यवसायी आदि वर्गो मे भारतीयों की बहुत संख्या थी।

मध्य एशिया में बुद्ध धर्म किस प्रकार बोया गया, उगाया गया और बढ़ाया गया, इस संबंध में अधिक जानकारी देने वाली कुछ अन्य महत्त्वपूर्ण पुस्तको की

जीतने और बुद्धि को आकर्षित करने में इन दोनों ही कारणों से आशाजनक सफलता प्राप्त हुई। बुद्धिजीवियों ने उसका भरपूर समर्थन और स्वागत किया। विद्वान "माउतिसिङ" ने द्वितीय शताब्दी के अन्त में एक वार्तिक भाष्य लिखा, जिसमें बौद्ध धर्म के साथ चीन के प्रचलित धर्मों की तुलना की गयी और बौद्ध दर्शन को हर दृष्टि से श्रेष्ठ ठहराया। ऐसा ही प्रतिपादन अन्य स्थानीय विद्वानो ने भी किया है। युन कांग-हंडमेन उन-हुआंग आदि से उपलब्ध प्रमाणो के आधार पर इस तथ्य की भली प्रकार पुष्टि से होती है।

ईसा की प्रथम सदी मे मध्य एशिया के खोतान से लवनौर तक के लम्बे प्रदेश मे बौद्ध धर्म का बोलबाला था। इस प्रदेश की सरकारी भाषा खरोष्ठी थी, जिसे संस्कृत की ही पुत्री कहा जा सकता है। इलियट कृत 'हिन्दुइज्म एण्ड बुद्धिज्म' ग्रन्थ से स्पष्ट है कि मध्य एशिया की तारिम घाटी मे किसी समय बौद्ध धर्म ही व्याप्त था। उस क्षेत्र की सीमा थी—उत्तर मे 'टीनशान' पर्वत श्रेणी, दक्षिण मे काश्मीर, तिब्बती पठार और कुनलुन पर्वत श्रेणी-पूर्व में चीन 'ननशान' पर्वत शृखला पश्चिम मे इमोश पर्वत श्रेणी। इस क्षेत्र को आजकल रूसी और चीनी तुर्किस्तान कहा जाता है। यह ३६ से ४३ अक्षांश और ७३ से ९२ देशांश (ग्रीनविच से पूर्व) मे स्थित है। तारिम घाटी की पूर्व से पश्चिम तक की लम्बाई ९०० मील और उत्तर मे कूचा से लेकर दक्षिण मे कुनलुन तलहटी तक की चौड़ाई ३०० मील से कम नहीं है। बौद्ध धर्म इस क्षेत्र में मुद्दतो तक फला-फूला।

मध्य एशिया यद्यपि एक विस्तृत क्षेत्र है, किन्तु उसका बड़ा भाग मरुस्थलीय है। इसके पूर्व और पश्चिम मे "तकला मकन" का मरुस्थल है, जिसकी सीमा पर निजना, बारकन्द एवं तारिम नदियो की घाटियों पर मरुद्यानो (ओसिस) के हरे-भरे मैदान है। दक्षिण में कुनलुन पर्वत की तलहटी के ढलवाँ किनारों पर भी मरुद्यानों की पट्टियाँ हैं। पश्चिम एवं उत्तर में काशगर, यारकन्द, कूचा और कर शहर में खोतान के प्रसिद्ध मरुद्यान अवस्थित हैं।

मध्य एशिया के विस्तृत क्षेत्र मे बसने योग्य स्थान केवल मरुद्यान ही थे, जिनके इर्द-गिर्द ही विभिन्न जातियों के लोग निवास करते थे, उन्हीं क्षेत्रों में बौद्ध धर्म का प्रचार था। कुछ शताब्दियों तक यह क्षेत्र बौद्ध धर्म एवं संस्कृति के केन्द्र बने रहे। अब चीनियों का अधिकार हो जाने से सभी स्थानों के नाम भी बदल गये हैं। अब काशगर को "को-शां" कूचा को "फू चिह" यारकन्द को "ना-फो वो" निय को "नीजम" तुरफन को "कावचेंग" खोतान को "कुस तन" कहा जाता है। इनमे तारिम घाटी के दक्षिण में खोतान सबसे बड़ा एवं महत्त्वपूर्ण उद्यान है। सेनर्ट कृत "खरोष्ट्री डाक्यूमेन्ट्स" ग्रन्थ में पाँच छोटे राज्यों की चर्चा है, जिनके नाम पेपिया, तजक, अमगोक, माहिरी, एवं मास्यान थे। इनके राजा 'कुशान' शाही पदवी धारण करते थे। उन्हे महाराज, रायतिराय और देवपुत्र भी कहा जाता था।

बहुत प्राचीन काल में चीन का पश्चिम से सम्बन्ध दो व्यापारिक मार्गों द्वारा स्थापित था। ये मार्ग मध्य एशिया से होकर जाते थे। चीन की सीमा से तारिम घाटी होकर बलख तक यह मार्ग चले गये थे। इन्हे "सिल्क मार्ग" कहा जाता था। चीन का रेशम रोमन साम्राज्य के देशों मे बड़े पैमाने पर इन्ही रास्तो से जाता था, इसीलिये उनका नाम सिल्क मार्ग पड़ गया था। पहली शताब्दी से लेकर ग्यारहवीं शताब्दी तक इन रास्तों का व्यवसाय तथा यातायात प्रयोजनों के लिये भरपूर प्रयोग होता था। इनके अतिरिक्त एक तीसरा मार्ग और था जो भारत और मध्य एशिया को मिलाता था। यह श्रीनगर से गिलगिट होता हुआ काशगर तक पहुँचता था, भारत से मध्य एशिया मे बुद्ध धर्म मुख्यतः इसी मार्ग से गया था।

कान्सू प्रान्त मे स्थित 'तुन हाग' नगर तीसरी शताब्दी मे बौद्ध धर्म के प्रचारको का प्रमुख केन्द्र था। शोधकर्त्ता इलियट के तत्वावधान मे फ्रांसीसी पुरातत्व वेत्ताओ ने कुचियन, खोतानी, सीरिक, तिब्बती और संस्कृत भाषाओ के जो प्राचीन ग्रन्थ एवं लेख उपलब्ध किये हैं, उनमे बौद्ध धर्म द्वारा बहुत कठिनाइयों का सामना करके, इस मार्ग का निर्माण और उपयोग करने का उल्लेख है। 'सैण्ड बरीड रुइन्स ऑफ खोतान' ग्रन्थ मे भी इस मार्ग के प्रयोजन, निर्माण और उपयोग की चर्चा है।

बौद्ध इतिहासकार 'बुद्ध घोष' ने इस क्षेत्र का उल्लेख 'कुरुथ्य' नाम से किया है। उसने अपने ग्रन्थ "पापांक दानी" में भगवान बुद्ध के उपदेशों का प्रचार करने के लिये उत्साही धर्मप्रचारकों के भारत से जाने की चर्चा की है।

परजिटेर कृत 'डायनेस्टीज ऑफ दि कलि एज' (कलियुगीन राजाओं की वंशावलि) में उल्लेख है कि भगवान बुद्ध की मृत्यु के उपरान्त सम्राट अशोक ने बौद्ध गुरु मोदगलि पुत्र तिष्य ने 'तृतीय बौद्ध महासभा' (संगीति) बुलाई, जिसमें निश्चय किया गया कि तथागत के धर्म सन्देशों का प्रसार करने के लिये विदेशों मे धर्म पुरोहित भेजे जाँय। तदनुसार गान्धार के लिये मज्झन्तिक, यूनान में महा रक्षित और लका में महा महिन्द के नेतृत्व में धर्म विजय के लिये प्रचार मण्डल भेजे गये। इस निर्णय का उल्लेख टाइनर कृत-'इंगलिश ट्रांस्लेशन ऑफ महावंश में भी है और अशोक के 'तेरहवें शिलालेख में भी उसकी चर्चा है।

कनिष्की का राज खोतान से लेकर सिन्ध तक फैला था। तक्षशिला विश्वविद्यालय की वृद्धि उसकी सहायता से ही हुई थी, उसमे छात्रों के अतिरिक्त तीन हजार अध्यापको तथा प्रचारकों के रहने योग्य कमरे बने थे। मथुरा में कनिष्क की मूर्ति के साथ जो शिलालेख पाया गया है, उससे प्रतीत होता है कि उसका राज्य बढ़ते-बढ़ते मथुरा तक पहुँच गया था।

'एपीग्राफिका इण्डिया' ग्रन्थ के भाग ६ मे विस्तारपूर्वक उन प्रमाणो का संकलन है, जिनसे यह सिद्ध होता है कि मध्य एशिया के सुविस्तृत भाग में बौद्ध धर्म फैला हुआ था। प्राकृत और संस्कृत के अतिरिक्त उस क्षेत्र में खरोष्ट्री, उइगुरु, तोरवारी, खोतानी, कूची, सोगरी आदि जो स्थानीय भाषाये प्रचलित थी, उनमें भी बौद्ध धर्म के ग्रन्थों का अनुवाद उपलब्ध हुआ है।

पुरातत्ववेत्ताओं ने मध्य एशिया क्षेत्र के पिछले इतिहास पर प्रकाश डालने वाली खोजें बहुत परिश्रम पूर्वक की हैं। कालोनेल बोवर ने भोज-पत्रों पर लिखा एक प्राचीन ग्रन्थ बहुत कीमत देकर खरीदा था। यह क्षेचा कृत्र में कुमतुरा स्थान मे रेत के नीचे गढ़ा हुआ मिला था। यह चौथी शताब्दी का संस्कृत भाषा का ग्रन्थ है। फ्रांसीसी विद्वान डुट्रेइल डीरिहन्स ने भी खोतान से ऐसा ही भोजपत्रो पर लिखा हुआ प्राचीन ग्रन्थ प्राप्त किया था। यह बौद्ध धर्म का प्रसिद्ध ग्रन्थ 'धम्मपद' ग्रन्थ है, जो प्राकृत भाषा में है और खरोष्ट्री लिपि मे दूसरी शताब्दी में लिखा गया है। इसी प्रकार सर अर्ल स्टेन, व्हान लोकोड, पाल पीलिअर, सेनर्ट, बुहलर, कोनाव आदि विद्वानो ने इसप्रकार की खोज में बहुत प्रयत्न किया है। रूस के क्लेमेन्टज और जापान के काउण्ट ओनानी में इन प्रयत्नों मे पीछे नही रहे हैं। हार्नेल रचित 'मैनसुक्रिप्ट रिमेन्स ऑफ बुद्धिष्ट लिटरेचर फाउण्ड इन तुर्किस्थान' ग्रन्थ में इन खोजो का निष्कर्ष प्रस्तुत किया गया है।

इनके अतिरिक्त एच. डब्ल्यू बेली के 'बुद्धिस्ट टेक्स्ट्स' नान जिओ के 'ए केटलॉग ऑफ दि चाइनीज ट्रान्सलेशन्स ऑफ दि बुद्धिस्ट ट्रिपिटिक', टी. बेरो के 'दि लेगुएज ऑफ खरोष्ट्री डाक्यूमेन्ट्स फ्राम चाइनीज तुर्किस्तान', जे. टाकाकुम् कृत 'ए रिकार्ड ऑफ दि बुद्धिस्ट रिलीजन' आदि ग्रन्थो में विस्तारपूर्वक इन खोजो का वर्णन किया गया है, जो प्राचीनकाल मे मध्य एशिया के सुविस्तृत क्षेत्र पर प्रकाश डालती है। पिछले दिनो इस प्रकार के जो प्रमाण मिले हैं, उनकी संख्या ७६४ है।

सत्रहवी शताब्दी के प्रवासी भारतीयो का बहुत बड़ा समुदाय मध्य एशिया के ताशकन्द नगर तथा आस-पास के कस्बो मे बसा हुआ था। ताशकन्द, बुखारा, समरकन्द आदि में उनकी कितनी ही कारवाँ सराये थी। 'मारगोलान' 'नेपानगन' में भारतीयों की अच्छी बस्तियाँ बसी हुई थी। समरकन्द और बुखारा की चाय-मण्डी पर उनका आधिपत्य था।

मध्य एशिया का तुर्किस्तानी भाग पीछे कुछ तो रूस में जुड़ गया और कुछ चीन मे। इससे पूर्व उसकी स्थिति स्वतंत्र थी। इस समय वहाँ भारतीय विभिन्न व्यवसायों में लगे थे। जौहरी, स्वर्णकार, व्यापारी, साहूकार, वस्त्र निर्माता, किसान, पुस्तक व्यवसायी आदि वर्गों मे भारतीयों की बहुत संख्या थी।

मध्य एशिया मे बुद्ध धर्म किस प्रकार बोया गया, उगाया गया और बढ़ाया गया, इस संबंध में अधिक जानकारी देने वाली कुछ अन्य महत्त्वपूर्ण पुस्तको की

नामावली निम्न प्रकार है—(१) अकनुमा कृत—"डिक्शनरी ऑफ बुद्धिस्ट इण्डियन प्रापर नेम्स"।

(२) रतनचन्द्र अग्रवाल कृत—"लाइफ ऑफ बुद्धिस्ट मान्कस इन चाइनीज तुर्किस्तान"।

(३) पी. सी. बागची कृत—"इण्डिया एण्ड सेण्ट्रल एशिया"।

(४) चारु सियाग कांग कृत—"इण्डोचाइनीज रिलेशन्स"।

(५) हेडिचन कृत—"सेन्ट्रल इण्डिया एण्ड तिब्बत"।

(६) विलियम माण्टगोमरी कृत—"दि अर्ली एम्पायर्स ऑफ सेन्ट्रल एशिया"।

(७) एन. दत्ता कृत—"गिलगिट मैनुस्क्रिप्ट्स।"

चीनी क्षेत्र मे भारत से पहुँचे बौद्ध ग्रन्थों का अनुवाद कब, किस प्रकार और किसके द्वारा हुआ, इसका विवरण जानने के लिये अकनुमा कृत—"दि कम्पेरेटिव कैटलाग ऑफ चाइनीज आगमाज एण्ड पाली निकायाज", अनेस्की कृत—"पाली एलीमेण्ट्स इन चाइनीज बुद्धिज्म" आदि ग्रन्थों को पढ़ना चाहिये।

बौद्ध धर्म के भारत से मध्य एशिया पहुँचने का मध्य केन्द्र काश्मीर रहा है। दोनो देशो के बीच भाषा सम्पर्क बनाने, सम्बन्धी साधन उपलब्ध कराने की सुविधा काश्मीर से ही सम्पन्न होती थी। तक्षशिला विश्वविद्यालय के प्राध्यापको मे काश्मीरी पण्डितो का ही बाहुल्य था। कुमारजीव संघभृति, यशस पुष्यन्नात, धर्म यशस, बुद्ध सशस, विमलाक्ष, धर्म मित्र, धर्म क्षेम, जीव गुप्त, धर्म गुप्त, धर्मकन्द, अजित सेन, अजित गुप्त, काश्यप मातंग, वोधि रुचि, सुधारकर सिंह, उप शून्य आदि उद्‌भट विद्वान् तथा परम नैष्ठिक बौद्ध भिक्षु मध्य एशिया में बौद्ध धर्म के संस्थापक तथा विस्तार-कर्त्ता माने जाते हैं। इनमें से अधिकाश का परिचय विवरण यही बताता है कि उनमें से कितने ही तो काश्मीर तथा उसके समीपवर्ती क्षेत्र में ही जन्मे थे। तक्षशिला विश्वविद्यालय का एक बड़ा विभाग इसी प्रयोजन के लिये था कि वह भारत से मध्य एशिया जाने वालो तथा मध्य एशिया से भारत आने वालो की भाषा सम्बन्धी कठिनाई को दूर करे और भौगोलिक तथा सामाजिक स्थिति से परिचय कराये। इतना ही नहीं वह इन लोगो के लिये आवश्यक साधन-सामग्री भी जुटाता था। तक्षशिला मे यह विशेषता नालन्दा से भी कही अधिक थी। नालन्दा मे इस प्रकार का प्रशिक्षण तो था, पर वह भारत के मध्य में अवस्थित होने के कारण व्यावहारिक दृष्टि से बहुत अधिक कार्य नही कर सकता था।

भारतीय धर्म प्रचारकों को इस बात का सदा ध्यान रहा कि वे स्थानीय धर्म प्रचारक तैयार करें। इस दृष्टिकोण को सम्मुख रखकर ही इतनी बड़ी सफलतायें प्राप्त कर सकना संभव हो सका और एशिया महाद्वीप का प्रायः आधा भाग बौद्ध धर्म के झण्डे के नीचे आकर खड़ा हो सका। 'आन-शी-को' तो बुद्ध की तरह ही एक समृद्ध राज्य के राजकुमार थे, जिन्होने राजपाट छोड़कर प्रवज्या की दीक्षा ली थी। पार्थिया से चलकर वे चीन पहुँचे और राजा-प्रजा के दोनो क्षेत्रों को अपने तप-त्याग तथा प्रवचनो से प्रभावित करते रहे। 'ते केनन बौद्धिक यूएन. चाइने' ग्रन्थ मे 'शी को' के कार्य-कलाप पर विस्तृत प्रकाश डाला गया है। 'चिलु किय-चाऊ—अनहियुएन-चियो—काडमोड सियाङ-चुत ति-तन को-कांग कि यू' आदि विद्वान मध्य एशिया के ही निवासी थे। स्थानीय परिस्थितियो से अधिक परिचित होने तथा भाषा सम्बन्धी कठिनाई से बचे होने के कारण उनकी सफलताये और भी अधिक सुविस्तृत एव सहज संभव हो सकी।

चीन-भारतीय संस्कृति के चरणों में

सम्राट अशोक की राज्य-संहायता पाकर बौद्ध-प्रचारक एशिया योरोप और अफ्रीका के तीनों महाद्वीपो में पहुँचे और उन्होंने उन क्षेत्रो मे धर्म स्थापना आशाजनक सफलता के साथ सम्पन्न की। कुशान राजा कनिष्क की सहायता से भी धर्म-विजय अभियान द्रुत गति से आगे बढ़ा। उसी सन्दर्भ मे चीन मे बौद्ध धर्म प्रसार, विस्तार की शृखला और आगे बढ़ती है।

यों इससे पूर्व भी भारतीय धर्म चीन मे मौजूद था। राजकीय धार्मिक और व्यावसायिक आदान-प्रदान हजारों वर्ष से प्रचलित थे। मनस्वी लोग विश्व मंगल की आकांक्षा लेकर समस्त ससार में पहुँचते थे। उसी

कार्य क्षेत्र में चीन का काफी महत्त्वपूर्ण स्थान था। थल यात्रा की व्यवस्था रहने से और उस देशवासियो में सहज धर्मबुद्धि रहने से भारतीयो के लिये यह सुलभ भी था कि वे चीन पहुँचें और उस विशाल भू-खण्ड को समुन्नत बनाने में समुचित योगदान दे। भारत की सीमाओं से लगा होने के कारण थल-मार्ग की सुविधा उन दिनो विद्यमान थी और दूरवर्ती एवं कष्टसाध्य होने पर भी आवागमन अपने क्रम से चलता रहता था।

इतिहासवेत्ता सर डब्ल्यू-जोन्स के अनुसार ईसा से पूर्व की शताब्दियो मे चीन में हिन्दू धर्म संव्याप्त था। चीनी इतिहासवेत्ता ओकाकुश के अनुसार अकेले लोगांग प्रान्त मे दस हजार हिन्दू-प्रचारक रहते थे। उनके अनुयायियों की संख्या लाखों में थी। चीनी धर्म पुस्तक 'चोकिंग' मे काश्मीर से हिन्दुओ से उस देश में पहुँचने और सुव्यवस्थित समाज व्यवस्था बनाने का उल्लेख है। चीनी यात्री हवेनत्सांग आसाम से एक ऐसा नक्शा साथ ले गया था, जिसमे तत्कालीन कामरूप शासक भास्कर वर्मन के राज्य विस्तार का अकन है। इसमे नेफा ही नहीं चीन की मूल भूमि का भी बहुत बड़ा भाग उसी राज्य मे सम्मिलित दिखाया गया है। प्राचीन चीन मे वर्ण-व्यवस्था, प्रकृति पूजा, श्राद्ध प्रथा, सयुक्त परिवार, योगासन, मत्र आदि की परम्पराये हिन्दू धर्म की ही देन है। ताओ धर्म को हिन्दू-धर्म की ही एक शाखा कहा जा सके उसमे इतना साम्य है।

मध्य एशिया और चीन के लिये भारत से आवागमन के पाँच भागो का उल्लेख मिलता है—

(१) पूर्व तुर्किस्तान का मार्ग-यह चीन और भारत के मध्यवर्ती क्षेत्र मे होकर गुजरता था। इसके दो भाग थे। एक 'यू-मान-आन' से और दूसरा 'यांग की आन' से। 'टुएन-हुएन' नगर उस मार्ग का चौराहा तथा महत्त्वपूर्ण स्थान था। ईसा की दूसरी सदी में बौद्ध प्रचारकों ने इस मार्ग को सुव्यवस्थित बनाया था। तीसरी सदी मे यह इस योग्य हो गया था कि सामान्य यात्री इस पर आ जा सकते थे। जो दूसरा मार्ग 'टुएन-हुएन' से तुरफान सारा शहर, कूचा आदि होता हुआ पेशावर पहुँचता था, उसी से चीनी यात्री हवेनत्सांग आया था।

(२) दूसरा मार्ग टुएन—हुएन से पश्चिम की ओर चलकर यारकन्द और पामीर को पार करते हुए बलख और पार्थिया तक जाता था। सन् ३९९ मे चीनी यात्री फाहियान अपने साथियों सहित उसी मार्ग से भारत आया था। अशोक का निर्वासित राजकुमार इसी मार्ग से खोतान गया था। काश्मीरी विद्वान इसी मार्ग से मध्य एशिया जाते थे।

(३) आसाम मार्ग—आसाम से उत्तरी बर्मा होकर यह मार्ग जाता था। सन् ६४२ मे चीनी यात्री हवेनत्सांग ने इसी मार्ग से आसाम मे प्रवेश करके तत्कालीन शासक, भास्कर वर्मन से भेट की थी। भारतीय भिक्षु काश्यप मातंग और धर्मरक्ष इसी मार्ग से चीन गये थे। यह मार्ग अधिक दुर्गम था, इसलिये सातवी सदी के बाद इसे छोड़कर यात्रियो ने समुद्र मार्ग को सरल पाया और अपनाया।

(४) तिब्बती मार्ग—भारतीय बौद्धो ने तिब्बत के यातायात के लिये अवरुद्ध घेरे को तोड़कर यह मार्ग बनाया और उस देश के साथ भारतीय सम्बन्ध सभव हो सका। उन दिनो तिब्बत को 'भोट' अर्थात् 'दुर्गम क्षेत्र' में कहते थे। सातवी सदी मे यह मार्ग खुल जाने से वह अड़चन दूर हुई और नालन्दा विश्व विद्यालय के उपाध्याय, पद्म सभव, श्रीघोष जिनमित्र, दानशील, गोधिमित्र, दीपशंकर आदि वहाँ पहुँचकर धर्मचक्र प्रवर्तन का प्रयोजन पूरा कर सके। चीन और भारत के बीच तिब्बत होकर यह एक नया मार्ग खुला। सन् ६२७ मे चीनी पर्यटक 'यानचाउ' इसी मार्ग से भारत आया था।

(५) समुद्री मार्ग—ईसा की प्रथम शताब्दी से भारतीय जलपोत समुद्र मार्ग से दक्षिण-पूर्व एशिया जाने लगे थे और मध्य एशिया का सरल मार्ग तलाश करने में सफल हो चुके थे। अशोक के शिलालेखों से स्पष्ट है कि कष्टसाध्य थल मार्ग की अपेक्षा बौद्ध प्रचारको को जलमार्ग अधिक सुविधाजनक लगा था। ये जहाज चीन के बन्दरगाह 'टोन किन' और 'कैन्टन' तक पहुँचते थे, पांचवी शताब्दी में चीनी यात्री फाहियान लका, जावा होते हुए समुद्री मार्ग से ही अपने देश को वापस गया था। इसके बाद काश्मीर के राजकुमार गुण वर्मन और उज्जैन के बौद्ध भिक्षु परमार्थ भी इसी रास्ते

जावा पहुँचे थे। इस मार्ग ने प्रसार, विस्तार एव यातायात की सुविधाये अन्य मार्गों की अपेक्षा अधिक सुगम बना दीं।

भारत से विदेशों में जाकर जिन विद्वानो ने बौद्ध धर्म के प्रचार-विस्तार में अपने को खपा दिया उनकी सख्या हजारो है, पर इतिहास मे जिनका नाम विशेष कर्तृत्व के साथ जुड़ा है, उनमे आचार्य दीपकर, श्रीज्ञासन, कुमारजीव, परमार्थ, बोधि धर्म, बोधिरुचिका, विशेष उल्लेखनीय है। इन लोगों ने अपनी शिष्य मण्डली इस प्रयोजन के लिये प्रशिक्षित की थी। जिस देश मे जिन्हे जाना था, उन्हें वहाँ की भाषा, संस्कृति स्थिति, यात्रा संभावना आदि के सम्बन्ध में सुविस्तृत ज्ञान कराने का विशेष प्रबन्ध किया गया था। विक्रमशिला बिहार में अध्ययन करने के उपरान्त उन्होने तिब्बत, सुवर्णद्वीप (आधुनिक सुमात्रा) ताम्रलिप्ति (आधुनिक तामलुक) की मुहिम संभाली। वे १०८ शिक्षा केन्द्रो का संचालन करते थे। वे नालन्दा अदन्तपुरी, वज्रासन और विक्रमशिला महाविहारो का अनुकरण करते हुए स्थान-स्थान पर धर्मधारणा तथा प्रचार-प्रक्रिया का प्रशिक्षण करने मे निरत थे। तिब्बत उनका कार्यक्षेत्र विशेष रूप से रहा।

कुमारजीव काश्मीरी पण्डित थे। उनका काल ३४४ से ४१३ तक का माना जाता है। चीन उनका विशेष कार्यक्षेत्र था, यों उन्होने मध्य एशिया के खोतान, काशगर, यारकन्द तथा तुर्किस्तान के अन्य क्षेत्रों को भी बौद्ध-प्रकाश से आलोकित किया था। उन्होने अपने जीवन काल में तीन हजार से अधिक सुयोग्य धर्म-प्रचारक और साहित्य-सृजेता तैयार किये थे। उन्होने वहाँ की भाषाये सीखी और वहाँ के निवासियो को लेखनी तथा वाणी से धर्मनिष्ठ बनाने के लिये अनवरत् श्रम किया। बौद्ध धर्म के विस्तार मे ऐसे ही नैष्ठिक धर्म-प्रचारको का त्याग-बलिदान काम आया है।

उज्जैन विश्वविद्यालय के छात्र परमार्थ, जिनका दूसरा नाम गुणरत था, चीन चले गये और उस देश की भाषा को संस्कृत तथा पाली में लिखे बौद्ध-साहित्य से समृद्ध करने मे अनवरत् रूप से आजीवन लगे रहे। वे सन् ५४८ मे नानकिंग (चीन) पहुँचे। इक्कीस वर्ष कार्यरत रहकर वे ५६९ में उसी देश की भूमि में अपनी मिट्टी को मिला गये। इस अवधि में उन्होंने जितना अनुवाद कार्य किया वह २७५ बड़ी जिल्दों मे संग्रहीत है।

इसी प्रकार बोधि-धर्म का कार्य है। उन्हें धर्म-बोधि भी कहते है। वे सन् ५३६ मे चीन पहुँचे और दस वर्ष कार्य करके ५३६ मे उसी भूमि में समा गये। उन्होने साधनात्मक शिक्षा का बहुत प्रसार किया। चीन के अनेक सम्राटो तथा विभूतिवानों को उन्होने असाधारण रूप से प्रभावित किया था और उनके द्वारा धर्म प्रचार के अनेको महत्त्वपूर्ण साधन जुटाये जाने का पथ प्रशस्त किया था।

इसी शृंखला में दक्षिण भारत से चीन पहुँचने वाले विद्वान बोधिरुचि को भी रखा जा सकता है। वे युवावस्था मे ही चीन चले गये थे और शताधिक आयुष्य भोगकर सन् ७२७ में वही स्वर्गवासी हो गये। उन्होंने लेखनी, वाणी तथा प्रचार प्रक्रिया से जो कार्य किया उसने चीन को बुद्ध-दर्शन के चरणो मे श्रद्धावनत बनाने मे चिरस्मरणीय भूमिका प्रस्तुत की।

भारतीय बौद्ध-भिक्षुओ का प्रवाह चीन की ओर अनवरत् रूप से बहता ही रहा। उसमें कमी-वेशी के ज्वार-भाटे भले ही आते रहे हों पर क्रम की निरन्तरा अनवरत् रूप से चलती रही। ईसा की पाँचवी शताब्दी में संघदेव, बुद्ध-भद्र, बुद्ध जीव, गुणभद्र, धर्ममित्र, काल यशस, संघवर्मा, धर्मरक्ष आदि के नाम इतिहास के पृष्ठो पर अविस्मरणीय रूप से अंकित है। इनके अतिरिक्त उन सहस्रों धर्म-प्रचारकों के नाम अविज्ञात है, जिन्होने धर्म चक्र प्रवर्तन के लिये अपनी मातृभूमि और स्वजन सम्बन्धियो का मोह छोड़कर दुर्गम यात्रायें की और चीन मे बसकर धर्म का प्रचार करते हुए वही मर-खप गये।

गुणवर्मन के पूर्वज काश्मीर के राज परिवार में से थे। पर उसके पिता संघानन्द बौद्ध-धर्म मे दीक्षित होकर एकान्त-साधना मे सलग्न थे। उन्ही दिनों गुण-वर्मन का जन्म हुआ। किशोरवस्था मे उसने बौद्ध धर्म का गहन अध्ययन किया और २० वर्ष की आयु में सन्यास ग्रहण करके, धर्म प्रचार के लिये निकल पड़े। पहले वे लका पहुँचे और उसके बाद जावा पहुँचे।

उनके धर्मोपदेशों से प्रभावित होकर जावा नरेश बौद्ध बन गये और उन्होने अपनी समस्त प्रजा को भी उसका अनुयायी बना दिया। राजाज्ञा प्रसारित हुई-"सभी प्रजाजन गुणवर्मन का आदर करें, हिंसा न करें, धर्मात्मा बनें और भगवान बुद्ध के बताये मार्ग पर चले।"

सन् ४३१ में गुणवर्मन चीन पहुँचे। राजा 'संगविन ति' उनसे स्वयं मिलने आया, उनका राजकीय स्वागत किया और दीक्षा ग्रहण की। उनके लिये जेतवन विहार बनवाया। गुणवर्मन असाधारण विद्वान, तपस्वी और प्रतिभासम्पन्न थे। उन्होंने अनुवाद कार्य भी किया, पर उनका मुख्य कार्य घूम-घूमकर धर्मप्रचार करना ही रहा। भारत मे घर-घर कही-सुनी जाने वाली "सत्यनारायण कथा" की तरह उन्होंने उपदेश के लिये "सद्धर्म पुण्डरीक" कथा प्रचलित की, जिससे धर्म प्रचार का कार्य क्रमबद्ध रूप से चलने लगा। कितने ही धर्मोपदेशक उस कथा-प्रवचन को लेकर जनता मे घर-घर अलख जगाने के लिये कटिबद्ध हो गये।

गुणवर्मन का सबसे महत्त्वपूर्ण कार्य था चीन मे महिला भिक्षुणियों का उद्भव और संगठन। नारी जागरण के पिछड़े क्षेत्र में उनके इस प्रयास से भारी जागृति उत्पन्न हुई। उस देश मे ५०० वर्ष से बौद्ध धर्म प्रचलित था, पर उसमें महिलायें केवल दर्शक या अनुगामिनी मात्र थी। वे संगठित रूप से इस महान् मिशन के लिये कुछ कर सके ऐसा कोई प्रयत्न तब तक नहीं किया गया था। गुणवर्मन ने उस अभाव की पूर्ति की। उन्होंने महिला संघ की स्थापना करके, उन्हे भी भिक्षुणी बनकर धर्म-प्रचार कार्य में निरत होने का अवसर दिया।

गुणवर्मन के उपरान्त गुणभद्र, धर्म जालंयश, धर्मरुचि, रत्नमति, बोधिरुचि, गौतम, प्रज्ञा रुचि नामक प्रतिभाशाली एवं उद्भट विद्वान धर्म-प्रचारक भारत से चीन पहुँचे। उनका ज्ञान और व्यक्तित्व भी कम प्रखर न था। चीनी जनता को इन लोगों ने हर दृष्टि से प्रभावित किया और इस प्रकार धर्म विजय अभियान की सफलता का पक्ष अधिकाधिक प्रशस्त होता चला गया।

पेशावर के एक क्षत्रिय सद्ग्रहस्थ वज्रसार ने अपने प्रतिभाशाली पुत्र को बौद्ध-प्रचारक बनाने का संकल्प किया। इस प्रयोजन के लिये उसे विद्वान् धर्माचार्य "जिन यश" के संरक्षण मे रखा गया, जहाँ उसने अगाध विद्या, प्रतिभा और प्रेरणा प्राप्त की। २० वर्ष की आयु में उसने परिव्रज्या ग्रहण कर ली और धर्म प्रचार के लिये सुदूर देश के लिये रवाना हो गया। उसने चीन को अपना लक्ष्य बनाया और विद्वानो के साथ इस लम्बी यात्रा पर चल पडा। मार्ग इतना कठिन था कि पाँच रास्ते मे ही मर गये और केवल चार ही चीन पहुँच सके। इतने पर भी उन्होने तनिक भी निराशा नही आने दी और वहाँ पहुँचते ही अपने प्रयोजन मे जुट गये। इस मण्डली की प्रचार शैली बड़ी आकर्षक थी। राजा और प्रजा का उसे भरपूर सहयोग मिला। सन् ५९२ के लगभग चीन में जिन-गुप्त के उत्साहपूर्वक क्रिया-कलापो का वर्णन चीनी इतिहासकारों ने बड़े प्रभावशाली शब्दो मे किया है।

चीन मे बौद्ध धर्म की जड़े जमाने वाले विद्वानो मे महापण्डित कुमारजीव का नाम इतिहासकार अति श्रद्धापूर्वक लेते रहेगे। कुमारजीव के पिता काश्मीर मे राजा के मंत्री थे। वे भिक्षु होकर मध्य एशिया के कूचा नगर मे चले गये। वहाँ के राजा ने उन्हें राजगुरु बनाया और साथ ही अपनी पुत्री जीव का विवाह उनसे कर दिया। उनसे जो पुत्र उत्पन्न हुआ उसका नाम कुमारजीव रखा गया। यह लड़का असाधारण रूप से प्रतिभा सम्पन्न था। आचार्य बुद्ध दत्त के तत्वावधान मे शिक्षा प्राप्त की। इसके बाद वह चीन चला गया, जहाँ उसका राजकीय स्वागत हुआ और सहयोग मिला। उसने १२ वर्ष बौद्ध साहित्य का अनुवाद चीनी भाषा में करने मे लगाये और लगभग १०० ग्रन्थो का अनुवाद कर दिया। उसकी भाषा शैली समकालीन चीनी विद्वानो से कही अधिक परिष्कृत मानी जाती है। कुमारजीव ने अनुवाद मे सामयिक परिस्थितियो के अनुरूप ऐसे परिवर्तन किये जिन्हे एक दृष्टि से मौलिक और क्रान्तिकारी भी कहा जा सकता है।

कुमारजीव के साथ अनुवाद करने मे सलग्न शिष्यो मे धर्मरक्ष, संघभट्ट, सघदेव धर्मप्रिय, बुद्धभट्ट, बुद्धजीव आदि कितने ही ऐसे विद्वान थे, जो कुमार-जीव के मरने के उपरान्त भी ग्रन्थ-लेखन कार्य मे अविरल श्रद्धा से लगे रहे। कुमारजीव के चीनी शिष्यो

मे सेगजुई, ताओ युग, तानपिन, सेगचिन, ताओ हैग, हु जुई येन, हुई कुआन आदि के नाम विशेष उल्लेखनीय है। यह प्राणपण से ऐसे प्रयास करते रहे जिससे उनके गुरु के आरम्भ किये हुए प्रयत्न मे तनिक भी शिथिलता नही आने पावे वरन् दिन-दिन अभिवृद्धि ही होती रहे।

आठवी सदी के आरम्भ मे एक प्रतिभाशाली विद्वान अमोघवज चीन पहुँचा। उसने कुमारजीव, बोधि-रुचि एव जिन गुप्त की परम्परा मे एक नयी कड़ी जोड़ दी। राजा ने उन्हे श्रद्धापूर्वक "त्रिपिटिक भदन्त" और "राज्य कर्णधार" की उपाधियाँ प्रदान की। सन् ७७७ मे उनका अवसान हुआ। इस अवधि में उन्होने अनुवाद कार्य और प्रचार प्रशिक्षण इतना अधिक कर लिया जिसे देखकर आश्चर्य होता था। बनारस से पहुँचे गौतम प्रज्ञारुचि की लगन और प्रतिभा भी असाधारण थी। उनने तीन वर्ष की छोटी अवधि मे न केवल चीनी भाषा पर अधिकार प्राप्त कर लिया वरन् १८ ग्रन्थों का अनुवाद भी कर डाला। हराम की रोटी तोड़ने और प्रमाद मे समय गँवाने वाले, निरुद्देश्य घूमने वाले आज के साधु बाबाओ की उस समय के लगनशील धर्म प्रचारको से तुलना की जाय तो जमीन आसमान का अन्तर दिखाई पड़ता है।

इन धर्म प्रचारको का प्रभाव चीनी प्रजा तक ही सीमित नही रहा वरन् राजाओ पर भी पड़ा। उन्होने उस धर्म चर्चा को रुचिपूर्वक सुना, भिक्षुओ के सम्पर्क में आये, उनके तपस्वी जीवन को निकट से परखा और पाया कि इतनी उत्कृष्ट निष्ठा अकारण नही हो सकती। यदि उस धर्म प्रेरणा मे कोई सार न होता तो यह लोग इतना कष्टसाध्य, निस्पृह जीवन क्यो बिताते और क्यों इतनी दुर्गम यात्रायें करके धर्म सदेश सुनाने के लिये दूरवर्ती देश-देशान्तरों मे भ्रमण करते? तपस्वी भिक्षुओं के प्रखर व्यक्तित्व से अनेकों राजाओं, विद्वानो और प्रतिभाशाली लोगो ने प्रभावित होकर धर्म दीक्षा ली। फलतः उस देश में धर्म-चक प्रवर्तन का क्रिया-कलाप द्रुत गति से अग्रगामी होता चला गया।

चीन के इतिहास ग्रन्थ "को-दैन फिंग-ची" से पता चलता है कि सन् ६५ में चीनी राजा "मिग्ती" ने बुद्ध धर्म के प्रति बड़ो आकर्षक चर्चा सुनी। अस्तु, पूरा विवरण ज्ञात करने के लिये उसने १८ विद्वानो का एक प्रतिनिधि मण्डल भारत भेजा। वह ११ वर्ष अध्ययन के बाद लौटा तो अपने साथ बुद्ध भगवान की एक प्रतिमा अनेक ग्रन्थ तथा काश्यप मातग और धर्मरक्ष नामक दो भिक्षुओं को भी साथ ले गया। प्रतिमा का राजकीय सम्मान किया गया। प्रजा को बुद्ध के प्रति सम्मान प्रदर्शित करने का राजकीय आदेश दिया गया। यही इतिहास चीन के अन्य १३ ग्रन्थो मे भी है। यही चर्चा तिब्बत मे "तत्था शेलख्यी मीलन" ग्रन्थ मे भी अंकित है।

मातग काश्यप अधिक दिन जीवित न रह सके और चीन मे बुद्ध के संदेशो की जानकारी कराने का उत्तरदायित्व धर्मरक्ष पर आया। उसने चीनी भाषा मे बुद्ध ग्रन्थो के अनुवाद कार्य को प्रधानता दी। पाँच महत्त्वपूर्ण ग्रन्थो का स्वयं अनुवाद किया और भारत के विद्वान भिक्षुओ के जत्थे बुलाये जो श्रमण, सुविनय, स्थविर, चिलुकाक्ष, भिक्षु आर्यकाल आदि के नेतृत्व मे चीन पहुँचे। उसके बाद महाबल, धर्मपाल, विघ्न, तुहमान, कल्याण, गोरक्ष आदि विद्वान समय-समय पर वहाँ जाते रहे। उन्होने लगभग ३५० ग्रन्थो का अनुवाद चीनी भाषा मे कर डाला। साथ ही अध्ययन और प्रचार कार्य भी जारी रखा। इन लोगो ने राजा और प्रजा दोनो को समान रूप से प्रभावित किया और बुद्ध धर्म की जड़ें गहराई तक जमाने मे कुछ उठा न रखा। तीसरी शताब्दी तक भारतीय बुद्ध हजारो की सख्या में चीन पहुँच चुके थे। उस समय चीन 'वो' 'वू' 'शू' के नामो से तीन भागो मे विभक्त था। 'वो' की राजधानी 'लायंग' थी, 'वू' की 'नानकिंग'। इन पर चिन वंशी राजाओ का अधिकार था। वे बौद्ध धर्म से बहुत प्रभावित थे। फलत उत्तरी चीन में बौद्ध धर्म का अच्छा विस्तार हुआ। जनता का अधिकाश भाग उसी का अनुयायी बन गया। उन्ही दिनो अनेक बौद्ध-विहार भी बनाये गये। यह क्रम सन् ४०० तक चला।

पाँचवी शताब्दी के आरभ मे तातार और शुंगवंश का अधिकार हो गया। इन्होने बुद्ध धर्म को चीन से उखाड़ने के लिये बर्बर प्रयत्न किये, पर उनसे कुछ बना नही। तातार शासक "सग-वन-ति" ने अपने पूर्वजों की बर्बरता का प्रायश्चित किया। वह स्वयं ५०

राज्याधिकारियों सहित बौद्ध बना और प्रत्येक बड़े शहर मे बौद्ध विहार बनवाये। ३५ फीट ऊँची एक प्रतिमा बनवाकर नया कीर्तिमान स्थापित किया। एशिया के अनेक बौद्ध देशो ने अपने प्रतिनिधि मण्डल "सग-वन-ति" के इस धर्मोत्साह की प्रशसा करने के लिये चीन भेजे। भारतीय धर्म प्रचारको की बडी-बड़ी मण्डलियॉं उत्साहपूर्वक चीन जाने लगी। छठी शताब्दी में तीन हजार प्रकाण्ड धर्म प्रचारक चीन मे घर-घर जाकर धर्म विजय का अलख जगा रहे थे। एक बौद्ध भिक्षु "बोधिधर्म" ने तो ९ वर्ष तक ऐसी घोर तपश्चर्या की कि उससे चमत्कृत होकर जनता ने और भी अधिक श्रद्धा के साथ धर्म-दीक्षा लेना आरम्भ कर दिया।

सन् ५३९ मे राजा बू तीने एक विद्वान मण्डल बौद्ध ग्रन्थ लाने के लिये मगध भेजा। जब मंडल वापस लौटा तो भारतीय तत्ववेत्ता परमार्थ को भी अपने साथ लेता गया। उसने योग शिक्षा, धर्म प्रचार एव ग्रन्थ अनुवाद के तीनो ही क्रिया-कलाप बड़े उत्साह से आगे बढ़ाये।

उत्तरी चीन मे सन् ४७७ से ५३४ तक के साठ वर्षो मे बौद्ध धर्म की क्या स्थिति थी, इसका विवरण "बौद्ध धर्म और ताओ धर्म सम्बन्धी अभिलेख" पुस्तक मे दिया है। उसी से विदित होता है कि "हिज आन वेन ती" के शासन काल मे बौद्ध मठो की संख्या ६५७८ थी। "हिज आन बूही" के काल मे वह १४२२९ हो गयी और अन्ततः सन् ५३४ मे उनकी संख्या ३१७६७ थी। भिक्षुओ की संख्या इस अवधि मे ७९३५८ से बढ़ते-बढ़ते २० लाख तक जा पहुँची थी।

चौथी शताब्दी मे भी बौद्ध भिक्षुणियॉं क्रियाशील हो चली थीं। भिक्षु बुद्धदान से दीक्षा लेकर "चिग विएन" और 'आन लिग शाड' नामक दो महिलाये धर्म-सन्देश के क्षेत्र मे उतरीं। उन्होने सन् ३१६ मे एक भिक्षुणी मठ "हिआग" "कुओ" मे बनवाया। "पूर्वी-त्सिन" वश का शासन चीन पर ३१७ से ४२० तक रहा। इसके सभी शासक बौद्ध थे। उन्होने धर्म-चक्र-प्रवर्तन मे पूरा-पूरा साथ दिया। उन दिनो नानकिंग न केवल शासन सत्ता की वरन् धर्म केन्द्र की भी राजधानी बना हुआ था। इसी वातावरण मे चीन का महान् बौद्ध भिक्षु ताओ आन सन् ३१२ में जन्मा और ३७५ तक अपने ७३ वर्षीय जीवन में धर्म-चक्र-प्रवर्तन के लिये ऐतिहासिक कार्य करता रहा। "शिह शुओ" की पुस्तक मे विस्तारपूर्वक वर्णन है कि उन विशेषताओ और कुशलताओं के कारण उसने राजा-प्रजा के मन पर बौद्ध धर्म के प्रति अनन्य श्रद्धा की प्रतिष्ठापना की थी। उसने देश भर के सूदूर क्षेत्रों मे भ्रमण किया, कितने ही मठो मे रहा, साहित्य निर्माण किया और धर्म-सस्थानो की स्थापना की है। उसने जितने शिष्य बनाये सबमे कर्मठता कूट-कूट कर भरी थी।

पाचवी सदी के अन्त और छठी के प्रारम्भ मे चीन बौद्ध धर्म से इतना सुसम्पन्न हो गया कि उसके द्वारा पड़ौसी देशो मे धर्म का विस्तार का कार्य भली प्रकार सम्पन्न किया जाने लगा। "लियांग काल का वृत्तात" "दक्षिण चीन का वृत्तान्त" ग्रन्थो से प्रकट है कि कोरिया का अनुरोध स्वीकार करके चीन सम्राट ने अपने बौद्ध ग्रन्थ से उस देश को भेजे थे। ब्रह्मदेश के चित्रकार, मूर्तिकार चीनी अनुभूतियॉं सीखने और समझने चीन गये थे। चीनी राजा "फूना" हिन्दू राजाओ से घनिष्टता बनाये हुए था। उसने कोचीन और कम्बोज से भी घने सम्बन्ध बनाये थे। भारतीय राजा जयवर्मा ने चीनी सम्राट को बहुमूल्य उपहार भेजे थे। राजा रुद्रवर्मा का दूत भी सम्राट "वूती" की सेवा मे कुछ धार्मिक उपहार, लेकर गया था। उस राजा ने भारत से भद्रसेन और सुभूति नामक विद्वानो को आदर आग्रह के साथ बुलाकर अपने देश मे बसाया था। सुई वश के शासन काल छठी शताब्दी मे उत्तरी चीन मे बौद्ध धर्म का विस्तार प्रौढ़ावस्था मे जा पहुँचा था। उस समय तक १९५० विशालकाय बौद्ध ग्रन्थ चीनी भाषा मे अनूदित हो चुके थे। इस कार्य मे विशेष योगदान देने के लिये उज्जैन से नालन्द यशास और विनीत रुचि नामक विद्वान वहाँ पहुँचे थे। उनके साथ ही गान्धार से ज्ञानगुप्त भी चल पड़ा था। इस त्रिमूर्ति ने न केवल साहित्य-सृजन का वरन् भ्रमण करके प्रवचनो द्वारा धर्म-चक्र-प्रवर्तन का कार्य समान उत्साह के साथ सम्पन्न किया। इसमे चीनी बौद्धो का पूरा-पूरा सहयोग था। यही कारण था कि सम्राट "काओत्सू" के शासन

काल सन् ५९४ में संकलित ग्रन्थों की सूची "सुई चुंग चिंग मुली" के अनुसार २२५७ तक पहुँच गयी थी। उनकी ५०९४ बड़ी-बड़ी जिल्दें थी। एक-एक ग्रन्थ कई-कई जिल्दों मे पूरा हुआ था।

सातवी शताब्दी मे भारतीय 'धर्म-प्रचारको के जत्थे भी बहुत गये थे। प्रभाकरमित्र, अतिगुप्त, नान्दी, बुद्धपाल, दिवाकर, देवप्रज्ञा, शुभाकर, शिक्षानन्द, बोधरुचि का उल्लेख चीनी ग्रन्थों मे विशेष रूप से मिलता है।

"लियू हू का जीवन वृत्त" ग्रन्थ में लिखा है कि "डानयांग" जिले मे "त्सी युंग" नामक दस्यु ने उस क्षेत्र मे भारी उत्पात मचा रखा था। असंख्यो को उसने मारा और लूटा था। पीछे वह बौद्ध हो गया और भूतकाल के पापो का प्रायश्चित करने के लिये धर्म-चक्र प्रवर्तन मे सहयोग देने लगा। उसने बहुत-से मठ और स्तूप बनवाये। मन्दिरो में मूर्ति स्थापना करवायी। एक विशाल समारोह किया-जिसमे दस हजार व्यक्ति धर्मोपदेश सुनने के लिये एकत्रित हुए। उसके प्रभाव से सहस्रो ने मद्य-मांस त्यागा और बुद्ध-धर्म मे प्रवेश किया।

"परीक्षित बौद्ध ग्रन्थो की सूची" और "वाई राजवंश मे बौद्ध-धर्म तथा ताओवाद के अभिलेख" ग्रन्थो से प्रकट होता है कि चीन मे बौद्ध धर्म ईसा से २०० वर्ष पूर्व ही पहुँच गया। तीसरी सदी में लिखे गये "वाइलिया ओ" नामक ग्रन्थ के लेखक यू हुआन का कथन है कि राजकुमार यू एह ची ने पवित्र बुद्ध सूत्रों का गम्भीर अध्ययन किया था।

"सत्य पर एक निबन्ध" नामक चीनी पुस्तक से प्रकट होता है कि तांगवश के शासक बौद्ध धर्म के प्रति विशेष रूप से अनुरक्त रहे। सातवी शताब्दी के सम्राट 'काओत्स' का शासन काल तो बौद्ध धर्म की दृष्टि से स्वर्णकाल कहा जा सकता है। उसने सात प्रख्यात मठों का निर्माण कराया। "राज महलो सम्बन्धी अभिलेख" ग्रन्थ से प्रकट है कि राजा पर भारतीय भिक्षु प्रभाकर मित्र का असाधारण प्रभाव पड़ा। राजमहलो में भिक्षुओ का बेरोटोक प्रवेश था। इनकी संतानें भी धर्म-चक्र-प्रवर्तन मे वैसा ही योगदान देती रहीं। चीन की प्राचीन परम्पराओं को तोड़कर एक महिला सिंहासनारूढ़ हुई। साम्राज्ञी वूचाओ ने सन् ६८२ से ७०४ तक २२ वर्ष राज्य किया। उसके शासन काल में बौद्ध धर्म विस्तार में बहुत योगदान मिला। "फूता शिह के समाधिलेख" ग्रन्थ में पाओ चिह और पूहुंग नामक दो ऐसे भिक्षुओं का वर्णन है, जिन्हे चमत्कारी सिद्धियाँ प्राप्त थी। उन्होंने अपनी अलौकिकता के आधार पर धर्म प्रचार मे अपने ढंग से सफलता प्राप्त की। "चरम चेतना के अभिलेख" पुस्तक मे ऐसे ही "एक अन्य" चमत्कारी सन्त का वर्णन है।

चेन वंश के कई राजा कहने को तो शासनाध्यक्ष थे, पर वस्तुतः वे बौद्ध सन्तो जैसा जीवन जीते थे। सम्राट वू तो राजकीय मठ मे प्रवेश करके सन्यास भी ले चुके थे। मंत्रियो ने उन्हें बडी कठिनाई से मनाकर फिर से राज्य सँभालने के लिये राजी किया था। राजा "हाउचूं" के राज्य का त्याग कर संन्यास लेने की घटना प्रसिद्ध है।

बौद्ध भिक्षु ही नही चीनी सम्राट भी धर्म-चक्र-प्रवर्तन मे भाग लेते थे। राज्याश्रय देकर विहारो की अर्थ-व्यवस्था तो वे करते ही थे, उसके अतिरिक्त कितनों ने ही धर्म-प्रचारको के कन्धे से कन्धा मिलाकर स्वयं भी कार्य किया था। सन् ४८९ मे राजकुमार "त्जी लिआग" अपने पिता के राज्य का प्रधानमंत्री भी था। उसने ७२ खण्डों मे बौद्ध-ग्रन्थों की प्रतिलिपियाँ की और स्वयं बहुत से निबन्ध लिखे, जो एक सौ खण्डों के सोलह ग्रन्थों में सग्रहीत है। उसने कितने ही प्रवचन किये थे और भिक्षु सम्मेलन बुलाये थे। "सार्वभौमिक धर्मोपदेशक मठ" के आयोजन मे ५०० धर्म-प्रचारको ने राजकुमार के प्रोत्साहन पर एक दूरगामी योजना बनायी थी, उसने राज्य के बौद्ध कानूनो का प्रचलन किया और अनेक सुयोग्य भिक्षुओ को राज्याधिकारी नियुक्त किया।

भारतीय राजाओ और चीनी राजाओ मे भी धर्म-प्रचार के आधार को लेकर सहयोगी आदान-प्रदान होता रहा है। अराकान के भारतीय राजा पुष्यवर्मा ने सुंग सम्राट को बौद्ध-धर्म के प्रचार के योगदान देने के

उपलक्ष्य मे भूरि-भूरि प्रशंसा युक्त पत्र लिखे और राजदूतो के माध्यम से उन्हे भेजा था। ऐसे दो पत्र चीनी संग्रहालय में सुरक्षित हैं। एक अन्य भारतीय राजा जीवभद्र ने भी उसी सम्राट को ऐसा ही पत्र भेजा था। उस पत्र में लिखा है—"हमारे और आपके देशो के बीच आवागमन मे पूरे तीन वर्ष लगते है, तो भी हम लोग भावनात्मक दृष्टि से अति निकट है। लंका के राजा ने भी चीन-सम्राट को बौद्ध-प्रेरणा के सम्बन्ध में पत्र लिखा था।

किसी समय भारत में भव्य मन्दिर बनाने का असाधारण उत्साह था। प्रख्यात सन्त और राजा लोग अपनी विशिष्टता का प्रमाण एवं स्मृति का आधार विशाल मन्दिरों के निर्माण को मानते थे। उन्हें अधिकाधिक कलात्मक बनाने के लिये प्रचुर धन और बुद्धि-कौशल लगाते थे। वही परम्परा चीन मे भी बुद्ध-धर्म के प्रवेश के साथ-साथ चली गयी। वहाँ शासको और सन्तों ने भगवान बुद्ध के भव्य मन्दिर, विहार, चैत्य एवं स्तूप बनाये। शताब्दियों और सहस्राब्दियाँ बीत जाने के कारण उनमे से कितने ही काल-प्रवाह मे जराजीर्ण होकर नष्ट हो गये। कितने ही विद्वेषी आक्रमणकारियो द्वारा नष्ट कर दिये गये और कितने ही उपेक्षा के गर्त में समा गये। इनके ध्वंशावशेष समस्त चीन में बिखरे पड़े हैं। सर्वेक्षण करने से प्रतीत होता है कि उस निर्माण-कार्य पर पूरी तरह भारतीय स्थापत्य कला की छाप थी।

लो यांग का "श्वेत अश्व मठ" कौशल राज्य के सुप्रसिद्ध "अनाथ पिण्डाराम" की शैली पर बना है। "नानकिंग के बौद्ध मन्दिरों का विवरण" ग्रन्थ मे इस मठ के सन्दर्भ में जो उल्लेख है, उससे स्पष्ट है कि उस निर्माण मे न केवल भारतीय मस्तिष्क लगा है, वरन् यहाँ के कलाकारों का श्रम भी उस कार्य को सम्पन्न करने में जुटा रहा है। सन् ५१६ ई. में वाई वंश की एक रानी ने "शाश्वत शान्ति मठ" बनवाया। "लो याग स्थित मन्दिरों के उल्लेख" ग्रन्थ मे उसका जो वर्णन छपा है, उससे विदित होता है कि वह नौ मंजिला था, उसकी ऊँचाई ६०० फीट थी। दस हजार वर्ग फुट से अधिक का उसका घेरा था। सारी इमारत लकड़ी की बनी थी। इसकी स्थापत्य कला भारतीय थी। इससे पहले चीन में उससे बड़ा मन्दिर और कोई नही बना था।

चीकिआग प्रान्त की झील का आकर्षण मात्र जलनिधि का नही हैं। उसके साथ जुड़े हुए "लुए फोग" और "पाओ सु" नाम के पैगोडा (बौद्ध मन्दिर) उसकी शोभा मे चार चाँद लगाते थे। पीकिंग की सबसे पुरानी इमारत "स्वर्गीय शान्ति-मठ" है। यह छठी शताब्दी मे बना था। अभी भी "पाई हाई" के "चुग दु आग" द्वीप की पहाड़ी पर बना श्वेत पैगोडा अपनी कलाकृति से दर्शकों को आश्चर्यान्वित करता है। यह सब भारतीय स्थापत्य कला के जीवन्त नमूने हैं।

मूर्तिकला और गुहा उत्खनन का प्रचलन भी चीन मे बौद्ध-धर्म के पीछे-पीछे ही भारत से पहुँचा है। वाई वंश के बौद्ध राजा 'बेन चेन' ने इन दोनो कार्यों की ओर विशेष ध्यान ही नहीं दिया वरन् उसने अपने भाई सहित मूर्ति निर्माण में स्वयं श्रम किया। अभी भी लो यांग नगर के निकट "ई-चुएंह" और "लुंग मेन" की तीन-चार गुफा मूर्तियाँ विद्यमान हैं। युनकांग पर्वत पर लगभग एक हजार भव्य मूर्तियाँ है। "वाई वंश की पुस्तक" नामक ग्रन्थ में उल्लेख है कि तान माओ नामक एक बौद्ध भिक्षु ने वेचाड मे पाँच विशाल गुफाये बनवायीं थी और चट्टाने खोदकर ७० और ६० फीट ऊँची दो विशाल प्रतिमाओ का निर्माण सम्पन्न किया गया था। ई. चुएह, लुग मेन और तुगहू आंग की गुफाओं से लगभग एक हजार प्रतिमायें मिली है, इसलिये उसका नाम ही "सहस्र बौद्ध गुफा" पड़ गया। यह प्रतिमायें मध्य एशिया के तुरफान, कूचा और खोतान के बुद्ध विहारों से मिलती-जुलती हैं। इन गुफाओ का निर्माण ईसा की पाँचवी शताब्दी तक होता रहा है।

चीन मे स्तूपो की भी कमी नही। सुई वश के सम्राट वे ती ने सन् ६०१ मे तीस भिक्षुओं को विभिन्न स्थानो पर स्तूप बनाने की राजाज्ञा प्रदान की थी। लम्बा समय बीत जाने पर भी तत्कालीन भित्ति चित्रो में भी भारतीय चित्रकला की गहरी छाप देखी जा सकती है। उस युग के प्रख्यात चित्रकाल कुओ-तान-वाई और कुआ-हा-तो वस्तुत. कोई भिक्षु थे। उन्होने अपनी

तूलिका से भगवान बुद्ध की ही विभिन्न मुद्राओ आकृतियो की घटनाओं का अकन करने वाले चित्र ही आजीवन बनाये। ईसा की आठवीं सदी में "वू-ताओ-तूजे" नामक प्रसिद्ध चित्रकार हुआ है। उसने मन्दिरो के भित्ति-चित्र बनाये। उन्हें भारतीय चित्रकला का चीनी संस्करण ही कहा जा सकता है।

अठारहवी सदी के आरम्भ में सम्राट चिएन लुग ने समीपवर्ती देशो मे बौद्ध धर्म पहुँचाने के लिये विशेष प्रयत्न किया। उसने 'काजुर' ग्रन्थ के २७० खण्डो का मंगोल भाषा मे अनुवाद कराया। सन् १७४० में वह पूर्ण हो गया तो सम्राट ने उसे प्रकाशित कराके मगोलिया के विद्या-केन्द्रो में बिना मूल्य पहुँचाया। इसके बाद तिब्बती और मंगोल भाषा में अन्य अनेक ग्रन्थ अनूदित और प्रकाशित हुए। इनसे उन देशो मे बुद्ध-दर्शन के प्रति अगाध श्रद्धा और गहरी दार्शनिक जानकारी उत्पन्न हुई।

फालिन कृत "पि ओ न-चेग अभिलेख" मे दक्षिणी चीन के राजवशो के समय निर्मित बौद्ध-विहारो, मन्दिरो एव भिक्षु-भिक्षुणियो का विवरण मिलता है जो इस प्रकार है—

राजवंश	विहार	भिक्षु
पूर्वोत्सिग	१७५६	२४०००
लिड सुग	१९१३	३६०००
ची	२०१५	३२५००
लि आंग	२८४६	८२७००

चीन के उत्तर मगोलिया प्रदेश के निवासियो मे बौद्ध-धर्म आरम्भ से ही बहुत लोकप्रिय रहा। मंगोल शासको ने भी उसमे सहायता की। चगेज खां के पुत्र कुबेलाई खाँ और उसके उत्तराधिकारी ओगोतेई खा ने बौद्ध-विहारो की यथासभव सहायता भी की। बौद्ध-प्रचारको के परिश्रम से उस क्षेत्र में धर्म विजय अभियान अधिकाधिक सफल हो गया। १३वी सदी के अन्त में कराई गयी शासकीय जाँच-पड़ताल में ऐसा उल्लेख मिलता है कि मंगोलिया समेत समस्त चीन मे ४२३१८ मन्दिर है और उनमे २१३१४८ भिक्षु निवास करते थे। इन दिनों मगोलो का चीन के अधिकांश भाग पर आधिपत्य हो गया था। उसका शासन १२८० से १३६७ तक रहा। इस अवधि मे बौद्ध-धर्म फला-फूला ही।

चीन में प्राचीन धर्म ताओ और कन्फ्यूशियस का प्रचार था। वे सदा बौद्ध धर्म का विरोध करते रहे और उसे विदेशी धर्म बतलाकर तथा अन्य आक्षेप करके जनता मे अश्रद्धा उत्पन्न करते रहे। फिर भी उसका प्रचार विस्तार रुका नही। छः सौ वर्षों में उसने अपनी जड़े जमा ली और चीन में बौद्ध धर्म विदेशी न रहकर उसका अपना हो गया और सबसे अधिक संख्या उसी की अनुयायी बन गयी। राजाओं में से कुछ विरोधी भी रहे, पर अधिकांश का समर्थन और झुकाव ही बना रहा। सातवी शताब्दी मे चीन मे अपने भिक्षु ही इतने पर्याप्त हो गये कि उन्हें भारत से उतने विद्वान बुलाने की आवश्यकता नही रही जितनी पहले थी। अस्तु भारतीय प्रचारकों का झुकाव चीन से मुड़कर तिब्बत की ओर बदल गया। उन्होने चीन की ही भाँति तिब्बत को बौद्ध-धर्म मे दीक्षित करने लिये प्रयास आरम्भ कर दिया।

ऐसा नही समझना चाहिये कि बौद्ध-धर्म को चीन मे सहज सुलभ प्रवेश मिलता चला गया। निःसंदेह उस महान् धर्म के उत्कृष्ट सिद्धान्तो और प्रचारकों के उज्ज्वल व्यक्तित्वो तथा ज्ञान-भण्डार ने उस देश के लोक-मानस को जीतने मे समुचित सफलता पाई। फिर भी पुरातनवाद और सुधारवाद के बीच सदा-सर्वदा की भाँति वहाँ भी समय-समय पर डटकर संघर्ष होता रहा। प्रतिपक्षियों ने समयानुसार तीखे आक्रमण किये थे, तदनुसार प्रचारको को निन्दा, अपमान से लेकर निर्मम अत्याचारो का शिकार होकर धैर्यपूर्वक प्राण गँवाने तक का साहस दिखाना पड़ा था। ऐसी अग्नि परीक्षा मे धर्म-चक्र अभियान को बार-बार गुजरना पड़ा। उसके पैर तभी जमे जब वह प्रचारको की धर्म श्रद्धा को अटूट और अखूट सिद्ध कर सकने मे सफल हो सका।

चीन मे दो धर्म पहले से प्रचलित थे—(१) ताओ सम्प्रदाय (२) कन्फ्यूशियस सम्प्रदाय। एक विदेशी धर्म का इतनी तेजी से छा जाना पुराने सम्प्रदायो को स्वभावतः बुरा लगेगा। वैसा ही हुआ भी। यह विरोध दो रूपों में [illegible] चीन मे वह मार-काट दन्द

और अत्याचार के शक्ति-प्रयोग तक उतर आया। बाई-वु-ही द्वारा सन् ४४६ से ४४८ में तथा चाऊ-बी-ती द्वारा ५७४ से ५७७ मे भिक्षुओ के साथ नृशसता बरती गयी। किन्तु दक्षिणी चीन में यह विरोध प्रचार तक ही सीमित रहा। इन विरोधियों में तीन प्रमुख थे—(१) कुहु आन (२) फा-चेन (३) हुन-ची। इन लोगों ने अपने साथियो सहित उग्र प्रचार किया कि बौद्ध-धर्म को चीन से निकाल बाहर किया जाय। उस अभियान मे कई छोटे राजा भी शामिल हो गये।

फुई नामक कन्फ्यूशियस मतानुयायी ने बौद्ध धर्म का घोर विरोध किया और तत्कालीन शासको को विरोधी बनाने का घनघोर प्रयत्न किया। उसने ली-यु-आन और ली-शिह-मिन शासको को फुसलाने में सफलता भी प्राप्त कर ली। तदनुसार भिक्षुओ को पंजीकृत प्रतिबंधित किया गया। राजधानी मे तीन और अन्य नगरो मे एक-एक मठ चालू रखकर शेष सबको बन्द करने का आदेश दिया गया। बात यहाँ तक बढ़ी कि सन् ८१९ मे भगवान बुद्ध की अँगुली-अवशेष का जो भव्य प्रदर्शन होने जा रहा था, वह स्थगित कर दिया गया। फुई को एक और साथी मिल गया— हान यु। उसने भी राजा और प्रजा को बौद्ध विरोधी बनाने मे कुछ उठा न रखा।

ताओवादी ताग वंशी सम्राट युत्सुंग ने दो बड़े नगरों मे चार-चार और शेष हर जिले मे एक-एक विहार छोडकर सबको नष्ट करने का आदेश निकाला और बड़े मन्दिरो मे बीस तथा छोटे विहारो में ५ भिक्षु छोडकर शेष सबको अपने घर लौट जाने का आदेश दिया। गिराये गये मठो के मलवे से सरकारी दफ्तर बने। सम्पत्ति जब्त कर ली और धातुओ की मूर्तियो को गलाकर औजार बनाये गये। "ताग वंश की पुस्तक" बताती है कि इन आदेशो के कारण चालीस हजार मन्दिर गिराये गये और ढाई लाख भिक्षु-भिक्षुणियो को फिर से गृहस्थ बनना पडा। 'पच राजवशो का इतिहास" पढ़ने से प्रतीत होता है कि सन् ९०७ में "चू-वेन" के शासनारूढ़ होने की अवधि में पचास वर्ष के दमन ने बौद्ध संस्थाओ की स्थिति बहुत ही दयनीय और दुर्बल बना दी थी।

सत्रहवी सदी मे सम्राट शुन-चिह ने नये बौद्ध मन्दिरो के निर्माण और नये भिक्षु-भिक्षुणियो के बनने पर कठोर प्रतिबन्ध लगाये। न केवल बौद्ध वरन् ताओ धर्मानुयायियो पर भी ऐसे ही प्रतिबन्ध लगाये गये। संन्यासियों को अपने-अपने घर कृषि-उद्योग करने के लिये वापस जाना पड़ा। भिक्षुणियों को घरेलू काम-काज करने के लिये या तो नौकरानियाँ बना दिया गया या वे घर वापस चली गयी। चालीस वर्ष से कम आयु के किसी व्यक्ति को भिक्षु बनने की सुविधा न रही। बिना परीक्षा दिये और प्रमाण-पत्र लिये भिक्षु बनने वालो को ८० कोड़े लगाने का कठोर दण्ड निर्धारित किया गया।

विरोधियो के कुचक्र चलते रहे। सुकरात, ईसा और गाँधी की तरह सैंतालीस वर्षीय भिक्षु 'हुआन-का-ओ' को सन् ४४४ मे मौत के घाट उतार दिया गया। ताओवादियो ने 'युआन-बाई' काल के सम्राटो को तरह-तरह के भ्रमो मे फँसाकर बौद्ध धर्म विरोधी बना दिया था और भिक्षुओं पर कई तरह के प्रतिबन्ध लगा दिये थे। "वाई राजवंश की पुस्तक" से प्रकट होता है कि सन् ४४५ मे राज्य मत्री 'साई हाओ' ने अनेक बौद्ध मठो को गिराया और भिक्षुओ का वध कराया था। 'हिसाओ' सम्राट ने प्रत्येक जिले में २०० से ३०० ही भिक्षु बनने का प्रतिबन्ध लगा दिया था।

'युआन व्रश का इतिहास' पुस्तक बताती है कि 'चांग-आन' नगर मे ताओ वादियो ने बुद्ध स्तूपों और बोधिसत्व की अवलोकितेश्वर की मूर्तियो को नष्ट किया था। उन्होने ४८२ बौद्ध-मठो पर बलपूर्वक कब्जा कर लिया था। पीछे एक न्याय सभा ने इस बलपूर्वक कब्जे को अमान्य ठहराकर विहारो को वापिस कराया।

चीन मे हजारों की संख्या मे अभी भी बौद्ध विहार मौजूद है। कही-कही मन्दिर और कही चैत्य है। वे प्रायः पर्वतो और छोटे देहातो मे है। बड़े शहरो मे ये धर्म स्थान कहीं-कहीं ही दीखते है। बुद्ध प्रतिमाओ मे से कितनी ही स्वर्ण विनिर्मित पायी जाती है। इन मन्दिरों और विहारो मे भिक्षुओं की निर्वाह व्यवस्था रहती है। उनमे से कुछ स्थानीय व्यवस्था सँभालते हैं और कुछ परिव्राजक रहकर धर्म प्रचार

कार्य करते है। काले रंग के लम्बे चोगो को पहने सिर मुड़ाये भिक्षुओ को अलग से ही पहचाना जा सकता है। उनमें से कितने ही उत्तरीय वस्त्र चीवर ही धारण करते है। प्रायः तथागत के जन्मदिन पर लोग भिक्षु दीक्षा ग्रहण करते हैं। उन्हे २५० पालन योग्य नियमों का स्मरण कराया जाता है। चीनी भिक्षु प्राय मठो मे ही निर्वाह करते हैं, उनमें भिक्षा माँगने का प्रचलन नही है। विहारो में धर्म शिक्षा की व्यवस्था रहती है।

चीन मे पर्वतो के गुहा-मन्दिर बहुत अधिक है। एकान्त साधन और विद्वेषियो से सुरक्षा का ध्यान रखते हुए इन्हे चट्टाने काटकर बनाया गया है।

इन दिनो अच्छी हालत मे विद्यमान गुहा-मन्दिर तथा बुद्ध विहार भी कितने ही विद्यमान है। सिआन नगर के समीप सन् ६४८ का बना हंस चैत्य लगभग वैसा ही है जैसा मगध का हस चैत्य। उसके बीच मे १५ मंजिला स्तूप हैं। प्राचीन काल मे विद्वान् 'ईच-चिंग' की अध्यक्षता मे यहाँ बौद्ध ग्रन्थों के चीनी अनुवाद का कार्य चलता था। चाँग-आन नगर की सिनचग सडक पर सन् ५८२ मे बना 'चिगलुग सु' विहार है। इसमे स्थापित संगमरमर की बुद्ध प्रतिमा कला की दृष्टि से बहुत ही आकर्षक है। शांसि प्रान्त के किगमग नगर का विहार यद्यपि टूटी-फूटी हालत मे है तो भी उसके मुख्य भवन के दोनो स्तम्भ तथा प्रतिमाये दर्शनीय स्थिति मे है।

उत्तरी चीन मे ताग-हो नदी के सहारे चली गयी पर्वत शृंखला 'सहस्त्र बुद्धि' कहलाती है। इनकी चट्टानो पर जहाँ-तहाँ बुद्ध प्रतिमाये बनी हुई है। इसी क्षेत्र मे अनेक गुहा-मन्दिर भी है। इनमें जो मूर्तियाँ अवशेष एवं लेख मिले हैं, उनसे पता चलता है कि उनमे से अधिकाश का निर्माण सातवी सदी के पूर्वार्द्ध मे हुआ था। "चिनान-फु" नगर से कोई दस मील दक्षिण मे 'लुग-तुंग विहार है, यह पहाड़ियो से घिरा है। इसमे दो गुफाये हैं, जिनमे भगवान बुद्ध की प्रतिमाओं के अतिरिक्त धर्म-प्रचारक महाकाश्यप, मंजुश्री, आनन्द और सामन्त भद्र की मूर्तियाँ भी है। यह मूर्तियाँ सन १३१८ की बनी है। ता-युग नगर से दस मील पश्चिम मे 'पुन्न-कंग' पर्वत श्रेणियो मे ऐसी चट्टान काट कर बनायी गयी बहुत-सी गुफाये है। इनकी भव्यता पुरातत्ववेत्ताओं के लिये आकर्षण का विषय है। उनका निर्माण काल सन् ४५० से ५६० के बीच माना जाता है। इनमें स्थापित बुद्ध प्रतिमायें कलापूर्ण हैं। दीवारों पर खुदे हुए शिलालेखों से उनके बनाने का प्रयोजन स्पष्ट होता है। उस समय की स्थिति पर प्रकाश डालने वाले अन्य प्रमाण सामग्री भी पुरातत्व विभाग को इनमें मिली है। लोपंग नगर के दक्षिण में २२ 'लुंग मैन' गुफाओं में से अधिकाश काले पत्थर की चट्टानो की हैं। इनमें उपलब्ध प्रतिमायें भारतीय कला की हूबहू नकल है। इन्हें ४९३ ई. में बनी माना जाता है। होनान प्रान्त की कुंग नगर के समीप पहाड़ियो मे उपलब्ध ५ गुहा मन्दिरों के 'शि खु सु कहा जाता है। इनमें उसकी समय की स्थिति पर प्रकाश डालने वाले शिलालेख मिले है।

चीन के तुनह्वाग मे ४७६ गुफाये विद्यमान हैं जो इस बात की साक्षी देती हैं कि उनमें रहकर बौद्ध-भिक्षु कठोर तप करके धर्म-चक्र प्रवर्तन के लिये आंतमबल सम्पादित करते थे। सोलह सौ वर्ष पुराने शघाई नगर के निकट 'चिन आन सन' मन्दिर मे महाकाल की प्रतिमा के सम्मुख अभी भी मगलपाठ होता देखा जा सकता है। हंसारूढ ब्रह्मा, वृषभारूढ़ शिव और हाथी पर सवार महाकाल की प्रतिमाये है। पेकिंग में भी एक महाकाल मन्दिर है, जिसका 'महाकाल माओ' नामकरण वर्तमान तानाशाह शासक के नाम पर किया गया है।

चीन मे बौद्ध-धर्म के विस्तार पर प्रकाश डालने वाले साहित्य मे से कुछ पठनीय पुस्तके निम्नलिखित हैं—

(१) एडकिन कृत-'चाइनीज बुद्धिज्म' (२) चाड सी क्याग कृत-'चीन मे बुद्ध धर्म का प्रवेश' (३) राहुल साकृत्यायन कृत-'चीन मे बुद्ध धर्म' (४) पी सी बागची कृत-'इण्डिया, एण्ड चाइना' (५) 'बुद्धिस्ट मानुमेण्ट्स इन चाइना।'

भारतीय विद्वान स्वयं ही मरते-खपते रहे हो सो बात नही। उनकी पैनी दृष्टि धर्म-प्रचारक उत्पन्न करने पर भी रही। उन्होंने प्रतिभाशील व्यक्तियों को खोजा, उभारा और प्रशिक्षित किया और लगभग अपने ही स्तर तक उनको पहुँचाया। ऐसे प्रशिक्षित शिष्यों मे

धर्म प्रचारकों में से जिन्होने चीन एव मध्य एशिया में महत्त्वपूर्ण कार्य किये उनमें से कुछ नाम इस प्रकार हैं—चीन का "चुआनच्यांग" जापान का "कुकई" "शिनरन" "डोजेन" "निचिरेन"।

चीन में उन दिनो धर्म-धारणा और ज्ञान-पिपासा चरम सीमा पर थी। यों भारत के बौद्ध भिक्षु उस आकांक्षा का समाधान करने के लिये बराबर चीन पहुँचते रहे, पर उतने से ही काम नही चला। चीनी बौद्ध भिक्षु भी उसी उत्साह के साथ भारत आये और यहाँ रहकर कुछ पढ़ने, सीखने, खोजने और लाने के विचार से उनने भी लम्बी यात्रायें की और कष्ट सहे। चीन से भारत आने वाले ऐसे प्रबल उत्साही भिक्षुओं में 'फा-हि-यान' की गणना प्रमुखता के साथ की जायगी। फाहियान ने अद्‌भुत् धैर्य और उत्कृष्ट प्रयास का नया कीर्तिमान स्थापित किया। हिंस्र-जन्तुओ से भरे निविड़ वनों, शुष्क मरु प्रदेशों और हिमाच्छादित पर्वत-शिखरो को लांघता हुआ और मौत से जूझता हुआ वह भारत पहुँचा। उसने भारत भूमि का कोना-कोना छाना और दुर्लभ बौद्ध ग्रन्थ प्राप्त किये। तीर्थ-दर्शन किये, विद्वानों के चरणों मे रहकर बहुत कुछ सीखा, साधन किये और पन्द्रह वर्ष की श्रम-साधना के उपरान्त जावा होते हुए समुद्र मार्ग से सन् ४१२ में चीन वापस पहुँचा। इस यात्रा में वह अकेला नही था। उसके साथ 'चिह येन' 'पाओ युन' 'फायोग' आदि भिक्षु भी रहे और मिल-जुलकर वे अपना महान् प्रयोजन पूरा करने मे लगे रहे।

चीनी बौद्ध भिक्षु ह्वानत्सांग सन ५९६ मे जन्मा और ६८ वर्ष की आयु भोगकर सन् ६६४ मे स्वर्गवासी हो गया। तेरह वर्ष की आयु मे उसने भिक्षु दीक्षा ली थी। धर्म-श्रद्धा से विभोर होकर सन् ६२९ मे ही वह भारत यात्रा के लिये एकाकी ही निकल पड़ा। दुर्गम पर्वतो, रेगिस्तानों और हिम शृगो के साथ जीवन मृत्यु की लड़ाई लड़ता हुआ वह सन् ६३३ मे भारत पहुँचा। यहाँ उसने दस वर्ष बिताये। बहुत देखा, सीखा और खोजा। संस्कृत भाषा मे प्रवीणता प्राप्त की और अपने साथ ६५७ बौद्ध ग्रन्थ लेकर चीन लौटा। 'चाग आना' मे उसके प्रवेश पर भारी हर्ष और स्वागत-समारोह मनाया गया। उसने अपने जीवनकाल मे ७५ ग्रन्थो का अनुवाद सम्पन्न, किया जिन्हें संस्कृत से चीनी भाषा के अनुवादों मे शुद्धता की दृष्टि से सर्वोत्कृष्ट माना जाता है।

फाहियान जो उपलब्धियाँ और स्मृतियाँ साथ लेकर गया उसने अन्य अनेक चीनी बौद्धो को भारत आने के लिये उत्साहित किया और एक के बाद एक जत्थे दल-बल सहित भारत आने लगे। तथागत के जीवन क्रम से सम्बन्धित तीर्थों का दर्शन करना भी इनके लिये कम आकर्षक न था। चिहमेग, फायोग, चूचांग आदि के नेतृत्व मे चीन से भारत आये जत्थों के क्रिया-कलाप भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। इन लोगो ने भी फाहियान का अनुसरण किया और बहुमूल्य धर्म-सम्पदा संग्रह करके वापस लौटे। इन यात्रियों ने अपने जो विवरण, संस्मरण लिखे है, उनसे भारत की तत्कालीन स्थिति पर प्रकाश पड़ता है और प्रतीत होता है कि यहॉ के प्रबुद्ध वर्ग की भावनाये किस प्रकार धर्म-चक्र प्रवर्तन के लिये बहुत कुछ कर गुजरने के लिये हिलोरे ले रही थी ?

ह्वानत्सांग की तरह ही एक दूसरा दुस्साहसी बौद्ध भिक्षु ईत्सिग हुआ है। वह ६३४ मे जन्मा १४ वर्ष की आयु मे भिक्षु बना। अध्ययन और साधन में निरत रहने के उपरान्त वह ३७ वर्ष की आयु मे धर्म भूमि भारत का दर्शन करने और भारतमाता का पयपान करने की आकुलता लेकर अकेला ही चल पड़ा। उसने समुद्र मे यात्रा की। बीस दिन में सुमात्रा पहुँचा। फिर मलाया होकर बंगाल की खाड़ी में अवस्थित तामुलक बन्दरगाह पर सन् ६७३ मे उतरा। इस बीच उसे नावें बदलने और यात्रा की सुविधायें पाने के लिये कई-कई जगह ठहरना पड़ा और अगले सहयोगियो की प्रतीक्षा करनी पड़ी।

नालन्दा विश्व विद्यालय में उसने अध्ययन किया, पाली और सस्कृत सीखी। तीर्थयात्रा की, साधनारत रहा और अन्ततः ४०० संस्कृत ग्रन्थ लेकर वह चीन लौटा। जहाँ-तहाँ रुकते-ठहरते अन्तत वह ६९५ मे चीन पहुँचा · "परम सुख मठ" और "उज्जवल मठ" मे रहकर उसने अपने शिष्यों सहित अनुवाद कार्य किया। ईत्सिग के अनुवादित सम्पादित ५६ ग्रन्थ मिले हैं, जो २३० खण्डों में विभक्त हैं। "त्रिपिटिक सूची" उसका

सबसे बड़ा महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ हैं। ७९ वर्ष की आयु में सन् १७१३ में उसका देहावसान हुआ।

उन्नीसवी सदी के बौद्ध प्रचारकों में "पवित्र लोक सम्प्रदाय" के संस्थापक 'शेन आन' का नाम विशेष उल्लेखनीय है। इनके अतिरिक्त "दा-चि-एह-चू" "तजे फुस्सु" "लुएन ही" "चाओ शेग लिआंग" "हू थेन वाई" "चेग हुएन च्वान" "याग चेन हुई" "त्साओ चिन" "चुन-च्वान पुस्ता" "लिउ काई सेंग" आदि के नाम भी कम उल्लेख योग्य नही हैं। इन लोगों ने बिखरे हुए बौद्ध साहित्य का सकलन एवं प्रकाशन करने के अतिरिक्त उस विचारधारा को जन साधारण तक पहुँचाने के लिये अनवरत् प्रयास किया।

चीनी भाषा मे 'महान् बौद्ध' त्रिपिटिकों का संग्रह ४६० बड़े-बड़े बण्डलों में बँधने योग्य छपा है। इसके ३३२० खण्ड है। युआन लाइ, युआन हुएन आदि अत्यन्त प्रतिभाशाली विद्वान हुए है। उनके क्रिया-कलाप ऐसे है, जो भिक्षु चरितावली में सदा मूर्धन्य गिने जाते रहेंगे। वू-पी के प्रयत्न से एक हजार बौद्ध-भिक्षुओ को दार्शनिक एवं धार्मिक प्रशिक्षण के लिये सुनियोजित प्रकिया का संचालन किया गया। 'त्याई युंग चि आओ' और 'तिन वाई तिन' ने प्राचीन धर्म-ग्रन्थो पर नये दृष्टिकोण से निबन्ध लिखे। साधना के प्रति अपेक्षा को दूर करने के लिये 'हु हियेन' ने निरन्तर दौरे किये और जहाँ-तहाँ अनेक साधना केन्द्र स्थापित किये, जापान, स्याम, लंका तथा भारत तक की उसने दौड लगाई। शंघाई का 'अवतसक' विश्व-विद्यालय उसीका स्थापित किया हुआ था। उसका दूसरा नाम 'युए न हि' भी था। ६० वर्ष की आयु में सन् ११९७ में उसने शरीर त्यागा।

मुसलमानो के आक्रमण ने चीन मे जमे हुए बौद्ध धर्म की जड़े हिला दी। तलवार ही उनके प्रचार-प्रसार का प्रधान माध्यम था। आक्रान्ताओ ने विहारो, विद्यालयो, मन्दिर, पुस्तकालयो को जलाकर राख कर दिया और धर्म-प्रचारको को गाजर-मूली की तरह काटकर रख दिया। ऐसी बर्बरता के सामने अहिंसावादी बौद्ध सभ्यता न टिक सकी और उसके पैर लड़खड़ाने लगे।

मंगोलों को हटाकर मिग वंशी सत्ता हथियाने में सफल हुए। उन्होंने १३६८ से १६४४ तक राज्य किया। इस वंश में 'थाई शु' राजा ने बौद्ध धर्म के विस्तार में विशेष सहायता दी। इसके बाद मंचू लोग शक्ति में आये। उसके 'शन चिह' और 'चिनलंग' शासकों ने भी समुचित सहयोग दिया। इसी वंश की राजमाता का शासन सन् १९०८ में चल रहा था। गद्दी पर उनका तीन वर्षीय बालक बैठा था। इन्ही दिनो चीन मे प्रजातंत्री क्रान्ति हुई और राजतंत्र समाप्त हो गया । आन्दोलनकारियो ने ५ अप्रैल १९११ मे बिगुल बजाया और दस महीने की स्वल्प अवधि में उस आन्दोलन ने सफलता प्राप्त कर ली।

१० अक्टूबर १९११ के दिन क्रान्तिकारियो ने हांकाऊ और वूचांग में चिगवंश के शासन को उखाड़ फेंका और उसके स्थान पर प्रजातंत्र की स्थापना हुई। डा. सनयातसेन प्रथम राष्ट्रपति चुने गये। उन्होंने बौद्ध धर्म के बिखराव और टकराव को रोकने के लिये भिक्षु चिन-आन के नेतृत्व में 'अखिल चीनी बौद्ध सघ' की स्थापना की। उसकी नियामवली बनी और उसे सरकारी मान्यता मिली। गृह-विभाग ने बौद्ध-मठो के संरक्षण के लिये एक विशेष राजाज्ञा प्रसारित की। बौद्धों ने स्वयं भी अपने को लोकोपयोगी बनाने के लिये कई महत्त्वपूर्ण कदम उठाये। कई प्रसार-संगठन बनाये गये। प्रेस और प्रकाशन का प्रबन्ध हुआ। प्रचार, प्रवचनो, पूजा एव धर्म विवेचना से आगे बढ़कर व्यक्ति और समाज की सामान्य समस्याओ का समाधान कर सकने योग्य बनने की नीति निर्धारित की गयी।

प्रजातंत्र की स्थापना के उपरान्त बौद्ध-धर्म को लोकोपयोगी बनने की दिशा मे प्रकाण्ड विद्वान 'ताई हुरे' के नेतृत्व मे विशेष प्रयास किये गये। ताई हुरे को उनके चरित्र और प्रयास के कारण उस देश मे 'बौद्ध-पोप' कहा जाने लगा था। अपने सहयोगी ओ-उयांग-चिग-बू-पा-चिन चाग-ताई-पेन-वाग यि तिग आदि के सहयोग से एक से एक ऐसे महत्त्वपूर्ण कार्य किये जिनसे नई रोशनी वालों को भी धर्म की उपयोगिता स्वीकार करनी पड़ी। सन् १९२५ मे महा उपवन मठ में बौद्ध-परिषद् द्वारा एक अन्तर्राष्ट्रीय

सम्मेलन बुलाया गया, जिसमें भारत, श्याम, जापान, जर्मनी, अमेरिका, फिनलैण्ड, लंका, वर्मा आदि अनेक देशों में बौद्ध प्रतिनिधि सम्मिलित हुए थे।

बुद्ध परिषद् ने भी कई महत्त्वपूर्ण कार्य किये जैसे—(१) सन् १९२२ में चीनी बौद्धों का एक विशाल सम्मेलन आयोजन और उसमें देशव्यापी धर्म प्रचार की सुनियोजित कार्य पद्धति का निर्धारण। (२) विश्व धर्म प्रचार के लिये एक विद्वान-मण्डली की योजना (३) चीनी-तिब्वती कालेज की स्थापना (४) बौद्ध-सद्भाव सम्मेलन की स्थापना (५) सुधार-संघर्ष के लिये यंग मेन्स बुद्धिस्ट एसोसियेशन का युवकों में व्यापक क्रिया-कलाप संचालन (६) बौद्ध साहित्य के प्रामाणिक प्रकाशन करने के लिये आभ्यन्तर विद्या-परिषद् की स्थापना (७) छात्रोपयोगी बौद्ध धर्म की पाठ्य पुस्तकों का निर्माण और प्रसार (८) चीन मे बौद्ध इतिहास की खोज और प्रमाणों का सग्रहालय (९) विशाल अध्ययन केन्द्र एवं बौद्ध विश्वविद्यालय का संचालन आदि।

चीन की बुद्ध परिषद् भारत के साथ अपने सम्पर्क घने बनाने का प्रयत्न कर रही थी, उधर भारत की चीनी-भारतीय सांस्कृतिक परिषद् इसी प्रयास में थी। दोनो देशो में घनिष्ठता स्थापना करने के प्रयत्न चल रहे थे। यह उचित भी था क्योंकि हिन्दू और बौद्ध संस्कृतियाँ धार्मिक दृष्टि से सहोदर भाई हैं। यह एकता उपयुक्त वातावरण मे सहज ही घनीभूत हो सकती है।

चीन के छात्र भारत में और भारत के चीन मे पढ़े। यह सिलसिला १९४५ मे चला। रवीन्द्र की विश्वभारती के अतिरिक्त कलकत्ता, प्रयाग, बनारस और दिल्ली विश्वविद्यालयो ने चीनी भाषा तथा सस्कृति का अध्ययन कराने वाले विशेष विभाग खोले। कितने ही मूर्धन्य व्यक्तियो की यात्राये एक देश को दूसरे के समीप लाने के लिये हुई। चीनियो ने सारनाथ का चीनी मन्दिर बोधि गया का महाबोधिमठ, जेतवन का प्रकाश मठ, नालन्दा का प्रज्ञामठ, कासिया का महासुख मठ इसी शताब्दी में बनाये। इन मठों की व्यवस्था चलाने के लिये "भारतीय चीनी बौद्ध परिषद्" की स्थापना हुई। पं० नेहरू, सर राधाकृष्णन, कवीन्द्र रवीन्द्रनाथ चीन गये और चीन के राष्ट्रपति च्यांग काई शेक तथा दूसरे मूर्धन्य व्यक्ति भारत आये। घनिष्ठता बढ़ने की सम्भावनायें दिन-दिन उज्जवल होती जा रही थी, पर कम्यूनिस्टों ने उस सारे स्वप्न को ही उलटकर रख दिया।

सन् १९४५ मे चीन में कम्यूनिस्टों का कब्जा हुआ। उनकी कपट नीति ने सारी धारा ही उलट दी। "हिन्दी-चीनी भाई-भाई" नारे का गुंजन हलका न होने पाया था, पंचशील पालन के करार की स्याही सूखने भी न पायी थी कि उन्होने तिब्वत के स्वतंत्र राष्ट्र को पैरों तले रौद डाला और अक्साईचिन, नेफा आदि पर नृशंस आक्रमण किया। पाकिस्तान के कन्धे पर बन्दूक रखकर भारत के लिये पग-पग पर कठिनाई उत्पन्न की नीति अपनाई।

चीन में बौद्ध धर्म का उन्मूलन उन्होने संस्कृति के नाम पर कर दिया। अब वहाँ के लौह आवरण को भेद कर कोई कुछ नही कह सकता है कि महान संस्कृति जो दोनो को हजारों वर्षों तक सहोदर भाइयो की तरह एकता के सूत्र मे बाँधे रही, किसी प्रकार जीवित रही होगी या नही?

रूस तक भारतीय संस्कृति का विकास-विस्तार

मध्य एशिया होता हुआ बौद्ध-धर्म ईसा की प्रथम शताब्दी में ही रूस भी पहुँच गया था। उसका प्रथम प्रवेश खोरेज्मा मे हुआ। वहाँ से वह कैस्पियन सागर, अरब सागर तथा प्रशान्त महासागर के सुविस्तृत भू-खण्ड में फैला। सातवी शताब्दी मे समरकन्द मे एक विशाल बौद्ध विहार का पुनरुद्धार हुआ। कूचा और खोतान उन दिनो बौद्ध-धर्म के प्रधान केन्द्र थे। उनमें ऐसी दुर्लभ पाण्डुलिपियाँ सग्रहीत थी, जो भारत मे भी नही मिल पाती थीं।

रूसी पुरातत्व विभाग की ढूँढ़-खोज मे ऐसे अनेक स्मारको, मन्दिरो, विद्यालयो, भित्तिचित्रों, शिलालेखों, ग्रन्थो, मूर्तियो तथा भग्नावशेषो का संग्रह किया गया है, जो उस देश में प्राचीन काल की बौद्ध सस्कृति के प्रसार का प्रमाण देते हैं, तर्मीज नगर के

पास पत्थर की बुद्ध प्रतिमाये मिली है और उसी स्थान पर एक बौद्ध-मन्दिर के कॉसे और मिट्टी सहित अवशेष भी उपलब्ध हुए हैं।

किरगीजिया क्षेत्र मे चू नदी की उपत्यका में भी बहुत से बौद्ध अवशेष मिले है। दझूल नगर के पास तो एक पूरा विहार ही मिला है, जिनमे भिक्षुओं के निवासगृह, चैत्य, मन्दिर आदि की व्यवस्था मौजूद थी। मूर्तियाँ, चित्र, भवन, मन्दिर की वास्तु शैली देखते हुए यह निष्कर्ष निकलता है कि वहाँ भारतीय बौद्ध प्रचारक ही नही कुशल कारीगर भी बड़ी सख्या मे पहुँचे थे।

तुर्कमानिया के "बैराम अबी" स्थान की खुदाई में जो प्राचीन बौद्ध मन्दिर मिला है, उसमें एक ऐसा पात्र भी है, जिसमे छोटी-छोटी मूर्तियाँ तथा पॉचवी सदी के ईरानी सिक्के भी रखे हैं। इसी के साथ भोज-पत्र पर लिखे हुए पॉचवी शताब्दी के बौद्ध धर्म के ग्रन्थ भी मिले है। सेमिरेच्ये (अकवेशी), कास्नोरेचेन्स्क, कुवा (फरगाना) आरजिना लेपे (ताजिकिस्तान) मे उपलब्ध अवशेषो से स्पष्ट है कि उन क्षेत्रो में बौद्ध धर्म ईसा की दूसरी-तीसरी शताब्दी में मौजूद था। मंगोलिया में उसकी जड़े जम चुकी थी। कई मगोल सरदार बौद्ध-धर्म दीक्षित हो चुके थे। 'मागोल-ओइरात' बौद्ध थे। सन् १६२० मे होशुत राजकुमार वैवागस दातार बौद्ध धर्म के पीत-सम्प्रदाय का अनुयायी था। यह मगोल वोल्गा के किनारे-किनारे आगे बढ़े और उन्होने रूस के काफी बड़े क्षेत्र मे बौद्ध धर्म फैलाया। उन्ही दिनों साइबेरिया के बेकाल प्रदेशों मे बौद्ध धर्म पनपा। १५० तिब्बती बौद्ध भिक्षु वहाँ पहुँचे और उन्होने खानाबदोश वुर्यात जनजाति को दीक्षित किया। 'उलान बतौर' के गंवन विहार मे भारतीय धर्मप्रचारक भी पहुँचे थे। उनमें से एक और भिक्षा पात्र तो अभी तक सुरक्षित रखा हुआ है। वुर्यातिया का प्रथम बौद्ध-विहार 'सेलिंगन' क्षेत्र मे 'त्सोड् गोल दजान' नामक स्थान में विनिर्मित हुआ था।

रूस के सेमीरेक (सप्तनद) क्षेत्र में छठवी से लेकर बारहवी सदी के मध्यवर्ती ऐसे अनेक अवशेष मिले हैं, जिनसे सिद्ध होता है कि वहाँ प्राचीन काल में बौद्ध धर्म का आधिपत्य था। पुरातत्व-विभाग ने जो अवशेष प्राप्त किये हैं, उनसे स्पष्ट है कि 'चू' उपत्यिका के निकट 'आस्मिक अता' में बौद्ध धर्म माना जाता था और बारहवीं सदी में वहाँ विशालकाय बौद्ध-विहार बने थे। सारिंग नदी में उपत्यिका में छठी सदी के बने भित्ति-चित्र पाये गये हैं, जिनसे वहाँ उन दिनों बौद्ध धर्म का प्रचलन सिद्ध होता है। बलाशगून में बुद्ध प्रतिमायें मिली हैं। तलस में भी छठी सदी के ऐसे ही अवशेष मिले है। पुरातत्व विज्ञानी बर्नश्ताम ने उसी क्षेत्र में अनेक धातु प्रतिमाये तथा संग्राह्य अवशेष ऐसे प्राप्त किये हैं, जिन्हें देखने से उस क्षेत्र में प्रतिष्ठित बौद्ध आस्था का भली-भाँति परिचय मिलता है।

रूसी भाषा में संस्कृत शब्दों की भरमार है। ईसा की दसवीं शताब्दी तक रूसी लोग देवताओ की पूजा करते थे, जो भारत में पूजित होते थे। लिथुवानिया और लाताविया की भाषायें योरोप की भाषाओं की अपेक्षा संस्कृत के अधिक समीप है। 'वाल्हस एण्ड आर्यन्स' ग्रन्थ मे इस क्षेत्र के निवासियों को प्राचीन काल में आर्य-वश का ही सिद्ध किया है।

रूस का उजेविकिस्तान प्रदेश यो इन दिनो मुसलमानी प्रभाव में है, पर प्राचीनकाल मे वह भारतीय सस्कृति का केन्द्र रहा है। मध्य युग की इमारतो के अवशेष जहाँ भी उपलब्ध हैं, उन पर भारतीय स्थापत्य-कला और संस्कृति की गहरी छाप है। आमू नदी के किनारे बसे तर्मेज नगर की खुदाई में बौद्ध प्रतिमाये और चैत्यो के अवशेष मिले हैं। इस प्रदेश का प्रमुख नगर 'बुखारा' इतिहासकारो के अनुसार 'विहार' शब्द का ही तुर्की उच्चारण है। ताशकन्द के स्त्री-पुरुषों की पोशाक भारतीय पहनावे से मिलती-जुलती है।

तुर्कमानिया प्रदेश के अनेक स्थानो पर भारतीय संस्कृति के अवशेष बिखरे पड़े है। अश्काबाद से ४०० किलोमीटर आगे विशालकाय 'मेर्व' की खुदाई में ऐसे अनेकों अवशेष मिले है। यहाँ सात मीटर ऊँची एक बुद्ध प्रतिमा मिली है। ब्राह्मी लिपि मे ताड़ पत्र पर लिखा एक बौद्ध ग्रन्थ भी उसी काल का मिला है। हिन्दी के प्रसिद्ध कवि और तुर्की, फारसी, अरबी तथा संस्कृत के विद्वान रहीम, जिनका पूरा नाम अब्दुर्रहीम खानखाना था, वे तुर्कमानिया के ही निवासी

थे। भारतीयता के प्रति उनका अनुराग अपने जन्मकाल से ही वहाँ के वातावरण द्वारा उपलब्ध था।

इस्लाम के मध्यकालीन दबाव और वर्तमान नास्तिकवादी प्रभाव के बावजूद वुर्यातिया प्रान्त भी अपनी बौद्ध निष्ठा को बहुत हद तक यथावत् बनाये हुए है। बेकाल क्षील के दक्षिण पूर्व बर्फीली चोटियों से ढका हुआ विपुल प्राकृतिक सम्पदाओ वाला यह प्रदेश है। इसका क्षेत्रफल ३१५००० वर्ग किलोमीटर और आबादी सात लाख है। क्षेत्रफल की दृष्टि से इसे जापान के बराबर ही कह सकते है।

रूस के समाचार-पत्रो मे इस खोज की विस्तृत चर्चा छपी थी कि काकेशस क्षेत्र मे कालासागर के तट पर माइस सेनेटोरियम के निकट खुदाई मे जो मूर्तियाँ मिली हैं, वे इस बात को प्रमाणित करती हैं कि किसी समय उस क्षेत्र मे भारतीय सभ्यता फैली हुई थी। इसी क्षेत्र मे 'आदवरोइस' नामक कबीला निवास करता है, उसकी नस्ल का विश्लेषण करने पर प्रतीत हुआ है कि वे भारतीय मूल के लोग हैं। पीढ़ियो से रूस मे बसे होने के कारण वे अब रूसी ही हैं। फिर भी उनका सास्कृतिक रुझान भारतीयो जैसा है। उनमे प्रचलित लोक कथाओ मे से ३० कथाये भारतीय पुराणो की है। आभूषण वे भारतीयों जैसे पहनते है। वे रूस में रहते हुए भी अपने आप को भारतीय मूल का मानते हैं।

मास्को, लेनिनग्राड, रोस्तोव, ताशकन्द, कीव के विश्वविद्यालयों मे औद्योगिक एवं वैज्ञानिक शिक्षा प्राप्त करते हुए भारतीय छात्र बडी सख्या मे रूस मे रहते है। अमीर देशो की तरह वहाँ किसी के लिये भी विलासिता के अवसर नही है। वहाँ प्रत्येक देशी-विदेशी नागरिक से कठोर श्रम की अपेक्षा की जाती है।

रूस मे १४ भारतीय भाषाओ मे रेडियो-प्रसारण होता है और यहाँ की प्राय. प्रत्येक भाषा में साम्यवादी विचारधारा की पुस्तको के प्रकाशन की व्यवस्था है। इस कार्य मे सैकड़ो भारतीय लगे हुए है और रूस-वासियो को प्रशिक्षित कर रहे है।

रूस के अजरवइजान नगर मे एक सूर्य मन्दिर है, जिसमें संस्कृत शिलालेख है। वह इस बात की साक्षी है कि कभी उस देश मे हिन्दू-धर्म का विस्तार रहा है।

उन्नीसवीं शताब्दी के प्रथम भाग में हरियाणा, पंजाब, उत्तर-पश्चिमी सीमा प्रान्त के व्यापारी समुद्र मार्ग से रूस गये और वहाँ जाकर कितने ही बस भी गये। अभी भी वहाँ बाकू में उनका एक कारवां-सराय है और एक मन्दिर भी है। रूस मे प्रवासी भारतीयो का कोई संगठित समुदाय नहीं। इन दिनो रूस मे भारतीयो की सख्या शैक्षणिक संस्थाओं में अध्ययन कर रहे छात्रों के रूप में ही अधिक है। हिन्दी, बंगाली, तमिल, तेलगू, गुजराती, मराठी, उडिया आदि भाषाओ के विद्वान भारत मे वहाँ बुलाये गये है और वे रूस-वासियों को प्रशिक्षित कर रहे है।

रूस के विद्वानो मे से एजी. रोस्तोव, एन. ए दोब्रोल्यूवोव, आई. सी. मितायेव, वी. वी. स्तासोवो, एस शशकोव ऐसे नाम हैं, जिन्होने भारतीय गरिमा के प्रति रूस निवासियो को अधिकाधिक जानकारी कराने मे भरसक प्रयत्न किये है। लियो टालस्टाय से गाँधीजी ने जो प्रेरणा ग्रहण की उससे भारतीय स्वतंत्रता संग्राम मे कितनी मदद मिली इसे हर कोई जानता है।

सन् १७८५ मे एक प्रतिभावान संगीतज्ञ 'लेवेदिराव' भारत आये और वे बारह वर्ष तक इस देश की तीर्थयात्रा करते हुए भारतीय सगीत का शिक्षण प्राप्त करते रहे। इसके बाद एक रूसी दार्शनिक 'रैफाइल देनिवेगोव' भी भारत आये और वे १७ वर्षो तक यहाँ तीर्थयात्रा करते और धर्म शिक्षा प्राप्त करते रहे। सन् १७७४ मे फिलिप येफ्रेमोव भारत की सुविस्तृत तीर्थयात्रा करने आये और उन्होने कई वर्ष बाद लौटकर भारत की जानकारी के सम्बन्ध मे एक बडी पुस्तक प्रकाशित की जिसे उस देश में बड़ी दिलचस्पी के साथ पढ़ा गया। भारतीय तत्वदर्शन मे विशेष रुचि रखने वाले विद्वान् जी. एस. लेवेदयेव इस देश मे कितने ही वर्ष रहे और उनने 'भारतीय ब्राह्मणो की जीवन प्रणाली पर निष्पक्ष विचार और उनके पवित्र रीति-रिवाज और लोक व्यवहार' नामक पुस्तक लिखी।

इस बात के कितने ही प्रमाण मिले है कि ईसा की प्रथम शताब्दी में भारतवासी रूस को जाते थे और रूसी लोग भारत आते थे। इस आवागमन का प्रयोजन संस्कृतियो का आदान-प्रदान, अध्ययन तथा प्रशिक्षण, चिकित्सा एवं व्यवसाय रहता था।

अनेक योरोपीय यात्रियो ने अकबर के दरबार में रूसियो के होने का जिक्र किया है। इटली के घुमक्कड़ 'डिओवानी वातेरों' से भारतीय व्यापारियो को यारोस्लाव, मास्को और प्रत्येक में अपना व्यवसाय चलाते देखा था। अस्त्राखान कस्बे मे भारतीयो की बस्ती और सराय थी, जो २०० वर्षों तक फलती-फूलती रही। इन प्रवासियों में से अधिकांश पंजाब और राजस्थान के निवासी थे।

रूसी भाषा का विकास संस्कृत के आधार पर हुआ है। इस तथ्य को रूस की महिला इतिहासवेत्ता बोलकोवा ने स्वीकार किया है। वहाँ के भाषा-विज्ञानी वी. मकारैको का कथन है कि रूसी भाषा अंग्रेजी की अपेक्षा हिन्दी, संस्कृत और बंगला के अधिक निकट है।

(१) पिकिलिंग्स की-"लिथुआनियन भाषाओ का संस्कृत से निकट सम्बन्ध" (२) ए. एफ. मिकुत्स की-"स्लाव और संस्कृत भाषा की आत्मीयता" (३) एम.पी. मिकुतसकी की-"सस्कृत धातुओ और शब्दो की स्लाविक भाषा से तुलना" (४) रूसी विज्ञान अकादमी द्वारा प्रकाशित—"सस्कृत और रूसी भाषा की समानता"। इन ग्रन्थो में विस्तारपूर्वक यह सिद्ध किया गया है कि रूसी भाषा का विकास संस्कृत भाषा के प्रकाश मे ही हुआ है।

रूसी भाषा मे भारत के अनेक प्राचीन ग्रन्थो का अनुवाद हुआ है। गीता, उपनिषद्, पचतंत्र, हितोपदेश विशेष रूप से लोकप्रिय हुए थे। वारान्निकोव द्वारा अनुदित 'रामचरितमानस' की तो वहाँ लाखो प्रतियाँ हाथो-हाथ बिक गयी। रवीन्द्रनाथ टैगोर की कृतियाँ तो रूस की प्रायः सभी भाषाओं मे अनूदित, प्रकाशित हुई हैं। हिन्दी की शिक्षा का उस देश के विश्वविद्यालयो में समुचित प्रबन्ध है।

रूसी भाषा में बौद्ध साहित्य का अनुवाद और प्रकाशन उत्साहपूर्वक हुआ है। इस कार्य को वहाँ का 'ओल्डनवर्ग विलिओथकी बुद्धिका' संस्थान सम्पन्न कर रहा है। अनुवादकों में मसिलियेफ, इमान मिनायेफ, फिओदोरश्चेर वात्स आदि विद्वानो के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं।

वोएथलिंक द्वारा सम्पादित "संस्कृत गोर्तेबुख-पीटसवर्ग डिक्शनरी" नामक संस्कृत कोश सात बड़ी जिल्दों में छपा है। देव नागरी लिपि मे छपा यह रूस का सर्वप्रथम ग्रन्थ है। उसके सम्पादन में २० वर्ष लगे है। अब तो महाभारत, गीता, रामायण, उपनिषद् आदि अनेक प्राचीन ग्रन्थो का अनुवाद रूसी भाषा मे हो चुका है।

रूसी इतिहासकार जी. मिल्लेर तथा गवेषणा विशेषज्ञ वास्सिलियेव ने कठिन परिश्रम करके उस देश में बिखरे हुए बौद्ध साहित्य तथा अवशेषों को एक क्रमबद्ध शृंखला मे पिरोया है। संग्रहीत सामग्री से उस देश मे किसी समय के बौद्ध-धर्म विस्तार पर अच्छा प्रकाश पड़ता है। इमानमीनायेव, सेर्गेई ओल्डेनवर्ग, पयोदोर, इप्योलितो, श्चेरवकोई, यूरी रोयरिक, जार्जीसग्यान्त्सेव, बोरिस, सेमिचेन, वोरिस पंक्रातोव, कुजूनेत्सोव, एदुअर्ई तेम्कीव, साझे दिलिकोव, ओवत्याविना वोल्कोवा, ग्रिगोरी वोनगरि लेविन, येलेना सेमेका, अलिक्सेई कोचेतोव प्रभृति विद्वानो ने इन दिनों अथक परिश्रम करके रूसी जनता को बौद्ध धर्म से परिचित कराने वाले अनेक ग्रन्थ एवं शोध-प्रबन्ध प्रस्तुत किये है। उससे एक अन्धकार पर से पर्दा उठा है और रूसी जनता ने यह जाना है कि बौद्ध-धर्म न तो दकियानूसी है न प्रतिगामी।

लेनिनग्राड की प्राच्य-विद्या एकादमी के पाण्डुलिपि विभाग ने उस देश मे बिखरे हुए बौद्ध साहित्य को लगभग ३० हजार पाण्डुलिपियाँ संग्रहीत की है। "नाडका प्रकाशन गृह" ने रूसी भाषा में अभी-अभी धम्मपद, बौद्ध धर्म, जातक मरला, तिब्बती धर्म साहित्य अशोकावदान माला, कुणाल-कथा जैसे बौद्ध धर्म पर प्रकाश डालने वाले ग्रन्थ छापे है। इससे स्पष्ट है कि रूसी जनता इस नास्तिकवादी जनून के रहते हुए भी बौद्ध धर्म से कम प्रभावित नही है।

रूस मे भारतीय सस्कृति के सम्बन्ध मे कम दिलचस्पी नहीं है लेनिनग्राड विश्वविद्यालय मे प्राच्य विद्या के अध्ययन की अच्छी व्यवस्था है। सस्कृत, पाली और प्राकृतिक भाषाओ के उद्भट विद्वान आई पी. मिनियेव ने इसका श्रीगणेश किया था। एस ओल्डनवर्ग और शेर्वात्सकी ने भारतीय तत्वज्ञान पर

शोध एव तद्विषयक अध्ययन पर महत्त्वपूर्ण कार्य किये है। शेर्वात्सकी संस्कृत मे धारा प्रवाह भाषण कर सकते थे। उन्होने लम्बी यात्राये करके उस देश मे पड़ा बौद्ध साहित्य एकत्रित किया था। एल बजेई वारान्निकोव के सम्पादकत्व में "हिन्दी-रूसी कोष" विनिर्मित हुआ है। उन्ही ने रूसी भाषा में रामचरितमानस का पद्यानुवाद भी किया। उनकी समाधि पर तुलसीदास का यह दोहा अंकित है।

भलो भलाई पै लहहिं, लहै निचाई नीच।

सुधा सराहिय अमरता, गरल सराहिय मीच॥

रूस भारत से बहुत दूर नहीं है। प्राचीन काल मे यहाँ के प्रचारक अपने अटूट उत्साह का सहारा लेकर वहाँ भी पहुँचते थे और भारतीय संस्कृति के दिव्य लाभों से उस क्षेत्र को भी प्रभावित-प्रकाशित करते थे। बम्बई से रूस की राजधानी मास्को ५६०० मील है। नौ सौ मील प्रति घण्टे की चाल से चलने वाले मध्यवर्ती वायुयान से साढ़े छः घण्टे मे इस दूरी को पार कर लेते है। श्री मिखाईल गोर्बाच्योव के राष्ट्रपति बनने के बाद अब साम्यवादी अधिनायकवाद यहाँ समाप्त हो रहा है।

सूर्य वंशी जापान की बौद्ध -निष्ठा

जापान शब्द चीनी भाषा के 'जिम्पोज' शब्द से बना है, जिसका अर्थ होता है—'सूर्य का देश' । जापान चिर अतीत काल से सूर्य उसासक रहा है। उस देश के निवासी अपने को सूर्य की संतान कहते हैं। जापान सम्राट मेईजी की वे कविताये सुप्रसिद्ध है, जिसमे उन्होने जापान की आत्मा का सूर्य की ज्योति के रूप मे चित्रण किया है।

जापान की धार्मिक परम्परा यह है कि प्रात.काल उठकर पूर्व की दिशा मे मुँह करके खडे हो—सूर्य दर्शन करें—नमन करे और इस दर्शन सौभाग्य के उपलक्ष्य मे ताली बजायें। वे सूर्य को अपना उपास्य और आदर्श मानते है। हर जापानी उस प्रेरक गीत को गुनगुनता रहता है, जिसके बोल हैं—"हम सूर्य की सन्तान है, हम दिव्य देश के गौरव है। "

ससार भर मे सबसे पुरानी लकडी की इमारत जापान के नारा नगर का "होर्युजी" मन्दिर है। यह सातवी सदी के आरम्भ का बना है । समीप ही बनी एक सावा झील के किनारे का 'फुकूजी' का पाँच मजिला मन्दिर है, इसकी ऊँचाई १६५ फुट है । निकटवर्ती क्षेत्र एक प्रकार का विस्तृत उद्यान है, जहाँ तरह-तरह के हिरन हजारो की संख्या मे निर्भय विचरण करते है। झील मे लोग मछलियाँ खरीदकर उन्हे प्रवाहित करते हुए दया धर्म का पालन करते है।

'को फुइदी' प्राचीन काल का समृद्ध बौद्ध विहार है, जहाँ होसो सम्प्रदाय के बौद्ध धर्माचार्य रहते थे। जापानी सम्राटो ने उस स्थान को अपनी श्रद्धा का प्रमुख केन्द्र माना । उनने इस क्षेत्र मे कितने ही धर्मस्थान बनाये, जो कभी १७५ तक पहुँच गये थे। उनमे से कुछ तो टूट-फूट गये किन्तु 'दायन जी' 'गंगोजी' 'हार्युजी' 'तोदाइज' याकुशी' यह पाँच मन्दिर अभी भी समुन्नत मस्तक किये खडे है। 'को फुइजी मन्दिर सन् ७६८ मे बना था, इसमें पत्थर की बनी सुन्दर १८०० लालटेन दर्शको का विशेष आकर्षण है। अब इन लालटेनो की सख्या और भी बढ़ाकर तीन हजार कर दी है। पर्वो के अवसर इन सब मे दीपदान की दिवाली जैसी मनोरम शोभा देखते ही बनती है।

तोदाइजी बुद्ध मन्दिर मे आठवी सदी की बनी विशालकाय बुद्ध प्रतिमा है । इसकी ऊँचाई ५३ फुट, ६ इंच, चेहरे की लम्बाई १६ फुट, चौड़ाई ९ फुट, आँखे ४ फुट नाक १॥ फुट, हथेलियाँ ५॥ फुट उँगलियाँ ४ फुट, कान ८ फुट के है। धुँघराले वालो के गुच्छे ९६६ है। इस प्रतिमा का भार ५०० मीट्रिक टन है। संसार भर के मूर्ति इतिहास में यह मूर्ति अपने ढग की अनोखी है।

जापान की नगरी नारी मे मथुरा-वृन्दावन जैसी राग-रंग की धूम-धाम रहती है। वहाँ के मन्दिरो में आकर्षक नृत्य के साथ अनेकों धर्मोत्सव होते रहते है। जापानी स्वभावतः प्रकृति-सौन्दर्य के पूजक है। उनके निजी घरों में भी छोटे-बडे उद्यान बने होते हैं। तिक्को का तोशूगू मन्दिर पहाड काटकर इस प्रकार बनाया है, जिससे न केवल धर्म-भावना की वरन् प्रकृति पूजा की आकाक्षा भी पूरी हो सके।

जापान के ओसाका नगर का बौद्ध मन्दिर देखने ही योग्य है। वह छठी शताब्दी का बना हुआ है।

स्वच्छता और शान्त वातावरण देखकर यह विचार उठता है कि क्यो न भारतीय मन्दिरों का वातारण भी ऐसा ही सौम्य बनाया जाय।

जापानी पुरातत्ववेत्ता तकाकसू ने जापानी संस्कृति का इतिहास लिखते हुए स्वीकार किया है कि उसका विकास भारतीय सस्कृति की छाया मे हुआ है। जापान मे बुद्धिसेन भारद्वाज नामक भारतीय धर्म-प्रचारक ने सारा जीवन उसी देश में धर्म-शिक्षा देते हुए व्यतीत किया। पहले वे अपने कुछ साथियो सहित ओसाका पहुँचे थे, पीछे उनने सारे जापान में यात्रायें की और जापानी जनता को हिन्दू धर्मानुयायी बनाया। इस महान् धर्म-प्रचारक का स्मारक अभी भी नारा नगर में बना हुआ है। जापान मे सूर्य देवता की पूजा होती है। दिवाली भारत की तरह ही वहाँ मनायी जाती है। ऐतिहासिक अवशेषो के अनुसार सूर्यवंशी राजाओं ने वहाँ पहुँचकर शासन सूत्र सँभाला था और राज्य व्यवस्था का सूत्रपात किया था। पीछे बौद्ध प्रचारक वहाँ पहुँचे और जापान में बौद्ध धर्म खूब फला-फूला।

जापान के धर्म, दर्शन एवं चिन्तन पर भारतीय संस्कृति की गहरी छाप है। प्रथा परम्पराओ मे अन्तर रहते हुए भी भावनात्मक दर्शन वही है, जो भारत की आत्मा कहा जाता है। जापान के देवालयो मे भारतीय देवी-देवताओ की सम्मानपूर्वक स्थापना की गयी है। यो जापानी भाषा के अनुसार उनके नाम बदल गये है, पर उनकी आकृति, प्रकृति के अनुसार वे भारतीय देवताओ के साथ पूरी तरह संगति रखते है। सूर्य, ब्रह्मा, विष्णु, महेश, गणेश, कार्तिकेय, अग्नि, कुबेर सरस्वती, लक्ष्मी, पार्वती, दुर्गा, राम, कृष्ण, दस अवतारों की प्रतिमाये ऐसी लगती है मानो वे किसी हिन्दू धर्मानुयायी ने ही स्थापित की हो। 'यम' को इसी नाम से मृत्यु का देवता माना जाता है। मन्दिरो मे हवनकुण्ड बने हैं, जिनमे द्रव्य, समिधा, अगरबत्ती आदि जलती है। मन्दिरो मे प्रवेश करने से पहले हाथ-मुँह-पैर धोने का नियम है। कुछ दिन पहले वहाँ लम्बी चोटी हर कोई रखता था, अब तो वह पहलवानो और विचारको के सिर पर ही दिखाई देती है। जापान मे पुरानी जाति है— एनु। उसकी मुखाकृति आर्य नस्ल की है। कहते है कि वे भारत मे उस देश से गय धर्म-प्रचारकों की संतानें हैं। मन्दिरों में बुद्ध के वचन देवनागरी अक्षरों में लिखे होते है। जापानी संस्कृत भाषा तो नहीं पर देवनागरी लिपि भली प्रकार जानते हैं। मन्दिरों में अंकित बुद्ध प्रवचनों को पढ़ने में उन्हें कोई कठिनाई नही होती। जापानी चीनी लिपियाँ बनावट में एक जैसी लगती हैं, पर उनके बीच जमीन-आसमान जैसा अन्तर है। जापानी अक्षर हिन्दी की तरह ही ध्वनिपूरक होते हैं। उसकी वर्णमाला का क्रम नागरी जैसा ही है, जबकि चीनी मे किन्ही आकृतियों के आधार पर भाव व्यंजना का होना माना जाता है। जापान में बोधिसेन भारद्वाज सन् ७३८ में पहुँचे थे और उन्होने जापानी वर्णमाला को व्यवस्थित किया था। जापान सम्राट शोष्ट ने इस बौद्ध भिक्षु का भारी स्वागत-सम्मान किया था। बोधिसेन भारद्वाज के नाम से जापान का हर शिक्षित व्यक्ति परिचित है।

एक-दूसरे धर्म-प्रचारक 'धर्म-बोधि' की गाथायें भी जापान भर में सुविदित हैं। उन्होने सन् ६४५ में असाध्य रोग ग्रसित सम्राट कोटुकु को अपने तपबल से जीवन दान दिया था। सम्राट ने उनके लिये अवलोकितेश्वर मन्दिर बनवाया और राजमहल में बौद्ध ग्रन्थों के अनुवाद के लिये एक विशेष विभाग स्थापित किया। उनके योग साधन एवं धर्म प्रचार से सहस्रों जापानी प्रभावित हुए और अनुयायी बने।

आरम्भ मे भारत से ही बौद्ध प्रचारक ससार के अन्यान्य देशो मे धर्म प्रचार के लिये गये थे। पर पीछे यह स्थिति न रही। जहाँ जड़ जम गयी वहाँ के निवासी ही भिक्षु बन गये और प्रव्रज्या लेकर समीप के क्षेत्रों में स्वयं ही धर्म प्रचार के लिये निकल पड़े। सन् ३७२ मे एक चीनी बौद्ध "सुन दो" सीन नान-पू से चलकर कोरिया के 'कोगुरुयू' प्रदेश मे पहुँचा और वहाँ उसने अकेले ही धर्म विजय का झण्डा गाढ़ दिया। उन दिनों कोरिया तीन राज्यो में बँटा हुआ था—(१) कोगुरुयू (२) पकाचि (३) सिल्ला। सुन दो का प्रचार कार्य इतना कुशलतापूर्ण था कि उस क्षेत्र की प्रजा असाधारण रूप से प्रभावित हुई और कोगुरुयू की राजधानी पिंग-याग में दो सुसम्पन्न बौद्ध-विहार बन गये। इनमे ऐसे विद्यालय भी थे, जो नये प्रचारक तैयार करे तथा सामान्य जनता की धर्म जिज्ञासा का समाधान

करें। पीछे इस पूरे राज्य का राष्ट्र-धर्म ही बौद्ध धर्म हो गया।

जापान में सात देवताओं का पूजा प्रचलन है। घर-घर में उनकी मूर्तियाँ मिलेगी। इन देवताओ को महाकाल, कुबेर, सरस्वती, गणेश, यम, हरीति और लक्ष्मी कहा जा सकता है। यद्यपि उनके जापानी नाम भिन्न हैं। टोकियो मे 'मिमेगुरी' महाकाल का मन्दिर है। इसी प्रकार कुबेर-मन्दिर को 'तमोनाज' और सरस्वती मन्दिर का नामकरण 'चोमेईजि' किया गया है। यम-मन्दिर में स्थापित 'एकमा' का भी उस देश मे पूजन होता है। मार्च और सितम्बर मे जापानी अपने दिवंगत पूर्वजों (हाकापारि) का श्राद्ध तर्पण करते हैं। उस दिन वहाँ उपवास रखा जाता है।

टोक्यो के पास "गोह्यानु' एकान मन्दिर मे प्राचीन धर्माचार्यों की प्रतिमाये स्थापित हैं। "दारू-मासान" देवता वहाँ मनोकामना पूर्ण करने वाला माना जाता है। वस्तुतः यह देवता और कोई नही बौद्ध धर्म प्रचारक "बोधि-धर्म" ही है। इस तथ्य को अब विज्ञ जापानी स्वीकार कर रहे है।

जापान मे मन्त्र लिखने के लिये सिद्धम् लिपि प्रचलित है। इसे काश्मीर से वहाँ गये आचार्य प्रज्ञ ने देवनागरी वर्णमाला के आधार पर विनिर्मित किया था।

'कोयासान' मे १२० मन्दिर हैं। यहाँ सम्राट शिराका का, द्वारा प्रज्ज्वलित अखण्ड ज्योति अभी भी जलती है। इस नगर मे 'शिगोन' तंत्र सम्प्रदाय प्रचलित है, जिसके पूजा तथा उपासना के मन्त्र संस्कृत भाषा में बोले जाते है। जापानी मन्दिरों में अग्निहोत्र होता है। उसे होम न कहकर 'जुमा' कहते है। आहुतियाँ देते समय 'ॐ पद्मोद्रवाय स्वाहा' आदि मन्त्रो का उच्चारण किया जाता है।

जापानी सम्राट "शो तो कु" ने बौद्ध-धर्म को सर्वतोमुखी प्रगति का आधार माना और उसके सहारे अपने देश में अनेक सुधार किये तथा प्रगति के उत्साहवर्धक प्रचलन आरंभ किये। कोरिया उन दिनो बहुत समुन्नत था। समझा जाता था कि उसकी प्रगति का प्रधान आधार बौद्ध-धर्म की शिक्षा और संस्कृति है। जापान ने भी उसका अनुकरण किया और समुन्नत लाभ भी पाया। 'शो तो कु' ने बौद्ध धर्म को राष्ट्र धर्म घोषित किया। अन्य देशो से आने वाले भिक्षुओ के निवास, निर्वाह का उचित प्रबन्ध किया। ओसाका मे एक विशाल बौद्ध विहार बनवाया। इसमें एक अच्छा विद्यालय भी था। इसके बाद चीनी प्रचारक भी वहाँ पहुँचने लगे। राजा ने अपने जीवन-काल मे सैकड़ो बौद्ध-संस्थान बनवाये, जिनमे 'होर यूजि' के विहार की विशालता और भव्यता सबसे अधिक थी। 'शो तो कु' ने अशोक जैसा धार्मिक जीवन बिताया। उसने प्रवचन करने का स्वयं एक नया आदर्श प्रस्तुत किया।

सम्राट शो०यु० ने सन् ७१० मे नारा को जापान की नयी राजधानी बनाया, उसके मध्य में "तो दाई जी" नामक विशाल मन्दिर बनवाया, जिसमें स्वर्ण मंडित बुद्ध प्रतिमा स्थापित की गयी थी। उसी के आस-पास कई चैत्य तथा विहार बनवाये गये। आठवीं सदी मे कोरियाई विद्वान ग्योगि जापान में पहुँचा। ७२६ मे बुद्धसेन नामक भारतीय विद्वान अपने साथ एक अच्छी संगीत मण्डली लेकर वहाँ पहुँचा। इससे बहुत समय पूर्व 'हो दो' नामक एक भारतीय भिक्षु जापान पहुँचा था। चीन से 'गन जिन' नामक एक विद्वान पहुँचा। इन लोगो ने मिल-जुलकर जापान में धर्म-भावना की जड़े जमाई। जापानी नव दीक्षित भिक्षुओ का भी उत्साह कम नही था। इनमे 'गियन' 'ताई तो' और 'शा टो' के नाम विशेष उल्लेखनीय है। इन्होने पिछड़े हुए देहातो को अपना कार्यक्षेत्र बनाया और उन्ही के बीच अपने को खपा दिया।

जापान मे बौद्ध-धर्म आठवी सदी के पूर्वार्ध में बहुत ही लोकप्रिय हो चुका था। उन दिनों जनता में इसके लिये अपार श्रद्धा थी। संसार की सबसे बडी समझे जाने वाली बुद्ध प्रतिमा इन्ही दिनो सन् ७४९ मे बनी। इसमे ६६६ पौण्ड सोना, १६८२७ पौण्ड टिन, १९५४ पौण्ड पारा और ९८६१८ पौण्ड ताँबा एवं सीसा लगा है। इसी मन्दिर का 'तो-दाइजी' नामक घण्टा चालीस टन भारी और तेरह फुट ऊँचा है। नारा राजधानी के इर्द-गिर्द 'चुगिजि' 'याकुशिचि' आदि जो मन्दिर विहार बने है। उन पर स्पष्टतः भारतीय वास्तुकला का प्रभाव है। उन दिनो बौद्ध-धर्म के विस्तार के साथ-साथ जापान की सर्वतोमुखी प्रगति हुई और लोगो ने समझा कि समुन्नत संस्कृति को

अपनाकर कोई देश या समाज किस प्रकार हर क्षेत्र मे प्रगति के पथ पर अग्रगामी हो सकता है।

आत्म-निग्रह और अनुशासन मे ढील पड़ने से उस समय के भिक्षुओं में जो विकृतियाँ आयीं उससे राजा और प्रजा मे असंतोष बढ़ने लगा और खुले आम आलोचनायें होने लगी। इस स्थिति को सुधारने के लिये जापानी संत 'साई चो' और 'कोकेई' ने घोर प्रयत्न किया। इन सुधारक प्रयासो को 'धर्नग्यो' ताई शी' और 'कोवो ताई शी' ने और अधिक आगे बढ़ाया। उन्होंने मात्र धार्मिक पूजा-पाठ तक बौद्ध-शक्ति को सीमित न रहने देकर देश को सामाजिक, शैक्षणिक एवं राष्ट्रीय प्रगति में नियोजित किया। तत्कालीन शासकों ने भी इस में सहयोग दिया।

इसके बाद जापान के भिक्षु सम्प्रदाय और राज परिवार-गृह-कलह मे व्यक्तिगत महत्वाकांक्षाओ मे ग्रसित होकर फँसते चले गये। इससे देश में दुर्बलता आई। फिर भी वह समर्थ बना रहा कि जिन मंगोल आक्रमणकारियो ने एशिया और योरोप का बहुत बड़ा भाग अपने पैरो पर तले रौंद डाला था, उन्हें जापान के मोर्चे पर हर बार करारी हार खानी पडी। बारहवी और तेरहवी सदी में होने न शिरनन् 'निचिरेन्' और 'दोर्जन' आदि प्रभावशाली सन्त विद्वानो ने जनता की धर्म श्रद्धा को लोक-मंगल के प्रयोजनों मे नियोजित किया और धर्म को समाज की सर्वतोमुखी प्रगति का सहयोगी बनाने का अभिनव एवं सफल प्रयोग किया। जनता मे इस सुधार-परिवर्तन का उत्साहवर्धक स्वागत हुआ। पीछे उनके न रहने पर अनुयायियों ने उनके नाम पर वैसे ही सम्प्रदाय खड़े कर दिये जैसे कि आजकल अनेक सन्तों के नाम पर अलग-अलग पन्थ चल रहे हैं। इस अन्धानुकरण ने उन सुधारवादी सन्तों का मूल उद्देश्य ही विकृत कर दिया। इन विकृतियों ने अराजकता का वातावरण उत्पन्न किया और उससे धर्म, समाज, और राष्ट्र की जड़े खोखली होती चली गयी। एकता और निष्ठा के अभाव में पन्द्रहवी सदी मे जापान मे बौद्ध धर्म सड़ा-गला खोखला बनकर रह गया। सर्वत्र विद्वेष और विघटन का बोलबाला दिखाई पड़ने लगा।

इस अस्त-व्यस्तता में ईसाई धर्म ने जापान मे घुस-पैठ का अवसर पाया और उसने अपनी विशेषता के कारण नहीं संव्याप्त क्षोभ, असंतोष से लाभ उठाकर अपनी जड़े जमायी। १५ अगस्त १९४९ को सर्वप्रथम एक ईसाई धर्म प्रचारक फ्रांसिस जेवियर इस देश के कागोशिया नगर में पहुँचा। उसने राजा और प्रजा को चमत्कृत करने में अद्भुत सफलता पाई। सम्राट 'तोयोतोग्मे हिदयोशि' ने उसे समर्थन दिया, फलत योरोप से धर्म प्रचारकों तथा व्यापारियों के जत्थे वहाँ आने और रहने लगे। दूसरी ओर सामन्तों में बँटा हुआ देश एक प्रकार से गृह-युद्ध की स्थिति में गिरने लगा और भारत की तरह जापान में भी विदेशी शक्तियों के पैर जम गये। सोलहवी सदी में योरोपियनों के लिये सम्राट हिदोयोशी ने भी द्वार खोले और ईसाई धर्म वहाँ तेजी से बढ़ने लगा। सन् १८६८ में राजा मोइजी ने अपनी प्रसिद्ध "मैग्ना चार्टा" घोषणा की और पाश्चात्य विचारधारा के प्रवेश का द्वार विशेष रूप से खोला। तब ईसाई संस्कृति को सर्वतोमुखी उन्नति का आधार बनाया जाने लगा और लोगों ने उत्साहपूर्वक उसे अपनाया, पर यह उभार बहुत दिन तक न रहा। बौद्धों ने अपने को सुधारा, और जापान मे बढ़ती हुई ईसाइयत के खतरे को समझा और तीव्र आन्दोलन किया। जनता को वस्तुस्थिति समझाई। फलतः सन् १८७० में जापान ने पुनः बौद्ध-धर्म को राष्ट्रधर्म स्वीकार कर लिया।

अमरीका और जापान के बीच समुद्र में फैले हवाई-द्वीप समूह में जापान से ही बौद्ध-धर्म पहुँचा है। जिस प्रकार चीन और कोरिया के भिक्षुओ ने जापान में धर्म-प्रकाश फैलाया वैसे ही जापानी भिक्षु हवाई द्वीप समूह में पहुँचे और वहाँ को जनता को बौद्ध बनाया।

जापान में इन दिनों बौद्ध धर्म के कई सम्प्रदाय हैं। उनकी आचार संहिता में थोडा-थोड़ा अन्तर है। प्राचीनकाल जैसी धर्म श्रद्धा अब वहाँ नहीं है, तो भी विहारों और मन्दिरों में निवास करने वाले भिक्षु अभी भी अपने ढंग से उपासना एवं धर्म शिक्षा के प्रयत्नों में तल्लीन रहते हैं। अभी भी वहाँ 'नामु अमिता बुत्सु' (नमः अमित बुद्धाय) का प्रेरणाप्रद घोष सुनने में आता है।

जापान मे बौद्ध धर्म के प्रसार-विस्तार के साथ-साथ उसकी अपनी चार विशेषतायें भी रही है, जो विचरणीय ही नहीं अनुकरणीय भी हैं—

(१) जापानी बौद्धों ने कट्टरता नही दिखाई वरन् प्रचलित धर्मों के साथ उसका तालमेल इस सुन्दरता के साथ विठा दिया कि पुरातनपंथियों को नवीन धर्म में प्रवेश करने में विशेष अड़चन न हो। उन्होने शिन्तों, ताओ तथा कन्फ्यूशियस धर्मों के देवी-देवताओं को बौद्ध धर्म में सम्मिलित कर लिया। उनकी प्रतिमाये भी अपने मन्दिरों में रख ली और उन्हें भगवान बुद्ध के ही विभिन्न समय का अवतार बताया। नये बुद्ध अवतार को सबसे अधिक प्रमुखता इसलिये दी कि वह इसी युग के लिये विशेष रूप से अवतरित हुआ था।

(२) जापानी बौद्धो ने चीनियों की तरह असख्य बौद्ध ग्रन्थों का अनुवाद नही कराया। उन्होने चुने हुए ग्रन्थ ही अपनाये और ग्रन्थो की संख्या स्वल्प रखते हुए प्रचार विस्तार पर अधिक ध्यान दिया, जिससे जनता बिना जंजाल भरी उलझनो में फँसे उस धर्म का स्वरूप सुगमतापूर्वक समझने और निर्देशो को अपनाने मे समर्थ हो सकी।

(३) यों जापान मे भी बौद्ध धर्म के कई सम्प्रदाय है—कुश, सानरोन, जोजित्सु, केगौन, होस्सो रित्सु, तेन्दाई, शिंगोल, युजु, नेनयुत्सु, रयोनिन, जो-दो शिन, शिन राज आदि। इनके दर्शन और आचार एक-दूसरे से कुछ-कुछ भिन्न है। पर उस भिन्नता के कारण न तो उनके बीच मनोमालिन्य हैं और न द्वेष-दुर्भाव, न असहयोग। भारत में जैसे एक पंथ दूसरे पंथ को फूटी आँखो नही सुहाता और विरोध आक्षेप के शास्त्रार्थ के दौर चलते रहते हैं, वैसा दृश्य जापान मे बिल्कुल देखने को नही मिलता। यह सम्प्रदाय वस्तुतः पंथ न बनकर सस्थाये बन गये हैं। अपने क्षेत्र और वर्ग में काम करते है, पर अन्य सहधर्मी दलों के प्रति घृणा, द्वेष का वातावरण नही बनाते। यही कारण है कि पंथों का अस्तित्व टकराव का कारण नही बना है और पारस्परिक सहयोग से बौद्ध-मिशन के विस्तार में सहायता ही मिली है। विभिन्न अभिरुचि के लोग अपने-अपने प्रिय पंथ को अपनाते है। पर साथ ही एकता की आवश्यकता भी सच्चे मन से अनुभव करते हैं।

(४) जापानी बौद्धों की चौथी विशेषता यह है कि उन्होने अपने प्रयासों को पूजा-पाठ तक सीमित नही किया वरन् धर्म-श्रद्धा को लोकोपयोगी प्रयोजनो में निरत करके उसे व्यक्ति और समाज की उन्नति के विभिन्न क्रिया-कलापों में लगाया। फलतः उस धर्म को भार नही एक उपयोगी प्रयास माना जाता है। और प्रबुद्ध वर्ग का समर्थन तथा राजकीय अनुदान उसे मिलता रहा। जापानी बौद्धों की यह विशेषता निःसंदेह दूरदर्शिता और सराहनीय ही कही जा सकती है।

जापान के धर्मों मे बौद्ध और ईसाई प्रमुख हैं। शिन्तों धर्म उस देश का पुराना है पर उसका कोई दर्शन नही है। पितृपूजा के इर्द-गिर्द ही उसकी धुरी घूमती है। यों वहाँ हर वर्ग का एक कुल देवता भी है, जिनके छोटे-बड़े मन्दिर वहाँ देखने को मिलते हैं। और पूजा-उपचार चलते है। वहाँ धार्मिक कट्टरता जरा भी नही है। इस आधार पर कोई कलह-विग्रह भी नही होते। एक ही परिवार में कई सदस्य विभिन्न धर्मों के अनुयायी रहते हुए आपस मे सद्भावपूर्वक रहते हैं भारत मे जिस प्रकार परिवार का सदस्य किसी देवता या मंत्र की आराधना करे और सदस्य दूसरे की तो उनमें कोई विग्रह न होगा। इसे श्रद्धा का विषय मानकर भिन्नता को सहज-सौजन्य के साथ सहन कर लिया जायेगा। ठीक इसी प्रकार जापान के धर्म को व्यक्तिगत अभिरुचि का विषय माना जाता है और इस संदर्भ में कोई किसी से झगड़ता-उलझता नही है।

जापान और अमरीका के बीच प्रशान्त महासागर मे हवाई द्वीप समूह बसा है। यह जापान (टोक्यो) से ३००० मील और अमरीका के लास ऐंजिल्स से को तेईस सौ मील की दूरी पर है। इस प्रकार यह एक प्रकार से जापान और अमेरिका के बीच मे पड़ता है। इस पूरे द्वीप समूह क्षेत्रफल ६४०० वर्ग मील और आबादी आठ लाख के करीब है। औसत आमदनी विश्व मे सर्वोच्च है। इसमें बडा शहर एक मात्र 'होनोलूलू' है। यह छोटा-सा देश अमरीका के समान ही समृद्ध है। यहाँ ३६ जातियाँ बसी है। उनमे वैवाहिक सम्मिश्रण होता जाता है और पुरानी नस्ले

समाप्त होकर नई नस्ल सामने आ रही है। यहाँ के निवासियो का स्वास्थ्य और सौन्दर्य देखते ही बनता है।

भारतीयों के हाथ मे भी यहाँ कितने ही काम हैं। मै. बाटूमल के यहाँ २६ स्टोर है, जिनमे सैकड़ो भारतीय काम करते है। "बाटूमल ट्रस्ट" वहाँ के छात्रों को विविध विधि सहायता देता है।

ओकासा मे प्राय: चार सौ भारतीय परिवार रहते है। इनमे गुजरातियों की संख्या अधिक है। वे व्यवसाय करते है। मोती तथा दूसरी चीजो के निर्यात मे उनका अच्छा हाथ है। जापान के अधिक भारतीय ओसाका मे ही रहते है। यो वे अन्यत्र भी थोड़ी बहुत सख्या में बसे हुए है।

कोरिया और मंगोलिया में आलोक

जापान और चीन की सीमा से लगा हुआ कोरिया अब दो भागों में विभक्त है। उत्तर कोरिया मे साम्यवादी शासन है और दक्षिण कोरिया में राष्ट्रवादी। उससे पूर्व समूचा कोरिया एक था और वहाँ बौद्ध-धर्म का एक छत्र प्रभाव था। अब तो वहाँ नास्तिक, ईसाई, एव मुसलमान भी बहुत है।

कोरिया मे भी चीन जापान की तरह भारतीय धर्म प्रचारक पहुंचे थे और उन्होंने धर्म विजय अभियान के प्रकाश से उस क्षेत्र को भी आलोकित किया था। पीछे उत्साही चीनी भिक्षु भी अपने इस समीपवर्ती क्षेत्र में जाते रहे और वहाँ धर्म-चक्र प्रवर्तन का उत्तरदायित्व सँभालते रहे।

कोरिया के वज्रगिरि मे आचार्य विहारो के भिक्षु संस्कृत मिश्रित कोरियाई भाषा बोलते है। इस देश मे आचार्य मल्लानन्द सन् ३८४ मे पहुँचे और उनके प्रयत्न से "सुंगमोन्सा" तथा 'इब्बुल्लांसा' बौद्ध विहारो की स्थापना हुई। इसके बाद अन्यान्य प्रचारक वहाँ जाते रहे। कोरिया का 'हेचो' नामक एक बुद्ध भक्त भारत की तीर्थयात्रा करने सातवीं सदी में आया। उसने अपना यात्रा वृत्तान्त भी लिखा था। संस्कृत भाषा के कोरियाई विद्वान 'वुन चडक' ने "विज्ञप्ति मात्रता" ग्रन्थ पर सुन्दर भाष्य लिखा। सिल्ला वंशी कोरियाई सम्राट भी बौद्ध-धर्म के अनुयायी रहे और ध्यान योग की साधनाओं के अभ्यासी बने। प्राचीन कोरियाई साहित्य तथा भवन निर्माण कला पर भारतीयता की गहरी छाप है। "सुकगोलाम" गुफायें भारतीय गुफाओं की शैली पर ही बनी हैं। मन्दिरों में बजने वाले वाद्य यन्त्र वही हैं, जो भारत में प्रयुक्त होते हैं। सम्राट ताइजो की नीति थी कि देश मे अधिक मन्दिर बनाये जायें, ताकि धर्मनिष्ठा की वृद्धि हो।

कोरिया का सबसे बड़ा बौद्ध ग्रन्थ "महा धर्म" है, जो संस्कृत से कोरियाई भाषा में अनुवादित हुआ है और लकड़ी के ठप्पे वाले प्रेस में छपा है। उसकी विशालता को देखते हुए उसे संसार का अद्भुत विस्तार वाला ग्रन्थ कहा जा सकता है। उस देश की लिप "हॉगेडल" चीनी-जापानी पड़ौसी भाषाओं से सर्वथा भिन्न है। इसका निर्माण सस्कृत वर्णमाला और उसकी ध्यान पद्धति का सहारा लेकर किया गया है।

सन् ३८४ में एक दूसरा चीनी भिक्षु कोरिया के 'पाकचि' क्षेत्र मे पहुँचा। उसका नाम था-'मसनद'। इसकी प्रचार शैली भी 'सुन दो' जैसी ही थी। उसके प्रभाव से 'पाकचि' का राज्य धर्म भी बौद्ध बन गया और प्रजा ने उसी धर्म को अंगीकार कर लिया। पाकचि के बौद्ध प्रचारक सिल्ला पहुँचे और चौथी शताब्दी के प्रथम चरण में वहाँ का राज धर्म भी बौद्ध बन गया। इस प्रकार से कुछ ही वर्षों के प्रयत्न से कोरिया के सुविस्तृत देश के तीनों भागों में बौद्ध धर्म का झण्डा फहराने लगा। पाकचि के शासकों ने धर्म-विजय मे विशेष उत्साह दिखाया। सन् ५५२ में कोरिया नरेश सिमाई ने एक प्रतिनिधि मण्डल जापान के राजा 'किम्मई' के पास भेजा और उस देश में बौद्ध धर्म विस्तार की सुविधायें देने का अनुरोध किया। यहीं से जापान मे भी बौद्ध-धर्म के प्रसार का सिलसिला आरम्भ हो गया। उन दिनो कोरिया आर्थिक और सांस्कृतिक दृष्टि से बहुत समृद्ध था। उसका व्यापार भारत, तिब्बत, चीन ईरान, जापान आदि तक फैला हुआ था। व्यावसायिक आदान-प्रदान के साथ-साथ कोरिया से बौद्ध धर्म भी अन्यान्य देशों को निर्यात होता रहा।

सन् २०२ मे जापानी सेनाओं ने कोरिया को अपने आधीन कर लिया और कई शताब्दियो तक उस पर अधिकार रखा। राजनैतिक दृष्टि से जापान विजयी और कोरिया पराजित रहा, पर धार्मिक दृष्टि कोरियाई बौद्ध धर्म जापानी प्रजा पर हावी होता चला गया। धार्मिक दृष्टि से वह पराजय भी विजय के रूप में परिणित हुई। कोरिया और जापान का सम्पर्क बढ़ा। इसमें धर्म और संस्कृति का भी आदान-प्रदान हुआ। जापान में उन दिनों बहुदेववादी शिन्तो धर्म प्रचलित था। उसके सिद्धान्त और प्रतिपादन ऐसे ही बेसिर-पैर के थे। बौद्ध धर्म का दर्शन उसकी तुलना में बहुत ही समाधान कारक था। अस्तु प्रबुद्ध लोगों को उसे अपनाने में कठिनाई नही हुई और जापान में उसका विस्तार तेजी से होने लगा। सन् ५२२ मे एक चीनी भिक्षु 'शिवतात्सु' कोरिया होते हुए जापान पहुँचा और उसने वहाँ की जनता को बौद्ध सन्देशो से अवगत कराके श्रद्धा भरा वातावरण बनाया।

कोरिया के "कुदारा" राज्य के शासक "सिमाई" ने सन् ५५२ में जापान नरेश 'किमाई' की सेवा में बुद्ध की स्वर्ण प्रतिमा, धर्म-ग्रन्थ तथा लम्बा पत्र एक बौद्ध भिक्षु के साथ भेजा, जिसमें बुद्ध की महत्ता बताते हुए उसे स्वीकार करने का अनुरोध किया गया था। राजा ने इन वस्तुओ को स्वीकार किया और आंशिक रूप से उन शिक्षाओं पर चलना आरम्भ कर दिया। इसके बाद यह प्रयत्न और भी उत्साह के साथ जारी रहा और कोरिया से जापान के लिए बौद्ध भिक्षु और भिक्षुणियाँ लगातार आते जाते रहे। सन् ५७७ मे कोरिया की उत्साही और विद्वान भिक्षुणियाँ जापान पहुँची और उन्होने वहाँ जापान समर्थ महिला सघ स्थापित कर दिया। जापानी नव-दीक्षित महिलाये कोरिया के विहारों में धर्म शिक्षा प्राप्त करके वापस लौटी तो उनका महिला-वर्ग में बहुत स्वागत हुआ और घर-घर मे बौद्ध धर्म की जड़ें जमी। रानी, 'सुई को' का शासन काल ५९३ से ६२८ तक रहा। उसने बौद्ध धर्म अंगीकार किया, फलत: प्रजाजन मे भी उसके लिये आकर्षण एवं उत्साह बढ़ता चला गया।

ईसा से ४०० वर्ष पूर्व कोरिया के तीन भाग थे। उत्तरी रियासत को 'बागोरियो' कहा जाता है। मध्यवर्ती रियासत को 'पिय बछे' कहते थे और दक्षिणी रियासत 'सिल्ला' कहलाती थी। वास्तव मे सिल्ला वाले ही अधिक साधन सम्पन्न और प्रभावी थे। उन्होंने ही दोनो रियासतो को मिटाकर कोरिया का एकीकरण किया।

ईसा से ३७२ वर्ष पूर्व चीनी-बौद्ध-भिक्षुओ की एक मण्डली 'सु-दो' के नेतृत्व मे कोरिया पहुँची और वहाँ अपने बौद्ध धर्म की जड़े जमाई। इस प्रकार कार्य की सहायता करने के लिए भारतीय बौद्ध विद्वान 'मरन्ता' वहाँ पहुँचा और धर्म-विजय अभियान को सफलतापूर्वक आगे बढ़ाया। यह कार्य शान्तिपूर्वक किन्तु अत्यन्त उत्साह के साथ चलता रहा और लगभग सारा कोरिया सात सौ वर्षो के भीतर बौद्ध धर्मावलम्बी हो गया। सन् ५१८ मे उसे विधिवत राज्य धर्म घोषित कर दिया गया। इस अवधि मे बौद्ध मन्दिरों और विहारो के निर्माण की धूम मच गयी। हजारो की संख्या मे भिक्षुओ का निर्वाह एवं प्रशिक्षण का प्रबन्ध इन धर्म-सस्थानो मे चलता था और वे प्रशिक्षित बौद्ध विद्वान न केवल कोरिया के वरन् समीपवर्ती अन्य देशो मे भी धर्म-प्रचार के लिए जाते थे। जापान मे बौद्ध-धर्म के निर्यात का श्रेय यदि कोरियाई भिक्षुओ को दिया जाय तो उसमे कुछ भी अत्युक्ति न होगी।

धर्माचार्य बोनियो को कोरिया मे अत्यन्त सम्मान के साथ स्मरण किया जाता है। उनने बौद्ध साहित्य को कोरियाई भाषा मे अनुवाद करने मे अधिक परिश्रम किया और धर्म-संस्थानो के निर्माण, संचालन से लेकर प्रचार अभियान की बागडोर बहुत ही दूरदर्शिता के साथ सभाली, उनकी प्रतिभा से एक राजकुमारी अत्यन्त प्रभावित हुई और यह घनिष्ठता इस हद तक बढ़ी कि दोनो को विवाह सूत्र मे आबद्ध होना पड़ा। इनके संयोग से जो पुत्र उत्पन्न हुआ, उसने चीनी और कोरियाई बौद्ध-संस्थानो के बीच घनिष्ठ सहयोग विनिर्मित करने के लिये अद्‌भुत भूमिका निभाई। उसने कोरियाई लिपि मे भी महत्त्वपूर्ण सुधार किये। बारहवी सदी के अन्त तक कोरिया मे बौद्ध धर्म खूब फला-फूला। भिक्षु विवाहित होकर भी रह सकते है, इस सुविधाजनक परम्परा ने उस देश मे नये प्रतिभाशाली धर्म प्रचारकों को बहुत बढ़ाया।

तेरहवी सदी के आरम्भ मे मंगोलों ने कोरिया पर चढ़ाई कर दी और उसे बुरी तरह रौंद डाला। उस उत्पीडन से बौद्ध धर्म को भी बहुत हानि उठानी पड़ी। राजा और दरबारियो को सारी कोरिया भूमि छोड़कर कगना टापू मे छिपकर अपनी जान बचानी पड़ी। इन्ही दुर्दिनो मे धार्मिक लोगो के सहयोग से एक अद्भुत योजना यह बनी कि लकडी के ठप्पो पर बौद्ध धर्म के सारे ग्रन्थो को खोद लिया जाय और उनसे ग्रन्थ छापे जाये। त्रिपिटिक जैसे विशालकाय ग्रन्थ का कोरियाई भाषा मे मुद्रण इसी पद्धति से सभव हुआ। अन्य कितने ही धर्म ग्रन्थ भी इसी प्रकार छपे। उनकी सख्या ८०२५८ है। उनके मुद्रण में सोलह वर्ष लगे और सभी प्रकाशन अभी भी 'हाहन्सा' विहार मे सुरक्षित है, जिसे देखने के लिये बौद्ध जिज्ञासु वहाँ पहुँचते है और इस दुस्साहस पर आश्चर्यचकित रह जाते है। यह सग्रहालय ससार के बौद्ध धर्म मे अपने ढग का अनूठा है।

मगोल आधिपत्य से छुटकारा अच्छी तरह मिल भी न पाया था कि जापानियों ने कोरिया पर कब्जा कर लिया। इन राजनैतिक उथल-पुथलो के बीच भी कोरिया, मगोलिया, चीन, जापान के बीच धार्मिक आदान-प्रदान का सिलसिला चलता रहा और पारस्परिक सहयोग से बौद्ध धर्म की भावनाये लोक मानस मे प्रतिष्ठापित करने का क्रम अनवरत् रूप से बढ़ता ही रहा।

मंगोलिया में बौद्ध धर्म

मगोलिया को छठी शताब्दी मे बौद्ध धर्म पहुँचा। नरेन्द्र यशस् वहाँ सर्वप्रथम पहुँचे इसके बाद दूसरे आचार्यो की पहुँच होती रही। सन् १९४० की खोज से उस देश मे ७५० बौद्ध विहारो के प्रमाण मिले है। ताड-पत्र, भोज-पत्र आदि पर लिखे सहस्रो संस्कृत तथा पाली ग्रन्थ वहाँ पाये गये। भारतीय देवताओं की तथा बुद्ध भगवान की सहस्रो प्रतिमाये उस क्षेत्र में उपलब्ध हुई है। रूस के पुरातत्ववेत्ता और संस्कृत विद्वान 'रचर्वातकी' मगोलिया को आठवी सदी का भारत कहा करते थे। उस देश के छोटे देहातो मे भी रामचरित्र, कृष्णचरित्र, विक्रमादित्य, राजा भोज आदि की कथा-गाथायें रुचिपूर्वक कही और सुनी जाती हैं। उस देश मे साम्यवाद को पहुँचे प्राय. आधी शताब्दी होने को आती है, इतने पर भी वहाँ के नागरिकों में धर्म श्रद्धा पहले की भाँति ही अक्षुण्ण बनी हुई है।

मंगोलिया के राष्ट्रपति का नाम-शंभु, राष्ट्र ध्वज का नाम-स्वायंभू प्रधान नदी का नाम 'दारु गगा' है। इसके अतिरिक्त वहाँ के लोगो के नाम देखने पर प्रतीत होता है कि वे भारतीय परम्परा के अनुरूप रखे गये है। साम्यवादी क्रान्ति की सफलता की घोषणा जिस 'सुखेवात्र' शंख को बजाकर की गयी थी, वह शंख अभी भी यहाँ के संग्रहालय मे सुरक्षित है। रूस की तरह यहाँ पर भी अब साम्यवाद क्रमश समाप्त होता जा रहा है।

साइबेरिया के घोर शीत प्रदेश में

साइबेरिया के घोर शीत प्रदेश में भारतीय धर्म प्रचारक किन-किन कठिनाइयो के साथ पहुँचे होगे, वहाँ के कष्टसाध्य जीवन क्रम को अपनाकर, किस निष्ठा के साथ धर्म-प्रचार करते रहे होगे, यह कल्पना करके आज आश्चर्य लगता है। पर उन दिनो जो भावनात्मक उत्साह एव स्तर था उसे देखते हुए उसमें कुछ अचम्भा भी नहीं करना चाहिये। मनुष्य निष्ठाओ का पुतला है। भली या बुरी जिस भी दिशा मे उसके कदम बढ़ चले उसी मे समस्त कठिनाइयों को रौंदता हुआ आश्चर्यजनक और आशातीत सफलता प्राप्त कर सकता है।

साइबेरिया को वहाँ के निवासी 'शिविर देश' कहते है। शिविर का अर्थ है 'तम्बू'। वहाँ के निवासियो को अपने रहने के लिये परिस्थितिवश तम्बुओ मे ही निर्वाह करना पड़ता है।

इकुर्त्स के समीप हिमाच्छादित बैकाल झील और अगार नदी भारत के कैलाश तथा मानसरोवर जैसा दृश्य आँखो के सामने प्रस्तुत करती हैं। ठण्ड बेहद पडती है। "उलान्वातर का गाण्डड" विहार साइबेरिया का प्रसिद्ध बौद्ध विहार है। भवनों पर बने स्वर्ण मन्दिर शिखर जैसे प्रतीत होते है। धर्म चक्र के प्रेरक प्रतीक वहाँ सुसज्जित रूप से स्थापित हैं। पूजा-भवन का नाम है "तुषित महायान द्वीप" यह वाक्य भारतीय लिपि मे

लिखा हुआ है। स्थापित बुद्ध प्रतिमा देखते ही बनती है। तथागत के जीवन वृत्तान्त से सम्बन्धित रंगीन भित्ति-चित्र बने है। स्थानीय भाषा में बौद्ध साहित्य अनूदित हुआ है और वह इस विहार मे उपलब्ध है। सत्रहवी शताब्दी मे भारत से एक अश्वमांगुलि नामक भिक्षु वहाँ पहुँचे थे, उनका दण्ड अभी भी इस विहार में सुरक्षित है। तांत्रिक प्रचलन के समय इस मन्दिर में महाकाल की एक भयंकर प्रतिमा भी स्थापित की गयी। कितने ही देवताओं की मूर्तियाँ भी वही मौजूद हैं। इस विहार के लामा संस्कृत भी जानते हैं। भारतीय ज्योतिष का भी यहाँ प्रचलन है। विवाह सस्कार मे भारत की तरह हवन, ग्रन्थि बन्धन, प्रदक्षिणा, मन्त्रोच्चार, अक्षत फेकना, आशीर्वाद आदि विधानों को देखते हुए यह स्पष्ट हो जाता है कि यह सारे प्रचलन वहाँ भारत से ही गये हैं।

चाणक्य नीति, अमर कोष, मेघदूत, सुभाषित रत्न निधि जैसी अनेको पुस्तकें उस देश की भाषा में अनूदित हुई है। किसी समय उस देश में ७१० विहार तथा २००० मन्दिर थे, पर अब तो उनमे से अधिकांश खण्डहरों के रूप मे बिखरे पड़े है।

उलान्वातर का राजकीय पुस्तकालय प्राचीन बौद्ध साहित्य की दृष्टि से बहुत समृद्ध है। आधुनिक पुस्तकों की सख्या भी ५० हजार के लगभग है। इनमें सस्कृत भाषा के ग्रन्थ भी है।

यहाँ एक दूसरा विहार है—दोइजिनत्सामिन। इसमे भगवान बुद्ध के अतिरिक्त अन्य देवताओ की भी मूर्तियाँ हैं। भारत से उस देश मे गये १८ आचार्यो के चित्र भी इस विहार मे स्थापित है।

'एदनिब्जू' के समीपवर्ती क्षेत्र मे ६८ धर्म प्रचारको की समाधियाँ है। इस नगर मे १०८ स्तूप बने है। माला मे जपे जाने वाले मनको के आधार पर ही सम्भवत यह स्तूप बनाये गये है। अब वे जीर्ण-शीर्ण हो चले है। तीन विशाल बौद्ध-विहारो के भग्नावशेष भी वहाँ मौजूद हैं, जिनसे पता चलता है कि किसी समय वहाँ बौद्ध धर्म का कैसा वर्चस्व रहा होगा। जीवित विहार में विधिवत् पूजा-उपासना होती है। इसमे कितनी ही स्वर्ण मण्डित मूर्तियाँ स्थापित हैं। इनमें शाक्य मुनि, कश्यप और मैत्रेय की प्रतिमाये प्रधान हैं।

उपरोक्त मन्दिर मे अभी भी विधिवत् पूजा-विधान चलता है। बोधि-वृक्ष का वंशज एक वट वृक्ष अभी भी यहाँ अपने धर्म-संस्थापक की स्मृति का प्रतीक बनकर श्रद्धा पूजित होता है।

साइबेरिया मे आंगिस्की नदी के समीप एक विशालकाय बौद्ध विहार था, जिसमे देवालय और विद्यालय दोनों ही थे। यह विश्वविद्यालय स्तर का था। उनमें दर्शन, तंत्र, आयुर्वेद और ज्योतिष के अध्ययन की उच्चस्तरीय व्यवस्था थी। इस विद्यालय का नाम था- "आंगिस्की दत्सान्।" इसके पुस्तकालय मे पाणिनि व्याकरण, मेघदूत काव्य, अष्टांग हृदय, निघण्टु, मन्त्र समुच्चय आदि संस्कृत के सहस्रो ग्रन्थ है। यहाँ लकड़ी के ठप्पे बनाकर पुस्तके छापने वाली पुरानी पद्धति का एक प्रेस भी था, जिसमे कितने ही उपयोगी ग्रन्थ छापे गये। इस क्षेत्र में आयुर्वेद पद्धति का बहुत सम्मान था। यहाँ के एक आयुर्वेदज्ञ पद्म येफ ने रूस के तत्कालीन मूर्धन्य व्यक्तियों की सफल चिकित्सा भी की थी।

पूर्वी साइबेरिया के बुर्यात प्रदेश का चीता क्षेत्र अभी भी बौद्ध धर्मावलम्बी है। आगिन्स्फ जिले के इर्कत्स्क क्षेत्र में सबसे अधिक बौद्ध रहते है। 'तुवा' और 'कास्मिक' क्षेत्रो मे भी बौद्ध धर्म फैला हुआ है। यहाँ मगोलिया और तिब्बत की वास्तुकला के मन्दिर बने है। 'स्वेदनया इवोल्गा' बस्ती का विहार देखने ही योग्य है। यह वुर्यातिया की राजधानी 'उलान उदे' से लगभग चालीस मील दूर है। यहाँ के प्रमुख पुरोहित को 'बदिदो खंबोलिया' कहते है। मन्दिरो के साथ-साथ इस बस्ती में स्तूप भी हैं। सामान्य सूत्र पाठ तथा प्रार्थना का क्रम यहाँ रोज ही चलता है। नव वर्ष का समारोह विशेष उत्साह से मनाया जाता है और कई दिन तक चलता है। तीस भिक्षुओ के निवास के लायक स्थान इस मठ मे बना है। बौद्ध सोसायटी का केन्द्रीय कार्यालय भी इसी में है। आगतुकों के लिये विश्राम गृह का कक्ष भी है। सग्रहालय तथा पुस्तकालय में प्राचीन काल की हस्तलिखित पाण्डुलिपियाँ सुरक्षित है। तिब्बती त्रिपिटिक के दो वर्ग

हैं—एक 'कंजूर' दूसरा 'तंजूर'। यहाँ के पुस्तकालय में कजूर वर्ग के १०८ और तंजूर वर्ग के २१५ ग्रन्थ सुरक्षित है। कुछ दुर्लभ ग्रन्थ लकड़ी के ठप्पों की छपाई में छपे हुए भी हैं। आचार्य चोङखप के द्वारा संचालित "पीत टोपी बौद्ध सम्प्रदाय" के २१ ग्रन्थ भी इस पुस्तकालय में है। संसार मे अन्यत्र छपा बौद्ध साहित्य भी इस छोटे से पुस्तकालय में बड़ी सुरुचि के साथ संग्रहीत एवं सुसज्जित किया गया है।

मन्दिर में भगवान बुद्ध की जीवन घटनाओ से सम्बन्धित कितने ही चित्र तथा प्रतिमाये सुसज्जित हैं। इस क्षेत्र में छः पर्व मनाये जाते हैं। पाँच भगवान के जीवन की विशिष्ट घटनाओ से सम्बन्धित हैं और एक बौद्ध सुधारक 'चोङखप' की स्मृति में प्रचलित है। सबसे बड़ा त्यौहार है 'जगानसर खुरल' अर्थात् नवीन वर्ष का श्वेत चन्द्र पर्व। यह बसन्त ऋतु के आरम्भ मे होता है।

"इवोल्गा" बौद्ध विहार के अतिरिक्त इस क्षेत्र मे एक और भी दर्शनीय बौद्ध विहार है- चीता क्षेत्र मे अगिन्स्फ जिले का 'दजान'। यह इस क्षेत्र मे रहने वालो के आठ कबीलो के दान से बना है। तिब्बती शैली का यह सुन्दर दुमंजिला भवन है। पहली मंजिल में विशाल प्रार्थना कक्ष-चित्रों और मूर्तियो का संग्रहालय एवं एक पवित्र दर्पण 'सुदुर्गन' अवस्थित है। दूसरी मंजिल मे दुर्लभ ग्रन्थों का संग्रहालय पुस्तकालय है।. इस विहार के प्रांगण से लगा 'बोधि-वृक्ष' सभी दर्शको एवं भक्तजनों का श्रद्धाभाजन है। इसे भारतीय बौद्ध शताब्दियों पूर्व वहाँ ले गये थे। वुर्यातिया क्षेत्र के बौद्ध स्मारकों में एक विस्मृत विहार 'गुसिनूजेस्की' में मिला है। जिसका पुनरुद्धारार अब बड़े उत्साह के साथ किया जा रहा है।

साइबेरिया के प्राचीन मन्दिर मेन स्थित मूर्तियाँ हिन्दू देवताओं की है। वहाँ का बड़ा मन्दिर 'महाकाल' देवता का है, जिसका स्तवन संस्कृत श्लोकों में होता है।

मंगोलिया में मांगलिक अवसरों पर कलश की स्थापना, स्वस्तिक बनाना, शंख, चक्र और पद्म का चित्रण, घृत, दीप एवं धूपवत्ती का जलाना अभी भी प्रचलित है। इन प्रथाओं को वहाँ पर भूतकाल में हिन्दू धर्म की प्रतिष्ठापन का अवशेष ही माना जाता है। देव प्रतिमायें जहाँ भी मौजूद है, उनमें हिन्दू देवताओ की ही मूल झाँकी देखी जा सकती है।

रामायण प्रेमी-इण्डोनेशिया

लगभग छः हजार छोटे-बड़े द्वीपों का देश है- इण्डोनेशिया। आबादी १२ करोड़ है और क्षेत्रफल ५७५४५० वर्ग मील है। छोटे द्वीपों में से अधिकतर ऐसे है, जिनमे साधारण सी नाव के सहारे आसानी से आते-जाते रहते हैं।

इस द्वीप समूह की पुरातत्व उपलब्धियो और अर्वाचीन परम्पराओं को देखने से स्पष्ट है कि वहाँ भारतीय संस्कृति की गहरी छाप है। वहाँ के इतिहास पर दृष्टि डालने से ही यह तथ्य सामने आता है कि किसी जमाने में यह देश भारतीय उपनिवेश रहा है। वहाँ भारतीय पहुँचे हैं, उन्होंने अपना वंश विस्तार किया है और इस भूमि को खोजा, बसाया और विकसित किया है। पीछे भारत से सम्बन्ध छूट जाने के कारण वहाँ पहुँचे अरबो के प्रभाव और दबाव मे आकर वहाँ के निवासियों ने इस्लाम धर्म स्वीकार कर लिया। फिर भी संस्कृति में भारतीयता का गहरा पुट बना ही रहा, जो अब तक विद्यमान है। ईसा से लगभग ३०० वर्ष पूर्व पाटलिपुत्र का कोई राजकुमार वहाँ पहुँचा और इन द्वीप समूह मे से कितने ही द्वीपों को उसने नये सिरे और नये ढंग से बसाया था। तब से भारतीयों का उस क्षेत्र में आना-जाना बना ही रहा। पीछे भगवान बुद्ध के शिष्यो ने वहाँ पहुँचकर बौद्ध-धर्म का प्रचार किया, किन्तु इससे पहिले शताब्दियों तक हिन्दू धर्म का ही प्रसार-विस्तार होता रहा और उस द्वीप समूह के प्रायः सभी निवासी हिन्दू धर्मावलम्बी बने रहे।

इण्डोनेशिया के अनेक नगरो के नाम अभी भी भारतीय नगरो के समान है जैसे अयोध्या, हस्तिनापुर, तक्षशिला, गान्धार, विष्णुलोक, लवपुरी, नगर प्रथम आदि।

इण्डोनेशिया मे भारतीय सस्कृति की स्थापना और उसके विकास-विस्तार का महत्त्वपूर्ण विवरण श्री केम्पर के "अर्ली इण्डोनेशिया आर्ट', डा. कुमार स्वामी

के 'हिस्ट्री ऑफ एण्डिया एण्ड एण्डोनेशियन यूनिटी" स्टुटैरहिम के "रामा लीजेण्डेन एण्ड रामा रिलफिस इन इण्डोनिशियेन" ग्रन्थो में प्रामाणिक सामग्री सहित प्रस्तुत किया गया है। इन्हें पढ़ने पर यह स्वीकार करने में कोई अड़चन नही रह जाती कि इण्डोनेशिया द्वीप समूह में किसी समय भारतीय संस्कृति का ही बोलबाला था।

इण्डोनेशिया नाम ग्रीक भाषा का है, जो 'इण्डो' और 'नेसी' शब्दों को जोड़ कर बनाया गया। इण्डो का अर्थ है 'भारत' और नेसी का अर्थ है 'द्वीप'। 'इण्डोनेशिया' अर्थात् भारत का द्वीप। यहाँ चिरकाल तक भारतीय सभ्यता की जड़ जिस गहराई तक जमी रही हैं, उसे देखते हुए यह नामकरण सर्वथा उचित ही कहा जा सकता है। इन द्वीप समूहों का इतिहास पिछले दिनों तक 'ईस्ट इण्डीज' कहा जाता रहा है। ईस्टइण्डीज अर्थात् 'पूर्वी भारत'। जिस प्रकार अब उत्तर भारत और दक्षिण भारत एक होते हुए भी उसकी भौगोलिक जानकारी के लिये उत्तर-दक्षिण का प्रयोग करते हैं, उसी तरह किसी समय विशाल भारत का पूर्वी छोर इण्डोनेशिया तक फैला हुआ था। उसके मध्य मे आने वाले देश तो भारत के अग थे ही।

इस्लाम ने हिन्दी, चीन और हिन्दोनेशिया पर तूफानी वेग से आक्रमण किया। सन् १४०० के लगभग इस क्षेत्र के लोग मुसलमान बनने को बाध्य हो गये। इससे पूर्व उस क्षेत्र में हिन्दू धर्म का ही प्रचलन शताब्दियों से चला आता था। उपासना की दृष्टि से शिव की प्रथम और विष्णु की द्वितीय मान्यता वहाँ पर थी। उपलब्ध मूर्तियो, अवशेषों तथा शिलालेखो से यह पूर्णतया स्पष्ट है कि उस देश में शिव-मन्दिरों की स्थापना बड़े उत्साह के साथ हुई थी। साथ ही विष्णु-मन्दिर भी बनाये गये थे। शिव और विष्णु की सम्मिलित मूर्तियाँ भी मिली हैं।

यों सारा कम्बोडिया इस्लामी सभ्यता के प्रसार के साथ-साथ मन्दिरों के खण्डहरो से भरता चला गया पर अभी भी जो बचे हैं, उनको कम महत्त्वपूर्ण और गौरवास्पद नही कहा जा सकता।

इण्डोनेशिया के प्रथम शिक्षामंत्री यासीन ने उस देश का विस्तृत इतिहास "ताता नगरा मजहित सप्त पर्व" नाम से लिखा है और उसमें रामायण को उस देश की सांस्कृतिक गरिमा के रूप में स्वीकार किया है।

महाभारत पर आधारित देवरुचि, अर्जुन-विवाह, काकविन, द्रोपदी स्वयंवर, अभिमन्यु-वध आदि कितने ही कथानक भी यहाँ की नाट्य परम्पराओ मे सम्मिलित हैं। ११वी शताब्दी में महाभारत लिखा गया, जिसका नाम है—"महायुद्ध"।

जोग्या कार्ता का प्राचीन शिवालय १४० फुट ऊँचा है। इसमें १६ बड़े और २४० छोटे मन्दिर सम्मिलित हैं, भूचाल से ध्वंश होने पर भी जो कुछ बचा है, वह भी अत्यधिक हृदयग्राही है। रामायण अभिनयो मे जोग्या के सुल्तान की पुत्रियाँ सीता और त्रिजिटा का अभिनय करती थी।

७ सितम्बर १९७१ मे इण्डोनेशिया ने विश्व का सर्वप्रथम अन्तर्राष्ट्रीय रामायण महोत्सव आयोजित किया और राष्ट्रसंघ को उसमें सहयोग देने के लिये राजी कर लिया। यह उत्सव १५ दिन चला और उसमें फिजी, सिंगापुर, मलेशिया, थाईलैण्ड, लाओस, कम्बोडिया, वर्मा, लंका, भारत, नेपाल आदि देशों ने अपनी-अपनी प्रतिनिधि मण्डलियाँ भेजकर उत्साह-पूर्वक भाग लिया। रामलीला की कितनी शैलियाँ प्रचलित है और उनकी अपनी-अपनी कितनी विशेषताये है। इसे देखकर आगन्तुक मन्त्रमुग्ध रह गये। इस विश्व मेले में ३०० कलाकारों और २० हजार दर्शकों ने भाग लिया।

सन् १९६९ मे ईरान को ४० कलाकारो की एक 'संस्कृति मण्डली' भेजी गयी और उसने "रामायण अभिनय" को नाट्य द्वारा ऐसी सुन्दरतापूर्वक सम्पन्न किया कि ईरानी जनता मन्त्र-मुग्ध रह गयी। इस मण्डली ने वापसी में दिल्ली मे भी अपनी रामलीला दिखांई, जिसकी जनता ने भूरि-भूरि प्रशंसा की।

यों भारत में भी रामलीला का प्रचलन है। दशहरा के अवसर पर रावण वध, भरत-मिलाप आदि के दृश्यों सहित छोटे-बड़े समारोह उत्तर-भारत में प्रायः हर नगर मे होते हैं, पर इण्डोनेशिया में रामलीला क्रमशः अधिकाधिक कलात्मक होती गयी है और उसके साथ जुडे हुए नृत्य अभिनय इतने ऊँचे

कला-स्तर पर जा पहुँचे हैं कि उस क्षेत्र की सुरुचि को सराहे विना नही रहा जा सकता। चर्म पुतलियों द्वारा सम्पन्न होने वाले नाटक भारत की कठपुतली कला को बहुत पीछे छोड़ देते हैं। विहार के सेराइ केला क्षेत्र में छाऊँ नृत्य को देखकर इस क्षेत्र की नृत्य शैली का थोड़ा आभास भर मिल सकता है।

विष्णु वाहन गरुड़ इण्डोनेशिया निवासियों के श्रद्धापात्र है। उनके नाम से "गरुड़ एयरवेज कम्पनी" चलती है। विदेशो की यात्रा का सरंजाम प्राय. उसी को जुटाना पड़ता है। "गरुड़ पर सवारी कीजिये" "गरुड़ गति से प्रवास कीजिये," जैसे विज्ञापन इस वायुयान कम्पनी की तरफ से बाँटे-चिपकाये जाते हैं। गरुड नाम को प्रधानता इसीलिये इन विज्ञापनों में दी जाती है कि जनता मे सहज गरुड़-श्रद्धा की चर्चा करके, यात्रा के लिये अधिक उत्साह उत्पन्न किया जाय।

पडान कस्बे की दुकानो के नाम अर्जुन, नकुल, लक्ष्मण आदि पर है। एक एक्सप्रेस गाड़ी का नाम है-भीम। चमड़े की बनी पुतलियाँ यहाँ की बड़ी दुकानो पर हर जगह मिलती हैं। उसी प्रकार हनुमान, रावण, जटायु आदि के मुखौटे भी जहाँ-तहाँ बिकते देखे जाते है।

न्यूयार्क में एक इण्डोनेशियाई मुसलमान ने एक शानदार होटल खोला है। उसका नाम रखा है "रामायण होटल" धर्म से मुसलमान होते हुए भी इण्डोनेशियाईवासियो की संस्कृति में 'रामायण' के लिये श्रद्धा का गहरा पुट है। उनके नाम अभी भी रत्न देवी, लक्ष्मी, सीता, द्रौपदी, मेघवती तथा कार्तिकेय, सुकर्ण, सुव्रत, सुजय आदि पाये जाते है।

इस होटल के उद्घाटन मे राष्ट्रसंघ के तत्कालीन अध्यक्ष श्री आदम मलिक सपत्नीक उपस्थित थे। श्री मलिक इससे पहले इण्डोनेशिया सरकार के मंत्री रह चुके है।

इस्लामी विस्तारवाद भारत को रौंदता हुआ १४वीं सदी मे इस क्षेत्र मे भी जा पहुँचा और अपनी गहरी जडे जमायी। इस क्षेत्र की जनता मे ९० प्रतिशत मुसलमान है। शेष दस प्रतिशत मे हिन्दू तथा अन्य धर्मानुयायी तथा अन्य धर्मावलम्बी शामिल है। पुर्तगाल, डच, फ्रांसीसी और अंग्रेजों की घुसपैठ भी पन्द्रहवी सदी के आरम्भ में हो गयी थी, जो पिछली शताब्दी तक चलती रही।

इण्डोनेशिया के राष्ट्रपति सुकर्ण ने एक समय पण्डित जवाहरलाल नेहरू को एक पत्र में लिखा था—"इण्डोनेशिया और भारत की जनता रक्त और संस्कृति के पवित्र एवं सुदृढ़ धागों से परस्पर मजबूती के साथ बँधी है।"

स्वतंत्रता प्राप्त करने के बाद इण्डोनेशिया और भारत के सम्बन्ध बहुत ही अच्छे थे। पीछे चीनियों ने उन्हें विषाक्त बना दिया। क्रमशः अब उनमें सुधार हो रहा है और आशा की जाती है कि धर्म की भिन्नता रहने पर भी इण्डोनेशिया और भारत की सांस्कृतिक एकता दोनों को पुनः घनिष्ठता के सम्बन्ध सूत्र में बाँधे बिना रहेगी।

हिन्द-चीन क्षेत्र को भारत के अनुदान

भारतीय पुराण-साहित्य में सात पातालों की चर्चा मिलती है। प्राच्य विद्या-विशारदों ने इसकी संगति दक्षिण-पूर्व एशिया के सात देशो से मिलाई है, जहाँ समुद्र पार करके जाना पड़ता है। इन शोधकर्त्ताओं के अनुसार—(१) अतल सुमात्रा (२). वितल-बोर्नियो (३) सुतल-जावा (४) रसातल-सेलीविज (५) महातल-आस्ट्रेलिया (६) तलातल-न्यूगिनी (७) पाताल-न्यूजीलैण्ड है। कहीं-कही नौ द्वीपो की भी चर्चा मिलती है। बर्मा और मलय को शामिल कर लेने से यह सख्या ९ हो जाती है। सिंगापुर का सिहलद्वीप के नाम से वर्णन हुआ है। वर्मा को नाग द्वीप कहते है। सिंहल द्वीप की राजकुमारी पद्मिनी की सुन्दरता और उसे पाने की चेष्टा मे अनेको राजकुमारो की दौड़-धूप की किम्वदन्तियाँ अभी भी बहुचर्चित लोक-कथाओं मे सम्मिलित है।

'कौडिन्य' का नाम सुदूर पूर्व के शासको का एक प्रतीक ही बन गया है। भारत से जाने वाले अधिक प्रतापी राजाओ को उस क्षेत्र मे कौडिन्य नाम से सम्बोधित किया जाने लगा। इतिहास बतलाता है कि समय-समय पर कई कौडिन्यो ने उस क्षेत्र की शासन सत्ता के सूत्र अपने हाथ सँभाले है। प्रथम कौडिन्य

ईसा की प्रथम शताब्दी में पहुँचा था। चौथी शताब्दी मे दूसरे कौडिन्य का विवरण उपलब्ध होता है, जिसने वहाँ पूर्व-परम्पराओ का प्रचलन रद्द करके नये स्तर पर भारतीय आचार-पद्धति की स्थापना की। इसके तीन सौ वर्ष बाद एक तीसरा कौडिन्य भारत से पहुँचा। उसने शासन-व्यवस्था को और भी अधिक परिष्कृत किया। पाँचवी सदी के शासक जयवर्मा को भी कौडिन्य शब्द के साथ सम्बोधित किया जाता है।

तानकिन, अनाम, कोचीन-चाइना, लाओस, कम्बोडिया। यह चाइना प्रायद्वीप के प्रधान प्रदेश है। इस प्रायद्वीप की आबादी प्रायः ४ करोड़ है। भारत माता और हिन्द चीन की धरती को ऐतिहासिक और सास्कृतिक आधार पर बड़ी और छोटी बहिन कहा जाय तो कोई अत्युक्ति न होगी।

अब हिन्द-चीन का नाम प्रयोग पुराना पड़ गया है। उसके स्थान पर नया नाम प्रचलित है। 'वियतनाम'। कम्युनिस्ट और गैर-कम्युनिस्टों के सघर्ष ने इन दिनो इस देश मे गृह-युद्ध की स्थिति उत्पन्न कर दी है और उत्तरी-दक्षिणी बनाकर भारत पाकिस्तान के जैसा विभक्त करके रख दिया है। उत्तरी साम्यवादी को रूस-चीन का समर्थन प्राप्त है और दक्षिणी गैर साम्यवादियों को अमरीका का।

पहली ईस्वी मे भारतीयों का शासन कम्बोडिया, दक्षिण लाओस, स्याम, मलाया द्वीप समूह में स्थिर हो चुका था। इस क्षेत्र में कौडिन्य ब्राह्मण ने पदार्पण किया। उसने स्थानीय नाग-कन्या सोमा से विवाह किया और उसके वंशजो का नाम सोमवंशी हुआ। इन लोगो ने इस सुविस्तृत क्षेत्र की शासन-व्यवस्था सँभाली। दक्षिण भारत के उस क्षेत्र में भारतीय लोग बराबर जाते और बसते रहे। भारत के पल्लव-वशी राजा अपने नाम के आगे वर्मा उपाधि लिखा करते थे। अस्तु वही परम्परा सूदुर पूर्व के शासको मे भी चली। उस क्षेत्र के प्राचीन राजाओ मे से अधिकाश वर्मा उपाधि अपने नाम के साथ लगाते रहे थे। भारत के गोपुरों की शैली पर कम्बोडिया के "अकोरवाट" और "वेयन" मन्दिरो का निर्माण हुआ। उस क्षेत्र मे नटराज की मूर्तियो का बाहुल्य यह बताता है कि दक्षिणी भारत के शैवो का वहाँ किसी समय वर्चस्व रहा है।

सुदूर पूर्व मे भारत का प्रभाव-विस्तार किस क्रम और किस आधार पर विकसित हुआ इसकी अच्छी जानकारी इन पुस्तको से भी मिलती है—

(१) बी. सी छावरा कृत-"एक्सपेशन ऑफ इण्डोचाइना कल्चर" (२) "ए हिस्ट्री ऑफ साउथ ईस्ट एशिया" (३) वेल्स कृत-"दी मेकिंग ऑफ इण्डिया" (४) के. ए. एन. शास्त्री कृत-"इण्डियन इन्फ्लुऐंस इन फार ईस्ट" (५) जिम्पर कृत-"दी आर्ट ऑफ इण्डियन एशिया" (६) स्टुटेरहम कृत- "इण्डियन इन्फलूऐंस इन ओल्ड बालीनीज आर्ट" (७) मजूमदार कृत-"हिन्दू कोलोनीज इन फार ईस्ट" (८) बैजनाथ पुरी का-"दक्षिण-पूर्व एशिया का सास्कृतिक इतिहास" (९) घोषाल की—"प्रोग्रेस ऑफ ग्रेटर इण्डियन रिसर्च" आदि ग्रन्थ उपयोगी जानकारी प्रस्तुत करते है।

पामतिये की "खामेर वास्तुकला का इतिहास" तथा वोवासलिये की "खमेर मूर्तियाँ और उनका विकास" पुस्तके भी स्वर्णद्वीप की भूतकालीन सभ्यता, संस्कृति पर अच्छा प्रभाव डालती है और बताती है कि उस क्षेत्र पर भारत का कितना अधिक प्रभाव रहा रघुनाथ सिंह की "दक्षिण-पूर्व एशिया" और मजूमदार की "स्वर्णद्वीप" पुस्तके भी इस सदर्भ मे अच्छी जानकारी प्रस्तुत करती है।

हिन्द चीन क्षेत्र पर प्रकाश डालने वाले फिनो के तीन निबन्ध बहुत ही सारगर्भित है—(१) हिन्द चीन मे भारतीय संस्कृति का प्रादुर्भाव (२) हिन्द चीन मे लोकेश्वर एशियाटिक अध्ययन (३) हिन्द-चीन मे बौद्ध मत।

"सुदूर पूर्व पत्रिका" भाग १२ और सन् १९२६ की "भारतीय इतिहास पत्रिका" मे इस प्रकार के और भी कई विवरण उपलब्ध है।

बाकोफर का "फूनान पर भारतीय कला का प्रभाव" निबन्ध 'बृहत्तर भारत' पत्रिका के भाग दो में छपा है। उसी के भाग १० मे विश्वनाथ का "हिन्द-चीन के सामाजिक जीवन मे द्रविण प्रभाव" लेख छपा हैं। मद्रास की "प्राच्य सभा पत्रिका' के भाग २ मे "फूनान और कम्बुज मे भारतीय सस्कृति" पर अच्छा प्रकाश डाला गया है। इसी प्रकार 'मार्डन रिव्यू'

(१९३०) मे श्री चटर्जी का "कम्बुज में तन्त्रवाद" लेख के अन्तर्गत पठनीय तथ्य प्रस्तुत किये गये थे।

तुर्की टोपी पहने हुए सैगोन के बाजार मे इधर-उधर आने-जाने वालों मे से बहुत-से मुसलमान "मलाबारी" कहलाते है। इनके पर्वूज भारत के मालाबार प्रदेश से वहाँ पहुँचे थे। बाद मे इस्लाम धर्म स्वीकार कर लेने पर भी उन्होने अपने पूर्वजो की मातृभूमि को विस्मृत नही किया और "मलाबारी" कहलाने पर अपने को गौरवान्वित अनुभव करते है। यहाँ रिक्शे अधिक है, जिन्हें फ्रान्सीसी भाषा के शब्द 'पुश-पुश' से जाना जाता है। तांगे कम हैं, उनको 'मलबार' कहते है। इससे प्रतीत होता है कि किसी समय मलाबारी यहाँ अधिक सम्पन्न रहे होगे। इसी आधार पर उस वाहन का नाम 'मलाबारी' पड़ गया। इसका निर्माण और प्रचलन भी आरम्भ मे इन्हीं लोगो ने किया होगा।

सैगोन मे तमिल चेटिटयर संख्या मे तो बहुत नहीं हैं, पर है श्रीमन्त। वे सुब्रह्मण्य भगवान को पूजते है। हिन्दू मन्दिर यहाँ टुटपूँजिये नही, वरन् निर्माताओ के वैभव की साक्षी देते है। सैगोन पूर्वी एशिया का पैरिस है, उसका सौन्दर्य और वैभव देखते ही बनता है।

अनामी और कम्बोजी नागरिको के चेहरे भारतीयों से मिलते है। उनकी नस्ल आर्य है। वे हिन्दुओं की सन्ताने हैं।

फ्रांसीसी साम्राज्यवाद के पतन के साथ पूर्व एशिया में वियतनाम के अतिरिक्त कम्बोडिया और लाओस भी स्वतंत्र हुआ। फ्रांस ने इस सारे क्षेत्र पर अपना आधिपत्य जमाया था और उसे 'इण्डोचाइना' हिन्द-चीन का नाम दिया था। पर जब फ्रासीसी वहाँ से सन् १५५४ में उखड़े तो उन्होने चलते-चलते उस क्षेत्र में गृह-युद्ध की आग लगा दी। फलस्वरूप उस क्षेत्र की एकता नष्ट हो गयी और वहाँ के देश कई टुकड़ों में बँट गये। यों छोटे-छोटे राजा तो फ्रांस के शासन काल में थे, पर वे सभी सत्ता रहित थे। फ्रासीसियों के हटते ही वे उभर पड़े और अलग-अलग स्वतंत्र राष्ट्र हो गये। अब वियतनाम दो हिस्सो मे बँट गया है। लाओस का भी बहुत बड़ा भाग कम्युनिस्ट हथियाये बैठे हैं। लाओस और वियतनाम के बीच में कम्बोडिया पड़ता है, उसकी राजनैतिक स्थिति कुछ ठीक है। वहाँ का मनोनीत प्रधान मंत्री है—राजकुमार सिहनुक और राज-प्रमुख हैं, उसकी वृद्धा माता। इस प्रकार राजसत्ता का सर्वेसर्वा सिंहनुक ही है। यहाँ की हरी-भरी उपजाऊ भूमि में चावल, गन्ना, पटसन खूब होता है और वह निर्यात भी किया जाता है।

भारतीय धर्मानुयायी कम्बोडिया

इतिहासकार केन्टलई और ली. टाओ युआन के कथनानुसार ईसा की तीसरी शताब्दी में कम्बोडिया में हिन्दूराज स्थापित हो चुका था। वहाँ उपलब्ध लेखो से विदित होता है कि प्राचीनकाल में वहाँ एक असभ्य जाति रहती थी, जिसकी रानी का नाम ल्यू ए अथवा सोमा था। भारत से पहुँचे कैडिन्य नामक ब्राह्मण से उसने विवाह कर लिया। यह इन्द्रप्रस्थ के राजा अमृत्यवेश का पुत्र था। सोमा और कौडिन्य से जो पुत्र उत्पन्न हुआ, वही आगे चलकर कम्बोडिया का शासक बना। उसने छोटे-छोटे कई राज्य स्थापित किये। इन्द्र-वर्मन, श्रेष्ठ वर्मन, जय वर्मन, रुद्र वर्मन, गुण वर्मन, भव वर्मन आदि शासक इसी वंश के थे। पीछे इसी वंश मे वीर वर्मन, ईशान वर्मन, महेन्द्र वर्मन, शुंभ वर्मन, यशो वर्मन, राजेन्द्र वर्मन, उदयादित्य वर्मन आदि शासको की लम्बी परम्परा चल पड़ी। इन लोगो ने कोई छः राज्य बनाये, जिनके नाम कपिल वस्तु, श्रावस्ती आदि रखे। भारतीयो के जत्थे इसके बाद लगातार पहुँचते रहे और पाँचवी, छठी शताब्दी में हिन्दू धर्म के साथ बौद्ध धर्म भी जड़ें जमाने लगा। गुण वर्मन द्वारा अंकित कराये शिलालेखों से स्पष्ट है कि उसके शासनकाल मे शिव, विष्णु एवं बुद्ध की उपासना प्रचलित थी। वेदपाठी विद्वान ब्राह्मण वहाँ मौजूद थे। हिन्दू धर्म और बौद्ध धर्म के मानने वाले प्रीतिपूर्वक साथ रहते थे, चीनी इतिहास ग्रन्थ "तांग वंश का इतिहास" और "सुईवंश का इतिहास" यह बताते हैं कि छठी और सातवी शताब्दी में कौडिन्यवंशी शासकों द्वारा कम्बोडिया में सुव्यवस्थित शासन व्यवस्था चलाई जा रही थी और चीनी व्यापारी भी वहाँ घुस-पैठ करने मे दत्तचित थे।

कम्बोडिया प्राचीन काल में कम्बुज कहा जाता था और अब उसे अनाम कहते हैं। अब उसके निवासी किसी भी वंश या धर्म के हों, प्राचीन काल में निश्चित रूप से भारतीय धर्मावलम्बी और भारतवंशी थे। यहाँ की मेंकाग नदी का नामकरण भी कोग शब्दों को मिलाकर किया गया है। जिसका अर्थ वहाँ की भाषा मे 'गंगा माता' होता है। सचमुच वहाँ उस सरिता को मात्र जल-प्रवाह नही माना जाता वरन् भारतीयों द्वारा गगा के प्रति जो श्रद्धा-भाव है, उसी के अनुसार मेकांग को भी उस देश में सम्मानास्पद माना जाता है।

यो प्राचीनकाल मे इस देश का भारत और चीन से स्थल-सम्पर्क भी था, पर जल यात्रा अधिक सरल और निरापद होने से प्रायः उसी का प्रयोग किया जाता था। भारतीय सभ्यता वहाँ समुद्र मार्ग से ही पहुँची।

कम्बोडिया में प्रचलित एक जनश्रुति के अनुसार कम्बु स्वयंभू मनु नामक महापुरुष ने उस देश को बसाया, उसकी सन्तानें कम्बु कहलायीं। भारत मे जिस प्रकार मनु की सन्तान का मानव कहलाना प्रचलित है, उसी प्रकार उस देश के निवासी भी अपने को कम्बु स्वयंभू मनु की संतान मानते है। अन्य कम्बोज गाथाओ के अनुसार भारत से कम्बु ऋषि वहाँ पहुँचे। उस देश की राजकुमारी मीरा से उन्होने विवाह किया और उन्ही के नाम पर उस देश का नाम कम्बुज पड़ा।

वर्तमान राजधानी "नाम पेन्द" का इतिहास यह बताया जाता है कि पेन नामक एक महिला को नदी में बुद्ध-भगवान की मूर्ति मिली। वह उसने निकाली और एक झोपड़ी मे रखकर उन्ही के समक्ष साधना करने लगी। लोग उसके दर्शन करने पहुँचने लगे और धीरे-धीरे वहाँ एक बस्ती बस गयी, जिसका नाम पड़ा "पनोम पेन"। पनोम का अर्थ होता है पहाड़ी। तपस्विनी पेन वाली पहाडी को ध्यान मे रखते हुए उस बस्ती का जो नाम पडा वही पीछे बदलकर "नीमपेनया नाम पेन्ह" हो गया। इसके समीपवर्ती क्षेत्र मे कितने ही भव्य बौद्ध अवशेष उपलब्ध है। उस तपस्विनी के उपरान्त वह क्षेत्र बौद्ध-धर्म का क्षेत्र बनता चला गया। चौदहवीं सदी का यह आरम्भ अठारहवी सदी तक फलता-फूलता ही चला गया।

अब वहाँ तिब्बती, वर्मी और 'मों रूपेट' नस्ल के लोगो का बाहुल्य है, पर पुरातत्ववेत्ताओं को खुदाई में जो अवशेष मिले है, उनसे स्पष्ट है कि उनमें "प्रोटो इण्डोनेशियन नस्ल" के लोग ही थे। मध्य और पूर्व भारत मे मुण्ड और खस जातियाँ इसी नस्ल की है। श्रीबागची ने अपनी पुस्तक "पूर्व आर्य और पूर्व द्रविण" ग्रन्थ के इतिहासकार लेवी, प्रिजुलस्की तथा जूब्लैक के लेखो का संकलन किया है। इन लेखो से यही सिद्ध होता है कि कम्बोडिया के प्राचीन निवासी भारतीय नस्ल के थे। पुरातत्ववेत्ता क्रोम तो इससे एक कदम और भी आगे बढ गये हैं। उन्होने तो कहा है कि जावा निवासी पहले भारत मे बसे, वहाँ उन्होने अपनी जड़े जमाईं और पीछे मजबूत होकर कम्बोडिया आदि पहुँचे।

कम्बोडिया की प्राचीन भाषा भारत में उन दिनो प्रचलित मुण्ड और खस लोगों की भाषा से बहुत कुछ मिलती है। बौद्ध जातक कथाओं में इस देश का उल्लेख 'कर्पूर द्वीप'-नारिकेल द्वीप के नाम से किया गया है। यहाँ नारियल, कपूर और मसालों का अधिक उत्पादन है। 'टालेमी' के "हिन्द-चीन तथा इण्डोनेशिया के हिन्दू राष्ट्र" ग्रन्थ मे उस समय भारतीयो द्वारा बनाये गये ऐसे विशाल जलपोतो का वर्णन है, जिन पर सवार ७०० व्यक्ति आसानी से लम्बी समुद्री यात्रायें करते थे। इन्ही पर सवार होकर धर्म प्रचारक, व्यापारी तथा राजवंशी लोग वहाँ पहुँचे थे। इस क्षेत्र में प्राचीन प्रचलन जिस प्रकार की वर्ण-व्यवस्था तथा धर्म व्यवस्था का था, उसे देखते हुए प्रतीत होता है कि वहाँ पहले धर्म प्रचारकों का ही पदार्पण हुआ होगा। इन लोगों ने न केवल कम्बोडिया में वरन् हिन्द-चीन, इण्डोनेशिया, ब्रह्मा मलाया आदि में भी भारतीय सस्कृति की पताका फहरायी थी। ब्रह्मा से लेकर हिन्द चीन तक के सारे क्षेत्र मे हिन्दू सभ्यता का प्रचलन था। फ्रांसीसी शोधकर्त्ता 'पिलियो' ने लिखा है कि "इस क्षेत्र में उपलब्ध प्राचीन शिलालेखो की लिपि हिन्दू सभ्यता की देन है। इतिहासकार पेरीपियस ईसा की प्रथम शताब्दी में हुए थे। उनने अपने समय में भारतीय जहाजों से मलाया, हिन्द-चीन आदि के लिये जाने का उल्लेख किया है। इससे प्रतीत होता है कि

अब से लगभग दो हजार वर्ष पूर्व भारतीयों द्वारा अपनी सभ्यता का प्रवेश इस क्षेत्र में हो चुका था।

जयवर्मन चतुर्थ का शासन काल शक ८३० से ९२१ माना जाता है और जयवर्मन (पंचम) का शक ८९० से ९६८ तक। इन लोगों ने जयवर्मन (प्रथम) की परम्पराओं का अनुकरण करके अपने नाम को सार्थक बनाने में कुछ कसर न रखी। भारत में कई विक्रमादित्य हुए हैं और उनने भी प्रथम विक्रमादित्य की परम्पराओ का अनुकरण करने का जयवर्मनो की तरह ही प्रयास किया था। जयवर्मन (छठा) शक संवत् १००४ से १०१८ तक और जयवर्मन (सप्तम) ११०४ से ११८२ तक शासनारूढ़ रहे थे।

कम्बोडिया के शासको मे सबसे अधिक सफल, कुशल और लोकप्रिय जयवर्मन माना जाता है। उस प्रिय नाम का अनुकरण उसके अगले वंशज भी करते रहे। अस्तु जय वर्मन द्वितीय और तृतीय भी हुए है। जय वर्मन द्वितीय ने आक्रमणकारियो के चगुल में फँसे अपने देश के एक बड़े भाग को बंधन मुक्त कराया, उसे समृद्ध सुसगठित किया तथा अच्छी शासन व्यवस्था दी। इसका शासन काल शक सम्वत् ७२४ से ८०२ तक रहा है। इसने भारत से हिरण्यदास नामक एक विद्वान ब्राह्मण को बुलाया, जिसके वशज कई पीढ़ियों तक राज-पुरोहित रहे। जयवर्मन तृतीय का शासन काल ८५४ ई. से ८७७ ई. तक माना जाता है। यह विष्णु भक्त था। वर्मन वंश की रानियाँ भी राजकीय तथा धर्म प्रयोजनों में उत्साहपूर्वक भाग लेती रही थीं। सन् ८७७ से लेकर सन् १००० तक वर्मन वंश के कोई ७ राजा सिंहासनारूढ़ हुए। इस अवधि में कम्बोडिया की राजकीय तथा धार्मिक प्रगति उत्साह-वर्धक गति से आगे बढ़ी। उन्होने अपने देश की सीमा का विस्तार दक्षिण चीन तक पहुँचा दिया तथा साथ ही धार्मिक प्रसार-प्रयासों को भी भरपूर बढ़ावा दिया। इन्द्रवर्मन ने कई भव्य मन्दिर बनवाये और इन्द्रतड़ाग खुदवाया। यशोवर्मन ने महाकाव्य पर एक टीका स्वयं लिखी। शिवपुरी में एक महाविद्यालय खुलवाया। कितने ही आश्रम बनवाये। हर्मवर्मन का बनाया हुआ मंदिर 'नाम वकैंक' की पहाड़ी के समीप है। इस अवधि मे त्रिभुवनेश्वर स्वामी-शिवसोम आदि विद्वानों द्वारा धर्म विस्तार के लिये किये गये अथक प्रयास भी उल्लेखनीय हैं। उन दिनों शैव और बौद्ध धर्म की अच्छी प्रगति हो रही थी और उन्हें कम्बोडिया निवासी अपने रुचि के अनुकूल अपनाते रहे हैं।

यशोवर्मन ९१० ई. मे स्वर्गवासी हुए। उनके उपरान्त राजेन्द्रवर्मन और जयवर्मन (पंचम) का नाम आता है। सन् १००२ में सूर्यवर्मन (प्रथम) का शासन था। सन् १०४९ में उसका पुत्र उदयादित्य वर्मन सिंहासनारूढ़ हुआ। सूर्यवर्मन (द्वितीय) १११२ में गद्दी पर बैठे। कम्बोडिया का अन्तिम हिन्दू राजा जयवर्मन (सप्तम) था। तेरहवी सदी में स्याम के राजा उस पर भारी आक्रमण करने लगे थे। सोलहवी शताब्दी में इन आक्रमणकारियों का आधिपत्य भी हो गया। तब से अब तक स्यामी राजाओं के बौद्ध धर्मानुयायी वशज उस देश पर राज्य कर रहे हैं।

कम्बोडिया मे पहले वैष्णव धर्म पहुँचा था। पीछे बौद्ध धर्म गया। वहाँ दोनों का अच्छा समन्वय दिखाई देता है। भाषा मे संस्कृत शब्दों की भरमार है। साहित्य में रामायण, महाभारत आदि भारतीय पुराणों की कथाओ का बाहुल्य है। 'पूजा-उपासना, कर्मकाण्ड एवं प्रथा परम्परायें' भारत से मिलती-जुलती हैं। स्वर और व्यंजनों का क्रम भी वैसा ही है। मन्दिरों तथा एतिहासिक स्थानों में उपलब्ध मूर्तियों, भिति, चित्रों, शिलालेखो से भारत मे प्रचलित परम्पराओ का भली प्रकार दिग्दर्शन होता है और लगता है यह देश सांस्कृतिक दृष्टि से अभी भी भारत का अविच्छिन्न अग है।

कम्बोडिया मे चौदहवी सदी का बना ईश्वरपुर में एक मन्दिर है, जिसमें रावण द्वारा कैलाश पर्वत हाथों पर उठाये जाने की प्रतिमा है। हेम शृंगगिर नगर के मन्दिरो मे हनुमान के कन्धे पर बैठे राम तथा सीता की अग्नि परीक्षा के भव्य चित्र हैं।

शिव, विष्णु, कार्तिकेय, गणेश, शालिग्राम, सूर्य, दुर्गा, भवानी, भगवती, चतुर्भुजा, सरस्वती, गगा, इन्द्राणी आदि की प्रतिमाये, स्तुतियाँ, स्थापना एवं उनके लिये बने देवालयों के भी अनेको प्रमाण उपलब्ध हैं। कई जगह तो इन देवी-देवताओं की तथा उस प्रदेश के स्थानीय देवताओं की मूर्तियाँ अभी भी स्थापित और

पूजित हैं। पीछे राजा लोग अपने को तथा अपने पूर्वजों को भी देवता सिद्ध करने के लिये अपनी मूर्तियाँ भी बनवाने लग गये थे और उनका भी पूजन स्तवन होने लग गया था। कुल देवियो और कुल देवताओ का प्रचलन इसी प्रकार बढ़ गया। राजवंश के ख्यातिनामा लोग प्रजाजनो द्वारा पूजे जाने लगे।

प्राचीन कम्बोडिया में समय-समय पर सम्पन्न हुए विशालकाय यज्ञानुष्ठानों का भी वर्णन मिलता है। सम्राट ईशानवर्मन, हर्षवर्मन और राजेन्द्रवर्मन अपने-अपने समय के यज्ञो के होता यजमान बने थे। सूर्यवर्मन ने लक्ष होम तथा कोटि होम किये थे और पुरोहितो को विपुल दक्षिणा दी थी। मध्य देश नामक एक महिला द्वारा भी एक विशाल यज्ञ कराया गया था। उन दिनों ऋषियो तथा तपस्वियों की कमी नही थी, इस क्षेत्र मे नर और नारी समान रूप से प्रवेश करते थे। मिन्नानल महीधर नामक पुष्प-तपस्वियो तथा उमा, इन्द्रा नामक साधिकाओ का शिलालेखो मे चमत्कारी वर्णन मिलता है।

बौद्ध धर्म कम्बोडिया में हिन्दू-धर्म का एक अग बनकर ही रहा। उसकी ब्राह्मण धर्म से न तो पृथकता थी और न प्रतिस्पर्द्धा वरन् प्रचलित अनेक पंथ-सम्प्रदायों की तरह बौद्ध धर्म भी हिन्दू समाज का अविच्छिन्न अग बन कर रहा और एक ही उद्यान मे उगे अनेक वृक्षों की तरह वह भी समान रूप से पोषण पाता रहा और फलता-फूलता रहा।

उस काल मे वहाँ वेद-शास्त्र के ज्ञाता एवं यज्ञादि कर्मकाण्डों में निष्णात विद्वान ब्राह्मणो की अच्छी संख्या थी। सस्कृत भाषा का प्रचलन था। प्राचीन पुस्तकों तथा शिलालेखों में संस्कृत भाषा का ही प्रयोग हुआ है। हस्तलिखित पुस्तकों में प्रायः भारत में प्रचलित धार्मिक पुस्तकों के ही अंश है। साहित्य, कला, चिकित्सा, तन्त्र, नीति आदि पर जो ग्रन्थ मिले है, उन्हें एक प्रकार से भारतीय साहित्य की ही अनुकृति कह सकते है। ब्राह्मी लिपि का भारतीय वर्णमाला के अनुकूल प्रयोग होता था।

यशोवर्मन के शासनकाल मे १०० महाविद्यालयो में उच्चकोटि की शिक्षा-व्यवस्था का उल्लेख है। इनके साथ मन्दिरों और पुस्तकालय भी रहते थे। अन्य शासको के शासन काल मे विद्यालय तो थे पर उनकी संख्या का विवरण नही मिलता। उच्च कक्षाओ को पढ़ाने वाले उपाध्याय और छोटी कक्षाओ को पढ़ाने वाले अध्यापक कहे जाते थे। प्राध्यापको मे सामशिव, शंकर स्वामी, विनय पण्डित, जयमाला, जयेन्द्र, फलप्रिय, योगेश्वर, अगस्त्य, सर्वज्ञ मुनि, जय महाप्रधान, केशव आदि का गौरवास्पद उल्लेख है। अध्यापिकाओ मे जनपदा, राजदेवी, तिलका, इन्द्रादेवी, जयराज देवी आदि के नाम आते है। इनमे से कुछ तो राज परिवारों से सम्बन्धित थी।

फ्रासीसी इतिहासकार कोड बार्थ तथा बरगन के कम्बुज तथा चम्पा के संस्कृत लेख-संकलन मे कम्बोडिया के प्राचीन इतिहास पर अच्छा प्रभाव डाला गया है। इन विद्वानों ने उपलब्ध अवशेषो तथा लेख उद्धरणो का हवाला देते हुए जो निष्कर्ष निकाले है वे यही सिद्ध करते है कि कम्बोडिया प्राचीनकाल मे एक प्रकार से छोटे भारत की स्थिति मे था। वहाँ भारतीय धर्म और संस्कृति का ही पूरी तरह आधिपत्य था।

विद्वान फिनो ने "सुदूर पूर्व पत्रिका" के भाग २५, २८, २९ मे "अगकोरवाट से प्राप्त लेख" शीर्षक मे जो विवरण प्रस्तुत किये है वे यही बताते है कि संसार के इस अद्‌भुत ध्वंशावशेष के निर्माण की प्रेरणा, कथा तथा साधन-सामग्री का भारत से ही आयात किया गया। पुरातत्ववेत्ता 'पामांतिये' के 'चम्पा तथा कम्बुज के लेख' प्रकाशन में जो भी निष्कर्ष है, उनसे अनाम तथा कम्बोडिया में भारतीयता की जड़ें गहराई तक जमी हुई सिद्ध होती हैं। आमोनिये द्वारा लिखित 'प्राचीन कम्बुज का इतिहास' और विगो के "हिन्दचीन और हिन्दनेशिया के हिन्दू राष्ट्र" ग्रन्थो से भी तथ्य का समर्थन होता है कि इस क्षेत्र की शासन-व्यवस्था तथा सांस्कृतिक उन्नति में भारतीय का असाधारण योगदान रहा है।

नौवी, दशमी शताब्दी मे कम्बोडिया का स्वर्णिम युग था। उस वैभवशाली युग में प्रत्येक शासक ने अपने ओर से इस क्षेत्र मे निर्माण कार्य जारी रखा और क्रमशः 'अंगकोरवाट' अधिकाधिक विकसित होता चला गया।

समय के परिवर्तन ने इस वैभव को अपनी काली चादर मे छिपा लिया और मुद्‌तों तक यह विशाल भवन उपेक्षित और अविज्ञान पड़े रहे और खण्डहर बनते गये। सन्‌ १८६१ मे एक फ्रान्सीसी पुरातत्ववेत्ता ने इन अवशेषो को ध्यानपूर्वक देखा और इस अद्‌भुत उपलब्धि पर हर्ष विभोर होकर नाचने लगा।

प्राचीन अंगकोर के ध्वंसावशेष १५ मील से अधिक भूमि परिधि को घेरे पड़े हैं। इस क्षेत्र को "अगकोर वाट" कहते हैं। यहाँ के अपूर्व भवनों को देखकर मनुष्य की आश्चर्यजनक निर्माण शक्ति पर अवाक्‌ रह जाना पडता है। इसे संसार भर मे उपलब्ध ध्वंशावशेषों मे सबसे अधिक विशाल और बहुमूल्य कहा जा सकता है। पुराने समय मे जबकि यांत्रिक साधनो का अभाव था किस प्रकार इतनी कलात्मक, इतनी विशाल, इतनी बहुमूल्य इमारते बन सकी होगी। इस रहस्य पर आज के इन्जीनियरों को आश्चर्य होता है। इसका महा प्रांगण पैरिस के प्रसिद्ध "पैलेस दला कांकोई" से चार गुना बड़ा है।

भव्य-भवनो की पत्थर से बनी लम्बी दीवारे ऐसी लगती है मानो वे एक ही पत्थर को काटकर बनायी गयी हो, जोड तो है पर ये इतने हल्के हैं कि बिना विशेष जाँच पड़ताल किये वे नजर ही नही आते । पत्थरों की नक्काशी देखते ही बनती है। प्रधान मन्दिर के चार विशाल स्तम्भ इतने ऊँचे है कि उन्हे देखने के लिये गर्दन को ऊपर तक तानना पड़ता है।

'प्यरे लोती' नामक जलयान के कप्तान ने अपने संस्मरणो मे लिखा है—अंगकोर को देखकर बुद्धि हतप्रभ हो जाती है, जब ऊपर चढ़ते है तो लगता है कि स्वर्ग की ओर बढ़ रहे है। चारो ओर नजर दौडाते है तो लगता है कि मन्दिर जमीन से ऊपर उठता चलता है। ऊँचाई के असीम दर्शन से बुद्धि ठगी-सी रह जाती है।

कम्बोडिया की राजधानी 'नाम पेन्ह' है। यह बडा सुन्दर नगर है। कम्बोजी जनता धार्मिक प्रकृति की है, इसमे बौद्ध-भिक्षुओ की संख्या बहुत है। भारत मे हिन्दू साधुओ की तरह उस देश में भी बौद्ध-भिक्षु झुण्ड विचरण करते पाये जाते है।

'नाम पेन्ह' को दो भागों में विभक्त कर सकते हैं। एक पुरानी बस्ती जिसमें भारतीय ढंग की बसावट, बौद्ध पेगोडा, हिन्दू मन्दिर तथा राज-प्रासदों की भरमार है। दूसरी नई बस्ती-यह फ्रांसीसी ढंग पर बसी है। इसमे प्रवेश करने पर ऐसा लगता है मानो योरोप के किसी आधुनिक बसे नगर में घूम रहे हों।

पुरानी बस्ती का वैभव भी देखते ही बनता है। राजप्रसादो मे बने गुम्बज और उन पर रखे कलश बहुत दूर से दिखाई पड़ते हैं। महलों की दीवारों पर भारतीय पौराणिक गाथाओं के चित्र खुदे है। एक भवन का ३५ फुट चौड़ा १२५ फुट लम्बा फर्श ही चाँदी का बना है। चाँदी की तह आधा इन्च मोटी है। इसमे ठोस स्वर्ण की बनी करोड़ो रुपये मूल्य की बौद्ध प्रतिमा है जिसे राज-परिवार के लोग पूजते हैं।

'नाम पेन्ह' से ८० मील दूर "अंगकोरवाट" है। इसे राजा सूर्यवर्मन ने बनवाया था। इसके अवशेष मीलो तक बिखरे पड़े हैं। ब्रह्मा, विष्णु, महेश की विशालकाय मूर्तियाँ कला कुशल हाथो की बनायी हुई है। शिल्पकला और वास्तुकला की दृष्टि से यह संसार भर के ध्वंशावशेषो में अद्वितीय है। इनके सामने रोम, मिश्र और यूनान के विशालकाय खण्डहर भी तुच्छ प्रतीत होते है। इस क्षेत्र मे संस्कृत भाषा के अनेक शिलालेख बिखरे पडे है। बौद्ध धर्म का प्रचार होने पर उन्ही मे स्थापित की गयी बुद्ध प्रतिमायें भी विद्यमान है।

चीनी इतिहासकारो के अनुसार अब से कोई सवा हजार वर्ष पहले केरल के राजा सूर्यदेव ने ऐतिहासिक 'अगकोर वाट' के मन्दिरो को बनवाया था। शासकों की तीन पीढ़ियो ने उसे ७० वर्ष मे बनाकर पूरा किया था।

यह २१ वर्गमील में फैला हुआ है। इसे देखने को ससार भर के पर्यटक पहुँचते हैं। कम्बोडिया की अर्थ व्यवस्था को सुधारने मे इन पर्यटको का बड़ा हाथ रहता है। ससार की कई हवाई जहाज कम्पनियो ने यात्रियो के ठहरने के सैकड़ो कमरे वाले होटल बनवाये है। "एयर फ्रास" द्वारा बनवाया होटल लगभग ५०० कमरों का है। योरोप के कई बड़े देशों की सीधी विमान सेवा अंगकोरवाट के लिये पहुँचती है। चीन ने

सहानुभूति प्रदर्शित करने के लिये एक हवाई अड्डा अपनी ओर से बनाकर कम्बोडिया सरकार को भेंट किया है।

एक बार भारत के राष्ट्रपति श्री राजेन्द्रप्रसाद वहाँ गये और "अंगकोरवाट" को देखकर मुग्ध हो गये। इस मन्दिर में एक कमरा जादू जैसी विशेषता का है। उसमें घुसकर कोई अपने हृदय पर हाथ मारे तो प्रतिध्वनि "ओम्" जैसी गूँजेगी। शरीर के अन्य किसी भाग पर हथेली मारो तो वैसा गुंजन नही होता। एक बार पं. जवाहरलाल नेहरू वहाँ पहुँचे थे और इस विलक्षणता को देखकर चकित रह गये थे।

ऐसी ही और भी कितनी ही विशेषतायें इस अवशेष में है। चूने का उपयोग कम ही हुआ है। पत्थर रखकर उसे इतनी मजबूती से बनाया गया है कि इतना लम्बा समय बीत जाने पर भी उसमें हिलने-डुलने की कमजोरी नही आई है। खुदाई अभी भी चालू है। हिन्दू देवी-देवताओं की मूर्तियाँ जितनी कलापूर्ण इसमें बन पड़ी हैं, उसकी तुलना में भारत मे बने कम मन्दिर ही ठहरते हैं।

मन्दिरों, स्मारकों, दुर्गों भवनों की शिल्प कला में पूरी तरह भारतीयता का समावेश है। वे ऐसे लगते हैं मानो भारत मे बने हों अथवा भारतीयों ने वहाँ पहुँचकर बनाये हों। भारत मे बनी इस प्रकार की इमारतों और कम्बोडिया के इन भवनों में तुलना की जाय तो प्रतीत होता है कि किसी ने किसी की हूबहू नकल करने का प्रयत्न किया है। समय ने बहुत कुछ पलट दिया है। अब वहाँ की जनता पर पहले जैसी हिन्दू धर्म की छाप नही है। मुसलमान और ईसाई धर्मो ने भी अपनी गहरी जड़ें जमा ली हैं। फिर भी जो कुछ बचा है, उससे यह स्पष्ट है कि वहाँ बौद्ध और हिन्दू सस्कृति का लोप नही हुआ है। अभी भी जो बचा है उसी सींचा, सँभाला जा सके तो यह मुरझाया वृक्ष पुनः पूर्वकाल की तरह हरा-भरा हो सकता है।

'तेप प्रानम' में मिले लेख से प्रतीत होता है कि यशोवर्मन के बनाये "सौगताश्रय वीया विहार" में वैष्णव और शैव धर्म की भाँति ही बौद्ध धर्म भी पढ़ाया जाता था। सूर्यवर्मन के शासनकाल में हिन्दू धर्म की भाँति बौद्ध धर्म को भी राज्याश्रय मिला था। यही नीति अन्य शासक एवं विद्यालय भी अपनाते रहे थे।

कम्बोडिया की वर्णव्यवस्था, नवीन जातियों का उद्गम, विवाह प्रथा, वेष-भूषा, खान-पान, वस्त्र-आभूषण, पात्र, स्त्रियों की स्थिति, मृतक संस्कार आदि पर विचार करने से ऐसा प्रतीत होता है कि वहाँ ब्राह्मण धर्मी पुरोहितों का प्राधान्य रहा होगा। वहाँ ब्राह्मण धर्म प्रचार के लिये और क्षत्रिय शासन-व्यवस्था के लिये पहुँचे थे। उन्होने विवाह उसी देश की स्त्रियों से किये और अपने वंश चलाये। चीनी इतिहासकार पीलियो के अनुसार एक हजार के करीब विद्वान ब्राह्मणों का आधिपत्य था, इनमें शिव, कैवल्य, हिरण्यदास, अगस्त्य, दिवाकर, हृषिकेश, वामशिव, शिवाचार्य, त्रिभुवनराज, लौज युधिष्ठिर, जयेन्द्र पण्डित, योगीश्वर, पृथ्वीन्द्र पण्डित, गुण पण्डित, कवीन्द्र, विशालाक्ष आदि के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं। क्षत्री वहाँ पहुँचकर विशुद्ध क्षत्री नही रह गये थे, उनके विवाह शादी ब्राह्मणों के साथ होते थे। अस्तु, उन्हें ब्रह्म क्षत्र कहा जाता था। कितने ही राजाओ ने अपनी कन्यायें पुरोहितों तथा विद्वानो के साथ विवाही थी। इसी प्रकार कई ब्राह्मण कन्यायें भी राज-परिवारो मे सम्मिलित होकर क्षत्रिय संतान की माता बनी थी। पहले वहाँ चार ही वर्ण थे, पीछे उनके वश सम्मिश्रण से तीन जातियाँ और बन गयी। इस प्रकार वहाँ सात जातियों का सप्त वर्णो का प्रचार हो गया। इसका वर्णन इलियट की पुस्तक "भारत का उसके इतिहासकारो द्वारा इतिहास" पुस्तक में विस्तारपूर्वक दिया गया है।

श्री चटर्जी की "कम्बुज में भारतीय संस्कृति का प्रभाव" पुस्तक में इस समय वहाँ पुरुषो मे धोती, कमर में फेंटा और कन्धे पर दुपट्टा डालने का प्रचलन बताया गया है। उस काल में उपलब्ध चित्रो में तत्कालीन शासकों और नागरिकों को इसी वेश-भूषा का अभ्यस्त दिखाया गया है महिलायें लहँगा पहनती थी। पिलियों की "चे ओ टाकुअन" की कथा में स्त्रियों के आभूषणों में हार, कर्णफूल, छल्ले, कंगन, बाजूबन्द, करधनी, नूपुर आदि का उल्लेख है, विशेष अवसरो पर मेहदी रचाती थीं। पुरुष गले मे हार और कानों में कुण्डल पहनते थे। स्त्रियों में जूड़ा बाँधने और माथे पर चन्दन लगाने

का रिवाज था। यह वेश-भूषा विशुद्ध रूप से भारतीय परम्परा के अनुकूल है। चीनी इतिहास की पुस्तक "ताग-वंश का इतिहास" में तत्कालीन खाद्य पदार्थों, गीत-वाद्य, नृत्य आदि जैसा वर्णन है उससे स्पष्ट है कि उस समय वहाँ की प्रथा मे पूरी तरह भारतीयता का समावेश था।

मुर्दो को जलाने अथवा नदी प्रवाह करने, श्राद्ध-तर्पण मृतात्माओ को सन्तुष्ट करने जैसे मरणोत्तर विधि-विधान का वर्णन मृतक के शोक मे उनके वंशज सिर के बाल मुड़ाते थे। विवाह अग्नि की साक्षी मे उसकी परिक्रमा करते हुए सम्पन्न होते थे। बच्चों के कान छेदने और सिर के बाल मुड़ाने के समय उत्सव होते थे।

इन दिनों कम्बोडिया का राज-धर्म बौद्ध है। जनता प्रायः बुद्ध धर्मावलम्बी ही है, पर पूजाग्रहो मे वहाँ धनुषधारी राम और हनुमान जी की प्रतिमाये भी स्थापित है। सरकारी मुद्रा पर हनुमानजी छपे है। सेना के ध्वज पर भी हनुमानजी विराजे हैं। राजधानी 'नाम पेन्ह' के आधुनिकतम खेल स्टेडियम पर हनुमानजी की विशाल प्रतिमा स्थापित है। हनुमानजी वहाँ के मानस देवता है। कम्बोडिया मे बौद्ध धर्म हिन्दू धर्म का ऐसा सुन्दर समन्वय दिखाई पडता है मानो वे दोनो शरीर मे जुडे दो हाथ है। वर्मा और थाईलैण्ड की तरह ही कम्बोडिया की वर्णमाला भी देवनागरी के अनुसार बनी है। अक्षरों की आकृति मे थोडा अन्तर है। वहाँ की भाषा मे संस्कृत शब्दो की प्रधानता है। यहाँ के विश्वविद्यालय मे सस्कृत और पाली भाषा पढ़ाने की विशेष व्यवस्था है। सांस्कृतिक दृष्टि से कम्बोडिया पूर्व एशिया के सभी देशो की तुलना मे भारत के अधिक निकट है। यह सारा क्षेत्र अमेरिका और चीन के शक्ति सघर्ष का अखाडा बना हुआ है। कम्बोडिया इस खतरे से भयभीत है और तटस्थता की नीति अपनाकर किसी प्रकार अपनी जान बचा रहा है।

नाम पेन्ह तथा आस-पास के नगरों में भारतीय भी बहुत हैं, उनमें से अधिकांश सिख धर्मानुयायी हैं। कितने ही गुरुद्वारे बने है और गुरु ग्रन्थ साहब का पाठ होता हैं।

राजतिलक के अवसर पर थाइलैण्ड की तरह कम्बोडिया के राजा को भी धोती, कुर्ता पहिनना पड़ता है। विशेष अवसरो पर भी वे इसी पोशाक को पहिनते है।

कम्बोज की राज भाषा १४वी सदी तक संस्कृत रही है, यह वहाँ पर उपलब्ध शिलालेखों से स्पष्ट है। वहाँ अभी भी बच्चो का मुण्डन-सस्कार बड़ी धूम-धाम से होता है और कटे हुए बालों को ताम्रपत्र में बन्द करके मेकाग नदी में बहाया जाता है, जो वहाँ गगा की तरह पवित्र मानी जाती है। कम्बोडिया के शासकों का राज्याभिषेक वेदमन्त्रो के उच्चारण के साथ शैव ब्राह्मणों द्वारा सम्पन्न होता है। उस समय राज्याधिकारी के एक और शिव की मूर्ति रखी जाती है और दूसरी ओर विष्णु की। ज्योतिषी हर शुभ कार्य का मुहूर्त निकालते है। सामान्यतया गुरुवार सर्व शुभ माना जाता है। दीक्षा-संस्कार वहाँ भी होते है। माँगलिक अवसरो पर महिलायें रोली और अक्षत से मस्तकों पर तिलक लगाती है।

कम्बोडिया की वर्तमान जनसंख्या मात्र सत्तर लाख है। वहाँ बौद्ध धर्म को राज्याश्रय प्राप्त है। वहाँ के प्राय सभी नागरिक बौद्ध धर्मावलम्बी है। नाम पेन्ह विश्वविद्यालय मे बौद्ध धर्म के अध्ययन का विशेष प्रबन्ध है।

कम्बोडिया के सर्वेसर्वा राजकुमार सिंहनुक ने एक बार दुःखी होकर भारी मन से कहा था—"भारत हमारी माता है और चीन हमारा पिता। दुर्भाग्य से हमारी माता ने हमारी परवाह करना छोड़ दिया और हम आश्रय विहीन होते जा रहे है।

भारत का सांस्कृतिक वर्चस्व

वर्तमान भारत की सीमा तक प्राचीन भारत सीमित न था। तब उसका विस्तार सुदूर पूर्व में फैले हुए द्वीप-समूहों तक था। बर्मा, स्याम आदि देशों तक थल मार्ग से आवागमन था, अस्तु यह क्षेत्र तो सहज ही भारत का अंग था। इसके लिये पृथक् नामकरण की आवश्यकता न थी। वे देश एक प्रकार से बृहत्तर भारत के प्रान्त ही थे।

सुदूर पूर्व के समुद्र में फैले हुए देशों को उन दिनों अलग नाम दिया गया था। उस क्षेत्र को "सुवर्ण-द्वीप" कहते थे। उसकी परिधि में छोटे-बड़े सैकड़ों द्वीप आते हैं। इन दिनों इस क्षेत्र को— (१) मलेशिया (२) जावा (३) सुमात्रा (४) वाली (५) बोर्नियो (६) सिंगापुर आदि नामों से सम्बोधित किया जाता है। इनकी अपनी-अपनी सीमाये भी राजनैतिक उथल-पुथलों ने बना दी हैं। प्राचीनकाल में इस पूरे क्षेत्र का एक ही नाम था "सुवर्ण-द्वीप समूह"। इस क्षेत्र में भारतीयों ने चिरकाल पूर्व प्रवेश किया था और उसे बसाने, समुन्नत बनाने मे अनवरत् श्रम किया। उन दिनों नौकानयन ही एक मात्र साधन इन लम्बी यात्राओं के लिये उपलब्ध था। कितने कष्ट सहकर हमारे पूर्वज वहाँ पहुँचते होंगे और उन वीरान क्षेत्रों को बसाने, विकसित करने में अपने आपको कितना गलाते-धुलाते होगे, सही स्वरूप की यदि कल्पना की जा सके तो उनकी परमार्थ परायणता महानता मे किसी प्रकार का सन्देह न रह जायेगा।

इतिहास के पृष्ठो का अध्ययन करने से स्पष्ट होता है कि भारत के महत्त्वाकांक्षी व्यापारी, राजनेता, धर्म-प्रचारक अपनी पहुँच की सीमा तक विदेशो मे आते-जाते रहे है और अन्यान्य देशों की भौतिक एवं आत्मिक प्रगति में भौतिक योगदान देते रहे है।

दक्षिण-पूर्व एशिया के देशो को प्राचीन काल मे स्वर्ण द्वीप कहा जाता था। संभव है वहाँ की स्वर्णिम आभा-शोभा को, प्रकृति-सम्पदा को देखकर यह नाम दिया गया हो। जहाँ-तहाँ सुनहरी बालू का पाया जाना भी एक कारण हो सकता है। प्राचीन किम्वदन्तियों मे वहाँ सोने की खानो के होने का भी वर्णन है। कारण जो भी रहा हो, भारत मे इस क्षेत्र का नाम स्वर्ण-द्वीप प्रचलित था। जावा आदि देश इसी नामकरण के अन्तर्गत आते थे।

वाल्मीकि रामायण काण्ड २ अध्याय ११ मे यवद्वीप (जावा) का उल्लेख है। "महा जनक जातक" "साहित्य सागर", "बृहत्त कथा श्लोक सार" आदि ग्रन्थों में व्यापारियो द्वारा उस क्षेत्र की यात्रायें किये जाने का उल्लेख है। अन्य कई सस्कृत ग्रन्थों मे इस भू-भाग का स्वर्ण-भूमि, स्वर्ण द्वीप, स्वर्ण कूट, स्वर्ण कुण्ड, हेम कूट आदि नामों से उल्लेख है। "कौटिल्य अर्थशास्त्र" और "मिलिन्द" ग्रन्थो से भी पता चलता है कि न केवल वहाँ भारतीयों का ही आना-जाना था वरन् वे वहाँ बस भी गये थे।

इतिहासकार स्मिट ने अपने ग्रन्थ "ए हिस्ट्री ऑफ साउथ ईस्ट एशिया" मे सिद्ध किया है कि हिन्द, चीन और हिन्द एशिया के आदि निवासी भारतीय मूल के थे। उनकी आकृति और परम्परा भारत में पायी जाने वाली 'सुमेर', 'चम', 'मुण्डा' और 'खस' जातियों से मिलती-जुलती थी। भाषा विशेयज्ञो का कथन है कि इस समूचे क्षेत्र मे फैली हुई भाषाओं की शब्दावली का आदि स्त्रोत भारतीय भाषा ही रही है। शब्दो मे विश्लेपण करने से अधिकाश शब्द भारत से ही उधार गये है। "हिन्दू जावानीज" ग्रन्थों के अनुसार भी जावा मे आदि निवासी भारतीय मूल के ही थे। उन्ही के आमत्रण और सहयोग का आश्रय पाकर पीछे भारत से अनेक जत्थे वहाँ जाते और बसते रहे। कैलेम, वेल्स, स्टाइन के अनुसार मलाया की सभ्यता का विकास भारतीय सभ्यता के प्रकाश, सहयोग एव समन्वय के आधार पर ही होता है। स्टूटर हाउस के अनुसार वर्मा पेगू और प्रोम प्रान्तो को उड़ीसावासियो ने जाकर आबाद किया था। जावा के पुरातन शिलालेख दक्षिण

भारत की पल्लव लिपि में लिखे हुए मिले हैं। हिन्द चीन के शिलालेख ब्राह्मी लिपि में है, विद्वान सिडी ने अपने ग्रन्थ "ईस्ट वाक डी लैण्ड कनिष्क" ग्रन्थ में सुदूर पूर्व की पुरातन स्थिति का पर्यवेक्षण करते हुए यही निष्कर्ष निकाला है कि यह समूचा क्षेत्र भारतीयों द्वारा विकसित किया गया था।

पुराणो तथा जातक ग्रन्थों मे स्वर्ण द्वीप का वर्णन मिलता है। सुदूर पूर्व में फैले हुए द्वीप समूह के लिये ही यह स्वर्ण द्वीप अथवा स्वर्ण भूमि शब्द प्रयुक्त हुआ है। इन द्वीपों का तात्कालिक नाम अंग द्वीप, यव द्वीप मलय द्वीप शंख द्वीप, कुश द्वीप, वराह द्वीप नाग द्वीप आदि था। इनका वर्णन जिस रूप में हुआ है, इससे मलाया, जावा, सुमात्रा, कटाह, अंडवान, निकोवार, संखेद्वीप आदि के साथ उनकी संगति पूरी तरह बैठ जाती है। वायु पुराण, हरिवंश पुराण, जातक ग्रन्थ, वाल्मीकि रामायण, महाभारत आदि ग्रन्थों में इस क्षेत्र का जिस प्रकार वर्णन है, उससे स्पष्ट हो जाता है कि भारत ही इसके विकास का श्रेयाधिकारी है।

विश्व के इतिहास वेत्ता पामयोनियस, पेरीप्लस, प्लिनी, डिओनिसस, पेरीगेटिस, सोलिनस, माटिआनस, कैपेला, सेविल, इसीडोर, थियोडल्फ, निसेफोरस आदि ने सुवर्ण द्वीप का जिस प्रकार वर्णन किया है, उससे यह तथ्य सामने आता है कि वहाँ सर्वप्रथम भारतीय सभ्यता का प्रकाश पहुँचा और उसने उसे क्रमश. अधिक ऊँची स्थिति में पहुँचाने में योगदान दिया। अरबी और चीनी लेखकों द्वारा प्रस्तुत किये गये विवरण भी इस तथ्य की पुष्टि करते हैं।

भारतीय राजनेताओं के उसे क्षेत्र में जाने, बसने और सुशासन की स्थापना मे योग देने के उल्लेख इतिहास के पृष्ठो पर मौजूद हैं। चम्पा देश मे राजकुमार विदेह का पहुँचना, काशी देश के राजकुमार का अराकान में जाना, इन्द्रप्रस्थ के राजकुमार का कम्बोडिया में पैर जमाना, श्रीपाद वर्मन का जावा में सुशासन आरम्भ करना जैसे अनेक प्रमाण ऐसे है, जिससे प्रतीत होता है कि भारत में बड़े राजकुमार को गद्दी मिलती थी और छोटे राजकुमारों की महत्त्वाकांक्षाओं की पूर्ति के लिए कोई गुंजायश नहीं रहती थी। अस्तु वे समापवर्ती विदेशों में अपनी कुशलता का परिचय देने के लिए नये क्षेत्रों का निर्माण करते थे। इतिहासकार इत्सिंग ने सातवी सदी के अपने विवरण में इस बात की विस्तृत चर्चा की है कि पाँचवी, छठी और सातवीं शताब्दी में भारतीय राजकुमार दल-बल सहित जलपोतों द्वारा इस स्वर्णद्वीप में पहुँचते रहे और छोटे-बड़े शासन स्थापित करते रहे।

पुरातत्वीय खोजों से यह निश्चित रूप से प्रमाणित हो चुका है कि दक्षिण-पूर्व एशिया के अधिकांश निवासियों की संस्कृति, पाषाण युग की संस्कृति थी, जब वे भारतीय संस्कृति के प्रभाव में आये, यह तथ्य इण्डोनेशिया के जावा एवं सुमात्रा द्वीपों पर तथा इण्डोचाइना के अनाम, कम्बोडिया और मलय प्रायद्वीप पर लागू होता है। सुदूर सेलेबीस में बुद्ध की एक कांस्य प्रतिमा, जो अमरावती कला की है प्राप्त हुई है। यह पाषाण युग की आदिम संस्कृति से कुछ ऊपर स्तर की संस्कृति की है। हिन्दू उपनिवेशकर्ता जब पहली बार सुवर्ण भूमि में आकर बसे, तब उनका यहाँ के आदिम निवासियो से घनिष्ठ सम्बन्ध कायम हुआ, जिसके फलस्वरूप यहाँ की आदिम संस्कृति अपने से उच्च स्तर की भारतीय संस्कृति मे घुल-मिल गयी।

बोर्नियो, जावा एवं मलय प्रायद्वीप में प्राप्त संस्कृत शिलालेखो से यह निष्कर्ष निकलता है कि भारतीय भाषा, धर्म, साहित्य तथा राजनैतिक एवं सामाजिक सस्थाओं एवं मान्यताओं ने इन सुदूर देशों पर अपना प्रभुत्व कायम किया था। बोर्नियो के राजा मूल वर्मन के कुटेई शिलालखों से स्पष्ट रूप से प्रकट होता है कि उस समय का राजदरबार तथा समाज हिन्दू संस्कृति के रंग से सराबोर था। पश्चिम जावा में प्राप्त शिलालेखो से भी यह स्पष्ट होता है कि वहाँ का समाज और राजदरबार हिन्दू संस्कृति से पूरी तरह प्रभावित किया गया था। यहाँ हमें हिन्दू देवताओं के जैसे विष्णु, इन्द्र, ऐरावत के उल्लेख प्राप्त होते हैं। इस देश में भारतीय महीने, खगोल विद्या तथा दूरी नापने की भारतीय पद्धति प्रचलित थी। इसके अतिरिक्त इन नये हिन्दू उपनिवेशों में भूगोल सम्बन्धी भारतीय नामों, जैसे 'चन्द्रभागा' 'गोमती' आदि का प्रयोग वहाँ की नदियों के नामों के लिये मिलता है।

बोर्नियों तथा मलय द्वीपो में विभिन्न देवताओ को जो मूर्तियाँ प्राप्त हुई हैं, वे शिलालेखों के प्रमाणों की पुष्टि करती हैं। बोर्नियो में विष्णु, ब्रह्मा, शिव, गणेश, नन्दी, स्कन्द और महाकाल की मूर्तियाँ प्राप्त हुई हैं और मलय प्रायद्वीप में दुर्गा, गणेश और नन्द की मूर्तियाँ मिली हैं।

जावा में स्थित टुक-मस के ध्वंसावशेष से यह प्रमाणित होता है कि पौराणिक धर्म उस क्षेत्र में जोरों के साथ प्रचलित था। यहाँ की विष्णु एव शिव की मूर्तियाँ अपनी सम्पूर्ण विभूतियों के साथ चित्रित हैं। इसके अतिरिक्त यहाँ के शिलालेखों में गंगा की पावनता का उल्लेख मिलता है।

इन मूर्तियों और शिलालेखों से यह प्रमाणित होता है कि सुवर्ण द्वीप के इन देशों मे ब्राह्मण धर्म के अतिरिक्त बौद्ध धर्म भी प्रचलित था। समग्र रूप से देखने पर शिलालेखों से यह विदित हो जाता है कि यहाँ पर संस्कृत भाषा और साहित्य का महत्वपूर्ण स्थान था। यहाँ के अधिकांश विवरण उत्कृष्ट एवं त्रुटिहीन सस्कृत भाषा में लिखे हैं। भारतीय लिपियाँ सर्वत्र प्रयुक्त होती हैं। मूर्तियो की बनावट मे भारतीय कला की छाप पूर्ण रूप से मिलती है। चीनी विवरणो से पुरातत्वीय प्रमाणो की पुष्टि एवं पूर्ति होती है। सबसे पहले हमें चीनी यात्री 'फाहियान' का लेख मिलता है, जिसके अनुसार यव द्वीप मे ब्राह्मण धर्म जोरों से प्रचलित था और वहाँ बौद्ध धर्म का प्रभाव बहुत ही कम था। फाहियान के साथ जहाज द्वारा चीन जाने वाले २०० व्यापारी, ब्राह्मण धर्म के मानने वाले थे। परन्तु शीघ्र ही बौद्ध धर्म ने जावा पर अपना प्रभाव डाला, जो कि सन् ५१९ ई० मे सकलित चीनी विवरण से प्रकट होता है। उसके अनुसार कश्मीर के बौद्ध भिक्षु राजकुमार गुणवर्मन ने जावा पहुँचकर वहाँ की राजमाता को बौद्ध धर्म मे दीक्षित किया। उसके बाद जावा के राजा ने भी बौद्ध धर्म स्वीकार कर लिया। तत्पश्चात् शनै-शनैः बौद्ध धर्म पूरे जावा मे फैल गया।

गुणवर्मन का नाम और उसकी ख्याति चारो दिशाओ में फैल गयी। ४२४ ई० मे चीनी भिक्षुओ ने गुणवर्मन को चीन मे आमंत्रित करने के लिये सम्राट से अनुरोध किया। फलस्वरूप सम्राट ने गुणवर्मन और जावा के राजा के पास अपना दूत भेजा। गुणवर्मन हिन्दू व्यापारी जहाज 'नन्दिन' में बैठकर सन् ४३१ में नानकिंग पहुँचे। गुणवर्मन के वृत्तांत से यह पता चलता है कि बौद्ध धर्म का जावा में किस प्रकार प्रवेश हुआ और वहाँ ५वी शताब्दी मे उसकी जड़ किस प्रकार जमी ? दूसरे चीनी यात्री ईत्सिंग के लेखानुसार ७वी शताब्दी के अन्त तक बौद्ध धर्म का विस्तार सुवर्ण द्वीप के अन्य क्षेत्रो मे हो गया था। चीन से भारत जाते हुए ईत्सिंग श्रीविजय मे ६ मास रुका था और उसने वहाँ शब्द विद्या (संस्कृत व्याकरण) की शिक्षा ग्रहण की थी। भारत मे चीन लौटते समय भी वह श्रीविजय मे ठहरा था। यहाँ रहकर उसने वृहद् बौद्ध ग्रन्थों का जिन्हें वह भारत से लाया था अनुवाद और प्रतिलिपि की थी। इत्सिंग के कथनानुसार दक्षिणी सागर के देशो के बहुत-से राजा और सरदारगण बौद्ध धर्म में विश्वास करते थे और उसके प्रशंसक थे। उस समय श्रीविजय मे बौद्ध भिक्षुओ की सख्या १००० से अधिक थी।

इस प्रकार यह प्रमाणित होता है कि ७वी शताब्दी मे बौद्ध धर्म और बौद्ध साहित्य के भक्त एवं उपासक सुवर्ण द्वीप मे थे। इस क्षेत्र मे भारतीय ज्ञान विद्या एवं सस्कृति के विभिन्न केन्द्र कायम थे, जो कि विदेशियो को आकर्षित करते थे। इस दिशा मे श्रीविजय का महत्व बहुत अधिक था। यह बौद्ध धर्म का एक बड़ा केन्द्र तो था ही, साथ ही यह सुवर्ण द्वीप मे महायान शाखा का सबसे पहला प्रमुख केन्द्र था, जिसका व्यापक प्रसार बाद मे सम्पूर्ण सुर्वण द्वीप मे हुआ। बहुत-से प्रसिद्ध भारतीय बौद्ध भिक्षुगण इस क्षेत्र में पहुँचे और नयी दिशाओ से बौद्ध धर्म के प्रचार मे योगदान दिया। ७वी शताब्दी मे ही नालन्दा के आचार्य 'धर्मपाल' जो कि कांची (दक्षिण भारत) के रहने वाले थे, सुवर्ण द्वीप पहुँचे। ८वी शताब्दी के प्रारंभिक काल में दक्षिण भारतीय बौद्ध भिक्षु 'वज्रबोधि' सीलोन से चीन जाते समय श्रीविजय मे पाँच महीने तक रुके। वे और उनके शिष्य 'अमोघवज्र' जो उनके साथ थे, तंत्र विद्या के आचार्य थे। उन्होने चीन मे इस विद्या का प्रवेश कराया।

चीनी विवरणों तथा गुणवर्मन, धर्मपाल और वज्रबोधि के वृत्तांतो से यह स्पष्ट रूप से मालूम हो जाता है कि भारत और सुवर्ण द्वीप के बीच नियमित आवागमन स्थापित था। 'लग-ग सु' से सम्बन्धित वृत्तात से मालूम होता है कि भारत और सुवर्ण द्वीप के बीच सामाजिक सम्बन्ध भी कायम था।

भारतीय संस्कृति एव सभ्यता से सुवर्ण द्वीप का केवल धर्म ही प्रभावित नही था वरन् वहाँ के राजनैतिक, सामाजिक विचार तथा प्रशासकीय तंत्र भी स्पष्ट रूप से प्रभावित थे। इस संदर्भ में 'टान-टान' राज्य के उल्लेख से पता चलता है कि उसने चीन में अपने राजदूतो को ५३०, ५३५ और ६६६ ई. में भेजा था। यहाँ के राजा का कौटुम्बिक नाम था 'कच सत्रिय' (क्षत्रिय) और उसका निजी नाम 'शिलिंगदि' (श्रिंग) था। उसके आठों मंत्रियों मे से बड़े मत्री ब्राह्मणों मे से चुने जाते थे। युद्ध मे वे हमेशा शंख फूँकते थे और ढोल वजाते थे। चीनियो के उल्लेख के अनुसार स्वर्ण द्वीप मे प्रचलित 'क-ल' प्रथा भी भारतीय मूल की है। उनके मृतको को जलाया जाता था और भस्म को सोने के पात्र मे भरकर समुद्र मे डुबो दिया जाता था।

सुदूर पूर्व के देशो मे भारतीय उपनिवेशवादियो ने अपने मूल देश भारत के सांस्कृतिक विचारो का प्रसार किया। आज भी इन देशो मे भारतीय धर्म कथा, भवन निर्माण कला के स्पष्ट चिन्ह प्राप्त होते हैं। इन देशो मे भारतीय धर्म के विकास क्रम का अध्ययन एक बहुत ही रोचक विषय है।

भारत के दक्षिण-पूर्व और सुदूर पूर्व के उपनिवेशो (बर्मा और स्याम को छोडकर) में ब्राह्मण धर्म के जिस स्वरूप का प्रसार अधिकतर हुआ था, वह था "सनातन ब्राह्मण धर्म" जिसने हिन्दू सभ्यता एवं संस्कृति के विकास क्रम को प्रभावित किया।

भारत मे बौद्ध और सनातन ब्राह्मण धर्म के विकास और हास का जो काम चल रहा था, उसकी प्रतिध्वनि सुवर्ण भूमि के भारतीय उपनिवेशो के धार्मिक इतिहास मे भी होती थी, जो कि वहाँ बड़ी संख्या मे प्राप्त शिलालेखो, धार्मिक ग्रन्थो तथा देवी-देवताओ की मूर्तियो की सहायता से सिद्ध होती है।

सुवर्ण भूमि में ब्राह्मण धर्म के शैव और वैष्णव सम्प्रदायों में शैवमत वैष्णव मत से कही अधिक प्रभावशाली था और उसने धार्मिक विकास क्रम की सम्पूर्ण प्रक्रिया को बहुत अधिक प्रभावित किया था। शैव मतानुयायियो की तुलना में वैष्णव मतानुयायियों तथा बौद्धों का प्रभाव कम था, परन्तु उनके बीच किसी प्रकार के धार्मिक संघर्ष का कोई चिन्ह प्राप्त नही होता वरन् उनके बीच परस्पर सद्भावना और समन्वय के प्रयास के ही पर्याप्त प्रमाण उपलब्ध होते हैं।

सुवर्ण द्वीप में हिन्दू सभ्यता एवं संस्कृति का प्रसार

हिन्दू समाज का बुनियादी आधार वह वर्णव्यवस्था प्रणाली है, जो कि जावा, मदुरा और सुमात्रा में प्रचलित थी। इसकी जानकारी प्रारंभिक विवरणों में 'चतुर्वर्ण' शब्द तथा यहाँ के साहित्य एव शिलालेखों मे "ब्राह्मण, क्षत्री, वैश्य, शूद्र" शब्दों के बार-बार के उल्लेख से स्पष्ट है। इन द्वीपो मे यह वर्ण व्यवस्था अपने मूल शुद्ध स्वरूप में कायम थी, जैसा कि मनु सहिता मे इसका विवरण है एव जिस रूप में यह प्राचीनकाल मे प्रचलित थी।

बाली और लोमबोक मे प्राचीन वर्ण-व्यवस्था का जो स्वरूप आज भी प्रचलित है, वह इस प्रकार का है—"इन द्वीपो के लोग चार वर्णो मे विभाजित हैं। इनमें से पहले तीन वर्णो के लोग 'द्विजाति' तथा शूद्र 'एक जाति' है।

ब्राहाण लोग शिव उपासक अथवा बुद्ध उपासक के रूप मे दो वर्गो मे विभाजित है। बाली मे राजकीय वंश के लोग वैश्य वर्ण के होते हैं, न कि क्षत्रिय वर्ण के। बाली मे शूद्रो को 'कौलस' कहा जाता है, पर इन्हें अछूत या अपवित्र नही माना जाता।

यहाँ के राजा भारतीय राजदरबारो की शान-शौकत तथा चमक-दमक का अनुसरण करते थे। जावा मे पान खाने की आदत भी भारत की तरह थी। यहाँ के पुतली नाचो के विषय में दो महान् भारतीय ग्रन्थ-रामायण तथा महाभारत से लिये जाते है। इन द्वीपों मे प्रचलित कविता, नाटक, सगीत तथा नृत्य को अन्त: प्रेरणा नि:सन्देह भारत से प्राप्त हुई है।

हिन्द जावानी कला, भवन एवं मन्दिर निर्माण दोनों ही दृष्टि से अनुपम है। मन्दिरों में जो धार्मिक चित्रण किया गया है, उनमें जो कलामूर्तियाँ पायी जाती हैं, वे विशेष रूप से मन्दिर कला के सुन्दर नमूने है। स्मारकों में से कुछ सुन्दर नमूनो का परिचय इस प्रकार है।

जावा में धार्मिक इमारतों को चन्दी नाम से पुकारा जाता है। इनमे से कुछ को छोड़कर सब मन्दिर हैं। इन मन्दिरों का नक्शा मोटे रूप में करीब-करीब एक-सा ही होता है। मन्दिरो की कलापूर्ण सजावट, अलकरण तथा नक्काशी आदि सब भारत से ली गयी है।

जावा के मन्दिरों की विशेषता यह है कि इनमे खम्भे बिल्कुल नही हैं और इनके मेहराब भारत की तरह क्षितिज के समानान्तर है। मध्य जावा में जहाँ ८वी शताब्दी ई० के बीच मन्दिरों का निर्माण हुआ, उनमें ब्राह्मण और बौद्ध दोनों धर्मो के मन्दिर है। "डीग पठार पर, जो कि ६५०० फीट ऊँचा है और चारो तरफ पर्वतों से घिरा है, बहुत-से मन्दिर है, जो महाभारत के वीरों और वीरांगनाओ के नाम पर बने हुए हैं। सामान्यतः यह माना जाता है कि ये मन्दिर जावा मे सबसे प्राचीन है और सम्भवतः ८वी शताब्दी ई० के हैं। डीग कला देखने से गुप्तकाल के भारतीय मन्दिरों का स्मरण हो आता है।

डीग पठार पर प्राप्त मूर्तियाँ ब्राह्मण धर्म के देवी-देवताओं की हैं। यहाँ शिव, दुर्गा गणेश, ब्रह्म, और विष्णु की मूर्तियाँ है। इस तरह ये मन्दिर ब्राह्मण धर्म के थे, जिनमे शैव मत की प्रमुखता थी। इस तथ्य की पुष्टि उपलब्ध अवशेषो से होती है।

'प्रमबनन' घाटी में प्रसिद्ध बौद्ध मन्दिरो का समूह मौजूद है, जो कि मध्य जावा की कला का उत्कृष्ट रूप प्रस्तुत करता है। यह क्षेत्र आधुनिक 'जोगमकेर्ता' और 'सूरकेर्ता' जिलो की सीमा पर स्थित है। इस क्षेत्र मे प्रसिद्ध मन्दिर "चन्दी कलसन" और "चन्दीसेम" है। चन्दीसेम बरबुदर को छोड़कर सबसे बड़ा बौद्ध मन्दिर है। मुख्य मन्दिर जो कि आँगन के बीच मे ४० मन्दिरो मे चारों ओर से घिरा हुआ है। यहाँ कुल मिलाकर २५० मन्दिर है, जिनमे मुख्य मन्दिर भी शामिल है। ये मन्दिर सम्भवतः ९वी शताब्दी के बने हैं।

केड मैदान मे कुछ बहुत ही सुन्दर कलापूर्ण सुन्दर स्मारक हैं, जो ९वी शताब्दी के है। ब्राह्मण एव बौद्ध सुन्दर मन्दिरो के खण्डहर यहाँ बडी संख्या मे है। "चन्दी मैन्दुर" एवं "चन्दी पवन " जो कि बहुत कुछ सुरक्षित रूप से कायम हैं 'हिन्द जावानी' कला का बहुत सुन्दर नमूना प्रस्तुत करते है। परन्तु इन सबो का महत्त्व विश्व विख्यात बौद्ध मन्दिर 'बुरबुदर के सामने धूमिल हो गया है, क्योकि वह सम्पूर्ण दुनियाँ में एक बड़ा आश्चर्य माना जाता है। इसकी समता का मन्दिर शायद कम्बोडिया का 'अंगकोर वाट' के अतिरक्त दूसरा दुनियाँ मे नही है। "बरबुदर" मन्दिर का निर्माण ७५० और ८५० ई० के बीच मे माना जाता है, जो कि शैलेन्द्र राजाओ के संरक्षण मे निर्मित हुआ था।

'बरबुदुर' का मन्दिर एक पहाड़ी की चोटी पर बना है। यह हिन्द-जावानी कला का सर्वोच्च स्मारक है। इस विशाल मन्दिर की दीवारो पर उभरी आकृतियो की नक्काशी द्वारा गौतम बुद्ध, 'जातक, अवदानों एव सुधन कुमार की कथाये चित्रित की गयी है। 'बरबुदुर' मे बुद्ध की तथा "मैन्दुर" में बोधिसत्वों की प्रतिमायें हिन्द-जावानी कला की सर्वोपरि कृतियाँ है।

जावा के ब्राह्मण-धर्म के मन्दिरो मे से कोई भी "बरबुदुर" की तुलना मे किंचित नही ठहर सकता, फिर भी "प्रमबनन" घाटी मे स्थित "लरजोगरग" समूह के मन्दिर उसके बाद सर्वश्रेष्ठ माने जा सकते है। इनमे से ८ मुख्य मन्दिर है, पर कुल मन्दिरो की संख्या १५६ है। पश्चिम कतार मे स्थित ३ मुख्य मन्दिरों के बीच का मन्दिर सबसे बड़ा और सबसे अधिक प्रसिद्ध है, जिसमे शिव की मूर्ति है। इसके उत्तर में विष्णु तथा दक्षिण में ब्रह्मा की मूर्तियाँ है। बीच का शिव मन्दिर सबसे अधिक सुन्दर है। इसकी दीवालो पर रामायण की कथा प्रारंभ से लेकर लका यात्रा तक चित्रित है। "लरजोगरग" मन्दिरो की कला की सबसे बडी विशेषता एवं सुन्दरता उनकी 'उभरी' आकृति की

नक्काशी है, जो कि 'बुरबुदुर' के बौद्ध मन्दिर की कला से किसी भी रूप में कम नही है।

"चन्दी मैन्दूर" की बुद्ध तथा अवलोकितेश्वर की मूर्तियाँ ही सुन्दर ढग से गढ़ी गयी है, जो कि मध्य जावा की प्राचीन कला की शैली के अनुरूप हैं। "चन्दी बनेन" की मूर्तियाँ यद्यपि ब्राह्मण धर्म की हैं, फिर भी वे बरबुदर की कला से मिलती हैं, न कि "लरजोंगरग" से।

पूर्वी जावा मे "चन्दी किदल" का स्मारक है, जो कि राजा अनुशपति का समाधि मन्दिर है। सिंघसारी के उत्तर-पश्चिम मे "सिंघसारी" का मीनार मन्दिर है। इस काल का बहुत महत्त्वपूर्ण स्मारक "चन्दी जगो" है यह राजा "विष्णुवर्धन" का शासन मन्दिर है, जिसमें इसे बौद्ध देवता के रूप मे चित्रित किया गया है। यह सन् १२६८ ई. के कुछ पहले या बाद का मन्दिर है।

पूर्वी जावा का सबसे बड़ा और सबसे प्रसिद्ध स्मारक 'पनतरन' (प्राचीन नाम पलह) के मन्दिर मशहूर है। सम्भवतः यह १४वी शताब्दी के मध्यकाल का मन्दिर समूह है। इनकी दीवालो पर भी रामायण और कृष्णायन की उभरी आकृति की नक्काशी चित्रित है। पूर्वी जावा मे स्थित 'पनतरन' एवं मध्य जावा के "लरजोगरंग" के मन्दिरो मे जो उभरी आकृति की नक्काशी द्वारा रामायण को विचित्र किया गया है। उनकी तुलना करने से बड़ा अन्तर जान पड़ता है। मध्य जावा की मन्दिर कला से पूर्वी जावा की कला निश्चित रूप से घटिया है।

पूर्व जावा की सभी मूर्तियो की 'सिधसारी' की 'प्रज्ञा पारमिता' की मूर्ति सबसे अधिक सुन्दर है, जो पूर्वी जावानी मन्दिर कला का उत्कृष्ट नमूना है। देवताओ की साधारण मूर्तियों के अतिरिक्त, उनकी ऐसी भी विशिष्ट मूर्तियाँ बनायी गयी है, जो कि जीवित व्यक्तियो के चित्रो के समान ही दिखायी देती है।

स्वर्ण द्वीप की निर्माण-कला भारतीय निर्माण-कला के अनुरूप ही धर्म की पूरक मानी जा सकती है। वहाँ पर जितने भी स्मारक अभी तक प्राप्त हुए है, वे सब धार्मिक स्वरूप के है। प्राचीन काल मे मलय प्रायद्वीप तथा पूर्वी द्वीप समूह में जो बहुत मन्दिर बने थे, वे सब अब प्राय· खण्डहर हो चुके है।

'जावा, सुमात्रा, बाली और बोर्नियो-इन बड़े द्वीपों के अतिरिक्त इण्डोनेशिया द्वीप समूह के दो और छोटे किन्तु महत्वपूर्ण द्वीप हैं — सेलबीज और फिलीपाइन। इनमें भारतीय संस्कृति के महत्त्वपूर्ण स्मारक मौजूद है। फिलीपाइन का सुन्दर शिव-मन्दिर और सेलेबीज की बुद्ध प्रतिमा तो देखते ही बनती है। सेलेबीज की कर्म नदी तट पर बसे सिकेन्देग स्थान के समीप एक विशाल बुद्ध प्रतिमा मिली है, जो वहाँ के म्यूजियम में रखी गयी । यह पीतल की बनी संसार भर की बुद्ध प्रतिमाओं में सर्वश्रेष्ठ और भव्य है। परिधान वस्त्र की सलवटें इतनी स्पष्ट है कि तत्कालीन धातु कला की उन्नति पर आश्चर्य होता है। कला विशेषज्ञ इसे लंका में विनिर्मित मानते हैं। ऐसी ही अन्य उपलब्धियाँ उस देश मे भारतीय धर्म की पहुँच का प्रमाण प्रस्तुत करती हैं।

सातवीं शताब्दी के आरम्भ मे एक बहुत ही प्रतिभाशाली भारतीय वंश का उद्भव हुआ। उसका नाम था शैलेन्द्र। इस वश ने अपनी महत्त्वाकांक्षायें सुदूर पूर्व के द्वीप समूहों की ओर मोड़ी और उस क्षेत्र मे बिखरी हुई अस्त-व्यस्त शासन-व्यवस्था को एक छत्र चक्रवर्ती तन्त्र के नीचे लाने का निश्चय किया। कहना न होगा कि यह वश प्रतापी, शूरवीर, सशक्त और हर दृष्टि से क्रियाकुशल था। ये लोग सशक्त जल सेना लेकर कलिग से रवाना हुए। उन्होंने देखते ही देखते बर्मा जीत लिया। इसके बाद आँधी-तूफान की तरह मलाया प्रायद्वीप-सुमात्रा-जावा आदि जीतते चले गये। इन देशो मे से अधिकाश मे हिन्दू राजाओ का राज था और कही पर स्थानीय लोगो का शासन था। पर शैलेन्द्रो को एकछत्र शासन अभीष्ट था। इसलिए उन्होने इस क्षेत्र मे एक शासन की स्थापना की और समस्त विजित क्षेत्र का नाम कलिंग रखा, सारे क्षेत्र मे एक लिपि, एक भाषा चलाई, इसमे सस्कृत शब्दो के साथ-साथ स्थानीय शब्दो का समावेश था। इस पूर्व क्षेत्र की नागरी का सक्षिप्त नाम "पूर्व नागरी" रखा। एक सस्कृति एक भाषा का शासन का यह प्रयास शैलेन्द्रो ने जिस उत्साह से चलाया, उसे देखते हुए उन दिनो यह प्रतीत होने लगा था कि यह सारा क्षेत्र भारत प्रदत्त एकता के एक सूत्र मे बँधने ही वाला

है। शैलेन्द्र बौद्ध धर्मानुयायी थे पर उन्होंने उसे हिन्दू धर्म का ही एक अंग मात्र माना और उसका सुधरा हुआ रूप समझा। उन्होंने तत्कालीन हिन्दू धर्म प्रधान जनता में कोई मतिभ्रम पैदा नहीं किया। बौद्ध और हिन्दू अभिन्न रूप से एक ही हैं, यही सिद्ध किया।

शैलन्द्रो की समृद्धि, शक्ति और कुशलता की अरब इतिहासकारों ने भूरि-भूरि प्रशंसा की है। सुलेमान, इब्बरो तेह, अबू जैद हसन, मसूरी, अलबरूनी आदि ने अपने संस्मरणों में जो कुछ लिखा है, यदि वह सही हो तो यही मानना पड़ेगा कि शैलेन्द्र वंशीय नैपोलियन और सिकन्दर जैसी शक्ति बनकर उभरे थे। उन्हें बड़े परिणाम में सफलता भी मिली। उन्होंने न केवल शासनतन्त्र सुधारा वरन् सुदूर क्षेत्र को भारत के साथ व्यापक एवं समृद्धि के सूत्रों में भी बाँधा।

दुर्भाग्य से भारत में उन दिनों विशेष रूप से पाई जाने वाली फूट महा व्याधि ने वहाँ भी आ घेरा। सुदूर पूर्व में चोल, चालुक्य, पाण्ड्य वंशीय हिन्दू राजा राज करते थे। उनने शैलेन्द्रो का सहयोग देने की अपेक्षा विग्रह की नीति अपनाई। फलस्वरूप एक प्रकार से गृह-युद्ध आरम्भ हो गया और छोटे-बड़े युद्ध जहाँ-तहाँ उभरने लगे और वे लगभग एक सौ वर्षों तक चले।

फलतः दोनों ही पक्ष निर्बल होते चले गये। जहाँ पुरातन राजतंत्रों को भारी क्षति पहुँची वहाँ शैलेन्द्र भी शक्ति हीन होते चले गये। चीनी इतिहास "मिंग कालीन वर्णन" से पता चलता है कि उस क्षेत्र पर चीनी सरदारों की ललचाई हुई नजर पड़ी और उन्होंने जावा आदि कितने ही क्षेत्रों पर कब्जा कर लिया। जिन शैलेन्द्रों ने "बरबुदूर" और "कलस्सन" जैसे प्रख्यात मन्दिरों का निर्माण किया था, जो सात सौ वर्ष तक उस क्षेत्र का नेतृत्व करते रहे, उनका पन्द्रहवी सदी आते-आते पूरी तरह अन्त हो गया। छुटपुट और कमजोर सरदारियाँ ही जहाँ-तहाँ राज कर रही थी। अव्यवस्था और असुरक्षा का जगह-जगह बोलबाला था।

शैलेन्द्रो के अवसान के उपरान्त उस क्षेत्र में एक नया राज्य उभरा "मलक्का"। उसका परमेश्वर नाम का राजा राज्य करता था। उसके लड़के ने मुसलमान युवती से विवाह करके इस्लाम धर्म स्वीकार कर लिया और अपना नाम बदलकर 'सिकन्दर शाह' रख लिया। कहते हैं कि मुसलमान पत्नी करने के अपराध में हिन्दू समाज ने उसे बहिष्कृत कर दिया। इससे मुसलमान बन जाने के अतिरिक्त उसे और कोई चारा न रहा। प्रतिशोध की भावना से उसने कट्टर पंथी हिन्दू राजाओ पर कड़े आक्रमण किये और सुमात्रा, पहंग, इन्दंगिरि आदि को जीतकर मलक्का नामक इस्लामी राज्य बनाया। इसमें स्याम का भी कुछ भाग जीतकर मिला लिया गया था। सन् १५११ तक इस वंश ने राज्य किया। सिकन्दर शाह के बाद उनके वंशज मुजफ्फर शाह, मंसूर शाह, अलाउद्दीन, सुल्तान अहमद, ने राज्य किया। इस अवधि में इन लोगों ने इस्लाम धर्म को उस क्षेत्र में फैलाने का भरपूर प्रयत्न किया और उसमे आशातीत सफलता भी पाई। अरब देशो के व्यापारी उस क्षेत्र मे आरम्भ से, बहुत दिन पहले से ही बसने लगे थे। उन्होने धर्म प्रचार और धर्म-परिवर्तन मे मलक्का नरेशों को पूरा सहयोग दिया। फलतः शासन तन्त्र इस्लाम धर्मानुयायियों के हाथ चला गया और जनता को भी उसी राह पर चलने के लिये बाध्य होना पड़ा। गुजरात और ईरान से मुसलमान व्यापारी उस क्षेत्र में भारी संख्या मे पहुँचे और मलक्का सुल्तान के अनुग्रह से धन कमाने तथा धर्म विस्तार के लिये हर सम्भव उपाय करने में लगे रहे। उस बीच हिन्दू शासकों की हिन्दू सभ्यता की दयनीय दुर्दशा होती चली गयी। विशालकाय धर्म केन्द्र धूल-धूसरित होते और खण्डहर बनते चले गये। पन्द्रहवी सदी में प्रवेश हुआ इस्लाम धर्म इस क्षेत्र में ३०० वर्षो की अवधि में परिपुष्ट हो गया और अठारहवी सदी में, सुदूर पूर्व के समस्त क्षेत्र मे उसका वर्चस्व छा गया।

सन् १५११ में पुर्तगालियो ने मलक्का पर आक्रमण किया। इसके बाद डच, फ्रांसीसी, अंग्रेज भी उस क्षेत्र मे प्रवेश करते चले गये। इन लोगो का आर्थिक एवं राजनैतिक वर्चस्व उस क्षेत्र पर बढ़ने लगा, जिसका अन्त द्वितीय महायुद्ध के बाद ही हुआ। अब सुदूर पूर्व के प्रायः सभी देश स्वतंत्र हैं। उनमे इस्लाम धर्मानुयायियो की संख्या अधिक है, इसके बाद बौद्धो का नम्बर आता है। हिन्दू धर्म तो नाम मात्र को ही शेष है।

स्वर्णद्वीप समूह तथा उसके समीपवर्ती क्षेत्र के कुछ विशिष्ट देशो तथा क्षेत्रों पर अगले पृष्ठों में थोड़ा अधिक प्रकाश डाला जा रहा है, जिससे पाठको को अधिक विस्तृत जानकारी प्राप्त हो सके।

भारतीय धर्मानुयायी जावा

स्वर्णद्वीप समूह की स्थिति का सिंहावलोकन पिछले पृष्ठो पर प्रस्तुत किया गया है। स्वभावतः उस क्षेत्र की विस्तृत जानकारी प्राप्त करने की उत्सुकता हमें होगी। अस्तु, उस क्षेत्र मे बिखरे देशों के सम्बन्ध मे कुछ और भी विशेष विवरण नीचे प्रस्तुत किये जा रहे है।

"इन्टरनेशनल ज्योग्राफी" ग्रन्थ के लेखक एच. एल. मिल ने सप्रमाण सिद्ध किया है कि जावा निवासी रक्त की दृष्टि से भारतीयों के वंशज हैं। उनकी धार्मिक मान्यताये ब्राह्मण धर्म से प्रभावित है, जावा की भाषा पर सस्कृत का स्पष्ट प्रभाव है।

इतिहासकार टालेमी के अनुसार दूसरी शताब्दी मे भारत और जावा के अत्यन्त घनिष्ठ सम्बन्ध थे। उस क्षेत्र में प्रचलित एक जनश्रुति के अनुसार प्रथम शताब्दी मे सौराष्ट्र का अजिशक योद्धा जावा पहुँचा था और उसने वहाँ सुविस्तृत शासन तन्त्र की स्थापना की थी। पीछे कलिंग और गुर्जर देश के निवासी वहाँ पहुँचते रहे। जावा की वर्तमान राजधानी "बटाविया" है। उसके समीपवर्ती क्षेत्र में 'चिरु अतन' 'जम्बू' 'कवोन' 'कोपि' 'तगु' आदि स्थानो मे जो शिलालेख मिले है, उनमें कितने ही हिन्दू प्रचलनो की चर्चा के साथ-साथ राजा पूर्ण वर्मा के २२ वर्षीय शासन के क्रियाकलापों का भी वर्णन है।

जावा की लम्बाई ६१२ मील है और चौड़ाई ५१ से लेकर १३१ मील तक है। इन दिनों जो छोटे द्वीप जावा में गिने जाते हैं, उन-सब को सम्मिलित करने पर उसका क्षेत्रफल ५१००० वर्गमील हो जाता है। इसमे ४ हजार से लेकर १२ हजार फीट तक ऊँचाई वाले पहाड़ भी है। उनमें कई ज्वालामुखी भी पाये जाते है। कृषि के लिये यहाँ की भूमि बहुत ही उत्तम और उपजाऊ है।

जावा में प्रचलित एक परम्परा के अनुसार वहाँ पर हिन्दू राज्य सन् ५६ ई. में स्थापित हुआ था। टालेमी ने दूसरी शताब्दी मे इसका उल्लेख "जावादिआन" नाम से किया है, जिससे यह मालूम होता है कि इस द्वीप का भारतीय नाम दूसरी शताब्दी से भी बहुत पहले का है, पर किसी हालत मे दूसरी शताब्दी ई. के शुरू मे जावा एक हिन्दू उपनिवेश के रूप में कायम हो चुका था, क्योकि सन् १३२ में वहाँ के राजा देववर्मन ने अपना एक राजदूत चीन भेजा था। पश्चिमी जावा हिन्दू राज्य की स्थापना के सम्बन्ध मे अधिक जानकारी हमे 'पूर्ण वर्मन' के चार शिलालेखों से प्राप्त होती है। उसके पूर्व उसके पिता 'राजधिराज' एवं पितामह 'राजर्षि' राज्य करते थे। उक्त शिलालेख ५वी शताब्दी के माने जा सकते हैं। मध्य जावा में भी एक हिन्दू राज्य कायम था। जिसे चीनी लोग 'होलिंग' (कलिंग) कहते थे। इस क्षेत्र मे भारतीय प्रान्त कलिंग (वर्तमान उत्कल) के निवासियों का प्रभुत्व था। जावा में एक दूसरा हिन्दू राज्य भी कायम था जिसका चीनी नाम 'हो- लो-तान' था। इस राज्य ने एक दूत को सन् ४३० से ४५२ के बीच चीन को भेजा था।

जावा मे भारतीय साहित्य प्राचीन काल मे प्रचलित था। इस साहित्य के फलस्वरूप हिन्द-जावानी साहित्य का उदय हुआ, जो कि उस द्वीप मे हिन्दू उपनिवेशीकरण की एक प्रमुख विशिष्टता थी। भारत के बाहर किसी भी देश में भारतीय साहित्य का अध्ययन इस रूप में नही किया गया, जैसा कि इस देश मे। इसके फलस्वरूप इतना अधिक लाभ इसके अध्ययनकर्त्ताओं को हुआ और उसके बहुत अधिक परिणाम निकले।

जावा मे हिन्दू उपनिवेशो के प्रथम काल मे पूर्णवर्मन के शिलालेख से स्पष्ट है कि इस काल मे संस्कृत भाषा और साहित्य का ज्ञान यहाँ के लोगो को था। द्वितीय काल मे उक्त ज्ञान का पहले से कहीं अधिक गहन और व्यापक रूप में प्रसार हुआ। यह न केवल शिलालेखों से प्रमाणित होता है वरन् उस काल में विनिर्मित स्मारकों से भी सिद्ध होता है।

ये दोनो स्मारक-ब्राह्मणों और बौद्ध धर्मों के हैं। इन स्मारक-मन्दिरों में जिन मूर्तियों की नक्काशी की गयी है, वे अधिकांश में इन भारतीय ग्रन्थों के वर्णनों से ही सम्बन्धित हैं। इस काल मे हिन्दू-जावानी साहित्य के तीन ग्रन्थो की रचना हुई।

हिन्दू उपनिवेशीकरण के तृतीय काल खण्ड-सन् १००० से १५०० के भीतर हिन्द-जावानी साहित्य ने पूर्वी जावा में किदिर या डह, सिंहश्री और मजहपित के राजाओं की संरक्षता में उल्लेखनीय प्रगति और उन्नति की। मजहपित मे मुस्लिम शासन कायम होने के बाद जावा के लोग बड़ी संख्या में बाली चले गये और वहाँ उन्होंने साहित्यिक कार्य जारी रखा।

प्राचीन जावानी-साहित्य में कविता रचना एवं संस्कृत पद्य रचना के नियमों का पालन किया गया है और इन कविताओ का मुख्य विषय भारतीय साहित्य से लिया गया है। इनमे संस्कृत शब्दों और श्लोकों का बहुत उपयोग किया गया है। इस काल का सबसे प्राचीन ग्रन्थ 'संस्कृत गन्थ-अमर माला' का पुरानी जावानी भाषा में लिखा सस्करण है।

इसी काल का प्राचीन जावानी भाषा मे लिखा "रामायण" ग्रन्थ है। यह हिन्द जावानी साहित्य की सबसे सुन्दर एवं प्रसिद्ध रचना है। यह संस्कृत में लिखी रामायण का अनुवाद नही वरन् स्वतंत्र रचना है। इसका प्रातिपाद्य विषय संस्कृत की मूल रामायण से बिल्कुल मिलता है। पर इसमे अग्नि परीक्षा के बाद सीता और राम का मिलन बताया गया है।

जावा का दूसरा महत्त्वपूर्ण प्रसिद्ध भारतीय ग्रन्थ महाभारत का गद्य अनुवाद है जिसकी रचना राजा धर्म वंश के समय मे हुई। सन् ९९६ में "विराट" पर्व" का अनुवाद किया गया । महाभारत का अनुवाद जावानी भाषा में होने से यह उस देश मे लोकप्रिय हो गया। इस महान् ग्रन्थ ने अन्य कई साहित्यिक रचनाओ को विषय-सामग्री प्रदान की। ऐसी रचनाओ मे अर्जुन विवाह जिसकी रचना "मधुकन्व" ने राजा 'औरलंग' की सरक्षकता मे की थी। इसका विषय महाभारत से लिया गया है, जिसमे "निमात कवच" के विरुद्ध मे अर्जुन देवताओ की मदद करता है।

किदिरकाल के शुरू की दो पद्य रचनाएँ कृष्णायन और सुमन सानक हैं। कृष्णायन मे रुक्मिणि हरण की कथा है जबकि "सुमन सानक" में अज की रानी इन्दुमती की मृत्यु सम्बन्धी कथा है।

राजा जयभय के राज्यकाल .(सन् ११३५-११५७) मे प्राचीन जावानी साहित्य की बहुत उन्नति हुई। इस काल का सबसे महत्त्वपूर्ण, सबसे प्रसिद्ध एवं बड़ा ग्रन्थ "भारत युद्ध" जो कि मूल संस्कृति महाभारत के उद्योग पर्व, भीष्म एवं द्रोण पर्व, कर्ण पर्व एवं शल्य पर्व पर आधारित स्वतंत्र रचना है। इसके मूल रचयिता "मपूसेदाह" थे पर इनके अपूर्ण कार्य की पूर्ति "मपूपनुलुह" ने की थी। "मपूपनुलुह" ने एक-दूसरे पद्य ग्रन्थ हरिवंश की भी रचना इसी राज्य काल में की थी इस ग्रन्थ का विषय "कृष्ण जरासन्ध युद्ध" है।

राजा कामेश्वर द्वितीय (११८५ ई०) के सरक्षण मे अत्यन्त प्रसिद्ध ग्रन्थ "स्मर दहन" की रचना की गयी। इस ग्रन्थ का विषय कालिदास के कुमार संभव पर आधारित है। राजा कामेश्वर द्वितीय के राज्य काल में ही दूसरे प्रसिद्ध ग्रन्थ भीम काव्य की रचना हुई :। इसमें प्रतिपाद्य विषय राजा पृथ्वी के पुत्र "भौम द्वारा इन्द्र तथा अन्य देवताओ को परास्त करना" है।

"प्रपंच" द्वारा सन् १३६५ मे मजपहित के समृद्ध राज्यकाल मे एक अनुपम पद्य ग्रन्थ "नागर क्रिरागम". की रचना की गयी। अभी तक जिन पद्य ग्रन्थों का उल्लेख किया गया है। उनका प्रतिपाद्य- विषय अधिकतर भारतीय महान् ग्रन्थ रामायण", "महाभारत" और पुराणो से लिया गया था।

इनके अतिरिक्त एक अन्य जावानी ग्रन्थ "नीति-शास्त्र-कविन" है। जिसे अब बाली मे "नीतिसार" कहा जाता है। इसके बहुत-से जावानी श्लोक भारतीय मूल मे मिलते हैं। इसके नीति वचन संस्कृत के नीतिसार पचतन्त्र, चाणक्य, शतक के विषयो से मिलते हैं। अन्य ग्रन्थों मे "सूर्य सेवन" "गारुडेय मन्त्र" इत्यादि है, जो कि धार्मिक तथा सैद्धान्तिक है। एक अन्य ग्रन्थ ""कोर आश्रम" है, जिसमें महाभारत के प्रतिपाद्य विषय मे काफी परिवर्तन किया गया है। इसी कोटि का दूसरा ग्रन्थ "सार समुच्चय" है, जो कि महाभारत के

अनुशासन पर्व के नीति उपदेशो का प्राचीन जावानी भाषा में अनुवाद है। इसमें महाभारत तथा अन्य भारतीय ग्रन्थ जैसे पंचतंत्र इत्यादि के संस्कृत पद्यो को उद्धृत किया गया है। लोक कथाओं पर "तन्त्री नाम" का ग्रन्थ है जोकि हितोपदेश एवं पंचतत्र पर आधारित है। यद्यपि उसमे कई नई कहानियाँ भी है। इस वर्ग की रचनाये न केवल जावानी भाषा मे वरन् बाली स्यामी, लाओसियन भाषाओ मे भी है । "किदुंग" वर्ग की रचनाये रामायण, महाभारत तथा पुराणो की कथाओ पर आधारित है। "संग सत्यवान" प्रसिद्ध सावित्री प्रसंग पर भाषा का पद्य ग्रन्थ है।

भारत के दो धर्मों— ब्राह्मण धर्म और बौद्ध धर्म का प्रचार स्वर्ण द्वीप में हुआ था और हिन्दू उपनिवेशीकरण के प्रारम्भिक काल मे ही इन दोनो धर्मो ने अपनी जड़ें वहाँ की भूमि में जमा ली थी। जैसे-जैसे शताब्दियाँ बीतती गयी, भारतीय धर्मो ने अपने पूर्ण प्रभाव की विजय-पताका स्वर्ण भूमि मे फैला दी। यह कहना अतिशयोक्तिपूर्ण न होगा कि वे भारतीय उपनिवेश श्रद्धा, निष्ठा, विश्वास एवं धार्मिक क्रियाओ की दृष्टि से अपनी मातृभूमि भारत की प्रायः पूर्ण प्रतिलिपि थे।

८वी शताब्दी के आरम्भिक काल मे ब्राह्मण धर्म का पौराणिक स्वरूप जावा में दृढ़ता के साथ जम चुका था। इसके अनुसार त्रिदेव-ब्रह्मा, विष्णु एवं शिव, उनकी दिव्य शक्तियो तथा उनसे सम्बन्धित अनेक देवी- देवताओं की पूजा का विधान है, जो कि जावा के साहित्य शिलालेखो तथा मन्दिर-स्मारकों के अध्ययन से स्पष्ट रूप मे प्रकट है। गणेश की मूर्ति जावा में बहुत प्रचलित थी, जो कि शिव-पार्वती के पुत्र है। युद्ध देवता-कार्तिकेय भी, जो शिव-पार्वती के पुत्र है, जावा में प्रसिद्ध थे। शिव की पूजा लिग के रूप मे भी की जाती थी। कुछ राजाओं के राज्यकाल में विष्णु की पूजा को बहुत ऊँची प्रतिष्ठा एवं सम्मान प्राप्त था। उनकी शक्ति "श्री या लक्ष्मी" को चार भुजावाली, कमल, अन्न वाली एवं माला हाथ मे लिये हुए दर्शाया गया था। विष्णु के बहुत से अवतारों विशेयकर कृष्ण, राम, मत्स्य, वाराह एवं नृसिंह को मूर्तियो के रूप में दर्शाया गया था। ब्रह्मा की मूर्तियाँ अपेक्षाकृत कम संख्या में थी। ब्रह्मा, विष्णु एवं शिव की एक साथ सम्मिलित त्रिमूर्ति जावा में प्राप्त है। जावा मे "भतारा गुरु" की मूर्ति बहुत लोकप्रिय है। इसको "शिव महायोगिन" का ही प्रतिरूप माना जाता है। जावा में अगस्त्य की पूजा का भी बहुत प्रचलन था, जो कि शिलालेखो से ज्ञात होता है।

इन प्रमुख देवों तथा देवियो के अतिरिक्त अन्य छोटे देवो की मूर्तियाँ भी जावा में उपलब्ध हैं। संक्षेप मे यह कहा जाता है कि हिन्दुओ के प्रायः सभी देवताओ की मूर्तियाँ जावा में मिलती हैं। इस सम्बन्ध मे "क्राफर्ड" का निम्नलिखित विवरण जो एक शताब्दी पूर्व लिखा गया था किसी प्रकार अतिशयोक्तिपूर्ण नही कहा जा सकता—"पीतल तथा पाषाण की इतने विभिन्न प्रकार की असली हिन्दू मूर्तियाँ जावा में उपलब्ध हैं कि मेरा ख्याल है कि हिन्दू पौराणिक ग्रन्थों के उन सभी देवी-देवताओ की मूर्तियाँ जावा मे मौजूद हैं, जिनकी मूर्तियाँ बनना उपयुक्त है।"

जावा मे भारतीय ग्रन्थों पर आधारित धार्मिक साहित्य प्रचुर रूप से उपलब्ध है। उससे प्रकट होता है कि किस तरह पौराणिक हिन्दू-धर्म के अध्यात्म ज्ञान, पौराणिक कथाओ, धार्मिक मान्यताओ एवं दर्शन ने जावा मे अपना पूर्ण प्रभाव जमा लिया था।

सातवी शताब्दी के अन्तिम काल में बौद्ध धर्म की हीनयान शाखा सम्पूर्ण स्वर्ण द्वीप मे प्रचलित थी। परन्तु ८वी शताब्दी में जावा एवं सुमात्रा मे शैलेन्द्र राजवंश के समय हीनयान के स्थान पर महायान शाखा का प्रभुत्व स्थापित हो गया। इसी काल मे "बरबुदुर" व अन्य भव्य मन्दिरो का निर्माण हुआ। जावा और सुमात्रा मे महायान शाखा जनता का बहुत ही लोकप्रिय धर्म बन गयी थी। स्वर्ण द्वीप में उन दिनों बौद्ध धर्म का एक सुदृढ़ केन्द्र स्थापित हो गया था।

बौद्ध धर्म के अन्तर्राष्ट्रीय स्वरूप ने स्वर्ण द्वीप को प्रतिष्ठा तथा महत्व का दर्जा प्रदान किया था और उसे भारत तथा अन्य बौद्ध देशों से निकट सम्बन्ध में जोड़ा था । बंगाल के बौद्ध प्रचारकों का जावा में बौद्धों पर गहरा प्रभाव था। यह एक ऐतिहासिक तथ्य है कि बंगाल के प्रसिद्ध बौद्ध विद्वान "अतिश दीपंकर" (११वी शताब्दी ई०) और काञ्वी के बौद्ध विद्वान

"धर्मपाल" (७वीं शताब्दी) जो कि नालन्दा मे आचार्य थे, बौद्ध साहित्य के अध्ययन के लिए ही स्वर्ण द्वीप गये थे। जावा में बौद्ध साहित्य के अध्ययन के सबूत मे न केवल महत्त्वपूर्ण बौद्ध-ग्रन्थों की प्राप्ति है वरन् "बरबुदुर" और दूसरे धार्मिक स्मारकों की मन्दिर निर्माण प्रणाली भी है, जिससे यह प्रकट होता है कि बौद्ध धर्म के सभी अंगो का विशेष ज्ञान वहाँ के बौद्धों को था । भारत में महायान बौद्ध धर्म को बाद में जो स्वरूप प्राप्त हुआ, वह जावा मे भी प्रचलित हो गया था।

शिव और बुद्ध का निकटतम पारस्परिक सम्बन्ध जावानी धर्म की विशिष्टता थी। 'कुजर कर्ण' तथा 'सुतसोम' ग्रन्थों मे दोनो देवों को एक ही देव के रूप में चित्रित किया गया है। आधुनिक बाली धर्म मे यह विश्वास किया जाता है। कि बुद्ध शिव के अनुज है। दोनों धर्मों के सिद्धान्तो में घनिष्ठ सम्बन्ध कायम है। इस प्रकार जावा मे "शिव—बुद्धवाद" प्रचलित था । इसके अतिरिक्त शिव, विष्णु तथा बुद्ध तीनों का भी एक अखण्ड रूप माना जाता था। इसी प्रकार उनकी शक्तियों को भी एक ही शक्ति की अभिव्यक्ति माना जाता था।

ऐसे प्रमाण मिले है जिनसे सिद्ध होता है कि जावा मे ईसा की प्रथम शताब्दी मे भारत का कलिग नामक व्यक्ति दल-बल सहित स्वर्ण द्वीप में पहुँचा था। उसने व्यापार के साथ स्थानीय लोगो मे घनिष्ठता बढ़ाकर हिन्दू धर्म का विस्तार किया था ।

इण्डोनेशिया की राजधानी जकार्ता वस्तुत यज्ञ कर्ता शब्द का अपभ्रंश है। जिन दिनों वहाँ भारतीय संस्कृति का प्राधान्य था, तब वहाँ यज्ञनुष्ठानों की भी धूम रही होगी । तदनुसार उस नगरी का नाम यज्ञकर्त्ता-जकार्ता पड़ा होगा । इसी प्रकार अन्य प्रमुख नगरों का भी नामकरण हुआ है। जोग जकार्ता प्रम्बनम्, चण्डी, कलाशन आदि नाम ऐसे ही है, जिनमे भारतीय संस्कृति की विशेषताओ का संकेत है।

ईसा की दूसरी-तीसरी शताब्दी मे बौद्ध धर्म वहाँ पहुँचा हीनयान और महायान शाखाओ का यहाँ प्रसार हुआ, पर हिन्दू धर्म और बौद्ध धर्म टकराये नही, उसने मिल-जुलकर अपना कार्य जारी रखा।

जावा मे जो शिलालेख मिले है, वे चौथी शताब्दी के हैं और उनमे वहाँ के पूर्णवर्मा नरेश का राज्य का वर्णन है। चीन के प्राचीन अभिलेखो से स्पष्ट है कि सन् ५०२ में सुमात्रा पर गौतम नाम के राजा का शासन था । फाहियान के लेखानुसार सन् ४२० मे काश्मीर के राजकुमार गुणवर्मन उस क्षेत्र मे बौद्ध धर्म का प्रचार करने पहुँचे थे। उन्होंने जावा मे बौद्ध धर्म का महाविद्यालय स्थापित किया था।

दो चीनी विद्वानें इस क्षेत्र में विद्याध्ययन के लिए आये थे। उनने अपने विवरणों मे इस क्षेत्र मे प्रस्तुत सुन्दर शिक्षा व्यवस्था का वर्णन किया है। सन् ६६४ में हिवनिंग जावा के जुआन भद्र मे पढने आया था और इत्सिंग ने सन् ६७१ मे सुमात्रा के "पालेग बंग नगर" के महाविद्यालय मे संस्कृत भाषा पढ़ने के लिए प्रवेश किया था।

जावा में रामलीला अभिनय में भाग लेना बहुत ही गौरवास्पद माना जाता है। जोग जकार्ता के सुल्तान ने यह अधिकार अपने हाथ में रखा कि रामायण नृत्य-नाटकों में उसका ज्येष्ठ पुत्र सदाराम की भूमिका का अभिनय करे।

जेम्स फर्गुसन के अनुसार जावा मे हिन्दू लोगो का शासन ईसा की प्रथम शताब्दी में ही जम गया था। स्टुआर्ट एलफिन्स्टन ने लिखा है कि सुदूर पूर्व के द्वीपो मे भारतीय लोगो के शक्तिशाली जत्थे आये और उन्होंने उस क्षेत्र मे कितनी ही उत्साहवर्धक हलचले आरम्भ थी। जावा के इतिहासकारो ने देश के उन उत्थानकर्ताओं का नाम "विल्लंग" लिखा है , जिसे 'कलिंग' शब्द का अपभ्रंश ही कहना चाहिए । भारत के कलिंग देश के निवासी वहाँ ईसा से एक शताब्दी पूर्व पहुँचे थे । उन्होने अपनी विजय के उपलक्ष्य मे एक नया सम्वत्सर चलाया था जो कि ईस्वी सन् से ७५ वर्ष पुराना है। जे एफ. स्कण्डल को जावा के 'वेजी' स्थान में जो शिलालेख मिले थे, उनमे कलिंग राज्य का स्पष्ट उल्लेख है।

यों जावा की अपनी भाषा जावानी भाषा है, पर प्राचीन धर्म ग्रन्थ एवं शिलालेख जिस 'पवित्र भाषा' मे लिखे मिलते है, वह संस्कृत की एक शाखा ही कही जा सकती है। रामायण और महाभारत की कथाओ से

वहाँ का प्राचीन साहित्य भरा पड़ा है। उस देश के निवासियो का विश्वास है कि महाभारत जावा की भूमि पर ही हुआ था। उस देश मे देवालयो के जो खण्डहर पाये गये है, उनमे से कुछ के नाम चन्दी (चण्डी) शिव चन्दी विष्णु, चन्दी बुद्ध, चन्दी अर्जुन, चन्दी भीम, चन्दी घटोत्कच, चन्दी सरस्वती, चन्दी सूर्य है। जावा की भाषा मे चन्दी (चण्डी) का अर्थ मन्दिर होता है। वहाँ के पर्वतो के नाम सुमेरु, अर्जुन, रावण और नदियो के नाम सरयू, वृन्दा, प्रयाग, भगवन्ता आदि यही बताते है कि ये भारतीय नामकरण है।

सन् १४७८ मे जावा का राजा ब्रह्म विज्ञान था, मुसलमानो ने उसे मार डाला और उस देश पर कब्जा कर लिया। वे भी अधिक दिन पैर जमाये न रह सके। सन् १५५४ मे पुर्तगालियो ने मुसलमानो को मार भगाया और स्वय उसे हथिया लिया। इसके बाद डच लोगो का दाव लगा और वे जावा के शासक बन बैठे।

विद्वान एलाइस की "ए मानोग्राफी ऑन दी एलीफेन्ट गॉड" मे जावा में उपलब्ध गणेश प्रतिमाओ पर प्रकाश डालते हुए उस देश के प्राचीन निवासियो को हिन्दू धर्मानुयायी ही बताया है। इसके अतिरिक्त (१) "दि रामायण एज स्कलप्चर्ड इन टिलीफस इन जावानीज टेम्पल्स" (२) "दी लाइफ ऑफ बुद्धा ऑन दी स्लूफ ऑफ बोरोबुदुर" (३) "बोरोबुदुर आरकियोलॉजिकल डिस्क्रप्शन" ग्रंन्थो मे जावा क्षेत्र मे फैले हिन्दू धर्म के प्राचीन कालीन विस्तार पर अच्छा प्रभाव डाला गया है। श्री हिमान्शुभूषण के "इण्डियन इन्फ्लुएस आन दि लिटरेचर ऑफ जावा एण्ड बालीज" मे भी इसी प्रकार की बहुमूल्य जानकारियाँ उपलब्ध है।

सुमात्रा-'श्रीविजय' देश

सुमात्रा की लम्बाई १०९० मील, चौडाई २४८ मील और क्षेत्रफल १,६७,४८० वर्गमील है। जनसंख्या ८० लाख, जावा की तुलना मे यह कोई ४ गुना बड़ा है। पहाड़ी उतार-चढ़ाव और नयनाभिराम हरियाली से आच्छादित यह देश भी बहुत सुन्दर मालूम पड़ता है। समुद्री व्यापार में इस देश का बड़ा महत्व है। वहाँ का पुरातत्व विभाग यह बताता है कि सातवी शताब्दी में संस्कृत वहाँ के शिक्षित वर्ग की मान्य भाषा रही है। कहते है कि भारतीयों का सर्व प्रथम प्रवेश इसी क्षेत्र मे हुआ था।

क्षेत्रफल की दृष्टि से यह उस क्षेत्र के सब द्वीपों से बड़ा है। उसे लगभग भारत के मद्रास प्रान्त के बराबर समझा जाना चाहिए। यह द्वीप (जावा) भरणी द्वीप (बोर्नियो) श्रीशलभ द्वीप (सेलीबीस) मधुरा, बाली, लम्बक, संभव आदि जिन द्वीपो का पुराणो में वर्णन आया है, वे सब सुमात्रा के इर्द-गिर्द ही बिखरे मे पडे है।

स्वर्ण द्वीप समूह में प्रवेश करते हुए पहला बड़ा द्वीप सुमात्रा ही आता है, इसका प्राचीन भारतीय नाम 'श्रीविजय' है। बौद्ध सूत्रों मे इसे जम्बूद्वीप भी कहा गया है। उपलब्ध शिलालेख सिद्ध करते हैं कि सातवी शताब्दी मे वहाँ "जय नाग" राजा राज्य करता था और वह बौद्ध था। चीनी सूत्रो के अनुसार सन् ७२४ में सुमात्रा पर श्रीचन्द वर्मा का शासन था। उसका पुत्र चीनी सम्राट से भेट करने के लिये गया था। तत्कालीन चीनी यात्री 'ईच चिग' के लिखे सस्मरणो से उस क्षेत्र पर हिन्दू शासन की पुष्टि होती है।

"फ्लेमबंग" बुद्ध की एक पाषाण प्रतिमा अमरावती शिल्प-कला के आधार पर बनी प्रतीत होती है। इस तथ्य तथा उपरोक्त विवरण के आधार पर यह कहना गलत न होगा कि सुमात्रा मे हिन्दू उपनिवेश ईसा सन् के प्रारम्भिक काल में कायम हुआ था। सुमात्रा मे सबसे पहला हिन्दू राज्य "श्रीविजय" (फ्लेमबंग) था। इसकी स्थापना चौथी शताब्दी या उसके पूर्व हुई थी। इसकी प्रसिद्धि सातवी शताब्दी के अन्तिम काल मे बहुत बढ़ गयी थी। सन् ९८४ मे श्री विजयनाग इसके बौद्ध राजा थे। इस राजा की दो घोषणाये पत्थर पर खुदी हुई प्राप्त हुई है, उनकी प्रतिलिपियाँ भारतीय पुरातत्व विभाग के पास उपलब्ध है।

ईत्सिग ने लिखा है कि दक्षिणी सागर के द्वीपो मे "श्रीविजय" बौद्ध शिक्षा एव विद्या का केन्द्र था और वहाँ के राजा के पास भारत और श्रीविजय के बीच चलने वाले व्यापारी जहाज थे। मलाया प्रायद्वीप के

'लिगोर' क्षेत्र में प्राप्त शिलालेख (सन् ७७५) से प्रकट होता है कि श्रीविजय के बौद्ध राजा का प्रभाव मलाया के बन्दोव खाड़ी तक ७७५ ई० से पूर्व हो गया था। चीनी इतिहास के अनुसार सुमात्रा के "कान-तो-ली" के राजा "वरनोल्ड" ने ४३४ और ४६४ ई० के बीच 'रुद्र' नामक एक राजदूत चीन भेजा था।

सुमात्रा पर लीडेन की "दी ऑरकियालाजी ऑफ हिन्दु सुमात्रा और स्टटोरिहम की ए जावा पीरियड एन सुमात्रन हिस्ट्री" में ऐसे प्रामाणिक वर्णन विस्तारपूर्वक प्रस्तुत किये गये हैं। जो उस क्षेत्र पर भारतवर्ष के सांस्कृतिक आधिपत्य की भली प्रकार पुष्टि करते हैं। इतिहास विज्ञानी "ऐलफिन्स्टन" के अनुसार भारतीय राजा 'सुमित्रा' ने उस देश में शासन व्यवस्था कायम की और उसी के नाम पर उसका नाम 'सुमात्रा' पड़ा।

उस देश में पाये जाने वाले प्राचीन खण्डहरों में से अधिकांश शिव मंदिर हैं। कुछ बौद्ध मंदिर हैं, पर वे संख्या की दृष्टि से बहुत कम हैं। सुमात्रा में अभी भी राम, सीता, सुग्रीव, रुद्र शिव, महादेव, महेश, भवानी, दुर्गा के मंदिर मौजूद है और उनकी यथावत् पूजा होती है। उन देशों में मुसलमानो की आबादी भी काफी है। पर उनके रीति-रिवाज हिन्दुओं से मिलते-जुलते है।

सुमात्रा के पास ही बाली और लम्बर द्वीप है, इनमें हिन्दू धर्मानुयायी रहते हैं। ये शैव हैं। वर्ण व्यवस्था प्रचलित है।' ॐकार जप, मूर्ति पूजा, शालिवाहन, संवत्सर का प्रचलन तथा प्रथा-परम्पराओं में भारतीय संस्कृति की छाप मौजूद है। ॐ शिव चतुर्भुज का मन्त्र-जप लोगों द्वारा बड़ी श्रद्धापूर्वक किया जाता है।

बोर्नियो में भारतीयता

जावा के समीप ही एक बड़ा द्वीप है—बोर्नियो। जावा की तुलना मे उसका क्षेत्रफल प्राय. आठ गुना अधिक है, किन्तु आबादी ५० लाख के लगभग ही है। इसमें "महाकाम" नदी के तट पर जिले मे "मुअर कमन" स्थान पर चार शिलालेख मिले है। वे चौथी शताब्दी के है। इनमे राज मूलवर्मन द्वारा किये गये ७ बहु सुवर्णक यज्ञो की प्रशस्ति का वर्णन है। इसी क्षेत्र मे एक सोने की विष्णु प्रतिमा मिली है। कोम्वेग की विशाल गुफा में दो प्राचीन भवन मिले है जिनमे शिव, गणेश, स्कन्द, महाकाल, ब्रह्मा, अगस्त्य आदि की पत्थर की बनी बारह प्रतिमायें पायी गयी है। यह मूर्तियाँ विशुद्ध भारतीय शैली की हैं। इसी प्रकार सपडक, सगद, वतुपहल आदि में मिले लेखो से सिद्ध होता है कि चौथी शताब्दी में वहाँ हिन्दू राजाओं का शासन था और प्रजा मे हिन्दू धर्म फैला था।

बोर्नियो में उपनिवेशीकरण के प्रमाण मे संस्कृत के सात शिलालेख कोती जिले में राम मन्दिर के खम्भों पर खुदे मिले थे। ये खम्भे यज्ञ-यूप के रूप ब्राह्मणों ने स्थापित किये थे और इनमें राजा मूलवर्मन के यज्ञ की प्रशसा की गयी थी। ये शिलालेख सन् ४०० के हैं। इनसे प्रकट होता है कि उस समय बोर्नियो में ब्राह्मण धर्म का प्रभाव अच्छी तरह जम गया था। इसके अतिरिक्त कोटि जिले में "कोटा बंगन" स्थान में गुप्त कला पर आधारित बुद्ध की कॉसे की एक प्रतिमा मिली है। पूर्वी बोर्नियो के अन्य क्षेत्रो से भी प्राचीन हिन्दू संस्कृति के अवशेष मिले है। पश्चिमी बोर्नियो की 'कपुअस' नदी की घाटी मे हिन्दू राज्यकाल के पुरातत्वीय अवशेष पाये गये है। इनसे यह स्पष्ट विदित होता है कि इस क्षेत्र मे एक समृद्धशाली हिन्दू राज्य दीर्घकाल तक कायम रहा। बोर्नियो के विभिन्न क्षेत्रों में हिन्दू लोग ईसा की प्रारभिक शताब्दियों में बसे हुए थे। बोर्नियो, जिसे चीनी लोग 'पों-नी' नाम से जानते थे, वायु पुराण (अध्याय ४८) मे वर्हिण द्वीप के नाम से वर्णित है।

बोर्नियो की गुफाओं मे अब भी भारतीय अवशेष विद्यमान है। वहाँ अगस्त्य ऋषि की पूजा होती है।

आज का अनाम, प्राचीन काल का चम्पा-हिन्दू राज्य

सुदूर पूर्व के वर्तमान अनाम देश का प्राचीन नाम चम्पा है। वोचिन्ह पहाडो पर उपलब्ध एक शिलालेख से स्पष्ट है कि उस देश पर सन् १९२ मे श्रीमान नामक हिन्दू राजा का राज्य था। इसके बाद सन् ३८० मे धर्मराज भद्रवर्मा के शासन के प्रमाण मिलते है। इसका पुत्र गगराज था, जो वैरागी हो गया। इस अव्यवस्था से चीनियों ने लाभ उठाया। उनसे आक्रमण

करके भारीकूट खयेट पर कब्जा जमाया, किन्तु यह स्थिति देर तक न रही, आक्रमणकारी खदेड़ दिये गये। ५२९ मे रुद्रवर्मा शासनारूढ़ हुआ। इसके बाद शभु वर्मा, प्रकाश वर्मा, विक्रान्त वर्मा का राज्य वर्णन मिलता है। इस वंश का शासन सन् ८७० तक चलता रहा।

इसके बाद भृगुवंशी राजाओ की परम्परा आरम्भ हुई। पहला राजा पृथ्वीचन्द्र वर्मा था। इन्द्र वर्मा तृतीय, परमेश्वर वर्मा, श्रीहरि वर्मा, जयसिंह वर्मा, जय परमेश्वर वर्मा, जय इन्द्र वर्मा इसी वंश के थे। सन् ११९२ तक वे लोग शासन करते रहे। इसी बीच कम्बोडिया अनाम पर कई आक्रमण हुए, जिससे दोनो देशों को भारी क्षति पहुँची। सन् १२८२ में मगोल लोगो का आक्रमण हुआ। इन लोगों से निपटते हुए यह वंश १३९० तक अपना शासन चलाता रहा। प्राचीन काल मे चम्पा और अनाम दो पृथक् देश होने का विवरण मिलता है, पर वे इन दिनो एक ही बन गये है। इसके बाद वहाँ अनामी वश के बौद्ध राजा राज करने लगे।

चम्पा राज्य की सभ्यता के आदि सस्थापक चाम वर्ग के लोग अभी भी पूरी तरह समाप्त नही हुए हैं। दक्षिण वियतनाम मे अभी भी उनकी सख्या ५००० से ऊपर है। उनकी सभ्यता अभी भी हिन्दू धर्म के अनुरूप है। किसी समय इन्ही के पूर्वजो का समस्त वियतनाम पर अधिकार था। सन् १९२ के अभिलेखों मे इनके शौर्य, साहस और वर्चस्व का विवरण भली प्रकार उपलब्ध है। चम्पा का नामकरण "चम्पक" जिन्हें अब "चाम" कहते है, के वर्चस्व को ध्यान मे रखकर किया गया प्रतीत होता है।

मृतको का दाह-सस्कार, कन्याओं को उत्तराधिकार, मातृवंश प्रचलन, कर्ण कुण्डल, उत्तरीय वस्त्र, पूजा उपासना जैसी विशेषताओ को देखते हुए उन्हे उस क्षेत्र मे प्रचलित वर्तमान सभ्यता से एक तरह पृथक् ही कहा जा सकता है। यों उस क्षेत्र मे अभी इस नाम का वर्चस्व है और वहाँ के निवासियो का आचार-विचार, व्यवहार भिन्न है। इतने पर भी यह थोडे-से लोग अपनी प्राचीन विशेषताओं को अक्षुण्ण रखे हुए है, इस उनके जातीय गौरव की अद्‌भुत विशेषता ही कहा जायेगा।

दानांग चन्दरगाह पर चाम सभ्यता का अच्छा संग्रहालय है, जिसे देखने से उस देश की प्राचीन गौरव गाथा के चित्र आँखों के सामने घूम जाते हैं। चम्पा राज्य में अभी भी ऐसे प्राचीन मन्दिर कितने ही उपलब्ध हैं जिन पर भारतीय सभ्यता की स्पष्ट छाप है। सेगाँव से उत्तर की ओर 'ह्यू' नगर के समीपवर्ती क्षेत्र में ऐसे अवशेष बड़ी सख्या में उपलब्ध हैं, जिन्हे बिना किसी सकोच के हिन्दू धर्मानुयायियों द्वारा विनिर्मित कहा जा सकता है।

समझा जाता है कि "चम्पा" नाम उस देश का इसलिये पड़ा कि वहाँ "चाम" जाति के लोग निवास करते थे। आदिवासियो को किरात कहा जाता था। चाम और किरातों का प्राचीन इतिहास उपलब्ध नही है, पर जो कुछ प्रमाण सूत्र मिले हैं उनसे प्रतीत होता है कि वे आर्य वंशी लोग थे और भारतीय धर्म-मान्यताओं का अनुकरण करते थे। उनका व्यवस्थित इतिहास दूसरी शताब्दी से लेकर अब तक का उपलब्ध है। इस अवधि मे वहाँ भारतीयो के अथक प्रयत्नो से उस क्षेत्र का सर्वतोमुखी विकास उभरता चला आया है। शासन तंत्र वहाँ दूसरी सदी में स्थापित हुआ। उसका सस्थापक भारतीय राजा श्रीमान था। इसके बाद वहाँ 'वर्मन' उपाधिधारी राजा राज्य करते चले आये। शासन तन्त्र की स्थापना के समय ही वहाँ 'माईसन' और 'डागडुग' के भव्य मन्दिर बने, जिनमे प्रधानता शिव के साथ अन्य देवताओ की प्रतिमाये प्रतिष्ठित थी।

चम्पा का जो ऐतिहासिक विवरण प्राप्त है उसके अनुसार वहाँ भारतीय समाज व्यवस्था के आधार पर ही प्रथा परम्परायें प्रचलित रही है। वर्ण-व्यवस्था, पर्व, त्यौहार, वेष-भूषा, विवाह-अन्त्येष्टि आदि की रीति-नीति वैसे ही थी जैसी भारत मे पाई जाती थी। उसके प्रमाण तत्कालीन साहित्य, अवशेष, लेख एवं चित्र देखने से सहज ही प्रचुर परिमाण मे मिल जाते हैं। उस देश की राजभाषा सस्कृत रही है। महत्त्वपूर्ण राजकीय आज्ञापत्र तथा शिलालेख उसी भाषा में लिखे जाते रहे है। अब तक चम्पा मे लगभग २०० शिलालेख मिले है। उन सबकी भाषा सस्कृत तथा लिपि देवनागरी है। उस देश के राजा न केवल धर्मनिष्ठ होते थे, वरन् उन्होंने

धर्मशास्त्रों के गहन अध्ययन में भी विशेष प्रतिष्ठा प्राप्त की थी। संस्कृत के विद्वान तो उनमें से अधिकतर होते ही थे।

चम्पा मे प्राचीन काल के राजाओ में भद्रवर्मन एक बहुत ही प्रसिद्ध राजा थे। उनका पूरा नाम "धर्ममहाराज श्री भद्रवर्मन" था। उनका राज्य उत्तरी तथा मध्य चम्पा, अमरावती एवं विजय प्रान्तों और सम्भवत; दक्षिण में पाण्डुरंग प्रान्त पर भी कायम था। उनकी प्रसिद्धि का मुख्य कारण यह था कि उन्होने "माईसन" मे शिव मन्दिर का निर्माण करवाया। यह मन्दिर चाम लोगों का राष्ट्रीय पूजास्थल बन गया। राजा भद्रवर्मन ने मन्दिर निर्माणकर्ता के नाम पर मूर्ति का नामकरण करने की परम्परा चलायी, जो कि बाद के काल में एक सर्वमान्य प्रथा बन गयी। प्राप्त शिलालेखों में यह वर्णन मिलता है कि राजा भद्रवर्मन चारों वेदों के ज्ञाता थे। इससे यह प्रकट होता है कि वे एक अच्छे विद्वान थे।

सन् ६०५ ई० मे चम्पा के राजा शम्भु वर्मन पर चीनी आक्रमण हुआ, जिसमें चीनी सैनापति लियुफांग ने शम्भु वर्मन को बुरी तरह परास्त किया और चम्पा की राजधानी से १३५० बौद्ध ग्रन्थ अपने साथ चीन ले गया।

चम्पा में प्रथम राजवश राजा रुद्रवर्मन प्रथम के द्वारा सन् ५२९ ई० मे स्थापित किया गया था। इस राजवश के अन्तिम राजा रुद्रवर्मन द्वितीय थे, जिनकी मृत्यु सन् ७४९ ई० मे हुई। इस राजवंश के सम्बन्ध मे बहुत-से शिलालेख "माईसन" के पास के क्षेत्र में पाये गये है।

रुद्रवर्मन द्वितीय के बाद चम्पा राज्य पर पाण्डुरग राजवश का आधिपत्य कायम हुआ। इस राजवंश के सस्थापक "राजा पृथ्वीचन्द्र वर्मन" थे, इनके उत्तराधिकारी "राज सत्यवर्मन" थे। इनके राज्यकाल मे जावा के समुद्री आक्रमणकारियो ने "मुखलिगमूर्ति" से युक्त मन्दिर को विशेष रूप से ध्वस्त कर दिया। इसलिये राजा सत्यवर्मन ने "शिवमुख लिंगम्" की एक नयी मूर्ति अन्य देवताओं की मूर्तियो के सहित सन् ७४८ ई० में स्थापित की।

राजा सत्यवर्मन के बाद राजा इन्द्रवर्मन के राज्यकाल मे भी जावा के समुद्री आक्रमणकारियों ने "भद्राधिपितश्वर" का मन्दिर जला दिया था। राजा इन्द्रवर्मन ने इस मन्दिर में फिर से "इन्द्रभद्रेस्वर" नाम की नयी मूर्ति की स्थापना सन् ७९९ ई० में की। उन्होंने वारापुर में इन्द्रभोगेश्वर एवं राजा सत्यवर्मन द्वारा निर्मित एक मन्दिर मे "इन्द्रपरमेश्वर" की मूर्तियाँ सन् ८०१ ई० स्थापित की। अन्त मे राजा इन्द्रवर्मन ने "शंकर-नारायण" देव (एक ही देह में शिव और हरि का संयुक्त स्वरूप) को बहुमूल्य दान का समर्पण किया। ऐसा प्रतीत होता है कि राजा इन्द्रवर्मन के पश्चात् एक नया राजवश "भृगु-राजवंश" के नाम से राजा इन्द्रवर्मन द्वितीय द्वारा स्थापित किया। शुरू मे इसकी उपाधि "श्री लक्ष्मीन्द्र भूमीश्वर-ग्रामिस्वामिन" और बाद में चम्पा पर आधिपत्य कायम होने के पश्चात् "श्रीजय इन्द्र वर्मा महाराजधिराज" थी। डांगुडुग शिलालेख से पता चलता है कि इसने एक बौद्ध मन्दिर और एक बौद्धमठ का निर्माण कराया था। इससे यह प्रकट होता है कि राजा इन्द्रवर्मन द्वितीय का झुकाव "बौद्ध धर्म" के प्रति था, जो कि इसका परम्परागत विश्वास "शैवमत" के प्रति था।

उपरोक्त शिलालेख से यह भी प्रकट होता है कि राजा इन्द्रवर्मन द्वितीय ने शिव की मूर्ति की स्थापना की थी। इस शिलालेख में "शंभुभद्रेश्वर" की स्तुति लिखी हुई थी।

राजा भद्रवर्मन तृतीय (सन् ९०८ ई० ९१०) के राज्य काल के पुत्र इन्द्रवर्मन तृतीय के बारे में कहा जाता है कि वे हिन्दूधर्म के छहो दर्शन शास्त्रो, बौद्धधर्म, पाणिनि-व्याकरण तथा उसके भाष्य-"काशिका" के बहुत बड़े विद्वान थे।

सन् ९६५ ई. में राजा जयइन्द्रवर्मन प्रथम ने पो-नगर के मन्दिर का जीर्णोद्धार किया और उसकी भगवती की स्वर्ण मूर्ति जिसे कम्बुज-आक्रमणकारी उठा ले गये थे। उसके स्थान पर पत्थर की मूर्ति को स्थापना की।

राजा जयइन्द्रवर्मन, इन्द्रवर्मन चतुर्थ, हरिवर्मन द्वितीय (९८९ ई०), विजय श्री (९९९), श्रीहरि वर्मा देव तृतीय (१०१० ई) परमेश्वर वर्मन द्वितीय,

"श्रीविक्रान्त वर्मन चतुर्थ (१०३०ई.), जयसिह वर्मन, "जय परमेश्वर वर्मा देव ईश्वर मूर्ति" भद्रवर्मन तृतीय, रुद्र वर्मन तृतीय हरिवर्मन, चतुर्थ अथवा "श्रीहरि वर्मा देव प्रिंस, थान-यान विष्णु मूर्ति या माधव मूर्ति या देवतामूर्ति"। इनके सम्बन्ध मे जानकारी "माइसन-शिलालेख" से प्राप्त होती है। इनकी मृत्यु सन् १०८० ई० मे हुई। इनकी मृत्यु होने पर वहाँ की प्रथानुसार इनकी रानियाँ चिता मे कूदकर भस्म हो गयी। इनके बाद जय इन्द्र वर्मा देव परमराजधिराज, हरिवर्मन पचम (सन् १११३ ई०) जयइन्द्र तृतीय (सन् ११३९ ई०) रत्नभूमि विजय (११४७ ई०), जयइन्द्र वर्मन चतुर्थ, जय इन्द्रवर्मन पचम, जय परमेश्वर वर्मन द्वितीय (१२५२ ई०), जयसिह वर्मा देव चतुर्थ (१३९०-१४००), वीर भद्र वर्मन, (१४४१ ई० मृत्यु) महाविजय आदि।

यहाँ के मन्दिरो मे साधु लोग सेवकगण भारतीय लगोटी पहने हुए चित्रित किये गये है। यहाँ वैवाहिक-आदर्श, वैवाहिक-संस्कार तथा पति-पत्नी-सम्बन्ध भारत के अनुरूप थे। भारत में प्रचलित त्यौहारो मे से बहुत-से त्यौहार यहाँ लोकप्रिय थे। चाम लोगो का मृतक संस्कार भारत में प्रचलित मृतक संस्कार के ही अनुरूप था।

चम्पा मे भारतीय साहित्य बहुत प्रचलित था। यहाँ की राज्य भाषा सस्कृत थी। चम्पा मे अभी तक प्राप्त १०० से अधिक शिलालेखो से यह तथ्य प्रमाणित होता है। ये शिलालेख ऐसी वर्णमाला मे लिखे गये थे जो कि भारत मे प्रचलित थी। चम्पा मे भारतीय ग्रन्थ बडी सख्या मे लाये गये थे और उमका अध्ययन किया जाता था। नये संस्कृत ग्रन्थो की यहाँ रचना भी की गयी थी। इनमे से एक ग्रन्थ के नाम के सम्बन्ध में पता चला है कि और उसके अश भी उपलब्ध हुए है।

चम्पा के राजागण स्वयं साहित्यिक कार्यो मे अग्रणी रूप से रुचि लेते थे । राजा भद्रवर्मन के सम्बन्ध में कहा जाता है कि वह चारों वेदो, बौद्ध-दर्शन, पाणिनि व्याकरण और शैवों के सिद्धान्त एवं आख्यान मे पारंगत था। राजा श्रीजय इन्द्र वर्मा देव चतुर्थ व्याकरण, ज्योतिष, महायान दर्शन और धर्मशास्त्रों, विशेषकर नारदीय एवं भार्गवीय का विद्वान था।

उपरोक्त विषयो के अतिरिक्त शिलालेखो से यह स्पष्ट है कि चम्पा मे रामायण, महाभारत, शैव, वैष्णव एवं बौद्ध धार्मिक साहित्य, मनुस्मृति तथा पुराणो का अध्ययन बड़ी रुचि के साथ किया जाता था। संस्कृत शिलालेखो की शैली से यह प्रकट होता है कि प्राचीन संस्कृत साहित्य, जिसमे सस्कृत काव्य तथा गद्य सम्मिलित है, का पर्याप्त ज्ञान चम्पा के विद्वानो को था।

चम्पा मे हिन्दू त्रिदेवो मे शिव को सर्वोच्च स्थान प्राप्त था। प्राचीन चम्पा में माइसन और-पो-नगर मे स्थिति दोनो मन्दिर-समूह शैव देवताओ को समर्पित है। बहुत-से शिलालेखों मे वर्णन किया गया कि त्रिदेवों मे शिव प्रधान हैं और वे देवो के भी देव "महादेव" हैं। शिव के सामने इन्द्र, दाहिनी ओर ब्रह्मा पीछे चन्द्रमा और सूर्य एवं बाँयी ओर तारागण चित्रित किये गये हैं। शिव का केवल निराकार रूप ही यहाँ प्रचलित नही था वरन् शिव का भारतीय साकार स्वरूप भी (पौराणिक गाथाओ के सहित) प्रचलित था।

चम्पा मे शिव की मूर्ति मनुष्य की आकृति तथा लिंग दोनो रूपो मे बनी हुई है। भारत के अनुरूप ही यहाँ भी शिव मूर्ति की अपेक्षा शिवलिंग की पूजा अधिक प्रचलित थी।

एक प्राचीन शिवलिग की पूजा चम्पा मे राष्ट्रीय देव के रूप मे की जाती थी। यह क्रम चम्पा के सम्पूर्ण इतिहास काल मे बराबर जारी थी। इस लिंग की स्थापना ४वी शताब्दी के अन्त मे अथवा ५वी शताब्दी के आरम्भिक काल में राजा भद्रवर्मन द्वारा की गयी थी। इसका नाम भद्रेश्वर रखा गया था और इन्हे माइसन के मन्दिर मे स्थापित किया गया। माईसन का मन्दिर राष्ट्रीय देवालय तथा भव्य मन्दिर समूह का केन्द्र बन गया। यह मन्दिर ४७८ और ५७८ के बीच किसी समय जला दिया गया था। परन्तु राज शंभु वर्मन द्वारा इसका जीर्णोद्धार किया गया। राज शभु वर्मन ने प्रचलित प्रथा के अनुसार नयी मूर्ति का नाम 'शंभु भद्रेश्वर' रखा। शभुवर्मन के बाद राजाओ, जैसे प्रकाश धर्म, इन्द्रवर्मन द्वितीय तथा दूसरे राजाओ मे उक्त देवो के देव

की स्तुति मे स्तोतो की रचना करवाने एवं मन्दिर को अधिक से अधिक बहुमूल्य दान देने मे परस्पर मे प्रतिस्पर्द्धा की गयी थी। ये देवों के देव चम्पा राज्य के सरक्षक-देव के रूप में पूजित किये जाते थे।

ग्यारहवी शताब्दी के मध्य "श्रीशानभद्रेश्वर" की पूजा राष्ट्रीय देव के रूप मे होने लगी। श्रीशानभद्रेश्वर सम्भवत. शंभुभद्रेश्वर का ही नया नाम था। जय इन्द्रवर्मन चतुर्थ ने श्रीशान-भद्रेश्वर के मन्दिर को चॉदी से अलंकृत किया और मन्दिर के शिखरो को सोने से मढ़ा।

शिवलिंग जिसे चम्पा में राष्ट्रीय देव की प्रतिष्ठा प्राप्त थी, के अतिरिक्त अन्य छोटे देवताओ की मूर्तियॉ भी यहॉ प्राप्त हुई है। इनमे सबसे अधिक उल्लेखनीय पो-नगर मे स्थिति शंभु-मुखलिंग है। ८वी शताब्दी ईस्वी के एक शिलालेख से प्रकट होता है कि इस मुखलिंग की स्थापना राजा विचित्र सागर द्वारा की गयी थी। अन्य दो शिलालेखो से इनकी स्थापना की निश्चित तिथि के सम्बन्ध में ज्ञान होता है। इसके अनुसार इसकी स्थापना द्वापर युग के ५९११वे वर्ष मे अर्थात् करीब १७८०५०० वर्ष पूर्व हुई थी। सन् ७७४ ई. मे यह लिंग ध्वस्त कर दिया था, पर राजा सत्यवर्मन ने इस पुनर्स्थापित किया और इसका नाम सत्यमुखलिंग रखा गया।

चम्पा के राजागण प्राचीन काल मे इन प्रसिद्ध लिंगों को न केवल दान देने एवं इनका संरक्षण करना अपना पवित्र कर्तव्य मानते थे, वरन् नये लिगो की स्थापना को भी अपना धर्म मानते थे। इस तरह से एक सर्वमान्य प्रथा सी बन गयी थी कि जब कभी कोई राजा नयी मूर्ति की स्थापना करता था, तब उस नयी मूर्ति के साथ राजा का नाम जोड दिया जाता था। भारत मे इस प्रथा के सम्बन्ध मे जानकारी थी।

शिव के साथ अन्य बहुत-से देवी-देवताओ को जोड़ दिया था। इस सबो मे शिव की "शक्ति" का स्थान सबमें अधिक महत्त्वपूर्ण था। इन्हे उमा, गौरी, भगवती, देवी एव महादेवी नामो से सम्बोधित किया जाता था। उन्हे मातृ लिगेश्वरी एवं भूमीश्वरी भी कहा जाता था।

ऐसा प्रतीत होता था कि चम्पा के दक्षिण क्षेत्र, "कोठारा" मे शक्ति पूजा बहुत व्यापक रूप मे प्रचलित थी। यहॉ यूप-नगर देवी अथवा भगवती "कोठारेश्वरी" की मूर्ति पो-नगर के मन्दिर मे स्थापित थी। यह मन्दिर चाम लोगो का राष्ट्रीय पूजास्थल बन गया था। इसकी तुलना शभु भद्रेश्वर अथवा श्री शानभद्रेश्वर-मन्दिरो से की जा सकती थी।

शिव पूजा के साथ सम्बद्ध दूसरे देवता 'गणेश' या 'विनायक' थे। चम्पा मे गणेश की मूर्तियॉ इतनी अधिक सख्या में विद्यमान है कि ऐसा प्रतीत होता है कि चम्पा मे गणेश की पूजा उनकी माता उमा की पूजा से अधिक लोकप्रिय थी।

चम्पा के तीसरे लोकप्रिय देवता 'कार्तिक' या 'कुमार' थे। अभी तक इनकी ४-५ मूर्तियॉ प्राप्त हुई है। इनमें से दो मूर्तियो के साथ उनका वाहन 'मोर' भी है। शिव और उमा के वाहन 'नदिन' की मूर्तियॉ भी मन्दिरों मे बड़ी सख्या मे पायी जाती है।

चम्पा में वैष्णव धर्म को प्रतिष्ठा का वह स्थान प्राप्त नही था, जोकि शैव धर्म को प्राप्त था , फिर भी चम्पा मे वैष्णव धर्म का एक महत्त्वपूर्ण स्थान माना जाता था। विष्णु को विभिन्न नामो से जैसे 'पुरुषोत्तम' 'हरि' 'माधव' 'गोविन्द' से संबोधित किया जाता था। परन्तु भारत की तरह ही यहॉ भी विष्णु भगवान के अवतारो को स्वय विष्णु से अधिक महत्व दिया जाता था। इन अवतारो मे राम और कृष्ण का उल्लेख बार-बार आता है। ऐसा विश्वास किया जाता है कि विष्णु ने अपने को ४ रामो अर्थात् राम और उनके तीन भाई के रूप मे विभाजित कर दिया था। कृष्णावतार मे विष्णु की वीरतापूर्ण लीलाओ की बहुत प्रतिष्ठा है।

चम्पा के राजागण अपनी तुलना विष्णु से करने मे बहुत हर्षित होते थे। कभी-कभी वे स्वय को विष्णु का अवतार मान लेते थे। इस प्रकार राजा जय रुद्र वर्मन को विष्णु का अवतार माना जाता था और उनका पुत्र "श्रीजयहरिवर्मदेव शिवानन्दन" स्वय को विष्णु का विशेष अवतार मानता था। विष्णु के सम्बन्ध मे यह मान्यता थी कि वे चारभुजा वाले देव है, जिनका वाहन गरुड है। परन्तु कभी-कभी वे क्षीर सा र पर असख्य फन वाले "शेषनाग-वासुकि" पर शयन करते है।

विष्णु की शक्ति के रूप मे लक्ष्मी चम्पा की प्रसिद्धि देवी थी। इन्हे 'पद्मा' एवं 'श्री' नामो से भी संबोधित किया जाता था। इनका उल्लेख शिला-लेखो मे भी मिलता है।

शिव के वाहन—'नन्दिन' के समान ही विष्णु के वाहन—'गरुड़' की मूर्ति भी चम्पा मे लोकप्रिय थी।

चम्पा के शिलालेखो मे हिन्दू–त्रिदेवो के तीसरे देव, "ब्रह्मा" का सृष्टिकर्ता के रूप मे उल्लेख मिलता है, परन्तु इन्हे कोई विशेष प्रतिष्ठा का स्थान चम्पा में प्राप्त नही था। ब्रह्मा की मूर्ति की विशेपता थी, उनका चार मुखो वाला होना, हाथ में माला और कमल की नाल का होना और साथ मे वाहन का हंस के रूप में होना।

यद्यपि हिन्दू त्रिदेवों-ब्रह्मा, विष्णु एवं महेश की ही विशेष रूप से पूजा की जाती थी, फिर भी छोटे देवी-देवताओं जैसे— इन्द्र, यम, चन्द्र, सूर्य, कुबेर एवं सरस्वती की पूजा भी की जाती थी।

चम्पा मे शिव, विष्णु आदि की मूर्तियो के बावजूद, निराकार परमात्मा की भी धारणा विद्यमान थी, जिसका उल्लेख एक शिलालेख में मिलता है। चम्पा मे यज्ञो के करने पर विशेष जोर दिया जाता था। यज्ञों की महिमा की प्रशसा बार-बार की गयी थी। ऐसा भी प्रतीत होता है कि भारतीय तत्वचिन्तन के निवृत्ति मार्ग का चाम लोगों पर गहरा प्रभाव पड़ा था।

शिलालेखो से यह ज्ञात होता है कि चम्पा के राजाओ एवं कुलीन जनो ने किस तरह संसार के सभी पदार्थों-जैसे धन, वैभव, सत्ता तथा सांसारिक लाभों की क्षण-भंगुरता एवं नश्वरता की भावना से प्रेरित होकर धार्मिक पुण्य कर्मों को, पाप कर्मों के प्रायश्चित स्वरूप एवं मोक्ष प्राप्ति हेतु अथवा शिव लोक प्राप्त हेतु प्रधान कर्तव्य माना था।

चम्पा मे 'बुद्ध विभिन्न नामों जैसे जिन, लोकनाथ, लोकेश्वर, सुगत, शाक्यमुनि, अमिताभ, वज्रपाणि, वैरोचन एव प्रमुदित लोकेश्वर से संबोधित किये जाते थे। चम्पा के लोगो पर बौद्ध धर्म का प्रभाव काफी गहराई से था। इस तथ्य की पुष्टि एक ऐतिहासिक घटना मे होती है कि विजयी चीनी सेनापति लिय-फंग सन् ६०५ ईस्वी में १३५० बौद्ध ग्रन्थ चम्पा से लूटकर अपने साथ चीन ले गया था।

यह प्रकट है कि चम्पा में बौद्ध धर्म को राजकीय संरक्षण एवं सहायता पर्याप्त रूप से प्राप्त थी। फलस्वरूप बुद्ध की मूर्तियाँ तथा बौद्ध मन्दिर राजाओं एवं चम्पा निवासियों द्वारा निर्मित किये गये। चम्पा में बौद्ध-भिक्षुको का शक्तिशाली संघ विद्यमान था। जनश्रुति के आधार पर ज्ञात होता है कि चम्पा राज्य के विभिन्न भागों मे बौद्ध मठों का निर्माण हुआ था।

राजा "श्री जय इन्द्रवर्मन" ने सन् ८७५ ईस्वी मे "लोकेश्वर" बुद्ध की मूर्ति का, जिसे उनके नाम पर "लक्ष्मीन्द्र लोकेश्वर" कहा जाता था, स्थापित किया। उसने बौद्ध-भिक्षुओ के लिये एक बौद्ध मठ का भी निर्माण करवाया था। यह प्रकट है कि "डाग-डुग" बौद्ध धर्म का एक महत्त्वपूर्ण केन्द्र था। वहाँ की खुदाई करने पर एक बौद्ध मन्दिर का अवशेप प्राप्त हुआ है, जिसकी लम्बाई, चौड़ाई एवं ऊँचाई चम्पा के सबसे बड़े "ब्राह्मणीय मन्दिर" से भी अधिक है। खण्डहरों के बीच मे से बुद्ध की बहुत-सी मूर्तियाँ प्राप्त हुई हैं। डांगडुंग मे प्राप्त बुद्ध की एक प्रतिमा करीब पाँच फीट ऊंची है। डांगडुग में ही बुद्ध की एक सुन्दर खड़ी मूर्ति कांसे की बनी हुई है। बुद्ध की यह सुन्दर मूर्ति चम्पा मे अभी तक प्राप्त मूर्तियो में कला की दृष्टि से सर्वश्रेष्ठ है। चम्पा मे धार्मिक विकास की यह खास विशेपता थी कि वहाँ प्रारम्भ से अन्त तक विभिन्न धार्मिक सम्प्रदायो एव धर्मों में धार्मिक सहिष्णुता का उदार भाव विद्यमान था। चम्पा में कई धार्मिक सम्प्रदायो एवं मतो के कायम होने के बावजूद बौद्ध-धर्म के साथ ही साथ ब्राह्मण धर्म के दो अथवा तीन प्रभावशाली सम्प्रदाय फलते-फूलते विद्यमान थे। पर धर्म के क्षेत्र मे उनके बीच परस्पर कभी किसी प्रकार का तनाव एवं खिचाव नही रहा। इसके बिल्कुल विपरीत विभिन्न धर्म एवं मतों के अनुयायीगण परस्पर मे एक-दूसरे के प्रति उदारता एवं सम्मान की उच्च भावना से अनुप्राणित थे। राजागण सभी धर्म-ग्रन्थों एवं मतों की सर्वोत्तम बातो को ग्रहण करते थे। इस प्रकार से राजा 'प्रकाश धर्म' ने शिवलिंग की स्थापना के साथ ही साथ विष्णु का एक मन्दिर भी निर्माण

करवाया। राजा इन्द्रवर्मन ने शैव तथा बौद्ध धर्मों के प्रति समान रूप से आदर का भाव प्रदर्शित किया। इस तरह के बहुत-से उदाहरण प्राप्त हो सकते हैं। यहाँ के निवासियों ने राजाओ के आदर्श का अनुकरण किया। इस विषय में भारतीय उपनिवेशको ने अपनी मातृभूमि (भारत) की सर्वश्रेष्ठ परम्पराओ का पालन किया।

चम्पा में कम्बोडिया तथा जावा के समान प्राचीन संस्कृति की याद दिलाने वाले भव्य स्मारक यद्यपि अब प्राप्त नही, क्योंकि यहाँ (चम्पा) के प्राचीन स्मारक ईंटो से बने होने के कारण करीब-करीब नष्ट से हो चुके हैं, तथापि उनके जो भी अवशेष अभी भी विद्यमान है, उनसे प्रकट है कि इन प्राचीन स्मारको की कला काफी विकसित थी। चम्पा के लोग अधिकतर मन्दिरो एव देवी-देवताओ की मूर्तियो को अलंकृत करने एव सजाने-धजाने में अपनी कलात्मक चतुराई एवं साधनों का उपयोग करते थे। चम्पा के सभी मन्दिरों की निर्माण कला सामान्य रूप से एक ही सी है। वे प्राय: ईंटों से बने हुए हैं। इनका मुख प्राय: पूर्व दिशा की ओर होता है।

चम्पा मे तीन मुख्य वर्गों के मन्दिर हैं। जिनमे प्रथम वर्ग मे 'माईसन' 'डांग-डुंग' तथा 'पो-नगर' के मन्दिर है। दूसरे वर्ग में बौद्ध मन्दिर है एवं तीसरे वर्ग मे दो शैव मत के मन्दिर हैं। माईसन वर्ग के मन्दिर टूरेन से २१ मील दूर दक्षिण-दक्षिण-पूर्व मे घाटी मे स्थित है। माईसन मे मन्दिरो की संख्या ३० से अधिक है।

डांगडुंग के ध्वंशावशेष माईसन से १२ मील दूर दक्षिण-पूर्व मे स्थिति है। इसके चारो ओर ईंटो की दीवाल बनी हुई है, जिसमे पूर्व की दिशा मे एक द्वार है। मध्य मे बने भवन के अत्यन्त पश्चिम में प्रधान पूजा-स्थल है। जिसके चारों ओर चार पूजा-स्थल एक ही चबूतरे पर बने हुए है। यहाँ अन्य दो और मन्दिर बने हुए है। भीतरी आंगन मे ७ मन्दिर बने हुए है।

खन्ह-हो जिले मे नहटूंग के पास पो-नगर मे पहाड़ी की चोटी पर दो कतारो मे ६ मन्दिर बने हुए है। इन सब मन्दिरों के चारो ओर दीवाल बनी हुई है।

चम्पा में मन्दिर निर्माण कला बहुत विकसित थी। इस कला के सुन्दर नमूने देवी-देवताओ की मूर्तियाँ है, जो कि बड़ी संख्या मे चम्पा देश के प्रत्येक भाग मे प्राप्त हुई है। कही-कहीं मंदिरो की कलापूर्ण सजावट बहुत श्रेष्ठ कोटि की है।

बाली में धर्म विस्तार

जावा से सौ मील से कम दूरी पर पूर्व मे एक छोटा-सा द्वीप है-बाली। इसकी लम्बाई ५३ मील, चौड़ाई ५० मील और जनसंख्या लगभग १५ लाख है। यहाँ अभी भी भारतीय सभ्यता यथावत् अक्षुण्ण है। जबकि इस्लाम ने स्वर्ण द्वीप के सभी क्षेत्रों को रोद डाला, तो भी बाली मे किसी प्रकार हिन्दी सभ्यता यथावत् बनी हुई है और यथा स्थान खड़ी हुई है। यहाँ के प्राचीन मन्दिर अभी भी गर्वोन्नत मस्तक रखे हुए खड़े है, उन्हे अन्य देशो की तरह धर्मान्ध लोगो द्वारा तहस-नहस नही किया गया है।

इतिहासकार पैलिअट के अनुसार, बाली की राजकुमारी भारत के राजा शुद्धोधन के साथ विवाही थी। उसी का शासन इस देश मे चलता था।

बाली का क्षेत्रफल २०९५ वर्ग मील है। यहाँ की भूमि उपजाऊ है। पूरा देश एक सुन्दर बाग की तरह दीखता है। बाली ही एक ऐसा द्वीप है, जहाँ अभी तक प्राचीन हिन्दुओ की संस्कृति तथा सभ्यता व्यापक रूप से कायम है। इस देश मे इस्लाम प्रवेश करने मे असमर्थ रहा। इस देश की प्राचीन हिन्दू सस्कृति पर खोजपूर्ण गहन अध्ययन करने की अभी भी बड़ी गुंजाइश है। लि अङ् राजवंश (५०२-५५६ ई०) के चीनी इतिहास में सबसे पहले 'पो-लि' का वर्णन मिलता है, जो कि बाली का चीनी नाम है। चीनी विवरण से बाली देश राजा के सम्बन्ध मे रोचक वर्णन मिलता है। उक्त चीनी विवरण से निश्चित रूप मे यह प्रमाणित होता है कि बाली द्वीप में हिन्दू राजाओ का राज्य था, जो कि बौद्ध धर्म मानने वाले थे। यह राज्य छठी शताब्दी ईस्वी मे कायम था, क्योंकि उस देश के राजा ने ५१८ ईस्वी मे अपना एक दूत चीन भेजा था।

चीनी यात्री आईत्सिग ने लिखा है कि "दक्षिण सागर के द्वीपो मे बाली भी एक ऐसा देश था, जहाँ मूल सर्वास्तिवाद निकाय का पूर्ण रूप से सब लोगो द्वारा पालन किया जाता था। सबसे शुरू के चीनी

विवरणो से ज्ञात होता है कि बाली द्वीप में छठी शताब्दी मे बौद्ध धर्म कायम था। इसलिये यह स्पष्ट रूप से स्वीकार किया जाता है कि बाली द्वीप में हिन्दू उपनिवेश की स्थापना की प्रारम्भिक शताब्दियों में ही बौद्ध धर्म ने अपनी नीव वहाँ पक्के रूप में जमा ली थी. हाल की जाँचों में यह स्पष्ट रूप से प्रमाणित हो गया है कि "बाली" एक हिन्दू उपनिवेश था, जिसकी अपनी विशिष्ट संस्कृति थी। यह संस्कृति भारत से सीधे ग्रहण की गयी थी। बाली से संबंधित शिलालेखों की भाषा प्राचीन बालानी है, न कि प्राचीन जावानी। इस तथ्य से यह धारणा गलत सिद्ध हो जाती है कि बाली ने अपनी हिन्दू संस्कृति जावा के माध्यम से प्राप्त की थी। बाली का विकास हिन्दू उपनिवेश के रूप में स्वतत्र रूप से हुआ था और साथ ही साथ जावा और सुवर्ण द्वीप के अन्य द्वीपों के साथ भी उसका विकास हुआ था। इसमे कोई सदेह नही कि बाली पर जावा का आधिपत्य बराबर कायम होता रहा, जिसके फलस्वरूप इन दोनो पड़ोसी देशों में निकट का सम्बन्ध बनां रहा।

ज्ञात इतिहास के आधार पर यह निश्चित रूप से पता चलता है कि 'केशरी वर्मा देव' बाली के प्रथम राजा थे (९१४ ईस्वी)। सन् १३४ ई० में ही बाली जावा साम्राज्य का अग बन गया है। इसके बाद में दोनो द्वीपों की राजनीति तथा सस्कृति एक-दूसरे से घनिष्ठ रूप से जुड़ गयी ।

बाली इस तरह जावा के साहित्यिक जीवन का केन्द्र बन गया। बाली मे जावानी साहित्य का महत्त्व दिनो-दिन वढ़ता गया, परन्तु जावा ही मे उनके साहित्य जीवन का ह्रास होता गया। जावा की परम्पराओ को बाली ने आगे बढ़ाया और उसका विकास किया।

इस्लाम के बढ़ते चरण का मुकाबला न कर सकने के कारण मजपहित (जावा) के राजा ने अपने साथियो सहित बाली में शरण ली। जावा के निवासी भी एक बड़ी संख्या मे अपनी संस्कृति और धर्म के रक्षार्थ बाली चले गये और वहाँ ही बस गये। इस तरह से बाली हिन्द-जावानी संस्कृति और सभ्यता का अति महत्वपूर्ण केन्द्र बन गया, जो कि आज तक कायम है। बाली मे हिन्द जवानी संस्कृति का न केवल और अधिक विकास हुआ वरन् उसने (बाली ने) उसे लुप्त होने से बचा लिया। जावा में इस्लाम धर्म के प्रसार के फलस्वरूप हिन्द जावानी संस्कृति वहाँ से लुप्त ही हो गयी।

"नवरुचि"-बाली द्वीप का एक लोकप्रिय ग्रन्थ है, जिसमें भीम के द्वारा युद्धों में प्राप्त विजयों का वर्णन है।

प्राचीन जावानी भाषा में रामायण ग्रन्थ के उत्तरकाण्ड का गद्य में अनुवाद है। पौराणिक वर्ग के ग्रन्थो में "ब्राह्मण पुराण" सबसे अधिक महत्वपूर्ण है। इसकी रचना भारतीय पुराणो के आदर्शानुरूप की गयी है, यद्यपि इसमें इधर-उधर जावानी प्रभाव भी है।

इस वर्ग की दूसरी रचना-"अगस्त्य-पर्व" है, जिसमें अगस्त्य अपने पुत्र द्विदृस्य से सृष्टि रचना के सम्बंन्ध में पौराणिक शैली में वर्णन करते हैं। बाली में भारतीयता की पहुँच तथा प्रगति के ऊपर सिलमेन लेगी की 'संस्कृति टेक्सट्स फ्रॉम बाली' पुस्तक अच्छा प्रकाश डालती है।

हिन्दू धर्म आज भी बाली का एक जीवित धर्म है, इसलिये यहाँ हिन्दू धर्म के क्रियात्मक पक्ष के सम्बन्ध मे जावा से कही अधिक विवरण प्राप्त होते है। बाली निवासियो के जीवन में धार्मिक कर्मकाण्ड एवं क्रियाओ का विशेष स्थान है। बाली मे प्रचलित पूजा पारिवारिक एवं सार्वजनिक दो प्रकार की होती है, जिसमे पारिवारिक पूजा की कोटि में सबसे अधिक महत्त्व 'सूर्य-सेवन' या शिव की सूर्य रूप मे पूजा है। सूर्य-सेवन के अतिरिक्त पारिवारिक धार्मिक कर्मकाण्डों में वे सब संस्कार भी किये जाते है। जो कि गृह-सूत्र मे बताये गये है और जिनका पालन मनुष्य के जीवन के महत्वपूर्ण अवसरो पर, जैसे बच्चे के जन्म लेने पर जन्म संस्कार, नामकरण सस्कार, कानछेदन् सस्कार, विवाह, मृतक, तथा दाह-संस्कार के रूप मे किया जाता है।

सार्वजनिक पूजा के लिये प्रत्येक जिले मे ३ या ४ सार्वजनिक मन्दिर है। पूर्वजो की पूजा बाली धर्म का एक महत्त्वपूर्ण अंग है। प्रत्येक घर में एक या एक से अधिक छोटे मन्दिर पूर्वजो के लिये बने होते हैं।

भारतीय पूजा मे उपयोग में आने वाली सहायक सामग्रियाँ जैसे– घृत कुश-घास और मधु बाली में भी पूजा सामग्री के रूप मे उपयोग में आती है। पवित्र जल एक महत्वपूर्ण पूजा सामग्री माना जाता है। भारत की पवित्र नदियो जैसे– गंगा-यमुना, सिन्धु, कावेरी, सरयू तथा नर्मदा के नामो के अनुरूप बाली की नदियो के नाम भी रखे गये है।

देखिये–"हिन्दू कल्चर इन ग्रेटर इण्डिया" द्वारा सदानन्द पृष्ठ (१९-२०) "संस्कृत टेक्सट्स फ्रॉम बाली" से उद्धृत (बाली मे प्रचलित संस्कृत के मूल सूत्र)

शिवस्तवः

ॐ नम. शिवाय शर्वाय देवदेवाय वै नमः।
रुद्राय भुवनेशाय शिवरूपाय वै नम.॥
जाग्रत्स्वप्न सुषुत ····· जायते च (पृष्ठ २०)

भैरवस्तवः

महाभैरवरूपश्च — शिरशान्तकम् (पृष्ठ २०-२१)

महादेवस्तवः

ॐ नमोस्तु ते महादेव —— क्षमानुग्रह कारणं॥ (पृष्ठ २१)

उमास्तवः

ॐ पार्वती —— नमो नम.॥ (पृष्ठ २१-२२)

श्रीस्तवः

ॐ श्रीदेवी —— नमोऽस्तुते॥

बालीद्वीप के प्रचलित पुरोहितो (पाइन्दा) मे प्रचलित सस्कृत मन्त्र।

महादेव —— निष्फल।
ध्यानी बुद्ध —— सकल (बुद्ध का आवाहन मत्र)
ॐ कसोल् —— नम.।

स्तोत्र वेद शिवस्तव: ——— परम शिव स्तव।

बाली मे पाइन्दा या पुरोहित द्वारा पूजा करायी जाती है। ये पाइन्डा ब्राह्मण भी होते है।

बाली मे अभी हिन्दू धर्म का बाहुल्य है। राजधानी के नाम पर इस द्वीप का नामकरण हुआ है। विवाहों में संस्कृत के वेद मन्त्र बोले जाते है। मुर्दो को जलाया जाता है और श्राद्ध कर्म किये जाते है। देव प्रतिमाओ की समय-समय पर शोभा यात्रा निकलती रहती है। रामलीला की धूम रहती है।

बाली को देवताओ का द्वीप कहा जाता है। यहाँ की केचीक शैली के रामायण अभिनय बहुत आकर्षक होते है। यहाँ की प्राचीन भाषा केवि मे उपलब्ध रामायण के सदर्भ मे लिखे गये ग्रन्थो का श्रद्धापूर्वक पाठ-पारायण किया जाता है। लगभग एक हजार वर्ष पूर्व योगेश्वर नामक कवि ने रामायण कथानक पर ग्रन्थ लिखे थे, जो अभी भी लोकप्रिय है।

यहाँ के मन्दिरो के पुजारी धार्मिक कृत्य तो करते है, पर आजीविका की दृष्टि से पूजा या दान दक्षिणा पर निर्भर नही रहते है। वे कृषि, लकड़ी का काम, नक्काशी अथवा जो भी काम अनुकूल पडे उत्साहपूर्वक करते है। इससे उनके सामाजिक सम्मान में कोई कमी नही आती। मन्दिरो मे छोटे बच्चो की *शिक्षा व्यवस्था भी रहती है। पुजारी प्रायः ब्राह्मण वर्गों* के होते है। (१) पाइन्दा (२) सेनग्गुहु (३) पामागकू।

पाइन्दा पारिवारिक धर्मानुष्ठान की व्यवस्था बनाते है। पामागकू मन्दिरों की सेवा पूजा का उत्तर दायित्व सँभालते है और चिकित्सा शिक्षा आदि उपयोगी कार्यो मे निरत रहते है। शिव इस देश के मान्य देवता है। ब्राह्मण तथा दूसरे लोग यहाँ यज्ञोपवीत धारण करते है। किन्तु उसे *अत्यन्त पवित्र मानकर पेटियो मे बन्द* रखते है और विशेष धार्मिक आयोजनो के समय ही धारण करते है। यहाँ के पुरुषो और स्त्रियो के नाम प्राय. भारतीय नामो से ही मिलते-जुलते होते है। घर-घर वस्त्र बुनना यहाँ का कुटीर उद्योग है।

स्याम (थाइलैण्ड) एक मात्र बौद्ध राष्ट्र

थाईलैण्ड (स्याम) ... एक मात्र ऐसा देश है, जहाँ बौद्ध धर्म ... देशो ने तो भारत की परम्परागत ... मे

विवरणों से ज्ञात होता है कि बाली द्वीप में छठी शताब्दी मे बौद्ध धर्म कायम था। इसलिये यह स्पष्ट रूप से स्वीकार किया जाता है कि बाली द्वीप में हिन्दू उपनिवेश की स्थापना की प्रारम्भिक शताब्दियों में ही बौद्ध धर्म ने अपनी नीव वहाँ पक्के रूप मे जमा ली थी. हाल की जाँचों मे यह स्पष्ट रूप से प्रमाणित हो गया है कि "बाली" एक हिन्दू उपनिवेश था, जिसकी अपनी विशिष्ट संस्कृति थी। यह संस्कृति भारत से सीधे ग्रहण की गयी थी। बाली से संबंधित शिलालेखो की भाषा प्राचीन बालानी है, न कि प्राचीन जावानी। इस तथ्य से यह धारणा गलत सिद्ध हो जाती है कि बाली ने अपनी हिन्दू संस्कृति जावा के माध्यम से प्राप्त की थी। बाली का विकास हिन्दू उपनिवेश के रूप में स्वतत्र रूप से हुआ था और साथ ही साथ जावा और सुवर्ण द्वीप के अन्य द्वीपों के साथ भी उसका विकास हुआ था। इसमे कोई संदेह नही कि बाली पर जावा का आधिपत्य बराबर कायम होता रहा, जिसके फलस्वरूप इन दोनो पड़ोसी देशों में निकट का सम्बन्ध बना रहा।

ज्ञात इतिहास के आधार पर यह निश्चित रूप से पता चलता है कि 'केशरी वर्मा देव' बाली के प्रथम राजा थे (९१४ ईस्वी)। सन् १३४ ई० में ही बाली जावा साम्राज्य का अग बन गया है। इसके बाद में दोनों द्वीपों की राजनीति तथा सस्कृति एक-दूसरे से घनिष्ठ रूप से जुड़ गयी ।

बाली इस तरह जावा के साहित्यिक जीवन का केन्द्र बन गया। बाली मे जावानी साहित्य का महत्त्व दिनो-दिन बढ़ता गया, परन्तु जावा ही मे उनके साहित्य जीवन का ह्रास होता गया। जावा की परम्पराओ को बाली ने आगे बढ़ाया और उसका विकास किया।

इस्लाम के बढ़ते चरण का मुकाबला न कर सकने के कारण मजपहित (जावा) के राजा ने अपने साथियो सहित बाली मे शरण ली। जावा के निवासी भी एक बडी सख्या में अपनी संस्कृति और धर्म के रक्षार्थ बाली चले गये और वहाँ ही बस गये। इस तरह से बाली हिन्द-जावानी सस्कृति और सभ्यता का अति महत्त्वपूर्ण केन्द्र बन गया, जो कि आज तक कायम है। बाली मे हिन्द जवानी सस्कृति का न केवल और अधिक विकास हुआ वरन् उसने (बाली ने) उसे लुप्त होने से बचा लिया। जावा में इस्लाम धर्म के प्रसार के फलस्वरूप हिन्द जावानी संस्कृति वहाँ से लुप्त ही हो गयी।

"नवरुचि"-बाली द्वीप का एक लोकप्रिय ग्रन्थ है, जिसमें भीम के द्वारा युद्धों में प्राप्त विजयों का वर्णन है।

प्राचीन जावानी भाषा में रामायण ग्रन्थ के उत्तरकाण्ड का गद्य में अनुवाद है। पौराणिक वर्ग के ग्रन्थों में "ब्राह्मण पुराण" सबसे अधिक महत्वपूर्ण है। इसकी रचना भारतीय पुराणो के आदर्शानुरूप की गयी है, यद्यपि इसमें इधर-उधर जावानी प्रभाव भी है।

इस धर्म की दूसरी रचना-"अगस्त्य-पर्व" है, जिसमें अगस्त्य अपने पुत्र द्विदृस्य से सृष्टि रचना के सम्वन्ध में पौराणिक शैली में वर्णन करते हैं। बाली मे भारतीयता की पहुँच तथा प्रगति के ऊपर सिलमेन लेगी की 'संस्कृति टेक्सट्स फ्रॉम बाली' पुस्तक अच्छा प्रकाश डालती है।

हिन्दू धर्म आज भी बाली का एक जीवित धर्म है, इसलिये यहाँ हिन्दू धर्म के क्रियात्मक पक्ष के सम्बन्ध मे जावा से कहीं अधिक विवरण प्राप्त होते है। बाली निवासियों के जीवन में धार्मिक कर्मकाण्ड एवं क्रियाओं का विशेष स्थान है। बाली मे प्रचलित पूजा पारिवारिक एवं सार्वजनिक दो प्रकार की होती है, जिसमें पारिवारिक पूजा की कोटि मे सबसे अधिक महत्त्व 'सूर्य-सेवन' या शिव की सूर्य रूप में पूजा है। सूर्य-सेवन के अतिरिक्त पारिवारिक धार्मिक कर्मकाण्डो में वे सब संस्कार भी किये जाते है। जो कि गृह-सूत्र में बताये गये है और जिनका पालन मनुष्य के जीवन के महत्त्वपूर्ण अवसरो पर, जैसे बच्चे के जन्म लेने पर जन्म सस्कार, नामकरण संस्कार, कानछेदन् सस्कार, विवाह, मृतक, तथा दाह-संस्कार के रूप मे किया जाता है।

सार्वजनिक पूजा के लिये प्रत्येक जिले मे ३ या ४ सार्वजनिक मन्दिर है। पूर्वजो की पूजा बाली धर्म का एक महत्त्वपूर्ण अग है। प्रत्येक घर मे एक या एक से अधिक छोटे मन्दिर पूर्वजों के लिये बने होते है।

भारतीय पूजा में उपयोग मे आने वाली सहायक सामग्रियाँ जैसे– घृत कुश-घास और मधु बाली मे भी पूजा सामग्री के रूप मे उपयोग मे आती है। पवित्र जल एक महत्वपूर्ण पूजा सामग्री माना जाता है। भारत की पवित्र नदियो जैसे– गगा-यमुना, सिन्धु, कावेरी, सरयू तथा नर्मदा के नामो के अनुरूप बाली की नदियों के नाम भी रखे गये है।

देखिये–"हिन्दू कल्चर इन ग्रेटर इण्डिया" द्वारा सदानन्द पृष्ठ (१९-२०) "संस्कृत टेक्सट्स फ्रॉम बाली" से उद्धृत (बाली मे प्रचलित संस्कृत के मूल सूत्र)

शिवस्तवः

ॐ नमः शिवाय शर्वाय देवदेवाय वै नमः।

रुद्राय भुवनेशाय शिवरूपाय वै नमः॥

जाग्रत्स्वप्न सुपुत · · · · · जायते च (पृष्ठ २०)

भैरवस्तवः

महाभैरवरूपश्च — शिरशान्तकम् (पृष्ठ २०-२१)

महादेवस्तवः

ॐ नमोस्तु ते महादेव —— क्षमानुग्रह कारणं॥ (पृष्ठ २१)

उमास्तवः

ॐ पार्वती —— नमो नमः॥ (पृष्ठ २१-२२)

श्रीस्तवः

ॐ श्रीदेवी —— नमोऽस्तुते॥

बालीद्वीप के प्रचलित पुरोहितो (पाइन्दा) मे प्रचलित संस्कृत मन्त्र।

महादेव —— निष्फल।

ध्यानी बुद्ध —— सकल (बुद्ध का आवाहन मंत्र)

ॐ कसोल् —— नम.।

स्तोत्र वेद शिवस्तव —— परम शिव स्तव।

बाली मे पाइन्दा या पुरोहित द्वारा पूजा करायी जाती है। ये पाइन्डा ब्राह्मण भी होते है।

बाली मे अभी हिन्दू धर्म का बाहुल्य है। राजधानी के नाम पर इस द्वीप का नामकरण हुआ है। विवाहो में संस्कृत के वेद मन्त्र बोले जाते है। मुर्दो को जलाया जाता है और श्राद्ध कर्म किये जाते हैं। देव प्रतिमाओ की समय-समय पर शोभा यात्रा निकलती रहती है। रामलीला की धूम रहती है।

बाली को देवताओ का द्वीप कहा जाता है। यहाँ की केचीक शैली के रामायण अभिनय बहुत आकर्षक होते है। *यहाँ की प्राचीन भाषा केवि मे उपलब्ध* रामायण के सदर्भ मे लिखे गये ग्रन्थो का श्रद्धापूर्वक पाठ-पारायण किया जाता है। लगभग एक हजार वर्ष पूर्व योगेश्वर नामक कवि ने रामायण कथानक पर ग्रन्थ लिखे थे, जो अभी भी लोकप्रिय है।

यहाँ के मन्दिरो के पुजारी धार्मिक कृत्य तो करते हैं, पर आजीविका की दृष्टि से पूजा या दान दक्षिणा पर निर्भर नही रहते हैं। वे कृषि, लकड़ी का काम, नक्काशी अथवा जो भी काम अनुकूल पडे उत्साहपूर्वक करते है। इससे उनके सामाजिक सम्मान मे कोई कमी नहीं आती। मन्दिरों मे छोटे बच्चो की शिक्षा व्यवस्था भी रहती है। पुजारी प्राय. ब्राह्मण वर्गों के होते है। (१) पाइन्दा (२) सेनग्गुहु (३) पामागकू।

पाइन्दा पारिवारिक धर्मानुष्ठान की व्यवस्था बनाते है। पामागकू मन्दिरो की सेवा पूजा का उत्तर दायित्व सँभालते है और चिकित्सा शिक्षा आदि उपयोगी कार्यो में निरत रहते है। शिव इस देश के मान्य देवता हैं। ब्राह्मण तथा दूसरे लोग यहाँ यज्ञोपवीत धारण करते है। किन्तु उसे अत्यन्त पवित्र मानकर पेटियो मे बन्द रखते है और विशेष धार्मिक आयोजनो के समय ही धारण करते है। यहाँ के पुरुषो और स्त्रियो के नाम प्राय. भारतीय नामो से ही मिलते-जुलते होते है। घर-घर वस्त्र बुनना यहाँ का कुटीर उद्योग है।

स्याम (थाइलैण्ड) एक मात्र बौद्ध राष्ट्र

थाईलैण्ड (स्याम) ससार का एक मात्र ऐसा देश है, जहाँ बौद्ध धर्म राजधर्म भी है। अन्य देशो ने तो भारत की परम्परागत सस्कृति इन थोडे ही दिनो मे

गँवा दी, पर यह अकेला देश ऐसा है, जिसमें वर्तमान भारत की परिधि से आगे जाकर यह देखा जा सकता है कि प्राचीन काल मे भारत की रीति-नीति का क्या स्वरूप था? वहाँ जो देखने को इन दिनों भी मिलता है, उससे यह पता लगता है कि भारत किन मान्यताओ और आदर्शों के कारण उन्नति के उच्च स्तर पर पहुँचा था और शान्ति का सन्देश सुदूर क्षेत्रों मे पहुँचाने मे किन परम्पराओ के कारण सफल हुआ? आज कई बातो मे थाईलैण्ड इसे ऐसी शिक्षाये और प्रेरणाये दे सकता है, जिन्हे अपनाकर हम प्रस्तुत दुर्गति के गर्त से उबर सकते है।

उस देश मे पहले हिन्दू-धर्म प्रचलित था, बौद्ध धर्म पहुँचा, बौद्ध-धर्म का प्रवेश सन् ४२२ मे हुआ। इससे पूर्व वहाँ ब्राह्मण-धर्म प्रचलित था। दोनों धर्मों का वहाँ सुन्दर समन्वय हुआ है। दार्शनिक भिन्नता को वहाँ पुरी सहिष्णुता के साथ सहन किया गया है। इतना ही नही, उनका परस्पर समन्वय भी भली प्रकार हुआ है। साम्प्रदायिक मतभेद के कारण जहाँ अन्यत्र के लोग विग्रह और विद्वेष खड़ा करते हैं, वहाँ इस तरह की कभी कोई बात हुई नही। बौद्ध धर्म और हिन्दू धर्म सहोदर भाई की तरह परस्पर प्रेमपूर्वक रहते है।

बौद्ध धर्म के आगमन से पूर्व वहाँ हिन्दू धर्मानुयायी राजा राज करते थे। राज धर्माशोक ने भव्य विष्णु मन्दिर बनवाया था। उसके बाद भी अनेक हिन्दू राजा देवी-देवताओ के मन्दिर बनाते रहे, जिनका अस्तित्व अभी भी जीवन्त इमारतो तथा भग्नावशेषो के रूप मे विद्यमान है। फ्रोके के शिव-मन्दिर की अभी भी ब्राह्मण पुजारी पूजा करते है। बौद्ध वर्चस्व होने पर भी वहाँ ब्राह्मणो की मान्यता उसी प्रकार है। ब्राह्मण को वहाँ 'ब्रह्म' कहते थे। पीछे उसी का अपभ्रंश होकर 'फ्रम' बन गया। 'फ्रम' नाम से वहाँ ब्राह्मण वर्ग का परिचय मिलता है। 'देव नगर' उनकी एक पूरी बस्ती ही बसी है। बौद्ध परिवारो में धार्मिक कर्मकाण्ड कराने यह फ्रम लोग ही जाते है।

हिन्दू त्यौहार और बौद्ध त्यौहार दोनो सर्वसाधारण के लिये साधन रूप से हर्षोत्सव का विषय रहते है। मकर संक्रान्ति, वैसाखी, होली पर पानी उलीचने का एक-दूसरे को भिगोने का उन्माद भारत से घटकर नही, वरन् बढ़-चढ़कर ही देखा जा सकता है। स्थानीय नदियों में गंगा माता की भावना करके वहाँ के निवासी नदी-प्रवाह में दीपक तथा पुष्पों के दौने बहाते है। यहाँ के राजा वर्ष मे एक नागरिक की तरह हल चलाते हैं और धार्मिक उत्सव में साधारण नागरिक की तरह सम्मिलित होते हैं। मुहूर्त और ज्योतिष का प्रचलन यहाँ भी है। राजकीय समारोहो का पूजा विधान अभी भी वहाँ ब्राह्मणवंशी राज-गुरु ही मन्त्रोच्चारण के साथ कराता है।

बैंकॉक के एक प्राचीन मन्दिर मे ब्रह्मा, विष्णु, महेश, गणेश, दुर्गा आदि देवताओ की मूर्तियाँ स्थापित है। खण्डहरो मे उपलब्ध कितनी ही देव प्रतिमाये अब वहाँ के राष्ट्रीय-संग्रहालय में सुरक्षित हैं। ब्रह्मा की वहाँ भारत की तरह उपेक्षा नही है। वरन् घरो में ब्रह्माजी प्रतिष्ठापित रहते है। बैंकॉक के प्रधान होटल (इरावन) के मुख्य द्वार पर ब्रह्माजी की भव्य प्रतिमा स्थापित है। छठी शताब्दी से लेकर चौदहवी शताब्दी तक की अवधि मे वहाँ हिन्दू-देवताओ की मूर्तियाँ मिली है, जो भारत मे प्रमुखता प्राप्त करते हैं। बैंकॉक मे ऊँची टेकरी पर बने एक बौद्ध मन्दिर में शिव-लिग एवं नन्दी की भी स्थापना है और पूजा अर्चना होती है।

बुद्ध के बाद उस क्षेत्र के उपासको मे राम का नम्बर आता है। बौद्ध की शिक्षाओं की तरह ही वहाँ रामायण कथा भी लोकप्रिय है। लवपुरी मे हनुमान की मूर्तियो की भरमार है।

फ्राईसुवन की खुदाई मे भगवान राम की मूर्ति मिली है। बस के टिकटो तक पर राम के चित्र छपे रहते है। बैंकॉक के राष्ट्रीय संग्रहालय के बाहर धनुषधारी राम की विशाल मूर्ति खड़ी हुई है और राष्ट्रीय-नृत्य ग्रह के बाहर वैसी ही विशालकाय गणेश प्रतिमा स्थापित है। कुछ सरकारी विभागो का राज्य चिन्ह 'गणेश' है। कला-विभाग के द्वार पर 'विश्वकर्मा' की मूर्ति स्थापित है।

थाईलैण्ड की आबादी प्राय डेढ़ करोड है। उसमे २५ हजार भारतीय मूल के लोग बसते है, जो ईसा की प्रथम शताब्दी मे भारत से वहाँ जाकर बसे। उनकी सन्तानो ने थाई-जनता के साथ अपने को पूरी

तरह घुला-मिला लिया है। इसका क्षेत्रफल १ लाख ९८ हजार वर्गमील है। इसकी सीमाये वर्मा, कम्बोडिया, लाओस और मलेशिया को छूती हैं।

थाई भाषा में ४० प्रतिशत से अधिक शब्द 'सस्कृत' के हैं। इसके अतिरिक्त पाली एवं प्राकृत के शब्द भी बहुत हैं। वर्णमाला देवनागरी से मिलती-जुलती है। स्वर और व्यंजनो का क्रम भी लगभग वैसा ही है। भारत की धार्मिक विधि व्यवस्थाओ, पौराणिक कथाओं तथा बुद्ध चर्या का उल्लेख करने वाला साहित्य ही प्राचीन काल मे वहाँ लिखा जाता रहा है। जो भी पुराने हस्तलिखित ग्रन्थ वहाँ मिलते है, उनमें यही विषय हैं या कुछ ग्रन्थ अन्य विषयो के भी मिले है। थाईलैण्ड के सिनेमाघरो मे भारत की धार्मिक-फिल्मे सफलतापूर्वक चलती हैं।

रामायण कथा की नृत्य-नाटिकायें उस देश में प्रत्येक पर्वोत्सव पर होती रहती हैं। उसमे राज-परिवार के तथा उच्चस्तर के लोग अभिनय करते है। जनता उनमे बहुत रस लेती है। रामचरित्र वहाँ बच्चे-बच्चे को याद है, वहाँ वह बहुत ही लोकप्रिय है।

थाईलैण्ड के प्राचीन साहित्य में भारतीय कथा-पुराणो का छायानुवाद ही भरा पडा है। अधिकांश प्राचीन ग्रन्थ बुद्ध उपदेश आचार-विधान एवं जातक-कथाओ से सम्बन्धित मिलते है।

राजवंशी-इतिहास एवं धर्म-प्रचारकों के क्रिया-कलाप का प्राचीन विवरण प्राप्त करने से यही पता चलता है कि भारतीय मूल के निवासी समय-समय पर वहाँ पहुँचते रहते हैं और देश की प्रगति एव समृद्धि का आधार बनते रहे हैं। उस देश के मूल नागरिको को उन्होंने अपने से पृथक् नही रखा उनके साथ घुलने तथा उन्हे अपने में घुलाने का ऐसा प्रयत्न करते रहे है कि अब थाई-जाति का वंश-रक्त की दृष्टि से पृथक्करण करना सम्भव नही रहा। राजधानी वैकॉक को मन्दिरो का नगर कहा जा सकता है। यहाँ तीन सौ बड़े बौद्ध मन्दिर हैं। इनमे भिक्षु रहते हैं और धर्म शिक्षा के उपयोगी संस्थानो का संचालन करते हैं। फ्राकियो मन्दिर मे नीलम रत्न की बनी बहुमूल्य प्रतिमा है और दीवारों पर रामायण कथानक के भित्तिचित्र बने है। दर्शनीय स्थानों मे अयोध्या लवपुरी, विष्णुलोक, समुद्र प्रकरण प्रथमनगर विशेष रूप में आकर्षित है। सेनान नदी के बीचोबीच टापू पर बना बौद्ध मन्दिर निर्माणकर्ताओं के जीवट का परिचय देता है। इसके अतिरिक्त हिन्दू देवी-देवताओ की मूर्तियों वाले मन्दिरो तथा बौद्ध-विहारो का अस्तित्व हर छोटे-बड़े स्थान मे पाया जा सकता है।

मगध के चन्द्रगुप्त नामक बौद्ध-भिक्षु ने इस देश को बौद्ध धर्म मे दीक्षित किया था। गान्धार मे पिप्पल गुफा, बोधि वृक्ष गृद्धकूट पर्वत आदि के उपलब्ध अवशेषों से उस देश मे बौद्ध धर्म की प्राचीनता सहज ही प्रमाणित होती है। मुँह सीतेप मे संस्कृत भाषा के प्राचीन शिलालेख मिले हैं। मापमारबम के उपलब्ध शिलालेख भी उस देश पर भारतीय संस्कृति का वर्चस्व प्रमाणित करते है।

बौद्ध और हिन्दू धर्म परस्पर इतनी घनिष्ठता के साथ थाईलैण्ड में घुस गये है कि उनकी पृथकता कठिनाई से ही पहचानी जा सकती है। समन्वय, समझदारी एवं सहिष्णुता की यहाँ जैसी रीति-नीति अन्यत्र भी अपनायी गयी होती तो साम्प्रदायिक विद्वेष का कहीं कोई दृश्य दिखाई न पड़ता और धर्म-तत्व के प्रति सहज ही सबकी श्रद्धा जमी रहती।

थाईलैण्ड के बौद्ध मन्दिरो मे नारायण, विनायक, शिव, ऋषि आदि की प्रतिमाये भी है और उन्हे क्या बौद्ध, क्या हिन्दू समान श्रद्धा के साथ पूजते है। यहाँ की जनता सरल और धार्मिक वृत्ति की है। प्रत्येक कार्यालय, आवास, स्थान, विद्यालय मे यहाँ एक छोटा मन्दिर बना होगा जिसे चाओथी कहते है। यहाँ नमन करने के उपरान्त ही लोग अपना कार्य आरम्भ करते है। राजधानी बैंकौक में शाही नौसेना के इण्टर नेशनल होटल 'इरावन' के प्रवेश द्वार पर चतुर्मुखी ब्रह्मा की भव्य मूर्ति स्थापित ही नही पूजित भी है।

नखोन पथोम नगर के राजोद्यान में १२ फुट ऊँचे चबूतरे पर विनायक गणेश की विशालकाय और अत्यन्त भव्य प्रतिमा स्थापित है। यहाँ कोई पुजारी तो नही रहता, पर प्रात काल यहाँ जो पुष्प बिखरे मिलते है, उनसे यह सहज ही जाना जा सकता है कि वहाँ के लोग उन प्रतिमाओ को श्रद्धापूर्वक नमन-पूजन करते है।

थाईलैण्ड का राजवंश अपने को राम का वंशज मानता है और उसे वहाँ 'रामाधिपति' कहकर पुकारा जाता था। सन् १३५० में वहाँ का शासक 'राम' नाम से विख्यात था। उसने अयोध्या नामक राज्य की स्थापना की। वहाँ के राज मन्दिर की दीवारों पर रामायण की कथाये खुदी हुई है। उत्तरी थाईलैण्ड मे लवकुशपुरी नामक नगर अभी भी विद्यमान है।

थाईलैण्ड उच्च न्यायालय के सामने गंगाधर महादेव की ओर आकाशवाणी केन्द्र के मुख्य द्वार पर वीणा-पाणि सरस्वती की विशालकाय प्रतिमा स्थापित है।

राजकीय-सग्रहालय के द्वार पर धनुर्धारी राम की विशाल प्रतिमा खड़ी है। इस देश के सग्रहालयों मे शेषशायी विष्णु, शिव-लिंग, ऋषि प्रतिमाये कितने ही आकार-प्रकार की विद्यमान है।

वैशाखी पूर्णिमा को यहाँ बुद्ध जयन्ती के उपलक्ष मे दिवाली मनायी जाती है। मृत-पूर्वजो की आत्मा को शान्ति देने के लिये यहाँ श्राद्ध भी इसी दिन किये जाते है। मृतको के नाम पर भिक्षुओ को भोजन कराया जाता है। सक्रान्ति पर्व, वर्षा व्रत, चन्द्र ग्रहण आदि अवसरो पर पर्वोत्सव मनाये जाते है। राजा को वर्ष में एक दिन स्वयं हल चलाकर अपने को सामान्य कृषक वर्ग श्रेणी का सिद्ध करना पड़ता है।

बच्चो का मुण्डन-संस्कार स्याम मे भी भारत की ही तरह होता है। इसे 'चूडा' कुन्तन मंगल कहते हैं। इसके अतिरिक्ति नामकरण, कर्णवेध, विवाह, अन्त्येष्टि आदि सस्कारो मे भी भारतीयता का प्रत्यक्ष अनुकरण देखा जा सकता है। यहाँ मुर्दे जलाये जाते है।

उस देश मे हिन्दू धर्म और बौद्ध धर्म जिस सुन्दर ढंग से मिले है। यदि वह प्रक्रिया अन्यत्र भी अपनाई जा सके तो सांस्कृतिक दृष्टि से आज का भारतीय दर्शन विश्व का सबसे बड़ा, सबसे प्रमुख, सबसे अधिक प्रचलित दर्शन कहलाने का अधिकारी बन सकता है। सम्प्रदायो के बीच विग्रह और विद्वेष उत्पन्न करने की अपेक्षा उनका समन्वय करने में ही लाभ है। यह तथ्य भी हम थाईलैण्ड में चल रहे प्रयोगो को देख कर सीख सकते है। श्रेष्ठता जहाँ भी मिले, ग्रहण कर ली जाय और जो असामयिक है—आज की स्थिति मे अनुपयुक्त है, उसके लिये दुराग्रह न किया जाय तो धर्मों का समन्वय एक गुलदस्ते की तरह ससार की शोभा और शालीनता बढ़ाने में सहायक हो सकता है।

इन दिनों थाईलैण्ड में बौद्ध धर्मानुयायी ही राजा है और उसी धर्म को मानने वाली अधिकांश प्रजा है। इस छोटे-से देश मे पिछली जनगणना के अनुसार एक लाख तीस हजार भिक्षु थे और १६५०३ मठ, मन्दिर और बुद्ध-विहार। इतने छोटे देश में इतने अधिक देवस्थानों और साधुओ का होना आश्चर्यजनक है। यह संख्या तो भारत की स्थिति से भी आगे बढ़ी-चढ़ी है। इससे यह आशंका होती है कि उस देश की जनता को भी हमारी ही तरह निठल्लों को खिलाने का भारवहन करना पड़ता होगा और आर्थिक दृष्टि से उस देश पर भारी दबाव पडता होगा।

पर वहाँ की वस्तुस्थिति सर्वथा भिन्न है। वहाँ समयगत भिक्षु दीक्षा लेने की प्रथा है। थोड़े समय के लिये लोग भिक्षु बनते है और फिर अपने सामान्य सांसारिक जीवन मे लौट आते है। थाईलैण्ड के प्रत्येक बौद्ध धर्मानुयायी का विश्वास है कि "एक बार भिक्षु बने बिना उसकी सद्गति नही हो सकती। उसके बिना उसकी धार्मिकता अधूरी ही रहेगी।' इस आस्था के कारण देर-सबेर मे हर सुयोग्य नागरिक एक बार कुछ समय के लिये साधु अवश्य बनता है। घर छोड़कर उतने समय विहार मे निवास करता है। साधना और अध्ययन मे निरत रहता है और संघ द्वारा निर्धारित सेवा-कार्य मे सच्चे मन से पूरा परिश्रम करता है। भिक्षु का मोटा अर्थ भिक्षुक या भिखारी जैसा लगता है, पर वास्तविकता ऐसी नही है। बौद्ध धर्म मे साधु को धर्म प्रचारक को भिक्षु कहते है। अवसर पडने पर उसे भिक्षा द्वारा क्षुधा शान्त करने मे भी आपत्ति नही हो सकती, पर यह आवश्यक नही कि भिक्षु नामधारी को अनिवार्य रूप से भिक्षा ही माँगनी पड़े। भिक्षुक और भिक्षु दो अलग-अलग अर्थो में प्रयुक्त होते रहे है। भिक्षुक दीन-हीन, अपंग, असहाय व्यक्ति को-उदर निमित्त याचना करने वाले को कहते है, जबकि भिक्षु विशुद्ध रूप से सन्त के अर्थ मे प्रयुक्त होता है। थाईलैण्ड निवासी भिक्षुक नही भिक्षु होते है। दूसरे

अर्थों मे उन्हे साधना, स्वाध्याय, संयम और सेवा के चतुर्विध परमार्थ प्रयोजनो मे निरत परमार्थ परायण व्यक्ति कहना चाहिये। ऐसे लोग जितने अधिक किसी देश में होगें, वह उतना ही अधिक फूलेगा-फलेगा।

थाईलैण्ड मे धर्म-आस्था अन्य देशो की तरह डगमगाई नही है। वहाँ के नागरिको को अभी भी प्राचीनकाल के धर्मनिष्ठ और कर्तव्य-परायण लोगो की तरह जीवन यापन करते हुए देखा जा सकता है, इसका श्रेय वहाँ के समर्थ साधु-समाज को ही दिया जा सकता है। मन्दिर वहाँ पूजा-स्थल तो है, पर उनका उपयोग मात्र उतने ही सीमित प्रयोजन के लिये नही होता। प्रत्येक विहार मे वहाँ एक साधन सम्पन्न विद्यालय भी होता है, जिसमें न केवल छात्र-छात्राओ को सामान्य शिक्षा दी जाती है, वरन् उच्चस्तरीय धर्म शिक्षा की भी व्यवस्था भी रहती है। प्रत्येक विहार में एक अच्छा पुस्तकालय होता है, जिसमें धार्मिक जीवन जी सकने की प्रेरणा दे सकने वाली चुनी हुई पुस्तकें पर्याप्त संख्या मे रखी जाती हैं।

स्कूलों मे शिक्षा का कार्य बुद्ध-प्रार्थना के साथ आरम्भ होता है। गुरु-पूर्णिमा का उत्सव शिक्षा-संस्थाये मनाती है। प्राथमिक-शिक्षा से लेकर विश्व विद्यालय की उच्च शिक्षा तक का माध्यम वहाँ थाई भाषा ही है। विदेशी-भाषाओ को यहाँ शिक्षा-माध्यम में स्थान नही दिया गया है। बी० ए० उपाधि को वहाँ 'पण्डित' और एम० ए० उपाधि को 'महापण्डित' शब्द के साथ सम्बोधित करते है।

जनता अपनी धर्म आस्था की अभिव्यक्ति एक बार अनिवार्य रूप से भिक्षु-दीक्षा लेकर व्यक्त करती है। बुद्धसघ उस श्रद्धा का सदुपयोग करता है— व्यवस्थित, नियंत्रित एवं परिष्कृत करता है। साथ ही ऐसी योजनायें बनाकर तैयार रखता है, जिसके अनुसार उस धर्म-प्रेरणा को उपयोगी कार्यों मे सलग्न किया जा सके। अनेको सृजनात्मक योजनाये तैयार रहती है, उन्हें पूरा करने के लिए विहार में प्रविष्ट भिक्षुओ को लगा दिया जाता है। उनके श्रम, ज्ञान एवं मनोयोग का समन्वित उपयोग मिलने से अनेको उपयोगी योजनाये बिना किसी अतिरिक्त खर्च के सहज ही चलती रहती है। सुयोग्य व्यक्ति बिना किसी पारिश्रमिक के यदि रचनात्मक कार्यो में लगेगे तो उस देश में बहुमुखी प्रगति की बाढ़ आयेगी ही। इस दिशा मे थाईलैण्ड की बुद्ध संस्था बहुत सजग है, वह किसी भी भिक्षु को उच्छृखंल, अनियन्त्रित नही होने देती। हर किसी को पूर्ण अनुशासन में रहना पड़ता है। यदि भारत की तरह वहाँ के भिक्षु स्वेच्छाधारी बन जायें और अनियंत्रित सॉड़ की तरह विचरें तो इस छोटे से देश की इतनी बड़ी भिक्षु-संख्या देखते-देखते टिड्डी दल की तरह सारी समृद्धि को चट करके रख दे। पर वहाँ की दूरदर्शी धर्म-संस्थायें वैसा होने नही देती। अनुशासन और धर्म-परायणता को वहाँ परस्पर पूर्णतया समन्वित बनाने का सफल प्रयोग किया गया है।

इस दिशा मे राजकीय सहयोग भी पूरा है। राज्यकोष से मठो को मुक्त हस्त से सहायता दी जाती है, साथ ही उनकी गतिविधियों पर नियन्त्रण भी रखा जाता है। धर्मसघ मे शासन के प्रतिनिधि भी सम्मिलित रहते है। वे धर्म-प्रसंग मे तो हस्तक्षेप नही करते, पर यह अवश्य ध्यान रखते है कि जनता के दिये हुए तथा शासन से मिले धन का उपयोगी प्रयोजनों मे ही खर्च किया जाता है या नही? कही अपव्यय तो नही होता ?

थाईलैण्ड कृषि-प्रधान देश है। वहाँ ८४ प्रतिशत लोग खेती करते है, पर वे अत्यन्त कर्मठ पुरुषार्थी, शान्ति-प्रिय और धर्म-परायण लोग है। परस्पर मिल-जुल कर रहना और हँसी-खुशी की जिन्दगी जीना उन्होने धर्म संस्था से सीखा है। भिक्षु-सेना ने उन्हे अनेकानेक सद्‌गुण सिखाये है और परिष्कृत स्तर का जीवन किस तरह जिया जा सकता है ? यह बताया गया है। इस प्रशिक्षण से न केवल उनकी विचार पद्धति ऊँची उठी है वरन् भौतिक समृद्धि भी बढ़ी है। यह आश्चर्यजनक प्रसंग है कि एशिया के किसी भी देश की अपेक्षा थाईलैण्ड निवासियो की औसत आमदनी कहीं अधिक है। वे सुसम्पन्न है। उस देश की विदेशी मुद्रा बहुत मजबूत है। स्वर्ण कोष की दृष्टि से थाईलैण्ड की साख और धाक संसार के आर्थिक क्षेत्र मे मानी जाती है। धर्म-समन्वय, रक्त-समन्वय उस देश की अपनी विशेषता है। इसके अतिरिक्त सीमित समय के लिये साधुदीक्षा लेने वाली पद्धति और भी

अधिक उपयोगी सिद्ध हुई है। इन सब बातों ने उस छोटे-से देश को अपने ढंग की अत्यन्त महत्त्वपूर्ण प्रगति करने का अवसर दिया है।

स्याम (थाईलैण्ड) मे भारतीयों की महत्त्वपूर्ण हलचलों का विवरण दक्षिण भारत के तिरुवलम् में उपलब्ध एक लेख से चलता है। उन दिनो वैष्णव धर्मावलम्बी मणिग्रामम् संघ के सदस्य स्याम जाकर रहने लगे थे। तेरहवी सदी तक स्याम कम्बोडिया का ही एक अंग था, उसकी स्वतंत्रता राजा इन्द्रादित्य के द्वारा संभव हुई। वे १२१८ में सिंहासनारूढ हुए। इसके बाद राम राजा-सूर्य वंश राम, रामाधिपति राज, वर धीर राजा, महामहिन्त आदि उत्तराधिकारी होते रहे। इस बीच उस देश पर वर्मा के राजा आक्रमण करने लगे थे। सन् १५१० मे इन्द्रराजा का शासन था। वर्मा, फ्रेंच, अग्रेज इस क्षेत्र मे तरह-तरह के षडयन्त्रो के साथ आधिपत्य जमाते रहे। तो भी राजतंत्र किसी प्रकार चलता रहा। १८६८ से १९११ तक चूड़ालकार राजा का शासन था। सन् १९११ से १९२६ तक वाजीरा बुध नामक राजा रहा। इसे भी राम की उपाधि प्राप्त थी। यह स्याम की शासन परम्परा मे छठा 'राम' था। यो यहाँ बौद्ध धर्म सन् ४२२ मे ही पहुँच गया था पर तेरहवी सदी तक प्रमुखता ब्राह्मण धर्म की ही रही। स्याम बहुत समय तक कम्बोडिया के शासन के अन्तर्गत ही था इसलिये स्वभावतः उस क्षेत्र की प्रजा पर शैव शासन का प्रभाव बना रहा । राजा धर्माशोक ने स्याम मे एक भव्य विष्णु मन्दिर बनाया था। इसी प्रकार अन्यान्य राजा अपने कृति स्मृति के लिये कई-कई मन्दिर बनाते रहे, जिनके भग्नावशेष अब तक उस क्षेत्र मे जहाँ-तहाँ बिखरे पड़े है। जो बचे हुए है उनमे देव-पूजा अभी भी प्रचलित है। फ्रोके के शिव मन्दिर मे अभी भी श्रद्धापूर्वक पूजा होती है। ब्राह्मण वर्ग का अस्तित्व अभी भी यहाँ है। ब्राह्मण को ब्रह्म, ब्रह्म को 'फ्रम' कहने की अपभ्रंश परम्परा चली। फ्रम जाति के लोग ही यहाँ कर्मकाण्ड कराते है और पवित्र माने जाते है। देव नगर तो इन्ही की बस्ती है। इन्ही लोगो के आचार व्यवहार मे ब्रह्मण परम्पराओं का दर्शन अभी भी किया जा सकता है।

थाईलैण्ड के वर्तमान राजगुरु भारतीय मूलक ब्राह्मण हैं। शिखा, यज्ञोपवीत, धोती धारण करने वाले वासुदेव मुनि के पूर्वज अब से एक हजार वर्ष पूर्व दक्षिण भारत से उस देश में पहुँचे थे। तत्कालीन शासको के वे राजगुरु थे। पीछे वही पद उनके वंशजो को मिलता चला आया।

यो उस देश के वर्तमान शासक भी अपने पूर्वजो की तरह ही बौद्ध धर्म मानते हैं। फिर भी उनने ब्राह्मण धर्म के प्रति सहिष्णुता और समन्वय की नीति अपनाई और कट्टर ब्राह्मणधर्मी पुरोहितों को राज गुरु मानने मे कोई आपत्ति नही की। राज्य कोष से इन राजगुरु को आजीविका मिलती है। उन्हीं के परिवार के १० अन्य ब्राह्मण भी हैं, जो मन्त्र विद्या एवं कर्मकाण्ड विधान के जानकार है। उन्हें भी राजकोष से वृत्ति मिलती है। इन लोगो को विशेष आचरणो का पालन करना पड़ता है। वे मांस नही खाते।

राजकीय धर्म-कृत्यों की व्यवस्था यही मण्डली कराती है। यह सभी ब्राह्मण शिखा, यज्ञोपवीत से युक्त धोती परिधान धारण करने वाले होते है।

राजगुरु का अपना एक मन्दिर है, जिसे 'देवस्थान' कहा जाता है। विष्णु, गणेश, शिव, इन्द्र, सूर्य, दुर्गा, सरस्वती, लक्ष्मी की मूर्तियाँ इसमे स्थापित है। साथ ही भगवान विष्णु बुद्ध देव भी वही उच्च आसन पर विराजमान है।

थाईलैण्ड मे रामायण कथा बहुत लोकप्रिय है। वहाँ के निवासियो का विश्वास है कि वह घटनाक्रम उन्ही देश मे सम्पन्न हुआ था। रामायण की नृत्य-नाटिकाये बहुधा आयोजित होती रहती है और उनमे जनता बहुत रुचिपूर्वक भाग लेती है.

थाई भाषा की एक पुस्तक है—"बाली की भाई को शिक्षा" यह कर्तव्य पालन और नीति निष्ठा की आदर्श पुस्तक है। बालि ने अपने भाई सुग्रीव को जो धर्म-नीति सिखाई उसी का इसमे वर्णन है। इसे प्रायः सभी स्कूलो मे पढ़ाया जाता है।

स्याम का प्राचीन साहित्य रामायण, महाभारत आदि भारतीय धर्म-ग्रन्थो की अनुकृति है। बौद्ध धर्म प्रवेश के बाद वहाँ बौद्ध साहित्य स्यामी भाषा मे प्रचुर परिणाम में छपा है। स्यामी भाषा में संस्कृत शब्दो की

भरमार है। प्राचीन काल के शिलालेख संस्कृत भाषा में पाये गये हैं। इससे पता चलता है, कि वहाँ किसी समय संस्कृत की ही प्रधानता रही है। यों वहाँ सर्वत्र देव मन्दिरों के ध्वंशावशेष बिखरे पड़े है, पर इनमे 'लोफ बुरि' विशेष रूप से दर्शनीय है। जीवित प्राचीन धर्मस्थानो मे ऐसे भी कितने ही है, जो पहले हिन्दू मन्दिर थे पीछे उन्हें बौद्ध मन्दिरो में बदल दिय गया।

स्याम (थाईलैण्ड) पर प्रकाश डालने वाले ग्रन्थो मे से कुछ के नाम यह हैं— (१) ए हिस्ट्री ऑफ स्याम फ्रॉम दी अर्लिएस्ट टाइम (२) ए सेलमानी कृत-स्कलप्वर इन स्याम (३) सरजान मार्शल कृत-बुद्धिष्ट आर्ट इन स्याम (४) मजूमदार कृत-इण्डियन कोलोनाइजेशन इन स्याम (५) नीलकण्ठ शास्त्री कृत-साउथ इण्डिया इन्फ्लुएन्सेस इन फॉर ईस्ट।

सामान्य आबादी वाला यह देश वर्षा की दृष्टि से बहुत ही प्रभावशाली है। वह कृषि प्रधान देश है। ८४ प्रतिशत लोग खेती करते हैं। वहाँ की औसत आय एशिया के किसी भी देश से ज्यादा है। विदेशी मुद्रा एव स्वर्ण से थाईलैण्ड की आर्थिक साख बहुत ही मजबूत मानी जाती है।

मलेशिया और सिंगापुर

वर्तमान मलेशिया छः हजार द्वीपो का एक समूह है, जिसमे प्राधानतया मलाया प्रायद्वीप, सुमात्रा, बाली, बोर्नियो और सालिबीज आते है। प्राचीन समय मे वर्मा से लेकर मलेशिया का यह सारा क्षेत्र भी भारत मे 'स्वर्ण द्वीप' या 'स्वर्ण भूमि' के नाम से पुकारा जाता था। अरब इतिहासकारो ने भी इस क्षेत्र को स्वर्ण द्वीप ही माना है। अलबरूनी, इब्न, रुईद-फरिन्द के ग्रन्थो मे यही नाम दिया गया है।

जातक ग्रन्थो तथा कथा साहित्यसार, कथाकोष आदि में इस सुवर्ण द्वीप की तत्कालीन स्थिति का सुविस्तृत वर्णन है। वर्तमान जावा प्राचीन समय में यव द्वीप कहा जाता था। इस क्षेत्र को बसाने वाले लोगो को इतिहासकारो ने "इण्डोनेशियन" कहा है। उनकी आकृति-प्रकृति का जिस प्रकार वर्णन किया जाता है, उसे देखते हुए उन्हे भारतीय मानने मे कोई संकोच नही रह जाता।

मलेशिया क्षेत्र में ईसा की पहली-दूसरी शताब्दी में हिन्दू धर्म पहुँचा और सातवीं सदी तक निर्बाध गति से फैलता और बढ़ता रहा। उस क्षेत्र मे मिले ध्वंशावशेष और शिलालेख इस तथ्य की परिपूर्ण पुष्टि करते हैं। फाहियान के अनुसार उस क्षेत्र पर हिन्दू धर्म का भारी प्रभाव था। चीनी यात्री ईचचिंग के समय तक वहाँ उस क्षेत्र के दस राजा बौद्ध धर्मानुयायी बन चुके थे और प्रजा ने इस धर्म को भली प्रकार अंगीकार कर लिया था। नालन्दा विश्वविद्यालय के आचार्य धर्मपाल तथा भिक्षु वज्रबोधि के प्रयास से इस सारे क्षेत्र मे बौद्ध धर्म का विस्तार द्रुतगति से हुआ था। चीनी विवरणो के अनुसार इस क्षेत्र में भारतीयों के आवागमन की भारी भीड बनी रहती थी और हजारों यात्री हर रोज यहाँ से वहाँ आया-जाया करते थे।

चीन के 'लेग वशीय' विवरण के आधार पर यह पता लगा है कि मलाया के राजा भगदत्त ने सन् ५१५ मे अपना राजदूत 'आदित्य' चीन भेजा था और उसके हाथों एक पत्र सहित ४१ उपहार वस्तुये चीन पहुँचायी थी। इसके बाद के राजाओ के नाम के साथ 'वर्मा' शब्द जुड़ा होता है। यह सिद्ध करता है कि वह क्षेत्र हिन्दू राजाओ के हाथो मे रहा है। चीनी इतिहास मे एक उल्लेख यह भी है कि चीन सम्राट हाई दू (४५४-६५) के समक्ष मलाया के राजा श्रीवर नरेन्द्र ने अपने सन्देशवाहक रुद्र के हाथो कुछ उपहार भेजे थे। यह नाम हिन्दू धर्मानुयायियो के ही हो सकते है। इस क्षेत्र के 'सुनगेई वतु' मे तथा 'फलो' पर्वत पर जो प्राचीन आदेश एव शिलालेख मिले है, उनसे स्पष्ट होता है कि वहाँ हिन्दू राज्य था और संस्कृत भाषा प्रयुक्त होती थी। यह अवशेष चौथी पाँचवी शताब्दी के है।

मलाया और जावा की बनी हुई भारतीय मूर्तियाँ पीरू और मैक्सिको तक मिलती हैं। मलायी भाषा के संस्कृत के हजारो शब्द मौजूद है। यो पन्द्रहवी सदी मे अरबो से पराजित होने पर मलाया निवासियो को इस्लाम स्वीकार करना पड़ा, फिर भी अब तक उस देश के निवासियो के नाम हिन्दू नामो से मिलते-जुलते पाये जाते है। प्राचीन काल के राजाओं के नाम भूमिपाल, आनन्द मही, नरोत्तम वर्मन, जय वर्मन, इन्द्र वर्मन आदि

होना इसी तथ्य पर प्रकाश डालता है कि इस देश पर हिन्दू सभ्यता की गहरी छाप थी।

यूनान के भूगोल वेत्ता पाटोलेमी ने मलाया आदि भारत के सारे देशों का उल्लेख 'इण्डिया बियांड दि गेंगेज' अर्थात् गगा पार का भारत का नाम देकर किया है। किसी समय में यह देश भारतीय धर्म के अन्तर्गत ही था। अभी भी वहाँ पर लगभग आठ लाख भारतीय मौजूद हैं, जो वहाँ की जनता के १५ प्रतिशत हैं। आधे से अधिक मलायी किसी समय के भारतीय ही हैं।

प्रख्यात इतिहासवेत्ता सिलवियन लेवी ने लिखा है ईराक से लेकर चीन सागर तक का और प्रशान्त महासागर के द्वीपो से लेकर आस्ट्रेलिया के पूर्वी तट पर स्थित 'कोमा' द्वीप तक भारत ने मानव जाति की एक चौथाई जनसंख्या को पिछली शताब्दियों में प्रभावित किया है।

चौथी सदी में भारतीयो की अनेक बस्तियाँ मलाया में बसी हुई थी, इनमें से बड़ी बस्तियाँ चुन फान, काया, नाटवान, धम्मरत, श्रीमान याला, सीलिन सिंग, मलक्का, वेलेजली, टकुआ, लानया नाम से प्रख्यात थी। इन क्षेत्रों की खुदाई में जो सामिग्री मिली है उससे पता चलता है कि पल्लव और चोल वंश के राजाओं का क्षेत्र पर शासन था। इन राजाओं में राजेन्द्र का प्रभुत्व था। तब हिन्दू धर्म और बौद्ध धर्म का भी यहाँ भारी प्रसार था।

भारतीयों को मलय प्रायद्वीप के सम्बन्ध में जानकारी अति प्राचीन काल, संभवतः ईसा युग के पूर्व से अवश्य ही थी। हिन्दुओं ने मलय प्रायद्वीप मे कई हिन्दू राज्यों की स्थापना की थी, जिनमें से कुछ दूसरी शताब्दी ईसा पूर्व मे कायम हुए थे। इसके सम्बन्ध में चीनी विवरण प्राप्त है। इसके अतिरिक्त 'पान-पन' 'फुनन' कमलंका, कलसपुर, कल (केदाह) तथा 'पाग' हिन्दू राज्य थे।

मलय प्रायद्वीप मे यद्यपि प्राचीन हिन्दू सभ्यता एव संस्कृति के वास्तविक अवशेष कम मात्रा मे प्राप्त है, फिर भी उनका बिल्कुल अभाव नही है। गनाग जेराई (केदाह शिखर) पर्वत की तलहटी में सुगइबतू राज्य मे एक हिन्दू मन्दिर तथा कुछ पाषाण मूर्तियो के अवशेष प्राप्त हुए हैं। इसी क्षेत्र के केदाह में ईटो से बना हुआ बौद्ध मन्दिर का अवशेष प्राप्त हुआ है। संभवतः यह अवशेष चौथी अथवा ५वीं शताब्दी ईस्वी का है। इसकी जानकारी उक्त अवशेष के साथ प्राप्त शिलालेखों से होती है। इसी तरह मलाया के उत्तरी भाग में स्थित वेलेसली प्रान्त में कुछ बौद्ध मन्दिरों के खम्भों के ध्वंशावशेष प्राप्त हुए हैं। ये भी ४वी और ५वीं शताब्दी ईस्वी के हैं जिसकी जानकारी इन पर हुई खुदाई से होती है। सेलेन्सिग (परेक) क्षेत्र में सोने का एक आभूषण, जिस पर गरुड़ पर आसीन विष्णु का चित्र अंकित है, प्राप्त हुआ है और इसके साथ ही एक गड्ढा, जो कि एक गिरे हुए वृक्ष के जड़ से उखड़ जाने से बन गया था, में से एक "कारनेलियन सील" प्राप्त हुआ है, जिस पर "श्री विष्णु वर्मन का नाम ५वीं शताब्दी ईस्वी की लिपि में खुदा हुआ था।

तकुअ-प (जिसे पटोलेमी ने "टकोला" प्राचीन प्रसिद्ध बन्दरगाह बतलाया है) के चारों ओर के क्षेत्र में मन्दिरों एवं सुन्दर मूर्तियों के ध्वशावशेष कायम हैं। पूर्वी समुद्र पर बन्दोन की खाड़ी के चारो तरफ ४वी या ५वी शताब्दी ईस्वी काल की प्राचीन बस्तियो (नगरों) के खण्डहर विशेषकर प्रसिद्ध क्षेत्र सिया, नखोन, श्रीधम्मरत एवं भीग श्री में मौजूद हैं। इस क्षेत्र (भिगोर) की मूर्तियाँ एवं मन्दिर कुछ बाद के काल के हो सकते हैं, पर 'लिगोर' और 'तकुअ-पा' तथा 'सिया' के पाषाण खम्भों मे प्राप्त शिलालेखो से यह प्रकट होता है कि वे बस्तियाँ चौथी अथवा ५वीं शताब्दी ईस्वी के बाद की नही हैं।

मलय देश के विभिन्न भागों मे बडी संख्या मे जो शिलालेख प्राप्त हुए है वे संस्कृत भाषा मे तथा करीब ४वी या ५वी शताब्दी ईस्वी में प्रचलित भारतीय अक्षरो में लिखे हुए है। उनमे से दो शिलालेखो मे बौद्ध धर्म के सिद्धान्तो का स्पष्ट उल्लेख मिलता है, जो कि यह सिद्ध करता है कि उस क्षेत्र मे बौद्ध धर्म का प्रचार था। केदार के पास एक मिट्टी की तख्ती प्राप्त हुई है, जिस पर सस्कृत भाषा में तीन पद खुदे हुए है। ये संस्कृत पद सम्भवत. महायान माध्यमिक शाखा के स्रोत के अंश है। उनमे तीनो संस्कृत पद जो कि महायान शाखा के दार्शनिक सिद्धान्तों का प्रतिपादन करते हैं, 'सागरमति परिप्रिदहा' के चीनी अनुवाद मे

उपलब्ध है। इससे यह प्रमाणित होता है कि मलय में छठवीं शताब्दी ईस्वी मे या उसके पूर्व से महायान बौद्ध धर्म प्रचलित था। मलय प्रायद्वीप में बड़ी सख्या मे प्राप्त शिलालेखो से यह स्पष्ट रूप मे प्रकट है कि भारतीयो ने ४वी या ५वी शताब्दी ईस्वी तक में मलय के उत्तरी, पश्चिमी तथा पूर्वी भागों में हिन्दू राज्य कायम किया था और ये भारतीय उत्तरी तथा दक्षिणी भारत के रहने वाले थे। इन शिलालेखों में से एक शिलालेख में महानाविक "बुद्धगुप्त" के बारे मे उल्लेख है, जो कि रक्तमृतिका का रहने वाला था। रक्तमृतिका (लाल मिट्टी) बंगाल में मुर्शिदाबाद से १२ मील दक्षिण में स्थित 'रमभाटी' ही है।

मलय में भारतीय संस्कृति के प्रसार पर प्रकाश डालने वाले उपलब्ध साहित्यिक प्रमाण की पुष्टि, मलय प्रायद्वीप में प्राप्त पुरातत्वीय अवशेषो से होती है।

टक्कोल-आधुनिक तकुअ-प भारतीय यात्रियो का मलय में उतरने का प्रथम स्थान था, जहाँ से कुछ यात्री पर्वतो को पार कर बन्दोन की पहाड़ी के मैदानी क्षेत्र मे पहुँचते थे। यहाँ के भारतीय यात्री भूमि अथवा समद्री मार्ग से स्याम, कम्बोडिया अन्नम, (चम्पा) और सुदूर पूर्व के देशो मे जा सकते थे। इस भूमि मार्ग पर प्राचीन भारतीय बस्तियों के खण्डहर कायम है। दूसरा समुद्री मार्ग भी बहुत लोकप्रिय था और उसका बहुत उपयोग भी होता था। इस तथ्य की जानकारी बेलेसली प्रान्त मे उपलब्ध पुरातत्वीय अवशेषो से होती है। मलय प्रायद्वीप पूर्व से भारतीय राज्यों तक पहुँचे के लिये मुख्य द्वार था।

मलय प्रायद्वीप मे पुरातत्वीय खोज दल की रिपोर्ट हिन्दू उपनिवेशीकरण के सम्बन्ध मे निम्मिलिखित है—

"इन उपनिवेशो की संख्या बहुत थी और ये दूरस्थ केन्द्रो जैसे पूर्वी तट मे स्थित चुभफौन, सिया, बन्दोन नदी की घाटी नरवोन श्री धम्मरत लिगोर मल (पटनी के पास) और सेलेनसिंग (पेहंग मे) और पश्चिम तट मे स्थित मलक्का, वेलेसली प्रान्त, तकुअ-पा और लनय, एवटेनस्सेरिम, नदियो के पश्चिमी तट मे बसे हुए थे। इनमे सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण नरवोन धम्मरत (लिगोर) था । यह वास्तविक रूप में एक बौद्ध उपनिवेश था, जिसने संभवतः नरवोन श्री धम्मरत का विशाल स्तूप निर्माण करवाया था और साथ ही ५० मन्दिरो का एक हिस्सा भी बनवाया था, जो कि इस स्तूप के चारों ओर बने हुए है इसमे थोडा उत्तर मे 'सिया' उपनिवेश स्थित था, जहाँ पहले ब्राह्मण धर्म और बाद में बौद्ध धर्म प्रचलित था।

प्राप्त प्रमाणो के आधार पर यह मान्यता सही है कि बन्दोन की खाड़ी के चारो तरफ के क्षेत्र से भारतीय संस्कृति का प्रसार सुदूर पूर्व के देशो में होता रहा है। मलय द्वीप के पश्चिमी तट पर टकुआ-पा के पास सामान्यः भारतीय रंग रूप के लोग अभी भी पाये जाते है। नरवीन श्रीधम्मरत और पतलग स्थानो पर भी अभी भारतीय वशज ब्राह्मणो का समाज रहता है, जो कि यह मानता है कि "उनके पूर्वज भूमि मार्ग से मलय द्वीप में भारत से आये थे।

मलाया में यो इस्लाम धर्म के अनुयायियो का बाहुल्य है। वहाँ के सम्राट कहलाते है। सुल्तान के नाम के साथ जुड़ने वाली अनेक उपाधियों मे से एक 'श्री पादुका' भी है। जिस प्रकार भरतजी राम की चरण पादुकाओ को अयोध्या के शासन का स्वामी मानते थे और अपने को कार्यवाहक मात्र कहते थे, उसी प्रकार सुल्तान भी राजगद्दी का स्वामी भगवान को मानकर कार्य संचालन करते है। यह मर्यादा "श्रीपादुका" उपाधि में है।

मलाया के मुसलमानो मे निकाह तो इस्लामी विधान के साथ ही होता है पर उस अवसर पर रामायण या महाभारत का कोई अभिनय अवश्य किया जाता है। यदि वैसा न किया जाय तो निकाह पूरा हुआ नही माना जायेगा।

यहाँ के इस्लाम धर्मानुयायियो पर भी हिन्दू धर्म की छाप अभी भी दृष्टिगोचर होती है। स्त्रियो मे पर्दा बिल्कुल नही है। ये कठोर श्रम करती है। गृह व्यवस्था को भली प्रकार सँभालती है और उपार्जन मे भी पुरुष के कन्धा से कन्धा मिलाकर चलती है। इस देश मे जुक्रस, समांग, सारेसा नामक आदिवासी जातियॉ भी है, जो प्रायः जंगलो में रहती है। इनकी संख्या अब मात्र ३० हजार रह गयी है और निरन्तर घट रही।

मलाया मे ११ प्रतिशत भारतीय ४४ प्रतिशत मलायी और ३९ प्रतिशत चीनी है। रबड़ तथा खनिज पदार्थ की यहाँ अच्छी पैदावार है। मौसम यहाँ कश्मीर जैसा सुहावना रहता है। वर्षा बहुत होती है जमीन उपजाऊ और हरी-भरी है। गन्ना नारियल, अनन्नास के उत्पादन यहाँ से निर्यात किये जाते है। टीन, गटा पारचा, डेमाइरस, सेवियर आदि खनिज भी विदेशी मुद्रा उपार्जित करते है।

सन् १८२० मे यहाँ अंग्रेजो ने अपना कब्जा जमाया और एक शताब्दी से अधिक वहाँ शासन करते रहे। ३१ अगस्त १९५७ को इस देश की जनता ने स्वतत्रता प्राप्त कर ली। सिगापुर, सारावान, उत्तरी बोर्निया और मलाया को मिलाकर सितम्बर ६१ से एक सघ बनाया गया जिसका नाम मलेशिया रखा गया। अब मलाया इसी सघ की एक इकाई है।

मलाया की अधिक प्रामाणिक जानकारी तथा उस क्षेत्र पर भारतीय संस्कृति के प्रभाव का विवरण उपलब्ध करने के लिये इवान्स द्वारा सम्पादित "पेपर्स ऑन दि एथनोलोजी एण्ड आरकियोलॉजी ऑफ दि मलय" जे. टक्कुसु कृत—ए रिकॉर्ड ऑफ बुद्धिस्ट रिलीजन-इज प्रैक्टिस्ड इन इण्डिया एण्ड दि मलाया आर्चप्रलेगो और क्वारिच कृत-आरकियोलाजिकल रिसर्चेज आन एन्सिएन्ट इण्डियन कोलोनाइजेशन" पुस्तके अधिक विस्तृत एव प्रामाणिक जानकारी प्रस्तुत करती है।

भारतीय सिंहबाहु नौका द्वारा लम्बी यात्रा क.के सिंहापुर पहुंचे। उन्होने उस द्वीप को आर्थिक और राजनैतिक दृष्टि से समुन्नत बनाने का सफल प्रयत्न किया। उन्हे विजय लाभ करने के उपलक्ष्य में 'श्रीविजय' कहा जाने लगा।

एक विवरण ऐसा भी उपलब्ध है जिसके अनुसार सिंहापुर की स्थापना राजा दलपत सिह ने की। तभी उनका नाम सिंहपुरा रखा गया। पीछे बदलकर वह सिंगापुर हो गया। दक्षिणी-पूर्वी एशिया का यह सबसे धनी नगर है। वहाँ का जीवन स्तर यूरोप जैसा ऊँचा है। यहाँ के भारतीय श्रमिक अपनी ईमानदारी और श्रमशीलता के कारण अभी भी सम्मान की दृष्टि से देखे जाते है।

सिंगापुर द्वीप का क्षेत्रफल १९२ वर्ग मील है। पहले उसमें दलदल और डाकुओ के अड्डे थे। सन् १८१९ मे अंग्रेजो ने उस पर कब्जा जमाया। सर रैफेल्स के तत्वावधान में उसकी सफाई और बसावट का कार्य किया गया । वहाँ चीनी, मलायी और भारतीयो का बाहुल्य है।

सिंगापुर में पर्याप्त संख्या मे भारतीय रहते है। इनमें एक तिहाई श्रमिक, एक तिहाई दुकानदार और एक तिहाई उच्च सरकारी और गैर-सरकारी नौकरियो मे लगे हुए है और व्यापार करते है। अब यहाँ चीनी मूल लोगों की भारी घुसपैठ हो गयी है, उनकी संख्या ६० प्रतिशत तक जा पहुँची है और हिन्दुस्तानी ४ प्रतिशत रह गये है।

यहाँ भारतीयो की लगभग दो दर्जन संस्थाये, जिसमें इण्डियन चेम्बर ऑफ कॉमर्स प्रमुख है। ११ हिन्दू और बौद्ध मन्दिर, ४ गुरुद्वारे और लगभग १०० मस्जिदें है। कुल जनसंख्या २० लाख है। सिंगापुर के करोड़पतियो में भारतीयों की भी गणना है। रामकृष्ण मिशन वहाँ ५० वर्ष से काम कर रहा है। इसके दो भव्य मन्दिर है। एक अस्पताल एक अनाथालय है तमिल भाषा के दो स्कूल भी मिशन की ओर से चल रहे है। सिगापुर मे कस्टम ड्यूटी न लगने के कारण जापान तथा योरोप अमेरिका की वस्तुये बहुत सस्ती हैं।

पश्चिमी एशिया में भारतीय वर्चस्व

पश्चिमी एशिया के इतिहास की विशद् गवेषणा करने वाले योरोपीय पुरातत्व विज्ञानी एच विलियर्स, परगिटर, स्टार्नो, ग्रीशमान, देरी डोरस आदि ने यह निष्कर्ष निकाला है कि किसी समय यह क्षेत्र भारतीय संस्कृति से प्रभावित था, जिसे वहाँ तक भारतीय राजाओ तथा धर्म प्रचारकों ने पहुँचाया।

महमूद गजनवी के दरबारी लेखक अलबरूनी ने अपनी पुस्तक मे ऐसे हवाले दिये है, जिनसे ईरान और भारत की घनिष्ठता सिद्ध होती है। प्राचीन अरब अल याकूबी ने भी इसी तथ्य की पुष्टि की है।

अलीगढ़ विश्वविद्यालय के प्रो. मकबूल अहमद ने अपनी भारत और अरब सम्बन्धी पुस्तक मे पश्चिम

एशिया के शासकों को भारतीय देवी-देवताओं की पूजा करने वाला लिखा है। उन्होने यह भी लिखा है कि मेद राजाओ ने ईसा से ७५० वर्ष पूर्व उत्तरी ईरान पर अधिकार किया, फिर उन्होने यूनान और मिश्र पर अधिकार किया। इक्ष्वाकु के दामाद क्रुश का ईरान पर शासन था। जिस व्यक्ति को मिश्र का गवर्नर नियुक्त किया था उसका नाम आर्यन दास था।

प्रो. मैक्समूलर ने अपनी 'साइन ऑफ लेंग्वेज' पुस्तक में लिखा है—फारसी लोगो ने आर्य वंशी परम्पराओ को अधिक सुरक्षित रखा है वे लोग भारत के उत्तर-पश्चिम भाग से चलकर फारस मे बसे थे। उनके धर्म ग्रन्थ जिन्दावस्ता मे भारतीय धर्म दर्शन ही भरा पड़ा है। सर विलियम जोन्स ने अपनी भाषा-शोध में इस बात की चर्चा की है कि जिन्द कोष मे साठ-सत्तर फीसदी शब्द शुद्ध संस्कृत के है।

यहूदी लोग अपने को 'युदा' की सन्तान कहते हैं। वस्तुतः यदुवंश का संकेत है। तातार लोग अपना आदि रूप 'अय' को मानते हैं पुराणो के अनुसार राजा पुरुवा का पुत्र 'अय' था। चीनियो के पुराण पुरुष 'हय हो' हय सम्राट यदु के पौत्र थे। राजा सगर के आदेश से जिस पल्ली नगर के बसाये जाने पर पुराणो में उल्लेख मिलता है, उस पल्ली स्थान की सगति वर्तमान फिलिस्तीन से ठीक प्रकार बैठ जाती थी।

यहूदी धर्म की एक पुराण कथा के अनुसार पैगम्बर एजेकील के समक्ष परमेश्वर ने गरुड़ पक्षी और सुदर्शन चक्र प्रकट किया था। यह विष्णु भगवान का प्रतीकात्मक उल्लेख है। पश्चिमी एशिया मे ईराक और अफगानिस्तान ऐसे देश है, जिनमें प्राचीनकाल मे भारतीय सस्कृति की गहरी छाप रही है। इन देशो तक किसी जमाने की भारत की सीमाये फैली हुई थी। दसवी शताब्दी मे अफगानिस्तान पर हिन्दू राजा राज्य करते थे। डॉ. एडवर्ड डी सचऊ द्वारा सम्पादित ग्रन्थ अलबरूनी का भारत मे अफगानिस्तान की बहुत-सी प्राचीन इमारतो का उल्लेख है, जिन्हे हिन्दू राजाओं ने बनवाया था। काबुल मे महानुभावो के तीन प्राचीन मन्दिर अभी विद्यमान है। बामियाँ घाटी में एक चट्टान काटकर बनायी गयी भगवान बुद्ध की एक विशाल प्रतिमा है। उसी क्षेत्र की पहाड़ियो मे एलोरा, अजन्ता करता और माजा जैसी सुन्दर प्रतिमाये खुदी हुई मिलती है। यहाँ के एक पुराने नगर का नाम है 'नगर हर' अर्थात् शिवजी का नगर। अफगानिस्तान की भाषा पश्तो में संस्कृत शब्दो की भरमार है।

पिछले सत्तर वर्षो मे पश्चिमी एशिया मे जो पुरातत्व अनुसंधान हुआ है उससे प्रकट होता है कि इस क्षेत्र मे दूर-दूर तक भारतीय सभ्यता के अवशेष बिखरे पड़े है। नार्वे के इतिहासवेत्ता प्रो. नूडिटजन, जर्मन पुरातत्व खोजी प्रो. हुमा विकला तथा प्रो कर्टवेटल ने तुर्को का एक प्राचीन नगर हातुमा खोद निकाला, जिसमें हिन्दू मन्दिरो के अवशेष तथा संस्कृत भाषा मे खुदे कई शिलालेख मिले है। इन शिलालेख में वहाँ पर खेत्री शासको का उल्लेख है। इतिहास वेत्ता इस बात से सहमत है कि यह खत्री शब्द भारत मे प्रचलित क्षत्री शब्द का ही अपभ्रंश है। एक राजा का नाम था परशुराम। उसके बेटे का नाम था लव वर्ण।

खुदाई से प्रमाण मिले है कि 'हातुमा' ई पू १७४० मे आर्य देश के अन्तर्गत था। इसमें प्राचीन काल के देव मन्दिर मूर्तियाँ तथा पूजा उपकरण निकले है। इस नगर की आबादी उस समय २० हजार रही होगी। इमारतो पर भारतीय शिल्प की पूरी छाप है। इसी प्रकार १९३७ ई. की खुदाई मे कुसररा नगर निकला तो उसमे भी इन्द्र देवता की प्रतिमाये तथा अन्य भारतीय कलाकृतियाँ निकली।

उपलब्ध शिलालेखो मे वहाँ ई पू १८०० मे सिगात नामक भारतीय राजा के शासन की चर्चा है। उसी क्षेत्र मे केशी (काशी) के शिलालेखो से इतिहासकार आर. ग्रीशमान ने निष्कर्ष निकाला है कि ईरान के इस क्षेत्र मे काश्यप ऋषि का वर्चस्व रहा है।

ईरान में सातवी सदी मे हर वामनी नाम कुरुवंशी राजा का राज्य था। तब उसका राज्य विस्तार भारत तक जुड़ा हुआ था। दारिय बाहु (डेरियस) नामक बादशाह अब से ढाई हजार वर्ष पूर्व हुआ है, उसका गहरा सम्बन्ध भारत के साथ था।

ईरान के पुरातन शासक पहलवी कहलाते थे। वे भारत के पल्लव राजवंश से थे। राजा लोग अपने नाम के आगे अभी शाह शब्द लगाते है। नेपाल के राजा

मलाया मे ११ प्रतिशत भारतीय ४४ प्रतिशत मलायी और ३९ प्रतिशत चीनी है। रबड़ तथा खनिज पदार्थ की यहाँ अच्छी पैदावार है। मौसम यहाँ कश्मीर जैसा सुहावना रहता है। वर्षा बहुत होती है जमीन उपजाऊ और हरी-भरी है। गन्ना नारियल, अनन्नास के उत्पादन यहाँ से निर्यात किये जाते है। टीन, गटा पारचा, डेमाडरस, सेवियर आदि खनिज भी विदेशी मुद्रा उपार्जित करते है।

सन् १८२० मे यहाँ अंग्रेजो ने अपना कब्जा जमाया और एक शताब्दी से अधिक वहाँ शासन करते रहे। ३१ अगस्त १९५७ को इस देश की जनता ने स्वतत्रता प्राप्त कर ली। सिगापुर, साराबान, उत्तरी बोर्निया और मलाया को मिलाकर सितम्बर ६१ से एक सघ बनाया गया जिसका नाम मलेशिया रखा गया। अब मलाया इसी सघ की एक इकाई है।

मलाया की अधिक प्रामाणिक जानकारी तथा उस क्षेत्र पर भारतीय सस्कृति के प्रभाव का विवरण उपलब्ध करने के लिये इवान्स द्वारा सम्पादित "पेपर्स ऑन दि एथनोलोजी एण्ड आरकियोलॉजी ऑफ दि मलय" जे. टक्कुसु कृत—ए रिकॉर्ड ऑफ बुद्धिस्ट रिलीजन-इज प्रैक्टिस्ड इन इण्डिया एण्ड दि मलाया आर्चप्रलेगो और क्वारिच कृत-आरकियोलाजिकल रिसर्चेज आन एन्सिएन्ट इण्डियन कोलोनाइजेशन" पुस्तके अधिक विस्तृत एवं प्रामाणिक जानकारी प्रस्तुत करती है।

भारतीय सिहबाहु नौका द्वारा लम्बी यात्रा करके सिहापुर पहुंचे। उन्होने उस द्वीप को आर्थिक और राजनैतिक दृष्टि से समुन्नत बनाने का सफल प्रयत्न किया। उन्हे विजय लाभ करने के उपलक्ष्य मे 'श्रीविजय' कहा जाने लगा।

एक विवरण ऐसा भी उपलब्ध है जिसके अनुसार सिंहापुर की स्थापना राजा दलपत सिंह ने की। तभी उनका नाम सिंहपुरा रखा गया। पीछे बदलकर वह सिंगापुर हो गया। दक्षिणी-पूर्वी एशिया का यह सबसे धनी नगर है। वहाँ का जीवन स्तर यूरोप जैसा ऊँचा है। यहाँ के भारतीय श्रमिक अपनी ईमानदारी और श्रमशीलता के कारण अभी भी सम्मान की दृष्टि से देखे जाते हैं।

सिंगापुर द्वीप का क्षेत्रफल १९२ वर्ग मील है। पहले उसमे दलदल और डाकुओं के अड्डे थे। सन् १८१९ में अंग्रेजो ने उस पर कब्जा जमाया। सर रैफेल्स के तत्वावधान में उसकी सफाई और बसावट का कार्य किया गया। वहाँ चीनी, मलायी और भारतीयो का बाहुल्य है।

सिंगापुर मे पर्याप्त संख्या मे भारतीय रहते है। इनमे एक तिहाई श्रमिक, एक तिहाई दुकानदार और एक तिहाई उच्च सरकारी और गैर-सरकारी नौकरियो मे लगे हुए है और व्यापार करते है। अब यहाँ चीनी मूल लोगो की भारी घुसपैठ हो गयी है, उनकी संख्या ६० प्रतिशत तक जा पहुँची है और हिन्दुस्तानी ४ प्रतिशत रह गये है।

यहाँ भारतीयो की लगभग दो दर्जन संस्थाये, जिसमे इण्डियन चेम्बर ऑफ कॉमर्स प्रमुख है। ११ हिन्दू और बौद्ध मन्दिर, ४ गुरुद्वारे और लगभग १०० मस्जिदे है। कुल जनसंख्या २० लाख है। सिंगापुर के करोडपतियो मे भारतीयों की भी गणना है। रामकृष्ण मिशन वहाँ ५० वर्ष से काम कर रहा है। इसके दो भव्य मन्दिर हैं। एक अंस्पताल एक अनाथालय है तमिल भाषा के दो स्कूल भी मिशन की ओर से चल रहे है। सिंगापुर मे कस्टम ड्यूटी न लगने के कारण जापान तथा योरोप अमेरिका की वस्तुये बहुत सस्ती है।

पश्चिमी एशिया में भारतीय वर्चस्व

पश्चिमी एशिया के इतिहास की विशद् गवेषणा करने वाले योरोपीय पुरातत्व विज्ञानी एच विलियाँ, परगिटर, स्टार्ना, ग्रीशमान, देरी डोरस आदि ने यह निष्कर्ष निकाला है कि किसी समय यह क्षेत्र भारतीय सस्कृति से प्रभावित था, जिसे वहाँ तक भारतीय राजाओं तथा धर्म प्रचारको ने पहुँचाया।

महमूद गजनवी के दरबारी लेखक अलबरूनी ने अपनी पुस्तक में ऐसे हवाले दिये है, जिनसे ईरान और भारत की घनिष्ठता सिद्ध होती है। प्राचीन अरब अल याकूबी ने भी इसी तथ्य की पुष्टि की है।

अलीगढ़ विश्वविद्यालय के प्रो. मकबूल अहमद ने अपनी भारत और अरब सम्बन्धी पुस्तक में पश्चिम

एशिया के शासकों को भारतीय देवी-देवताओ की पूजा करने वाला लिखा है। उन्होने यह भी लिखा है कि मेढ़ राजाओ ने ईसा से ७५० वर्ष पूर्व उत्तरी ईरान पर अधिकार किया, फिर उन्होने यूनान और मिश्र पर अधिकार किया। इक्ष्वाकु के दामाद कुश का ईरान पर शासन था। जिस व्यक्ति को मिश्र का गवर्नर नियुक्त किया था उसका नाम आर्यन दास था।

प्रो. मैक्समूलर ने अपनी 'साइन ऑफ लेग्वेज' पुस्तक में लिखा है—फारसी लोगों ने आर्य वंशी परम्पराओ को अधिक सुरक्षित रखा है वे लोग भारत के उत्तर-पश्चिम भाग से चलकर फारस मे बसे थे। उनके धर्म ग्रन्थ जिन्दावस्ता मे भारतीय धर्म दर्शन ही भरा पड़ा है। सर विलियम जोन्स ने अपनी भाषा-शोध में इस बात की चर्चा की है कि जिन्द कोष में साठ-सत्तर फीसदी शब्द शुद्ध संस्कृत के है।

यहूदी लोग अपने को 'युदा' की सन्तान कहते है। वस्तुतः यदुवंश का संकेत है। तातार लोग अपना आदि रूप 'अय' को मानते हैं पुराणो के अंनुसार राजा पुरुवा का पुत्र 'अय' था। चीनियो के पुराण पुरुष 'हय हो' हय सम्राट यदु के पौत्र थे। राजा सगर के आदेश से जिस पल्ली नगर के बसाये जाने पर पुराणो में उल्लेख मिलता है, उस पल्ली स्थान की सगति वर्तमान फिलिस्तीन से ठीक प्रकार बैठ जाती थी।

यहूदी धर्म की एक पुराण कथा के अनुसार पैगम्बर एजेकील के समक्ष परमेश्वर ने गरुड़ पक्षी और सुदर्शन चक्र प्रकट किया था। यह विष्णु भगवान का प्रतीकात्मक उल्लेख है। पश्चिमी एशिया मे ईराक और अफगानिस्तान ऐसे देश है, जिनमे प्राचीनकाल मे भारतीय सस्कृति की गहरी छाप रही है। इन देशो तक किसी जमाने की भारत की सीमाये फैली हुई थी। दसवीं शताब्दी मे अफगानिस्तान पर हिन्दू राजा राज्य करते थे। डॉ. एडवर्ड डी सचऊ द्वारा सम्पादित ग्रन्थ अलबरूनी का भारत में अफगानिस्तान की बहुत-सी प्राचीन इमारतो का उल्लेख है, जिन्हे हिन्दू राजाओं ने बनवाया था। काबुल मे महानुभावो के तीन प्राचीन मन्दिर अभी विद्यमान है। बामियाँ घाटी में एक चट्टान काटकर बनायी गयी भगवान बुद्ध की एक विशाल प्रतिमा है। उसी क्षेत्र की पहाडियो मे एलोरा, अजन्ता करता और माजा जैसी सुन्दर प्रतिमाये खुदी हुई मिलती हैं। यहाँ के एक पुराने नगर का नाम है 'नगर हर'.अर्थात् शिवजी का नगर। अफगानिस्तान की भाषा पश्तो मे संस्कृत शब्दों की भरमार है।

पिछले सत्तर वर्षो मे पश्चिमी एशिया मे जो पुरातत्व अनुसंधान हुआ है उससे प्रकट होता है कि इस क्षेत्र मे दूर-दूर तक भारतीय सभ्यता के अवशेष बिखरे पडे है। नार्वे के इतिहासवेत्ता प्रो. नूडिटजन, जर्मन पुरातत्व खोजी प्रो हुमा विंकला तथा प्रो. कर्टवेटल ने तुर्की का एक प्राचीन नगर हातुमा खोद निकाला, जिसमें हिन्दू मन्दिरों के अवशेष तथा संस्कृत भाषा मे खुदे कई शिलालेख मिले है। इन शिलालेख मे वहाँ पर खेत्री शासको का उल्लेख है। इतिहास वेत्ता इस बात से सहमत है कि यह खत्री शब्द भारत मे प्रचलित क्षत्री शब्द का ही अपभ्रंश है। एक राजा का नाम था परशुराम। उसके बेटे का नाम था लव वर्ण'।

खुदाई से प्रमाण मिले है कि 'हातुमा' ई पू १७४० मे आर्य देश के अन्तर्गत था। इसमे प्राचीन काल के देव मन्दिर मूर्तियाँ तथा पूजा उपकरण निकले है। इस नगर की आबादी उस समय २० हजार रही होगी। इमारतों पर भारतीय शिल्प की पूरी छाप है। इसी प्रकार १९३७ ई. की खुदाई मे कुसररा नगर निकला तो उसमें भी इन्द्र देवता की प्रतिमाये तथा अन्य भारतीय कलाकृतियाँ निकली।

उपलब्ध शिलालेखो मे वहाँ ई पू १८०० मे सिगात नामक भारतीय राजा के शासन की चर्चा है। उसी क्षेत्र मे केशी (काशी) के शिलालेखो से इतिहासकार आर. ग्रीशमान ने निष्कर्ष निकाला है कि ईरान के इस क्षेत्र मे काश्यप ऋषि का वर्चस्व रहा है।

ईरान मे सातवी सदी मे हर वामनी नाम कुरुवशी राजा का राज्य था। तब उसका राज्य विस्तार भारत तक जुड़ा हुआ था। दारिय बाहु (डेरियस) नामक बादशाह अब से ढाई हजार वर्ष पूर्व हुआ है, उसका गहरा सम्बन्ध भारत के साथ था।

ईरान के पुरातन शासक पहलवी कहलाते थे। वे भारत के पल्लव राजवंश से थे। राजा लोग अपने नाम के आगे अभी शाह शब्द लगाते है। नेपाल के राजा

अरबी मे संस्कृत शब्दों की, उसके अपभ्रंशो की भरमार है। इस भाषा प्रभाव को देखने से प्रतीत होता है कि किसी समय इस क्षेत्र में सस्कृत का प्रचलन रहा होगा और स्थानीय भाषा के सम्मिश्रण से अरबी का वर्तमान स्वरूप विकसित हुआ होगा। अरब के प्राचीन साहित्य मे ऐसे अरबी अनुवादों की भरमार है, जो भारत के ग्रन्थों से अनुदित किये गये है। इन पुस्तकों में ज्ञान और विज्ञान के प्रत्येक पक्ष वाले भारतीय ग्रन्थो का अनुवाद करके वहाँ के भाषा भण्डार की श्रीसमृद्धि की गयी है।

जिस प्रकार चीनी यात्री समय-समय पर यहाँ धर्म शिक्षा तथा ज्ञान-सम्पदा सम्पादित करने के लिये आते रहे हैं, उसी प्रकार अरब शिक्षार्थी भी भारत आये थे। अलबरूनी भारत मे ४० वर्ष रहा। यहाँ उसने संस्कृत पढ़ी तथा संस्कृत का अध्ययन किया। उसने अपने अनुभवो को 'किताबुल हिन्द' तथा 'कानून मस ऊदी' मे उल्लेख किया है।

बसरा निवासी दार्शनिक जाहिज ने अपनी पुस्तक 'गोरी और काली जातियो का तुलनात्मक अध्ययन' मे भारतीय ज्ञान-विज्ञान और रहन-सहन की भूरि-भूरि प्रशंसा की है। अरब इतिहासकार याकूबी ने भारत के हर श्रेत्र में बड़े-चढ़े ज्ञान गरिमा को मुक्त कण्ठ से सराहा है।

अरबों ने अंकगणित भारत से सीखा इसलिये अकों की हिन्दसा कहा जाता है। भारतीय ग्रह गणित सम्बन्धी ग्रन्थों अनुवाद भी अरबी मे हुआ है। बृहस्पति सिद्धान्त का, अस्सिद हिन्द आर्यभट्ट का, आजवद, खण्डक खाद्यक का अरकन्द-नाम से अनुवाद हुआ है, खलीफा के मंसूर के समय मे भारतीय ज्योतिषी की वहाँ के राजदरबार मे नियुक्ति होती थी।

खलीफा मवपिफक विल्लाह अब्यासी ने एक दल भारत में चिकित्सा विज्ञान एवं जड़ो-बूटी उत्पादन की शिक्षा लेने के लिये भेजा था। इब्न दहन नाम अरब विद्वान ने संस्कृत से अरबी मे अनेको आयुर्वेद ग्रन्थो का अनुवाद करके उस देश के निवासियो को लाभान्वित किया। प्रधानमत्री खालिया बरामकी ने सुश्रुत का अनुवाद कराया और उसे ससरो नाम दिया। इसी प्रकार चरक का भी अनुवाद हुआ। आयुर्वेद वेत्ता शानक, रुसा, राय लिखित ग्रन्थ भी अरबी जनता के लिये उसी काल मे उपलब्ध किये गये। अरब प्रधान मंत्री यहिया वरमकी ने फिर एक दल भारत भेजा जो यहाँ धर्म तथा चिकित्सा सम्बन्धी जानकारियाँ सग्रह करके वहाँ के लोगो के लिये उपलब्ध करे। ऐसे ही शोधकर्त्ताओ में येरूसलम का एक विद्वान लेखक मुतहमूर भी था, जिसने अपनी पुस्तक "किताबुल विदअवत्तारीख" मे तत्कालीन भारत की धार्मिक स्थिति का विस्तारपूर्वक वर्णन लिखा। उसने इस देश के उपासको के 'जल भक्तिय' अर्थात् अभिषेक, तर्पण, अर्घ्य, तीर्थ-स्नान आदि के प्रमुखता वाले 'अग्नि होतरिय' अर्थात् अग्निहोत्री-यज्ञ धर्म को दो भागो मे विभक्त किया है। उन दिनो यहाँ ऐसे ही कर्मकाण्ड का प्रधानतया प्रचलन था। अबूजैद सैराफी ने भारत की स्थिति का जैसा उल्लेख किया है, उससे प्रतीत होता है कि वह भी स्थिति को ऑखो से देखने आया होगा।

अरबी का एक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है 'बीजासफ' इसमे भगवान बुद्ध की शिक्षाओ का सकलन है। साथ ही बौद्ध-सत्व के जन्म, चरित्र, शिक्षा, मृत्यु आदि का वर्णन है। उसे इस्लाम धर्मानुयायियो का एक वर्ग अभी भी धर्म ग्रन्थ के रूप मे मानता है। इसके कुछ अध्याय प्रसिद्ध अरबी धर्मग्रन्थ 'इखवानुस खफा' मे सम्मिलित कियें गये है। पुस्तक का नाम बीजासफ वस्तुतः बोधि सत्व का ही अपभ्रंश है। पुरानी फारसी मे 'घ' के स्थान पर 'ज' का उच्चारण होता भी रहा है। बोधिका बीज हो जाना इस दृष्टि से सामान्य बात है।

अरबी भाषा मे अनेको संस्कृत के महत्त्वपूर्ण ग्रन्थो का अनुवाद हुआ है। महाभारत की कथाओं का अनुवाद अबू सालह बिन शुएब ने किया। इसका ईरानी उल्था मुजम्मिल उत्तावारीख नाम से पेरिस पुस्तकालय मे सुरक्षित है। इब्न नदीम की किताबुल फेहरिस्त मे उल्लेख मिलता है कि शानाक और वाकर नामक भारतीय विद्वानो ने कितने ही सस्कृत के राजनीति तथा तंत्र ग्रन्थों का अनुवाद अरबी भाषा मे किया। अरबी का "कलेला दमना" ग्रन्थ पंचतंत्र का अनुवाद है, जिसे नौवीं शताब्दी मे अब्दुल्लाह विमुकफ्फा ने सम्पन्न किया था। उसी का पद्यानुवाद

भी शाह शब्द का अपने नाम के साथ उपयोग करते हैं। ग्वालियर के राजा 'राम शाह' हुए हैं। शाह शब्द भारतीय क्षत्रिय परिवार में प्रयुक्त होता रहा है। प्राचीन ईरान में अग्नि पूजा होती थी और हिन्दू प्रथा परम्परायें प्रचलित थी। उस देश पर जब मुसलमानी आक्रमण हुए तो पारसी जाति के लोग वहाँ से भागकर भारत आये और यही बस गये। पारसी समाज में अग्नि पूजा अभी भी हिन्दुओं के अग्निहोत्र की ही तरह प्रचलित है।

ईरान के धर्मोत्सवो मैं हिन्दू-परम्परा के कितने ही चिन्ह पाये जाते हैं ? चन्दन का उपयोग और चौक पूरना पूर्णतया भारतीय परम्परा के अनुरूप है। ईरानी भाषा में भी सस्कृत शब्दों का बाहुल्य है।

इस्लाम स्वीकार करने से पूर्व ईरान में पारसी धर्म था और उनकी पुस्तक जिन्दावस्ता रही है। छन्द का अपभ्रंश है 'जिन्द' और वेद का वेस्ता हुआ है। जिन्दा अवस्ता अर्थात् वेद मन्त्रों का संग्रह। 'जिन्द' भाषा में दो तिहाई शब्द सँस्कृत के हैं। इतिहासज्ञ डा. तारापोरवाला के अनुसार पारसी ग्रन्थ 'गाथा' में ऋग्वेद के ही भाव भरे पड़े है। ईरानी जनता तब पुनर्जन्म पर विश्वास करती थी। श्रद्धापूर्वक अग्निहोत्र करती थी, गौ पूजती थी और यज्ञोपवीत (कुश्ती) धारण करती थी। वहाँ भारतीय वर्ण-व्यवस्था का प्रचलन था।

ईरान में बसे हुए पारसी लोग वस्तुत भारत से ही गये थे। जर्मन विद्वान मैक्समूलर ने इस तथ्य को स्वीकारा है और भारतीय मूल के, भारतीय सभ्यता के अनुयायी के रूप में प्रतिपादित किया है। नम. जरदुस्त पारसी धर्म ग्रन्थ मे महर्षि व्यास हैं। जरदुस्त के संवाद एव विचार-विनिमय का वर्णन है। धर्मग्रन्थ जिन्दावस्ता में अथर्ववेद का उल्लेख है। उस देश मे 'स' का उच्चारण 'ह' के रूप में होता रहा है। इस पृष्ठभूमि मे देखा जाय तो पारसी धर्म में प्रचलित देवताओ तथा धर्म-परम्पराओं मे भाव सादृश्य ही नही, शब्द सादृश्य भी दिखाई पड़ता है। कितने ही संस्कृत शब्द तो भारतीय और पारसी धर्म के समान अर्थ मे ही प्रयुक्त होते है। यथा इष्टि, गाथा, गन्धर्व पशु गौ, पशु, रथ, नमस्ते यव वा आदि। कही-कही तो 'जिन्दावस्ता' मे श्रुति सूक्तियो से यत्किंचित ही अन्तर है। जैसे जिन्दावस्ता, का-'यथा' हिनोति एशं वाचम् संस्कृत का 'यथा शृणोति एतां वाचम्' में समानता है और विश्व दुःख जगैति वाक्य संस्कृत के विश्व दुखो जिन्वति से मिलता-जुलता है। धर्म साहित्य में ऐसी भी समानतायें असाधारण रूप में देखी जा सकती हैं। सोम पान सम्बन्धी मान्यता दोनों देशों में समान है। हिन्दू समाज में प्रचलित दर्शपौर्ण मासेष्टि यज्ञ, चातुर्मास्येष्टि यज्ञ, प्रयोति स्टोम यज्ञ आदि की प्रथा भी समान स्तर की है। पुनर्जन्म, कर्मफल, स्वर्ग-नरक, वर्ण-व्यवस्था आदि मान्यताओं में भी साम्य है। पारसी धर्म और हिन्दू धर्म की तुलनात्मक समीक्षा करने पर दोनों का पुरातन आधार एक ही केन्द्र पर केन्द्रित हुआ स्पष्टतया परिलक्षित होता है।

हदीसों में भारत को 'हिन्दुस्तान जन्नत निशाक' अर्थात् 'स्वर्ग तुल्य भारत' कहकर सम्मानित किया गया है। इब्ने जरीर, इब्ने अबी, हतिम और हाकिम प्रभृति विद्वानों ने लिखा है—हजरत आदम ने स्वर्ग से धरती पर उतरने पर, पहला कदम भारत के दक्षिणी भाग पर रखा था। इस क्षेत्र में पैदा होने वाले मसाले, सुगन्धित द्रव्य, नीबू और केले हजरत आदम के साथ ही भारत में आये थे। 'सुबह तुल मरजान फी आसारे हिन्दोस्तान' नामक ग्रन्थ में कहा गया है कि 'हजरत आदम सबसे पहले हिन्दोस्तान में उतरे और यही उन पर 'वही' (ईश्वरीय सदेश) उतरी।

"किताबुल अदुलि बुलमुरफ़रद" के लेखक इमाम बुखारी ने ऐसे कई प्रमाण दिये हैं, जिसमे ईसा की सातवी शताब्दी में ईराक और अरब में जाटो की बहुत बड़ी संख्या मौजूद थी।

इस्लाम का ऐकेश्वरवाद का सिद्धान्त व्यास के वेदान्त सिद्धान्त के प्रकाश मे विकसित हुआ माना जाता है। सूफी सम्प्रदाय पर वेदान्त की गहरी छाप है। अरबी मे वेदपा की बुद्धिमानी का बार-बार उल्लेख आता है। विश्लेषण कर्ताओं ने वेदपा का तात्पर्य 'वेद व्यास' को माना है और उन्ही के महाभारत आदि पुराणों में वर्णित कथानकों एवं सिद्धान्तों को 'वेदपा फिल हिकमत' अर्थात् वेदव्यास की बुद्धिमानी कहकर इगित किया गया है।

अरबी में संस्कृत शब्दों की, उसके अपभ्रंशों की भरमार है। इस भाषा प्रभाव को देखने से प्रतीत होता है कि किसी समय इस क्षेत्र मे संस्कृत का प्रचलन रहा होगा और स्थानीय भाषा के सम्मिश्रण से अरबी का वर्तमान स्वरूप विकसित हुआ होगा। अरव के प्राचीन साहित्य में ऐसे अरबी अनुवादों की भरमार है, जो भारत के ग्रन्थो से अनुदित किये गये हैं। इन पुस्तकों मे ज्ञान और विज्ञान के प्रत्येक पक्ष वाले भारतीय ग्रन्थो का अनुवाद करके वहाँ के भाषा भण्डार की श्रीसमृद्धि की गयी है।

जिस प्रकार चीनी यात्री समय-समय पर यहाँ धर्म शिक्षा तथा ज्ञान-सम्पदा सम्पादित करने के लिये आते रहे हैं, उसी प्रकार अरव शिक्षार्थी भी भारत आये थे। अलवरूनी भारत में ४० वर्ष रहा। यहाँ उसने सस्कृत पढ़ी तथा सस्कृत का अध्ययन किया। उसने अपने अनुभवो को 'किताबुल हिन्द' तथा 'कानून मस ऊदी' में उल्लेख किया है।

बसरा निवासी दार्शनिक जाहिज ने अपनी पुस्तक 'गोरी और काली जातियो का तुलनात्मक अध्ययन' मे भारतीय ज्ञान-विज्ञान और रहन-सहन की भूरि-भूरि प्रशसा की है। अरब इतिहासकार याकूबी ने भारत के हर श्रेत्र मे बड़े-चढ़े ज्ञान गरिमा को मुक्त कण्ठ से सराहा है।

अरबो ने अंकगणित भारत से सीखा इसलिये अको को हिन्दसा कहा जाता है। भारतीय ग्रह गणित सम्बन्धी ग्रन्थो अनुवाद भी अरबी मे हुआ है। बृहस्पति सिद्धान्त का, अस्सिद हिन्द आर्यभट्ट का, आजवद, खण्डक खाद्यक का अरकन्द-नाम से अनुवाद हुआ है, खलीफा के मसूर के समय मे भारतीय ज्योतिषी की वहाँ के राजदरवार मे नियुक्ति होती थी।

खलीफा मवपिफक विल्लाह अब्बासी ने एक दल भारत मे चिकित्सा विज्ञान एवं जडी-बूटी उत्पादन की शिक्षा लेने के लिये भेजा था। इब्न दहन नाम अरब विद्वान ने संस्कृत से अरबी मे अनेको आयुर्वेद ग्रन्थो का अनुवाद करके उस देश के निवासियो को लाभान्वित किया। प्रधानमंत्री खालिया बरामकी ने सुश्रुत का अनुवाद कराया और उसे ससरो नाम दिया। इसी प्रकार चरक का भी अनुवाद हुआ। आयुर्वेद वेत्ता शानक, रुसा, राय लिखित ग्रन्थ भी अरबी जनता के लिये उसी काल मे उपलब्ध किये गये। अरब प्रधान मंत्री यहिया वरमकी ने फिर एक दल भारत भेजा जो यहाँ धर्म तथा चिकित्सा सम्बन्धी जानकारियाँ संग्रह करके वहाँ के लोगो के लिये उपलब्ध करे। ऐसे ही शोधकर्त्ताओं में येरूसलम का एक विद्वान लेखक मुतहमूर भी था, जिसने अपनी पुस्तक "किताबुल विदअवत्तारीख" मे तत्कालीन भारत की धार्मिक स्थिति का विस्तारपूर्वक वर्णन लिखा। उसने इस देश के उपासकों के 'जल भक्तिय' अर्थात् अभिषेक, तर्पण, अर्घ्य, तीर्थ-स्नान आदि के प्रमुखता वाले 'अग्नि होतरिय' अर्थात् अग्निहोत्री-यज्ञ धर्म को दो भागो मे विभक्त किया है। उन दिनो यहाँ ऐसे ही कर्मकाण्ड का प्रधानतया प्रचलन था। अबूजैद सैराफी ने भारत की स्थिति का जैसा उल्लेख किया है, उससे प्रतीत होता है कि वह भी स्थिति को आँखो से देखने आया होगा।

अरबी का एक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है 'बीजासफ' इसमे भगवान बुद्ध की शिक्षाओ का सकलन है। साथ ही बौद्ध-सत्व के जन्म, चरित्र, शिक्षा, मृत्यु आदि का वर्णन है। उसे इस्लाम धर्मानुयायियो का एक वर्ग अभी भी धर्म ग्रन्थ के रूप मे मानता है। इसके कुछ अध्याय प्रसिद्ध अरबी धर्मग्रन्थ 'इखवानुस खफा' में सम्मिलित किये गये है। पुस्तक का नाम वीजासफ वस्तुत बोधि सत्व का ही अपभ्रश है। पुरानी फारसी मे 'घ' के स्थान पर 'ज' का उच्चारण होता भी रहा है। बोधिका बीज हो जाना इस दृष्टि से सामान्य बात है।

अरबी भाषा मे अनेको सस्कृत के महत्त्वपूर्ण ग्रन्थो का अनुवाद हुआ है। महाभारत की कथाओ का अनुवाद अबू सालह विन शुएव ने किया। इसका ईरानी उल्था मुजम्मिल उत्तावारीख नाम से पेरिस पुस्तकालय मे सुरक्षित है। इब्न नदीम की किताबुल फेहरिस्त मे उल्लेख मिलता है कि शानाक और वाकर नामक भारतीय विद्वानो ने कितने ही सस्कृत के राजनीति तथा तत्र ग्रन्थो का अनुवाद अरबी भाषा मे किया। अरबी का "कलेला दमना" ग्रन्थ पचतंत्र का अनुवाद है, जिसे नौवी शताब्दी मे अब्दुल्लाह विमुकपफा ने सम्पन्न किया था। उसी का पद्यानुवाद

महाकवि अव्वान ने किया था और राज्य पुरस्कार पाया था।

चीन के एशिया मे चीनी यात्री ह्वेनसांग के अनुसार सन् ६३० मे वर्तमान अफगानिस्तान का गान्धार प्रदेश भारतीय क्षत्रिय राजाओं के शासन का अग था। अभी भी काबुल में २२ हिन्दू मन्दिर है। वैरागी, उदासी, नाथ और संन्यासी सम्प्रदाय वाले साधुओं के मठ वहाँ अभी भी मौजूद है। वहाँ की पस्तो भाषा में सस्कृत शब्दो का बाहुल्य है। इस देश को महा वैयाकरण पाणिनि की जन्मभूमि माना जाता है। धृतराष्ट्र की पत्नी गान्धारी गान्धार प्रदेश की ही राजकुमारी थी।

काबुल नदी के तट पर बसा काबुल नगर अफगानिस्तान की अति प्राचीन राजधानी है। उसका पुराना नाम आर्याण है। आर्याण अर्थात् आर्य लोगो का निवास क्षेत्र। यहाँ आर्य-बौद्ध और यवन सस्कृतियो के महत्त्वपूर्ण भग्नावशेष सुरक्षित है। काबुल की पुरानी बस्ती पुराने ढग की बसी है, किन्तु नयी काबुल रूस और अमेरिका की तरह विशालकाय, गगनचुम्बी और साफ-सुथरी बनी हुई है। स्त्रियाँ बहुमूल्य कालीनो के निर्माण में लगी हुई मुहल्ले-मुहल्ले मे देखी जा सकती है।

नादिरशाह का मजार और करगाह झील दर्शको के आकर्षण का केन्द्र है। कहते है कि नादिरशाह भारत को लूटकर वापस जा रहा था तो यही रास्ते मे उसका अन्त हो गया था। शहर से २५ किलोमीटर दूर करगार झील बहुत ही सुन्दर है। लोग उसमें नौका विहार करते है। तटवर्ती छोटे-छोटे होटलो मे बिछी बैचो पर बैठकर इस झील का मनोहर दृश्य अच्छी तरह देखा जा सकता है। कालेज मे हिन्दी तथा सस्कृत भाषा के अध्ययन का प्रबन्ध है। उच्च वर्ग की स्त्रियाँ पूरी मेहनती है। स्कूली लडकियाँ ही फिराक पहने दीखती है। व्यस्क स्त्रियो को पर्दे मे रहना पडता है। हाँ, गरीब वर्ग की स्त्रियाँ मेहनत-मजदूरी के सिलसिले में मुँह खोले हुए काम करती दिखायी देती पडती है। भाषा पस्तो है पर उस पर सस्कृत का गहरा प्रभाव है। अच्छी उर्दू जानने वाला यहाँ के लोगों की बातचीत सुनकर उसका मोटा अर्थ तो समझ ही सकता है।

इस्लाम के उद्भव और विस्तार की जन्मभूमि अरब है। अरब देश मे इस्लाम के अवतरण से पूर्व बौद्ध धर्म प्रचलित था। इसके अनेको प्रमाण मिलते है। हदीसो के अनुसार हजरत आदम जब धरती पर आये तो उन्होंने पहला चरण पृथ्वी के स्वर्ग भारत मे रखा और दूसरा चरण अरब मे। लंका उन दिनो भारत का ही अंग था। लका में आदम पीक नामक स्थान अभी भी हजरत के अवतरण का स्थल माना जाता है और मुसलमान वहाँ भक्तिपूर्वक नमन करने जाते है।

अरब देश मे एक प्रतिभाशाली 'वश बरामका' की महत्वपूर्ण हलचलो का वर्णन वहाँ के इतिहास मे मिलता है। इस वंश के लोगो को अरब शासन में मत्री पद तक प्राप्त था। यह वंश अग्निहोत्री था। उन्होंने बलख मे 'नौ विहार' एव अग्नि मन्दिर बनवाया था। सन् ६५१ मे मुसलमानी आक्रमण मे यह मन्दिर गिराया गया और उसके अनुयायियो को पकडकर दमिश्क ले जाया गया, जहाँ वे मुसलमान बन गये।

बरामका वंश के विभिन्न व्यक्तियो ने अब्बासी खलीफा सफ्फाह से लेकर पाँचवे खलीफा हारुनुर्रशीद तक अरब की शासन सत्ता अपने हाथ मे रखी और वे मंत्री कहलाते थे। सिहासनारूढ दूसरे थे, पर उनकी बुद्धिमता और क्षमता इतनी तीखी थी कि प्रकारान्तर मे सारा शासन उन्ही को देखना पडता था। अरब इतिहास लेखको के अनुसार उनका शासन हर दृष्टि से आदर्श था। जितनी सर्वतोमुखी प्रगति उनके जमाने में हुई इतनी इस क्रम में अन्य किसी काल मे नही देखी गयी। यही कारण था कि वे पीढ़ी दर पीढी शासन सत्ता का सूत्र सचालन करने मे अपनी विशिष्टता सिद्ध करते हुए मन्त्री के पद का उतरदायित्व वहन करते रहे।

बुरहान काते की 'तारीख जियाए बरनी रौजुतुस्सफा' पुस्तक के अनुसार बरामका जाति अग्नि पूजक थी। बलख मे उन्ही ने अग्नि मन्दिर बनाया था। उस मन्दिर के पुजारी भी वे ही लोग थे। सन् ६५१ ई. मे मुसलमानी आक्रमण ने इस मन्दिर का

सफाया कर दिया और वरामका लोग इस्लाम के अनुयायी बन गये।

नौविहार के बारे मे इब्नुत फकीह हमदानी ने लिखा है इस विहार के बनाने वाले वरामका लोग थे। वे मूर्ति पूजक थे मक्का और कुरैश के धर्म मन्दिर की प्रतिद्वन्द्विता में उन्होंने वैसा ही यह नया मन्दिर बनाने का प्रयत्न किया। इसका गुम्बद सौ हाथ लम्बा और सौ हाथ चौड़ा था। ३६० पुजारियों का निवास स्थान इसमें था। वर्ष में एक दिन ही एक पुजारी पूजा करता था। कितावुल बुलदान के अनुसार वरमक का अर्थ है—पुजारी। यह लोग पुजारियों के वंशज थे। चीन और कावुल के बादशाह इन्हीं का धर्म मानते थे और वे लोग यहाँ पर आकर स्थापित विशाल मूर्तियों के दर्शन-अर्चन करते थे। इतिहासकार कजवीनी के अनुसार यह मन्दिर उस काल के देवालयों में सबसे बड़ा था। रेशमी वस्त्रों और रत्न-जटित आभूषणों में मूर्तियों की सज्जा होती थी। फारस वाले और तुर्क लोग यहाँ श्रद्धापूर्वक दर्शन करने आते थे और भेट दक्षिणा चढ़ाते थे।

प्रो. वाउन ने अपनी पुस्तक 'लिटरेरी हिस्ट्री ऑफ पर्शिया' मे इस देवालय को ऐसे अग्नि मन्दिर के रूप मे अंकित किया है, जहाँ अग्निहोत्र की मान्यता थी। जखाऊ की कितावुल हिन्द मे इसे बौद्ध विहार बताया गया है। "इन्साइक्लोपीडिया ऑफ इस्लाम" मे भी बुद्ध विहार होने की चर्चा है।

इतिहासकार मसऊद ने नौ विहार के ऊँचे शिखर पर हरे रेशमी झण्डे लहराते रहने का उल्लेख किया है। इब्नुल फकीह ने इस विशाल मन्दिर मे स्थापित मूर्तियो का वर्णन किया है और लिखा है उसमे ३६० पुजारियो के रहने के अलग-अलग कक्ष थे। चीन, काबुल और भारत के राजा भी इस मन्दिर के पुजारियों वाला धर्म वरमक (ब्रह्म) धर्म मानते थे और वे यहाँ पूजा करने तथा मस्तक झुकाने आते थे। इतिहास लेखक याकूव ने अमर बिन अजाक किरमानी का हवाला देते हुए इस "नौ विहार" का लगभग ऐसा ही वर्णन किया है और लिखा है कि इस मूर्ति पूजक धर्म के अनुयायी वरामका लोगों का वलख तथा देश के दूसरे स्थानो पर बड़ा सम्मान था। एक-दूसरे इतिहास लेखक कजवीनी ने अपने वर्णन मे विहार को उस देश का सबसे बड़ा 'मन्दिर' लिखा है और उसके भीतर खड़ी सुन्दर मूर्तियों की चर्चा की है।

अरव इतिहासकारों ने इस "नौ विहार" का जैसा वर्णन किया है, उसके विवरणो को देखते हुए वह स्पष्टतः ऐसा बुद्ध विहार प्रतीत होता है जिस पर पुराने वैदिक भारतीय धर्म की छाप थी और उसमे अग्निहोत्र की भी व्यवस्था थी। डब्ल्यू वर्थाल्ड ने अपने "इस्लाम का विश्वकोष" ग्रन्थ मे इसे बुद्ध विहार ही माना है। इसके प्रमुख द्वार पर भगवान बुद्ध के उपदेश खुदे थे और बुद्ध सन्तोष और समृद्धि की उपयोगिता बतायी गयी थी।

न केवल बलख वरन् पूरे खुरासान क्षेत्र मे बुद्ध धर्म का प्रसार-प्रभाव रहता था, इसकी चर्चा करते हुए इतिहासकार इब्ननदीन ने लिखा है कि खुरासान क्षेत्र मे इस्लाम आने से पूर्व बुद्ध धर्म का ही आधिपत्य था।

अरबी विश्वकोष 'मसालिकुल अक्सार फी ममालिकिल अक्सर' के प्रथम खण्ड मे बलख के नौ विहार का वर्णन है और लिखा है कि उसे "मतोशहर" नाम के एक भारतीय राजा ने बनवाया था। इसमे ग्रह-नक्षत्रो की पूजा भी होती थी।

इस्लाम स्वीकार कर लेने के बाद भी वरामा वश के लोगो का भारतीय संस्कृति के प्रति अगाध प्रेम शताब्दियों तक बना रहा, उन्होंने अनेक भारतीय ग्रन्थो का अनुवाद अरबी भाषा मे कराया और घरेलू जीवन में हिन्दू धर्म की प्रथा परम्परायें अपनाये रखीं। अब्वासी खलीफाओ के समय अरब शासन मे कई बरमका मंत्री थे। उन्होंने खलीफा को रजामंद करके भारत के कितने ही विद्वान पण्डित बुलाये और बृहस्पति सिद्धान्त आदि कितने सस्कृत ग्रन्थों का अरवी अनुवाद कराया। जब हॉरू रशीद बीमार पडे और अरब के चिकित्सक इलाज मे असफल रहे तो भारत से मनकाना वैद्य बुलाये गये और उनने उनके प्राण बचाये। इसी प्रकार खलीफा के एक भाई के असाध्य रोग को अच्छा करने के लिये भारतीय चिकित्सक को प्रचुर मार्ग व्यय खर्च करके बुलाया गया था और उसने उनके प्राण बचाये थे।

अरब से कई यात्री भारत की धार्मिक, सामाजिक एव आर्थिक स्थिति का पता लगाने के लिये आते रहे है। उन्होने यहाँ रहकर जो सीखा, जाना उसका विस्तारपूर्वक वर्णन अपने ग्रन्थो मे किया गया है ताकि उस देश के निवासी स्थिति का समुचित लाभ उठा सके।

इन यात्री लेखको में से कुछ के नाम पर ग्रन्थ इस प्रकार है—

(१) सुलेमान सौदागर सं. २३७ हि. इसकी पुस्तक है—"सिल-सिल तुत्तवारीख।"

(२) इब्ने खुर्दावजा सन् २५० हि. पुस्तक-कितावुल मसालिक वल ममालिक।

(३) अबूजैद हसन सैराफी सन् ६४ हि पुस्तक——।

(४) अबूदल्फ मुसदूर बिन मुलहिल यं वेई, सन् ३३१ हि मे। इसकी पुस्तक के कुछ पृष्ठ ही मिलते है, जो जर्मनी मे लैटिन अनुवाद समेत सन् १८४५ ई. मे छपे है। इसके उद्धरण कितने ही अरब इतिहासकारो ने अपनी पुस्तको मे दिये है।

(५) बुजुर्ग विन शहरयार सन् ३०० हिजरी पुस्तक "अजायवुल हिन्द"।

(६) मसरिदी-अबल हसन अली सन् ३०३ हि. पुस्तकें—"मुरुजुज महहव-मआदनल जौहरी" उल तम्वीह वल अशराफ।"

(७) इस्तखरी-अबू इसहाक इब्राहीम बिन मुहम्मद। पुस्तकें "किताबुल अकालीम" किताबुल, मसालिकुल ममालिक"।

(८) इब्न हौकल (सन् ३३१ हि) इसकी पुस्तक के कुछ पृष्ठ ही इतिहासकार इलियट को अवध के शाही पुस्तकालय मे मिले थे।

(९) बुशारी मुकसदी-शेमसुद्दीन मुहम्मद बिन अहमद बुशारी सन् ३७५ हिजरी पुस्तक—"अहसनूत तफासीय फी मारफतिल अकालीय"।

(१०) अलवेरूनी सन् ४०० हि. पुस्तक "किनावुल हिन्द"।

(११) इब्नबतूता सन् ७७९ हि. पुस्तक "अजायवुल आस्फार।"

यह वे लोग हैं जिन्होने भारत आकर आँखो देखा हाल लिखा है। जो यहाँ स्वयं नही आये पर जिन्होने प्रामाणिक सूत्रो से तत्कालीन भारत की स्थिति पर प्रकाश डालने वाले ग्रन्थ लिखे हैं, उनकी संख्या भी कम नही। विलाजुरी (२७५ हि.) की "फुतूहर वुल्दान" इब्न नदीम बगदादी (३७० हि.) की "किताबुल फेहरिस्त"। सूफी दामश्की (७२८ हि०) की "अजायबुल वई वल वहर। जकरिया कजवीनी (६८२-हि०) की "असारुल विलाद"। अबुल फिदा (७३२ हि०) की "तकवीमुल बुरदान"। याकूत (६७२ हि०) की "मुअजमुल बुल्दान"। नवीरी (७३३ हि०) की "नहायतुल रव फी अफनूनुल अदब। मा. शाहबुद्दीन उमरी (७४७ हि०) की "मसालिकुल अव्सार" पुस्तके भी कम महत्त्व की नही है। यह सभी लेखक अरब, ईराक, ईरान, सिसली, मिश्र आदि अरब देशों के है और उनने अपने समय मे जो कुछ लिखा है, वह उनकी जानकारी के हिसाब से बिना अत्युक्ति का ही माना जा सकता है। उन उल्लेखो मे भारत की परम्पराओं एवं तत्कालीन परम्पराओ की सराहना की गयी है।

इन ग्रन्थो से इस तथ्य पर प्रकाश पड़ता है कि बौद्ध धर्म और ब्राह्मण धर्म के लोग पारस्परिक कलह मे किस प्रकार एक-दूसरे को नीचा दिखाने मे निरत थे और एक-दूसरे के प्रति किस तरह दुरभिसंधियाँ रच रहे थे ?

इसके अतिरिक्त उपरोक्त ग्रन्थ प्राचीन भारत की समृद्धि एवं गरिमा पर भी प्रकाश डालते है और बताते है कि जनसाधारण मे धर्मनिष्ठा और नैतिकता के आदर्श बहुत ऊँचे थे।

अरब देशो से जो शिक्षार्थी और अर्थार्थी विद्याध्ययन अथवा विश्वास के लिये वहाँ पहुँचते थे। उन्हे समुचित आतिथ्य एवं सहकार प्रदान किया जाता था। अरब देशों के साथ चिरकाल से भारत के बड़े घनिष्ठ और सौहार्द्रपूर्ण सम्बन्ध चले आ रहे थे। कटुता तो आक्रमण और आधिपत्य की चीज के साथ पनपी। धर्म यहाँ ऐच्छिक विषय था। कटुता तो बल प्रयोग ने उत्पन्न की।

मैसोपोटामिया किसी जमाने में भारतीय सभ्यता का केन्द्र रहा है। उस प्रदेश में भारतवासी ही जाकर

बसे थे। इतिहास के पृष्ठों पर अंकित है, कि यूफ्रेटीज और टाइग्रिस नदियों की सुविस्तृत घाटी में 'सुमेर' नामक एक सुसंस्कृत जाति बसी हुई थी। वे लोग भारत से ईरान होते हुए इस क्षेत्र मे पहुँचे थे और 'इरीदु' बन्दरगाह के निकट अपनी बस्तियाँ तथा शासन व्यवस्था कायम की। पहला राजा था—'उक्कुसि' यह इच्छ्वाकु शब्द का अपभ्रंश है।

महाभारत मे भारत के एक प्रान्त का नाम सुराष्ट्र और उसके निवासियो को 'सुवर्ण' बताया गया है। यह 'सुवर्ण' सुमेर थे। सुमेर का अर्थ है 'अच्छी जाति'। यही अर्थ सुवर्ण का भी होता है। उन दिनो भयंकर बाढ़े आयीं, भारी वर्षा हुई, जिसमें सुमेर सभ्यता के महत्त्वपूर्ण दुर्ग धराशायी हो गये, अब 'किश' और 'उर' क्षेत्रो की खुदाई में ऐसे प्रमाण मिले हैं जिनसे उस क्षेत्र में बसी हुई सुमेर जाति की समुन्नत स्थिति का पता चलता है और प्रतीत होता है कि वे भारतीय धर्मानुयायी थे। सूर्य पूजा करते थे। निप्पुर मे विशालकाय सूर्य मन्दिर था। विष्णु वाहन गरुड़ की भी प्रतिमायें उस क्षेत्र में मिली हैं। इच्छ्वाकु राजा की मुद्राये भी उसी खुदाई में पायी गयी हैं। 'बोनजकोइ' नामक स्थान पर खुदी वरुण देवता की मूर्ति मिली है। रथ ठीक उसी प्रकार के पाये गये है जैसे कि भारत मे चलते थे। मृतको के दाह-संस्कार के भी प्रमाण मिले है।

'बोगज कोई' की खुदाई में पुरातत्व अन्वेषी जर्मन सशाधक ह्यूगो विंकलर को एक शिलालेख मिला है, जिससे प्रतीत होता है कि मैसोपोटामिया के स्थानीय राजा भारतीय धर्मानुयायी मितानी वंशी राजा दशरथ ने भारतीय देवताओ को साक्षी देकर मैत्री संधि की। यह लेख ईसा से १३६० वर्ष पूर्व का है। इसमें मित्र, वरुण, इन्द्र और सत्य देवताओं की वशावलि भी है, जिसमे यश दत्त, सुवर दत्त, वीर दत्त, आतर्तम, सुर्तन आदि भारत वशी राजाओं के नाम हैं।

इतिहासवेत्ता हडन-वान लुशन-चाइल्ड के अनुसार यह लोग नारडिक वश के आर्य लोग थे। वे काकेशियस पर्वत पार करके भारत से यहाँ आये थे और मितानी राज्य स्थापित किया था। मैसोपोटामिया की खुदाई मे प्राप्त अवशेष और मोहनजोदड़ो की सिन्धु सभ्यता सामग्री में भारी साम्य है। दोनों की समानता देखते ही बनती है। मितानी भाषा में संस्कृत और प्राकृतिक भाषा के शब्दों की भरमार है।

एशिया माइनर के इसी क्षेत्र में एक और पुरातन वंश का विवरण मिलता है, जिसे 'खती' कहा गया है। यह खत्री या क्षत्री शब्द का अपभ्रंश है। इन लोगों की प्रथम राजधानी 'तलहलफ' थी। इन क्षत्रिय राजाओ के जो सिक्के मिले है, उन पर सिंहारूढ़ दुर्गा और वृषाभारूढ शिव की आकृति बनी है। इसी खुदाई में शिव-पार्वती की बालक स्कंद समेत प्रतिमा मिली है। 'इकोनियम' में प्राप्त शिलालेखों से उस क्षेत्र में वर्ण-व्यवस्था प्रचलन तथा भारतीय भाषा का प्रसार सिद्ध होता है।

ईसा के १६४६ वर्ष पूर्व से लेकर ११८० वर्ष पूर्व तक ६०० वर्षों से एशिया माइनर क्षेत्र में क्षत्री राजाओं का राज्य रहा है। मीडिया और वैबिलोन के बीच जगरस प्रदेश मे इन्हीं लोगों का शासन था। इन्हें 'कसतर' कहा जाता था जो क्षत्र शब्द का ही अपभ्रंश है। असीरिया मे मिले एक लेख के अनुसार एक क्षत्री राजा अजु या अशु का उल्लेख है। ईरान के यह क्षेत्र समीप पड़ता है। इसलिये वहाँ की भाषा और सभ्यता का भी इन क्षत्र या क्षत्री लोगों पर प्रभाव था, किन्तु बहुलता फिर भी भारतीयता की ही थी। वे लोग भारत से ही गये थे।

सन् ९६० ईस्वी मे मैसोपोटामिया 'ईराक' के बसरा नगर में इस्लाम धर्मानुयायी मे से एक सम्प्रदाय उभरा "अखवानुस्सफा" जिसका अर्थ होता है—'पवित्र सम्प्रदाय'। इसमे भारतीय दर्शन, आचार एवं उपनिषदो के तत्व ज्ञान का आश्चर्यजनक समावेश था। उसमे हिन्दुओं जैसा आश्रमो का विधान था। पचास वर्ष की आयु पूरी हो जाने पर इस समुदाय के लोग साधु जीवन मे प्रवेश करते थे। उपासनारत रहते थे और लोक शिक्षण के लिये परिभ्रमण करते थे। इस सम्प्रदाय का साहित्य ५० खण्डों में विभक्त था। उसमें भारतीय धर्म मे से विशेष रूप से और साधारणतया अन्य धर्मों मे से भी जो कुछ मानवोपयोगी पाया गया उस सब का संकलन किया गया था। इस साहित्य को 'रसायल अखवानुसस्फा'

अर्थात् सदाशय मान्यता का साहित्य कहते थे। इसके सकलन-कर्त्ताओं में जजानी, मुकद्दसी, अलएरौफी, इब्नरिफस आदि धुरन्धर विद्वान थे।

इस सम्प्रदाय में इस्लाम तथा अन्य धर्मों के ऋषियो तथा अवतारों का आदर करने तथा उनकी शिक्षायें ग्रहण करने का विधान था। मुहम्मद, इब्राहीम, ईसा, बुद्ध एव ऋषियो के लिये उनने समुचित सम्मान प्रकट करने की मान्यता को प्रश्रय दिया था और ऐसे सर्वधर्म समन्वयी महापुरुष के अवतरण की प्रतीक्षा थी जो ईरानियों जैसा कुलीन, अरबो जैसा श्रद्धालु, ईराकियो जैसा ज्ञानी, यहूदियो जैसा गम्भीर, ईसाइयों जैसा प्रेमी, सीरिया वालो जैसा सरल, यूनानियो जैसा दार्शनिक, हिन्दुओ जैसा तत्वदर्शी और सूफियो जैसा सन्त हो। उस धर्म का प्रयोजन संसार के समस्त धर्मों और वर्गों के श्रेष्ठ तत्वों का संग्रह करके एक सार ग्रही-सत्यान्वेषी सार्वभौम पवित्र धर्म की स्थापना था।

इतिहास के विद्यार्थी फिनीशियन लोगो की जीवट और पुरुषार्थ परायणता और संस्कृति से भलीभाँति परिचित है। किसी समय यह लोग संसार के कुशलतम और सफलतम व्यापारी समझे जाते थे। फिनीशियन द्वीप समूह, सिडन टायर आदि इन्ही लोगों की बस्तियाँ थी। आक्रमणकारी इन्हे बार-बार लूटते रहे किन्तु उन्होने फिर से उसकी क्षति पूर्ति कर ली और यथावत् बनते रहे। इन्हे रोमन इतिहास मे प्यूनिक कहा गया है। यह जाति वस्तुत: भारत की 'पणि' वंशीय लोगो की ही विदेश जाने वाली एक शाखा थी। पणि का ही अपभ्रंश प्यूनिक है। निरुक्त में 'पणिवणिग्भवति' -पणि को वणिक कहा गया है। यह लोग व्यवसाय प्रयोजन के लिये भारत से ईरान गये थे। वहाँ असुरक्षा देखकर वे लोग सीरिया के समुद्र तट पर जा बसे और उस क्षेत्र का नाम 'फिनीशिया' रखा। इन्होने उत्तरी अफ्रीका और भूमध्य सागर के द्वीप बसाये। कार्थेज भी उन्होने बसाये। छ. लाख जनसंख्या वाले कार्थेज का व्यवसाय अभी दक्षिण योरोप के अनेक देशो को प्रभावित करता है।

पणिवंशी फिनीशियनों की प्राचीन 'गाथा' भारतीय सभ्यता की ही अनुकृति है। उनका धर्म ग्रन्थ 'बलूस्पा' ऋग्वेद का ही अनुवाद है। अभी भी उनकी मान्यतायें और प्रथायें बहुत कुछ भारतीय आदर्शों के अधिक समीप है। किसी समय पणिवंश के लोगो की सहायता से पश्चिमी एशिया, ग्रीस, गॉल, ब्रिटेन, नार्वे अरब तथा सैमेटिक लोगो में भारतीय धर्म और संस्कृति का प्रसार विस्तार सम्भव होता था। भारत से धर्म प्रचारकों को बुलाकर वे उन्हें उस क्षेत्र में दूर-दूर तक भेजने के लिये सभी आवश्यक साधन जुटाते थे।

सीरिया पर ई० पू० १५०० में किसानी जाति के राजा राज्य करते थे वे मूर्तिपूजक थे। इस क्षेत्र में ऐसे शिलालेख और संधि पत्र मिले है, जिनमें मित्र, वरुण, इन्द्र आदि की आवृत्तियाँ खुदी हैं और सस्कृत भाषा मे मित्रतापूर्वक रहने की प्रतिज्ञा है।

पैलेस्टाइन्न से सातवी सदी मे एसनीज नामक एक ऐसे सम्प्रदाय का उल्लेख मिलता है, जिसके रीति-रिवाज और विचार पूर्णतया हिन्दू धर्म से मिलते-जुलते थे। उस सम्प्रदाय के सन्त भारतीय ऋषियो की तरह उपासनारत रहते थे और धर्म-प्रचार करते थे।

कुवैत के छोटे से इलाके मे तेल का इतना बड़ा भण्डार है, जितना पूरे अमेरिका में भी नही है। सन् १८९९ मे जिस संधि के आधार पर कुवैत का अलग अस्तित्व बना, उसको इराक ने बहुत समय तक माना ही नही। ईराक बार-बार यही कहता रहा कि कुवैत हमारा एक अविच्छिन्न प्रान्त है। उसने राष्ट्र संघ मे भी इस पृथकता के विरुद्ध शिकायत की थी और धमकी दी थी कि वह सेना भेजकर पृथकता को दूर करेगा। इस पर ब्रिटेन और अमेरिका ने अपने लड़ाकू जहाज कुवैत की सुरक्षा के लिये भेज दिये। उनका सामना कर सकने की क्षमता न होने के कारण ईराक को अपना दावा छोड़ना पड़ा।

कुवैत के शेख की आमदनी तेल से १५ हजार पौण्ड दैनिक है। उनके पास बैंको में जमा धन ससार के किसी भी धनी व्यक्ति की अपेक्षा कहीं अधिक है।

वृहत्तर भारत के अंगोपांग

यह मानना सही नहीं है कि मुसलमान आक्रमणकारियों ने अपने बल पौरुष से इस देश पर विजय पायी और अधिकार जमाया। सच बात यह कि हिन्दुओं की फूट ने ही उन्हें आमन्त्रित किया और प्रकट एवं अप्रकट सहयोग देकर उन्हें विजयी बनाया। नित नये बरसाती मेढ़को की तरह उगने वाले सम्प्रदाय सांस्कृतिक एकता नष्ट कर रहे थे। भावनात्मक विकृतियों ने नैतिकता, सामाजिकता और राष्ट्रीयता को एक प्रकार से छिन्न-भिन्न कर दिया था। ऐसी दशा में लोगों को अपने विराने दीखने लगे और विराने अपने। गृह-कलह से उत्पन्न विद्वेष ने आक्रमणकारियों की शरण ली उन्हे आमन्त्रित किया और भरपूर सहयोग दिया। इसी बल-बूते पर उन्हें आक्रमण का साहस हुआ। जो सफलता सहज ही मिल सकती हो उसका लाभ कौन छोड़गा? दूसरों के कन्धे पर रखकर बन्दूक चलाने वाले का तो लाभ ही लाभ है। इसी आकर्षण ने उन आक्रमणकारियों को पैर जमाने के लिये ललचाया जो मात्र लूट-खसोट करके भाग जाने के अतिरिक्त और कुछ कभी सोचते भी न थे। अन्धकार युग की भारतीय पराधीनता के लिये किसी आक्रमणकारी को उतना श्रेय नही जितना इस देश मे फैली फूट और तज्जनित आत्मघाती नीति को।

जयचन्द्र का नाम बदनाम है कि उसने पृथ्वीराज को नीचा दिखाने के लिये मुसलमान आक्रमणकारियो को आमन्त्रित किया था। अंग्रेजों के जमाने में मीरजाफर का नाम कुख्यात है। पर वास्तविकता यह है कि उन दिनों इस स्तर के दुरभिसन्धि बरतने वाले अनेक लोग थे, भले ही उनका नाम प्रकाश में न आया हो। इन्ही के प्रयासों ने इस देश को आक्रान्ताओं के पैरो तले चिरकाल तक कुचले जाने की भूमिका प्रस्तुत की।

"तोहफतुल किराम" नामक अरब इतिहास का उद्धरण है कि सिन्ध पर दल्लूराय नामक हिन्दू राजा का राज्य था। इसने अपने छोटे भाई इमरान को सताया। वह बगदाद के खलीफा के पास पहुँचा। खलीफा ने उसके साथ अरब सेना भेज दी। सेना नायक सैयद को दल्लूराय अपनी लड़की ब्याह कर अपनी जान बचा सका।

अरबी भाषा के सबसे प्रामाणिक ग्रन्थ "चचनामा" में उल्लेख है—सिन्ध के कुछ पुरोहित मुहम्मद कासिम के पास गये और उनसे कहा कि हमारी जाति सबसे ऊँची है, हमें ऊँचा मान मिले। कासिम ने उनकी बात मान ली। उन्हें ऊँचे पद दिये और सम्पन्नता दी। पुरोहितों ने इसका बहुत धन्यवाद दिया और गाँव-गाँव घूमकर शासको के गुण गाये तथा उनकी भरपूर प्रशसा की।

'मुतदहिर मुकद्दसी' ने हिजरी सन् ३३५ में हिन्दुओ को दो प्रमुख धर्मो बाँटा है। (१) ब्राह्मण धर्म (२) बौद्ध धर्म । दोनो परस्पर विरोधी थे। उनमे से ब्राह्मण धर्म वाले अरब लोगों के अधिक घनिष्ठ थे।

"कामिल इब्न असीर" के अनुसार सन् ३४७ हिजरी के आस-पास सिन्ध में मुसलमानो का पासा पलट गया और उन्हें भागकर जान बचाने की आवश्यकता पड़ी। तब एक हिन्दू राजा ने उन्हें अपने यहाँ बसाया और स्वागत किया और वे बहुत सुखपूर्वक रहने लगे।

"कामिल इब्न असीर" के अनुसार भारत पर आक्रमण करने वाले सुलतान महमूद की सेना में बहुत से हिन्दू भी मिले हुए थे।

लगता है कि उस काल में बौद्ध धर्म का वर्चस्व ब्राह्मण धर्मानुयायियो को सहन नहीं हो पा रहा था। वे स्वयं तो बौद्धों को नीचा दिखाने में सफल न हो सके, पर उन्होने सरल तरकीब ढूँढ़ निकाली कि सीमावर्ती विधर्मियों को आक्रमण करने के लिये तैयार किया जाय। इसकी पृष्ठभूमि इस प्रकार बनायी गयी कि बौद्ध धर्म इस्लाम के अधिक विपरीत है, ब्राह्मणी धर्म इतना नही । बौद्ध धर्म को मिटाने के लिये दोनों

मिलकर प्रयत्न करे तो इसमे दोनो के समान शत्रुओ को निरस्त करने का अवसर मिलेगा। इस दुरभिसन्धि ने आक्रमणो के लिये विस्तृत पृष्ठभूमि बनायी।

पर इतिहासकार 'बिलाजुरी' के अनुसार उन दिनों बौद्धो और ब्राह्मणो मे भारी लड़ाई चल रही थी। *ब्राह्मण तगड़े पड़ रहे थे।* बौद्धो ने अपने को हारता देखा तो उन्होने मुसलमानों की सहायता माँगी। मुहम्मद बिन कासिम की सेना जब नेरू पहुँची तो उसे मालूम पडा कि बौद्धो ने गुप्त रूप से अपने दूत ईराक भेजे है और वहाँ से अभयदान प्राप्त किया है। नेरु मे *कासिम का अच्छा स्वागत हुआ।* उसे रसद और दूसरी सुविधायें मिली। इसके बाद इस्लामी सेना आगे बढ़ी। इसमे बौद्धों का सहयोग मिला। उन्होने राजा विजय राज को छोड़कर मुसलमान सेना का साथ देना उचित समझा।

इतिहासकार इलियट ने उस समय की स्थिति का चित्रण करते हुए स्पष्ट किया कि "उन दिनों बौद्धो और ब्राह्मणो मे भारी कलह मचा हुआ था, यद्यपि मतभेद दार्शनिक स्तर के और छोटे-मोटे थे तो भी उनका द्वेष भाव बहुत बढ गया था और एक-दूसरे को नीचा दिखाने के लिये हर तरीका अपनाने के लिये उतारू थे। यही निष्कर्ष अरबी इतिहास "मिनहाजुल मसालिक" से भी निकलता है।

इब्न नदीम की अल फेहरिस्त के अनुसार अरबी भाषा मे बौद्धो के लिये "समानिया" शब्द का प्रयोग होता है। यह नास्तिक अथवा शैतान जैसा है। इस्लाम के अनुसार ईश्वर के अस्तित्व से इन्कार करना सबसे बड़ा पाप है। बौद्ध लोग ईश्वर को नही मानते। इतना ही नही उनकी अन्य कई दार्शनिक मान्यतायें भी इस्लाम के प्रतिकूल पड़ती है। ससार मे सत्य और *असत्य का मिला-जुला होना-ससार को दुःख रूप* मानना-पाप-पुण्यो का परिणाम-बुद्ध को ईश्वर का अवतार मानना, मूर्ति पूजा आदि ऐसे प्रतिपादन हैं, जो इस्लाम से मेल नही खाते। अस्तु इन्हें अधिक घृणास्पद समझा गया। यो ये सिद्धान्त बौद्ध धर्म मे प्राचीन हिन्दू धर्म से ही गये थे। पर उस समय के प्रचलन के अनुसार विरोधी पक्ष ने इन्हें बौद्धो के ही ठहराया।

"चचनामा" में एक रहस्य का उद्घाटन किया गया है—सिन्ध मे एक काका नामक कूटनीतिज्ञ साधु था। राजा और बड़े आदमी उसे चमत्कारी समझते थे और सलाह लेते थे। मुसलमानों के आक्रमणो का मुकाबला कैसे किया जाय इस बात पर बड़े लोग *उससे सलाह लेने गये, तो उसने कहा मैंने पण्डितों,* योगियो और देवताओं से सलाह करके यह जान लिया है कि इस देश को मुसलमान अवश्य जीत लेंगे। मेरा विश्वास है कि ऐसा ही होकर रहेगा।

इस कथन से उन लोगों में भारी निराशा छा गयी *और लड़ने का इरादा छोड़कर अपनी जान बचाने* की बात सोचने लगे। मुहम्मद बिन कासिम ने उसे भारी जागीर एवं सम्मान प्रदान किया। काका के प्रभाव मे आकर प्रभावशाली लोगों ने कासिम की आधीनता स्वीकार कर ली।

ब्राह्मण धर्मानुयायी राजा और महन्त मुसलमानों को हर प्रकार की सहायता और प्रोत्साहन दे रहे थे। और उन्हे अपने यहाँ अनेकानेक सुविधाये देकर बसा रहे थे। शारीरिक दृष्टि से अधिक बलिष्ठ और स्वभाव की दृष्टि से अधिक लड़ाकू होने के कारण इस प्रश्रय *में उन्हे यह लाभ प्रत्यक्ष दिखाई दे रहा था* कि उनकी सहायता से विपक्षियों को तरह-तरह से नीचा दिखाया जा सकता है।

बसे हुए अरब लोग अपने प्रभाव से अछूत तथा दूसरे पिछडे लोगो को मुसलमान बना लेते थे। इसमे किसी को कोई आपत्ति नही होती थी। वरन् इसका प्रोत्साहन दिया जाता था ताकि उन्हे अपनी मित्रता का अधिक गहरा प्रमाण दिया जा सके।

इलियट ने अपने इतिहास ग्रन्थ में तत्कालीन नौ मुसलमानो की स्थिति का वर्णन अमीर खुसरो का एक एक उदाहरण देते हुए लिखा है—यह लोग आधे हिन्दू आधे मुसलमान थे, इन्हें अपने मुसलमान धर्म का ज्ञान नही था।

इब्नबतूता ने कालीकट के राजा की प्रशसा करते हुए लिखा है—एक बार एक मुसलमान व्यापारी की तलवार दीवान के भतीजे ने छीन ली। व्यापारी ने राजा से शिकायत की तो हुक्म हुआ कि दीवान के भतीजे के दो टुकडे उसी तलवार से कर दिये जॉय।

उपरोक्त यात्री के अनुसार उन दिनो मैसूर राज्य पर वल्लाल देव राजा राज करता था। उसने लिखा है इस राजा की विशाल सेना में एक चौथाई मुसलमान थे। बीजानगर के हिन्दू राज्य की सेना मे दो हजार मुसलमान थे। राजा मुसलमानों का बहुत आदर करता था। उसने उनके लिये मस्जिद बनवायी थी।

अरब यात्री सुलेमान का यात्रा विवरण 'खजायनुल फुतुह' मे छपा है। उसने लिखा है — "वल्लभी राजा और उसकी प्रजा मुसलमानो से बहुत प्रेम करते है। किन्तु गुर्जर लोग अरबो के शत्रु है।"

एक अन्य अरब यात्री मसऊदी भारत आया, गुजरात घूमा और उसने वल्लभी (वल्हारा) राजाओ के बारे मे लिखा है कि उनके राज्य में मुसलमानो का इतना आदर होता था, जितना सिन्ध अथवा भारत के किसी अन्य राजा के राज्य मे नही होता। यहाँ इस्लाम का अच्छा आदर एवं संरक्षण है।

"अजायबुल हिन्द" में शहरयार नामक नाविक को साक्षी देते हुए लिखा है कि भारत मे कई प्रकार के पुजारी एवं सन्यासी है। इनमे से कुछ मुसलमानो से बहुत प्रेम करते है और उनसे घनिष्ठता बरतते है।

कैलाश मानसरोवर का शिव-तीर्थ

तिब्बत

तिब्बत भारत की उत्तरी सीमा से लगा हुआ है। भगवान शिव का निवास क्षेत्र कैलाश पर्वत और मानसरोवर अब उसी प्रदेश मे है। प्राचीन काल में यह भिन्नता न थी। हिमालय का उत्तराखण्ड गंगोत्री से लेकर कैलाश तक फैला हुआ था। योगी, तपस्वी वहाँ निवास करते थे और तीर्थयात्री जाया ही करते थे। तब उस क्षेत्र मे पूरी तरह भारतीय धर्म ही प्रचलित था।

समय के कुचक्र ने बहुत कुछ इधर-उधर किया। हृदय का सम्पर्क पेट से न रहे और रक्तवाहिनियाँ वहाँ तक रक्त प्रवाह जारी न रखे तो स्वभावत. लकवा मार जायेगा। भारत जब समस्त विश्व को मार्गदर्शन करने की क्षमता को खो बैठा और विलासिता तथा स्वार्थपरता को अपना लिया, तो फिर अपनी छोटी-सी कोठरी को संभालना भी कठिन पड़ गया। तब उसी पर दूसरे लोग आक्रमण करके अधिकार जमाने लगे। ऐसी हालत में दूसरे देशो मे प्रकाश फैलाने का उत्तरदायित्व कौन संभालता? यदि संभाला न जाय तो सुरम्य उद्यान कुछ समय मे झाड़-झंखाडो से भरा अनगढ़ एवं अस्त-व्यस्त हो जाता है। समीपवर्ती देश भारत के सहयोग से वंचित होकर अपने-अपने ढंग के बिखराव में फँस गये। ऐसे ही प्रदेशो मे एक भाग तिब्बत का भी है।

बौद्ध धर्म का तिब्बत मे प्रवेश होने पर वह पुरानी कड़ी फिर से जुड़ गयी। बीच का विच्छेद काल बहुत लम्बा रहा। फिर भी बौद्ध प्रचारको ने वहाँ जाकर देखा कि हिन्दू धर्म की प्राचीन मान्यतायें वहाँ किसी न किसी रूप में विद्यमान हैं। देव-उपासना का क्रम भी प्राय: वैसा ही चल रहा है। यद्यपि उसमे विकृतियो की भरमार होने से अवांछनीय तत्वो की मात्रा बहुत बढ़ गयी थी। बौद्ध धर्म के प्रयोग ने वहाँ नव जीवन का संचार किया और तिब्बत को फिर से *भारत के समीप ला दिया।*

तिब्बत भौगोलिक दृष्टि से भारत के समीप है, किन्तु बौद्ध धर्म वहाँ लका, खोतान, चीन, कोरिया, जापान मे धर्म-विजय करने के पश्चात् पहुँचा इसका प्रधान कारण यातायात की कठिनाई-मार्ग की अत्यन्त दुर्गमता ही थी। जो पर्वत श्रृंखलायें एवं सघन वन्य प्रदेश दोनो देशो को अलग करते थे, वे ऐसे जटिल थे कि उन्हे पार करना जीवन और मरण की प्रत्यक्ष चुनौती को स्वीकार करने के बराबर था। उस देश मे बौद्ध धर्म सातवी शताब्दी मे पहुँचा और उस प्रयत्न मे प्रचारको को असाधारण दुस्साहस का परिचय देना पड़ा।

इसके पूर्व वहाँ बहुदेववादी-बलिपूजक "पानन्धर्म" का प्रचलन था। बौद्ध धर्म ने वहाँ प्रवेश किया, वे दोनो एक-दूसरे से घुले। दोनो ने अपना स्वरूप बदला और एक नये मध्यवर्ती धर्म का रूप धारण कर लिया। अभी भी वहाँ ऐसे धर्म का प्रचलन है, जिसमे बौद्ध शिक्षा की प्रधानता है और पान-धर्म का सम्मिश्रण है, तो कही इसके विपरीत ऐसे पान-धर्म का प्रचार है, जिसमे बौद्ध मान्यताये भी गहराई तक मिली-जुली है। दक्षिणी-पूर्वीय तिब्बत मे बने

चुम्बीघाटी के चार विहार पान धर्म के हैं। बुद्ध मूर्तियाँ और अवतारी पद्मसंभव की मूर्तियाँ बौद्ध विहारों की तरह इनमें भी स्थापित हैं। धर्म ग्रन्थ भी अधिकतर मिलते-जुलते हैं। मतभेद इतना कम है कि देवताओं के पूजा विधानों और ग्रन्थों के नामो में अन्तर के अतिरिक्त और कोई बड़ी भिन्नता दिखाई नही पड़ती। पान "ओम मत्रे सुये सलेदु" मन्त्र की उपासना करते हैं और बौद्ध उसी को "ओम् मनि पे मे हुन्" उच्चारण के साथ जपते है। अर्थ दोनों का एक ही होता है।

यों बौद्ध धर्म लंका, वर्मा, मेसोपोटामिया, मेसीडोनिया और मिश्र आदि में ईसा से पूर्व तीसरी शताब्दी में ही पहुँच चुका था। सन् ५६ में मध्य एशिया के खोतान प्रान्त में भी फलने-फूलने लगा था। सन् ३७२ में कोरिया को और ५३८ में जापान को उसने प्रभावित कर लिया था, पर भारत सीमा से लगे हुए तिब्बत में वह सन् ५८० ई० के पहले न पहुँच सका। उनका एक कारण तो मार्ग की दुर्गमता था और दूसरा उस क्षेत्र के लोगों में संव्याप्त अशिक्षा और पूर्व मान्यताओं के प्रति अन्धविश्वास भरी कट्टरता था।

'दी रिलीजन ऑफ तिब्बत' ग्रन्थ के अनुसार बौद्ध प्रचारकों ने चतुर्थ शताब्दी में वहाँ धर्म-विजय का प्रकाश पहुँचाने का प्रयत्न किया था, पर वहाँ निरक्षरता का साम्राज्य होने से विशेष सफलता न मिली। राजा से लेकर प्रजा तक किसी को लिखना-पढ़ना नही आता था। 'लो सेम सो' और 'लितिसे' आदि विद्वानों को इसी कठिनाई से हार मानकर पीछे लौटना पड़ा।

सन् ६२९ में तिब्बत की गद्दी पर 'सोगहेन गम पो' बैठा। उसने अपने पड़ौसी देशो मे बौद्ध धर्म की उत्साह भरी चर्चा सुनी। उसका लाभ लेने के लिये उसका भी जी चाहा। अस्तु अपने प्रतिभाशाली कर्मचारी 'तानमिस' वो ता' के नेतृत्व में सोलह कुशाग्र बुद्धि व्यक्तियों का जत्था भारतीय भाषा और बौद्ध धर्म सीखने के लिये भारत भेजा। वह जत्था अठारह वर्ष भारत में रहा। यहाँ उसने तिब्बत के लिये भारतीय वर्णमाला के अनुरूप एक लिपि तैयार की। 'करण्ड व्यूह सूत्र' और 'अवलोकितेश्वर सूत्र' उसी भाषा तथा लिपि में लिखे। इस तिब्बती लिपि का नाम 'हरहा' रखा और भाषा का 'तान-मि'। पाणनि के आधार पर व्याकरण बनाया। दल ने वापस तिब्बत लौटकर राजा-प्रजा को लिखना-पढ़ना सिखाया, बौद्ध धर्म तथा उसके ग्रन्थो से परिचय कराया।

तत्कालीन बौद्ध सम्राट 'सोंग-हेन गम पो' बड़ा प्रतापी था। उसने चीन और नेपाल पर चढ़ाइयाँ की। इसका सिलसिला तब टूटा जब चीन और नेपाल नरेशों की पुत्रियाँ उसे वधू रूप में प्राप्त हो गयी । वे दोनों बौद्ध थी। उनके प्रभाव मे आकर राजा ने भी बौद्ध धर्म स्वीकार कर लिया। उसने पड़ौसी देशों से बौद्ध धर्म प्रचारक बुलाये और कितने ही मन्दिर और विहार बनवाये? ल्हासा राजधानी की उसी ने स्थापना की। उपलब्ध प्राचीन चित्रो में सम्राट सोंग को धर्म चक्र प्रवर्तक शासक के रूप में चित्रित किया गया है। प्रजा उसे अवतार मानती थी। उसके वंश के राजा "त्रिदेसक तेन" और 'ति सोग दे सेन' ने भी इस दिशा में प्रयत्न किये, पर पुरातन पान-धर्मी प्रजा और सरकारी अधिकारियों के विरोध तथा असहयोग के कारण उसमें विशेष सफलता न मिल सकी। इस अवधि में भी कुछ विहार बने और प्रचार जारी रहा।

तिब्बत का प्रामाणिक इतिहास जिसके आधार पर उस देश की बौद्ध परम्पराओं को ठीक से समझा जा सके, सन् ५८० से आरम्भ होता है । इसे सन् ७६३ ई० तक खीच ले चलें तो वर्गीकरण की दृष्टि से यह आरंभ युग कहा जायेगा। इसी बीच में भारत में शिक्षित व्यक्तियों की सहायता से तिब्बती लिपि भाषा, व्याकरण की रचना की गयी है। लोह पर्वत की सुरम्य गुफा मे बैठकर विद्वानो ने यह कार्य चार वर्ष मे पूरा किया। यही से तिब्बत का सर्वतोमुखी विकास आरम्भ होता है। वास्तु कला, शिल्प, व्यवसाय, धर्म राजनीति, शिक्षा, चिकित्सा, यातायात की अनेको अभिनय योजनायें चल पड़ी।

इसी अवधि में भारत से बौद्ध विद्वान कुमार, नेपाल से मंजुशील, काश्मीर से तुन, चीन से महादेव, थोमिन, धर्मकोश वहाँ पहुँचे। थोमिन ने तिब्बती भाषा में "करण्डव्यूह सूत्र" "रत्न मेघ सूत्र" "कर्मशतक" आदि आठ ग्रन्थों का अनुवाद किया। अन्य विद्वानों ने तिब्बतियों को अन्यान्य विषयों का ज्ञान देने वाली पुस्तके लिखी।

सम्राट 'सोग वचन्' ने ६२ वर्ष राज्य करके ८२ वर्ष की आयु मे 'सल भी' नामक स्थान में शरीर त्यागा। उस स्थान पर एक विशाल बौद्ध मन्दिर बनाया गया। इसके बाद सन् ६३८ से ६५२ तक 'मग सोंग' का और ६७० से ७४२ तक 'गवन वर्तन' का शासन रहा। इसके समय में वाणी और लेखनी से भिक्षुगण बौद्ध धर्म की जड़ जमाने मे मन्थर गति से लगे रहे। उन परिस्थितियों में तीव्र गति से सफलता प्राप्त मिलने की आशा भी नही की जा सकती थी।

सन् ७४२ से ७५८ तक सम्राट 'खि सोंग' का शासन रहा। उसने बौद्ध धर्म के विस्तार के लिये उत्साह दिखाया। पर पुरातन पंथी मंत्रियो के उग्र विरोध के कारण उसे अपना हाथ रोकना पड़ा। तो भी उसने दो चीनी भिक्षुओं तथा एक काश्मीरी पण्डित अनन्त को उस कार्य में लगाये रखा। इसी समय एक तिब्वती भिक्षु ज्ञानेन्द्र का उत्साह उमड़ा वह अधिक ज्ञान प्राप्त करने के लिये भारत आया। वह बोध गया का दर्शन करने के उपरान्त नालन्दा पहुँचा और वहाँ अध्ययन किया। उन दिनो तिब्वत और भारत का मार्ग नेपाल और मंगयुल होकर ही था। ज्ञानेन्द्र की भेट भारतीय विद्वान शान्तिरक्षित से मंगलयुक्त में ही हुई थी। उससे वह बहुत प्रभावित हुआ। सम्राट को सहमत करके ज्ञानेन्द्र फिर मंगयुल लौटा और आचार्य शान्तिरक्षित को सहमत करके धर्म प्रचार के लिये तिब्वत ले गया। वे प्रसन्नतापूर्वक आये और वहाँ पहले से ही रहते हुए काश्मीरी भिक्षु अनन्त के सहयोग से तिब्वत मे लेखनी तथा वाणी से कार्य करने लगे। शान्तिरक्षित संस्कृत मे बोलते थे और अनन्त उसका तिब्वती भाषा मे अनुवाद किया करते थे। इस प्रकार भाषा सम्बन्धी कठिनाई दूर हुई और शान्तिरक्षित ने राजपरिवार को बौद्ध धर्म के प्रति अधिक श्रद्धावान तथा सहयोगी बना दिया। वह दीक्षावान बौद्ध हो गया। इन प्रसार कार्यों में अधिकारियों और प्रजाजनो ने विरोध भी बहुत किया, यहाँ तक कि एक बार शान्तिरक्षित को तिब्वत छोड़ने के लिये भी विवश होना पड़ा, परन्तु परिस्थितियाँ शान्त होते ही वे फिर लौट आये और ७५ वर्ष की वृद्धावस्था मे भी वे नवयुवको जैसे उत्साह से धर्म प्रचार करते रहे। उन्होने अपना स्थायी आश्रम 'सम पे स्थान' पर बनाया। योजनाबद्ध प्रक्रिया अपनाकर उन दिनो महत्वपूर्ण कार्य सम्पन्न किये गये। ७६२ से विशाल बौद्ध विहार 'वसुम-यश' का निर्माण आरम्भ हुआ जो १२ वर्ष तक बनता रहा और ७७५ में पूरा हुआ। इसमें भिक्षुओ के निवास, शिक्षण आदि की समुचित व्यवस्था की गयी। बारह भिक्षुओं ने इस संस्था के संचालन का भार सँभाला, इनमे पाँच भारतीय और सात तिब्वती थे। यहाँ अनेक धर्म-ग्रन्थो का अनुवाद हुआ। सौ वर्ष की पूर्णायु पूरी करके शान्तिरक्षित सन् ७८० मे स्वर्ग सिधारे। उनके अवशेष की सम्मानपूर्ण स्थापना हुई और वहाँ एक ऊँचा स्तूप बनाया गया। तिब्वती उन्हें महापण्डित और बोधिसत्व के नाम से स्मरण करते हैं।

आचार्य शान्तिरक्षित के बाद उनके शिष्य श्रीघोष संघनायक बने। इस काल में भी भारतीय विद्वान तिब्वत जाते रहे। साथ ही चीनी बौद्ध-प्रचारकों के जत्थे भी आते चल गये। इन भारतीय और चीनी प्रचारकों में जातीय मनोमालिन्य का विष फैला और उसके कर्मवादी एव अकर्मवादी सिद्धान्तो की आड़ में उस विवाद को विद्वेष एवं कलह का रूप दे दिया। अन्त मे इस विवाद को निपटाने के लिये सम्राट की अध्यक्षता मे एक शास्त्रार्थ आयोजित किया गया। एक ओर चीनी भिक्षु ह्वशंग के नेतृत्व में अकर्मण्यतावादियो का दल था, दूसरी ओर कमलशील के नेतृत्व मे भारतीय कर्मवादी उपस्थिति हुए। शास्त्रार्थ कई दिन चला। उसमे भारतीयो की विजय हुई। निश्चित शर्त के अनुसार ह्वशग अपने हाथों कमलशील के गले में माला पहनाकर उस देश से निर्वासित हो गये। इस पराजय से चीनियो की द्वेषाग्नि और भी भड़की। उन्होने चार कसाई भेजकर आचार्य कमलशील की हत्या करा डाली।

ऐसे आतक भरे समय में भी बुद्ध संघ में विमल मित्र, बुद्ध, गुहा, शान्ति गर्भ, नर्म मख, शाक्यप्रभु, रिनछोन सेद, नर्म पर मितो गप आदि विद्वान वाणी और लेखनी के माध्यम से तिब्वती जनता को बुद्ध संदेश सुनाने में निरत रहे और धर्म चक्र प्रवर्तन में शिथिलता नहीं आने दी।

सन् ७८५-८६ में दो वर्ष तक मुनिवचन पो शासनाध्यक्ष रहा। उसने बुद्ध दर्शन को आर्थिक क्षेत्र में भी उतारने का प्रयत्न किया। धन का सम वितरण, धनियों को गरीबो के लिये दान देने के लिये विवश किया। पर श्रम का सम महत्त्व न होने से उस प्रयोजन का स्थायी परिणाम न निकला। मुफ्त का धन पाकर दरिद्रों ने बेरहमी से उसे उड़ा डाला। दूसरी ओर धनियों के हाथ में उपार्जन के साधनो का एकाधिकार रहने से वे फिर पहले जैसे ही धनी बन गये। पूजा तक धर्म सीमित न रखकर उसे अर्थ क्षेत्र मे उतारा जाय, यह सामर्थ्यवान लोगो को सहन न हुआ और उस उदार सम्राट को विष देकर हत्या कर दी गयी।

सन् ७८७ से ८१७ तक 'मुनि वचन पो' के भाई 'खिल्दे वचन' का शासन काल रहा। उसने भी बौद्ध धर्म में अपने पूर्वजों की भाँति ही निष्ठा रखी। बल्तिस्तान क्षेत्र के 'सरकदों' नगर में एक अच्छा बुद्ध मन्दिर बनवाया। अनुवाद की सुव्यवस्था की भाषा सम्बन्धी प्रचलित दोषो का संशोधन कराया। राजाश्रय पाकर जिनमित्र, सुरेन्द्र बोधि, रत्नेन्द्रशील, मजुश्री धर्म, जयरक्षित ज्ञानसेन, धर्मताशील, रत्नरक्षित, बोधिमित्र, दानशील, शैलेन्द्रबोधि आदि भिक्षुओं ने बौद्ध साहित्य का तिब्बती भाषा में सृजन किया और धर्म प्रेरणा का अभियान जनमानस तक पहुँचाया।

सन् ८१७ से ८४७ तक 'रत्न पंचन' का शासनकाल रहा। यह राजा अति भावुक था। उसने भिक्षुओ को देवतुल्य सम्मान दिया, यहाँ तक कि शासन व्यवस्था तक उनके हाथ सौंप दी। उसने अपने पुत्र 'चग मो' को भिक्षु बना दिया। उससे तत्कालीन राजदरबार असन्तुष्ट हो गया और उसने सम्राट को मार डाला, रानी ने आत्महत्या कर ली। तब बौद्ध द्वेषी गुलंग दर को गद्दी पर बिठाया। उसने भिक्षुओं को बहुत सताया, बदनाम किया। उस उत्पीड़न से संत्रस्त होकर भिक्षु पड़ौसी राज्यों में भाग गये। स्थिति असह्य हो गयी। तो 'ल्हलुम' नामक बौद्ध भिक्षु ने उसे भी तीर से मार डाला और स्वयं भाग गया। इसके बाद ९०५ से ९२३ तक 'दपल स्रुंगस वचन' का शासन हुआ उसने बौद्ध विरोधी कोई कार्य न करके रुष्ट प्रजा को सतुष्ट किया। आचार-व्यवहार के नियमों को कड़ा किया और दस विद्वानो के नेतृत्व में सघ का कार्य चलाने की व्यवस्था की।

ग्यारहवी शताब्दी का आरम्भ, तिब्बती शासन और संघ के लिये अराजकता का युग कहा जा सकता है। केन्द्र कमजोर पड़ने से छोटे-छोटे सामन्त राजा बन बैठे। राज-परिवार के लोग अपने-अपने दल बनाकर जहाँ-तहाँ- छोटी-छोटी सरदारियाँ बनाने लगे। कुछ भिक्षुओं में आ घुसे। भिक्षुओं ने धर्म-चक्र-प्रवर्तन का लक्ष्य छोड़कर तांत्रिक चमत्कारो, विलासिता, वासना तृप्ति पर ध्यान केन्द्रित किया।

इस स्थिति से क्षुब्ध होकर 'खोर-ल्दे' ने बौद्ध धर्म की विकृतियों को निरस्त करने की ठान ठानी और नये सिरे से सुधार कार्य हाथ में लिया। इक्कीस उत्साही युवकों का एक दल काश्मीर अध्ययन के लिये भेजा। कठिन ऋतु प्रभाव का सामना न कर सकने के कारण इन २१ में से दो ही जीवित लौट सके। इस स्थिति से दुःखी होकर राज भिक्षु ज्ञानप्रभा ने निश्चय किया कि विद्यार्थियो को बाहर भेजने की अपेक्षा यही अच्छा है कि भारतीय विद्वानो को अध्यापन के लिये देश मे ही बुलाया जाय। अस्तु, विक्रम शिला महा विहार के प्राध्यापक भिक्षु दीपंकर श्रीज्ञान को तिब्बत बुलाया गया। वे सन् १०४२ मे मगरिस पहुँचे। कुछ दिन "शंग-शुंग" मठ में रहे। इसके बाद उन्होंने साहित्य-सृजन और प्रचार प्रवचनो की नयी श्रृखला बनायी उनका तिब्बती नाम आतिशा पड़ा। उन्होंने अपने जीवन के अन्तिम तेरह वर्ष तिब्बत के बौद्ध धर्म के पुनरुद्धार में लगाये और ७३ वर्ष की आयु भोगकर सन् १०५४ में 'सयेलग' स्थान मे शरीर त्याग दिया। उसके अनुवादित एवं सशोधित सैकड़ो ग्रन्थ अभी भी तिब्बत में मौजूद हैं। उन्ही दिनो विद्वान सोमनाथ, लक्ष्मीकर, दान श्री, चन्दु राहुल, गया धर, स्मृति ज्ञान कीर्ति, सूर्य दीर्घ, विभूति चन्द, ज्ञान प्रभ, शान्ति प्रभ, सुजन श्रीज्ञान, मन्द्र कलश, गुणाकार भद्र आदि भारत से तिब्बत पहुँचे थे, इन्होंने दीपंकर के कार्य में भरपूर सहयोग दिया तथा उनके पीछे भी उस प्रक्रिया को चलाते रहे। इन्ही दिनो अरन क्लोग में नाग, में एक विशाल विद्यालय स्थापित किया गया।

'चेल्दे' उन दिनों मानसरोवर का शासक था। उसने सन् १०७६ मे एक और विद्यालय आरम्भ कराया। साथ ही साहित्य सृजन की नयी व्यवस्था की। एक उत्साही तिब्बती भिक्षु 'ब्लोल्दन' काश्मीर पढ़ने गया। सत्तरह वर्ष पढ़ा। लौटकर शेष जीवन के १३ वर्ष अध्यापन में लगाये। उन्ही दिनो अतुल दास-सुमति कीर्ति, अमरचन्द्र, कुमार कलश भी वहाँ पहुँचे थे। एक ऐसा ही दूसरा भिक्षु 'त्रिम पुगस' भी था, जो २३ वर्ष काश्मीर मे पढ़ा अपने साथ कनक वर्मा, तिल कलश दो अन्य विद्वानो को लेकर लौटा। दोस-किय ब्लो ग्रोस' ने तीन बार भारत की यात्रा की थी और यहाँ से बहुमूल्य ग्रन्थ उपलब्ध किये थे। मिल रस पा" ने अनेकों कवितायें रची और परिव्राजक बनकर घर-घर बुद्ध का संदेश पहुँचाया । उसे मगोल सरकार का समर्थन मिला और कितने ही वर्ष तिब्बत का शासन सँभाला ।

बारहवी शताब्दी के आरम्भ मे एक गृहस्थ भिक्षु 'दकोर्ग्यल' ने चंग प्रदेश मे सशक्य नामक विहार की स्थापना की। यहाँ की आचार संहिता तथा शिक्षा प्रणाली ऐसी उत्कृष्ट थी कि वहाँ से निकले हुए भिक्षु न केवल तिब्बत मे वरन् दूर देशो तक धर्म-विजय अभियान की ज्योति जलाने में बहुत सफलता प्राप्त करते रहे। इन्ही लोगों ने मंगोलिया में बौद्ध धर्म को अधिकाधिक विस्तृत बनाया । भारत जाकर उन छात्रों ने बहुत कुछ सीखा और अपने साथ भारतीय बौद्ध को लेकर लौटे। शाक्य श्री सुगत श्री भद्र, संघ, श्री, आदि को तिब्बत मे रहकर कार्य करने के लिए सहमत करने तथा वहाँ लाने मे समर्थ हुए।

भारतीय भिक्षुओ की ज्ञान-साधना के आधार पर उन्हें तिब्बत में चमत्कारी सिद्ध पुरुषों के रूप में पूजा गया था। अशिक्षित और अन्ध विश्वासी जनता का सम्मान इसी रूप में मिलता है। ऐसे भारतीय सिद्धो की सख्या भी गिनी जाती है और तिब्बती उन्हें अभी तक उसी रूप मे मानते, पूजते है। भोट साहित्य में उनका उल्लेख सरह पा, शवरपा, लूहि पा, दारिक पा, वज्रघण्टा पा, कर्म पा, अलन्धर पा, कन्ह गुह्य पा आदि ८४ नामो से किया गया है और साथ ही उनके क्रिया-कृत्यों का चमत्कारी वर्णन भी जोड़ दिया गया है।

मंगोल सम्राट चंगेज खाँ सन् ११९४ मे चीन पर कब्जा करने मे सफल हुआ। सन् १२०७ मे उसने तिब्बत पर भी अधिकार जमा लिया। इन्ही दिनों तिब्बती धर्माचार्य 'कुन् द्ग' ने अपने प्रतिभाशाली धर्मप्रचारको का एक जत्था मंगोलिया भेजा, यह सन् १२२२ की बात है। भिक्षु 'फगस पा' और "फयगन" तत्कालीन सम्राट गौतम से मिले और उसे बौद्ध धर्मानुयायी बनाने में सफल हुए। इसके पश्चात् "सकर मगक्" चीन के मंगोल शासक 'मनु खे' से मिला और उसे अपनी धर्म प्रतिभा से चमत्कृत कर दिया। इन शासको के सहयोग से धर्म विस्तार का काम और भी सरल हो गया। इसी अवधि में तिब्बती, चीन और मंगोल भाषाओं मे बौद्ध साहित्य का अनुवाद उत्साह के साथ होता रहा इसके लिये भारतीय भिक्षुओं के उप क्षेत्र में पहुँचने का क्रम बराबर चलता रहा।

'मरपा' ने कई बार भारत-यात्रा की। उपलब्ध ज्ञान को उसने अपने देश मे फैलाया। 'मी-ला' की गणना भी इसी शृखला मे की जाती है। इन्ही दिनों मंगोल आक्रमणकारियों ने तिब्बत को हथिया लिया। चगेज खाँ के पुत्र कुबेलाई खाँ की तूती बोल रही थी। उसने बल्गारिया, सर्विया, हगरी, रूस, चीन, भारत के एक भाग पर कब्जा करने के साथ-साथ तिब्बत को भी अपने अधिकार मे ले लिया। आशंका यह थी कि उससे बौद्ध धर्म को आघात लगेगा पर वैसा हुआ नही। कुबेलाई खाँ बीमार पड़ा और उसे बौद्ध भिक्षु 'सा-क्या' के उपचार से लाभ हुआ। तब से वह बौद्ध धर्म को ध्यानपूर्वक सुनने समझने लगा। दूसरे धर्म वालो की बातें भी उसने सुनी। अन्त में सन् १२५६ में सर्व धर्म शास्त्रार्थ के सुनने के बाद उसे यह घोषणा करनी पड़ी-"बौद्ध धर्म हथेली है और अन्य धर्म अँगुलियाँ। जिस प्रकार हथेली से अँगुलिया निकलती है, उसी प्रकार बौद्ध धर्म से अन्य धर्म निकले हैं।" इसके बाद राजकीय उथल-पुथल का भला-बुरा प्रभाव तो पड़ता रहा, पर उसे, सहन करते हुए बुद्ध धर्म तिब्बत मे निरन्तर आगे बढ़ा। 'सा-क्या' के पश्चात् 'द्रो कुंग' 'ता-लुंग' आदि उद्भट विद्वान एवं प्रचारक उसी देश में उत्पन्न हुए, यो शाक्य 'श्री' जैसे प्रचारक भारत में भी पहुँचते रहे।

तिब्बत में बौद्ध-धर्म का नव जीवन देने वाले 'चोग-ख-प' सन् १३५७ में जन्मे, ये बहुत प्रतिभाशाली थे। छोटी ही आयु मे उन्होने कुछ पढ़, समझ लिया। सन् १३९६ में 'गंल' के महाविद्यालय की स्थापना, १४०५ में ल्हासा का विशाल संघ-सम्मेलन और उसके लिये भव्य भवन का निर्माण, गकदिन महा विहार की स्थापना, १४१६ मे 'ब्रह्म सयुंग महा विहार का निर्माण, १४१९ मे 'सेर महाविद्यालय' का कार्यारम्भ- जैसे जीवन्त कर्तत्व इस बात के साक्षी हैं कि उन्हें धर्म विजय के प्रयास में भारत के जगद्गुरू शंकराचार्य जैसा महा प्रयास करना पड़ा होगा। उनके उत्साही शिष्यों ने भी नये क्रम को मन्द नही होने दिया। कितने ही शिष्य अपने गुरु के समान ही प्रतिभाशाली और पुरुषार्थी थे। चोग-ख-प ने अपने थोड़े ही शिष्य बनाये, पर वे सभी परखे हुए थे। उनके अनुयायियों को कठोर अनुशासन में रहना पड़ता था और चरित्र तथा आदर्श की कसौटी पर खरा उतरना पड़ता था।

भारतीय विद्वानों का प्रवाह अब भी तिब्बत की ओर बढ़ रहा था। वे अति दुर्गम मार्ग की कठिनाइयो को सहते हुए, वहाँ के कष्ट-साध्य जीवन को सहन करते हुए, धर्म प्रचार के लिये उत्साहपूर्वक जा रहे थे। उनमें से अधिकांश यह सोचकर ही चलते थे कि अब कदाचित् ही लौटन होगा। वनरत्न, धर्मपाल भद्र, तारानाथ, कृष्णभद्र के नाम उल्लेखनीय हैं। उन्होने तिब्बत में वहाँ के छात्रों को शिक्षा देकर सुयोग्य बनाया। उन दिनों 'वह्म संयुग' सेर दा लगन- 'बक शिस'- लहुने पो, के विहारों ने विश्वविद्यालय स्तर की प्रगति कर ली थी।

तिब्बत के इतिहास तथा उस पर भारतीय संस्कृति के प्रभाव पर प्रकाश डालने वाले निम्नलिखित ग्रन्थ महत्त्वपूर्ण प्रमाण प्रस्तुत करते हैं— (१) हुकुजी यूई तथा सुजुकी द्वारा सम्पादित— "ए कम्पलीट कैटेलॉग ऑफ तिब्बत बुद्धिष्ट केनन्स" (२) सर चार्लस वैल कृत "दी रिलीजन ऑफ टिबेट (३) विधुशेखर भट्टाचार्य कृत— "संस्कृत एण्ड तिब्बेत टेक्स्ट्स (४) बिहार एण्ड उड़ीसा रिसर्च सोसाइटी द्वारा प्रकाशित— "सस्कृत टेक्स्ट्स फ्राम तिब्बत" (५) राहुल सांकृत्यायन द्वारा सम्पादित— "वार्तिकालंकार ऑफ प्रभाकर गुप्त (६) के. पी. जायसवाल कृत-तिब्बत में बौद्ध धर्म" (७) हीडेल वर्गकृत— "दि हिस्ट्री ऑफ बुद्धिज्म इन इण्डिया एण्ड टिबेट।"

तिब्बती साहित्यकारों मे 'बु स्तोन' का अनौखा स्थान है। उसने तिब्बत में बिखरे हुए साहित्य का संकलन किया। इस संकलन को उसने दो हिस्सों में बॉटा (१) "ब्कह हम्युर"—अर्थात् बुद्ध-वाणी, जिसके सौ खण्ड है। (२) "वैस्तन हम्युर"—अर्थात् बुद्ध सिद्धान्तो की विवेचनाये। इसके २२५ खण्ड हैं। चौदहवी शती के मध्य तक वह प्राय. इसी कार्य में आजीवन लगा रहा। यदि उसका यह महान् प्रयास नही हुआ होता तो शताब्दियो से चल रहा भारतीय तथा तिब्बती विद्वानो का अनुवाद कार्य ऐसे ही अस्त-व्यस्त रहकर नष्ट हो जाता। इस संकलन ने उस सबको सुव्यवस्थित बना दिया।

तिब्बत के एक शासक और भिक्षु "सा नमया-सो" मगोलिया नरेश के निमन्त्रण पर वहाँ धर्म प्रचार के लिये गये। उन्होंने बुद्ध-सिद्धान्तों का जन-मानस पर गहरा प्रभाव डाला। मगोल सम्राट अल्तन खज ने भी बौद्ध धर्म स्वीकार कर लिया। इस प्रकार उस देश मे भी धर्म विजय अभियान को अच्छी सफलता मिल गयी। भिक्षु 'सान-म्' को मंगोल नरेश ने 'ताले-लामा' की उपाधि दी। वे एकबार तिब्बत तो लौटे पर उन्हें फिर मंगोलिया जाना पड़ा, जहाँ १५८८ मे उनका देहान्त हो गया, कहते हैं कि अगले वर्ष वहीं उनका पुनर्जन्म हुआ और तेरह वर्ष उस देश में रहकर फिर ल्हासा चले आये। इस बालक का नाम था— "यान्-तेन्-म्या-सो।"

तब से लेकर पिछले दिनों तक एक 'तालेलामा' के मरने के बाद उसका पुनर्जन्म होने और उसे ढूँढ़कर गद्दी पर विठाये जाने का प्रचलन है। वही शासक होता आया है और वही धर्माचार्य। सन् १७४५ में तिब्बतियो ने विद्रोह करके चीनियों का साम्राज्यवादी शिकंजा जकड़ने की चाल छोड़ने को विवश कर दिया और तिब्बत एक स्वतंत्र राज्य के रूप में हो गया। तब से 'तालेलामा' द्वारा ही उस देश का शासन होता आया है।

तिब्बत का जीवन बहुत कठोर है। वहाँ के नागरिकों को निरन्तर प्रकृति से संघर्ष करना पड़ता है। अतएव सुख-सुविधा के साधन कम होते हुए भी वे बलिष्ठ और दीर्घजीवी होते हैं। गेहूँ, जौ, मांस, मक्खन पर उन्हें गुजर करनी पड़ती है। दाल शाक कभी-कभी मिल जाते हैं। पकवान और व्यंजनों का न वहाँ प्रचलन है और न उसके साधन ही उपलब्ध हैं। तिब्बती बौद्ध मांसाहारी हैं, वे भी लंका के बौद्धों की तरह 'तिल की ओट पहाड़' उक्ति के अनुसार अपनी अहिंसा का पालन करते हैं। अपनी जानकारी में या अपने लिये जानवर न काटा गया हो तो वे दूसरों के काटे जानवर का मांस खरीदकर खाना निर्दोष समझते हैं। हाँ, कसाई जाति वाले बहिष्कृत जरूर माने जाते है। उनकी अलग ही बिरादरी होती है। जानवर को दम घोंटकर या गर्दन मरोड़कर इस ढंग से मारा जाय कि उसके घाव न लगे, तो उस हिंसा को अहिंसा की मर्यादा में ही गिन लिया जाता है।

तिब्बत में कुछ समय पहले तक धार्मिक वातावरण था। साधारणतया पूरी जनता बौद्ध धर्मावलम्बी थी। जनसंख्या का दसवां हिस्सा लामाओं के रूप में रहता था। उपासना एवं धर्म परायण व्यक्ति वहाँ लामा बनते थे और उनकी नियत पोशाक पहनते थे। सामान्य नागरिक भी धर्म श्रद्धा से प्रेरित होकर भक्तों को दान देते थे। लामाओ में से सभी परजीवी नही होते थे। उनमें से बहुत-से शिल्प-उद्योगों में निरत रहकर अपनी स्वतंत्र आजीविका कमाते थे और कितने ही सरकारी कर्मचारियों के पद का कार्य सँभालने में अपने श्रम तथा समय उपयोग करते थे। शरीर और स्वभाव की दृष्टि से तिब्बती साहसी, सुदृढ़ और परिश्रमी होते हैं। साथ ही उनकी प्रकृति में बौद्ध-संस्कृति के अनुरूप दया, नम्रता, संयम और उदारता के भाव भी रहते हैं। हर घर में छोटा पूजा-स्थान जरूर होता था। तम्बुओं में गुजारा करने वाला खानाबदोश पशुपालक तक अपने छाया साधनो में बुद्ध प्रतिमा के सम्मुख दीपक जलाने और प्रार्थना करने के उपक्रम निबाहते है। मठो से लेकर सद्गृहस्थों के घरो में अखण्ड घृतदीप की स्थापना थी। तिब्बती लिपि अँग्रेजी की तरह छापने की अलग और लिखने की अलग है। छापने के काम मे आने वाली लिपि को 'उदेन' और लिखने में प्रयुक्त होने वाली को '३ मे' कहते हैं।

दलाई लामा तिब्बत का धर्माध्यक्ष और शासक दोनों होता था। ल्हासा राजधानी में दलाई लामा के निवास तथा शासन-संचालन के लिये विशाल दुर्ग जैसा भवन ऊँची पहाड़ी पर बना था, जिसे 'पोताला' कहा जाता था। धर्माध्यक्ष को प्रायः उसी में आजीवन रहना पड़ता था। उसका विस्तार इतना बड़ा है कि उसे एक छोटा कस्बा कहा जा सकता है। इसका आरम्भ ईसा से १३०० वर्ष पूर्व उस देश के राजा ने राजमहल के रूप में किया था। पाँचवे लामा ने इसका बहुत विस्तार किया। वर्तमान इमारत का केन्द्रिय कक्ष तेरह मंजिला है। इसमें ३५ मन्दिर, ४ ध्यान गुफायें, भूतपूर्व दलाई लामाओं की स्वर्ण मण्डित समाधियाँ, संसद-भवन, सरकारी दफ्तर, अधिकारियों के निवास स्थान, जेल, न्यायालय, महाविद्यालय, शस्त्रागार, अन्न भण्डार, पुस्तकालय, संग्रहालय आदि सब कुछ हैं। दलाई लामा सबसे ऊपर की मंजिल में रहते थे, जो शहर के मकानों से लगभग ४०० फीट ऊँचाई पर है। नवीन वर्ष के आरम्भ में एक उत्सव होता था, जिसमें जुलूस बनाकर दलाई लामा को "पोताला से नोर्बूलिखा मठ" तक ले जाया जाता था। उस दिन विविध प्रकार के सास्कृतिक समारोह होते थे। यह मठ भी प्रधान धर्माचार्य के लिये स्थान बदलने एवं मनोरंजन के लिये प्रयुक्त होता था।

एक स्वतंत्र राज्य के रूप में तिब्बत अपना अस्तित्व हजारों वर्षों से बनाये हुये था। उनका अपना शासन था और अपना 'बोन' अथवा 'पान' नामक धर्म। बहुत पुराना इतिहास तो उपलब्ध नही, पर ईसा से १२७ वर्ष पूर्व तिब्बती राजा 'न्यां ड्री चेपो' ने बिखरे कबीले को संगठित कर एक सुव्यवस्थित शासन दिया, इसका प्रमाणिक विवरण उपलब्ध है। इसके बाद के ४० राजाओं के शासन-काल का घटनाक्रम भी जानकारी की परिधि में आता है। अट्ठाईसवें राजा "ल्हा-चो-ने-ग्येन' ने अपने सम्बन्ध भारत से बनाये और यहाँ से लिपि, भाषा एवं बौद्ध धर्म का आयात किया। तब से वहाँ की सभ्यता में

क्रमशः बौद्ध-सभ्यता का और विविध विधि प्रगतियों का पथ प्रशस्त होता चला गया।

वर्तमान चौदहवे दलाई लामा के शासन में चीनी कम्युनिस्ट सरकार ने भारी सेना लेकर आक्रमण कर दिया। सन् १९५६ मे उन्होने थोड़े-थोड़े करके सैनिक अफसर भेजे। नई संधि की वार्ता चलाने के बहाने अपनी स्थिति मजबूत की और अन्ततः नग्न आक्रमण करके सारे देश पर कब्जा कर लिया। तिब्बत में सेना तो थी पर आन्तरिक शासन चलाने के लिये उसे पुलिस स्तर की ही कहा जा सकता था। आधुनिक शस्त्र-सज्जा से लैस चीनियो का वह मुकाबला नही कर सकती थी, अत. उसे आत्म-समर्पण के लिये विवश होना पड़ा। चौदहवे दलाई लामा अपनी जान बचाकर भारत भाग आये और यही सम्मानित अतिथि के रूप मे रह रहे है। उनके साथ अन्य अनेक लामाओ और प्रजाजनों को भी भगाकर भारत आना पडा। जो अब एक प्रकार से यही बस गये है। चीनी आक्रमण के विरुद्ध तिब्बत ने राष्ट्रसघ ब्रिटेन, भारत तथा अन्य देशो से मार्मिक अपील की, पर सभी ने बिना स्वार्थ लाभ वाले झंझट से दूर रहने की नीति के अनुसार मौखिक सहानुभूति ही प्रकट की, कोई सक्रिय सहयोग नही दिया। ऐसी दशा मे बौद्ध तिब्बत को चीनी नास्तिकवाद के निविड बन्धनों मे जकड जान के अतिरिक्त और कोई चारा नही रहा। कम्युनिस्टो के भयंकर आतक और उत्पीडन ने अगणित धार्मिक बौद्धों को मौत के घाट उतार दिया। उसने विद्रोह किया पर वह भी सफल न हो सका। अब तिब्बत एक प्रकार से चीनी मगरमच्छ के पेट में चला गया ही समझा जाना चाहिये।

तिब्बत तो निश्चित रूप से भारत का ही अंश रहा है। उसकी लिपि देव नागरी है। भाषा पर संस्कृत की अमिट छाप है। देवी देवता बिल्कुल वही है, जो भारत के हैं। साधना-उपासना में भारतीय योग विद्या का ही अनुकरण है। दिवाली आदि त्यौहार और विवाह आदि संस्कार प्रायः भारतीय रीति-नीति से ही मनाये जाते हैं। वहाँ बौद्ध धर्म का प्रचलन है, जो एक प्रकार से हिन्दू-धर्म का ही अंग है। तिब्बत की शासन व्यवस्था के इतिहास में कौशल राज प्रसेनजित के पुत्र का गौरवपूर्ण उल्लेख है।

नेपाल—संसार एक मात्र स्वतन्त्र हिन्दू राष्ट्र

स्कन्द पुराण के "हिमिवत् खण्ड" में पूरे ३० अध्याय नेपाल के पौराणिक इतिहास एवं माहात्म्य के सम्बन्ध में है। इन्हे "स्कन्द पुराणान्तर्गत नेपाल माहात्म्य" नाम से अलग पुस्तक के रूप मे भी छाप लिया गया है। इस क्षेत्र का थोड़ा-बहुत वर्णन, देव पुराण वृहन्नल तंत्र, वाराही-तंत्र आदि मे भी उपलब्ध होता है।

स्कन्दपुराण की आख्यायिका है कि श्री कृष्ण नेपाल के आराध्य भगवान पशुपतिनाथ का दर्शन करने आये। उनकी हरिहर (विष्णु और शिव का सम्मलित रूप) मानकर वन्दना की। उसी प्रकरण में यह भी कहा गया है कि हरि और हर-विष्णु और शिव में जो पृथकता मानेगे वे भेद बुद्धि उत्पन्न करने वाले माने जायेगे और नरकगामी होगे।

नेपाल को स्कन्दपुराण मे 'श्लेष्मान्तक वन' कहा गया है। श्लेष्मान्तक वन अथवा वह अरण्य प्रदेश, जिसमे निवास करने पर कफ विकारो का शमन होता हो। एक बार चन्द्रमा देवता क्षय रोग से पीड़ित हो गये तो उन्होने इस प्रदेश मे निवास करके उपयोगी जलवायु द्वारा खोये हुए आरोग्य को पुनः प्राप्त किया।

राजा जनक की राजधानी जनकपुर, जिसे मिथिला भी कहा जाता है। नेपाल राज्य के अन्तर्गत ही आती है। पुराणो में उपलब्ध वर्णन में तनिक भी संदेह नही रह जाता कि प्राचीन मिथिला नेपाल के जनकपुर को ही कहा जाता था। अब यह २५ हजार की आबादी वाला छोटा-सा कस्बा है। 'नेपाल' 'जय नगर जनकपुर रेलवे' भी यहाँ तक पहुँचती है। यहाँ कई भव्य मन्दिर और धर्मशालाये बनी है। टीकमगढ़ (म. प्र) की रानी वृषभानु कुँवरि ने यहाँ राम जानकी का एक भव्य मन्दिर बनवाया है, जिसकी लागत ९ लाख रुपये बतायी जाती है। इसे नौलखा भी कहते है। इसमें राम-सीता की सुवर्णमयी प्रतिमा प्रतिष्ठापित हैं।

हल जोतते समय जनक को सीता के मिलने का स्थान "पुनौराधाम" माना जाता है, इसे 'हलेष्ठि' भी कहते है। समीप में एक तालाब है, जिसे सीता जन्म

कुण्ड कहते हैं। वहीं पर कुसुमा नामक गाँव के समीप महर्षि याज्ञवल्क्य का आश्रम बतलाया जाता है। गौतम और कपिल के आश्रम भी इसी क्षेत्र में थे। दार्शनिक वाचस्पति मिश्र, जिन्होने अपनी सन्तानहीन पत्नी भामती के नाम पर एक टीका ग्रन्थ लिखा है, यही के थे।

जनकपुर में रामनवमी (चैत्र सुदी नवमी) को विशाल मेला लगता है, जिसमें लाखो दर्शनार्थी उपस्थिति होते हैं। वैसाख सुदी नौमी जानकी जी का जन्म-दिवस है। अगहन सुदी पंचमी राम-सीता का विवाह दिन है। इन सभी पर्वो पर यहाँ मेले लगते हैं। और अपार भीड़ एकत्रित होती है। इसमे नैपाली और भारतीय जनता समान उत्साह से भाग लेती है। साधु संन्यासियो और आगन्तुकों को भोजन कराने में कई सौ मन चावल और आटा दानियों द्वारा खर्च किया जाता है। छुटपुट मेले प्रायः सभी त्यौहारों पर यहाँ लगते रहते हैं। इसी क्षेत्र में मल्हेपुर गाँव के निकट महापण्डित मण्डन मिश्र जन्मे थे। इनकी पत्नी भारती (शारदा) ने आद्य शंकराचार्य के शास्त्रार्थ में छक्के छुड़ाये थे। मोरंग जिले मे कोकहा और सप्तकोशी नदियों के संगम पर एक विशाल वाराह मन्दिर है। कहा जाता है कि यही वाराह-भगवान का अवतार हुआ।

समस्त नेपाल में सहस्रों भव्य मन्दिर सजीव और निर्जीव स्थिति में बिखरे पड़े हैं। इनके नामो और स्थानों की संगति *'स्कंद पुराण' वर्णित विवरणों* के साथ पूरी तरह बन जाती है। देवताओ अवतारो और ऋषियों की लीला भूमि, यह क्षेत्र चिरकाल से बना रहा है और भारत की सीमा में ही इसे माना जाता रहा है, यह तथ्य भली प्रकार स्पष्ट हो जाता है। भारत के अन्य प्रान्त प्रदेशों से भिन्न इसकी गणना नही है। प्राचीन काल में नेपाल भारत भूमि का ही अविच्छिन्न अग था। अब राजनैतिक परिस्थितियों ने उसे अलग कर दिया यह बात दूसरी है।

नेपाल मे वागमती नदी गंगा के समान ही पूजित है। मृतक की भस्म और अस्थियाँ उसमे प्रवाहित की जाती है। पशुपति नाथ की तरह ही गह्येश्वरी को उस क्षेत्र की अधिष्ठात्री शक्ति माना जाता है। काठमाण्डू का "जय वागीश्वरी मन्दिर" प्राचीन एवं पुराण वर्णित है। वागमती के दक्षिण पार्श्व पर बना 'गोकर्णेश्वर मन्दिर' बौद्ध मन्दिरों की पैगाड़ा शैली पर चार मंजिला बना है। इसमें प्रायः सभी हिन्दू देवी-देवताओं की प्रतिमायें भी प्रतिष्ठापित की गयी हैं। स्कन्दपुराण के अनुसार यहाँ अगस्त्य मुनि ने एक विश्व-यज्ञ सम्पन्न किया था।

योरोपीय इतिहासकारो का यह व्यंग तथ्यो की कसौटी पर प्रायः खरा उतरता है कि नेपाल में जितने घर हैं उतने ही मन्दिर हैं और जितनी जनता है उतनी ही देव प्रतिमायें हैं। यह इस देश की धर्म श्रद्धा का ही प्रमाण है कि हर घर में एक छोटा देव मंदिर उसी प्रकार बना होता है, जिस प्रकार कि रसोईघर। सामूहिक और विशाल मन्दिरों की बात इस सार्वजनिक प्रचलन से अलग है।

भारत के नेपाल प्रदेश का नामकरण उसकी नैतिकता विशेषता एव धर्मनिष्ठा के आधार पर ही यह कहा गया है— "नीति तम्पालयति इति नेपाल" अर्थात् "जहाँ नीति का पालन होता है, वह है नेपाल"। नेपाल के राष्ट्रध्वज पर चन्द्र और सूर्य अंकित हैं। सूर्य को गर्मी और चन्द्रमा को शीतलता का प्रतीक माना जाता है। इन्हें क्रान्ति और शान्ति का, ब्राह्मण और क्षत्रिय का, शस्त्र और शास्त्र का संघर्ष और सृजन का प्रतीक भी कह सकते हैं। समन्वय की आवश्यकता और उपयोगिता का प्रतिपादन नेपाली राष्ट्रध्वज मे अंकित सूर्य-चन्द्र के चिन्हों से होता है। उसमे नेपाल की नीति का स्पष्टीकरण है।

नेपाल मे जन्मे अनेक महामानवो का कार्यक्षेत्र समस्त भारत रहा है। भगवान बुद्ध लुम्बिनी मे जन्मे । सीता जी का जन्म जनक पुर मे हुआ। महर्षि वाल्मीकि का जन्म नेपाल मे भैसालोटन में व्यास का जुमला में—विश्वास मित्र का पाँच पोखरी मे, याज्ञवल्क्य का कृष्णा कौशिकी मे भारद्वाज और भृगी ऋषि का गडकी मण्डल मे-मनु का बझग में कार्यक्षेत्र रहा है। उनके आश्रम और स्मृति अवशेष इन स्थानों पर मिले है। इसी प्रकार काम सूत्र के प्रणेता वात्सायन का स्थान गलकोट में, भृगुसहिता के रचयिता भृगुमुनि का निवास भृगुकोट मे और महर्षि कपिल का आश्रम कपिलातीर्थ मे बताया जाता है । सभव है वे जन्मे भी वहीं हो।

क्रमशः बौद्ध-सभ्यता का और विविध विधि प्रगतियों का पथ प्रशस्त होता चला गया।

वर्तमान चौदहवे दलाई लामा के शासन में चीनी कम्युनिस्ट सरकार ने भारी सेना लेकर आक्रमण कर दिया। सन् १९५६ मे उन्होने थोड़े-थोड़े करके सैनिक अफसर भेजे। नई संधि की वार्ता चलाने के बहाने अपनी स्थिति मजबूत की और अन्ततः नग्न आक्रमण करके सारे देश पर कब्जा कर लिया। तिब्बत में सेना तो थी पर आन्तरिक शासन चलाने के लिये उसे पुलिस स्तर की ही कहा जा सकता था। आधुनिक शस्त्र-सज्जा से लैस चीनियों का वह मुकाबला नही कर सकती थी, अतः उसे आत्म-समर्पण के लिये विवश होना पड़ा। चौदहवे दलाई लामा अपनी जान बचाकर भारत भाग आये और यही सम्मानित अतिथि के रूप मे रह रहे हैं। उनके साथ अन्य अनेक लामाओं और प्रजाजनो को भी भगाकर भारत आना पडा। जो अब एक प्रकार से यही बस गये है। चीनी आक्रमण के विरुद्ध तिब्बत ने राष्ट्रसंघ ब्रिटेन, भारत तथा अन्य देशों से मार्मिक अपील की, पर सभी ने बिना स्वार्थ लाभ वाले झंझट से दूर रहने की नीति के अनुसार मौखिक सहानुभूति ही प्रकट की, कोई सक्रिय सहयोग नही दिया। ऐसी दशा मे बौद्ध तिब्बत, को चीनी नास्तिकवाद के निविड बन्धनों मे जकड़ जान के अतिरिक्त और कोई चारा नही रहा। कम्युनिस्टों के भयंकर आतंक और उत्पीड़न ने अगणित धार्मिक बौद्धो को मौत के घाट उतार दिया। उसने विद्रोह किया पर वह भी सफल न हो सका। अब तिब्बत एक प्रकार से चीनी मगरमच्छ के पेट में चला गया ही समझा जाना चाहिये।

तिब्बत तो निश्चित रूप से भारत का ही अंश रहा है। उसकी लिपि देव नागरी है। भाषा पर संस्कृत की अमिट छाप है। देवी देवता बिल्कुल वही हैं, जो भारत के हैं। साधना-उपासना में भारतीय योग विद्या का ही अनुकरण है। दिवाली आदि त्यौहार और विवाह आदि संस्कार प्रायः भारतीय रीति-नीति से ही मनाये जाते हैं। वहाँ बौद्ध धर्म का प्रचलन है, जो एक प्रकार से हिन्दू-धर्म का ही अंग है। तिब्बत की शासन व्यवस्था के इतिहास में कौशल राज प्रसेनजित के पुत्र का गौरवपूर्ण उल्लेख है।

नेपाल—संसार एक मात्र स्वतन्त्र हिन्दू राष्ट्र

स्कन्द पुराण के "हिमिवत् खण्ड" में पूरे ३० अध्याय नेपाल के पौराणिक इतिहास एवं माहात्म्य के सम्बन्ध में है। इन्हें "स्कन्द पुराणान्तर्गत नेपाल माहात्म्य" नाम से अलग पुस्तक के रूप मे भी छाप लिया गया है। इस क्षेत्र का थोड़ा-बहुत वर्णन, देव पुराण वृहन्नल तंत्र, वाराही-तंत्र आदि में भी उपलब्ध होता है।

स्कन्दपुराण की आख्यायिका है कि श्री कृष्ण नेपाल के आराध्य भगवान पशुपतिनाथ का दर्शन करने आये। उनकी हरिहर (विष्णु और शिव का सम्मलित रूप) मानकर वन्दना की। उसी प्रकरण मे यह भी कहा गया है कि हरि और हर-विष्णु और शिव में जो पृथकता मानेगे वे भेद बुद्धि उत्पन्न करने वाले माने जायेगे और नरकगामी होगे।

नेपाल को स्कन्दपुराण मे 'श्लेष्मान्तक वन' कहा गया है। श्लेष्मान्तक वन अथवा वह अरण्य प्रदेश, जिसमें निवास करने पर कफ विकारो का शमन होता हो। एक बार चन्द्रमा देवता क्षय रोग से पीड़ित हो गये तो उन्होने इस प्रदेश में निवास करके उपयोगी जलवायु द्वारा खोये हुए आरोग्य को पुनः प्राप्त किया।

राजा जनक की राजधानी जनकपुर, जिसे मिथिला भी कहा जाता है। नेपाल राज्य के अन्तर्गत ही आती है। पुराणो मे उपलब्ध वर्णन में तनिक भी संदेह नही रह जाता कि प्राचीन मिथिला नेपाल के जनकपुर को ही कहा जाता था। अब यह २५ हजार की आबादी वाला छोटा-सा कस्बा है। 'नेपाल' 'जय नगर जनकपुर रेलवे' भी यहाँ तक पहुँचती है। यहाँ कई भव्य मन्दिर और धर्मशालायें बनी हैं। टीकमगढ़ (म प्र.) की रानी वृषभानु कुँवरि ने यहाँ राम जानकी का एक भव्य मन्दिर बनवाया है, जिसकी लागत ९ लाख रुपये बतायी जाती है। इसे नौलखा भी कहते हैं। इसमें राम-सीता की सुवर्णमयी प्रतिमा प्रतिष्ठापित हैं।

हल जोतते समय जनक को सीता के मिलने का स्थान "पुर्नौराधाम" माना जाता है, इसे 'हलेष्ठि' भी कहते है। समीप में एक तालाब है, जिसे सीता जन्म

कुण्ड कहते हैं। वही पर कुसुमा नामक गाँव के समीप महर्षि याज्ञवल्क्य का आश्रम बतलाया जाता है। गौतम और कपिल के आश्रम भी इसी क्षेत्र में थे। दार्शनिक वाचस्पति मिश्र, जिन्होंने अपनी सन्तानहीन पत्नी भामती के नाम पर एक टीका ग्रन्थ लिखा है, यहीं के थे।

जनकपुर में रामनवमी (चैत्र सुदी नवमी) को विशाल मेला लगता है, जिसमें लाखों दर्शनार्थी [illegible] होते हैं। वैसाख सुदी नौमी जानकी जी का [illegible] है। अगहन सुदी पंचमी राम-सीता का [illegible] है। इन सभी पर्वों पर यहाँ मेले लगते हैं। [illegible] एकत्रित होती है। इसमें नैपाली और [illegible] उत्साह से भाग लेती है। साधु [illegible] को भोजन कराने मे कई सौ [illegible] द्वारा खर्च किया जाता [illegible] त्यौहारों पर यहाँ लगते [illegible] मल्हेपुर गाँव के निकट [illegible] थे। इनकी पत्नी भारती [illegible] के शास्त्रार्थ में छक्के [illegible] कोकहा और सप्तकोशी [illegible] वाराह मन्दिर है। [illegible] भगवान का अवतार

[illegible] मन्दिर सजीव और [illegible]। इनके नामों और [illegible] वर्णित विवरणो के [illegible] अवतारों और [illegible] काल से बना रहा [illegible] माना जाता रहा है, [illegible] है। भारत के [illegible] गणना नही है। [illegible] का ही अविच्छिन्न [illegible] ने उसे अलग

[illegible] समान ही पूजित [illegible] प्रवाहित की [illegible] को उस [illegible]। काठमाण्डू [illegible]। वर्णित

है। वागमती के दक्षिण पार्श्व पर बना 'गोकर्णेश्वर मन्दिर' बौद्ध मन्दिरों की पैगाड़ा शैली पर चार मंजिला बना है। इसमें प्राय: सभी हिन्दू देवी-देवताओ की प्रतिमायें भी प्रतिष्ठापित की गयी हैं। स्कन्दपुराण के अनुसार यहाँ अगस्त्य मुनि ने एक विश्व-यज्ञ सम्पन्न किया था।

योरोपीय इतिहासकारों का यह व्यंग तथ्यों की कसौटी पर प्राय: खरा उतरता है कि नेपाल में जितने घर है उतने ही मन्दिर हैं और जितनी जनता है उतनी ही देव प्रतिमायें हैं। यह इस देश की धर्म श्रद्धा का ही प्रमाण है कि हर घर में एक छोटा देव मंदिर उसी प्रकार बना होता है, जिस प्रकार कि रसोईघर। सामूहिक और विशाल मन्दिरो की बात इस सार्वजनिक प्रचलन से अलग है।

भारत के नेपाल प्रदेश का नामकरण उसकी नैतिकता विशेषता एवं धर्मनिष्ठा के आधार पर ही यह कहा गया है— "नीति तम्पालयति इति नेपाल" अर्थात् "जहाँ नीति का पालन होता है, वह है नेपाल"। नेपाल के राष्ट्रध्वज पर चन्द्र और सूर्य अंकित हैं। सूर्य को गर्मी और चन्द्रमा को शीतलता का प्रतीक माना जाता है। इन्हें क्रान्ति और शान्ति का, ब्राह्मण और क्षत्रिय का, शस्त्र और शास्त्र का सघर्ष और सृजन का प्रतीक भी कह सकते है। समन्वय की आवश्यकता और उपयोगिता का प्रतिपादन नेपाली राष्ट्रध्वज में अंकित सूर्य-चन्द्र के चिन्हों से होता है। उसमे नेपाल की नीति का स्पष्टीकरण है।

नेपाल मे जन्मे अनेक महामानवो का कार्यक्षेत्र समस्त भारत रहा है। भगवान बुद्ध लुम्बिनी मे जन्मे। सीता जी का जन्म जनक पुर मे हुआ। महर्षि वाल्मीकि का जन्म नेपाल में भैसालोटन में व्यास का जुमला में—विश्वास मित्र का पाँच पोखरी में, याज्ञवल्क्य का कृष्णा कौशिकी में भारद्वाज और शृगी ऋषि का गडकी मण्डल मे-मनु का बझंग मे कार्यक्षेत्र रहा है। उनके आश्रम और स्मृति अवशेष इन स्थानों पर मिले है। इसी प्रकार काम सूत्र के प्रणेता वात्सायन का स्थान गलकोट मे, भृगुसहिता के रचयिता भृगुमुनि का निवास भृगुकोट मे और महर्षि कपिल का आश्रम कपिलातीर्थ मे बताया जाता है। सभव है वे जन्मे भी वही हो।

क्रमश: बौद्ध-सभ्यता का और विविध विधि प्रगतियो का पथ प्रशस्त होता चला गया।

वर्तमान चौदहवे दलाई लामा के शासन में चीनी कम्युनिस्ट सरकार ने भारी सेना लेकर आक्रमण कर दिया। सन् १९५६ मे उन्होने थोड़े-थोड़े करके सैनिक अफसर भेजे। नई संधि की वार्ता चलाने के बहाने अपनी स्थिति मजबूत की और अन्तत. नग्न आक्रमण करके सारे देश पर कब्जा कर लिया। तिब्बत में सेना तो थी पर आन्तरिक शासन चलाने के लिये उसे पुलिस स्तर की ही कहा जा सकता था। आधुनिक शस्त्र-सज्जा से लैस चीनियों का वह मुकाबला नही कर सकती थी, अत. उसे आत्म-समर्पण के लिये विवश होना पड़ा। चौदहवे दलाई लामा अपनी जान बचाकर भारत भाग आये और यही सम्मानित अतिथि के रूप में रह रहे है। उनके साथ अन्य अनेक लामाओ और प्रजाजनो को भी भगाकर भारत आना पडा। जो अब एक प्रकार से यही बस गये है। चीनी आक्रमण के विरुद्ध तिब्बत ने राष्ट्रसंघ ब्रिटेन, भारत तथा अन्य देशो से मार्मिक अपील की, पर सभी ने बिना स्वार्थ लाभ वाले झंझट से दूर रहने की नीति के अनुसार मौखिक सहानुभूति ही प्रकट की, कोई सक्रिय सहयोग नही दिया। ऐसी दशा मे बौद्ध तिब्बत, को चीनी नास्तिकवाद के निविड़ बन्धनो मे जकड जान के अतिरिक्त और कोई चारा नही रहा। कम्युनिस्टो के भयंकर आतक और उत्पीड़न ने अगणित धार्मिक बौद्धों को मौत के घाट उतार दिया। उसने विद्रोह किया पर वह भी सफल न हो सका। अब तिब्बत एक प्रकार से चीनी मगरमच्छ के पेट में चला गया ही समझा जाना चाहिये।

तिब्वत तो निश्चित रूप से भारत का ही अश रहा है। उसकी लिपि देव नागरी है। भाषा पर सस्कृत की अमिट छाप है। देवी देवता बिल्कुल वही है, जो भारत के हैं। साधना-उपासना में भारतीय योग विद्या का ही अनुकरण है। दिवाली आदि त्यौहार और विवाह आदि सस्कार प्राय: भारतीय रीति-नीति से ही मनाये जाते हैं। वहाँ बौद्ध धर्म का प्रचलन है, जो एक प्रकार से हिन्दू-धर्म का ही अंग है। तिब्वत की शासन व्यवस्था के इतिहास में कौशल राज प्रसेनजित के पुत्र का गौरवपूर्ण उल्लेख है।

नेपाल—संसार एक मात्र स्वतन्त्र हिन्दू राष्ट्र

स्कन्द पुराण के "हिमिवत् खण्ड" मे पूरे ३० अध्याय नेपाल के पौराणिक इतिहास एव माहात्म्य के सम्बन्ध में है। इन्हे "स्कन्द पुराणान्तर्गत नेपाल माहात्म्य" नाम से अलग पुस्तक के रूप मे भी छाप लिया गया है। इस क्षेत्र का थोड़ा-बहुत वर्णन, देव पुराण वृहन्नल तंत्र, वाराही-तत्र आदि मे भी उपलब्ध होता है।

स्कन्दपुराण की आख्यायिका है कि श्री कृष्ण नेपाल के आराध्य भगवान पशुपतिनाथ का दर्शन करने आये। उनकी हरिहर (विष्णु और शिव का सम्मलित रूप) मानकर वन्दना की। उसी प्रकरण में यह भी कहा गया है कि हरि और हर-विष्णु और शिव मे जो पृथकंता मानेगे वे भेद बुद्धि उत्पन्न करने वाले माने जायेगे और नरकगामी होगे।

नेपाल को स्कन्दपुराण में 'श्लेष्मान्तक वन' कहा गया है। श्लेष्मान्तक वन अथवा वह अरण्य प्रदेश, जिसमे निवास करने पर कफ विकारो का शमन होता हो। एक बार चन्द्रमा देवता क्षय रोग से पीडित हो गये तो उन्होने इस प्रदेश मे निवास करके उपयोगी जलवायु द्वारा खोये हुए आरोग्य को पुन: प्राप्त किया।

राजा जनक की राजधानी जनकपुर, जिसे मिथिला भी कहा जाता है। नेपाल राज्य के अन्तर्गत ही आती है। पुराणो मे उपलब्ध वर्णन मे तनिक भी संदेह नही रह जाता कि प्राचीन मिथिला नेपाल के जनकपुर को ही कहा जाता था। अब यह २५ हजार की आबादी वाला छोटा-सा कस्बा है। 'नेपाल' 'जय नगर जनकपुर रेलवे' भी यहाँ तक पहुँचती है। यहाँ कई भव्य मन्दिर और धर्मशालाये बनी हैं। टीकमगढ़ (म. प्र) की रानी वृषभानु कुँवरि ने यहाँ राम जानकी का एक भव्य मन्दिर बनवाया है, जिसकी लागत ९ लाख रुपये बतायी जाती है। इसे नौलखा भी कहते हैं। इसमें राम-सीता की सुवर्णमयी प्रतिमा प्रतिष्ठापित हैं।

हल जोतते समय जनक को सीता के मिलने का स्थान "पुनौराधाम" माना जाता है, इसे 'हलेष्ठि' भी कहते हैं। समीप मे एक तालाब है, जिसे सीता जन्म

कुण्ड कहते है। वही पर कुसुमा नामक गाँव के समीप महर्षि याज्ञवल्क्य का आश्रम बतलाया जाता है। गौतम और कपिल के आश्रम भी इसी क्षेत्र मे थे। दार्शनिक वाचस्पति मिश्र, जिन्होने अपनी सन्तानहीन पत्नी भामती के नाम पर एक टीका ग्रन्थ लिखा है, यही के थे।

जनकपुर मे रामनवमी (चैत्र सुदी नवमी) को विशाल मेला लगता है, जिसमे लाखों दर्शनार्थी उपस्थिति होते हैं। वैसाख सुदी नौमी जानकी जी का जन्म-दिवस है। अगहन सुदी पंचमी राम-सीता का विवाह दिन है। इन सभी पर्वों पर यहाँ मेले लगते हैं। और अपार भीड़ एकत्रित होती है। इसमें नैपाली और भारतीय जनता समान उत्साह से भाग लेती है। साधु संन्यासियो और आगन्तुकों को भोजन कराने मे कई सौ मन चावल और आटा दानियो द्वारा खर्च किया जाता है। छुटपुट मेले प्राय: सभी त्यौहारों पर यहाँ लगते रहते है। इसी क्षेत्र में मल्हेपुर गाँव के निकट महापण्डित मण्डन मिश्र जन्मे थे। इनकी पत्नी भारती (शारदा) ने आद्य शंकराचार्य के शास्त्रार्थ मे छक्के छुड़ाये थे। मोरंग जिले मे कोकहा और सप्तकोशी नदियो के संगम पर एक विशाल वाराह मन्दिर है। कहा जाता है कि यही वाराह-भगवान का अवतार हुआ।

समस्त नेपाल मे सहस्रो भव्य मन्दिर सजीव और निर्जीव स्थिति मे बिखरे पड़े हैं। इनके नामो और स्थानो की संगति 'स्कंद पुराण' वर्णित विवरणो के साथ पूरी तरह बन जाती है। देवताओं अवतारो और ऋषियों की लीला भूमि, यह क्षेत्र चिरकाल से बना रहा है और भारत की सीमा मे ही इसे माना जाता रहा है, यह तथ्य भली प्रकार स्पष्ट हो जाता है। भारत के अन्य प्रान्त प्रदेशों से भिन्न इसकी गणना नही है। प्राचीन काल में नेपाल भारत भूमि का ही अविच्छिन्न अग था। अब राजनैतिक परिस्थितियो ने उसे अलग कर दिया यह बात दूसरी है।

नेपाल मे बागमती नदी गंगा के समान ही पूजित है। मृतक की भस्म और अस्थियाँ उसमे प्रवाहित की जाती हैं। पशुपति नाथ की तरह ही गह्येश्वरी को उस क्षेत्र की अधिष्ठात्री शक्ति माना जाता है। काठमाण्डू का "जय वार्गीश्वरी मन्दिर" प्राचीन एवं पुराण वर्णित है। बागमती के दक्षिण पार्श्व पर बना 'गोकर्णेश्वर मन्दिर' बौद्ध मन्दिरों की पैगाड़ा शैली पर चार मंजिला बना है। इसमें प्राय: सभी हिन्दू देवी-देवताओं की प्रतिमायें भी प्रतिष्ठापित की गयी है। स्कन्दपुराण के अनुसार यहाँ अगस्त्य मुनि ने एक विश्व-यज्ञ सम्पन्न किया था।

योरोपीय इतिहासकारो का यह व्यंग तथ्यो की कसौटी पर प्राय: खरा उतरता है कि नेपाल में जितने घर है उतने ही मन्दिर हैं और जितनी जनता है उतनी ही देव प्रतिमायें हैं। यह इस देश की धर्म श्रद्धा का ही प्रमाण है कि हर घर मे एक छोटा देव मंदिर उसी प्रकार बना होता है, जिस प्रकार कि रसोईघर। सामूहिक और विशाल मन्दिरो की बात इस सार्वजनिक प्रचलन से अलग है।

भारत के नेपाल प्रदेश का नामकरण उसकी नैतिकता विशेषता एवं धर्मनिष्ठा के आधार पर ही यह कहा गया है— "नीति तम्पालयति इति नेपाल" अर्थात् "जहाँ नीति का पालन होता है, वह है नेपाल"। नेपाल के राष्ट्रध्वज पर चन्द्र और सूर्य अंकित है। सूर्य को गर्मी और चन्द्रमा को शीतलता का प्रतीक माना जाता है। इन्हें क्रान्ति और शान्ति का, ब्राह्मण और क्षत्रिय का, शस्त्र और शास्त्र का संघर्ष और सृजन का प्रतीक भी कह सकते है। समन्वय की आवश्यकता और उपयोगिता का प्रतिपादन नेपाली राष्ट्रध्वज में अंकित सूर्य-चन्द्र के चिन्हों से होता है। उसमें नेपाल की नीति का स्पष्टीकरण है।

नेपाल में जन्मे अनेक महामानवो का कार्यक्षेत्र समस्त भारत रहा है। भगवान बुद्ध लुम्बिनी में जन्मे। सीता जी का जन्म जनक पुर मे हुआ। महर्षि वाल्मीकि का जन्म नेपाल मे भैसालोटन मे व्यास का जुमला मे—विश्वास मित्र का पाँच पोखरी में, याज्ञवल्क्य का कृष्णा कौशिकी मे भारद्वाज और शृगी ऋषि का गंडकी मण्डल में-मनु का बझग मे कार्यक्षेत्र रहा है। उनके आश्रम और स्मृति अवशेष इन स्थानों पर मिले है। इसी प्रकार काम सूत्र के प्रणेता वातसायन का स्थान गलकोट में, भृगुसहिता के रचयिता भृगुमुनि का निवास भृगुकोट मे और महर्षि कपिल का आश्रम कपिलातीर्थ में बताया जाता है । सभव है वे जन्मे भी वही हो।

साधना और कार्यक्षेत्र उनका उस प्रदेश में होने की बात के पक्ष मे तो वजनदार प्रमाण उपलब्ध है।

हिमालय की सबसे ऊँची चोटी नेपाल मे है। संसार मे सबसे ऊँचा पर्वत शिखर 'एवरेस्ट' जिसे नेपाली भाषा में 'सगर माया' कहते है, यही है। इसके अतिरिक्त कंचन जंघा (२८१४९ फीट), लोत्से (२७८९० फीट), धौलागिरि (२६७९५ फीट), अन्नपूर्णा (२६४९३ फीट), गोसाई थान (२६२९१ फीट), गौरीशंकर (२३४३५ फीट), हिमाचल (२५८०२ फीट), इसी प्रदेश में हैं। इससे थोड़ी कम ऊँचाई की चोटियो से तो नेपाल का हिमालय क्षेत्र भरा पड़ा है।

"अग्रवाल जाति का प्राचीन इतिहास" ग्रन्थ के लेखक श्रीसत्यकेतु विद्यालंकार के मतानुसार उस जाति के राजा अग्रसेन के एक पूर्वज नेमिनाथ ने इस देश को बसाया और उसका नामकरण उन्होने अपने नाम पर किया था।

बुद्ध का जन्म ईसा के ५४४ वर्ष पूर्व लुम्बिनी नामक स्थान में हुआ। यह स्थान कपिलवस्तु नामक नेपाली नगर से १५ मील दूर है। अशोक ने उस पवित्र जन्म-स्थान मे स्मृति स्तूप बनाया। अशोक की पुत्री चारुमती का एक नेपाली सामन्त से विवाह हुआ था। इस घटना क्रम को देखते हुए वहाँ भगवान बुद्ध के उपदेशो और क्रियाकलापो का प्रभाव पड़ना स्वाभाविक था। वहाँ जनता मे बुद्ध धर्म फैला और कितने ही स्तूप और मठ बने, जिनमे से कितने अभी विद्यमान हैं और कितने ही खण्डहर बने हुए है

यो भारतीय बौद्ध आरम्भ से ही नेपाल मे उस धर्म के प्रसार मे निरत थे, पर चौथी शताब्दी मे आचार्य वसुबन्धु के नेतृत्व में नये उत्साह के साथ नये प्रयास हुए। सातवी शताब्दी मे वहाँ के राजा अंशुवर्मन ने अतीव दूरदर्शिता और निष्ठा का परिचय देते हुए-बौद्ध धर्म की जड़े गहरी और दूर-दूर तक जमाने के लिये ठोस प्रयास किये। उसने अपनी विदुषी और निष्ठावान पुत्री भ्रकुटि का विवाह तत्कालीन तिब्बत नरेश के साथ इसलिये किया कि उस देश और नरेश को बौद्ध बना लिया जाय। यह दाव सोलहो आने सही सिद्ध हुआ और इस विवाह ने उस देश को सचमुच ही बौद्ध बनाने का द्वार खोल दिया। नेपाली पण्डित शीलमजु तिब्बत गये। नेपाल के मठो में बैठकर तिब्बत के लिये बौद्ध ग्रन्थ लिखे गये और वहाँ पहुँचा गये। शान्ति रक्षित जैसे उद्भट विद्वानो को तिब्बत पहुँचाने में नेपाल का पूरा सहयोग और उत्साह मिलता रहा। उन दिनों भारत मे मुसलमानों के निर्मम आक्रमण हो रहे थे और धार्मिक लोग जान बचाकर भाग रहे थे, उन्हें नेपाल में आश्रय मिला।

नेपाल में बौद्ध धर्म भी हिन्दू धर्म का अंग बन कर ही फैला। उसकी कोई प्रतिद्वन्द्विता नहीं थी वरन् उसे वेद धर्म का एक सुधारवादी सम्प्रदाय ही माना जाता था। अस्तु, बिना किसी अड़चन के उसे नेपाल में जनता तथा शासकों का सहयोग प्राप्त होता रहा। वहाँ भी मठ, विहार बनते रहे और भिक्षुओ द्वारा धर्म-प्रचार होता रहा।

सम्राट अशोक की पुत्री चारुमती का विवाह नेपाल राजवंश के एक सुयोग्य सदस्य देवपाल के साथ इस आशा से कर दिया गया कि उस देश में बौद्ध धर्म प्रसार में सहायता मिलेगी। हुआ भी ऐसा ही। उस दम्पती ने देवपाटन नामक विहार बनवाया। विधवा होने पर चारुमती भिक्षुणी बन गयी और उसने-धर्म-चक्र-प्रवर्तन मे अपना शेष सारा जीवन और समस्त धन समर्पित कर दिया।

बुद्ध-जीवन से सम्बन्धित परम पवित्र चार स्थान माने जाते हैं— (१) लुम्बिनी (नेपाल) तथागत का जन्मस्थान (२) सम्बोधि स्थल-बोधि गया (३) धर्म-चक्र प्रवर्तन-सारनाथ (४) अवसान-कुशीनगर। इनमे से प्रथम पवित्र स्थान लुम्बिनी नेपाल मे ही है। उसका दर्शन एवं नमन करने के लिये संसार भर के बौद्ध आते रहते हैं। सम्राट अशोक स्वयं उस परम पुनीत स्थान दर्शन का करने गये थे। वहाँ उन्होने एक विशालकाय मन्दिर बनवाया, जिसका ध्वंशावशेष आज भी वहाँ मौजूद है। उस पर अंकित शिलालेख का भावार्थ यह है—यहाँ सम्राट अशोक पधारे। उन्होने बुद्ध-जन्म की इस पवित्र भूमि का पूजन किया और स्तूप बनवाया। इस राज्य पर से समस्त राजकीय कर उठा लिये गये।

अब लुम्बिनी में नेपाल सरकार ने एक भव्य बौद्ध-मन्दिर बनवाया है, जिसका उद्घाटन करने वर्मा के तत्कालीन प्रधानमंत्री 'यू नू' वहाँ पहुँचे थे। इसमे

एक भव्य प्रतिमा भगवान बुद्ध की बालकपन की भी प्रतिष्ठापित की गयी है, जो वर्मा मे बनी है और जिसे संसार भर के बौद्ध वालक-बालिकाओं द्वारा संग्रहीत धन से बनाया गया है। इस देवालय मे भगवान बुद्ध की जो विशालकाय मूर्ति है, वह भी वर्मा की ही बनी है।

पं० मुरलीधर भट्टारि कृत "नेपाल और उसकी संस्कृति" पुस्तक के अनुसार आद्य शंकराचार्य उस देश में संव्याप्त बौद्ध धर्म को निरस्त करने गये थे। इसकी पुष्टि "श्री मज्जगद्गुरु शंकर मठ विमर्श" ग्रन्थ से होती है। पशुपतिनाथ मन्दिर के निकट "शंकराचार्य मठ" वहाँ अभी भी वर्तमान है।

बागमती नदी के बाँये तट पर "महाबौद्ध नाथ" का उत्तुंग स्तूप है । इस पर चढ़ने के लिये सीढ़ियाँ भी हैं। उसके शीर्ष पर दो विशाल नेत्र बने हैं, मानो ईश्वर अपने नेत्रो से आगन्तुकों के पाप-पुण्य को परख रहा हो। आँखो के बीच नाक का चिन्ह भी बना है। स्तूप का विशाल प्रांगण है, जो चार द्वारों वाली चहारदीवारी से घिरा है। स्तूप के १३ ,चौकोर वर्ग हैं, जो क्रमशः एक के बाद दूसरे से छोटे होते चले गये हैं। यह बौद्ध धर्म की मान्यता के अनुसार १३ स्वर्गो या १३ नर्कों के प्रतीक हैं। उनका शीर्ष भाग पीतल और ताँबे से बना और सोने से मढ़ा हुआ है, जो स्वर्ण-शिखर जैसा चमकता है। यहाँ भारतीय, नेपाली, तिब्बती और वर्मी बौद्ध भक्ति-भावना सहित दर्शन करने के लिये हर साल बड़ी सख्या में आते हैं। हिन्दू-गृहस्थों की श्रद्धा भी इस धर्म स्थान के लिये कम नही है।

ससार भर में सबसे बड़ा बौद्ध चेत्य नेपाल का "बोधनाथ" है। यह काठमाण्डू में पशुपति नाथ मन्दिर से एक मील उत्तर की ओर है। तिब्बत, सिक्किम, भूटान, चीन, वर्मा, स्याम आदि से हजारों यात्री यहाँ दर्शन के लिये आते है। मन्दिरों का अध्यक्ष तिब्बत के दलाई लामा का प्रतिनिधि होता है, उस चिकाई लामा कहते हैं। ललितपुर का महाविहार लगभग ८०० वर्ष पुराना है। श्रावणमास मे बौद्ध-महिलाये उपवास करती हैं और इस मन्दिर मे दर्शन करने के लिये आती हैं। महा बौद्ध मन्दिर पण्डित अभयराज ने बनवाया है। उसमें २३०० ईंटें ऐसी लगी हैं, जिन पर बुद्ध के जीवन की घटनायें अंकित है।

काठमाण्डू से एक मील आगे पश्चिम में एक हरी-भरी पहाड़ी पर बौद्धों का प्रख्यात तीर्थ "स्वयंभूनाथ" है। स्तूप का व्यास ३० फीट और ऊँचाई ३० फीट है। उस पर नासिका सहित दोनों नेत्र महाबौद्धनाथ जैसे ही है। उसकी ऊपरी रचना मन्दिराकार है। भगवान बुद्ध की प्रतिमा देखते ही बनती है। उसके विशाल प्रागण में गणेश, कार्तिकेय, शिव, विष्णु, सूर्य और सरस्वती तथा अन्य देवताओं की अनेक प्रतिमायें हैं। मंदिर के चारों ओर ढोल जैसी घिरनियाँ लगी हैं और उन पर "मणि पद्मे हुम" मंत्र खुदा है। तिब्बती बौद्ध इसी का जप करते हैं। इस क्षेत्र में विहार और चैत्य भी दर्शकों के लिये समुचित आकर्षण के केन्द्र हैं।

पाटन के दरबार प्रांगण में खड़े होकर ऊपर नजर उठाते ही गगनचुम्बी देवालयो और बौद्ध पैगाडाओ की विशाल पंक्ति खड़ी दीख पड़ती हैं। सभी बहुत कलापूर्ण हैं। इन्हें देखने पर उन दिनों की स्थिति सामने आ खड़ी होती हैं, जब इस देश में धार्मिक उत्साह उमड़ा था और लोग बड़े अरमानो के साथ ऐसे धर्म-स्थानो की संस्थापना भारी श्रम व्यय और मनोयोग के साथ करते थे।

इतिहासकार के. पी. जायसवाल के अनुसार नेपाल में ही उस विशिष्ट वास्तु-कला का आविष्कार किया गया, जो पीछे चीन, वर्मा, हिन्द, चीन आदि देशो मे गयी और बौद्ध शैली कहलाई। पेगोडा स्तर के जो देव मन्दिर मध्य एशिया और दक्षिण पूर्वी-एशिया में बिखरे पड़े हैं, उस स्थापत्य कला का मूल स्रोत अब नेपाल में स्वीकार किया जा रहा है।

नेपाल की एक अति महत्त्वपूर्ण विशेषता उसकी धर्म-समन्वय नीति है। हिन्दुओ के वैष्णव, शैव, शाक्त मत वहाँ परस्पर सहयोग और सहिष्णुतापूर्वक पनपे और फले-फूले है। जहाँ अन्यत्र धार्मिक मान्यताओ की भिन्नता को लेकर मनोमालिन्य या असहयोग का वातावरण बना, वहाँ नेपाल में समन्वय की नीति अपनाकर विचार भिन्नता को विभिन्न आकार-प्रकार के फूलों से सजे गुलदस्ते की तरह सुशोभित किया है।

उस देश मे एक ही देवालय में विभिन्न मतावलम्बियों की देव प्रतिमाये प्रतिष्ठापित हैं और अपने-विराने का भेदभाव किये बिना धर्म श्रद्धा वाले लोग उन्हें समान आदर के साथ पूजते हैं। बौद्ध धर्म और हिन्दू धर्म का भी ऐसा ही समन्वय यहाँ हुआ है। कितने ही देवालय ऐसे है, जिन्हे बौद्ध या हिन्दू किसी भी मत का या दोनो ही मतो का कहा जा सकता है।

काठमाण्डू से ७ मील उत्तर मे शिवपुरी पहाड़ी के निकट एकं चौकोर तालाब में जलशायी बूढ़ा नीलकण्ठ की खुली हुई विशालकाय प्रतिमा है। वह वस्तुतः विष्णु की है पर कुछ लोग उसे नीलकण्ठ महादेव की बतला देते है। इससे स्पष्ट है कि उस देश मे शैव, शाक्त, वैष्णव और बौद्ध अपने-अपने समय मे अपने-अपने विकास को प्राप्त होते रहे हैं। किसी का किसी के साथ संघर्ष नही हुआ वरन् समन्वयवादी दृष्टिकोण ने विभिन्न मतालम्बियो को आगे बढ़ने का अवसर प्रदान किया था। इतना ही नही वहाँ देवी-देवताओ की ऐसी प्रतिमाये और कलाकृतियाँ मिलती है, जिनको हिन्दू अथवा बौद्ध दोनों ही सिद्ध किया जा सकता है।

स्वयभूनाथ का मन्दिर ५०० फीट ऊँची पहाडी पर बना है। उस तक पहुँचने को ४०० सीढ़ियाँ चढ़नी पड़ती हैं। मन्दिर की ऊँचाई १०० फीट है। यह पेगोडा की शैली पर बना है और मीलो की दूरी से दिखाई देता है। इसे बौद्ध और शैव दोनो ही समान रूप से अपना उपासना केन्द्र मानते है। उसे लगभग दो हजार वर्ष पुराना माना जाता है।

नपत पोला का प्राचीन मन्दिर समस्त नेपाल घाटी मे सबसे ऊँचा मन्दिर है और पैगोडा शैली पर पाँच मंजिल का बना है। चागु-नारायण का मन्दिर १६०० वर्ष पुराना है, जिसे राजा हरिदत्त वर्मा ने बनवाया था। उसमे विष्णु और बुद्ध दोनों की प्रतिमाये प्रतिष्ठापित है। भक्तपुर नगर का निर्माण चक्राकार हुआ है। हिन्दू उसे विष्णु के सुदर्शन चक्र का प्रतीक मानते है और बौद्ध धर्म-चक्र प्रवर्तन का।

डा० रघुनाथ सिंह ने अपनी पुस्तक "जाग्रत नेपाल" में पशुपतिनाथ प्रतिमा के चार मुख और सिर पर राजमुकुट की ऐसी विचित्रता बतलायी है जैसी शिव प्रतिमाओं के इतिहास मे अन्यत्र कही भी देखने में नहीं आती। शिवजी के पाँच मुख माने जाते हैं, चार मुख तो ब्रह्मा के होते हैं। इस पहेली का रहस्योद्घाटन करते हुए उन्होंने इस प्रतिमा मे शिव विष्णु के साथ-साथ बौद्ध धर्म का भी समन्वय बताया है। चूँकि भगवान बुद्ध राजकुमार थे इसलिये उनके सिर पर मुकुट होना कुछ आश्चर्य की बात नही। चार मुखो को उन्होंने बुद्ध के जीवन की चार महान् घटनाओं की प्रतीक माना है— (१) जन्म (२) तप (३) धर्म-चक्र-प्रवर्तन (४) अवसान। इस प्रकार की संगति यदि चार मुखों राजमुकुट की बिठायी जाय तो उसे युक्ति-संगत ही कहा जायेगा। जिन दिनो यह प्रतिमा बनी है उन दिनों नेपाल में अपने पूर्ववर्ती शैव और वैष्णव धर्मो की तरह बौद्ध धर्म की जड़ भी गहरी जम चुकी थी। समन्वयवादी नेपाली धर्माचार्यों को त्रिदेव समन्वय की बात सूझी और उसमे बुद्ध को भी सम्मिलित कर लिया तो कोई आश्चर्य की बात नही है।

पाटन नगर के हिरण्यकशु मन्दिर के साथ भगवान बुद्ध का तिमंजिला मन्दिर है। बोध गया वाले मन्दिर की नकल पर बना, महाबुद्ध का यह विशाल मन्दिर देखते ही बनता है. उसकी दीवारो पर तथागत की प्रमुख घटनाये बडी सुन्दरता के साथ खोदी गयी है। यहाँ सन् १४०८ का बना महा प्रसिद्ध मछीन्द्रनाथ का मन्दिर है, जिसे उनके शिष्य गोरखनाथ ने बनवाया था। उसे हिन्दू और बौद्ध दोनो ही समान रूप से पूजते हैं और उसके इतिहास पर अपना-अपना रंग चढाते हैं।

नेपाल के अनेक मन्दिरो मे हरिजन ही पुजारी है। कही-कही ब्राह्मण और हरिजन दोनो ही समान रूप से पूजा सम्पन्न करते है। भद्रकाली सिद्ध पीठ के पुजारियो मे एक चाण्डाल भी अनिवार्य रूप से सम्मिलित रहत है। देश भर के मन्दिरो के बिना किसी भेदभाव के छूत-अछूत समान रूप से दर्शन करते है। केवल पशुपतिनाथ के मन्दिर मे इतना प्रतिबन्ध है कि वे नान्दी तक ही जाये और वहाँ ज्योतिर्लिग के दर्शन कर ले। शिव के बारह ज्योतिर्लिगो मे से एक नेपाल का पशुपतिनाथ भी है। इसकी एक विचित्रता यह है कि प्रात.काल प्रतिमा पर ठण्डा जल डाला जाय तो उसके शीर्ष भाग से भाप निकलने लगेगी। इस

सम्बन्ध में वहाँ कितनी ही अलौकिक किंवदंतियाँ प्रचलित है। मन्दिर के कोष भण्डार मे एक मुखी रुद्राक्ष, सर्पमणि, गजमुक्ता, दक्षिणवर्ती शख जैसी दुर्लभ वस्तुयें सग्रहीत है। भावुक भक्त इन्हे सिद्धदायिनी और मंगलकारिणी मानते है। इस शिवलिंग का उत्तर मुख अर्धनारी और अर्धनर का सम्मिश्रण है। इसे शाक्त धर्म और शैव धर्म का समन्वय भी कह सकते है। नर और नारी दोनो ही ईश्वर के समान विभाजन हैं, यह प्रतिपादन भी उभय-लिंगी मुखाकृति से परिलक्षित होता है।

समस्त संसार मे एक मात्र स्वतत्र हिन्दू राष्ट्र नेपाल की लम्बाई ५०० मील और चौड़ाई ८० से १२० मील तक है। क्षेत्रफल ५४००० वर्ग मील है। आबादी एक करोड़ के लगभग समस्त नेपाल में मिलाकर कुल ६० मील लम्बा रेल मार्ग है। मोटर मार्ग से ही एक क्षेत्र से दूसरे क्षेत्र मे जाना होता है। फिर भी यहाँ सड़के अच्छी नही है। काठमाण्डू से वीरगंज केवल १२८ मील है, पर इतनी दूरी मोटरें दस घण्टे में पार करती हैं। किराया भी १८ रुपया लगता है। जबकि यही यात्रा हवाई जहाज से २० मिनट में पूरी हो जाती है और किराया भी ३० रुपये देना पड़ता हैं। इसलिये हवाई यात्रा वहाँ अधिक प्रचलित है। छोटे-छोटे हवाई जहाज उड़ते रहते हैं। काठमाण्डू, पोखर, भैरहरा, नैपालगज जनकपुर, राजविराज, डॉग, सिमरा, विराट नगर बड़े हवाई अड्डे है। छोटी पट्टियाँ तो कई जगह हैं। काठमाण्डू से तिराडा तक एक रज्जु मार्ग भी है।

सन् १३३४ मे मुहम्मद तुगलक ने नेपाल पर हमला किया। उसके बहनोई मलिक खुसरू के नेतृत्व मे एक बड़ी घुडसवार सेना चीन के रास्ते भेजी गयी और उस देश को बुरी तरह ध्वस्त कर दिया। १३४९ मे एक आक्रमण बगाल के शमसुदीन ने भी किया। इन आक्रमणकारियो ने लूट खसोट, तोड़-फोड़ और विनाश तो बहुत किया, पर वे अधिक समय तक वहाँ पैर न जमा सके। तब वहाँ वैश्य जाति के ठकुरिया वश का शासन चलता था। वह लड़खड़ा रहा था। उधर भारत मे भी मुसलमान आक्रमण का पूरा जोर था। इस स्थिति मे अयोध्या के सूर्यवंशी राजा हरिसिंह देव नेपाल पहुँचे और उन्होने वहाँ के शासन की बागडोर सँभाल ली। इसके बाद वहाँ क्षत्रिय वंश की शासन परम्परा चल पड़ी।

नेपाल के ८५ प्रतिशत लोगो की आजीविका कृषि है। वहाँ गो-वध का निषेध है। वहाँ की भाषा 'गोरखाली' है जो देव नागरी लिपि मे लिखी जाती है और हिन्दी की ही एक शाखा मानी जाती है। इस देश के अधिकांश निवासी अपने को 'गोरखा' कहते हैं। गोरखा 'गोरक्षक' का अपभ्रंश है। गुरु गोरखनाथ के अनुयायी होने के कारण भी उन्हे गोरखा कहा जाता है। कुमारी रहने वाली एक जीवित कन्या को देवता मानकर पूजने की नेपाल मे एक विचित्र पद्धति है। इस लड़की का पूजन स्वय नेपाल नरेश भी करते है।

भूटान प्रान्त—जो अब भारत का संरक्षित प्रदेश भर है

भूटान को पुराणो मे महर्षि कश्यप की एक पत्नी भूति की सन्तानो द्वारा बसाया गया 'भद्र देश' कहा गया है। भूटानी लोग उसे उन 'वज्र-दानवो ' का देश मानते हैं। जो "कण-पर्वत" तथा "चोमो ल्हारी" चोटियो पर विचरण करते थे। नेपाली वश के लोग यहाँ बहुत हैं। उनका मूल भूटानियों के साथ सम्मिश्रण भी हुआ है। यातायात की दुर्गमता के कारण यह क्षेत्र भी तिब्बत की तरह एक प्रकार का निषिद्ध क्षेत्र ही रहा है। प्राचीन काल में यह क्षेत्र भारत की परिधि मे तो आता था, पर पीछे यातायात की कठिनाई के कारण आवागमन घट गया तो यह अलग-थलग पड़ गया।

सन् १८९७ में भूटान मे एक भारी भूकम्प आया था। उन दिनो राजधानी पुनाखा थी। भूकम्प मे अग्निकाण्ड हुआ और उसमे बहुमूल्य पुस्तकालय जल कर नष्ट हो गया, जिसमे उस देश के इतिहास पर प्रकाश डालने वाले महत्त्वपूर्ण कागजात सुरक्षित थे। उपलब्ध अधूरे विवरणो से यह पता चलता है कि सातवी सदी मे वहाँ सगलदीप राजा का शासन था। आठवी सदी का विवरण यह है कि नालन्दा विश्व विद्यालय के आचार्य पद्म सभव भूटान पहुँचे थे और उन्होने उस देश को बौद्ध धर्म से दीक्षित किया था। राजा नवुदारा को भी उन्होने बौद्ध बनाया। उसके बाद

वहाँ कितने ही विहार और मन्दिर बनते चले गये। तिब्बत से भी बौद्ध-प्रचारक वहाँ आते रहे। इसी बीच तिब्बती डाकुओं की लूटपाट की घटनायें भी बढ़ने लगी, जिनसे निपटने मे भूटान नरेश शाब्दुग को कूच विहार और नेपाल के राजाओं की सहायता से सफलता प्राप्त हुई।

भूटान के प्राचीन राजभवन एक प्रकार के किले है, जो ऊँची प्राचीरो से घिरे हैं। उन्हीं के भीतर बौद्ध पुरोहित, सरकारी अधिकारियों और आवश्यक कर्मचारियो के निवास गृह बने हुए है। "पारो जोड़" "पुनाखा जोड़" "तासी ढो तोड़" आदि ऐसे ही राजमहलो के नाम हैं । ऐसे पाँच दुर्ग समयानुसार बदलती रहने वाली राजधानियों के प्रतीक हैं। अब वे शासकीय कार्यालय हैं। इनमे एक से दूसरे मे जाने के राजमार्ग भी बने है।

भूटान के निवासी प्रधानतया बौद्ध धर्मावलम्वी हैं, पर दक्षिण भूटान मे सनातनी हिन्दू धर्म फैला है। "ओम् मणि पद्मे हम्" मन्त्र का प्रचलन है। तिब्बतियो की तरह हाथ से चर्खी घुमाकर माला जपने का प्रयोजन पूरा किया जाता है। प्रार्थना चक्र के ढोल भी मन्दिरो मे स्थापित हैं। उन्हे घुमाने से जप की अपेक्षा हजारो गुना अधिक पुण्य माना जाता है। यो शासन राजा के हाथ मे रहता है, धर्मगुरु लामा लोग भी कम प्रभावशाली नही है। इन लामाओं से टकराने मे प्रधानमन्त्री जिग्मी होरजी को अपनी जान ही गँवानी पडी थी। यहाँ भिक्षु विहार और भिक्षुणी विहार अलग-अलग होते है। भिक्षुणियाँ अपना सौन्दर्य छिपाने के लिये घास को मेहदी की तरह पीसकर चेहरे पर लेप किये रहती है। भूत-प्रेत की मान्यता, तंत्र-मत्र और पशुबलि के विधान का वहाँ पूरा जोर है। बुद्ध धर्म के अहिंसा सिद्धान्त को वहाँ के लोग देव प्रयोजन पर होने वाली पशु बलि पर लागू नही करते । भयंकर मुखौटे पहनकर नाचना वहाँ की परम्परागत लोक-नृत्य शैली है।

भूटान की जनसंख्या का सही लेखा-जोखा तो नही है, पर अनुमान से वह साढ़े आठ लाख है। १८ हजार वर्गमील भूमि मे वह फैला हुआ है। कही जन विहीन वन्य प्रदेश बहुत लम्बे फैले हुए है, कही घनी आबादी है, कहीं वर्षा की अधिकता है, कही ठण्ड कही गर्मी अधिक रहती है। ऐसी ही अनेक विचित्रताओं से भरा हुआ यह देश है। पूर्वी भूटान में कम ही लोग रहते हैं। हिसक पशुओं से सुरक्षा के लिये लोग घरों के आस-पास ऊँची बाढ़ें खड़ी करते हैं। भूटानियों के अतिरिक्त वहाँ सिक्किम, नेपाल तथा तिब्बत से आकर भी बहुत लोग बस गये हैं और वे वही के निवासी हो गये हैं। फिर भी आकृति-प्रकृति के आधार पर उन्हें आसानी से वर्गीकृत किया जा सकता है। पोशाक वहाँ तिब्बतियो जैसी पहनी जाती है।

"ल्योई ढो जुंग" नामक ग्रन्थ ही भूटान का एक मात्र प्रकाशित इतिहास है, जो ३०१ पृष्ठ का है। दस वर्ष तक राज्य परिवार के और धर्म पुरोहितों को छोड़कर सामान्य नागरिक वहाँ पढ़े-लिखे बिल्कुल न थे। अब वहाँ स्कूल खुल रहे हैं। रेडियो स्टेशन भी नही हैं। भारत का कुर्सियाग केन्द्र सप्ताह में तीन दिन एक-एक घण्टे का भूटानी भाषा मे कार्यक्रम प्रस्तुत करता है। एक सरकारी प्रेस है और उसी का एक पाक्षिक पत्र निकलता है। तिब्बत की तरह यहाँ भी बहुपति तथा बहुपत्नी प्रथा है। गरीब परिवारों में सब मिलकर एक पत्नी से काम चलाते है। इसके विपरीत अमीर लोग कई स्त्रियाँ रखते है। इसका कारण उतना सामाजिक या धार्मिक नही जितना कि आर्थिक है।

भूटान में केवल अठन्नी का एक सिक्का चलता है, जो कि मिट धातु का है। नोट या अन्य सिक्को का प्रचलन नही है। उस देश में राजतंत्र चलता है। एक परिवार के एक वोट के आधार पर शासन-समिति के कुछ सदस्य चुने भी जाते है, शेष राजा द्वारा नामजद होते है।

भूटान की राजधानी थिम्पू है। वहाँ भारत से हेलीकोप्टर की यात्रा ही सरल पडती है। सिक्किम तथा चुम्बी घाटी के रास्ते जाने का अच्छा मार्ग है। बंगाल दुआरे से भी जाया जा सकता है। यह मार्ग पैदल या घोडे का है। मार्गों मे कीचड़ या दल-दल बहुत है। यात्रियो के पैरों मे जोके चिपट जाती है और बहुत कष्ट देती है। अब वहाँ कई अच्छी सड़के बनी है और भारत के साथ यातायात सरल हो गया है। पडौसी देशो का आर्थिक प्रभाव भूटान पर पड़ता रहा

है, इससे वहाँ शाक्त, शैव, तथा बौद्ध धर्मानुयायी सभी हैं। कूच विहार मार्ग से हिन्दू प्रचारक तथा व्यवसायी पिछले समय वहाँ जाते रहे हैं।

भूटान की पुरानी राजधानी "पुनाखा" रही है। यहाँ का किला राजभवन भी है और बौद्ध विहार भी। यहाँ से कलिंगपोंग को एक अच्छा रास्ता "फाटी जोड" होकर जाता है। नेपाल का वर्चस्व पिछले दिनों अधिक रहा है, इसलिये उस क्षेत्र में नेपाली भाषा अच्छी तरह बोली और समझी जाती है।

अंग्रेजी सरकार के दो पादरी सन् १७२७ में टोह लेने भूटान गये और तिब्बत तक पहुँचे। आवश्यक विवरण प्राप्त हो जाने पर ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने सर्वे कराया। इसके बाद १७७३ में एक अंग्रेजी सैन्यदल उस देश पर चढ़ दौड़ा, जिसका परिणाम एक संधि के रूप में सामने आया। अंग्रेजी व्यापार भूटान के साथ अच्छी तरह चलने लगा। इसके बाद फिर दोनों पक्षों में विग्रह बढ़ा। उसका परिणाम सन् १८८६ में फिर एक संधि हुई, जिसमें ब्रिटिश भारतीय सरकार ने भूटान को ५० हजार रुपया प्रति वर्ष उपहार देना स्वीकार किया और भूटान ने अंग्रेजो की सुविधा की अन्य शर्तें मानी।

भारत सन् १९४७ में स्वतन्त्र हुआ, १८ अगस्त १९४९ को भारत और भूटान के बीच अंग्रेजी सन्धि के स्थान पर नई संधि हुई। भारत ने भूटान को पाँच लाख रुपया वार्षिक सहायता देना स्वीकार किया, साथ ही उसके अंग्रेजो द्वारा कब्जे मे भू-भाग को लौटा दिया। भारत का उस देश के अन्दरूनी मामलो मे दखल नही है, पर वैदेशिक मामलो में उसे भारत से सलाह करके ही चलना होगा। इस प्रकार वह एक सरक्षित राज ही रहेगा।

अंग्रेजी शासन-काल मे भी भूटान और भारत के अच्छे सम्बन्ध थे। अब सन् १९५६ से वे और भी मधुर एव दृढ़ होते चले जा रहे हैं। सन् १९५८ में पं० नेहरू स्वयं वहाँ गये और सन् १९५९ में भारत-भूटान सड़क बननी आरम्भ हुई। इस कार्य में भारत की १२ करोड़ की सहायता ही प्रमुख रही। १७४ किलोमीटर का यह मार्ग उत्तरी बंगाल की सीमा से लेकर वर्तमान राजधानी थिम्पू तक जाने का प्रशस्त राजमार्ग है। इसका उद्घाटन करने सन् १९६८ मे इन्दिरा गांधी गयी थी। अब और भी कई बड़ी-बड़ी सड़के बनायी जा रही हैं। जीपें और बसे इन पर दौड़ने लगी हैं। हाँसीमारा से पारो और थिम्पू तक हेलीकोप्टर एवं वायुयान भी चलने लगा है। अब आठ दिन मे पूरा होने वाला कठिन मार्ग इन साधनो से कुछ ही घण्टो मे पूरा हो जाता है।

सिक्किम अभी भी भारत से जुड़ा है

सिक्किम को बौद्ध धर्म मे दीक्षित करने का श्रेय नालन्दा विश्व विद्यालय के आचार्य "पद्म संभव का हैं। उन्होने नेपाल, भूटान, सिक्किम और तिब्बत के सारे क्षेत्र को अपनी प्रखर प्रतिभा से प्रभावित करके बौद्ध धर्मानुयायी बनाया था। पीछे भारत के अन्य धर्मानुयायी पहुँचते रहे। इसके उपरान्त तिब्बत के मठो से लामा वहाँ पहुँचे और सिक्किम मे बौद्ध धर्म की स्थिति को सुदृढ़ बनाते रहे हैं। उनका वर्चस्व क्रमश. बढ़ता गया और स्थिति यहाँ तक बदली कि शासन सत्ता भी उन्हीं के इशारों पर संभाली और बदली जाने लगी। इन शक्तिशाली लामाओं मे "ल्हात्सुन देम्बो"-"नदक पा" "करतेक पा" के नाम अग्रणी रहे हैं। इन्हों के प्रयत्न से "टशोडिंग" - "प्रेमयांग चे" और "सॉगा छोलिंग" के विशाल मठो का निर्माण हुआ है। सिक्किम मे इस समय ६७ विहार हैं, इनमें सात-आठ अधिक समुन्नत स्थिति मे है।

बड़े विहारों मे भगवान बुद्ध की प्रतिमा स्थापित रहती है और उसके सामने १०८ अखण्ड दीप जलते रहते हैं। "नामग्याल् इन्स्टीट्यूट ऑफ टिबेटोलॉजी" नामक एक संस्था, देउराली नामक नगर मे कुछ ही समय पूर्व बनी है। उसमे २२००० पाण्डुलिपियाँ सुरक्षित है तथा १२००० अन्य ग्रन्थ है। उस क्षेत्र मे फैले हुए बुद्ध सम्प्रदाय का अध्ययन करने की दृष्टि से यह एक महत्त्वपूर्ण स्थान है। ७० रेशमी चित्रपट तथा २०० प्राचीन प्रतिमाये भी यहाँ संग्रहीत है। सिक्किम के वर्तमान शासक चोग्याल भारत की "महा बोधि सभा" के बहुत समय तक अध्यक्ष भी रहे है।

सिक्किम मे बहुसंख्यक नेपाली मूल के लोग है, जो हिन्दू धर्मानुयायी है। वहाँ बौद्ध और हिन्दू धर्म मे

अन्तर नहीं किया जाता। हिन्दुओं के मन्दिर भी बहुत हैं और उनमे बुद्ध लोग भी श्रद्धापूर्वक पूजा अर्चना करते है।

सिक्किम का भूतकालीन इतिहास सुनिश्चित नही है। फिर भी यही मान्यता अधिक ग्राह्य है कि भारत के हिमाचल प्रदेश के राजा इन्द्रबोधि ने वहाँ जाकर शासन स्थापित किया था और उनकी सन्ताने क्रमशः राज्याधिकारी होती चली आयी। मध्यकाल मे समीपवर्ती देशो के साथ कलह-सघर्ष भी चलते रहे। फलस्वरूप सिक्किम को अपनी बहुत-सी भूमि खोनी पड़ी। सन् १८१४ मे अंग्रेजों ने भी इस देश पर अधिकार जमाया। पीछे एक संधि के अन्तर्गत परस्पर समझौता हो गया। १० मार्च १८९० की सन्धि के अनुसार सिक्किम ब्रिटिश भारत सरकार का संरक्षित देश बन गया। भारत के स्वतंत्र होने के बाद सिक्किम और भारत की नयी संशोधित संधि सन् १९५० में हुई, जिसमे सिक्किम का दर्जा संरक्षित प्रदेश का रहेगा। भारत सरकार ने विकास कार्यों के लिये एक बड़ी धनराशि भी दी। अब शासन में कितने ही सुधार हो रहे है। शिक्षा स्वास्थ्य, यातायात पर समुचित ध्यान दिया जाता है।

सिक्किम की राजधानी गंगटोक है। यही उस प्रदेश का एक मात्र शहर है। रेले वहाँ नहीं हैं, पर सड़के है, जिन पर " सिक्किम नेशनल ट्रासपोर्ट" की बसे चलती हैं। जलवायु स्वास्थ्य प्रद है। व्यापार पर मारवाड़ी लोगो का आधिपत्य है। गंगटोक का "छुक्लाखांग गुम्बा" नामक स्थान देव मन्दिर, राजमहल, सग्रहालय, ऐसेम्बली भवन सभी कुछ है। मदिर मे अखण्ड धृत् दीप प्रज्ज्वलित रहता है। हवन की धूप भी बिना बुझे जलती रहती है। हिरनो के लिये एक अभय वन सुरक्षित है। एक तिहाई आबादी गंगटोक के घेरे मे और दो-तिहाई देहातों मे बसी है। पिछले बीस वर्षों मे यहाँ तरह-तरह की आश्चर्यजनक उन्नति हुई है।

सिक्किम में तीन जातियाँ रहती हैं। लेपचा अर्थात् मूल निवासी, नेपाली और भोटिया, जो तिब्बत नस्ल के हैं। लेपचा लोगों की आबादी पाँच प्रतिशत रह गयी है। इस देश में बौद्ध धर्म विशेष रूप से प्रचलित है। हिन्दुओ की संख्या उनसे कम है। नेपाली जाति के लोग वहाँ ७५ प्रतिशत हैं। इस समय सिक्किम की आबादी २३२१८७ है। राजधानी गंगटोक की आबादी १० वर्ष पहले १२ हजार थी, पर अब वह बढ़कर ८० हजार हो गयी है। यहाँ पुरुषो की अपेक्षा स्त्रियाँ कम हैं।

सिक्किम बहुत छोटा देश है। उसकी लम्बाई ७० मील और चौड़ाई ४० मील है, क्षेत्रफल २८१८ वर्ग मील है। नेपाल और सिक्किम की सीमा सिगलीला पर्वत श्रेणी पर बनती है। चारों ओर से पर्वत-प्राचीरो से घिरे इस देश का बाहरी सम्बन्ध चार बड़े दर्रो मे होकर होता है। निरन्तर तीव्र गति से बहने वाली दो नदियाँ हैं— तिस्ता और रंगीत। लोक कथा है कि तिस्ता प्रेमिका है और रंगीत प्रेमी ये जीवन में एक न हो सके तो नदी-नद बनकर चिरंतन प्रेमालाप करते हैं। दोनों का जहाँ संगम होता है, वहाँ हर साल मकर-संक्रान्ति का मेला होता है और उसमे सम्मिलित होने वाले इस नदी-नद जैसे प्रेमालाप की कामना करते है।

बहुत वर्षा, कुहरा, बिजली की कड़क इस देश की ऐसी विशेषतायें है, जिससे भूमि सहज ही बहुत उपजाऊ बनती है। सघन वनस्पतियो की बहुलता के कारण इसे हिमालय का उद्यान कहते है। यहाँ इतने अधिक प्रकार की लता, गुल्म पुष्प एवं जड़ी-बूटियाँ पायी जाती हैं कि उन्हे खोजने और बीज-पौध ले जाने के लिये देश-देशान्तरो के वनस्पतिशास्त्री यहाँ आते रहते हैं। अब तक ४००० से अधिक प्रकार के बहुमूल्य गुल्म, पादप यहाँ खोजे गये है। वन्य क्षेत्रो में कितनी ही नस्ल के जानवर रहते है। भूरा भालू, जंगली बिलाव, धारीदार चीता, काष्ठ मार्जार, छोटा बाघ, कस्तूरी हिरन, जंगली भेड़ और बकरी इस क्षेत्र की पशु सम्पदा है। कुछ पशु पक्षी ऐसे है जो इसी क्षेत्र मे पाये जाते है। गुलाबी पैर का कौआ तिब्बत और सिक्किम मे ही होता है। पक्षियों, तितलियों कीड़ों की इतनी अधिक किस्मे यहाँ हैं, जितनी संसार मे अन्यत्र मिलनी दुर्लभ है। ताँबे की खाने यहाँ बहुत दिन से खोदी जा रही है। अब लोहे की खाने भी खोद निकाली गयी है।

भूटान की तरह सिक्किम का राजधर्म भी बौद्ध है। धर्मग्रन्थ प्राचीन तिब्बती भाषा में है। नेपाली लोगो ने एक युवा पुस्तकालय स्थापित किया है। नेपाली भाषा में एक त्रैमासिक पत्रिका 'नव ज्योति' प्रकाशित होती है। गंगटोक से भारत का सूचना विभाग नेपाली भाषा मे 'प्रगति' नामक त्रैमासिक तथा "हिमालय सदेश" नामक पाक्षिक निकालती है। सिक्किम सरकार नेपाली मे कंचन जंघा पत्रिका छापती है। अब वहाँ की सरकार अंग्रेजी मे भी एक छोटा-सा चार पेज का पत्र 'सिक्किम हेरल्ड' भी छापने लगी है।

सिक्किम मे उस देश के अन्य क्षेत्रो की तरह बहु-पति और बहु-पत्नी प्रथा प्रचलित है। परित्यक्ताओ, विधवाओ और कुमारियों की सन्ताने वहाँ अवैध नही मानी जाती। पुनर्विवाह करने पर वह नये पति की और न करने पर पुराने पति की सन्ताने कही जाती हैं। इसलिये वहाँ अवैध संतानें प्रायः नहीं के बराबर हैं, जो उनके लिये कोई सामाजिक असम्मान नही है।

वर्मा भी हमसे अलग हो गया

पुरातत्ववेत्ताओं ने एक स्मारक मे एक घडा खोद निकाला है, जिसमें दाह-कर्म के उपरान्त बची हुई भस्म रखी हुई है। इस पर राजा विक्रम का नाम लिखा है। इससे वर्मा में तत्कालीन भारतवंशी राजा का होना विदित होता है, जो वहाँ शासन करते थे। चीनी इतिहासकारो के अनुसार सन् ८४९ मे १९ ग्रामो के प्रमुख 'पिनका' सरदार का उल्लेख है, जो बौद्ध धर्मानुयायी था। भारत के दक्षिणात्य लोगो ने वहाँ पहुँचकर नाग-पूजा भी प्रचलित कराई थी। बर्मा व क्रमबद्ध इतिहास ग्यारहवी सदी से आरम्भ होता है, जिसमे कहा गया है कि अनाव्रत वहाँ का शासक था, उसे वैशाली की राज-कन्या पचकल्याणी विवाही थी।

वर्मा के कितने ही नगर भारतीय सस्कृति का उस क्षेत्र में होना सिद्ध करते हैं। पेगु का विष्णुनगर अब तक "विष्णुम्यो" है। उसी प्रकार कुछ समय तक रामपुरा नाम से पुकारा जाने वाला नगर अब मौलमीन हो गया है। रामाबती का पुराना कस्बा अब नया नाम वदलकर दर्वीची बन गया है।

बर्मी इतिहासकार बताते है कि ११वी शताब्दी में "शीन अर्हा" नामक ब्राह्मण भारत से उत्तर वर्मा में आया और उसने बौद्ध धर्म फैलाया। तब पागान में सैकड़ो बुद्ध विहार बने। इन्हें बनाने वाले कुशल कारीगर भारत से आये थे। इस क्षेत्र मे एक विशाल विष्णु मन्दिर अभी भी जीर्ण-शीर्ण अवस्था में पड़ा है। भीतरी दीवारों पर विष्णु के दशों अवतारों की प्रतिमायें अंकित है। पागान पर सन् १०८४ से ११११२ तक 'क्यांजीटा' राजा का शासन रहा, वह अपने को राम का वंशज बताता था। याजदी पैगोडा में लगे हुए एक *शिलालेख से वर्तमान पागान का पुराना* नाम—"अरिदमनपुर" और वहाँ के राजा का यज्ञकुमार विदित होता है। यह उल्लेख पाली, तैलंग, प्यू और वर्मी भाषा में है। ग्यारहवी सदी मे वैशाली की राजकन्या पंचकल्याणी के पुत्र का शासनारूढ़ होना एक ऐतिहासिक तथ्य है।

वर्मा के सास्कृतिक विकास-क्रम की अधिक जानकारी प्राप्त करने के लिये निम्नलिखित पुस्तके पढ़नी चाहिये । (१) चार्लस डुरोई सेल्ले कृत- "ए लिस्ट ऑफ इन्सक्रिप्शन्स फाउण्ड इन वर्मा" (२) येमाग कृत-"इन्सक्रिप्शन्स इन वर्मा" (३) निहार रजन रे कृत- "ब्राह्मणी कला गाड्स इन व्रर्मा" (४) "संस्कृत बुद्धिज्म इन वर्मा" (५) "एपीग्राफिया वर्मानिका" (६) "एपीग्राफिका इण्डिको"। वर्मा में सबसे पुराने *शिलालेख पाँचवी सदी* के प्राप्त हुए हैं, जो कदम्ब भाषा मे है। इसके बाद आठवी सदी के शिलालेख पल्लव भाषा के है। यह दोनों ही दक्षिण भारत की भाषाये थी। इतिहास के अन्य सूत्रो से भी यही सिद्ध होता है कि ईसा की पहली शताब्दी मे उडीसा तथा तेलंगाना के लोगो ने व्यावसायिक प्रयोजनो से वर्मा जाना आरम्भ किया था और समुद्र के दक्षिणी तटवर्ती प्रदेश मे बस गये थे। पेगू क्षेत्र उन्ही से भरा पडा था। मौलमीन के निकटवर्ती क्षेत्र मे अभी भी चार लाख 'तेलंग' नस्ल के लोग रहते है। इतिहास वेत्ता जी. ई हर्व ने लिखा है कि वर्मा मे जितनी भी लोककथाये प्रचलित है, वे प्रायः सभी भारत से गयी है। थारोन, प्रोम, पेगू, रंगून आदि क्षेत्रो मे भारतीयो की बस्तियाँ थी भारत से बौद्ध धर्म वहाँ पहुँचा। इस

उत्साह मे प्राचीन हिन्दू मन्दिरो का परिवर्तन बौद्ध मन्दिरो मे कर दिया गया। रंगून का 'श्वेडगो' पैगोडा विख्यात है, पर वहाँ के बौद्ध राजाओ ने कई पीढ़ियों तक उसका निर्माण जारी रखा था। आरम्भ में वह २७ फीट ऊँचा था। पर सन् १३६२ से बढ़ते-बढ़ते सन् १७७४ तक ३२६ फीट ऊँचा हो गया था। इसकी गोलाई १४२० फीट है, चारो ओर छोटे-छोटे ६४ पैगोडा और भी बने है। विशाल मन्दिर में बड़े-बड़े घण्टे टंगे है। इनमे से एक १४० टन और दूसरा १६ टन का है।

रंगून नगर के मध्य मे सुले पैगोडा है। मॉंडले के पास मिंगुन पैगोडा मे १२ फीट ऊँचा १० फीट चौड़ा, १०० टन वजन का कॉंसे का घण्टा है। संसार का यह सबसे बडा घण्टा माना जाता है। 'कबाआमे' का 'विश्वशान्ति' पैगोडा ११८ फीट ऊँचा और इतना ही चौड़ा है।

इसके समीप एक बौद्ध विश्व विद्यालय है। बर्मा मे गणनीय बौद्ध मन्दिरो मे श्वेजीगो थानवन्यु, गोदो पालिन, महाबोधि, श्वेतनदी आदि पेगोडा अपने-अपने ढंग के अनोखे है। आक्रमणकारी विधर्मियो ने जितने बौद्ध मन्दिर तोड़े और प्रतिमाये नष्ट की उन सबका लेखा-जोखा प्रस्तुत किया जाय तो यह देश भी भारत की तरह धार्मिक ध्वशावशेषों की कथा कहते सुना जायेगा।

बर्मा का 'श्वेडांगन' पैगोडा (स्वर्ण मन्दिर) अब से दो हजार वर्ष पूर्व एक ऊँची पहाडी पर बना बौद्ध मन्दिर है। इसमे भगवान बुद्ध के कुछ अवशेष सुरक्षित है। मन्दिर का शिखर ३२५ फीट ऊँचा है। शिखर तथा अन्य स्थानो मे करोड़ो रुपये का सोना लगा है। धूप मे इसकी स्वर्ण आभा बहुत ही नयनाभिराम लगती है। इसके खम्भो के नीचे चॉंदी की मोटी सिल्लियॉं आधारशिला के रूप मे रखी गयी है। मन्दिर का आंगन इतना बडा है, जिसमे हजारो व्यक्ति बैठ सकते है। पूजा के लिये नर-नारियो की भीड सदा ही यहॉं लगी रहती है। इसमे अब भी बड़ी सख्या मे बौद्ध भिक्षु रहते है। इस मन्दिर की शोभा का वर्णन करते हुए यात्रा लेखक 'नार्मन लेविस' ने लिखा है कि जब वे प्रतिमा के सम्मुख पहुँचे तो भाव-विभोर हो गये और देर तक अविरल अश्रुधारा बहती रही। उस देवालय में लगी स्वर्ण सम्पदा को देखकर उन्होंने पूरे बर्मा देश का नाम ही 'स्वर्ण देश' लिखा है।

सम्राट अशोक के समय में श्रीसोन और उत्तर नामक दो भिक्षु भगवान बुद्ध के बाल लेकर उस देश में गये थे और तब यह विशालकाय 'श्वेडागन' का मन्दिर बना था। बौद्धों द्वारा प्रचारित 'स्थिविरवाद' दर्शन अभी भी 'थीरावाडा' के अपभ्रंश रूप में उन्हीं मान्यताओं के साथ बर्मा देश में लोकप्रिय है।

बर्मा में हिन्दू देवी-देवताओं और रीत-रिवाजों का अनुकरण होता है। बर्मा, थाईलैण्ड, कम्बोडिया इन तीनों ही देशों में होली मनाई जाती है और उसे जलोत्सव कहा जाता है। भारतीय गणेशोत्सव की तरह गणेश पूजा वहॉं भी उत्साहपूर्ण समारोह से की जाती है— उसका नाम है "महा पैइने"। दक्षिण बर्मा के थोरोन क्षेत्र में बौद्ध धर्म का अभी भी विस्तार है और उस पर ब्राह्मण धर्म की छाप है। सन् १७६७ मे बर्मा के शासक 'हसीब बुर्सान' ने स्याम देश को जीता तो वहाँ से रामलीला के कुशल कलाकार अपने साथ लाया। तब स्याम के दरबारी भी रामलीला खेलते थे। राजघराने के कई प्रतिष्ठित सदस्य भी उस समय अभिनय मे भाग लेते थे। इन लोगो ने बर्मा आकर वहाँ बड़े उत्साह से रामलीला का प्रचार किया। इस प्रकार हारा हुआ स्याम अपनी कला का आधिपत्य बर्मा पर जमाने मे सफल हो गया।

कवीश्वर 'उतो' की लिखी 'रामयज्ञ' नामक रामायण बर्मा मे बहुत लोकप्रिय है। याग्या नाटको के अधिकाश विवरण इसी ग्रन्थ के आधार पर बने है। जो प्रायः दो सप्ताह लगातार चलता है और रात भर दिखाया जाता है। दर्शको की भारी भीड उसे देखने जमा हो जाती है।

बर्मा की आबादी ढाई करोड़ है। उसे तिब्बत, भारत, चीन, थाईलैण्ड की सीमाये छूती है। बगाल की खाडी मे उसका समुद्र तट १२०० मील लम्बा है। भारत मे यह क्षेत्र 'ब्रह्मदेश' कहा जाता था और भारत का अविछिन्न अंग माना जाता था। यहाँ के निवासी 'बर्मन' अथवा 'बर्मा' कहे जाते थे। भारत मे भी इस उपाधि को धारण करने वाले बहुत लोग है। बर्मा के

भारतीयों की वंश परम्परा इन लोगों के साथ मिल जाती है।

वर्मी भाषा में पाली और संस्कृत शब्दों की भरमार है। व्याकरण भी इसी आधार पर बना है। पूरे वर्मा मे अधिकांश बौद्ध धर्मानुयायी रहते हैं। त्रिपिटक साहित्य पाली एवं वर्मी भाषा मे है। ८३ ऐसे बौद्ध विहार है, जिनमे धार्मिक शिक्षा और डिग्री दी जाती है। शान्ति पैगोडा तो उच्चतम धार्मिक शिक्षा का विश्व विद्यालय ही है। प्रायः प्रत्येक गॉव मे छोटा-वड़ा बुद्ध मन्दिर अवश्य होता है। जहॉं प्रत्येक बालक को धर्म दीक्षा का संस्कार कराना पड़ता है। यहाँ समय-समय पर धर्मानुष्ठान एवं समारोह होते रहते हैं, जिनमे जनता उत्साहपूर्वक भाग लेती है। पर्व त्यौहार भी वहॉं भारत की तरह बहुत होते है।

वर्मा मे महिलाओं का दर्जा पुरुषों से ऊँचा है। बहुत से वशो में महिलाये बाहर का काम करती है और पुरुष बच्चो का पालन तथा घर का काम सॅभालते हैं। आमतौर से घर की सम्पत्ति पर पत्नी का अधिकार होता है। उसके मरने पर बेटे नही बेटो की बहुये मालकिन होती है पर अब यह पुराना प्रचलन घट रहा है और सम्पत्ति का स्वामित्व पुरुषो के हाथ जा रहा है।

वर्मा मे जाति प्रथा नही है। वहॉं विवाह सरल है। एक ही गॉंव मे शादी होती रहती है। उसमे लडके-लडकी की पसंदगी को प्राथमिकता मिलती है। उच्च कक्षाओं में पढ़ने वाले लड़के-लड़की भी खुशी-खुशी शादी कर लेते है। सम्बन्धियो को जलपान, पण्डित द्वारा प्रतिज्ञा संस्कार, इतने मे ही विवाह सस्कार पूरा होता हो जाता है। तलाक को भी सरलता है पर आमतौर से उस अधिकार का प्रयोग कभी ही कोई अत्यन्त विवशता की स्थिति मे करता हैं। कमर से नीचे लुंगी और धड़ पर अंगरखा यही वर्मा के नर-नारियो की एक जैसी पोशाक है। सिर पर पुरुष रूमाल बॉंधते है और स्त्रियॉं लम्बी चोटी रखती है, पैरो मे दोनो चप्पले पहनते है।

वर्मा मे सरकारी प्रमाण-पत्र प्राप्त ही चिकित्सा कर सकते है। अनगढ़ चिकित्सक इलाज करता पकडा जाय तो उसे आजीवन कारावास तक का दण्ड मिल सकता है। शिक्षा प्राप्त चिकित्सको को पहले दो वर्ष अनिवार्य रूप से देहाती चिकित्सालयो मे जाना पड़ता है। वहॉं देशी चिकित्सा पद्धति है, जिसमे जड़ी-बूटियो की खोज एवं उपयोग पर बहुत जोर दिया जाता है। मध्य वर्मा में कोढ़ का प्रकोप अधिक है। चिकित्सा की तरह अनाथ संरक्षण भी सरकार द्वारा होता है। निजी अनाथालय वहॉं नही खोलने दिये जाते। वृद्ध अपंगो के भरण-पोषण का उत्तरदायित्व सरकार पर होता है।

वर्मा के विकास मे पिछले दिनो भारतीयो ने अथक परिश्रम किया है। भारतीय धन, श्रम तथा कौशल ने उस देश की समृद्धि बढ़ाने मे महत्त्वपूर्ण योगदान दिया है, पर अब वे वहॉं दयनीय स्थिति मे है। अधिकांश भारतीय वर्मा छोड़ चुके हैं। जो अभी रहते हैं, वे भी छोड़ने की तैयारी कर रहे है। परिस्थितियों ने उन्हे इसके लिये विवश कर दिया है। अनुमानतः अब भी वर्मा मे एक लाख भारतीय मूल के लोग रहते है। सन् १९५१ की जनगणना मे भारतीय मूल के लोगों की सख्या १० लाख थी और चीनियो की एक लाख। अब चीनी बढ़कर १० लाख हो गये हैं और भारतीय एक लाख रह गये है। इस वृद्धि और ह्रास के पीछे जहाँ वर्मी सरकार का पक्षपात है। वहॉं भारत मूल के लोगो मे उन तत्वो की कमी भी एक कारण है, जिनके आधार पर घर और बाहर सहयोग सम्मान पाया जाता है।

मध्यकाल मे वर्मा का स्थानीय शासन रहा। अंग्रेजो ने उसे अपने कब्जे मे किया और भारत के साथ मिलाया। सन् १९३५ तक वर्मा भारत का अंग था। उस समय वहाँ भी अंग्रेजी शासन था। सन् १९३७ में उसे भारत से अलग कर दिया गया।

वर्मा मे कभी भारतीय बहुत बड़ी सख्या मे थे, पर पिछले दिनों से उस देश की सरकार ने भारतीयो को निर्ममतापूर्वक खदेड़ने की नीति अपनायी है, जिससे उनकी स्थिति दयनीय हो गयी है और सख्या काफी घट गयी है। फिर भी वे अपने धार्मिक अस्तित्व को मजबूती के साथ बनाये हुए है। वर्मा के समीपवर्ती देशो मे भी भारतीय काफी है, पर उन देशो की सरकारो ने वैसे कड़े प्रतिबन्ध नहीं लगाये है और वे वहॉं शान्तिपूर्वक रहते हुए फल-फूल रहे है। ऐसे देशो

मे मलेशिया, सिंगापुर, वियतनाम, लाओस, कम्बोडिया और थाईलैण्ड का नाम लिया जा सकता है। थाईलैण्ड के भारतीयो की स्थिति अच्छी है। सिंगापुर जैसे छोटे देश मे वे लगभग दो लाख है।

वर्मा मे सरकारी मान्यता प्राप्त हिन्दुओ का एक मात्र संस्थान "हिन्दू सेण्ट्रल बोर्ड" है। हिन्दू-मन्दिरों की रक्षा प्रायः उसी के द्वारा विगत २० वर्षो से हो रही है। सरकार भी उसे २५ हजार वार्षिक अनुदान देती है। उस देश मे प्रायः दो दर्जन आर्य समाजे है, जिसमे हिन्दी पाठशालाये और पुस्तकालय चलते है। उसकी ओर से एक "जागृति" नामक मासिक पत्रिका भी निकलती है। "सनातन धर्म स्वयं सेवक सघ" की प्रायः ८० शाखाये है, जिनमे छोटे-छोटे मन्दिर है तथा हिन्दी शिक्षण एवं धार्मिक समारोह होते रहते है। पारिवारिक सत्संग एवं कीर्तन मण्डलियाँ भी इस संघ की तरफ से चलती है।

लंका और भारत की एकता

पुराणो में रावण की स्वर्ण विनिर्मित लका का विस्तारपूर्वक वर्णन आता है। वाल्मीकि और तुलसी कृत रामायण मे सीताहरण और राम-रावण युद्ध की चर्चा करते हुए बहुत कुछ लिखा गया है। रावण का कैलाश पर्वत पर जाकर तप करना, सीता स्वयवर मे पहुँचना लिखा है। मध्य भारत के दण्डकारण्य क्षेत्र तक उसका राज्य फैला था। खरदूषण उसके राज्यपाल थे। रावण की वहिन सूर्पनखा वहाँ की साम्राज्ञी थी। इन वर्णनों से विदित होता है कि पौराणिक काल मे लंका वृहत्तर भारत का एक प्रदेश माना जाता था। अग्रेजी शासन काल मे भी लंका और भारत एक थे। विखराव की आँधी ने लंका को भी भारत के अचल से छुड़ाकर अलग-थलग पटक दिया तो भी सास्कृतिक दृष्टि से वह देश अभी भी एक प्रकार से भारत ही है।

श्रीलका के इतिहास में इस तथ्य का स्पष्ट वर्णन है कि ईसा से छः सौ वर्ष पूर्व उत्तर भारत से पहुँचे भारतीयो ने इस द्वीप को वसाया था और उसका नाम सिंहलद्वीप रखा था। वहाँ के "वश" नामक इतिहास ग्रन्थ मे इस घटनाक्रम का वर्णन है, जिसके अनुसार भारतीय वहाँ जाकर बसे और कृषि, व्यवसाय और शासन व्यवस्था की नीव रखी। तब से लका मे पिछले दिनो तक के राजतंत्र चलाने वाले-विद्वान, धर्मगुरु तथा व्यवसायी भारतीय वंशधर ही रहे है। दक्षिण भारत तट से लंका समीप पड़ने के कारण पीछे के लोगों का आवागमन अधिक रहा और वे ही बहुसंख्या मे वहाँ आते रहे।

बौद्ध धर्म के प्रवेश के पूर्व लका में हिन्दू-धर्म का प्रचलन था। सातवी सदी मे देयुन्दर मे वहाँ विष्णु मन्दिर विनिर्मित हुआ था। नागो और यक्षो का भी उन दिनो प्रचलन था। अनुराधापुर के आस-पास अनेको हिन्दू-मन्दिरों के अवशेष मिले है। त्रिकोणमल्लै, मानते है एवं मुन्नेश्वरम् के शिव मन्दिर किसी समय बहुत समुन्नत स्थिति में थे।

दक्षिण भारत के अन्तिम छोर से ५० मील दूर लंका द्वीप है।- किसी समय वह भारत का ही अविच्छिन्न अंग था। प्रकृति के परिवर्तन ने एक जल की पट्टी बीच मे बहा दी और वह भूगोल की दृष्टि से अलग हो गया। रामेश्वरम् से लेकर लंका तक का समुद्र बहुत उथला है। उसमें रेतीली प्राचीर और प्रवाल पर्वत माला बिखरी पड़ी है। इस उथली जलमग्न भूमि को 'सेतुबन्ध' की संज्ञा दी जाती है। सभव है जब पानी ने कटाव आरम्भ किया हो तब उस पर बाँध बाँधने का कोई प्रयत्न किया गया हो और नल-नील इजीनियरो ने उसके निर्माण की भूमिका निवाही हो।

लका की अधिकतम लम्बाई २७० मील, चौड़ाई १३७ मील है और क्षेत्रफल २५३३२ वर्ग मील अर्थात् भारत का साठवाँ भाग है। आबादी एक करोड़ से भी कम है। इनमे बौद्ध ६१ प्रतिशत, हिन्दू २१ प्रतिशत, मुसलमान ८ प्रतिशत और ईसाई दस प्रतिशत है। जातियो की दृष्टि से इन्हे योरोपीय डच, यूरेशियन, सिंहली, तामिल, मूर मुसलमान, मलाई और वेदा, (आदि-वासी) कह सकते हैं। सिंहलि ६७ प्रतिशत, तामिल २४, मूर मुसलमान ७ प्रतिशत है शेष मे अन्य सभी जातियाँ शामिल हैं। भारत की तरह यहाँ भी आदिवासियों की वहुत बड़ी सख्या जगलों में लंगोटी पहिने शिकार पर गुजारा करती है। इन लोगों को हंसना नही आता।

यहाँ के पर्वतों के शिखर ८ हजार फीट तक ऊँचे है। सबसे बड़ी नदी महाबली गंगा है, जो २०६ मील बहती है। इस देश का बहुत बड़ा क्षेत्र घने जंगलो से घिरा है। उष्णकटिबंध होने से यहाँ स्वभावतः गर्मी अधिक होनी चाहिये, पर चारो तरफ समुद्र होने से तापमान उतना अधिक नही होने पाता। यहाँ लगभग ७० प्रतिशत व्यक्ति सिंहली बोलने वाले और २० प्रतिशत तमिल वाले है। राज्य भाषा सिहली है, वैकल्पिक मान्यता तमिल को भी मिली हुई है। तमिलभाषियो में आधे तो लंका निवासी ही है। आधे भारतीय मूल के लोग हैं। भारतीय क्रमश. एक सौ वर्षों से वहाँ जाकर बसते रहे है।

इसके पूर्व छठी शताब्दी में श्रीलका का इतिहास उपलब्ध है। उसे भारतीय राजकुमार विजय ने विधिवत् बसाया । इसके बारे मे किम्बदन्ती है कि उसका बाबा सिंह की संतान था। सिंह की सन्तान होने के कारण उस देश का प्राचीन नाम 'सिंहल' पड़ा और वहाँ के निवासी सिंहली कहलाये। वन्य पशु सिंह से मनुष्य की उत्पत्ति की लोक-गाथा मे इतना ही तथ्य हो सकता है कि उन्हे सिंह गोत्रीय क्षत्रियो के वंशज माना जाय। सम्राट अशोक की प्रेरणा से तत्कालीन लंका के राजा ने बौद्ध धर्म स्वीकार किया। अशोक का पुत्र महेन्द्र और पुत्री संघमित्रा दोनों ही उस देश मे बौद्ध धर्म का प्रचार करने गये थे और वही वे अन्तिम समय तक बने रहे। सन् १५ में यहां की राजधानी अनुराधापुर थी और शासन तमिल भाषी हिन्दू राजा करते थे।

अशोक के चतुर्थ शिलालेख में धर्म विजय अभियान के ताम्रपर्णी (लका) मे सफलतापूर्वक प्रवेश का उल्लेख है। अशोक का पुत्र स्वयं प्रचारक बनकर उस देश मे गया था। इससे १४५ वर्ष पूर्व लका का शासक "देवानाम् प्रियतिष्य" था। उसने इस धर्म विजय मे भरपूर सहायता की। तिष्य ने महा अरिष्ट के नेतृत्व मे एक प्रतिनिधि मण्डल पाटलिपुत्र सम्राट अशोक के साथ धर्म चर्चा करने को भेजा। अशोक ने इस प्रतिनिधि मण्डल का समुचित स्वागत किया और उसे बहुमूल्य उपहारो के साथ लौटाया। साथ ही एक पत्र भी लिखा कि "मै बुद्ध की, धर्म की, सघ की, शरण मे आ गया हूँ। ऐ मनुष्यों के शासक। तुम भी इन तीनो रत्नों को ग्रहण करके अपने को धन्य बनाओ।"

तदुपरान्त अशोक पुत्र महेन्द्र अपने साथ इष्टिय, शम्बल, उक्तिय, भद्रशाल तथा भन्दु जैसे विशिष्ट प्रचारकों के साथ लका गया और उनके प्रयत्न से राजा तिष्य ने ४० हजार प्रजाजनो के साथ बौद्ध धर्म की दीक्षा ग्रहण की। उसी अवसर पर राजधानी अनुराधापुर मे एक विशाल चैत्य की स्थापना हुई। उसका नाम महाविहार रखा गया। अब उसे 'दागोवा' कहते हैं। महेन्द्र के उपदेशों से राज-परिवार की महिलायें बहुत प्रभावित हुई और उन्होने अशोक की पुत्री सघमित्रा से दीक्षा ग्रहण की। फिर तो महिला समाज मे बुद्ध धर्म फैलने लग गया। संघमित्रा महेन्द्र के बाद ही भारत से बोधि-वृक्ष की शाखा लेकर लंका पहुँची थी। इस शाखा को वहाँ बडी धूम-धाम से लगाया गया। इस संसार का सबसे पुराना यह ऐतिहासिक वृक्ष अनुराधापुर मे "जय महाबोधि" के नाम से अवस्थित है। उसका दर्शन करने बौद्ध देशों से हजारो यात्री प्रति वर्ष पहुँचते है।

सघमित्रा का एक अलग उपासिका विहार बना। राजकुमारी अतुला सहित ५०० भिक्षुणियाँ उसमे निवास करने लगी और उस देश मे धर्म-विजय के लिये अनवरत् प्रयत्न करने लगी।

बीस वर्ष की आयु मे राजकुमार महेन्द्र ने ईसा से २५९ वर्ष पूर्व संन्यास ले लिया था। आचारी मोग्गलि पुत्री तिस्य मोग्गलि ने अशोक को सघ के लिये पुत्र दान देकर अनुकरणीय आदर्श प्रस्तुत करने की प्रेरणा दी थी। अशोक ने केवल अपना ज्येष्ठ पुत्र वरन् उसकी बहिन सघमित्रा को भी धर्म-विजय अभियान के लिये दान कर दिया। लका मे जो बौद्ध प्रभाव पड़ा उसका श्रेय अशोक के इस संतान दान को दिया जाय तो कुछ अत्युक्ति न होगी। महेन्द्र ने ईसा से २५२ वर्ष पूर्व अर्थात् संन्यास लेने के सात वर्ष उपरान्त एक अन्तर्राष्ट्रीय विशाल बौद्धधर्म सम्मेलन बुलाया, जिसे तृतीय संगीति कहा जाता है। उस योजना के अनुसार लंका न केवल स्वय बौद्ध धर्म का सुदृढ़ गढ़ बना, वरन् उसने वर्मा, कम्बोडिया, स्याम,

लाओस आदि सुदूर पूर्व के देशों और क्षेत्रो मे धर्म-विजय के लिये उत्साहपूर्वक प्रयास किया।

संघमित्रा और महेन्द्र के अवसान के उपरान्त कुछ समय ऐसा भी रहा है, जब लका मे राज्य क्रान्तियाँ होती रही और उनके भले-बुरे प्रभाव धर्म-विजय अभियान पर भी पडते रहे। सुवर्ण पिण्ड, तिष्यसेन, गुत्तिक, एलार, दुष्ट ग्रामीण आदि के शासन आये गये। उनमे से कई बौद्ध धर्म के प्रति उदार भी रहे। एलार ने १५ सहस्र स्वर्ण मुद्राये देकर एक स्तूप का पुनरुद्धार कराया। दुष्ट ग्रामीण ने विशालकाय 'रत्नमाल्य स्तूप' बनाया और दक्षिण गिरि लकन, कुलन्याल, विलग बोधि दुर्बल, वापितिष्य, दूर तिष्य, कवापि, अभयगिरि, दीर्घ वापि आदि अनेक विहार बनवाये तथा तत्कालीन प्राचीन विहारो को बहुमूल्य सुविधा साधन प्रदान किये। इसके उपरान्त राजा महासेन द्वारा मणिहार गोकर्ण, इककाबिल और कलन्द विहारो का निर्माण कराया गया। उसने एक नहर खुदवायी और सोलह सरोवर बनवाये। इसके उपरान्त राजा मेघवर्ण ने लोह प्रसाद का पुनरुद्धार किया। धर्म प्रचारक महेन्द्र की स्वर्ण मूर्ति बनाकर स्थविराग्र मंदिर मे स्थापित कराई। उसने भारत से भगवान बुद्ध के अवशेष मगाये। तथागत का दात स्वर्ण पात्र मे लेकर कलिग के राजकुमार लका पहुँचे। उस अवशेष का भारी स्वागत हुआ । उसे काण्डि मे मालिगाँव मन्दिर बनाकर स्थापित किया गया। मेघवर्ण ने अठारह विहार बनाये। उन दिनो महापण्डित बुद्ध घोष के नेतृत्व मे प्रजा के मन पर बौद्ध धर्म की गहरी छाप पड़ी और प्रबुद्ध लकावासियो ने उत्साहपूर्वक उसमे प्रवेश किया। उसने "अट्ठसालिनी" "ज्ञानोदय" "विसुद्धि मग्ग" नामक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थो की रचना की और अपने साथी केवल की सहायता से "त्रिपिटिक" का लंका की भाषा मे अनुवाद किया । इस लेखन-प्रयोजन के लिये एक ग्रन्थकार विहार अलग से ही बनाया गया। "अट्ठ कथाओ" का अनुवाद इसी केन्द्र से किया गया। ग्यारहवी शताब्दी मे विजयबाहु और बारहवी शताब्दी मै पराक्रमबाहु ने बौद्ध धर्म मे आई विकृतियो का निराकरण करने के लिये कई महत्त्वपूर्ण सुधार प्रयत्न किये।

"रत्नमाल्य के दक्षिण-पश्चिम में अभयवासी (वसवक्कुलम्) के निकट "मिरिस बट्टी" स्तूप है। समीप ही "तिष्यवापी" है। "ईसुर मुनिय" से थोड़ी दूर वेस्सगिरि की पहाड़ी पर बहुत-सी गुफायें हैं, उनमें ब्राह्मी लिपि के लेख खुदे है। इस क्षेत्र में संघारामो के अनेक ध्वंशावशेष बिखरे पड़े है। अनुराधापुर के समीपवर्ती क्षेत्र में "जेतवनाराम" का महास्तूप दर्शनीय है। "कुडापोकुन" के पक्के कुण्ड भिक्षुओं के स्नान के लिये बनाये गये थे। फाहियान के अनुसार अभयगिरि के महाविहार मे तीन हजार भिक्षु रहते थे, मलबत्त विहार मे अभी भी ३०० भिक्षु रहते है।

बौद्ध धर्म के लंका मे कितने ही दर्शनीय स्थान है। कोलम्बो से आठ मील दूर "कल्याणी विहार" सन् २०३ मे विनिर्मित हुआ था, उसे राजा "देवानाम् प्रिय तिष्य" ने बनवाया था। सामन्तकूट के "बुद्धपाद" मे भगवान बुद्ध के चरण की स्थापना है। ईसाई और मुसलमान इसे हजरत आदम के चरण बताते है। उनके अनुसार आदम ने सबसे पहले पृथ्वी पर इसी जगह पैर रखा था। अनुराधापुर का विहार सबसे बड़ा है। वह आधे मील के घेरे मे है। राजकुमार महेन्द्र यहाँ ज्येष्ठ की पूर्णिमा को पहुँचे थे। उस दिन यहाँ उनकी स्मृति मे भारी मेला लगता है, जिसमे लाखो धर्म प्रेमी सम्मिलित होते है। मेले के अतिरिक्त घरो मे भी उस दिन त्यौहार मनाया जाता है। लंका का दूसरा पर्व है— भगवान बुद्ध का जन्म-दिवस-वैसाख पूर्णिमा। इस दिन प्रायः सभी बौद्ध देवालयो और घरो मे उत्सव होता है। काण्डि (सैखण्ड) के विहार मे भगवान बुद्ध का पवित्र दाँत स्थापित है। इसके दर्शन आषाढ़ी पूर्णिमा होते है। स्वर्ण पात्र मे रखकर उसे हाथी की पवित्र सवारी पर जुलूस के रूप मे घुमाया जाता है, ताकि धर्म प्रेमी उसके दर्शन कर सके। इस दाँत की सुरक्षा का ध्यान लका निवासी बड़ी सतर्कतापूर्वक करते है। स्थापन मन्दिर मे तीन ताले लगे रहते है। एक चाबी सीलोन के गवर्नर के पास, दूसरी धर्माध्यक्ष के पास और तीसरी एक अन्य सम्भ्रान्त व्यक्ति के पास रहती है ताकि कोई उसे चुरा न सके। इस मन्दिर की दीवारो पर नरक के १५ चित्र बने है, जिनमें दुष्कर्म

करने वालों को परलोक में मिलने वाले दण्डों का चित्रण किया गया है।

ईसा से १५० वर्ष पूर्व बना हुआ बुद्ध स्तूप 'रुवन बलिसेवा' यहाँ की महत्वपूर्ण प्राचीन इमारत है। इसी प्रकार पर्वत शिला काटकर बनाई गयी विशालकाय बौद्ध प्रतिमा भी दर्शकों के आकर्षण का केन्द्र है। काण्डि में भगवान बुद्ध के दाँत का अवशेष (जिसे बौद्ध धर्म के अनुसार दन्त-धातु कहने का प्रचलन है) का मन्दिर विमल धर्म सूर्य ने बनवाया था। उसे डचो ने सन् १७६५ मे नष्ट कर दिया। कीर्ति श्रीराजसिंह ने इसको पुनः नये सिरे से बनवाया।

सिंहली बौद्ध-भिक्षु धर्म-प्रचार मे विशेष उत्साह दिखाते रहे हैं। उन्होंने भारत, वर्मा, स्याम, मलाया, पेशावर एवं मध्य एशिया में धर्म प्रचार के लिये जत्थे बनाकर प्रयोग किया था।

सन् ४२६ में सिंहलद्वीप की तीन भिक्षुणियाँ नानकिंग (चीन) पहुँची और उन्होने न केवल धर्म-प्रचार किया वरन् शासन-तंत्र भी संभाला।

अवसान काल मे बौद्ध प्रचारको का अनुत्साह, राज्याश्रय की कृपणता और गृह-कलह से लंका की स्थिति बिगड़ती चली गयी। यहाँ तक कि उसे विदेशियो के आक्रमण का शिकार होना पड़ा। सन् १५०५ में पुर्तगालियों का लंका में प्रवेश हुआ और उन्होंने छल-बल से एक शताब्दी के भीतर ही अपना आधिपत्य जमा लिया। इसके बाद १६०२ मे वहाँ डच पहुँचे। जनता पुर्तगालियों से आजिज आ गयी थी। उन्होंने डचों की सहायता से उन्हे मार भगाया। पर इससे कुछ बना नही, वहाँ डच जम गये। इसके बाद सन् १७९५ में अंग्रेज डचों को भगाने और अपना कब्जा जमाने मे सफल हुए।

सन् १५९४ से लेकर १६०२ तक पुर्तगालियो का शासन लंका पर रहा । उन्होंने मदिर तोड़े पुस्तके जलायी और भिक्षुओ का कत्ल कराया। फलस्वरूप शेष भिक्षु अपनी जान बचाकर वहाँ से भाग गये। सत्रहवीं सदी मे राजा कीर्ति ने स्याम से बौद्ध भिक्षु बुलाये और नये सिरे से भिक्षु संघ की स्थापना की। इन दिनो वहाँ स्याम-निकाय के भिक्षु ही अधिक है।

अरब, डच, पुर्तगाली यहाँ लगातार आक्रमण करते और अड्डे जमाते रहे। सन् १७९६ में अंग्रेजो ने उन घुसपैठियो को खदेड़कर अपना कब्जा जमा लिया और भारत के साथ-साथ लंका पर भी राज्य किया। सन् १९४८ में उसे ब्रिटेन ने राष्ट्रमण्डल के अन्तर्गत औपनिवेशिक सत्ता सौप दी। तब से लंका भारत की ही तरह स्वतंत्र राज्य है और उसे नया नाम 'श्रीलका' दिया गया है। लंका का अधिक सांस्कृतिक विकास-विवरण जानने के लिये निम्न पुस्तकों से अच्छी जानकारी मिल सकती है—

(१) एच. डब्ल्यू. फाउर्रिगटन कृत-"ए शार्ट हिस्ट्री ऑफ सीलोन"।

(२) जी. सी. मेण्डिस कृत-"दी अर्ली हिस्ट्री ऑफ सीलोन"।

(३) वी. ए. स्मिथ कृत-"ए हिस्ट्री ऑफ फाइन आर्ट इन इण्डिया एण्ड सीलोन"।

लंका मे इन दिनो तीन धर्म प्रचलित है—(१) बौद्ध धर्म (२) ईसाई धर्म (३) हिन्दू धर्म। वहाँ बहुत-से हिन्दू मन्दिर है। रतनपुर और बदुल्ला मे विशालकाय हिन्दू मन्दिर है। तमिल भाषी यहाँ एक-चौथाई है, जिनमें अधिकांश हिन्दू है। उत्तरी लका में द्रविण वास्तुकला के हजारो हिन्दू मन्दिर है, जिनमें ब्रह्मा, विष्णु, शिव, गणेश, कार्तिकेय, इन्द्र आदि की मूर्तियाँ स्थापित है। बौद्धो के दो वर्ग है। एक विरक्त और दूसरे गृहस्थ। विरक्त लोग धर्म-प्रचार, तपश्चर्या और ज्ञान-साधना मे निरत रहते है, अपना निर्वाह गृहस्थों से भिक्षावृत्ति द्वारा प्राप्त करते है। गृहस्थ आजीविका उपार्जन, धर्मानुशासन का पालन तथा धर्म-सस्थाओं के लिये अनुदान की व्यवस्था करते है।

केवल कोलम्बो नगर मे ही २४ बडे विहार है। इनके एक भाग मे चैत्य होता है, जिसमे प्रमुख भिक्षुओ की अस्थियाँ स्थापित की जाती है। इन विहारो मे एक बुद्ध का प्रतिमा मन्दिर होता है और बोधि वृक्ष के वंशज पीपल के पेड़ की स्थापना की जाती है। प्रवचन और स्थान प्राय: यही होते है।

श्रीलका और वर्मा मे इन दिनो बौद्ध धर्म के प्रसार-विस्तार का कुछ कहने योग्य उत्साह दिखाई देता है। लंका छोटा-सा देश है, पर उसने 'महा बोधि सभा'

जिस लंका का वर्णन पुराणों से मिलता है वह वर्तमान सिंहलद्वीप (श्री लंका) से भिन्न है। यह सुमात्रा हो सकता है। उसी क्षेत्र में कंचनगिरि पर्वत है। वाल्मीकि रामायण में सम्भवतः इसी का 'स्वर्णगिरि' नाम से उल्लेख हुआ है। ब्रह्माण्ड पुराण में ५३वें अध्याय मे इसी को 'कांचन पद' कहा गया है।

पाकिस्तान—हमारी सांस्कृतिक दुर्बलता का प्रतिफल

सिन्ध प्रान्त चिरकाल से भारत की सास्कृतिक धुरी का केन्द्र रहा है। यो चिर प्राचीन काल में भारतीय धर्म का उद्‌भव उत्तराखण्ड और आर्यावर्त में हुआ। किंतु पीछे वृहत्तर भारत निर्माण की भूमिका में ... प्रान्त को विशेष महत्त्व मिला। वहाँ से मध्य ... पच्छिम एशिया के देशो के साथ समुद्री ... थल मार्ग अधिक सुविधांजनक था। व्यापार, ... इन तीनो ही प्रयोजन के लिये सिन्ध ... विधाजनक पड़ता था। अस्तु उस ... क्षमता एकत्रित होती चली

... की पहुँच प्राय सिन्ध ... इसलिए वे उतने ही क्षेत्र ... में 'स' का उच्चारण ... को हिन्द कहते थे। ... हिन्द के निवासी ... 'हिन्दुस्तान'। ... प्रचलन इसी प्रकार ... होती है कि कभी ... रहा है और ... ही नही योरोप, ... द्वारा उपरोक्त ... वाले भारतीयो ... वह प्रदेश न ... केन्द्र बनता

... प्रान्त की ... ने आगे ... एशिया मे उसे पहुँचाने के लिये शक्ति भर चेष्टा की थी। इतना ही नही कभी हिन्दूकुश और हिमालय लाँघकर जो विदेशी आक्रमणकारी भारत में प्रवेश करते थे तो सिन्ध प्रान्तीय शासन उनका मुँह तोड उत्तर देता था। इस पूरे क्षेत्र मे भारतीय धर्म एवं संस्कृति का वर्चस्व सिद्ध करने वाले अगणित प्रमाण अवशेष भरे पड़े है। आज तो सिन्ध को पाकिस्तान के नाम से विदेश के रूप मे गिनना पड़ता है, पर अब से ४३ वर्ष पहले ऐसी स्थिति न थी। वहाँ भारतीय संस्कृति के प्रमाण खोजने की बात ही उपहासास्पद होती। अपने ही देश मे अपनी ही सस्कृति के प्रमाण तो पग-पग पर थे ही, उन्हें खोजता ही कोई क्यो ?

सिन्ध की ही तरह पंजाब और कश्मीर के प्रान्तो की बात है। "तक्षशिला विश्व विद्यालय" रावलपिण्डी के पास था। उस समृद्ध विश्व विद्यालय की उपयोगिता इसलिये भी थी कि एशिया तथा योरोप के अधिकांश भाग को भारत के स्थल से यही क्षेत्र जोड़ता था। कश्मीरी पण्डितो की न केवल भारत मे वरन् विदेशो मे भी धाक थी। तक्षशिला विश्व विद्यालय के प्रशिक्षण का कार्य प्राय वे ही सभालते थे। चीन में और तुर्किस्तान मे प्राचीन काल मे हिन्दू धर्म उन्होने पहुँचाया था और मध्यकाल मे उसके सुधरे हुए रूप बौद्ध धर्म को मध्य एशिया तथा पश्चिमी एशिया में पहुँचाने के लिये उन्होने विशेष साहस दिखाया और साधन जुटाये। काश्मीर के जिस क्षेत्र मे इन दिनों पाकिस्तान का कब्जा है, प्राचीन काल मे भारतीय धर्म शिक्षण का वह महत्त्वपूर्ण केन्द्र था।

पाकिस्तान के डाकरी स्टेशन से १० किलोमीटर आगे मोहनजोदड़ो नामक नगर के खण्डहर खोद निकाले गये हैं। उपलब्ध अवशेषो से उस नाम की प्राचीन आर्य सभ्यता का पता चलता है। उन दिनो कितनी समुन्नत स्थिति के साधन थे और कितने सुविकसित लोग रहते थे, इसका पता सहज ही चल जाता है। हड़प्पा की खुदाई में भी इसी तथ्य की पुष्टि करने वाले महत्त्वपूर्ण अवशेष मिले है।

पिछली शताब्दियो में सिख धर्म का उद्‌भव और विस्तार पंजाब प्रान्त मे हुआ। गुरु नानक से लेकर गुरु गोविन्द सिंह तक की शिष्य परम्परा पूरे पंजाब

और 'विश्व बौद्ध सम्मेलन' नामक दो अन्तर्राष्ट्रीय संगठनो को जन्म दिया है। उस देश से अनेक विद्वान भिक्षु विश्व मे धर्म-चक्र-प्रवर्तन के लिये यात्रायें करते रहते है। वर्मा, स्याम, कम्बोडिया, मंचूरिया, मगोलिया, चीन, तिब्बत, हिन्द चीन, लाओस आदि मे बौद्ध धर्मावलम्बी जनता का बाहुल्य है। इन देशो मे भी उस महान् धर्म को सुव्यवस्थित एवं परिपुष्ट बनाने के लिये विविध प्रयास चल रहे है। स्याम ने अपनी लिपि मे सम्पूर्ण पाली त्रिपिटिक ४५ बड़ी जिल्दो मे छापा है। ससार मे यही एक मात्र पाली का सम्पूर्ण त्रिपिटक है, जो प्रकाशित होकर सामने आया है। नेपाली तथा जापानी बौद्ध भी अपने ढग से धर्म-विजय के लिये कुछ प्रयत्न कर रहे है। मंगोलिया, चीन और तिब्बत मे पिछली दशाब्दियो मे बौद्ध धर्म की बहुलता थी, पर कम्युनिस्ट शासन मे उस दिशा मे कुछ विशेषकर सकना उन लोगो के लिये सभव नही रहा ।

बौद्ध धर्म प्रचार न सही, पर बौद्ध-दर्शन से संसार की जनता को परिचित कराने के लिये विश्व के ख्यातिनामा विद्वानो ने महत्वपूर्ण साहित्य का सृजन किया है। जर्मन विद्वान मैक्समूलर द्वारा स्थापित "सेक्रेड बुक्स ऑफ दि ईस्ट" तथा "सेक्रेट बुक्स ऑफ दि बुद्धिस्ट" नाम की दो ग्रन्थमालाये प्रकाशित होती चली आ रही है, जिनके अन्तर्गत अनेको महत्त्वपूर्ण बुद्ध धर्म पर प्रकाश डालने वाले ग्रन्थ छापे गये है। टी डब्ल्यू राइस डेविड्स ने इसी प्रयोजन के लिये एक सस्था स्थापित की है—"पाली टेक्स्ट्स सोसाइटी" जिसके अन्तर्गत सौ से अधिक बड़ी जिल्दो मे बौद्ध साहित्य छपा है।

लका भारत के समीप होते हुए भी जाति और धर्म को मिलाने की बीमारी से अछूता है। पति-बौद्ध, पत्नी-ईसाई । माँ-ईसाई, लडके-बौद्ध । एक भाई मुसलमान दूसरा ईसाई । इसमे किसी को कोई आपत्ति नही । विवाहो मे जाति, वश का ध्यान तो रखा जाता है, पर धर्म की भिन्नता के कारण इसमे कोई अड़चन नहीं पडती । इस प्रचलन के कारण यहाँ ईसाई और मुसलमान आक्रमणकारियो को अधिक और स्थाई सफलता नही मिली । उन्होंने तलवार के जोर से "धर्म -परिवर्तन कराया स्थिति वदलते ही पुन. परिवर्तन हो गया और लोग अपने सम्बन्धियों वाले धर्म में लौट गये । जिस तरह हमारे यहाँ धर्म-खतरे में " का नारा लगाकर उत्पात खड़े कर दिये जाते हैं । वहाँ उसकी कोई गुंजाइश नही । वहाँ धर्म के नाम पर उपद्रव कभी नही होते।

लंका का प्रधान उत्पादन कृषि है। आधे लोग किसान है। बड़े उद्योग और खदानों का प्रायः अभाव ही है। चाय, रबड़, नारियल का निर्यात होता है। कोयला, पैट्रोल, खनिज पदार्थ यहाँ तक कि चावल भी बाहर से मँगाना पड़ता है। जल-विद्युत से ही बिजली की आवश्यकताये पूरी करनी पड़ती हैं।

शिक्षा के क्षेत्र में लंका की प्रगति आश्वर्यजनक है। प्राथमिक शिक्षा से लेकर विश्वविद्यालय तक की पढाई नि शुल्क है। इस देश मे ८० प्रतिशत पुरुष और ६० प्रतिशत महिलाये शिक्षित हैं। साक्षरता के क्षेत्र में लंका एशिया मे अग्रणी है।

सिंहलियों मे बाल-विवाह नही होते। लडकियाँ आमतौर से १८-२० वर्ष के बाद और लड़के २८-३० वर्ष के होने पर विवाह करते है। तलाक और विधवा विवाह का कोई प्रतिबन्ध नही है। विवाहोत्सव बिल्कुल सादगी से होते हैं।

लंका के हिन्दुओ मे तमिल अधिक हैं। उनमें से अधिकाश कृषक और श्रमजीवी है। कुछ व्यापार करते है और कुछ नौकरियो मे भी है। जाति-पांति और छूआछूत उनमे भारत की तरह ही प्रचलित है। उत्तरी तथा पूर्वी प्रान्तो मे इन्ही की सख्या अधिक है। यहाँ के हिन्दुओ का सबसे बडा तीर्थ खदिर गाँव में अवस्थित "स्कन्द-स्वामी" का मन्दिर है। इस पर श्रावणी पूर्णिमा को मेला लगता है।

श्रीलका मे कुल मिलाकर १० लाख भारतीय है। दो लाख चाय बागानो में काम करते है। बड़े व्यवसायी और कारखानेदार तो बहुत थोड़े हैं। थोडे से चेट्टियर (तामिल) चाय बागानो के मालिक हैं। सिन्धी, गुजराती, काठियावाडी और पारसी भी व्यवसाय करते हैं। "सर्वोदय श्रमदान संगम" की प्रवृत्तियो ने उस देश मे गान्धीवादी चेतना उत्पन्न की है और कई उपयोगी रचनात्मक कार्य आरम्भ किये है।

जिस लंका का वर्णन पुराणों से मिलता है वह वर्तमान सिंहलद्वीप (श्री लंका) से भिन्न है। यह सुमात्रा हो सकता है। उसी क्षेत्र मे कंचनगिरि पर्वत है। वाल्मीकि रामायण में सम्भवत: इसी का 'स्वर्णगिरि' नाम से उल्लेख हुआ है। ब्रह्माण्ड पुराण मे ५३वे अध्याय मे इसी को 'कांचन पद' कहा गया है।

पाकिस्तान—हमारी सांस्कृतिक दुर्बलता का प्रतिफल

सिन्ध प्रान्त चिरकाल से भारत की सांस्कृतिक धुरी का केन्द्र रहा है। यो चिर प्राचीन काल मे भारतीय धर्म का उद्‌भव उत्तराखण्ड और आर्यावर्त में हुआ। किन्तु पीछे वृहत्तर भारत निर्माण की भूमिका में सिन्ध प्रान्त को विशेष महत्त्व मिला। वहाँ से मध्य एशिया तथा पच्छिम एशिया के देशों के साथ समुद्री मार्ग तथा थल मार्ग अधिक सुविधाजनक था। व्यापार, शासन, धर्म प्रचार इन तीनों ही प्रयोजन के लिये सिन्ध अधिक समीप एव सुविधाजनक पडता था। अस्तु उस क्षेत्र मे भारत की महत्त्वपूर्ण क्षमता एकत्रित होती चली गयी।

मध्य एशिया के निवासियो की पहुँच प्राय. सिन्ध क्षेत्र तक ही हो पाती थी । इसलिए वे उतने ही क्षेत्र को भारत मानते थे। उनका भाषा मे 'स' का उच्चारण 'ह' के रूप में होता है। सिन्ध को हिन्द कहते थे । पीछे वही शब्द 'हिन्द' बन गया हिन्द के निवासी 'हिन्दू'। हिन्दुओं के रहने का भूखण्ड 'हिन्दुस्तान'। भारत को हिन्दुस्तान कहे जाने का प्रचलन इसी प्रकार हुआ। इस प्रचलन से एक बात स्पष्ट होती है कि कभी भारत का सिन्ध प्रान्त बहुत ही सशक्त रहा है और उसकी धाक समस्त पश्चिमी एशिया ही नही योरोप, अफ्रीका तक छाई रही है। जलयानो द्वारा उपरोक्त त्रिविध प्रयोजन के लिये विदेश जाने वाले भारतीयो को यही डेरा डालना पडता था। अस्तु, वह प्रदेश न केवल समृद्धि का वरन् सस्कृति का भी केन्द्र बनता चला गया ।

बौद्धकालीन भारत का इतिहास-सिन्ध प्रान्त की विशेपताओ से भरा पडा है। वहाँ के राजाओ ने आगे वढ़कर बौद्ध धर्म स्वीकार किया और मध्य एशिया मे उसे पहुँचाने के लिये शक्ति भर चेष्टा की थी । इतना ही नही कभी हिन्दूकुश और हिमालय लॉघकर जो विदेशी आक्रमणकारी भारत मे प्रवेश करते थे तो सिन्ध प्रान्तीय शासन उनका मुँह तोड़ उत्तर देता था। इस पूरे क्षेत्र में भारतीय धर्म एवं संस्कृति का वर्चस्व सिद्ध करने वाले अगणित प्रमाण अवशेष भरे पड़े है। आज तो सिन्ध को पाकिस्तान के नाम से विदेश के रूप मे गिनना पड़ता है, पर अब से ४३ वर्ष पहले ऐसी स्थिति न थी। वहाँ भारतीय सस्कृति के प्रमाण खोजने की बात ही उपहासास्पद होती । अपने ही देश मे अपनी ही संस्कृति के प्रमाण तो पग-पग पर थे ही, उन्हे खोजता ही कोई क्यों ?

सिन्ध की ही तरह पंजाब और कश्मीर के प्रान्तो की बात है। "तक्षशिला विश्व विद्यालय" रावलपिण्डी के पास था। उस समृद्ध विश्व विद्यालय की उपयोगिता इसलिये भी थी कि एशिया तथा योरोप के अधिकाश भाग को भारत के स्थल से यही क्षेत्र जोड़ता था। कश्मीरी पण्डितो की न केवल भारत मे वरन् विदेशो मे भी धाक थी । तक्षशिला विश्व विद्यालय के प्रशिक्षण का कार्य प्राय वे ही संभालते थे। चीन मे और तुर्किस्तान मे प्राचीन काल में हिन्दू धर्म उन्होने पहुँचाया था और मध्यकाल मे उसके सुधरे हुए रूप बौद्ध धर्म को मध्य एशिया तथा पश्चिमी एशिया मे पहुँचाने के लिये उन्होने विशेष साहस दिखाया और साधन जुटाये । काश्मीर के जिस क्षेत्र मे इन दिनो पाकिस्तान का कब्जा है, प्राचीन काल में भारतीय धर्म शिक्षण का वह महत्त्वपूर्ण केन्द्र था।

पाकिस्तान के डाकरी स्टेशन से १० किलोमीटर आगे मोहनजोदड़ो नामक नगर के खण्डहर खोद निकाले गये है। उपलब्ध अवशेषो से उस नाम की प्राचीन आर्य सभ्यता का पता चलता है। उन दिनो कितनी समुन्नत स्थिति के साधन थे और कितने सुविकसित लोग रहते थे, इसका पता सहज ही चल जाता है । हड़प्पा की खुदाई मे भी इसी तथ्य की पुष्टि करने वाले महत्त्वपूर्ण अवशेष मिले है।

पिछली शताब्दियों मे सिख धर्म का उद्‌भव और विस्तार पंजाब प्रान्त में हुआ । गुरु नानक से लेकर गुरु गोविन्द सिंह तक की शिष्य परम्परा पूरे पंजाब

प्रदेश मे फैली और वहाँ से उसका विस्तार समस्त देश में हुआ । इसके पूर्व भी यह प्रान्त हिन्दू सस्कृति से उसी प्रकार ओत-प्रोत था जिस प्रकार कि भारत के अन्यान्य क्षेत्र प्रदेश । आज पाकिस्तान मे हिन्दू संस्कृति के आधार खोजने के लिये प्रमाणो को तलाश करने की आवश्यकता पड़ सकती है। पर पूर्व काल मे इस तरह से सोचने की कोई तुक न थी। अभी भी कोई पाकिस्तान जाय तो प्राय: हर गाँव में सक्रिय और निष्क्रिय देवमन्दिरो की, ऐतिहासिक धर्म-संस्थानों की साक्षी बिखरी पड़ी होगी। उत्तर भारत में आर्यों का बाहुल्य था। पंजाब का नम्बर अभी भी आगे है। पौराणिक और ऐतिहासिक पर्यवेक्षण करने पर विभाजित पंजाब को विदेश कहने की बात इन परिस्थितियों मे भी नहीं बनती। भारतीय पंजाब और पाकिस्तानी पंजाब में अब इतना ही अन्तर पड़ा है कि उन लोगो ने साम्प्रदायिक जनून मे पंजाबी भाषा को उखाड़ फेंकने और जातीय एकता को नष्ट करने में एक सीमा तक सफलता प्राप्त कर ली है। किन्तु आकृति और प्रकृति का साम्य अभी भी विद्यमान है। रक्त और वश भी एक है। ऐसी दशा मे यह आशा करना असंभव नही है कि जब धर्मान्धता का बुखार उतरेगा और शान्तचित से अपने इतिहास पर दृष्टि डालने का अवसर मिलेगा तो पश्चिम पंजाब और पूर्व पंजाब के लोगो की नसो में बहने वाला एकसा रक्त कभी न कभी फिर एकता की बात सोचेगा और उस दिशा में आगे बढ़ेगा।

भारत मे इस्लाम धर्म के विस्तार की पृष्ठ-भूमि अत्यन्त स्पष्ट है। मध्य एशिया के आक्रमणकारी उसे इस देश में लाये। पराजितो को तलवार की नोक पर उसे स्वीकार करना पड़ा। कत्ले आम, जजिया आदि के मर्मान्तक दबावों को सहन कर सकना जिन लोगों के लिये सभव-शक्य न हो सका, वे इस धर्म में दीक्षित हो गये। यो ऐसे लोग भी कम न थे, जिन्होने चोटी काटने की अपेक्षा सिर कटाना अधिक गौरवास्पद समझा और अपने जीवित बच्चो को दीवार मे चिना जाना बलात् धर्म-परिवर्तन की तुलना मे अच्छा समझा।

आक्रमणकारियो को जहाँ पैर जमाने का अवसर मिला वहाँ उन्होने अपहृत भारतीय ललनाओं को अपने बाड़े मे कैद किया उनसे संतानें उत्पन्न करके वंश वृद्धि को धर्म वृद्धि का एक तरीका बनाया। प्रलोभनों से भी काम बना। कुछ को आकर्षक धर्मो पदेशकों ने और राज्य-सहकार पाने के आकर्षण ने भी अपनी ओर खीचा। इस प्रकार उस धर्म का विस्तार होने लगा। उन दिनों राज्य धर्म ही प्रजा का धर्म बन जाता था।

इस्लाम के विस्तार का एक और भी पक्ष था, जिसने आक्रमणकारियों के प्रयासों की अपेक्षा सौ-गुना अधिक पथ प्रशस्त किया। अन्धकार युग की जाति-पाँति, ऊँच-नीच, छुआछूत की विकृति हिन्दुओ मे उन दिनो बेतरह छाई हुई थी। एक बार जो व्यक्ति किसी प्रकार मुसलमानो के सम्पर्क मे आ गया उसे जाति बहिष्कृत करने में, विधर्मी बनने के लिये बलात् बाध्य किया गया। जबर्दस्ती मुँह में मांस ठूँस देने, जूँठा पानी पिला देने, छू जाने के बाद कोई हिन्दू अपने धर्म में सम्मिलित नही रह सकता। कुएँ में गौ-मास डाल दिया गया, उसका किसी को पता न था। पूरे गाँव ने उसका पानी पी लिया। पीछे उस कृत्य को करने वालो ने घोषणा कर दी, बस पूरा गाँव जाति बहिष्कृत हो गया और उसे मुसलमान ठहरा दिया गया। इस प्रकार के बहिष्कार मे कट्टर पंथी पुरोहितो ने बहुत उत्साहपूर्वक भाग लिया। धर्म-रक्षा के नाम पर वे आगे बढ़कर इस मुहीम को चला रहे थे। असल में उन्हें गुप्त रूप से आक्रमणकारी विधर्मियों द्वारा मोटी रिश्वतें दी जा रही थी। जागीरे बख्शी जा रही थीं। सरकारी अधिकारी उन्हें हर तरह की सहायता देते और जनता में सम्मान बढ़े ऐसी चमत्कारी किम्बन्दन्तियो के फैलाने मे पूरा प्रयास करते थे। एक ओर जहाँ सच्चे धर्मनिष्ठों को मर्मान्तक पीड़ा देकर मौत के घाट उतारा जा रहा था, वहाँ दूसरी ओर मिली भगत वाले साधु बाबाओ और पण्डितो को पर[illegible] । प्रत्यक्ष और परोक्ष राज्याश्र[illegible] था [illegible] हजार वर्ष मे भारत [illegible] है, नित नये

ओर कट्टरता के समर्थक नये-नये सिद्धान्त गढ़कर बहिष्कार दुरभिसन्धि को पूरी तरह वल देना था। इस प्रकार इन सम्प्रदाय संस्थापक, चमत्कारी तथा कट्टर-पन्थी लोगो ने भारत में मुसलमानी धर्म फैलाने मे वह भूमिका निबाही, जो प्रत्यक्ष रूप से किये गये बल-प्रयोग करने वालों की तुलना मे हजारो गुना अधिक सफल सिद्ध हुई।

स्वेच्छा से धर्म-परिवर्तन वाले कम थे। बहुत करके भय एवं लोभ की विवशता से धर्म बदलना पड़ा। इससे भी हजारों गुने वे लोग थे, जिन्हें कट्टरता ने बलपूर्वक विधर्मी खेमे मे प्रवेश करने के लिये बाध्य कर दिया। अछूतो के साथ जो अमानुषिक एवं अपमानजनक असमानता बरती जा रही थीं, उससे पिण्ड छुड़ाने के लिये भी उनने विधर्मी बन जाना अधिक श्रेयस्कर समझा। इस प्रकार एक ओर से दवाव और दूसरी ओर से बहिष्कार ने दो पाटो वाली चक्की का काम किया और उसमे पिसकर अनाज का बहुत भाग आटा बन गया। इसी प्रकार संख्या बढ़ती चली गयी और वह इतनी अधिक पहुँची कि पाकिस्तान के रूप मे विभाजन सामने आ खड़ा हुआ।

यह ठीक है कि अंग्रेजो ने इसके लिये मुसलमानों को पूरी तरह प्रोत्साहित किया और सहयोग दिया। धर्मान्धता के आवेश मे बँटवारे की माँग उठाई और उसी को पूरा कर लिया गया, पर हमे यह नही भूल जाना चाहिये कि इससे भी अधिक बड़ा कारण हमारी अपनी वे दुर्बलताये थी, जो अन्धकार-युग मे संस्कृति के भीतर छद्मवेश धारण करके घुस पड़ी थी। भाग्यवाद, ईश्वर इच्छा से सब कुछ होना होनहार-भवितव्यता-मनुष्य का नियति के हाथ का खिलौना होना और दार्शनिक भ्रष्टताओ ने हिन्दू जाति के चिन्तन को बुरी तरह परावलम्बी बना दिया था। लोग भवितव्यता बनाने वाले देव-दानवो का, ग्रह-नक्षत्रो का इन्तजार करते थे। अपने को सर्वथा असहाय मानते थे। सहायता के लिये किन्ही परोक्ष शक्तियो का द्वार खटखटाते थे। सोमनाथ मन्दिर नष्ट होते समय पण्डितो का राजाओ को युद्ध करने से रोकना और अनुष्ठान चालू करना इस तथ्य का प्रमाण है। ऐसे ही प्रमाणो की उन दिनो भरमार थी। अस्तु आक्रमणकारियो का रास्ता बिना किसी विशेष प्रयास के अपने आप साफ होता चला गया। प्रतिरोध के नाम पर उन्हे बहुत अड़चन नही उठानी पड़ी।

छद्मवेशी धर्मगुरुओ का बहिष्कार अस्त्र इतना प्रबल था, जिसमे तत्कालीन धार्मिक जनता के सिर पर अपना जादू चढ़ाकर अपनो को बिराना बनाने मे बहुत बड़ी भूमिका निवाही। जो लोग अपने धर्म को छोड़ना नही चाहते थे और फिर से हिन्दू धर्म मे ही रहने को लालायित थे, उन्होने शताब्दियों तक इसकी प्रतीक्षा की किन्तु उन्हे इसका सौभाग्य न मिल सका। ऐसे "नौ मुसलिम" लाखों-करोड़ों की संख्या मे पिछड़े दिनो तक रहे है, जिन्होने अपने नाम, गोत्र, प्रचलन, धर्मकृत्य, संस्कार हिन्दू-परम्परा के अनुरूप बनाये रखे। थोडे रिवाज मुसलमानो के भी वे अपनाते थे। पर साथ ही हिन्दू-परम्पराओ पर उनकी निष्ठा कम न थी। ऐसी दशा में वे न पूर्ण मुसलमान थे न पूर्ण हिन्दू। उन्हे "नौ मुस्लिम या मलकाना" कहा जाता था। हरियाणा प्रान्त तथा उत्तर प्रदेश के पश्चिमी जिले इन्ही अर्द्ध-हिन्दू अर्द्ध-मुस्लिमों से भरे पडे थे। वे पूर्ण मुसलमान तो तब हुए है; जब मुस्लिम लोग ने धर्मान्धता का विष सर्वत्र पूरी तरह संव्याप्त करने के लिये एडी-चोटी का पसीना बहाना आरम्भ कर दिया।

जरा-जरा सी बात पर जातिच्युत करके उन पर इतने प्रतिबन्ध लगाना कि उनके लिये उनको मानने अथवा विधर्मी होने के अतिरिक्त अन्य कोई चारा हो न रहे, हिन्दू धर्मानुयायियो की पिछले दिनो भारी दुर्बलता रही है। असंख्य विधवाओं को बलात् वैधव्य निवाहने के प्रतिबन्धो ने उन्हे धर्मानुयायी बनने या वेश्यावृत्ति अपनाने के लिये विवश किया, यह तथ्य किसी से छिपा नही है। जहाँ अन्य धर्मावलम्बी दूसरे धर्म वालो को अपने सम्प्रदाय मे दीक्षित करने के लिये प्रचुर धन, प्रभाव और साधन लगाते रहे है, वहाँ हिन्दू धर्मानुयायियो ने ठीक उसका उल्टा किया। वे अपने अगो को काट-काट कर फेकने मे बहादुरी और बड़ाई अनुभव करते रहे।

मुसलमान और ईसाई धर्म पिछले एक हजार वर्षो मे आँधी और तूफान की तरह बढ़े है। दोनो धर्मों को मिलाकर ससार की प्राय. दो-तिहाई जनता इन धर्मों

मे दीक्षित हो गयी है। इसके मुकाबले हिन्दू धर्म निरन्तर घटा है। देश की जनसंख्या वृद्धि के हिसाब से हिन्दू धर्मानुयायी नही बढ़ रहे है वरन् उनका अनुपात घटता जा रहा है। उसका एक मात्र कारण अभी तक उन दुर्बलताओ को जीवित रहना है, जिनने पिछले दिनों अपनो को बिराना बनाने की भूमिका निबाही थी।

अछूतो के साथ हमारा व्यवहार वही है। सरकारी कानून का असर थोड़े पढ़े-लिखे लोगो और शहरों मे ही हुआ है। देहाती अशिक्षित क्षेत्रो में स्थिति जहाँ की तहाँ है। ऐसी दशा मे उनकी प्रवृत्ति विधर्मी बनने के लिये उभरती है तो उसमे अनुचित भी क्या है? कौन अकारण मानवीय अधिकारों का हनन करता हुआ किसी अविवेकी वर्ग का अंग रहना स्वीकार करेगा। पिछले दिनों वे मुसलमान बनते रहे, अब उसी तेजी से ईसाई धर्म को शरण में जा रहे हैं।

इसका कारण अपनी ही दुर्बलता है। जब तक उसे दूर न किया जायेगा, मात्र शुद्धि-संस्कार करके धर्म में वापस बुला लेने के मनोविनोद से भी कुछ काम न चलेगा। पनपता हुआ विद्रोह उन्हे उसी दिशा में आज नही तो कल फिर धकेलेगा। अन्य धर्मों से शुद्ध करके हिन्दू धर्म में प्रवेश करने वालों के लिये जब तक रोटी-बेटी का द्वार नही खुलेगा, तब तक शुद्ध हुए लोग अपने को और भी विकट स्थिति में अनुभव करेंगे। और उस शुद्धि को छोड़कर फिर उसी पुरानी 'अशुद्धि' में लौट आयेगे।

पाकिस्तान ४३ वर्ष पहले बन चुका। ईसाइस्तान की नागालैण्ड के रूप मे शुरूआत हो गयी है।

केरल का एक जिला मुसलमान बहुल बनाने की दृष्टि से विनिर्मित हुआ है। यह साम्प्रदायिक आधार पर बिखराव के चिन्ह है। सिखिस्तान, द्रविणिस्तान की माँगे अपने स्थान पर कायम हैं। उनके कारण प्रत्यक्ष चाहे जो कहे बताये जाते हो, पर मूलत हिन्दू धर्म की दुर्बलता ही उसका कारण है। इसी ने एकता मूलभूत जातीय आधार को खोकर विलगाव और बिखराव के हेय तत्वों को अपने भीतर गहराई के साथ प्रश्रय दिया हुआ है। अलग राज्यों की माँ
पर भी हर जाति बिरादरी का अपना
समाज बना हुआ है। एक छोटे वर्ग के दायरे में ही रोटी-बेटी का व्यवहार करते और अन्य वर्ग के लोगों को 'अपने से पृथक् ही नही, नीच हेय भी मानते है।

जातियो और उपजातियो के नाम पर यह पृथकतावादी विष इतना गहरा घुस गया है कि वस्तुत. हिन्दू जाति कहने भर को एक जाति है अन्यथा उसमें नारंगी के अन्दर फाँक वाला दयनीय दृश्य ही दिखाई पड़ रहा है। यह हजारो जातियो-उपजातियों में बँटी-बिखरी पड़ी है। और पारस्परिक सहयोग के सूत्र पूरी तरह छिन्न-भिन्न हो रहे हैं। यह रोग यहाँ तक बढ़ा है कि अब राजनैतिक चुनावो मे भी जाति-बिरादरी के ही प्रधान-प्रश्रय मिलने लगा है। वोट माँगने और देने में लोग जाति पक्ष के लिये अधिक आकर्षित, प्रभावित होते हैं। सवर्णो मे भी एक जाति में भी उपजातियों के आधार पर नीच-ऊँच का हिसाब लगाया जाता है। फिर अन्य जातियों को ऊँच-नीच के हिसाब से नापा-तोला जाय तो आश्चर्य ही क्या है?

पाकिस्तान क्या है? कितना है? कैसा है? इसकी विवेचना, बहुत अधिक महत्त्वपूर्ण नही है। हमें उसके पीछे सन्निहित अपनी उन दुर्बलताओ को ही साकार बनाकर खड़ा देखना चाहिये, जो पिछले दिनो हमारे जातीय जीवन में भयावह विकृतियों के रूप में, गहराई तक प्रविष्ट हो गयी हैं। एक शब्द में पाकिस्तान का वर्णन करना हो तो उसे हमारी सास्कृतिक, धार्मिक, एवं दार्शनिक भ्रष्टता का मूर्तिमान अभिशाप कह सकते है। अन्यथा जो मुट्ठी भर विधर्मी बाहर से आये वे हमारी भूतकालीन यदि महानता जीवित रही होती तो उसी में घुलकर आत्मसात हो गये होते । यदि हमारी चिन्तन भ्रष्टता उत्पन्न न हुई होती तो निश्चय ही नक्शा आज से सर्वथा भिन्न का होता। तब भारत दिन
घटता- देता। नेफा, आक्साई,
लंका, , न गिनना पड़ता।
और पृथक्-पृथक् न
के आदर्श
हो

बंग देश—बंगला देश

बंगला देश १५ अगस्त १९४७ तक भारत ही था। यह अभिन्नता लाखो वर्ष से चली आ रही थी। इससे पूर्व कभी किसी ने कल्पना भी नहीं की थी कि बंगाल जो अन्य प्रान्तों की तरह इस देश का अविछिन्न अंग था, कटकर अलग हो जायेगा।

अंग्रेजी सरकार ने सन् १९०४ मे यह प्रयत्न किया था कि शासन-व्यवस्था की सुविधा की दृष्टि से बगाल को दो भागों में विभाजित कर दिया जाय। उस योजना के विरुद्ध अत्यन्त तीव्र प्रतिक्रिया हुई। बंग-भंग आन्दोलन चला। बंगाली अपनी एकता के इस छोटे आधार पर थोड़ी-सी भी चोट पड़ना सहन नहीं कर सकते थे। अस्तु आन्दोलन ने अग्र रुप धारण किया और अन्ततः अंग्रेजों का वह विभाजन रद्द करके पूरा बंगाल एक ही रहने देने के लिये बाध्य होना पड़ा।

इसे दुर्भाग्य का एक दौर ही कहना चाहिये कि भारत को स्वतंत्रता के साथ-साथ विभाजन का अभिशाप भी सहन करना पड़ा। एक बड़ा भू-भाग पाकिस्तान के रूप में कटा, जिसमे से सिन्ध और पजाब प्रान्त पच्छिमी पाकिस्तान में चले गये और बंगाल आधा कटकर पूर्वी पाकिस्तान बन गया। विभाजन की कटुता अब ४३ वर्ष बीत जाने पर भी दूर नही हो पायी है।

जनसंख्या की दृष्टि से पच्छिमी पाकिस्तान पूर्वी पाकिस्तान से कम था। फिर भी पंजाबी मुसलमान हर तरह से बंगालियो का शोषण करने पर तुले थे। उनकी भाषा, संस्कृति, भावना, परम्परा सब कुछ नष्ट करके उन्हें अरब बनाने के लिये चोटी-एड़ी का पसीना एक कर रहे थे। बंगाली भाषा समाप्त कर उसके स्थान पर उर्दू अपनाने के लिये उन्हें बाध्य किया जा रहा था। बंगाली एक प्रकार से दूसरे दर्जे के नागरिक थे। उनका किस हद तक शोषण संभव है, इसी के ताने-बाने लगातार बुने जा रहे थे। बात जब अति की सीमा तक पहुँच गयी तो शेख मुजीबुर्रहमान के नेतृत्व में विद्रोह फूट पड़ा। सभी जानते है कि उसे दबाने के लिये पंजाबियो ने ऐसा नृशंस कत्लेआम किया, जिसकी तुलना इतिहास मे कही कदाचित ही मिल सके। ३० लाख से अधिक देशभक्त नागरिकों को मौत के घाट उतार दिया गया। अपहरण, बलात्कार, लूट-खसोट, दमन के अन्य तरीको का तो कहना ही क्या? उस बर्बरता से भयभीत बंगाली प्रजाजनों मे से करीब एक करोड़ भाग कर शरणार्थी के रूप मे भारत चले आये। इस दबाव को भारत कब तक सहता? अन्ततः उसने विद्रोहियों को सहायता भेजी। जमकर लड़ाई हुई और बगलादेश स्वतंत्र हो गया। अब उसका अपना स्वतंत्र अस्तित्व है।

विभाजन से पूर्व बंगला देश भी विशुद्ध रूप से भारत ही था। भारत और बंगाल का प्राचीन इतिहास एक है। देश के अन्य प्रान्तों की तरह वहाँ भी एक ही संस्कृति, एक ही परम्परा रही है।

बगलादेश का प्राचीन नाम बंगदेश है। चिरकाल पूर्व यहाँ पौण्ड्र वशी राजा राज्य करते थे, पीछे सेन-वशियों का शासन हुआ। पूरा क्षेत्र हिन्दू धर्मानुयायी था और संस्कृत राजभाषा थी। सन् ९०० से ११०० तक दो सौ वर्ष बौद्ध धर्मानुयायी पाल वशी राजाओ का शासन रहा। उन दिनो पाली राजभाषा बनी। अन्तिम राजा लक्ष्मण सेन थे। उनके समय इस्लामी धर्म-प्रचारक वहाँ पहुँचने लगे थे। उन्ही दिनो एक तुर्की फकीर थे-शेख जलालुद्दीन तिवरी। राजा लक्ष्मण सेन उन्हें बहुत मानते थे। उनसे आवश्यक सूचनाये पाकर सन् १२०४ में तुर्क सरदार मुहम्मद बख्तियार खिलजी ने हमला कर दिया। केवल १८ घुड़सवारो से उसने महल पर कब्जा कर लिया और लक्ष्मण सेन भाग खड़े हुए। इसके बाद क्रमशः बंगाल के सुविस्तृत क्षेत्रो पर मुसलमानो का कब्जा होता चला गया और इस्लाम धर्म फैलना आरम्भ हो गया।

बंगलादेश का क्षेत्रफल ५५१२६ वर्गमील है, समुद्री सीमा ४३० मील। पिछली जनगणना के अनुसार वहाँ की जनसंख्या सात करोड के लगभग मानी गयी थी। बंगला देश संसार के सबसे घने बसे देशो मे से है। औसत आबादी एक वर्गमील पीछे ९५० व्यक्ति है। ढाका जिला घनेपन की दृष्टि से संसार भर मे सबसे आगे है। वहाँ प्रति वर्गमील १७६८ मनुष्य बसते है। इस क्षेत्र के मुंशीगंज क्षेत्र में यह औसत बढ़कर प्रति वर्गमील २५०० व्यक्तियो

तक जा पहुँची है। लोहागंज तो और भी ज्यादा विचित्र है, वहाँ प्रति वर्गमील ३ हजार व्यक्ति रहते हैं। इस देश की ९६ प्रतिशत जनता देहातों में निवास करती है। गरीबी और घनेपन को देखते हुए यहाँ जन्म-दर बहुत बढ़ी-चढ़ी है। जिस हिसाब से बच्चे पैदा हो रहे है, उसे देखते हुए जनसंख्या दस वर्ष मे दूनी हो जायेगी और नये-नये सकट उत्पन्न करेगी।

ढाका का नामकरण ढाकेश्वरी देवी के नाम पर हुआ है। यह प्राचीन मन्दिर सुविख्यात है। प्राचीन काल के बौद्ध मन्दिरों की इस नगर में भरमार है। उनमे से कितने ही फूटे पड़े हैं, कितनों में ही भिक्षुओं का निवास है, कुछ मठ वर्मा शैली पर बने हैं,।

चटगाँव जिला वर्मा सीमा से मिला है। इस क्षेत्र में अधिकांश लोग बौद्ध धर्मावलम्वी हैं। कुमिल्ला से पांच मील आगे खुदाई होने पुर 'मेनामति' नामक प्राचीन नगर के ध्वंशावशेष मिले हैं, जिनमें हिन्दू तथा बौद्ध मन्दिरों, स्तूपो, मठो की भरमार है। यह सातवी सदी के बौद्ध धर्म का केन्द्र रहा है। उपलब्ध सिक्को और प्रतिमाओ से इस सांस्कृतिक केन्द्र की गौरव गाथा पर अच्छा प्रकाश पड़ता है। राजशाही जिला के प्रहाड़पुर नगर मे अत्यन्त विशालकाय बौद्ध विहारों के अवशेष हैं। यह पहाड़ जितना ऊँचा दिखाई देने से ही पहाड़पुर कहलाता हैं।

पिछली जन-गणना के अनुसार बंगला देश मे हिन्दुओं की आबादी लगभग एक करोड़ थी। रंगपुर दीनाजपुर, फरीदपुर, ढाका और खुलना जिलो में हिन्दुओं की संख्या अधिक थी। फरीदपुर जिले में हिन्दुओं का बहुमत था। बौद्धों की आबादी भी चार लाख के लगभग थी। हिन्दू संख्या की दृष्टि से अल्पमत होने पर भी सांस्कृतिक दृष्टि से वहाँ हिन्दू संस्कृति का प्राधान्य है। वेश-भूषा, भाव, भाषा, साहित्य, सभ्यता में पूरी भारतीयता है। इस देश के निवासी कट्टरपन्थी नही हैं। उनका हिन्दू धर्म के प्रति न तो द्वेष है और न असहिष्णुता का भा।

अब बगला देश की राजभाषा बगाली है, बगाली साहित्य भारतीय संस्कृति की छाया से पूरी तरह अनुप्राणित है। धर्म की दृष्टि से वहाँ मुसलमानो का बाहुल्य है, पर भाषा, वेश, भाव आदि की दृष्टि से हिन्दू बंगाली और मुसलमान बंगाली में कोई विशेष अन्तर नही है। जो विष पिछली शताव्दी में वहाँ फैलाया गया और पृथकता तथा घृणा का वातावरण उत्पन्न किया गया, अब समय है जब उसे आसानी से धोया जा सकता है और भौगोलिक न सही-सांस्कृतिक एकता का शिलान्यास किया जा सकता है।

प्रवासी भारतीयों की वर्तमान स्थिति

प्रवासी भारतीयों की संख्या संसार भर मे फैली हुई है। वे न्यूनाधिक मात्रा में १२६ देशों में बसे हुए हैं। पिछली जानकारियों के आधार पर वर्मा मे ३ लाख, मलेशिया में ९ ॥ लाख, इण्डोनेशिया, थाईलैण्ड आदि पूर्वी द्वीप समूहों में १२ लाख, मौरीशस मे ७ लाख, गायना मे ३ ॥ लाख, ट्रीनीडाड में ३ लाख, फिजी में ३ लाख बसे हैं। मौरीशस मे वे ६७ प्रतिशत और फिजी तथा गायना मे आधे और ट्रिनिडाड मे एक तिहाई हैं। फिजी से पिछले दिनों भारी सख्या में भारतीयो का पलायन हुआ है।

ससार के विभिन्न भागों में भारतीय सुशिक्षित प्रतिभाये जाकर बस गयी हैं। सन् १९८८ की जानकारी के अनुसार इनमे ९४९७ चिकित्सा वैज्ञानिक १७५६७ इंजीनियर, १२५०० टैक्नीशियन, ६०६ गणितशास्त्री, ३०५ समाजशास्त्री थे। भारत की अपेक्षा अधिक आर्थिक सुविधाये पाने के प्रलोभन में ही इन्हे अपनी मातृभूमि का मोह छोड़कर अन्यत्र जाना पड़ा है।

पिछले दिनो राष्ट्रवाद की जो हवा संसार भर में फैली है, उसके कारण विदेशियों को अपने देश से खदेड देने की लहर सर्वत्र बह रही है। उसकी चपेट में उन भारतवासियों को भी आना पड़ा है, जो उन देशो में पीढ़ियों से बसे हुए है और स्थायी नागरिक बन गये हैं। उदार देशों का दृष्टिकोण दूसरा है। वे भारतीयो की श्रमशीलता एवं पूँजी का लाभ लेना चाहते हैं और न्याय का आदर करते है, पर जहाँ सकीर्ण राष्ट्रवाद है, वहाँ अपनों को ही रहने देने की प्रवृत्ति चल रही है, अन्यो को उखाड़ा जा रहा है। अल्पसंख्यक होने के कारण उनके पैर उखड़ जाते है। विशेष कर उनके

जिन्हें स्थिर नागरिकता प्राप्त नहीं हुई है और अस्थायी परिपत्रों पर वहाँ निवास कर रहे है। वहाँ की सरकारें जब अधिक दिन ठहरने की आज्ञा नहीं देती, तब उन्हें अन्यत्र जाना पड़ता है।

इन परिस्थितियो मे किस देश मे प्रवासी भारतीयों की कितनी संख्या है? इसकी सही गणना बतला सकना कठिन है, पर पिछले दिनो जो सर्वेक्षण किया गया है, उसके अनुसार संसार के प्राय: १२६ देशों में लगभग पौने तीन करोड़ भारतीयो की जानकारियाँ प्राप्त हुई है। इनका विवरण इस प्रकार है—

अफगानिस्तान	३०,०००	सीलोन	१२,३४,१२६
अदन	६,०००	चायना	५,९२०
अलजीरिया	१,१३२	चीली	३६३
अर्जेण्टीना	१,१६०	कोलम्बिया	२३४
आस्ट्रेलिया	५५,१०८	कैमार्सद्वीप	८५
आस्ट्रीया	१,६५०	काँगो	६,०००
बेहरीन	१५,५००	क्यूबा	३२०
बारबोडोज	१,५१२	साइप्रस	८०
बेलजियम	२,३७७	चेकोस्लोवाकिया	११०
बोलीविया	३५	दहोमे	२०
बोस्टवाना	७१०	डेनमार्क	२,५६०
ब्राजील	३,३००	ईथोपिया	४५,२००
बुलगारिया	(अप्राप्य)		
वर्मा	२,५२,०००	फीजी	१,४१,०००
बुरुण्डी	३७५	फिनलैण्ड	२८०
कम्बोडिया	९८०	फ्रेंच गायना	३२०
कैमरून	३२०	फ्रांस	११,२००
कनाडा	८०,०००	घाना	३,७५०
ग्रेनेडा	९,५००	जिब्राल्टर	२५०
ग्रीस	३१३	लीबिया	१,९३५
गायना	४,७४,०००	साईबेरिया	(अप्राप्य)
हाँगकाँग	८से१०हजार	मेडागास्कर	२६,०००
हगरी	४४५	मलावी	२१,०००
इण्डोनेशिया	३५,०००	मलेशिया	१२,५०,०००

ईरान	५,१००	मालटा	१००
इटली	५,७६१	मौरीशस	६,२०,०००
ईराक	१३,५७०	मेक्सिको	५२०
आयरलैण्ड	९५०	मोरक्को	१,५४०
जमैका	२९,९५१	मुसकाट	५,५००
जापान	११,१४१	नीदरलैण्ड	५०२
जोर्डन	५३९	न्यूजीलैण्ड	१६,१३०
केन्या	१,५२,३००	नाइजीरिया	१३,७००
कुवैत	३६,०००	नार्वे	१,१३५
लाओस	३,८००	पनामा	१,३६१
लेबनान	१,३६५	फिलीपाइन्स	३,५१६
पेरू	५१०	पोलैण्ड	५६७
क्वेटार	३,०००	सीरिया	१,१००
रुमानिया	४४९	तन्जानिया	१,१२,०००
रूवेण्डा	५४०	थाईलैण्ड	३८,०१४
सऊदी अरब	११,०३५	ट्रिनीडाड व टोबेगो	४,८०,०००
सेगेनल	३७३	टोगो	२४
आईवरी कोस्ट	५१	टोंगा	३६
जाम्बिया	२८,६००	ट्रांसीयल स्टेट्स	५,०००
सैरा-लीओन	४२५	ट्यूनीशिया	५३०
सिंगापुर	१,३९,०००	टर्की	६११
सोमालिया	११,३६०	यूनाइटेडअरबरिपब्लिक	११,०००
जिमबाम्बे	१९,१००	युगाण्डा	७६,६००
स्पेन	११,६००	यू. के.(इंग्लैण्ड)	१२,७०,०००
सेंट विनसेट	१३,७०३	उरुग्वे	९९०
सूडान	१२,५५०	यू.एस.ए. (अमरीका)	२,४२,०६२
सूरीनाम	१,९९,०००	यू.एस.एस.आर (रूस)	१,१८,०००
स्विट्जरलैण्ड	५,९००	वेन्येजुला	१से ५हजार
वेस्ट जर्मनी	१,४६,८१०	वियतनाम	१३,०००
युगोस्लाविया	१,९६६	यमन (उत्तर)	१,६२१

प्रवासी भारतीय के विदेशों में पहुँचने, वहाँ बसने, पैर जमाने और उन क्षेत्रों की प्रगति में सहायता करने के खोजपूर्ण विवरण कितनी ही पुस्तकों मे मिलते है, जिनमें से कुछ के नाम यहाँ दिये जाते हैं— बेण्डेल

थामस लिखित— "हिन्दुइज्म इन वेडस अमेरिका"— अनिरुद्ध गुप्ता लिखित— "इण्डियन ऐब्रॉड, एशिया एण्ड अफ्रीका"-सीनप्पा— आर्य रत्नम् लिखित- "इण्डियन इन मलेशिया एण्ड सिंगापुर"— जार्ज डेल्फ *लिखित— "एशियन्स इन ईस्ट अफ्रीका"— एड्रीअन* सी मायर लिखित "इण्डियन इन फीजी"— रश्मि देसाई लिखित— "इण्डियन इमीग्रैण्ट्स इन ब्रिटेन"— लैम्बर्ट रिचार्ड लिखित— "इण्डियन स्टूडेण्ड्स आन ऐन अमरीका केम्पस" डा. ब्रीजनिंग लिखित— "सुरीनाम"— राबिन ब्रेयन्स लिखित— "ट्रिनिडाड एण्ड टाबेगो" बर्टन बेनीडिक्स लिखित—"इण्डियन्स इन प्लूरल सोसायटी"— मेगेण्टी बैपीनीज लिखित "इण्डो कम्बोडिया" आदि पुस्तके प्रवासी भारतीयो की स्थिति पर अच्छा प्रकाश डालती है।

प्रो. हेरन ने अपनी पुस्तक "हिस्टोरिकल रिसर्चेज" मे भारतीयों के प्रवास उत्साह का विश्लेषण करते हुए निष्कर्ष निकाला है कि "धर्म प्रचार एवं विश्व कल्याण" जैसे उच्च आदर्शों के अतिरिक्त एक कारण यह भी था कि उन दिनो कृषि योग्य जितनी भूमि थी एव निर्वाह के साधन थे, उसे देखते हुए जनसख्या बढ़ती जाती थी। बुद्धिमान लोगों ने यह उचित समझा कि उतनी छोटी सीमा मे मरते-खपते रहने की अपेक्षा क्यो न निकटवर्ती उन देशों मे जाकर बसा जाय जहाँ प्राकृतिक सुविधाओ के अतिरिक्त वहाँ के निवासियो की सेवा सहायता का प्रयोजन भी पूरा किया जा सकता है। ऐसे ही कई कारणो से विदेश प्रवास का उत्साह जागा और वह आगे बढ़ा। उन दिनों छोटे-छोटे राजाओ की पारस्परिक प्रतिस्पर्द्धा से आये दिन होने वाले युद्ध और तज्जनित अव्यवस्था भी प्रतिभाशाली लोगो को प्रवास के लिये प्रोत्साहित करने लगी थी।

"इण्डिया इन ग्रीस" ग्रन्थ के विद्वान् लेखक पीकाक ने महाभारत युद्ध की प्रतिक्रियाओ पर विस्तृत प्रकाश डालते हुए उसका एक परिणाम यह भी बताया है कि "प्रतिभाशाली व्यक्ति भारत की शान्ति-व्यवस्था मे गडबड़ी देखकर वहाँ से बाहर निकल पड़े और सुदूर देशों मे जाकर उन्होंने अपनी बस्तियाँ बसायी [illegible]

आसाधारण योगदान दिया। भारतवर्ष की उस युद्ध से भले ही कुछ हानि हुई हो, पर पड़ौसी देशों ने उन प्रतिभाशाली व्यक्तियो के सहारे अपनी पिछड़ी हुई परिस्थितियों से त्राण पाने में उत्साहवर्धक लाभ *उठाया। एशिया और अफ्रीका के अधिकांश देशों में* इन प्रतिभाशाली व्यक्तियो ने कृषि, वाणिज्य, पशुपालन, शिल्प, कला, संस्कृति, धर्म, चिकित्सा, शिक्षा, समाज, व्यवस्था, युद्धकला, नौकानयन, शासनतन्त्र आदि की ऐसी सुखद उपलब्धियाँ प्रस्तुत की जैसे वहाँ पहले कभी नही रही थी।

पाश्चात्य लोगो का दृष्टिकोण भले ही यह रहा है कि भारतीयो का विदेश प्रवास आर्थिक लाभ एवं सुविधा सम्पादन के लिये हुआ, किन्तु तथ्य इसके सर्वथा विपरीत है। भारत की स्थिति भूतकाल मे हर दृष्टि से विदेशो की अपेक्षा अच्छी थी। वे इतनी कष्टकर इतनी लम्बी यात्राये करके उन देशो मे क्यों जाते जो स्वयं ही गई-गुजरी स्थिति मे रह रहे थे, जहाँ जाकर कुओं खोदना और पानी पीना ही संभव था। वास्तव मे भूतकाल मे विश्व सेवा का उद्देश्य लेकर ही भारतीय विश्व के कौने-कौने मे गये थे।

हाँ, अग्रेजी शासन के जमाने की बात दूसरी है। उनने अपने अधिकृत भागो को सरसब्ज बनाने के लिये भारत के श्रमिको को तरह-तरह के प्रलोभन देकर *निर्यात किया और उनके श्रम से अपनी औपनिवेशिक* सम्पन्नता बढाई। उस श्रमिक निर्यात् व्यवस्था के पृष्ठ अवश्य ही बहुत कष्टदायी है। उन दिनो भारतीयो का शोषण, दोहन उसी प्रकार का था जैसा कि अफ्रीका के गोरे लोग काले लोगो को पकड़कर दास बना लेते थे *और उनसे अमेरिका आदि* मे ले जाकर पशुओ जैसा काम लेते थे। उन दिनो नि.संदेह वे श्रमिक गरीबी और अशिक्षा के कारण ही बहकाकर अन्यत्र ले जाये गये थे।

अंग्रेजो का सितारा जिन दिनों चमक रहा था उन दिनो वे अधिकाधिक भू-भाग पर अपना कब्जा जमाते चले गये। उन दिनो ब्रिटेन संसार मे पहले दर्जे की शक्ति थी। उपनिवेशो का विस्तार इतना अधिक कर लिया था, जिसमे कभी सूर्य अस्त नहीं होता था। [illegible]

सभी महाद्वीपो में अंग्रेजो का बोलबाला था। कब्जा किये क्षेत्रो को बसाने और वहाँ उत्पादन आरम्भ करने के लिये श्रमिकों की आवश्यकता थी। यह श्रम शक्ति उन्हें भारत से प्राप्त करना उचित लगा, सो उन्होंने यहाँ से सुलभ वेतन मे शर्तबन्दी प्रतिबन्धों के अन्तर्गत श्रमिक प्राप्त किये और उन्हें उपनिवेशो में भेजना आरम्भ कर दिया।

ब्रिटिश उपनिवेशो मे जहाँ भारतीय कुलियों को बड़ी संख्या मे भेजा, उनमे ट्रिनिडाड, ब्रिटिश गायना, सुरीनाम, (डच गायना) जमैका, फिजी, बारबेडीज, लीवाडेस, मौरीशस को मुख्य माना जा सकता है। यो उन्हें अन्यान्य देशों को भी निर्यात किया गया था। वे भी या तो अंग्रेजों के पूर्ण आधिपत्य मे थे या उनके गहरे स्वार्थ वहाँ जुड़े हुए थे। इन देशो मे मलाया, गिलवर्ट द्वीप, हाँगकाँग, न्यूजीलैण्ड, स्टेट सैटिलमेण्टस, युगाण्डा, जंजीबार, सेण्ट लुशिया, ग्रनेडा, केनिया, तजानिया, सिसलीज, वाहावान, सियरालियोन, बरवेडीज, नाइजेरिया, होंडुरास आदि का उल्लेख किया जा सकता है। थोड़ी-थोड़ी संख्या में तो अनेक देशों को गये थे। इनमें कुछ ऐसे थे, जो एक देश में पहुँचाये जाने के बाद उन देश वालों ने उनका निर्यात दूसरे देश के लिये कर दिया।

सन् १८४२ से लेकर सन् १८७० के बीच २८ वर्षों में तरह-तरह के प्रलोभन देकर निर्यात किये गये भारतीय कुलियो की संख्या इस प्रकार थी— मौरीशस को ३५१४०१ ट्रिनिडाड ४२५१९ पश्चिमी द्वीप समूह को ७०२० नेटाल ६४४२७ फ्रांसीसी उपनिवेशो को ३१३४६।

राजनैतिक दृष्टि से जो जिस देश का नागरिक है, उसे वहाँ का निवासी कहा जायेगा, भले ही वह या उसके पूर्वज कही भी रहे, जन्मे हों। विदेशो मे रहने वाले भारतवासियो मे से अधिकाश ने उन्हीं देशों की नागरिकता ले ली है। इसलिये राजनीतिक दृष्टि से वे अंग्रेज, अमेरिकन, फ्रासीसी, अफ्रीकी, वर्मा आदि ही कहे जायेंगे, पर प्रवासी भारतीयों से अपना मतलब दूसरा है। जो भारतीय धर्मानुयायी है, जो भारतीय मूल के हैं, जो अपनी धर्मभूमि भारत को मानते है और भारतीय सस्कृति जिनके जीवन व्यवहार में आती है, ऐसे लोगो को सांस्कृतिक दृष्टि से हम भारतीय कहते है और चूँकि वे भारत से अन्यत्र गये है, इस कारण उनको प्रवासी के नाम से संबोधित करते है। प्रवासी भारतीयो की हमारी व्याख्या उनसे भिन्न है, जो राजनैतिक क्षेत्र मे की जाती है।

हमारी व्याख्या के अनुसार अन्य देशो मे रहने वाले भारतीयो का वर्गीकरण इस प्रकार किया जा सकता है, (१) नेपाल, वर्मा, भूटान, बंगलादेश, पाकिस्तान और श्रीलंका मे रहने वाले हिन्दू। अब खण्ड विभाजन की राजनीतिक परिस्थितियो ने उन्हे पृथक् कर दिया है। (२) जो कभी कुली प्रथा के अन्तर्गत अग्रेजो ने अपने अथवा अपने मित्र देशो के उपनिवेश बसाने के लिये अन्य देशों मे भेजे थे और अब वे वही बस गये जैसे मलेशिया, जमैका, अफ्रीका, सुरीनाम, ट्रिनीडाड, गायना, मौरीशस, फिजी आदि। कनाडा और केलीफोर्निया में बसे हुए पंजाबी किसान खेती उद्योग के लिये ले जाये गये थे, पर अब वे वहीं के निवासी बन गये है। (३) वे लोग जो व्यापार के उद्देश्य से वहाँ गये और अब वे वही बस गये है। इनमें कारीगर, शिल्पी नौकरी पेशा लोग भी है, वे थोडी संख्या मे प्रायः संसार के हर देश मे पाये जाते है। (४) जो हजारो वर्ष पूर्व भारत से आये थे या उसी देश मे से भारतीय संस्कृति में दीक्षित हुए थे, ऐसे लोग अफगानिस्तान, इण्डोनेशिया और बाली द्वीप मे रहते थे।

विदेशी लेखको ने विदेश गमन करने वाले भारतीयो पर जो केवल धन कमाने के लिये वहाँ जाने का आक्षेप किया है, वह चिर अतीत के प्रवासियो पर लागू नही होता। हजारों वर्ष से भारतीय प्रतिभाये विश्व के कोने-कोने में जाती रही है, उनका एक मात्र प्रयोजन "वसुधैव कुटुम्बकम्" की मान्यता के अनुसार सर्वत्र कल्याणकारी परिस्थितियो, प्रगति एव समृद्धि का अभिवर्धन था।

विदेशों में भारतीयता प्रेमी संगठन

विदेशो मे ऐसी अनेको संस्थाये है, जो भारतीयो और विदेशियो के बीच स्नेह-सौहार्द्र पैदा करने और पाश्चात्य सस्कृतियों एवं वर्गो को एक-दूसरे को

समझने-निकट लाने के लिये पथ प्रशस्त करती रहती है। भारतीय धर्मों को विदेशो में लोकप्रिय बनाने के एवं प्रवासी बन्धुओ को अपनी परम्पराये समझते रहने की दिशा में जागरूक बनाती रही है। भारतीय धर्म अनेक धाराओ मे प्रवाहित होता है, इन सभी सम्प्रदायों के प्रचारकर्त्ता उन देशों में पहुँचते हैं और अपनी मान्यताओं के अनुसार प्रचार संगठन और प्रयत्न करते रहे है, उनके प्रभाव से कितने ही संगठन विदेशों में बने और फले-फूले है।

कितनी ही संस्थायें ऐसी हैं जो प्रवासी भारतीयो द्वारा अथवा उन देशो के अन्य निवासियों द्वारा स्थापित की गयी है। इनका उद्देश्य भी यही रहा है कि भारतीय तत्वदर्शन का प्रकाश उन देशों तक पहुँचे और उस देश की जनता भी उस कल्याणकारी चिन्तन के समीप आकर अधिक लाभान्वित हो सके।

अन्य देशो मे चलते रहे एव चल रहे कुछ संगठनों के नाम इस प्रकार हैं—

"इण्डियन कौन्सिल ऑफ कल्चरल रिलेशन्स" नामक सगठन ने विदेशों में भारतीय प्रवासियों के समुदाय की सांस्कृतिक माँगो की पूर्ति करने एवं भारतीय संस्कृति मे रुचि लेने वाले विदेशियों को प्रभावित करने के लिये विभिन्न प्रकार की योजनायें हाथ मे ही ली है। उन्होने भारत के बारे मे विदेशो में उच्च विचारधारा बनाने के लिये कई केन्द्रों की स्थापना की है।

"द इण्डियन कौन्सिल फॉर कल्चरल स्टडीज" फिजी, ईरान, लाओस, सिगापुर, ट्रीनीडाड, रुमानिया, युगोस्लाविया आदि में स्थित है। पौलैण्ड मे भी इसकी स्थापना होने जा रही है। इण्डियन स्टडीज के तीन केन्द्र इण्डोनेशिया, अफगानिस्तान और लेबनान में स्थापित किये गये हैं। ये संगठन धार्मिक एवं सास्कृतिक है।

इस शताब्दी के प्रारम्भ में जो सगठन सक्रिय थे, उनमे से जो वर्तमान में भी कार्यरत है वे निम्नलिखित है—

भूतकाल में—द इण्डिया सोसायटी ऑफ अमेरिका, द यूनियन ऑफ ईस्ट एण्ड वेस्ट इण्डिया अकेडमी ओफ अमेरिका, ऑल वर्ल्ड गाँधी फेलोशिप, द गाँधी इन्स्टीट्यूट ऑफ अमेरिका।

वर्तमान मे—यू एस ए— द फेडरेशन ऑफ इण्डियन स्टूडेण्ट्स एसोसिएशन्स एण्ड द कल्चरल-इण्टीग्रेशन फेलोशिप ऑफ सॉन फ्रान्सिसको। आस्ट्रेलिया-द इण्डो-आस्ट्रेलियन सोसायटीज एट मेलबोर्न, सिडनी, केनबेरा एडेलाईड व पर्थ।

वर्मा—द सनातन धर्म स्वयंसेवक संघ, आर्य समाज, ऑल वर्मा हिन्दू सेण्ट्रल बोर्ड एण्ड सिख एण्ड जैन एसोसिएशन्स, द इण्डियन म्यूजिक एण्ड आर्टस सोसायटी।

सीलोन—द सीलोन इण्डियन कॉग्रेस।

मलेशिया—इण्डियन (स्ट्रेट्स-सेटलमेंट्स) द नेगरी सेम्बीलन इण्डियन एसोसिएशन, द कोस्टल इण्डियन एसोसिएशन लॉग द इण्डियन मर्चेण्ट्स चेम्बर, द चेट्टियर नट्टकोटि चेम्बर ऑफ कॉमर्स।

जापान—इण्डियन क्लब, द इण्डियन सोशल क्लब, द इण्डियन लेडीज क्लब ये कोबे में स्थित हैं। द याकोहामा सिल्क मर्चेण्ट्स एसोसिएशन, द इण्डियन स्पोर्टस क्लब, द पारसी क्लब। जापान इण्डिया सोसायटी, टोकियो व कोवे मे है।

बार्सीलोना व मैडक—द फ्रैण्ड्स ऑफ इण्डिया एसोसिएशन।

चेकोस्लोवाकिया व पोलैण्ड—द जेक इण्डिया सोसायटी प्रेग, द इण्डो-पोलिश फ्रैण्डशिप सोसायटी।

डेनमार्क—द डेनिश इण्डियन सोसायटी, कोपेन हेगेन।

पेरिस—एसोसिएशन्स ऑफ इण्डियन स्टूडेण्ट्स।

यू. एस. एस. आर—द इण्डियन स्कालर्स एसोसिएशन मास्को, लेनिन ग्राड व कीव।

यू ए आर—इण्डो- यू ए आर फ्रैंडशिप सोसायटी।

यूगाण्डा—द सेण्ट्रल कौंसिल ऑफ इण्डियन एसोसिएशन, इण्डोसूडानीज फ्रैण्डशिप एसोसिएशन खारतुम।

नाटाल—कालोनियल बॉर्न सेटलर्स-इण्डियन एसोसिएशन-नाटालइ इण्डियन टीचर्स सोसायटी- हिन्दू तमिल इन्स्टीट्यूट। इण्डो- यूरोपियन कौंसिल।

यू. के.—वाय. एम. सी. ए. इण्डियन स्टूडेण्ट्स होस्टल्स रॉयल एशियाटिक सोसायटी, लन्दन कॉमनवेल्थ इन्स्टीट्यूट, लन्दन।

फिजी— गाँधी सोसायटी, सूबा।

ब्रिटिश गायना-ईस्ट इण्डियन एसोसिएशन, ईस्ट इण्डियन लेडीज गिल्ड मुस्लिम लाइब्रेरी, एसोसि. महामण्डल सभा।

सूरीनाम—माता गौरी ट्रस्ट

मौरीशस—इण्डियन फ्रैंडशिप सोसायटी, पोर्ट लुईस फिलीपाइन्स—फिलीपाइन्स इण्डिया सोसायटी. मलाया।

ट्रिनिडाड एण्ड टोबेगो—ईस्ट इण्डियन लिटरेरी लीग, पोर्ट ऑफ स्पेन-ईस्टर्न इण्डियन लिटरेरी एण्ड डेबेटिंग क्लब-ट्रिनीडाड, ईस्ट इण्डियन लिटरेरी लीग-यंगमेन्स मुस्लिम एसोसिएशन।

जमैका—ईस्ट इण्डियन एसोसिएशन।

डेमास्कस—(दमिश्क) इण्डो सीरियन क्लब।

तेहरान—इण्डो ईरान कल्चरल एसोसिएशन।

इस्तंबुल व अंकारा—इण्डो-टर्किश कल्चरल एसोसिएशन

केलीफोर्निया—(अमरीका) की दो संस्थायें—

(१) एशियन स्टडीज के लिये केलीफोर्निया की यही एक मात्र संस्था है, जो एम. ए. पी., एच. डी. के लिये पूर्व-पश्चिम के तुलनात्मक अध्ययन एवं एशियन संस्कृति के अन्वेषण के लिये अधिकृत है। (२) यही एक ग्रेजुएट स्कूल है जहाँ प्रसिद्ध एशियाई विद्वान एशियाई भाषा में पढ़ाते हैं तथा अपनी सांस्कृतिक प्रक्रियाओं के अन्तर्गत दर्शन, शास्त्र, धर्म, समाज विज्ञान, व्यक्तित्व शास्त्र, आत्म साक्षात्कार हेतु मनो-भौतिक नियमों की व्याख्या स्वाभाविक रूप से करते हैं।

डिस्पेन्सरीज व कल्याणकारी समितियाँ—

नाटाल—बालजी हीरजी खोजा फ्री डिस्पेसरी, इण्डियन मेटर्निटी होम, सोशल सर्विस लीग, फ्री डिस्पेसरी ऑफ मोम्बासा, इण्डियन मेटर्निटी होम, नैरोबी, सूरत हिन्दू एसोसिएशन-इण्डियन सोशल सर्विस कमेटी, आर्यन बेनीवॉलेण्ट होम, इण्डियन चाइल्ड वेल्फेयर सोसायटी।

मन्दिर एवं पूजास्थल-हिन्दू धर्म सभा, हिन्दू सभा, आर्य समाज सैगोन, जैन मन्दिर, सिक्ख गुरुद्वारा खोजा खाना-आर्य समाज मन्दिर-जामिया मस्जिद-हिन्दू यूनियन टेम्पल, सनातन धर्म सभा मन्दिर, नैरोबी।

"खालसा दीवान सोसायटी" या "फ्री" डिवाईन कम्यूनियन"। ब्रिटिश कोलम्बिया में १९०७ में वेन्कोवर में स्थापित किया गया, उसी अवधि में पेसीफिक कोस्ट खालसा दीवान सोसायटी भी स्थापित हुई।

भारतीय संस्थाओं द्वारा प्रचार कार्य—

रामकृष्ण मिशन के केन्द्र, अस्पताल पुस्तकालय, सत्संग भवन, स्कूल आदि अमेरिका के कैलीफोर्निया, सेन फ्रांसिस्को, बर्कले, सेकरेमेण्टो, न्यूयार्क, अर्जेण्टाइना, व्यूनर्स आयर्स आदि स्थानों मे चलते है। लन्दन, पेरिस, जेनेवा, कोलम्बो, फिजी, मौरीशस एवं जापान मे भी उनके केन्द्र व आश्रम है।

आर्य समाज की शाखायें श्रीलका, अफ्रीका, गायना, ट्रिनिडाड, अमेरिका, कनाडा, मलेशिया, इण्डोनेशिया, वर्मा आदि मे है।

महाबोधि सोसायटी ने बौद्ध धर्म का प्रसार कार्य पिछले १५ वर्षों से बड़े उत्साहपूर्वक किया है। जापान, रूस, कोरिया, मंगोलिया, मलेशिया, वर्मा आदि देशों मे बौद्ध धर्म के लोगो से सम्बन्ध बनाना तथा उन्हें प्रोत्साहित करना इसका प्रधान कार्य रहा है।

अरविन्द सोसायटी की शाखायें ब्राजील, कनाडा, फ्रांस, जापान, केनिया, न्यूजीलैण्ड, नेपाल, सिंगापुर, श्रीलंका, स्विट्जरलैण्ड, इंगलैण्ड, पश्चिमी जर्मनी, मलेशिया, जाम्बिया में है।

"हरे राम हरे कृष्ण" आन्दोलन भी कितने ही देशो में लोकप्रिय होने लगा है। विश्व हिन्दू परिषद् के प्रवासी भारतीयो के कितनी ही जगह संगठन हैं? श्री महेश योगी, बालयोगेश्वर, सन्त कृपाल सिंह के द्वारा

कई देशो मे योग प्रसार के केन्द्र एव संगठन बन गये हैं।

युग निर्माण शाखाये प्रायः उन सभी देशो मे हैं जिनमें प्रवासी भारतीय रहते है। जहाँ प्रवासी भारतीय नहीं है वहाँ भी उनकी स्थापना के लिये प्रयत्न चल रहे है।

प्रवासी भारतीयों सम्बन्धी कुछ जानकारियाँ

समुद्र पार के देशो मे लगभग ५० लाख और भारत की सीमाओ से लगे हुए नेपाल, भूटान, पाकिस्तान, बगला देश, लका मे २११ करोड़, इस प्रकार भारत मूल के लगभग तीन करोड भारतीय अपने देश से बाहर रह रहे है। वे लगभग १२५ देशो मे हुए है।

इन प्रवासी भारतीयो की स्थिति का विधिवत् सर्वेक्षण करने के लिये अब तक कोई ठोस प्रयास नही किया गया। इन देशो मे आने-जाने वालो द्वारा अथवा पत्र-व्यवहार से जो सूचना मिलती है, उन्ही के आधार पर यह पता चलता है कि प्रवासियो की स्थिति क्या है? उनकी सही जनसख्या क्या है? इसका भी प्रामाणिक विवरण प्राप्त नही है। यहाँ बैठे हुए उपलब्ध जानकारियो के आधार पर जो पता चलता है, उसी के अनुमानित आधार पर कुछ निष्कर्ष निकालना पड़ता है। कई बार तो इन जानकारियो मे काफी अन्तर भी होता है। आवश्यकता इस बात की है, कि जहाँ भी प्रवासी भारतीय बसे हुए है, वहाँ एक यात्रा की जाय और वस्तुस्थिति का सही विवरण प्राप्त किया जाय। न केवल उनकी जनगणना को, वरन् जिन परिस्थितियो मे वे रह रहे है, उनका जानना और इन भारतपुत्रो के साथ मातृभूमि की स्नेह-शृंखला को सुदृढ बनाना भी आवश्यक है। वर्तमान साधनो से जो थोड़ी-सी जानकारी प्रवासी भारतीयो के बारे मे प्राप्त हो सकी है उसका सक्षिप्त विवरण इस प्रकार है-

अमेरिका—अमेरिका के हार्वर्ड, कोलम्बिया, शिकागो, विस्कोन सीन, कैलीफोर्निया, पेनिन्सेलवानिया ... वद्यालय में संस्कृत की उच्च शिक्षा का प्रबन्ध है। येल विश्वविद्यालय मे विलियम डिवट हिवट ने संस्कृत व्याकरण की जो सुलझी हुई पाठ्य पुस्तकें लिखी है, वे न केवल अमेरिका मे वरन् अन्य देशो मे भी बहुत लोकप्रिय हुई है।

सन् १९७० मे अमेरिका मे भारतीय डाक्टरो की संख्या २५७५ थी। इसके बाद प्रायः ३०० के क्रम से वह संख्या हर साल बढ़ती गयी। इनमे से एक तिहाई न्यूयार्क नगर के इर्द-गिर्द इलाके मे काम करते हैं। उनमे से कितनो को ही सरकारी अस्पताल मे भी काम मिला हुआ है।

सेनफ्रासिस्को से ६० मील दूरी पर स्टाकटन नगर के समीप भारतीयो की एक छोटी बस्ती है। जहाँ भारतीय मूल के पजाबी लोग रहते है और कृषि करते हैं, इनका एक गुरुद्वारा भी है। बीसवीं सदी के आरम्भ मे, जब अमेरिका प्रवेश पर किसी देश के लिये प्रतिबन्ध नही था, उन्ही दिनो ये लोग पंजाब से लगभग एक हजार की संख्या मे गये थे और वही बस गये। इनमे से कृषक लोग इस बस्ती में रहते है और शेष अन्याय नगरो मे अमरीकी नागरिको की तरह विभिन्न व्यवसाय करते है।

पश्चिमी अमेरिका मे कनाडा और कैलीफोर्निया के अंचलो मे कितने ही भारतीय स्थायी रूप से बसे हुए है और अब वे वहीं के नागरिक बन गये है। इनके पूर्वज इस शताब्दी के आरम्भ मे कारीगरो के रूप मे गये थे। पीछे उन्होंने कुछ पूँजी जमा कर ली और कृषि फार्म तथा दूसरे व्यवसाय करने लग गये। इनमे से कितने ही सुसम्पन्न है।

कनाडा—कनाडा मे इन दिनों लगभग ५० हजार भारतीय रहते है। इनमे से अधिकांश विभिन्न कार्यों मे सलग्न कर्मचारी है। कुछ डॉक्टरी-वकालत आदि के पेशो मे भी काम करते हैं। इस देश मे केवल सुयोग्य और उपयोगी विदेशियो को ही ठोक-बजाकर प्रवेश दिया जाता है। रूस द्वारा चेकोस्लोवाकिया पर जब १९६८ में हमला किया गया तो उस समय वहाँ के लगभग १२ हजार निवासी भाग कर [illegible] पहुँचे थे। वहाँ कई गुरुद्वारे [illegible] है [illegible] ने अपनी दाढ़ी और पगड़ी

कनाडा में अन्यान्य क्षेत्रों में फैले हुए भारतीयों में से अधिकतर डॉक्टर, इन्जीनियर, वकील, अध्यापक नर्स आदि हैं। व्यवसाय बहुत ही कम लोग कर पाते हैं। नर्स महिलायें केरल से गयी हैं। छात्र भी विभिन्न प्रकार की शिक्षायें प्राप्त करते हैं। अन्य देशों की अपेक्षा कनाडा में देशी-विदेशी का भेदभाव बहुत ही कम है। कनाडा में बसे भारतीयों में कितने ही असाधारण धनी भी बन गये है। स्व. कपूर सिंह सिद्धू ने बैंकोवर में ५ लाख डालर देकर "कपूर सिद्धू संस्थान" स्थापित किया है।

ट्रिनिडाड तथा टोबोगो—ट्रिनीडाड का द्वीप दक्षिणी-अमरीका के उत्तरी किनारे पर स्थित है। यह भूमध्य रेखा से १० अक्षांश उत्तर और पश्चिम देशान्तर ६१ से ६२ के मध्य स्थित है। ब्रिटिश, वेस्टइण्डीज के द्वीपों में इसकी गणना दूसरे नम्बर पर है, पहला बड़ा द्वीप जमैका है।

ट्रिनीडाड की राजधानी पोर्ट ऑफ स्पेन है। इस नगर की जनसख्या सत्तर हजार है। दूसरे नगर हैं— सेन फरनेण्डो, प्रिन्सेज टाउन, आरीमा, कॉवा, सेन्ट जोसेफ, सॉगरे ग्रेण्ड और टूनापूना। सन् १८४५ ईस्वी में भारतीय लोग वहाँ प्रतिबन्धित मजदूरों के रूप मे लाये गये थे।

ट्रिनीडाड मे प्राय. ४ लाख भारतीय हैं। इनमे से अधिकांश गन्ने की खेती मे लगे हुए हैं। केनोल, विक्टोरिया और पोर्ट ऑफ स्पेन क्षेत्र मे भारतीय बस्तियाँ अधिक है। स्त्रियो की पोशाकें अधिकतर विशुद्ध भारतीय हैं। वे साड़ियाँ पहनती हैं, सिर पर घूँघट निकालती है। नाक में नथनी, हाथ-पैर में गुदने गुदाना जैसे चिन्हो को देखकर, उन्हे सहज ही भारतीय के रूप मे पहचाना जा सकता है। छतो पर भारतीय ध्वजा पताका फहराना उन्हे बहुत प्रिय है। कार्तिकी पूर्णिमा को समुद्र स्नान के लिये वे लोग ऐसे ही जाते हैं, जैसे-सोमवती अमावस्या को भारत में दिखाई पड़ता है। यहाँ के भारतीयों में अपनी सस्कृति के प्रति अगाध निष्ठा है। ये लोग भारत को अपनी धर्मभूमि और मातृभूमि मानते हैं।

ट्रिनिडाड के गाँवों और शहरों में देवी-देवताओं के अनेकों मन्दिर हैं। यदा-कदा हवन-पूजन भी होते हैं। पण्डित-पुजारी भी बहुत है, पर उन्हें भी अब हिन्दी बोलने की आदत नहीं रही। विधि-विधान का निर्देश अँग्रेजी भाषा में करते है। हाँ, मन्त्र जरूर शुद्ध-अशुद्ध सस्कृत भाषा में बोल लेते हैं। जब हवन कराना होता है तो मेज पर एक तसला जैसा लोहे का हवन कुण्ड रखकर बैठ जाते है और गोली के रूप में रखी हुई हवन-सामग्री स्वाहाकार के साथ अग्नि मे डालते जाते है।

ट्रिनिडाड की राजधानी है— "पोर्ट ऑफ स्पेन"। यहाँ की मुख्य सड़कों के नाम भारतीय नगरो के नाम पर है, जैसे बम्बई स्ट्रीट, मद्रास स्ट्रीट, बगलौर स्ट्रीट, इलाहाबाद स्ट्रीट आदि।

दिवाली, होली, रक्षा-बन्धन, जन्माष्टमी, शिवरात्रि जैसे त्यौहार वहाँ बड़े उत्साहपूर्वक मनाये जाते है। गीता, रामायण का सारांश वहाँ अंग्रेजी मे छपा मिलता है। हिन्दी भाषा को एक प्रकार से भूल ही चुके है। रहन-सहन और आहार-विहार पर पूरी तरह पाश्चात्य सभ्यता की छाप है। फिर भी भारतीयता पर उन्हे गर्व है और भारतीय सस्कृति को अधिक जानने, समझने एवं अपनाने के इच्छुक है।

ट्रिनीडाड मे हिन्दू आबादी ४५ प्रतिशत और गायना मे ६५ प्रतिशत है। बार्वेडीज ग्रेनेडा और सेन्ट विसैन्ट को मिलाकर १० हजार हिन्दू रहते है। बार्वेडीज में मात्र २२ सिन्धी परिवार है। ट्रिनीडाड और गायना के हिन्दू हिन्दी नही जानते। धर्म-सस्कारो मे मन्त्र सस्कृत मे बोलकर उनकी व्याख्या अंग्रेजी में सुनायी जाती है। ऐसा ही कथा वार्ताओं मे भी होता है।

सुरीनाम—दक्षिण अमरीका के उत्तरी छोर पर भूमध्य रेखा के समीप सुरीनाम बना है, जो सूर्य का देश कहलाता है। यह भारत से कोई २० हजार किलोमीटर दूर है। यहाँ के मूल निवासी भी अपने को "अमर इण्डियन" कहते हैं। ब्रिटिश गायना और फ्रेंच गायना के बीच में अवस्थित यह भू-भाग पहले डच गायना कहलाता था। अब उसका नाम 'सुरीनाम' है।

इस क्षेत्र में पिछली शताब्दियों में गोरे लोगो का शासन जमता-उखड़ता रहा है। स्पेन, फ्रास, पुर्तगाल,

कई देशो मे योग प्रसार के केन्द्र एवं संगठन बन गये हैं।

युग निर्माण शाखाये प्राय: उन सभी देशो मे है जिनमें प्रवासी भारतीय रहते हैं। जहाँ प्रवासी भारतीय नहीं है वहाँ भी उनकी स्थापना के लिये प्रयत्न चल रहे है।

प्रवासी भारतीयों सम्बन्धी कुछ जानकारियाँ

समुद्र पार के देशों मे लगभग ५० लाख और भारत की सीमाओ से लगे हुए नेपाल, भूटान, पाकिस्तान, बगला देश, लका मे २११ करोड़, इस प्रकार भारत मूल के लगभग तीन करोड़ भारतीय अपने देश से बाहर रह रहे है। वे लगभग १२५ देशों मे हुए है।

इन प्रवासी भारतीयो की स्थिति का विधिवत् सर्वेक्षण करने के लिये अब तक कोई ठोस प्रयास नही किया गया। इन देशो मे आने-जाने वालो द्वारा अथवा पत्र-व्यवहार से जो सूचना मिलती है, उन्ही के आधार पर यह पता चलता है कि प्रवासियो की स्थिति क्या है? उनकी सही जनसख्या क्या है? इसका भी प्रामाणिक विवरण प्राप्त नही है। यहाँ बैठे हुए उपलब्ध जानकारियो के आधार पर जो पता चलता है, उसी के अनुमानित आधार पर कुछ निष्कर्ष निकालना पड़ता है। कई बार तो इन जानकारियो मे काफी अन्तर भी होता है। आवश्यकता इस बात की है, कि जहाँ भी प्रवासी भारतीय बसे हुए है, वहाँ एक यात्रा की जाय और वस्तुस्थिति का सही विवरण प्राप्त किया जाय। न केवल उनकी जनगणना को, वरन् जिन परिस्थितियो मे वे रह रहे है, उनका जानना और इन भारतपुत्रो के साथ मातृभूमि की स्नेह-शृखला को सुदृढ बनाना भी आवश्यक है। वर्तमान साधनो से जो थोड़ी-सी जानकारी प्रवासी भारतीयो के बारे मे प्राप्त हो सकी है उसका सक्षिप्त विवरण इस प्रकार है-

अमेरिका—अमेरिका के हार्वर्ड, कोलम्बिया, शिकागो, विस्कोन सीन, कैलीफोर्निया, पेनिन्सेलवानिया विश्वविद्यालय मे संस्कृत की उच्च शिक्षा का प्रबन्ध है। येल विश्वविद्यालय मे विलियम डिवट हिवट सस्कृत व्याकरण की जो सुलझी हुई पाठ्य पुस्त लिखी हैं, वे न केवल अमेरिका में वरन् अन्य देशो भी बहुत लोकप्रिय हुई है।

सन् १९७० मे अमेरिका मे भारतीय डाक्टरों व संख्या २५७५ थी। इसके बाद प्राय: ३०० के क्रम से वह सख्या हर साल बढ़ती गयी। इनमें से एक तिहा न्यूयार्क नगर के इर्द-गिर्द इलाके में काम करते हैं। उनमें से कितनों को ही सरकारी अस्पताल मे भी काम मिला हुआ है।

सेनफ्रासिस्को से ६० मील दूरी पर स्टाकटन नगर के समीप भारतीयो की एक छोटी वस्ती है। जहाँ भारतीय मूल के पजाबी लोग रहते हैं और कृषि करते हैं, इनका एक गुरुद्वारा भी है। बीसवी सदी के आरम्भ मे, जब अमेरिका प्रवेश पर किसी देश के लिये प्रतिबन्ध नही था, उन्ही दिनो ये लोग पंजाब से लगभग एक हजार की संख्या मे गये थे और वही बस गये। इनमे से कृषक लोग इस बस्ती मे रहते है और शेष अन्याय नगरो में अमरीकी नागरिको की तरह विभिन्न व्यवसाय करते है।

पश्चिमी अमेरिका मे कनाडा और कैलीफोर्निया के अंचलो मे कितने ही भारतीय स्थायी रूप से बसे हुए है और अब वे वही के नागरिक बन गये है। इनके पूर्वज इस शताब्दी के आरम्भ मे कारीगरो के रूप मे गये थे। पीछे उन्होने कुछ पूँजी जमा कर ली और कृषि फार्म तथा दूसरे व्यवसाय करने लग गये। इनमे से कितने ही सुसम्पन्न है।

कनाडा—कनाडा मे इन दिनो लगभग ५० हजार भारतीय रहते है। इनमे से अधिकाश विभिन्न कार्यो मे संलग्न कर्मचारी हैं। कुछ डॉक्टरी-वकालत आदि के पेशों मे भी काम करते है। इस देश मे केवल सुयोग्य और उपयोगी विदेशियो को ही ठोक-बजाकर प्रवेश दिया जाता है। रूस द्वारा चेकोस्लोवाकिया पर जब १९६८ मे हमला किया गया तो उस समय वहाँ के लगभग १२ हजार निवासी भाग कर कनाडा पहुँचे थे। वहाँ कई गुरुद्वारे और मन्दिर है। सिक्खो ने अपनी दाढी और पगडी को वहाँ भी सुरक्षित रखा है।

कनाडा मे अन्यान्य क्षेत्रो मे फैले हुए भारतीयो में से अधिकतर डॉक्टर, इन्जीनियर, वकील, अध्यापक नर्स आदि है। व्यवसाय बहुत ही कम लोग कर पाते हैं। नर्स महिलाये केरल से गयी है। छात्र भी विभिन्न प्रकार की शिक्षाये प्राप्त करते है। अन्य देशों की अपेक्षा कनाडा मे देशी-विदेशी का भेदभाव बहुत ही कम है। कनाडा मे बसे भारतीयो मे कितने ही असाधारण धनी भी बन गये है। स्व. कपूर सिंह सिद्दू ने बैंकोवर मे ५ लाख डालर देकर "कपूर सिद्दू सस्थान" स्थापित किया है।

ट्रिनिडाड तथा टोबोगो—ट्रिनीडाड का द्वीप दक्षिणी-अमरीका के उत्तरी किनारे पर स्थित है। यह भूमध्य रेखा से १० अक्षांश उत्तर और पश्चिम देशान्तर ६१ से ६२ के मध्य स्थित है। ब्रिटिश, वेस्टइण्डीज के द्वीपो मे इसकी गणना दूसरे नम्बर पर है, पहला बड़ा द्वीप जमैका है।

ट्रिनीडाड की राजधानी पोर्ट ऑफ स्पेन है। इस नगर की जनसंख्या सत्तर हजार है। दूसरे नगर है—सेन फरनेण्डो, प्रिन्सेज टाउन, आरीमा, कॉवा, सेन्ट जोसेफ, सॉगरे ग्रेण्ड और टूनापूना। सन् १८४५ ईस्वी मे भारतीय लोग वहॉ प्रतिबन्धित मजदूरो के रूप मे लाये गये थे।

ट्रिनीडाड मे प्राय. ४ लाख भारतीय है। इनमें से अधिकाश गन्ने की खेती मे लगे हुए हैं। केनोल, विक्टोरिया और पोर्ट ऑफ स्पेन क्षेत्र मे भारतीय बस्तियाँ अधिक है। स्त्रियो की पोशाकें अधिकतर विशुद्ध भारतीय है। वे साड़ियाँ पहनती है, सिर पर घूँघट निकालती है। नाक मे नथनी, हाथ-पैर में गुदने गुदाना जैसे चिन्हो को देखकर, उन्हे सहज ही भारतीय के रूप मे पहचाना जा सकता है। छतो पर भारतीय ध्वजा पताका फहराना उन्हे बहुत प्रिय है। कार्तिकी पूर्णिमा को समुद्र स्नान के लिये वे लोग ऐसे ही जाते हैं, जैसे-सोमवती अमावस्या को भारत मे दिखाई पड़ता है। यहाँ के भारतीयो मे अपनी सस्कृति के प्रति अगाध निष्ठा है। ये लोग भारत को अपनी धर्मभूमि और मातृभूमि मानते है।

ट्रिनिडाड के गॉवो और शहरो मे देवी-देवताओ के अनेको मन्दिर है। यदा-कदा हवन-पूजन भी होते हैं। पण्डित-पुजारी भी बहुत है, पर उन्हें भी अब हिन्दी बोलने की आदत नही रही। विधि-विधान का निर्देश अँग्रेजी भाषा मे करते है। हॉ, मन्त्र जरूर शुद्ध-अशुद्ध संस्कृत भाषा मे बोल लेते है। जब हवन कराना होता है तो मेज पर एक तसला जैसा लोहे का हवन कुण्ड रखकर बैठ जाते है और गोली के रूप में रखी हुई हवन-सामग्री स्वाहाकार के साथ अग्नि मे डालते जाते है।

ट्रिनिडाड की राजधानी है— "पोर्ट ऑफ स्पेन"। यहाँ की मुख्य सड़कों के नाम भारतीय नगरो के नाम पर है, जैसे बम्बई स्ट्रीट, मद्रास स्ट्रीट, बगलौर स्ट्रीट, इलाहाबाद स्ट्रीट आदि।

दिवाली, होली, रक्षा-बन्धन, जन्माष्टमी, शिवरात्रि जैसे त्यौहार वहाँ बडे उत्साहपूर्वक मनाये जाते है। गीता, रामायण का साराश वहाँ अग्रेजी मे छपा मिलता है। हिन्दी भाषा को एक प्रकार से भूल ही चुके है। रहन-सहन और आहार-विहार पर पूरी तरह पाश्चात्य सभ्यता की छाप है। फिर भी भारतीयता पर उन्हे गर्व है और भारतीय सस्कृति को अधिक जानने, समझने एवं अपनाने के इच्छुक है।

ट्रिनीडाड मे हिन्दू आबादी ४५ प्रतिशत और गायना मे ६५ प्रतिशत है। बार्वेडीज ग्रेनेडा और सेन्ट विंसैन्ट को मिलाकर १० हजार हिन्दू रहते है। बार्वेडीज में मात्र २२ सिन्धी परिवार है। ट्रिनीडाड और गायना के हिन्दू हिन्दी नही जानते। धर्म-सस्कारो मे मन्त्र सस्कृत मे बोलकर उनकी व्याख्या अंग्रेजी मे सुनायी जाती है। ऐसा ही कथा वार्ताओ मे भी होता है।

सुरीनाम—दक्षिण अमरीका के उत्तरी छोर पर भूमध्य रेखा के समीप सुरीनाम वना है, जो सूर्य का देश कहलाता है। यह भारत से कोई २० हजार किलोमीटर दूर है। यहाँ के मूल निवासी भी अपने को "अमर इण्डियन" कहते है। ब्रिटिश गायना और फ्रेंच गायना के बीच मे अवस्थित यह भू-भाग पहले डच गायना कहलाता था। अब उसका नाम 'सुरीनाम' है।

इस क्षेत्र मे पिछली शताब्दियो मे गोरे लोगो का शासन जमता-उखडता रहा है। स्पेन, फ्रास, पुर्तगाल,

इग्लैण्ड के शासक वहाँ अधिकार रख चुके है। अन्त मे वह डच लोगो के हाथ पड़ा।

१९७२ की जनगणना में सुरीनाम की जनसंख्या ३,८४,९०३ थी। इनमें मूल निवासियों की संख्या मात्र १० प्रतिशत हैं। ये लोग छोटे कुटीर उद्योगों से अपनी आजीविका चलाते है। इस क्षेत्र मे चीनी भी बसे हुए हैं, पर वे संख्या मे थोड़े है मात्र ३ प्रतिशत। राज्य भाषा डच ३७ प्रतिशत जनता के उपयोग मे आती है और ३२ प्रतिशत हिन्दी भाषी है। शेष अन्य भाषायें बोलते है। जावा मूल के निवासी यहाँ १६ प्रतिशत हैं। सुरीनाम के भारतीय अधिकांश गे उत्तर प्रदेश और बिहार से गये हुए है। उनकी प्रथा परम्परायें अभी भी अपने पूर्वजो जैसी ही है। ट्रिनीडाड मे १०० और सुरीनाम में ६० पण्डित-पुरोहित है। वे कथावार्ता, विवाह संस्कार आदि तो कराते हैं पर उनका धार्मिक ज्ञान बहुत स्वल्प है।

भारत की राष्ट्रभाषा प्रचार समिति ने सुरीनाम मे हिन्दी प्रचार का अच्छा काम किया है। वहाँ उसके १४९ केन्द्र हैं, जिनमें ४५ हजार व्यक्ति विभिन्न परीक्षाये पास कर चुके है। देहातो मे छोटी-मोटी निजी हिन्दी पाठशालाये भी चलती हैं।

सुरीनाम में भागवत-कथा का प्रचलन है। वहाँ प्रीतिभोजो की भी धूम रहती है। दिवाली-दीपदान भारत की तरह ही होता है। होली पर अबीर-गुलाल उड़ाते है। रामलीला का अभिनय बहुत ही सुन्दर ढंग से करने वाले कलाकार वहाँ गाँव-गाँव मे मौजूद है।

वहाँ भारतीयों की भाषा "सरनामी" है, जिसे हिन्दू मुसलमान सभी बोलते-समझते हैं। इसे हिन्दी भाषा का रूपान्तर कहना चाहिये। इसमे लिंग भेद नही होता। उस देश मे जाति-पाँति की मान्यता तो है, पर इसके कारण रोटी-बेटी के व्यवहार मे विशेष अड़चन नही पडती। हिन्दुस्तानियो मे ९० हजार सनातन धर्मी, तीस हजार आर्य समाजी, तीस हजार मुसलमान और शेष मे ईसाई तथा अन्य सम्प्रदायो के लोग है। हिन्दुओ के ५० प्रतिशत मन्दिर और मुसलमानो की २० प्रतिशत मस्जिदे यहाँ है। यहाँ के हाईस्कूलों में चार भाषाये पढ़ायी जाती है, डच, फ्रान्सीसी, अँग्रेजी और स्पेनिश। इनमें अधिकाश छात्र स्पेनिश लेते हैं, क्योकि साउथ (लेटिन) अमरीका मे ज्यादातर स्पेनिश ही चलती है। पिछली जनगणना के अनुसार सुरीनाम मे ३८ प्रतिशत लोग हिन्दुस्तानी बोलने वाले थे।

गायना (दक्षिण अमेरिका)—अब से १५० वर्ष पूर्व भारतीय श्रमिक इस क्षेत्र में अग्रेजों द्वारा पहुँचाये गये। कृषि, बागवानी, पशुपालन के क्षेत्र में काम करके इन श्रमिकों ने उस देश की सम्पदा बढ़ाने में भारी योगदान दिया है। चीनी और चावल उत्पादन इस देश का प्रधान उद्योग है। भारतीयों ने इसे ऊँची स्थिति तक पहुँचाने मे अथक परिश्रम किया है। इस देश के सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक क्षेत्र मे भारतीयो का गहरा हाथ है। सरकारी उच्चपदों पर उनकी नियुक्ति हुई है। पार्लियामेण्ट में उनका अच्छा प्रतिनिधित्व है। वहाँ का संविधान भारत की नकल पर बना है। राजधानी जार्ज टाउन के राष्ट्रीय उद्यान में प. नेहरू और महात्मा गाँधी की आदमकद मूर्तियाँ प्रमुख स्थान पर स्थापित है। दिवाली-होली की वहाँ सरकारी छुट्टियाँ होती है। सनातन धर्म सभा के प्रधान श्री शेष नारायण यहाँ की विधान सभा के स्पीकर हैं।

गायना मे, सुरीनाम मे, वेस्ट इण्डीज मे भारतीयों का प्रवाह सन् १८३८ में आरम्भ हुआ और १९१७ तक चलता रहा। अब इस क्षेत्र मे १० लाख के करीब भारतीय हैं, जिनमें हिन्दू-मुसलमान दोनों ही है। ठेके की शर्त के अनुसार वे पाँच वर्ष के लिये ही वहाँ गये थे, पर उनमे से अधिकाश उसी क्षेत्र मे स्थायी निवासी के रूप मे बस गये।

इन प्रवासियों के साथ-साथ पण्डित पुरोहित भी बड़ी संख्या मे चले गये। यद्यपि वे पढ़े-लिखे तो कम थे, तो भी उन्होने यजमान और यजमानी को कायम रखा। फलत इन लोगो मे अभी भी धार्मिक मान्यताये मजबूती के साथ बनी हुई है। इन पण्डितो ने न केवल कथा-वार्ता, पूजा-उपासना के कर्मकाण्डो का प्रचलन रखा वरन् हिन्दी की रात्रि पाठशालायें भी चलायी।

समय-समय पर भारत से कितने ही धर्म प्रचारक इस क्षेत्र में जाते रहे है और प्रवासियो की धर्म भावना को प्रोत्साहित करते रहे हैं। इस क्षेत्र की आर्थिक प्रगति मे इन प्रवासी भारतीयो ने भारी योगदान दिया

है। उनमें से कितने ही अच्छे व्यवसायी, बुद्धिजीवी तथा हर क्षेत्र में मूर्धन्य प्रतिभा प्रदर्शित करने वाले लोग हैं। भारतीयों की विशेष आदत फूट का इस क्षेत्र में भी साम्राज्य है अन्यथा इतना बड़ा समुदाय वहाँ के राजनैतिक, सामाजिक एवं आर्थिक क्षेत्र में अपना अति महत्त्वपूर्ण वर्चस्व रख रहा होता।

गायना मे भारतीय प्रायः देहाती क्षेत्र में बसे हुए हैं। महिलाओं में हिन्दुस्तानी पोशाक और जेबर अभी भी बहुत लोकप्रिय है। ग्रामोफोन रिकार्ड, रेडियो प्रसारण एवं फिल्मो के माध्यम से उस क्षेत्र मे अभी हिन्दी का अच्छा प्रचलन है। मन्दिर यहाँ बड़ी संख्या मे बने हैं। महात्मा गाँधी और राम, कृष्ण, हनुमान के चित्र यहाँ घर-घर मिलेगे।

अब से तीन सौ वर्ष पूर्व यूरोप के विभिन्न देशों के निवासी अमेरिका को रौदते हुए इस क्षेत्र में भी घुस पड़े थे। स्पेन, फ्रांस, इंग्लैण्ड, पुर्तगाल विशेष रूप से और थोड़े-थोड़े अन्य योरोपीय देशवासी यहाँ पहुँचे और बस गये। इन लोगों ने उसी क्षेत्र के वनवासियों को पकड़ा और भारत जैसे अन्य देशो से श्रमिकों को मँगाया, जो अभी भी वहाँ के निवासी बनकर स्थित हैं। वहाँ के प्रवासी भारतीय इसी प्रकार पहुँचे और बसे हैं। सौ-डेढ़ सौ वर्षों से वहाँ रह रहे हैं। नर-नारियों ने यूरोपीय पोशाक ग्रहण कर ली है, फिर भी स्त्रियाँ नगे सिर दिखायी नही पड़ेगी, उनके सिर पर ओढ़नी का पल्ला होगा। यद्यपि यूरोपीय फ्राक, जैसी पोषाक पहनती हैं अंग्रेजी मिश्रित हिन्दी इनके दैनिक बोलचाल में काम आती है। भोजन भारतीय ढंग का पकाते और खाते है। रामायण का प्रचलन है। पुरोहित लोग भी बसे हैं। कथा, पुराण और भजन-कीर्तन के धार्मिक समारोह होते रहते है।

गायना भारत से ९ हजार मील दूर है। अब उसकी जनता में भारतीय ५३ प्रतिशत है, ३३ प्रतिशत यूरोपियन और १४ प्रतिशत आदिवासी, अफ्रीकी, चीनी आदि हैं। यहाँ दो राजनैतिक पार्टियाँ हैं एक "पीपुल्स नेशनल कांग्रेस" दूसरी "प्रोग्रेसिव पार्टी"। पहली के हाथ में इन दिनों शासन सूत्र है। दूसरी विरोधी दल में जिसके नेता हैं भारतीय मूल के डा. छेदी जगन। सेना मे ९५ प्रतिशत किकूयू कबीले के अफ्रीकी भरे पड़े है। बहुमत में होते हुए भी भारतीयों को शासन में उच्च पद नहीं के बराबर प्राप्त है। सरकार मे भारतीयों की जिस प्रकार उपेक्षा हो रही है, उससे सभी न्यायप्रिय लोग दुःखी हैं। गोरे और अफ्रीकी मिलकर शासन को अपने हाथ में लिये हुए है और बहुमत वाले भारतीय हर दृष्टि से शोषित-उपेक्षित किये जा रहे है।

गायना समुद्र तट वाला भू-भाग ही रहने लायक है। भीतरी भाग में सघन जंगल है। वहाँ पर तीन बड़ी नदियाँ हैं— बरसीस, एसिकीवो और डेमटाढ़ा। इन्हीं नदियों के किनारे लोग पानी की सुविधा देखकर बसे है और किनारे-किनारे आगे बढ़ते जाते हैं।

पनामा—पनामा नहर संसार के व्यापार का महत्त्वपूर्ण जलमार्ग बन जाने के कारण उस क्षेत्र मे भारतीयो का पहुँचना कितने ही वर्ष पूर्व आरम्भ हो गया था, पर वहाँ की सरकार ने तरह-तरह के प्रतिबन्ध लगाकर उनको वहाँ बसने से निरुत्साह कर दिया। केवल वे ही भारतीय वहाँ रह सके, जिनने अपने पास पर्याप्त पूँजी होने का प्रमाण देकर सरकार को सन्तुष्ट कर दिया।

अब उस क्षेत्र में लगभग एक हजार भारतीय है, जो कोलोन, पनामा, क्रिस्टोवल नगरों मे बसे हुए हैं। उनकी छोटी-बड़ी २५ व्यापारी फर्म हैं, जो खुदरा, थोक एवं आयात-निर्यात का काम करती हैं। इन प्रवासियों का व्यवहार बहुत ही सौम्य तथा कानून पालक है। इतनी लम्बी अवधि में कदाचित ही किसी भारतीय को कचहरी में उपस्थित होना पड़ा हो।

राधास्वामी सम्प्रदाय के हिन्दुओं मे अधिक धार्मिकता पायी जाती है। उनके साप्ताहिक सत्संग चलते हैं, जिनमें अन्य सम्प्रदायों के लोग भी उत्साहपूर्वक भाग लेते है। पनामा निवासियो के साथ भारतवासियों के बहुत अच्छे सम्बन्ध है। उनके साथ विवाह सम्बन्ध भी चल पड़े है।

ग्रेनेडा—ग्रेनेडा में भारतीय लगभग दो सौ वर्ष से पहुँचते रहे हैं। अब उनकी संख्या ५ हजार के करीब है, उस पूरे क्षेत्र की आबादी एक लाख से भी कम है। इनमे से अधिकतर किसान, व्यापारी और दुकानदार हैं। कुछ दफ्तरों में काम करने वाले भी हैं।

इस क्षेत्र में रहने वाले भारतीय "पूर्वी भारतीय" कहे जाते हैं। हिन्दू-मुसलमान की पोशाक, रहन-सहन

आदि का कोई भेद नही है। आपस मे विवाह भी लोग बिना किसी सामाजिक बन्धन के कर लेते है। हिन्दुओ की अपनी धार्मिक गतिविधियाँ शिथिल हो जाने से वे प्राय: प्रोटेस्टेण्ट ईसाई हो गये है। वे कैनेडियन चर्च के सदस्य बने है। फिर भी उनमे भारतीय ढंग की पूजा-पत्री होती है और कुछ रीति-रिवाज पुराने ढर्रे के भी चलते है।

यहाँ के भारतीयो की आर्थिक स्थिति अच्छी नही है। फिर भी जब कभी उनके पास पैसा होता है तो वे उसे प्रीतिभोज, उत्सव-आयोजन मनाने मे खुले हाथो खर्च कर डालते है, जिससे गरीब के गरीब ही बने रहते है।

ग्रनेडा द्वीप ट्रिनीडाड से १०५ मील दूर है। वहाँ बारहो महीने हरियाली छायी रहती है और मौसम बड़ा सुहावना रहता है। इस द्वीप का क्षेत्रफल केवल १३३ वर्ग मील है। यहाँ भारतीयो को पहुँचाया नही गया वरन् वे वहाँ जाकर स्वेच्छापूर्वक बसे है और उसके पूर्ण नागरिक है।

इंग्लैण्ड—सन् १९६९ की जनगणना मे ब्रिटेन मे २ लाख भारतीय थे। अब उनकी सख्या प्राय: छ: गुनी हो गयी है। इस बढ़ोत्तरी मे पूर्वी युगाण्डा देश के खदेडें हुए वे भारतीय भी है, जिन्हे ब्रिटेन ने अपना नागरिक स्वीकार करके उदारतापूर्वक स्थान दिया है। पजाबी, बंगाली, गुजराती इनमे मुख्य हैं। यो सभी प्रान्तो के लोग है। गोआ के ईसाइयो की बड़ी संख्या है। प्रवासी भारतीयो मे दो-तिहाई हिन्दू और एक तिहाई मुसलमान है।

कोवेण्ट्री, मिडलैण्ड, साउथ हाल, वर्मिघम, ब्रेडफोर्ड, लिवरपूल, लीस्टर, ग्रेवसेण्ड आदि मे भारतीयो की आबादी बहुत है। इनमे से अधिकतर लोग विभिन्न क्षेत्रों मे सरकारी एव गैर-सरकारी नौकरी करते हैं। कुछ छोटे-मोटे व्यवसाय चलाते है। कितने ही शिल्पी एव कारीगर भी हैं। 'ओवर टाइम' के काम प्राप्त करने मे उनकी अधिक दिलचस्पी रहती है, जबकि उस देश में श्रमिक सामान्य समय तक ही काम करके शेष समय को हँसने-खेलने मे लगाते है। काम तो आसानी से मिल जाता है, पर निवास की समस्या अभी भी बहुत कठिनाइयों से भरी हुई है।

स्काटलैण्ड मे पंजाबी भारतीय फेरी लगाकर माल बेचने मे बहुत कुशल है। इसमे उनने पैसा भी कमाया है। भारतीय पुरुष आमतौर से यूरोपीय पोशाक पहिनते है किन्तु स्त्रियो ने लम्बे समय तक वहाँ रहने पर भी अपने देश की पोशाक को ही अपनाये रखा है। भोजन सम्बन्धी आदतें भी उन परिवारों मे भारत जैसी ही है।

इंग्लैण्ड मे कई लाख हिन्दुस्तानी और पाकिस्तानी रहते हैं। बंगालियों की बड़ी सख्या है, इसके बाद पंजाबियो और गुजरातियो का नम्बर आता है। पजाबी अधिक संगठित है। गुजरातियो का एक अखबार 'गुजरात समाचार' भी निकलता है।

लन्दन में रामकृष्ण मन्दिर बंगाली सन्त प्रभुपाद जी द्वारा ट्रेफलगर स्क्वायर में बनाया गया है। यहाँ 'हरे राम हरे कृष्ण' के कीर्तन को विशेष महत्व दिया जाता है। गौरांग सम्प्रदाय से उसका विशेष सम्बन्ध है। रथयात्रा समारोह यहाँ विशेष उत्साह से मनाया जाता है।

लन्दन के कृष्ण मन्दिरो में तीन विशेष उल्लेखनीय है। (१) पश्चिमोत्तर क्षेत्र मे हिन्दू सेण्टर के सरक्षण मे चलने वाला ग्राफ्टन टैरेस क्षेत्र का सुदर्शन चक्र मन्दिर (२) पश्चिमी भाग मे अवस्थित लीस्टर का राधाकृष्ण मन्दिर (३) पश्चिमोत्तर भाग मे गोल्डर्स ग्रीन स्थान का कृष्ण मन्दिर। सनातन धर्म मन्दिर में भी रविवार शाम को गीता प्रवचन, बुधवार को योगाभ्यास, मंगल को ध्यान योग और शनिवार को सत्सग होता है। जिन्हें जिस आयोजन में अधिक रुचि होती है, वे उस दिन वहाँ पहुँचते है। रविवार को उपस्थिति ४०० तक पहुँच जाती है। उस दिन प्रीतिभोज का क्रम भी चलता है और हवन भी होता है। इस सस्था की एक कीर्तन मण्डली भी है, जो आमत्रण पर हिन्दू घरो में कीर्तन करने जाती है।

आस्ट्रेलिया—सन् १८३७ में प्रवासी भारतीयों का एक जत्था श्रमिकों के रूप मे आस्ट्रेलिया पहुँचा। इसमे अधिकाश लोग पजाब के थे। सन् १९०० तक वे लोग उस देश की प्रगति मे असाधारण योगदान देते रहे। पर १९०१ मे उन्हें वापस खदेड़ने और नयो को

प्रवेश न मिलने के प्रतिबन्ध से प्रवासी भारतीयो की संख्या कम होती चली गयी।

यो अभी भी वहाँ थोड़ी संख्या मे भारत मूल के लोग हैं और अच्छी हालत मे है। पश्चिमी आस्ट्रेलिया में एक सिन्धी व्यापारी बदूलाह का अच्छा भेड़-पालन केन्द्र है। मै. बसियामल आसामल की अच्छी फर्म है जिसकी शाखायें मेलबोर्न और सिडनी में भी है। इसी प्रकार कुछ श्रमिक, शिल्पी, कारोवारी तथा विद्यार्थी भारतीय भी वहाँ मौजूद हैं।

न्यूजीलैण्ड—सन् १९१३ के बाद अन्य ब्रिटिश उपनिवेशों की तरह न्यूजीलैण्ड में भी भारतीय जनशक्ति को भेजा गया। उन्हे बसाया भी गया और नागरिकता भी दी गयी, पर गोरे और काले के बीच भेदभाव करने वाले "इम्पलाइज लाइबिलिटी एक्ट" "वर्कर्स कम्पेन्सेशन एक्ट" जैसे कानून बने। जब श्रमिकों की आवश्यकता पूरी हो गयी तो उन पर भी प्रतिबन्ध लगे और वापस भेजे गये।

जिन दिनो भारतीय श्रमिक बड़ी सख्या में उस देश में पहुँचे तो उन दिनो उनकी संख्या आकलैण्ड मे ५७ प्रतिशत और वेलिंगटन में २२ प्रतिशत पहुँच गयी थी। दक्षिण द्वीप मे वे १५ प्रतिशत थे। वापिया, हैराकी, तौमारूनी, अकीटियो, तौरगा, मार्लवारो, ओटी रोहाग आदि मे उनकी अच्छी बस्तियाँ थीं। उन्हे कृषि कार्य मे, कारखानो में लगाया गया। जहाँ उन्होने आशाजनक काम किया। अव न्यूजीलैण्ड मे भारतीयो की सख्या ६१०० है, जिनमे व्यापारी, छात्र, इजीनियर तथा अन्य वर्ग के लोग सम्मिलित है।

पूर्वी अफ्रीका—केनिया, युगाण्डा और तजानिया के तीनों क्षेत्र ब्रिटिश पूर्वी अफ्रीका कहलाते थे। अब इन्हें पूर्वी अफ्रीका कहते है। कुछ समय पहले तजानिया और जजीबार अलग थे, अब उन दोनों को मिलाकर तंजानिया बन गया है।

इस क्षेत्र मे पॉच शताब्दी पूर्व अरब लोग पहुँचे। पीछे अंग्रेज, फ्रासीसी तथा दूसरे यूरोपियन देश वाले भी पहुँचने लगे। मुसलमानो ने अफ्रीकियो के साथ विवाह करके अपनी वंश वृद्धि की। यूरोपियन अपनी कुशलता और सम्पन्नता के कारण उस क्षेत्र के निवासियो को आकर्षित करते गये। पादरी लोगो ने इस क्षेत्र में ईसाइयत फैलाने मे भी अच्छी सफलता पाई। भारतीय लोग अपनी निजी गतिविधियो तक ही सीमित रहने के कारण उस क्षेत्र में उतना प्रभाव उत्पन्न न कर सके, यद्यपि आर्थिक क्षेत्र मे उन्होने अच्छी सफलता प्राप्त की।

उस क्षेत्र में भारतीयों का विशेष प्रवेश अंग्रेजो के रेलपथ बनाने वालो के रूप मे हुआ था। उन दिनों ३२ हजार कुली वहाँ पहुँचे थे, जो पीछे वही बस गये। उन्होने क्रमशः व्यापार, कृषि, पशुपालन, शिल्प, अध्यापन एवं सरकारी नौकरी के विभिन्न क्षेत्रो मे प्रवेश किया और अपनी अच्छी स्थिति बनायी। तंजानिया मे उनकी संख्या करीब १५ हजार जा पहुँची है। दार-ए सलाम मे कुछ समय पहले उनकी अच्छी तूती बोलती थी। अब से ४० वर्ष पहले उन्हें सूदखोर और वहाँ की अर्थव्यवस्था को गड़बडाने वाले बताकर लॉछित किया गया। इस क्षेत्र में शिक्षा संस्थाये तो खुलीं पर उन पर सम्प्रदाय की छाप लगने लगी। जैसें "आगाखानी बालकशाला" बोहरा शाला हिन्दू फ्री कन्याशाला "इवान स्मिथ मदरसा" आदि। स्कूल, अस्पताल, अनाथालय आदि मे उन लोगो ने अच्छी दिलचस्पी ली और अफ्रीकनो के साथ अधिक घनिष्ठ सम्बन्ध बनाये। इस तरह के प्रयास मे हिन्दू लोग पिछड़े रहे। उनकी धार्मिक गतिविधियाँ पूजा-पाठ तक, मन्दिर आदि बनाने तक सीमित रही। धार्मिक कट्टरता बनायें रखने के कारण वे अफ्रीकी लोगो के साथ भी अधिक घुलमिल न सके। कुछ प्रभावशाली हिन्दू केनिया की राजनीति मे अच्छा हिस्सा लेते रहे। इनमे एस. बी. पटेल एव एस जी. अमीन जैसे कई मूर्धन्य व्यक्तियो के नाम चिरस्मरणीय रहेगे।

पिछले दिनो उस क्षेत्र मे भारतीयो की आबादी डेढ़ लाख थी, जिसमे सिख सम्प्रदाय के २० हजार, जैनी १२ हजार और गोआ निवासी ८ हजार भी सम्मिलित थे। पूर्वी अफ्रीका में केनिया, युगाण्डा, तंजानिया—ये तीन बड़े देश आते है, पर भारतीयो की अधिक आबादी केनिया मे रही है।

पूर्वी-अफ्रीका मे भारत के गुजराती व्यापारी १३वी सदी मे ही जा पहुँचे थे। सन् १८४० मे

मुलतान सैयद ने अपनी राजधानी मूसकाट से हटाकर जंजीबार बनाई वह अपने साथ इन भारतीय व्यापारियों को भी ले गया। उस समय बन्दरगाह क्षेत्र में आधी आबादी भारतीयों की थी। यह सभी कच्छ, जामनगर क्षेत्र के थे।

धीरे-धीरे पूर्वी-अफ्रीका में भारतीय मुसलमान भी बढ़े। शिया सम्प्रदाय की एक शाखा भी वहाँ पहुँची और आगाखानी सम्प्रदाय के खोजा लोग भी वहाँ जा बसे। खोजा लोग अपने धर्म-गुरुओ की प्रेरणा से अधिक प्रगतिशील रहे। वे अपनी कमाई का दसवाँ हिस्सा धर्म-कार्यों मे लगाने का नियम पालते थे, इसीलिये उनकी कितनी ही उपयोगी संस्थाये चलने लगी?

पूर्वी-अफ्रीका के भारतीयों मे गुजराती भाषी हिन्दू अधिक हैं। वे व्यापारिक उद्देश्य से वहाँ पहुँचे हैं। इनके बाद पंजाबियों का नम्बर है। सनातन धर्मी, आर्य समाजी, स्वामी नारायण पथी आदि सम्प्रदायों में वे लोग बँटे हुए हैं। उनके मन्दिर एवं रीति-रिवाज भी भारत की तरह ही बँटे और बिखरे हैं।

केनिया में हरिजी बाबा की पिछले दिनों बहुत धूम थी। इनमे हरी पगड़ी वाले बाबा के कई हजार शिष्य हैं, जिनमें लोहानी, पटेल तथा अन्य गुजराती, कच्छी लोगों की संख्या ही अधिक है। भजन, कीर्तन, रामायण, कथा, प्रवचन, सत्संग आदि की उनके शिष्यों में धूम मची रहती है। केनिया, तंजानिया, युगाण्डा-इन तीनों देशो में उनका प्रभाव है।

युगाण्डा मे दो-तीन वर्ष पूर्व ५५ हजार भारतीय रहते थे। उनके करोड़ों रुपये मूल्य के बड़े-बड़े कारखाने तथा व्यवसाय थे। पिछली शताब्दियो मे उनने बड़े परिश्रम एवं मनोयोग के साथ उस देश की समृद्धि में भारी योगदान दिया था।

उस देश के उन्मादी अधिनायक अमीन ने तीन महीने की अवधि मे बन्दूक की नोंक पर इन भारतीयों को खदेड़कर बाहर कर दिया और उनकी सम्पत्ति लूट ली। ऐसी नृशंसता संसार में अन्यत्र भी की गयी हो, इसका उदाहरण शायद ही कही मिल सकेगा। इन खदेडे हुए भारतीयों में से हजारों को ब्रिटेन, कनाडा, आस्ट्रेलिया, अमेरिका आदि में आश्रय मिला और शेष खाली हाथों भारत लौट आये। अब उस देश में मुश्किल से ही कुछ सौ भारतीय छोटे देहातों में बचे हैं।

सन् १९४८ की अंग्रेजी रिपोर्ट के अनुसार केनिया में ९०,५०० युगाण्डा में ३६,३०० टंगानिका में ३१,१०० भारतीय थे। यह सख्या गत कुछ वर्षों की अवधि तक लगातार बढ़ती रही है। सन् १९५८ की रिपोर्ट के अनुसार केनिया में १,७५,०००, युगाण्डा में ७३ हजार, टंगानिका में ७२ हजार हो गयी थी। 'पूर्वी-अफ्रीका रॉयल कमीशन' की रिपोर्ट मे भारतीयों के प्रति अफ्रीका की आर्थिक उन्नति में सहयोग देने के लिये गहरा आभार प्रकट किया गया था।

तंजानिया—तंजानिया के प्रधान शहर दारेस्सलाम में सन् १९१९ में स्थापित हिन्दू मण्डल तजानिया के हिन्दुओं की सबसे पुरानी संस्था है। छुटपुट अन्य हिन्दू संस्थाओं ने उसे अपना केन्द्रीय संगठन माना है। न्यानजा स्ट्रीट पर उसका एक अच्छा अस्पताल, प्रसूति ग्रह एवं परिवार-नियोजन केन्द्र चलता है। बगमोयो स्ट्रीट पर उसने श्मशान भूमि बनायी है। इसके अतिरिक्त अनेकों धार्मिक, सामाजिक, उपयोगी कार्य होते रहते हैं। न्यानजा स्ट्रीट स्थित उसके 'ऐसेम्बली हाल' मे समय-समय पर पर्व, त्यौहार एवं सत्संग, प्रवचन होते रहते हैं। सम्बन्धित अन्य सस्थायें भी अपने-अपने स्कूल, पूजा-मन्दिर एवं अन्य उपयोगी सत्प्रवृत्तियों का संचालन करती रहती हैं।

अफ्रीका—अफ्रीका महाद्वीप के केनिया, युगाण्डा, तंजानिया, इथोपिया, मलावो, जाम्बिया, अदन, सूडान आदि देशों में बहुत बड़ी संख्या में भारतीय सैकड़ों वर्षों से बसे हैं, पर अब युगाण्डा से उनके निष्कासन के बाद इन सभी देशों से उसी तरह की हलचलें मच रही हैं और भीतर भय, आशंका, अनिश्चितता का वातावरण बन रहा है। वे वहाँ कब तक रह सकेंगे? इस सन्दर्भ मे उन्हें निरन्तर चिन्तित रहना पड़ रहा है। भविष्य में वे कहाँ जायें? कहाँ रहें और क्या करे? यह प्रश्न निरन्तर परेशान करता रहता है। दक्षिण रोडेशिया और दक्षिण अफ्रीका में प्रकारान्तर से गोरों

का राज्य है। वहाँ भी कठिनाई तो बहुत है पर अनिश्चितता एवं आशंका का वातावरण नहीं है।

मध्य अफ्रीका—मध्य अफ्रीका के ये तीन देश है, जिनमे भारतीयों की कुछ स्थिति है—(१) मलावी (२) जाम्बिया (३) जिम्वाम्वे। तीनों ही स्वतंत्र हैं।

इस क्षेत्र में भारतीयों का प्रवेश अब से लगभग सौ वर्ष पूर्व प्रधानतया ब्रिटिश सेना के सैनिकों के रूप में हुआ था। उनमें अधिकांश सिक्ख थे। नौकरी से निवृत्त होकर उनमें से अधिकांश वही बस गये और धीरे-धीरे उनके सम्बन्धी भी वही पहुँचने लगे। वे कृषि, व्यवसाय, शिल्प तथा शिक्षा क्षेत्रों में काम करते रहे।

मलाबी में रेल पथ बनाने और गाड़ियाँ चलाने का महत्त्वपूर्ण कार्य जिन एशियनों ने पूरा किया उनमें भारतीय श्रमिकों और कारीगरों की संख्या अधिक थी। उस रेलवे ने अपने यहाँ सन् १९६६ तक भारतीयो को अधिक उपयुक्त पाया और उत्साहपूर्वक भर्ती किया।

स्वल्पकालीन प्रवास के लिये इन देशो में जाने वालों के अतिरिक्त पीढ़ियों से उसी देश में रह रहे भारतीयों की भी बड़ी संख्या है। वे यूरोपियनो की तरह ही सुरक्षित हैं। प्रतिभा मे भी वे कम नही पड़ते। फिर भी उन्हें वह प्रोत्साहन और अवसर नहीं मिलता जो यूरोपियनों को प्राप्त है। इतना होने पर भी वे सम्पन्न हैं, अच्छी कारीगरियों में लगे हुए हैं। इसका कारण उनकी मितव्ययिता, परिश्रमशीलता एवं बुरी आदतों से बचे रहना है। उनकी प्रत्येक पाई कठोर परिश्रम की कमाई हुई है। गोरो में शराबखोरी, व्यभिचार और विलासिता आदि फिजूलखर्ची की जो आदतें होती हैं वे भारतीयो मे नही के बराबर है।

जिम्वाम्वे की हिन्दू सोसायटी के प्रेसीडेण्ड दाया भाई दो पीढ़ियो से इस देश मे है। एशिया ऐसोसियेशन के प्रेसीडेण्ट जी इस्माइल भी उस देश के स्थायी नागरिक है। इन लोगो ने भारतीयों मे पारस्परिक सहयोग बनाये रहने और उनके अधिकारो के लिये जागरूक रहने में यथासम्भव आरम्भ से ही प्रयत्न किया है।

मलाबी—मलाबी में रहने वाले भारतीयो मे से कम ने ही स्थायी नागरिकता स्वीकार की है। जो मलाबी नागरिक बन चुके है उनकी संख्या २५० से भी कम है। इसका कारण वहाँ की सरकार का भारतीयो के प्रति अनुदार नीति बरतना भी है। यों उस देश मे इन दिनों १० हजार के करीब एशियाई लोग रहते है जिनमे मुख्यत: भारतीय मूल के लोग ही है।

मलाबी में तत्काल तो भारतीयो के लिये कोई भारी संकट नही, पर भीतर युगाण्डा जैसी आग वहाँ भी सुलग रही है। वयोवृद्ध दूरदर्शी प्रेसीडेण्ट डा. बान्डा जब तक अपने पद पर है, तब तक भारतीयों के निष्कासन का खतरा भले ही न हो, पर परिस्थितियाँ ऐसी बन रहीं है, जिनमें देर तक उनका पैर टिकाये रहना कठिन होगा।

जाम्बिया—"आल जाम्बिया भजन सम्मेलन"—"काववे भजन सम्मेलन"—"लुसाका हिन्दू एसोसियेशन"— "प्रार्थना मण्डल"—"आर्य समाज" आदि हिन्दू सस्थाओ द्वारा जाम्बिया मे भारतीयो को संगठित रखने एवं उनमें धर्म-भावनाये जागृत रखने के लिये समय-समय पर उत्सव आयोजन होते रहते है। ऐसे ही प्रयत्नो ने उनमें पारस्परिक घनिष्ठता उत्पन्न करने में अच्छी सफलता प्राप्त की है।

इथोपिया—इथोपिया द्वितीय महायुद्ध से पहले इटली के अधिकार मे था। महायुद्ध की अनेक प्रतिक्रियाओ मे से एक इटली से अजादी प्राप्त करना भी है। उपनिवेशी जुआ को उतार फेकने के लिये इथोपिया की जनता ने जो सघर्ष किया उसमें भारतीय सैनिको ने भी अपना रक्त सम्मिलित किया था। भारत और इथोपिया के सम्बन्ध अच्छे है और कई सांस्कृतिक आदान-प्रदान समय-समय पर होते रहे हैं। एक महिला मिशन भी उस देश में भेजा गया था, जिसमे श्रीमती कमला देवी, श्रीमती अमूस्वामी नाथन, जैसी प्रसिद्ध समाज-सेविकाये भी थी।

इथोपिया मे इन दिनो ६ हजार भारतीय है, जिनमें विभिन्न विषयों की शिक्षा देने वाले शिक्षको की संख्या अधिक है। वेतन भारत की अपेक्षा वहाँ कही अधिक दिया जाता है। अदीस अबाबा मे एक जलपान गृह भी उनका है। कुछ भारतीय व्यापार कार्यों मे भी सलग्न है।

विरला-बन्धुओं ने इथोपिया सरकार के सहयोग से उस देश में एक कपड़ा मिल खड़ी की है। उसमें १४ हजार तकुए और ३६० ऑटोमेटिक करघे काम करते है। इस उत्पादन से उस देश की वस्त्र आवश्यकता का बहुत बड़ा भाग पूरा होता है।

अदीस अबाबा मे स्थापित इण्डियन एसोसियेशन की ओर से हिन्दी शाला-हास्पिटल-लाइब्रेरी चलते हैं। इथोपिया की सार्वजनिक प्रवृत्तियों मे यहाँ के भारतीय बहुत रस लेते है और मुक्त हस्त से सहायता करते है।

सोमालिया—अफ्रीका के केनिया और इथोपिया देशो की सीमा से लगा हुआ समुद्र तटवर्ती एक देश है—सोमालिया, जिसकी आबादी ४० लाख है। भाषा सोमाली है। यहाँ के नागरिक नीग्रो नही वरन् अरबो के वंशज है। अफ्रीकी और अरब रक्त का सम्मिश्रण उनमे स्पष्ट दिखाई पड़ता है। यह एक इस्लामी राज्य है। कुरान पढ़ना शिक्षा क्रम में सम्मिलित है, इसलिये अरबी भाषा भी सोमाली के साथ ही पढ़ाई जाती है। पहले यहाँ अंग्रेजो का राज्य था। सन् १९६० में पूर्ण स्वतंत्रता मिली है।

अंग्रेजी शासनकाल मे भारतीय वहाँ व्यापारी के रूप मे पहुँचे थे. पिछले दो महायुद्धो के समय से भारतीय सैनिक तथा अन्य कर्मचारी वहाँ रहते हैं। जिनमे से बहुत से सेवानिवृत होने के बाद वही बस गये। इनके बच्चो ने उच्च शिक्षा प्राप्त की और वे महत्त्वपूर्ण पदो पर काम करने लगे। अभी भी वहाँ भारतीय व्यापारियो का व्यापार चल रहा है और सरकारी तथा दूसरे दफ्तरों मे भारतीय कर्मचारी काम करते है। युगाण्डा की तरह यहाँ भी अफ्रीकीकरण ने जोर पकड़ा है और वे धीरे-धीरे अन्यत्र खिसकने लगे है। भारत सरकार ने उस देश को शिक्षक, डाक्टर, इंजीनियर, वकील, स्टैनोग्राफर आदि के रूप में सहायता दी है। उनके प्रयत्न से उस अल्प विकसित देश को प्रगति की ओर बढ़ने मे बहुत सहायता मिल रही है। यहाँ भारतीयो को "हिन्दी" या "बनिया" कहा जाता है।

दक्षिण अफ्रीका—अफ्रीका का यह सुविख्यात गोरों के हाथ मे है। भारतीय बहुत बड़ी संख्या में इस देश में बसे हुए हैं। इस क्षेत्र का समुन्नत बनाने में उनका असाधारण श्रम लगा हुआ है।

किन्तु गोरों ने भारतीयों तथा वहाँ के मूल निवासी काले लोगों को दूसरे दर्जे के नागरिक बना दिया है और उनके वे अधिकार छीन लिये हैं, जो किसी देश में जन्मे और नागरिक बने व्यक्ति को मिलने चाहिये। अश्वेत जातियों पर उन्होने ऐसे प्रतिबन्ध लगाये है, जिससे वे देश के राजनैतिक सामाजिक एवं धार्मिक क्षेत्र में सदा पिछड़े हुए ही बने रहें।

इस अनीति के विरुद्ध महात्मा गाँधी ने उस देश में सत्याग्रह आन्दोलन चलाया था। उससे थोड़ी-सी स्थिति तो सुधरी पर प्राकारान्तर मे लगभग वैसे ही प्रतिबन्ध अभी भी लगे हुए हैं। गोरे-काले का भेद हर क्षेत्र में एक अभिशाप के रूप में बना हुआ है।

पिछड़ी हुई जातियों के धकेले जाने के बावजूद उस देश में भारतीय अपनी जड़ें मजबूती से जमाये हुए हैं। उनकी आजीविका भी संतोषजनक है और शिक्षा, सभ्यता की दृष्टि से भी वे अपने आर्थिक परिश्रम के कारण अच्छी स्थिति मे रह रहे हैं।

नागरिक अधिकारों के हनन के सम्बन्ध में शिकायत राष्ट्र संघ तक पहुँचायी गयी। भारत ने अपनी नाराजी भी व्यक्त की, पर इससे मदोन्मत गोरों का रवैया बदलने मे कोई विशेष सहायता नही मिली है। इस देश में जगह-जगह वर्ण भेद की कटुता प्रदर्शित करने वाले बोर्ड लगे हुए हैं। "केवल श्वेत लोगो के लिये" "केवल योरोपियनो के लिये" के बोर्ड रेलवे स्टेशन, पोस्ट ऑफिस जैसे जन संकुलित स्थानो पर लगे पाये जाते हैं।

इस रंग भेद को योरोपियन लोग भी बुरी [illegible]
देखते है। आंस्ट्रेलिया के हजारों गोरे
अपने देश को [illegible] पस चले
घृणा भरे [illegible]
पालन नहीं [illegible]

प्रशान्त महा[illegible]
३६१ द्वीप है,

वीरान हैं। इनका क्षेत्रफल ७४३५ वर्गमील है। इनमे दो द्वीप हैं। बीतीलेबू और नाबुआ लेवू। इनके अतिरिक्त कन्दावू और तक्यूनी भी बड़े टापू माने जा सकते हैं। राजधानी 'सूवा' नगर है, जो बीतीलेबू द्वीप के दक्षिण के किनारे पर बसा है। सन् १८६६ में अंग्रेज तथा दूसरे लोग इसमे आस्ट्रेलिया और न्यूजीलैण्ड से उठकर बसने लगे थे, पीछे सन् १८७४ मे फिजी पूरी तरह अंग्रेजों के हाथ में आ गया। अब वह ब्रिटिश उपनिवेश है। इस देश मे गन्ना, केला और नारियल की विशेष उपज है। कपास, कॉफी, मक्का, तम्बाकू, अरण्डी, चावल की भी वहाँ उपज है। रस्सी बँटने को 'केतकी' भी यहाँ होती है। इन्ही चीजों का निर्यात भी होता है।

यो फिजी मे वहाँ के मूल निवासी भी रहते हैं, पर उनकी जीवन चर्या अस्त-व्यस्त और असंस्कृत होने के कारण अंग्रेज जब उस देश को नये सिरे से बसाने लगे तो उन मूल निवासियो से श्रमिको का काम न लिया जा सका। भारत से श्रमिक बुलाने पड़े। अंग्रेजी राज्य भारत में भी था इसलिये यहाँ से श्रमिको की भर्ती करना कुछ कठिन न पड़ा। गरीबी तो थी ही। भर्ती एजेण्टो ने तरह-तरह के बहकावे देकर पर्याप्त संख्या मे मजदूर उपलब्ध किये। पानी के जहाजो में भरकर वे फीजी पहुँचाये गये। लगभग ६० हजार भारतवासी वहाँ पहुँचे थे, जिनमें ६५ प्रतिशत पुरुष और ३५ प्रतिशत स्त्रियाँ थी। उन्होने बड़ी मुस्तैदी से उस देश को नये सिरे से बसाने और सुविकसित स्थिति तक पहुँचाने मे जी-जान से प्रयत्न किया। उसी का परिणाम है कि आज यह द्वीप समूह बहुत ही सुसभ्य और समुन्नत बन चला है । बड़ी संख्या में संसार भर के पर्यटक वहाँ पहुँचते हैं और सर्वत्र बिखरी पड़ी सुषमा को देखर आनन्द विभोर होते है। आज उस देश में बसे भारतीय भी अच्छी स्थिति मे हैं। ये उन श्रमिको की ही संतान है, जो सन् १८९७ से लेकर १९१६ तक वहाँ पहुँचते रहे थे। पाँच वर्ष के शर्त बन्द ठेके पर उन्हे वहाँ ले जाया गया था, उनमे से कुछ तो अवधि पूरा होने पर वापस लौट आये और कुछ वही स्थायी रूप से बस गये।

भारत से १२ हजार मील दूर ५ ॥ लाख की आबादी वाला यह द्वीप समूह अभी भी भारतीय संस्कृति के आलोक से जगमगाता है। यहाँ ३ लाख के लगभग भारतीय मूल के लोग रहते है। २ लाख उस देश के मूल निवासी तथा शेष योरोपियन, चीनी एवं दूसरे लोग है। चीनी तथा नारियल का यहाँ विशेष उत्पादन है। खनिजो में सोना प्रमुख है। राष्ट्रभाषा अंग्रेजी है, हिन्दी तथा मूल निवासियो की भाषा को भी मान्यता प्राप्त है। राजनैतिक दृष्टि से यहाँ दो पार्टियाँ है। (१) एलायन्स (२) नेशनल फैडरेशन। वर्तमान सरकार एलायन्स पार्टी की है। इसमें तीन मंत्री भारतीय भी है। यदि ये भारतीय संगठित होते तो द्वीप का शासनाधिकार उन्ही के हाथ में होता, क्योकि वे कुल आबादी मे आधी से अधिक सख्या में है।

फिजी मे रहने वाले भारत मूल के लोग उत्तर प्रदेश, राजस्थान, बिहार, पजाब तथा दक्षिण भारत से, जाकर बसे है। प्रान्तीय भाषाओ को छोडकर उन्होने हिन्दी बोलने का अभ्यास कर लिया है। यहाँ पर दो साप्ताहिक हिन्दी पत्र भी निकलते है। फिजी का रेडियो सप्ताह मे ७५ घण्टे हिन्दी कार्यक्रम प्रसारित करता है। "फिजी हिन्दी महा परिषद" ने भाषा प्रसार की दृष्टि से सराहनीय कार्य किया है। कला क्षेत्र मे एक 'रंगमंच' नामक संगठन का उदय हुआ है, जिसने कितने ही सुरुचिपूर्ण सांस्कृतिक कार्यक्रम सम्पन्न किये है। रामलीलाओ के आयोजन मे फीजी के मूल निवासी—"कोई बीती" भी बडे उत्साह से भाग लेते है।

आर्थिक दृष्टि से प्रत्येक भारतीय सम्पन्न है, हिन्दी उनकी आम भाषा है। राज्य भाषा अंग्रेजी है। आदिवासियो मे से अधिकाश ईसाई धर्म में दीक्षित हो चुके है। भारतीयो और आदिवासियो के बीच की सांस्कृतिक खाई को पाटने का किसी ने प्रयत्न नही किया।

भारतीय अनेक मत-मतान्तर मे विभक्त है। हिन्दुस्तान से प्राय. साधु, सन्त और धर्म प्रचारक पहुँचते रहते है। इन दिनों साँई बाबा, बाल योगेश्वर, आनन्द मार्ग आदि के ऐजेण्ट अपना अड्डा जमाते चले

विरला-बन्धुओं ने इथोपिया सरकार के सहयोग से उस देश में एक कपड़ा मिल खड़ी की है। उसमें १४ हजार तकुए और ३६० ऑटोमेटिक करघे काम करते है। इस उत्पादन से उस देश की वस्त्र आवश्यकता का बहुत बड़ा भाग पूरा होता है।

अद्दीस अबाबा में स्थापित इण्डियन एसोसियेशन की ओर से हिन्दी शाला-हास्पिटल-लाइब्रेरी चलते हैं। इथोपिया की सार्वजनिक प्रवृत्तियों में यहाँ के भारतीय बहुत रस लेते है और मुक्त हस्त से सहायता करते हैं।

सोमालिया—अफ्रीका के केनिया और इथोपिया देशो की सीमा से लगा हुआ समुद्र तटवर्ती एक देश है—सोमालिया, जिसकी आबादी ४० लाख है। भाषा सोमाली है। यहाँ के नागरिक नीग्रो नही वरन् अरबों के वशज हैं। अफ्रीकी और अरब रक्त का सम्मिश्रण उनमें स्पष्ट दिखाई पड़ता है। यह एक इस्लामी राज्य है। कुरान पढ़ना शिक्षा क्रम में सम्मिलित है, इसलिये अरबी भाषा भी सोमाली के साथ ही पढ़ाई जाती है। पहले यहाँ अंग्रेजों का राज्य था। सन् १९६० में पूर्ण स्वतंत्रता मिली है।

अंग्रेजी शासनकाल मे भारतीय वहाँ व्यापारी के रूप मे पहुँचे थे. पिछले दो महायुद्धो के समय से भारतीय सैनिक तथा अन्य कर्मचारी वहाँ रहते है। जिनमे से बहुत से सेवानिवृत होने के बाद वही बस गये। इनके बच्चो ने उच्च शिक्षा प्राप्त की और वे महत्त्वपूर्ण पदों पर काम करने लगे। अभी भी वहाँ भारतीय व्यापारियो का व्यापार चल रहा है और सरकारी तथा दूसरे दफ्तरो में भारतीय कर्मचारी काम करते है। युगाण्डा की तरह यहाँ भी अफ्रीकीकरण ने जोर पकड़ा है और वे धीरे-धीरे अन्यत्र खिसकने लगे है। भारत सरकार ने उस देश को शिक्षक, डाक्टर, इजीनियर, वकील, स्टैनोग्राफर आदि के रूप मे सहायता दी है। उनके प्रयत्न से उस अल्प विकसित देश को प्रगति की ओर बढ़ने मे बहुत सहायता मिल रही है। यहाँ भारतीयो को "हिन्दी" या "बनिया" कहा जाता है।

दक्षिण अफ्रीका—अफ्रीका का यह सुविख्यात क्षेत्र गोरो के हाथ मे है। भारतीय बहुत बडी संख्या मे इस देश में बसे हुए हैं। इस क्षेत्र का समुन्नत बनाने में उनका असाधारण श्रम लगा हुआ है।

किन्तु गोरों ने भारतीयों तथा वहाँ के मूल निवासी काले लोगों को दूसरे दर्जे के नागरिक बना दिया है और उनके वे अधिकार छीन लिये हैं, जो किसी देश में जन्मे और नागरिक बने व्यक्ति को मिलने चाहिये। अश्वेत जातियों पर उन्होंने ऐसे प्रतिबन्ध लगाये हैं, जिससे वे देश के राजनैतिक सामाजिक एवं धार्मिक क्षेत्र में सदा पिछड़े हुए ही बने रहें।

इस अनीति के विरुद्ध महात्मा गाँधी ने उस देश में सत्याग्रह आन्दोलन चलाया था। उससे थोड़ी-सी स्थिति तो सुधरी पर प्राकारान्तर में लगभग वैसे ही प्रतिबन्ध अभी भी लगे हुए हैं। गोरे-काले का भेद हर क्षेत्र में एक अभिशाप के रूप में बना हुआ है।

पिछड़ी हुई जातियों के धकेले जाने के बावजूद उस देश में भारतीय अपनी जड़ें मजबूती से जमाये हुए हैं। उनकी आजीविका भी संतोषजनक है और शिक्षा, सभ्यता की दृष्टि से भी वे अपने आर्थिक परिश्रम के कारण अच्छी स्थिति में रह रहे हैं।

नागरिक अधिकारों के हनन के सम्बन्ध में शिकायत राष्ट्र संघ तक पहुँचायी गयी। भारत ने अपनी नाराजी भी व्यक्त की, पर इससे मदोन्मत गोरों का रवैया बदलने में कोई विशेष सहायता नही मिली है। इस देश मे जगह-जगह वर्ण भेद की कटुता प्रदर्शित करने वाले बोर्ड लगे हुए है। "केवल श्वेत लोगों के लिये" "केवल योरोपियनो के लिये" के बोर्ड रेलवे स्टेशन, पोस्ट ऑफिस जैसे जन संकुलित स्थानों पर लगे पाये जाते हैं।

इस रंग भेद को योरोपियन लोग भी बुरी दृष्टि से देखते है। आस्ट्रेलिया के हजारों गोरे इसके कारण अपने देश को यह कहते हुए वापस चले गये कि इस घृणा भरे विषैले वातावरण मे वे अपने बच्चों का पालन नही करना चाहते।

फिजी द्वीप समूह—फिजी द्वीप समूह दक्षिण प्रशान्त महासागर मे अवस्थित है। इसमे कुल मिलाकर ३६१ द्वीप है, जिनमे से ८० में मनुष्य रहते हैं। शेष

वीरान है। इनका क्षेत्रफल ७४३५ वर्गमील है। इनमें दो द्वीप है। बीतीलेवू और नावुआ लेबू। इनके अतिरिक्त कन्दावू और तक्यूनी भी बड़े टापू माने जा सकते हैं। राजधानी 'सूवा' नगर है, जो बीतीलेवू द्वीप के दक्षिण के किनारे पर बसा है। सन् १८६६ में अंग्रेज तथा दूसरे लोग इसमे आस्ट्रेलिया और न्यूजीलैण्ड से उठकर बसने लगे थे, पीछे सन् १८७४ मे फिजी पूरी तरह अंग्रेजो के हाथ मे आ गया। अब वह ब्रिटिश उपनिवेश है। इस देश मे गन्ना, केला और नारियल की विशेष उपज है। कपास, कॉफी, मक्का, तम्बाकू, अरण्डी, चावल की भी वहाँ उपज है। रस्सी बँटने को 'केतकी' भी यहाँ होती है। इन्ही चीजो का निर्यात भी होता है।

यों फिजी में वहाँ के मूल निवासी भी रहते हैं, पर उनकी जीवन चर्या अस्त-व्यस्त और असंस्कृत होने के कारण अंग्रेज जब उस देश को नये सिरे से बसाने लगे तो उन मूल निवासियों से श्रमिको का काम न लिया जा सका। भारत से श्रमिक बुलाने पड़े। अग्रेजी राज्य भारत में भी था इसलिये यहाँ से श्रमिकों की भर्ती करना कुछ कठिन न पड़ा। गरीबी तो थी ही। भर्ती एजेण्टो ने तरह-तरह के बहकावे देकर पर्याप्त सख्या मे मजदूर उपलब्ध किये। पानी के जहाजो में भरकर वे फीजी पहुँचाये गये। लगभग ६० हजार भारतवासी वहाँ पहुँचे थे, जिनमे ६५ प्रतिशत पुरुष और ३५ प्रतिशत स्त्रियाँ थी। उन्होंने बडी मुस्तैदी से उस देश को नये सिरे से बसाने और सुविकसित स्थिति तक पहुँचाने मे जी-जान से प्रयत्न किया। उसी का परिणाम है कि आज यह द्वीप समूह बहुत ही सुसभ्य और सनुन्नत बन चला है । बड़ी संख्या मे ससार भर के पर्यटक वहाँ पहुँचते हैं और सर्वत्र बिखरी पड़ी सुषमा को देखर आनन्द विभोर होते है। आज उस देश मे बसे भारतीय भी अच्छी स्थिति में है। ये उन श्रमिको की ही संतान हैं, जो सन् १८९७ से लेकर १९१६ तक वहाँ पहुँचते रहे थे। पॉच वर्ष के शर्त बन्द ठेके पर उन्हें वहाँ ले जाया गया था, उनमे से कुछ तो अवधि पूरा होने पर वापस लौट आये और कुछ वही स्थायी रूप से बस गये।

भारत से १२ हजार मील दूर ५ ॥ लाख की आबादी वाला यह द्वीप समूह अभी भी भारतीय संस्कृति के आलोक से जगमगाता है। यहाँ ३ लाख के लगभग भारतीय मूल के लोग रहते है। २ लाख उस देश के मूल निवासी तथा शेष योरोपियन, चीनी एवं दूसरे लोग है। चीनी तथा नारियल का यहाँ विशेष उत्पादन है। खनिजों में सोना प्रमुख है। राष्ट्रभाषा अंग्रेजी है, हिन्दी तथा मूल निवासियों की भाषा को भी मान्यता प्राप्त है। राजनैतिक दृष्टि से यहाँ दो पार्टियाँ है। (१) एलायन्स (२) नेशनल फैडरेशन। वर्तमान सरकार एलायन्स पार्टी की है। इसमे तीन मंत्री भारतीय भी है। यदि ये भारतीय संगठित होते तो द्वीप का शासनाधिकार उन्ही के हाथ में होता, क्योकि वे कुल आबादी में आधी से अधिक सख्या मे है।

फिजी मे रहने वाले भारत मूल के लोग उत्तर प्रदेश, राजस्थान, बिहार, पंजाब तथा दक्षिण भारत से, जाकर बसे है। प्रान्तीय भाषाओ को छोड़कर उन्होने हिन्दी बोलने का अभ्यास कर लिया है। यहाँ पर दो साप्ताहिक हिन्दी पत्र भी निकलते है। फिजी का रेडियो सप्ताह मे ७५ घण्टे हिन्दी कार्यक्रम प्रसारित करता है। "फिजी हिन्दी महा परिषद" ने भाषा प्रसार की दृष्टि से सराहनीय कार्य किया है। कला क्षेत्र में एक 'रंगमच' नामक संगठन का उदय हुआ है, जिसने कितने ही सुरुचिपूर्ण सांस्कृतिक कार्यक्रम सम्पन्न किये है। रामलीलाओ के आयोजन में फीजी के मूल निवासी—"कोई बीती" भी बड़े उत्साह से भाग लेते हैं।

आर्थिक दृष्टि से प्रत्येक भारतीय सम्पन्न है, हिन्दी उनकी आम भाषा है। राज्य भाषा अग्रेजी है। आदिवासियो मे से अधिकाश ईसाई धर्म मे दीक्षित हो चुके है। भारतीयो और आदिवासियो के बीच की सांस्कृतिक खाई को पाटने का किसी ने प्रयत्न नही किया।

भारतीय अनेक मत-मतान्तर मे विभक्त है। हिन्दुस्तान से प्राय. साधु, सन्त और धर्म प्रचारक पहुँचते रहते है। इन दिनो साँई बाबा, बाल योगेश्वर, आनन्द मार्ग आदि के ऐजेण्ट अपना अड्डा जमाते चले

जाते है। पुराने सनातन धर्मियों का ढर्रा अपने ढंग से चलता रहता है। कथा-कीर्तन तक उनकी गतिविधियाँ सीमित हैं। आर्य समाजी थोड़े हैं पर उनका कार्य मजबूत है।

फिजी निवासी भारतीयो की समस्याये सुलझाने तथा उन्हें समुचित प्रोत्साहन देने के लिये समय-समय पर कितने ही मूर्धन्य भारतवासी वहाँ जाते रहे हैं तथा अनेक प्रकार के प्रयत्न करते रहे हैं। उनमें श्री श्रीनिवास शास्त्री, पं. हृदय नाथ कुंजरू, श्रीविष्णु देव, डा. मणिलाल, अमीचन्द्र, विद्यालंकर के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। (सन् १९७२) भारत की प्रधान मंत्री श्रीमती इन्दिरा गांधी भी वहाँ गयी थी। यूरोपियन लोगों के रेवरेण्ड मैकमिलन, दीनबन्धु एण्डरूज आदि के नाम ऐसे है, जिन्हें फिजी निवासी भारतवासी सदा कृतज्ञतापूर्वक याद करते रहेगे। श्री तोताराम सनाढ्य वहाँ २१ वर्ष रहकर भारतीयों के लिये बहुत काम करते रहे थे।

सनातन धर्म सत्संग, रामायण मण्डली येलाण्ड्री नाबुआ, डिवायन लाइफ सोसायटी, सूबा आर्य प्रतिनिधि सभा-कबीर विश्व मन्दिर, नसीनू आदि संस्थाओं द्वारा फिजी द्वीप मे सांस्कृतिक चेतना जागृत रखने के लिये विविध प्रकार के सराहनीय आयोजन किये जाते रहते है।

जे डब्ल्यू बर्टन ने अपनी पुस्तक 'फिजी ऑफ टुडे' मे फिजी के आदिवासियो को भारतीयो के वंशज सिद्ध करने का प्रयत्न किया है। पाषाण प्रतिमाओ का पूजन, सर्पो को पवित्र मानना, भानजे को अधिक सम्मान देना जैसी कितनी ही प्रथाये उनमें भारतीयो जैसी हैं। साथ ही उनकी भाषा मे संस्कृत मूलक भारतीय भाषाओ के शब्दों का बाहुल्य है।

फिजी की धार्मिक सहिष्णुता देखने ही योग्य है। वहाँ कई देशो और कई धर्मों के लोग रहते हैं, पर इस भिन्नता के कारण उनकी मूल एकता में कोई अन्तर नही आता। होली, दिवाली, ईद और बड़ा दिन सब मिल-जुलकर मनाते है। गिरजाघरों और मस्जिदो में भी दिवाली के दिये जलते देखे जा सकते हैं। ईद, क्रिस्मस, ईस्टर आदि त्यौहारो पर हिन्दू भी उसी उत्साह से भाग लेते हैं।

यहाँ के मूल निवासी कभी जंगली और असभ्य माने जाते थे, पर वे अब सुसंस्कृत हो चले हैं और अपने देश की उन्नति में समुचित भाग ले रहे हैं। फिजी को भारतीय, चीनी यूरोपियन तथा फिजियन सभ्यता का सुन्दर संगम कहा जा सकता है। पिछले दिनों वहाँ ब्वान्द्रा सरकार की स्थापना के बाद भारतीयों के हित सुरक्षित नही रहे वे काफी संख्या में पलायन कर गये हैं।

हाँग-काँग—हाँग-काँग का क्षेत्रफल ३९१ वर्गमील है और आबादी ३३ लाख। इनमें ३२॥ लाख चीनी और बाकी ५० हजार में दूसरे देशों के निवासी सम्मिलित हैं। भारतीय संख्या में तो अधिक नही हैं, पर उनका व्यवसाय क्षेत्र पर अच्छा प्रभाव है। सिन्धी, पंजाबी, गुजराती और राजस्थानी भारतीय यहाँ व्यापार कार्यो मे संलग्न है। पुलिस में पंजाबी तथा गोरखे भी दिखाई पड़ते हैं।

चीन का समीपवर्ती हाँग-काँग जब ब्रिटिश उपनिवेश बना, तब वहाँ की जनसंख्या मात्र २४ हजार थी। उनमें ३६० भारतीय, ६०० यूरोपियन और शेष स्थानीय लोग थे। अब वहाँ की आबादी प्राय. ३३ लाख है इसमें भारतीय की संख्या ८२०० है।

हाँग-काँग में भारतीयो ने कुछ बहुत प्रशंसनीय कार्य किये हैं। डा. एच. एन. मोदी ने वहाँ बहुत धन कमाया। उस धन को उन्होने वहाँ एक मेडिकल कालेज बनाने मे खर्च कर दिया। पीछे वह कालेज सन् १९११ में विश्वविद्यालय का केन्द्र बन गया। डा. मोदी का अनुकरण अन्य भारतीयों ने भी किया और उन्होने रोग निदान केन्द्र, अस्पताल, स्कूल आदि बनवाये।

हाँग-काँग में ब्रिटिश कामन वेल्थ के कितने ही प्रवासी बसे हुए है? उनमे भारतीयो की संख्या सबसे अधिक है। अन्यान्यो में ५ हजार पाकिस्तानी ३०० आस्ट्रेलिया के, २०० न्यूजीलैण्ड के, ३०० लंका के तथा थोड़े-थोड़े अन्य देशों के भी बसे हुए है।

भारतीयो मे करीब एक हजार सिख है। १०० हिन्दू पंजाबी, ३०० तामिल, २०० मलायी, २५० गुजराती और थोड़े-थोड़े बगाली, मराठी, काश्मीरी, उत्तर प्रदेश, आन्ध्र, बिहार, हिमाचल प्रदेश, कर्नाटक आदि के

लोग हैं। पंजाबियों को सरकारी क्षेत्र में अच्छी जगह प्राप्त हैं। उनके व्यापार में बहुत व्यवसाय आते हैं। "पंजाबी रेस्टोरेन्ट"—"बॉम्बे रेस्टोरेन्ट"—"गोलार्ड" —"ताजमहल" "एम्बेसेडर" आदि कीमती होटल इन्हीं लोगों के हैं।

सिन्धी लोग १८९० में वहाँ पहुँचे थे और प्रवास वर्षों में उनकी संख्या आश्चर्यजनक रूप से बढ़ी। आज हाँग-काँग के भारतीयों में सिन्धी ही सबसे अधिक हैं। कुछ वर्ष पहले उस देश के व्यापार मे भारतीयों का १६ प्रतिशत आधिपत्य था। अब वह घट कर ४ ॥ प्रतिशत रह गया है। वे दूसरों की प्रतिद्वंद्विता में पिछड़ते चले जा रहे हैं।

हाँग-काँग ब्रिटेन को चीन द्वारा ९९ वर्ष के पट्टे पर दिया हुआ है, जो १९९७ में समाप्त हो जायेगा। तब इस ३२५ मील के बारे मे दोनों देश पुनर्विचार करेंगे और उसका भविष्य निर्धारण करेंगे। चीन के वर्तमान रुख को देखते हुए यह आशंका की जाती है कि वह शायद पट्टा आगे जारी न रहने दे अथवा शर्त कड़ी कर दें। ऐसी दशा मे भारतीयो का वहाँ बने रहना कठिन हो जायेगा।

हाँग-काँग मे भारतीयों मे तीन संगठन है। वे व्यवसाय अथवा धर्म संप्रदाय के नाम पर गठित हैं। यदि देश में एकता-मेल रहा होता तो भारतीयो की संगठित शक्ति के दर्शन होते।

जापान—भारत के अतिरिक्त संसार मे केवल जापान ही एक ऐसा देश है, जिसके छात्र बहुत बड़ी संख्या मे सस्कृत पढ़ते है। आरम्भिक ज्ञान वालो की सख्या तो काफी बड़ी है। उस समय मे स्थापित 'जापानी एसोसिएशन ऑफ इण्डियन एण्ड बुद्धिस्ट स्टडीज' इन दोनो धर्मो के सार तत्वो को जापानी जनता तक पहुँचाने में सलग्न है। एक नई संस्था 'कल्चरल रिसर्चेज याकोहामा' ने अपने शिक्षण क्रम मे 'इण्डोलॉजी' को सम्मिलित किया है और भारतीय दर्शन यात्रा मे जापानियों की रुचि बढ़ाई है।

फिलीपाइन्स—फिलीपाइन्स द्वीप समूह मे छोटे-बड़े ७०८३ द्वीप है। इनमें ४६६ तो २ ॥ वर्ग किलोमीटर क्षेत्रफल के ही है। ६६०६ मध्यम क्षेत्रफल के है। ९ ऐसे है जिनका विस्तार २ ॥ हजार किलोमीटर है। २ द्वीप बड़े है। लूजन-१ लाख ५ हजार वर्ग किलोमीटर, मिण्डानव -९५ हजार वर्ग किलोमीटर। समस्त द्वीप समूह का क्षेत्रफल ३ लाख ८ हजार वर्ग किलोमीटर है। आबादी प्रायः २ करोड़ २५ लाख है।

इन द्वीपो पर पिछले दिनो स्पेन, अमरीका एव जापान का अधिकार रहा है। अब वह क्षेत्रफल स्वतंत्र है। ईसाई, मुसलमानों के अतिरिक्त यहाँ हिन्दू धर्मानुयायी भी है, जिन्हें मूर्तिपूजक के नाम से संबोधित किया जाता है। भारत से सम्बन्ध बहुत दिनो तक टूटा रहने के कारण उनकी मूर्ति पूजा भारत से मिलती-जुलती होते हुए भी अपने ढंग की अनौखी ही है। रीति-रिवाज भी विचित्र है।

इण्डोनेशिया—इण्डोनेशिया (हिन्देशिया) कई गणतंत्रो मे विभक्त है—(१) जावा (२) सुमात्रा (३) बोर्नियो (४) सेलीबीज (५) बाली (६) मोलक्का द्वीप समूह।

(१) जावा की आबादी ५ करोड, क्षेत्रफल १ लाख ३२ हजार वर्ग किलोमीटर है। (२) सुमात्रा की आबादी १ ॥ करोड़, क्षेत्रफल ४ लाख २५ हजार वर्ग किलोमीटर (३) बोर्नियो की आबादी ४ लाख १० हजार, क्षेत्रफल ६ लाख ८ हजार वर्ग किलोमीटर (४) सेलीबीज की आबादी ६५ लाख, क्षेत्रफल १ लाख ८८ हजार वर्ग किलोमीटर (५) बाली की आबादी २५ लाख, क्षेत्रफल १० हजार ५०० किलोमीटर (६) मोलक्का द्वीप समूह में कुछ द्वीप निर्जन कुछ बिरल आबादी वाले आदिवासियों के है। इनमे चन्दन, काली मिर्च तथा दूसरे मसाले पैदा होते है।

इण्डोनेशिया क्षेत्र में अब से दो हजार वर्ष पूर्व भारतीयो का पदार्पण हुआ था। अब भी इस क्षेत्र मे जावा और सुमात्रा क्षेत्र मे भारतीयो की अच्छी सख्या विद्यमान है। इनमे दक्षिण भारत के चेट्टियार, मुदालियर, मद्रासी, सिन्धी, सिख, गुजराती और मुसलमान लोग है। इस क्षेत्र मे ६० प्रतिशत लोग भारतीय मूल के है। इन लोगो ने उसी क्षेत्र की महिलाओ से विवाह कर लिये है। वे एक प्रकार से स्थायी रूप मे वहीं की सभ्यता मे घुल-मिल गये है

और अपने आपको वहाँ का स्थिर नागरिक मानते हैं। भारत के प्रति उनकी श्रद्धा तो बहुत है, पर लौटकर वहाँ बसने की बात नही सोचते। भारतीयो और इण्डोनेशियनो की सम्मिलित नस्ल "पेरानाकन्स" कहलाती है, जिसकी संख्या दिनों-दिन तेजी से बढ़ रही है।

इस क्षेत्र के सिन्धी लोग अधिक धनी हैं। अन्य प्रवासियो में कृषक, श्रमिक, गाड़ीवान, नाई, ठेकेदार, सुनार, साहूकार, व्यवसायी, सरकारी कर्मचारी आदि हैं। इस्लाम धर्म का इस क्षेत्र में अच्छा दबदबा है, पर हिन्दू मुसलमानो का जैसा विद्वेष भारत मे है, वैसा वहाँ नही है। सब लोग प्रेमपूर्वक रहते हैं। धर्म की तरह नस्ल झंझट भी वहाँ नहीं है। उस क्षेत्र मे "इण्डियन एसोसिएशन ऑफ जकातो" भारतीयों की प्रतिभाशाली संस्था है।

देहाती क्षेत्र मे कितने ही मन्दिर हैं। ब्राह्मणों की बस्तियाँ "पेड जेग कत्लानी" मे है, जो इस क्षेत्र मे ४० के लगभग है। ३० बेदूलू हैं, उन्हें अन्यान्य भारतीयों की सम्मिलित बस्तियाँ तथा मन्दिर क्षेत्र कह सकते हैं।

इण्डोनेशिया की "हिन्दू धर्म परिषद" की ओर से एक "हिन्दू धर्म" सामाजिक पत्रिका भी प्रकाशित होती है। वहाँ की "हिन्दू सहायता समिति" एक पाठशाला चलाती है, जिसमें हिन्दी, संस्कृत तथा हिन्दू धर्म की आवश्यक जानकारियो की शिक्षा दी जाती है।

हिन्द चीन—इण्डोचायना (हिन्द चीन) द्वितीय महायुद्ध से पूर्व फ्रांसीसी साम्राज्य का उपनिवेश था। उसमे पाँच प्रदेश थे—

(१) कम्बोडिया (२) लाओस (३) कोचीन (४) अनाम (५) टोंगकिंग।

द्वितीय महायुद्ध के बाद इन्हें संगठित किया गया, जिससे वे तीन ही रह गये—

(१) कम्बोडिया (२) लाओस (३) कोचीन अनाम तथा टोंगकिंग का नाम वियतनाम रखा गया।

कम्बोडिया की आबादी ५५ लाख और क्षेत्रफल १ लाख ७५ हजार वर्ग किलोमीटर है। लाओस की आबादी २ लाख और क्षेत्रफल २ लाख ३७ हजार वर्ग किलोमीटर है।

वियतनाम अब उत्तर वियतनाम (साम्यवादी), दक्षिण वियतनाम (प्रजातंत्रीय) दो भागो मे विभक्त है।

थाईलैण्ड—पूर्वकाल का स्याम अब सन् १९३९ में थाईलैण्ड बन गया है। सादगी से बने बौद्ध मन्दिर पागोडा कहलाते है और शानदार हिन्दू मन्दिर 'बाट' कहलाते हैं। वे पशु माँस नही खाते, परन्तु मछली को प्राय: सभी खाते है, क्योकि मछली पानी से निकलने पर स्वतः मर जाती है, किसी को मारनी नहीं पड़ती। इस तर्क के अनुसार वे मछली खाने मे हिंसा नही मानते।

वर्तमान शताब्दी मे स्वामी सत्यानन्द पुरी थाईलैण्ड जाकर बसे थे। उन्होने भारतीय संस्कृति का थाई देश मे प्रसार करने के लिये बेंकोक मे "थाई भारत संस्कृति आश्रम" की स्थापना की। चूलालो खोन विश्वविद्यालय में उन्हे संस्कृत अध्यापन का भी कार्य मिला। स्वामी जी उस देश की जनता मे बहुत लोकप्रिय थे। उनने कई ग्रन्थ लिखे।

थाईलैण्ड में अधिकांश भारतीय दक्षिण भारत के हैं। उनकी संख्या २० हजार के लगभग है। वस्त्र व्यवसाय इनका प्रधान धंधा है। मद्रास के बैंक "इण्डियन ओवरसीज बैंक" की एक शाखा यहाँ है।

कम्बोडिया के भारतीयो मे अधिकांश सिन्धी हैं। इसके बाद उत्तर भारत के लोगों का नम्बर आता है। बैंकोक नगर में भारतीय अधिक है। उनका व्यवसाय वस्त्र विक्रय है। वे उस देश मे अन्यत्र भी बसे हैं और अन्यान्य व्यवसाय भी करते है।

वियतनाम—वियतनाम मे भारतीयो की संख्या आठ हजार है। ये मुख्यत: सैगोन मे घनीभूत हैं। वे हिन्दू, बौद्ध और मुसलमान धर्मानुयायी है। इनमे से ५ हजार ऐसे होगे, जिनमे वियतनामी रक्त का मिश्रण है। भारतीयो ने उस देश मे मूल निवासियो के साथ अपने विवाह सम्बन्ध का मार्ग आरम्भ से ही खुला रखा है। सैगोन एवं कोलोन में दो मस्जिदे, दो गुरुद्वारे तथा हिन्दू मन्दिर हैं। एक देवी मरिअम्मा का है। ईसाई धर्म की पूज्य मरियम का हिन्दू धर्म के साथ यह अद्भुत तालमेल है।

यहाँ के अधिकांश भारतीय कपड़े का खुदरा तथा थोक व्यापार करते हैं। कितनों की अन्य बड़ी दुकानें है। कई बड़े जमींदार है। व्यापारी प्रकृति होने के कारण वे छोटे-बड़े व्यवसायो में लगे हुए हैं। कितनी ही लाभदायक ऐजेन्सियाँ वे लोग चलाते हैं। भारत के मूल विपतनामियों को यह शिकायत नही है कि नस्ल के आधार पर सरकार अथवा जनता किसी प्रकार का भेदभाव करती है।

बाली—पिछले दिनों भारतीय सभ्यता का केन्द्र इण्डोनेशिया से हटकर बाली द्वीप में आ गया। इस देश में हिन्दू और बौद्ध धर्म का सराहनीय समन्वय हुआ है। यह छोटा-सा द्वीप हजारो मन्दिरों से पटा पड़ा है। इनमें ब्रह्मा, विष्णु, महेश, गणेश, दुर्गा, राम आदि की मूर्तियों का बाहुल्य है। बौद्ध प्रतिमाये उसी सम्मान से पूजी जाती हैं। बौद्ध लोग हिन्दू देवताओं की भी उपासना करते है। इस देश के भारतीयो में अभी भी चार वर्णों का प्रचलन है, पर उसमें ऊँच-नीच और कट्टरता का नाम नहीं है। कोई भी वर्ण किसी भी व्यवसाय को बिना किसी भेदभाव के कर सकता है।

मलेशिया—सन् १९३१ के सर्वेक्षण में मलेशिया का व्यापार १० प्रतिशत भारतीयों के हाथ में था। कृषि, वनविभाग, मत्स्योद्योग जैसे कार्य तो ५३ प्रतिशत उन्ही के हाथ में थे। उस देश की कुल संख्या में वे ११ प्रतिशत थे। इसमे हिन्दू और मुसलमान धर्मावलम्बी दोनों ही सम्मिलित हैं। द्वितीय महायुद्ध के बाद मलाया में भी *विदेशियों* को बाहर निकालने की मुहिम चली, तदनुसार अस्थायी नागरिकता वाले भारतीयों को भी वहाँ से वापस लौटना पड़ा। सन् १९५० तक उनका जो वर्चस्व था उसमें अब काफी कमी आ गयी है। चीनियो को जो सुविधाये वहाँ है, वे भारतीयो को नही हैं। अस्तु, उनकी स्थिति कमजोर होती चली जा रही है।

मलेशिया में अभी भी ९॥ लाख भारतीय मूल के लोग बसे हुए हैं। उनकी संख्या ९ प्रतिशत है। इनमे से आधे सरकारी अथवा गैर-सरकारी नौकरी करते हैं। एक तिहाई व्यापारी है। कुछ लोग श्रमजीवी, शिल्पी, वकील, डाक्टर आदि है।

मलेशिया के निवासियो में तीन घटक है। (१) उस क्षेत्र के मूल निवासी (२) चीनी मूल के (३) भारतीयों में अधिकांश दक्षिणी भारत तमिल भाषी हैं। इनमें कुछ लोग पंजाब, राजस्थान, महाराष्ट्र बंगाल आदि प्रान्तों से पहुँचे हुए भी है। रेलवे, पुलिस, सुरक्षा विभाग आदि में वे सरकारी, गैर-सरकारी नौकरियो में भी लगे हुए पाये जायेंगे।

सिंगापुर की प्रत्यक्ष उन्नति में और पेनांग की अप्रत्यक्ष उन्नति में जिन भारतीयों का प्रमुख हाथ रहा है, उनमें सिन्धी, मारवाड़ी, गुजराती और बिहारी मुख्य थे।

सिंगापुर विश्व के विस्तृत बन्दरगाहों मे से एक है। इन दिनों सिंगापुर की आबादी २५ लाख है जिनमे २ लाख भारतीय है।

अफगानिस्तान—कहा जाता है कि *अफगानिस्तान आर्यों का मूल उद्गम स्थान है*, पर पिछले दिनों इस्लाम का दबदबा वहाँ रहने से अब इस बात के प्रमाण ढूँढ़ सकना कठिन है कि क्या यही आर्यों का मूलउद्गमस्थान था। इतने पर भी वहाँ हिन्दू धर्म के अवशेष एव प्रमाण बहुत हैं। काबुल का विशाल माता मन्दिर तब का बना है, जब उस देश मे इस्लाम का प्रसार नही हुआ था। ठाकुर जी का मन्दिर आसामयी के मन्दिर भी ऐसे ही हैं। शिव मन्दिर नगर के बीचो बीच हैं। कई गुरुद्वारे है जिनके साथ धार्मिक स्थल जुड़े हैं। जलालाबाद और कंधार का शिव मन्दिर, गजनी के समीप दुर्गा मन्दिर बहुत विख्यात है। इनमें हिन्दू ही नही मुसलमान भी दर्शन करने आते है।

लोहगार का झरना जिसे 'बड़ गगा' कहते है। हिन्दू-धर्मानुयायियों के लिये भारत गंगा की तरह पवित्र है। यहाँ पर्वों पर स्नान करने के लिये बहुत भारी भीड़े एकत्रित होती है। जटा शंकर, शेर भवानी, गुप्त गंगा अन्य ऐसे कई स्थान है, जो तीर्थों की तरह प्रयुक्त होते है। शिवाकी, बुद्धघाट, लोगा, शकर दर्रा आदि स्थान प्राचीन हिन्दू सस्कृति से सम्बन्धित है। हद्धा और गजनी की खुदाई से कई शिव मन्दिरो और बौद्ध मन्दिरो के खण्डहर मिले है।

वैसाखी, दिवाली, शिवरात्रि, बसन्त पंचमी, कृष्ण जन्माष्टमी, हिन्दुओं द्वारा मनायी जाती है। गुरुद्वारो मे गुरु नानक तथा अन्य गुरुओ की जयन्तियाँ मनायी जाती है। वर्ष में एक बार बादशाह का चाचा इन

उत्सवो मे भाग लेने के लिये आते है, हिन्दुओ की ओर से उनका स्वागत किया जाता है।

अफगानिस्तान मे हिन्दुओ की पारिवारिक तथा सामाजिक स्थिति भारत जैसी ही है। वे संयुक्त परिवार पद्धति का पालन करते है। तलाक उनमे नही है। धार्मिक रीति-रिवाजों मे पुरुषो की अपेक्षा स्त्रियाँ अधिक कट्टर है। शिक्षा की सुविधाये होते हुए भी देहाती क्षेत्र मे बिखरे हुए हिन्दू उसमे कम ही रुचि लेते है। खेती, बागवानी, व्यापार, कारखाने वे चलाते है। धनियो की संख्या कम है। जो है उन्होंने धन कारखानों मे लगा रखा है। अमीरो जैसी सुविधा भोगने वाले हिन्दू कम ही है।

सरकार द्वारा भारत के बुलाये गये डाक्टर इर्जीयनियर, प्रोफेसर तथा प्रशासिनक अधिकारी वहाँ पहुँचते हैं और बडे नगरो मे रहते हैं। वहाँ की *लोकसभा मे एक हिन्दू सदस्य भी है।* सन् १९६३ में काबुल मे अफगान 'हिन्दू सहायता समिति' की स्थापना हुई थी, जिसके द्वारा हिन्दू धर्म की सास्कृतिक जानकारियाँ देने तथा कुरीतियो को दूर करने का प्रयत्न किया जाता है। उसने एक "असीमियाई स्कूल" भी खोला है जिसमे हिन्दी पढाने तथा धार्मिक शिक्षा देने की व्यवस्था है।

अफगानिस्तान मे इन दिनो हिन्दुओ की सख्या लगभग २५ हजार हैं। वे विशेषतया बडे नगरो मे रहते हैं। काबुल, कन्धार, जलालाबाद गजनी, खानाबाद, कुन्दूज, तालुकान, लगमान और सुल्तानपुर में उनकी अच्छी बस्तियाँ है।

शिक्षा की दृष्टि से अफगानिस्तान के भारतीय बहुत पिछड़े हुए है। हाईस्कूल पास कर लिया तो बहुत, ग्रेजुएट तो बहुत ही कम है। जो है वे भी किसी बुद्धिजीवी क्षेत्र मे जाने की अपेक्षा अपने पैतृक व्यवसाय मे ही सलग्न है। लड़कियों मे तो हाईस्कूल पास उंगलियों पर गिनने जितनी ही मिलेगी।

अफगानिस्तान और ईरान धर्म से मुसलमान है, पर उनकी नस्ल अरब नही आर्य है। इतिहासकारो ने इन्हे आर्यन देश लिखा है। अफगानों का दावा है कि वेदों का उदय उन्ही के देश मे हुआ था। ईरान के - के नाम के साथ जो पदवियाँ जुड़ी हुई है, उनमे एक आर्य-मिहिर भी है, उसका अर्थ होता है आर्य वंश के सूर्य। ईराक के कुर्द जाति के लोग अपने आप को भारतीयो को सजातीय मानते हैं।

अफगानिस्तान की राजधानी काबुल में पीर रतननाथजी की दरगाह को नया रूप दिया जा रहा है। उसमें एक विशाल सत्संग भवन, शिवालय, रामायण कक्ष बनाने का प्रयत्न चल रहा है। अब से ५५० वर्ष पूर्व भारत के एक सन्त रतननाथजी उस देश में धर्म प्रचार के लिये गये थे। उन्होने एक मन्दिर बनवाया था, उसी को दरगाह कहते थे। उस देश के हिन्दुओ मे इन पीर (सन्त) के प्रति बहुत आस्था है। उनके पुराने स्थान को नया रूप दिया जा रहा है। इसी प्रकार आसामयी के मन्दिर मे, जहाँ कृष्ण जन्माष्टमी का मेला भरता है, अब एक कृष्ण मन्दिर बनाने की योजना है।

कुवैत—कुवैत मे गुजराती, समाज, *इण्डियन आर्ट सर्किल, गीता सोसाइटी, तमिल संघम आदि* सस्थाओ द्वारा भारतीय परम्परा से सम्बन्धित नाटक एवं सांस्कृतिक कार्यक्रम एवं प्रवचनो का आयोजन होता रहता है। सालमिथाह मे एक हिन्दुस्तानी स्कूल है। उसकी शाखा फाहाहाल गाँव में भी है। इनमे भारतीय छात्रो के भारत में चलने वाले पाठ्य-क्रम के अनुसार बच्चो की शिक्षा देने की व्यवस्था है।

कुवैत में १२ हजार के करीब भारतीय है। इनमे मुख्यतः केरल तथा गोआ के है। गुजराती व्यापार करते है, सिक्खो की संख्या भी २०० के करीब है। दक्षिण के लोग सरकारी-गैर-सरकारी नौकरियो मे है। कुछ अच्छे भारतीय डॉक्टर भी है। इनमे से डॉ. प्रीतम सिह साहनी ने अच्छा नाम कमाया है। व्यापारियो मे उत्तम चन्द कोहली, नारायण सब्बरवाल, एस एस शर्मा और सेठी ब्रादर्स के नाम अग्रणी है। कुवैत निवासियो के साथ मिलकर व्यापार कर सकने के कानून के कारण भारतीय व्यापारियो को भी साझेदारी मे ही काम करना पड़ता है।

कुवैत मे नागरिकता प्राप्त करना किसी विदेशी के लिये प्राय: असंभव है। अरब देशो का व्यक्ति १५ वर्ष और अन्य देशों का ३० वर्ष तक लगातार वहाँ रहने के बाद ही नागरिक बनने की अर्जी दे सकता है। इस प्रतिबन्ध के कारण एक भी भारतीय

वहाँ का नागरिक नही है। सबसे पुराने निवासी रिटायर्ड सूबेदार मेजर गुरुमुख सिंह सेठी हैं। पर वे भी नागरिक नही हैं। नियत अवधि पूरी करके भारतीयों को वहाँ से वापिस लौटना पड़ता है। दीपावली उत्सव सभी भारतीय मिल-जुलकर मनाते हैं।

हिन्दुस्तान से कोई तीन हजार किलोमीटर दूर कुवैत' की आवादी पौने दो लाख है। लेकिन वार्षिक सरकारी बजट ९० करोड़ रुपया है। इस देश मे तेल से इतनी आमदनी है कि एक वर्ष की कमाई दस वर्ष का सरकारी खर्च चला सकती है। यहाँ अनाज, सब्जी, दूध, चीनी, कपड़े जैसी दैनिक आवश्यकता की वस्तुये भी पैदा नही होती। प्राय: हर चीज बाहर से मंगानी पड़ती हैं। सऊदी अरब के पूर्वी किनारे पर यह शेख शासित एक छोटा-सा राज्य है जो सोना उगलता है। यो अभी वहाँ रेल, ट्राम, नहर, तालाब, कुएँ, बगीचे आदि नही हैं फिर भी समुद्री घाट और हवाई अड्डे का विस्तार हो रहा है। बिजली की, टेलीफोन की घर-घर सुविधा है।

हेजाज—हज करने वाले यात्रियों में से बहुत से यहाँ बस गये हैं। वह कोई कार्य व्यवसाय नही करते। प्राय: सचित पूँजी से ही गुजारा करते हैं अथवा धर्मस्थानो से ही भोजन पाते हैं। इनमें अधिकांश वृद्ध मुसलमान होते हैं पिछड़े दिनो उनकी सख्या ४ हजार थी।

जिद्दा मे ३०० भारतीय हैं। वे छोटी-मोटी दुकानदारी करते है। कुछ क्लर्क भी हैं । मदीना में कुछ मुसलमान भारतीय व्यापारी है।

मस्कत में ४५०० भारतीय हैं, कुछ सरकारी नौकरियो में और कुछ डाक्टर नर्स हैं । यहाँ के भारतीय अपनी ईमानदारी, सच्चाई और भलमनसाहत के लिये प्रसिद्ध हैं। उनकी प्रामाणिकता पर कोई अविश्वास नही करता ।

ईराक—ईराक में करीब २०० भारतीय रहते है , जो बगदाद , बसरा, मोसल , सुलेमानियाँ में बसे हुए हैं । वहाँ की सरकार ने बहुत-से शिक्षक वहाँ बुलाये हैं। बगदाद मे भारतीयों के दर्जनो घोबी ग्रह है। यह लॉन्ड्रियाँ प्रतिष्ठा प्राप्त हैं तथा संचालको को अच्छी आजीविका देती है ।

बगदाद का इण्डियन एसोसियेशन अक्सर प्रीतिभोजों, पिकनिको तथा सांस्कृतिक कार्यक्रमो का आयोजन करता रहता है।

बगदाद में एक सिख गुरुद्वारा है जिसके बारे में कहा जाता है कि सन् १५२० में गुरु नानक वहाँ पहुँचे थे और सूफी सन्त वहलोल से सत्संग किया था। उसी घटना की स्मृति मे यह गुरुद्वारा बना है। गुरुद्वारे पर इसी विवरण का एक शिला-लेख लगा हुआ है।

बेहरीन—बेहरीन की तेल कम्पनी मे कितने ही भारतीय काम करते है। टेक्नीशियन, एकाउण्टेण्ट, डॉक्टर, नर्सें यहाँ प्राय: भारत के केरल प्रान्त से आये हैं। सिन्धी तथा गुजरातियो का व्यापार है। सरकारी कानून यह है कि कोई विदेशी यहाँ केवल स्थानीय नागरिको की साझेदारी मे ही कोई व्यापार कर सकता है। भारतीयो का समस्त व्यापार यहाँ भागीदारी के नियमानुसार ही चलता है। वैसे कितने ही ठेकेदार-कारीगर, श्रमिक अपना काम स्वतन्त्र रूप से भी करते है। यहाँ एक भारतीय स्कूल है, जिसमे अग्रेजी तथा हिन्दी के माध्यम से आठवें दर्जे तक की शिक्षा दी जाती है। स्कूल का नाम है "इण्डियन सेन्ट्रल बोर्ड ऑफ स्कूल"।

बेहरीन मे भारतीयो के कई संगठन है—इण्डियन एसोसिएशन, केरल समाजम्, तमिल सघम्, भारतीय मित्र मण्डल, कर्नाटक कल्ब, यंग गोअन्स क्लब, बेहरीन स्पोर्टस क्लब। यहाँ के चार सिनेमाघरो मे हिन्दी फिल्मे दिखाने का भी प्रबन्ध है। हिन्दुओं का एक मन्दिर भी है। दिवाली, पोगल, ओणम् पर्व बड़ी सज-धज के साथ मनाये जाते है। सन् ७२ से यहाँ गीता यज्ञ के नाम से एक सत्संग कार्यक्रम प्रारम्भ हुआ है। एक लायब्रेरी तथा बाल विहार भी खुला है।

बार्वन—एड्रीयज, मौरीश, मैस्केरीन के मध्यवर्ती फ्रांसीसी द्वीप 'बार्वन मे सन् १८३० मे चार भारतीय मजदूरो का एक दल पहुँचा था। उसमे पीछे एक लौटा और तीन वही बस गये। इनके वशज तथा सम्बन्धी बढ़-कर अब बड़ी संख्या मे वहाँ हो गये है। उनका अच्छा व्यापार अब वहाँ है?

वर्मा—वर्मा की नस्ल की संस्कृति को देखते हुए विज्ञानी उसे इण्डो चाइनीज समन्वय कहते है।

स्थायी नागरिकता स्वीकार कर ली है, वे ही वहाँ बचे हैं। अस्थायी निवास करने वालों की संख्या बहुत कम है।

नेपाल—नेपाल में ८७ प्रतिशत हिन्दू, ९ प्रतिशत बौद्ध, ३ प्रतिशत मुसलमान और १ प्रतिशत ईसाई धर्मावलम्बी रहते हैं।

नेपाल की जनता अधिकतर भारतीय मूल की हैमंगोलियन नस्ल के पुरखे भी वस्तुतः धर्म और रक्त की दृष्टि से भारतीय ही कहे जा सकते हैं। उस देश का ९० प्रतिशत व्यापार भारत के साथ है। कुछ समय पूर्व तक भारत और नेपाल के मध्य उन्मुक्त व्यापार था। प्रान्तों में जिस प्रकार चुंगी आदि के थोड़े प्रतिबन्ध हैं वैसे ही भारत-नेपाल के बीच भी थे। पर अब अलगाव की भावना ने क्रमशः प्रतिबन्धों को कड़ा करना आरम्भ कर दिया है और भारतीयों की गणना विदेशियो में होने लगी है। विकास व्यापार सम्बन्धी हस्तातरण आदि पर कितने ही प्रतिबन्ध लगाये गये हैं? फिर भी दोनो देशों की सांस्कृतिक एकता में कोई अन्तर नही आया है।

भारतीय तत्वज्ञान को विश्वव्यापी बनाया जाय

आज भौतिकवाद की बाढ़ चरमसीमा पर है। , बौना होता है और सिकुड़ता चला जा रहा धापी के अतिरिक्त उसे कुछ र्थों के लिये व्यक्ति और करने पर उतारू है। विकास जिस दिशा मे के लिये लालायित है मनुष्य जाति को विवश करेंगे। चेष्टा और सम्पदा करती चली जा दुर्भाग्य मे होगा है।

पर खड़ी मूक-दर्शक बने देखें यह उचित न होगा। इतिहास साक्षी है कि विश्व की समग्र प्रगति में भारत ने अपने विकास के आरम्भ से ही असाधारण योगदान दिया है। इस देश के देव-मानव सदा से अपने को विश्व मानव मानते रहे हैं और क्षेत्र विशेष की परिधि में अपने को सीमित न रखकर समस्त ससार की अवगति को प्रगति में बदलने के लिये भागीरथ प्रयत्न करते रहे हैं। इस देश मे निर्वाह की समुचित सुविधाये रही हैं। रत्नगर्भा भारत भूमि के वरद् पुत्रों को कभी किसी बात का अभाव दारिद्रय नही रहा। वे समस्त विश्व को अपना सेवा क्षेत्र मानकर सुदूर भूखण्डों में अत्यन्त कठिन यात्रायें करते रहे हैं और अविकसित पड़े भूखण्डों के पिछड़ेपन को दूर करने के लिये अपने ज्ञान-विज्ञान का पूरा-पूरा अनुदान प्रदान करते रहे है। वन्य-जीवों जैसा जीवन यापन करने वाले मनुष्यों को कृषि पशुपालन व्यवसाय, शिल्प, वाहन, परिवहन, शिक्षा, चिकित्सा, समाज संगठन, शासन, धर्म संस्कृति आदि से परिचित कराया और उन प्रगति से उन्हें अभ्यस्त बनाकर सुविकसित स्तर तक पहुँचाया। ऐसे अनुदानों ने ही ससार के कोने-कोने से जगद्गुरु का भाव भरा सम्मान प्राप्त कराया। उसका चक्रवर्ती सांस्कृतिक साम्राज्य दुनियाँ की इन्च-इन्च भूमि पर छाया हुआ था। यह सब इसलिये सम्भव हो सका कि यहाँ के निवासी सीमित क्षेत्रों मे अपने स्वार्थों को सीमित नही रखे रहे वरन् उन्होने समस्त विश्व को अपना घर-परिवार माना और सार्वभौम सुख-शान्ति को अपनी निजी प्रगति मानकर किसी भौतिक महत्त्वाकाक्षा से प्रेरित होकर नही वरन् सर्वजनीन उत्कर्ष के लिये वे अपने अस्तित्व को समर्पित करने में गर्व-गौरव अनुभव करते रहे हैं।

आज की स्थिति मे संसार भूतकालीन पिछड़ेपन की अपेक्षा कही अधिक दुर्गति ग्रस्त है। अतीत का पिछड़ापन अन्न, वस्त्र, निवास चिकित्सा, शिक्षा आदि की दृष्टि से ही अभावपूर्ण था। उन दिनो की आवश्यकतायें और आकांक्षाये सीमित रहने से भी लोग उन परिस्थितियो मे भी किसी प्राकर तालमेल बिठा लेते थे और बिना उद्विग्नता की जिन्दगी जी लेते थे। आज हम बुद्धि, धन और सामग्री से सुसम्पन्न होते हुए भी उस आदिम काल के मनुष्यों की अपेक्षा कही

मंगोल नस्ल उस क्षेत्र के मूल निवासियों की जलवायु के प्रभाव से रही है। पीछे वहाँ भारतीय जन प्रवाह अपनी महान संस्कृति एव अन्यान्य उपलब्धियों को लेकर जा पहुँचा। उस सगम का परिणाम उस रूप मे सामने आया जिसे वर्तमान वर्मा कहते हैं।

रूसी साहित्यकार नीतिकीव के अनुसार वर्मा और पेगू को उन भारतीयो द्वारा सुव्यवस्थित रूप से बसाया गया जो धर्म प्रसार एव समृद्धि संवर्धन की दृष्टि से उस क्षेत्र मे गये थे।

जिन दिनों अंग्रेज वर्मा में थे उन दिनों भारतीयो की सख्या उस देश में बहुत अधिक हो गयी थी। वर्मी और भारतीय मिल-जुलकर उस क्षेत्र की सर्वतोमुखी प्रगति में लगे हुए थे। इन दिनो रंगून भारतीय वहुल नगर था। सन् १९४१ मे उस देश मे ११ लाख भारतीय थे, जिनमे ३ लाख तो अकेले रगून में ही रहते थे। वर्मी और भारतीय रक्त का सम्मिश्रण निरन्तर होता रहा। इससे किसी प्रकार की कोई समस्या उत्पन्न नही हुई।

सन् १९४२ मे जापान ने वर्मा पर आक्रमण किया तब करीब ४ लाख भारतीय वापिस लौट आये। जब उग्रपथी सरकार बनी तो उसने भारतीयों को खदेड़ने की नीति अपनायी। फलस्वरूप बहुत बड़ी सख्या मे उन्हें अपनी सम्पत्ति और व्यापार छोड़कर लौटना पड़ा। जो स्थायी नागरिक बन गये हैं, वे तो वहाँ रह रहे है किन्तु अस्थायी नागरिको की सख्या अब वहाँ नगण्य ही रह गयी है।

वर्मा के विकास मे भारतवासियो ने आरम्भ से ही महत्वपूर्ण योगदान दिया है। रगून यूनिवर्सिटी बनाने मे ५० लाख रुपया लगा है, जिसमे आधे से अधिक पैसा भारत मूल के लोगो ने दिया है। कॉमर्स विभाग की पीठिका-पुस्तकालय विशुद्ध रूप से उन्ही के धन से बना है। कितने ही अस्पताल-स्कूल उन्होंने बनवाये और चलाये। रामकृष्ण परमहंस अस्पताल का रगून मे अभी भी एक साधन सम्पन्न चिकित्सालय है।

सन् १९५० मे सनातन धर्म स्वय सेवक संघ नामक एक सस्था स्थापित हुई, जो वर्मी तथा भारतीय ... के बीच स्नेह-सौजन्य एव सहयोग उत्पन्न ... तरह-तरह के प्रयास एवं आयोजन करती रहती है। श्वेतो में उसका एक अनाथालय और एक बाल अनाथालय और एक बाल सेवाश्रम भी चलता है।

मारवाड़ी, गुजराती, बंगाली एवं मद्रासी लोगो द्वारा बनवाये हुए उनकी धार्मिक मान्यताओं के अनुरूप वर्मा में हजारो हिन्दू मन्दिर हैं। बौद्ध विहार तो उस देश में फैले ही पड़े है। वर्मा हिन्दुओं का एक केन्द्रीय सगठन है, "ऑल वर्मा हिन्दू सेन्ट्रल बोर्ड" जिसकी लगभग सभी हिन्दू संस्थाये सदस्य है। वर्मा सरकार उसे २५ हजार क्येट्स वार्षिक अनुदान देती है। कार्य-कर्ताओ को रेल-स्टीमर आदि के नि:शुल्क पास भी मिलते हैं। संगठन ने रामायण, महाभारत, गीता आदि ग्रन्थों को वर्मी भाषा में छापा है। राजा रेडियार के बनाये मन्दिर तथा स्कूल रंगून में अभी भी गर्वोन्नत मस्तक उठाये खड़े है। अजायबघर मे डा. सेन का असाधारण योगदान रहा है।

रामकृष्ण मिशन ने वर्मा ने बहुत काम किया है। उसका १२२ पलगो का अस्पताल, अच्छा पुस्तकालय और विशाल प्रवचन हाल देखने ही योग्य है।

श्रीलंका—श्रीलका यों एक प्रकार से भारत का ही अग है। पाकिस्तान की तरह कुछ समय पूर्व ही वह अलग हुआ है। आज के दृष्टिकोण से यदि लका मूल के और भारत मूल के निवासियो का वर्गीकरण किया जाय तो कहना पड़ेगा कि तमिलनाडु, आन्ध्र प्रदेश के निवासियो की वहाँ बहुत सख्या है। यदुरा, त्रिचनापल्ली, तेन्जोर, सलेम, कोयम्बटूर, टिनावली रामनाड आदि जिलो के निवासियो का लंका प्रवासियो मे बाहुल्य है। यह लोग छोटे-बड़े व्यवसायी, शिक्षा-जीवी, शिल्पी एव श्रमिक स्तर के कार्यो मे वहाँ सलग्न है। चाय बागान और नरियल उद्योग मे भी उनका महत्वपूर्ण हाथ रहा है।

सन् ३० तक लंकावासियो और भारतीयो मे पूर्ण स्नेह—सौजन्य था। इसके बाद पृथकता हो जाने पर देशी-विदेशी का विष वृक्ष वहाँ भी पनपा फलत लका में भी भारतीयो के प्रति विद्वेष विकसित होने लगा। बहुत-से भारतीयों को लौटना पड़ा।

अब बहुत बड़ी सख्या मे भारतीयो को लका सरकार ने वापस भेज दिया है। जिन्होंने उस देश को

स्थायी नागरिकता स्वीकार कर ली है, वे ही वहाँ बचे हैं। अस्थायी निवास करने वालो की संख्या बहुत कम हैं।

नेपाल—नेपाल मे ८७ प्रतिशत हिन्दू, ९ प्रतिशत बौद्ध, ३ प्रतिशत मुसलमान और १ प्रतिशत ईसाई धर्मावलम्बी रहते हैं।

नेपाल की जनता अधिकतर भारतीय मूल की हैमंगोलियन नस्ल के पुरखे भी वस्तुतः धर्म और रक्त की दृष्टि से भारतीय ही कहे जा सकते हैं। उस देश का ९० प्रतिशत व्यापार भारत के साथ है। कुछ समय पूर्व तक भारत और नेपाल के मध्य उन्मुक्त व्यापार था। प्रान्तो मे जिस प्रकार चुंगी आदि के थोड़े प्रतिबन्ध हैं वैसे ही भारत-नेपाल के बीच भी थे। पर अब अलगाव की भावना ने क्रमशः प्रतिबन्धों को कड़ा करना आरम्भ कर दिया है और भारतीयों की गणना विदेशियों मे होने लगी है। विकास व्यापार सम्बन्धी हस्तांतरण आदि पर कितने ही प्रतिबन्ध लगाये गये हैं? फिर भी दोनो देशो की सांस्कृतिक एकता में कोई अन्तर नही आया है।

भारतीय तत्वज्ञान को विश्वव्यापी बनाया जाय

आज भौतिकवाद की बाढ़ चरमसीमा पर है। मनुष्य छोटा, बौना होता है और सिकुड़ता चला जा रहा है। विलासिता और आपाधापी के अतिरिक्त उसे कुछ सूझ नही रहा है। तुच्छ स्वार्थो के लिये व्यक्ति और राष्ट्र एक-दूसरे का सर्वनाश करने पर उतारू है। बुद्धिवाद, अर्थतंत्र ओर विज्ञान विकास जिस दिशा में विकसित हो रहे हैं, जिस लिप्सा के लिये लालायित है उस और बढ़ते चरण अगले दिनो मनुष्य जाति को सामूहिक आत्म-हत्या के लिये विवश करेगे। दुष्प्रयोजनो मे लगी हुई हमारी बुद्धि चेष्टा और सम्पदा संसार मे नारकीय वातावरण उत्पन्न करती चली जा रही है। उसका परिणाम किस दुःखद दुर्भाग्य मे होगा उसकी कल्पना करने मात्र से सिहरन उठती है।

जीवन और मृत्यु के निर्णायक चौराहे पर खड़ी मनुष्य जाति कुछ भी करती रहे और हम मूक-दर्शक बने देखें यह उचित न होगा। इतिहास साक्षी है कि विश्व की समग्र प्रगति में भारत ने अपने विकास के आरम्भ से ही असाधारण योगदान दिया है। इस देश के देव-मानव सदा से अपने को विश्व मानव मानते रहे हैं और क्षेत्र विशेष की परिधि में अपने को सीमित न रखकर समस्त संसार की अवगति को प्रगति मे बदलने के लिये भागीरथ प्रयत्न करते रहे है। इस देश मे निर्वाह की समुचित सुविधाये रही हैं। रत्नगर्भा भारत भूमि के वरद् पुत्रो को कभी किसी बात का अभाव दारिद्रय नहीं रहा। वे समस्त विश्व को अपना सेवा क्षेत्र मानकर सुदूर भूखण्डो मे अत्यन्त कठिन यात्राये करते रहे है और अविकसित पड़े भूखण्डों के पिछड़ेपन को दूर करने के लिये अपने ज्ञान-विज्ञान का पूरा-पूरा अनुदान प्रदान करते रहे है। वन्य-जीवों जैसा जीवन यापन करने वाले मनुष्यो को कृषि पशुपालन व्यवसाय, शिल्प, वाहन, परिवहन, शिक्षा, चिकित्सा, समाज संगठन, शासन, धर्म संस्कृति आदि से परिचित कराया और उन प्रगति से उन्हें अभ्यस्त बनाकर सुविकसित स्तर तक पहुँचाया। ऐसे अनुदानों ने ही ससार के कोने-कोने से जगद्गुरु का भाव भरा सम्मान प्राप्त कराया। उसका चक्रवर्ती सांस्कृतिक साम्राज्य दुनियाँ की इन्च-इन्च भूमि पर छाया हुआ था। यह सब इसलिये सम्भव हो सका कि यहाँ के निवासी सीमित क्षेत्रो में अपने स्वार्थों को सीमित नही रखे रहे वरन् उन्होने समस्त विश्व को अपना घर-परिवार माना और सार्वभौम सुख-शान्ति को अपनी निजी प्रगति मानकर किसी भौतिक महत्वाकांक्षा से प्रेरित होकर नही वरन् सर्वजनीन उत्कर्ष के लिये वे अपने अस्तित्व को समर्पित करने मे गर्व-गौरव अनुभव करते रहे है।

आज की स्थिति मे संसार भूतकालीन पिछड़ेपन की अपेक्षा कही अधिक दुर्गति ग्रस्त है। अतीत का पिछड़ापन अन्न, वस्त्र, निवास चिकित्सा, शिक्षा आदि की दृष्टि से ही अभावपूर्ण था। उन दिनो की आवश्यकताये और आकांक्षाये सीमित रहने से भी लोग उन परिस्थितियों मे भी किसी प्राकर तालमेल बिठा लेते थे और बिना उद्विग्नता की जिन्दगी जी लेते थे। आज हम बुद्धि, धन और सामग्री से सुसम्पन्न होते हुए भी उस आदिम काल के मनुष्यों की अपेक्षा कही

अधिक दुःखद परिस्थितियो मे पड़े हुए जल रहे हैं, गल रहे है। संसार मे कही भी चैन नही, कही भी शान्ति नही, कही भी सतोष नही। उद्वेग और संक्षोभ से आज मनुष्य जाति का प्रत्येक सदस्य बेतरह जल रहा है।

भावनात्मक निकृष्टता, विचारणा और आकांक्षाओ का पशु प्रवृत्ति तक उतर आना, वासना और तृष्णा के लिये सर्वतोभावेन समर्पण, विलासिता और लिप्सा-लालसा मे चरम सुख की मान्यता-व्यक्तिवादी स्वार्थपरता की प्रवलता उदारता और आत्मीयता का परित्याग जैसी दुष्प्रवृत्तियो ने मनुष्य को पशु से भी नीचे गिराकर पिशाच बना दिया है। इस स्तर का प्राणी अपनी हलचलो से मात्र अनाचार ही उत्पन्न करेगा और उसके दुष्परिणाम पग-पग पर शोक-संताप उत्पन्न करने वाले होगे। निकृष्ट व्यक्ति शारीरिक-मानसिक आधि-व्याधियो मे ही ग्रस्त रहेगा और निरन्तर दुःख पायेगा। यही आज की स्थिति का सही विश्लेषण है। विज्ञान ने अनेकानेक सुविधा साधन उत्पन्न कर दिये है। आर्थिक प्रगति ने हमे अनेक सुखोपभोग की आकर्षक उपलब्धियाँ प्रदान की है—शिक्षा के विकास ने हमारी बुद्धि को तर्क प्रधान और भली प्रकार से चतुर (कुशल) बना दिया है। इस युग की यह उपलब्धियाँ सर्व विदित है। यदि हमारा चिन्तन, व्यक्तित्व और लक्ष्य भी परिष्कृत रहा होता तो नि.सदेह इस धरती पर स्वर्ग से कहीं अधिक सम्पन्नता और प्रसन्नता बिखरी पड़ी होती। पर हुआ उल्टा ही। जहाँ समृद्धि बढ़ी वहाँ सद्बुद्धि का लोप हुआ है। वस्तुस्थिति यह है कि विकास के नाम पर विनाश के ही गर्त मे गिरे है। यदि यही स्थिति कुछ समय और चलती रही तो हम वहाँ जा पहुँचेगे जहाँ से फिर कभी उभर सकना सभव न हो सकेगा।

आज का भारत भौतिक प्रगति मे बेशक पिछड़ गया है। हजार वर्ष की लम्बी पराधीनता ने हमारी नस तोड़कर रख दी है। स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद भी जो सम्भव था, वह हमारी अनुभवहीनता ने करने नहीं दिया। हम कई क्षेत्रों मे विशेषतया सामाजिक प्रखरता के क्षेत्रों मे अभी काफी पीछे है और अपने को समर्थ बनाने के लिये हमे बहुत कुछ करना है। यह सब होने । भी पर एक चुनौती है कि हम अपना घर ही सँभालने, सँजोने मे लिप्त रहें, वरन् सारे गाँव के छप्परों मे जो आग लग रही है, उसकी ओर भी ध्यान दे अन्यथा घर बनाने के हमारे सारे प्रयत्न व्यर्थ चले जायेगे और गाँव के अन्य लोगो के साथ ही हमारा भी *सब कुछ जलकर नष्ट हो जायेगा। इस सर्वभक्षी* दावानल की ओर से इसलिये आँखें मूँदे नही रह सकते कि हमे अपने मतलब से मतलब रखना चाहिये। अब सारी दुनियाँ एक है। एक का विकास तो एक बार दूसरे के पिछड़ेपन को न भी दूर करे पर विनाश की आग उतनी व्यापक होगी जिसमें सभी जलेगे। पिछले दो महायुद्ध दो-दो देशो मे आरम्भ हुए थे, पर उनके दुष्परिणामों ने संसार भर के हर देश को प्रभावित किया। आज जो अनैतिकता की, उच्छृंखलता की, भोगवाद की निष्ठुरता, स्वार्थपरता की दावानल धधकी है, उसकी आग से हम शान्ति प्रिय लोग भी अछूते न रह सकेगे। कोई चिन्गारी हमारे टूटे-फूटे घर को भी जलाकर खाक कर देगी और घर बनाने के हमारे सुखद प्रयास अकाल मृत्यु के उदर मे समा जायेगे।

यहाँ यह नही कहा जा रहा है कि अपना घर बनाने से हमे हाथ खींच लेना चाहिये और विश्व निर्माण मे ही सर्वतोभावेन जुट जाना चाहिए। ऐसी सलाह न उचित है और न संभव। यहाँ केवल यह कहा जा रहा है कि हम अपने देश की भौतिक प्रगति के वर्तमान प्रयासो को ही पर्याप्त न मानें वरन् चिन्तन और चरित्र मे घुसी हुई विकृतियो के निराकरण के लिये भी ध्यान दें और प्रयत्न करें। यह कार्य हमें अपने देश मे तो करना ही है, साथ ही व्यापक क्षेत्र पर भी दृष्टि रखी जाय। विश्व नागरिकता की, विश्व परिवार की, विश्व मानव की, विश्व एकता की बात को भुला न दिया जाय। हमारे पूर्वजों की नीति सही थी जिसमे वे घर और बाहर के अन्तर को घटाते हुए सर्वजनीन प्रगति के लिये व्यापक प्रयत्न करते थे और दूर देशों को भी अपना कर्म क्षेत्र मानते थे। विश्व को हमने असख्य अनुदान दिये, उसका बदला हमें कुछ भी न मिला हो ऐसी बात नहीं है। श्रेष्ठ क्रिया की उत्कृष्ट प्रतिक्रिया ही होती है। ससार को समुन्नत बनाने के प्रयास में भारत की अपनी परिस्थितियाँ भी सुविकसित

हुई थी। विश्व सेवा का विशाल क्षेत्र हमारे अपने क्षेत्र को भी उस सेवा साधना के परोक्ष लाभों से लाभान्वित हुए बिना खाली हाथ न रहने देगा।

आज की स्थिति मे भी भारत विश्व का नेतृत्व दार्शनिक क्षेत्र में कर सकता है। उसका अध्यात्म इतना उत्कृष्ट है कि उसे किसी देश जाति और काल की सीमा में बाँधा नहीं जा सकता वरन् सार्वभौम सार्वजनीन और सार्वकालिक कहा जा सकता है।

भटकाव को सही राह पर लाने की उसमें पूरी-पूरी क्षमता है। संसार के अन्य देशों ने पिछले दिनो हमे बहुत कुछ दिया है। हम और कुछ तो नही पर उत्कृष्ट स्तर का ऐसा तत्व दर्शन दे सकते है, जिससे भटकी हुई मनुष्य जाति अपनी स्थिति पर पुनर्विचार करने और दिशा प्रवाह बदलने के लिये तत्पर हो सके। यद्यपि यह परोक्ष अदृश्य और सूक्ष्म है फिर भी इतना महत्त्वपूर्ण है कि सर्वभक्षी दावानल पर अजस्र अमृत वर्षा होने जैसा जादुई परिणाम उत्पन्न हो सकता है। विनाश के मार्ग पर चल रही अन्धी घुड़दौड़ विकास के पथ पर मोडी जा सकती है। दर्शन मनुष्य जाति का प्राण है, जीवन है, प्रकाश है और बल है। नास्तिकतावादी, भोगवादी दर्शन ने हमे नर-पशु बना दिया है। यदि स्थिति उलट दी जाय और जनमानस मे आदर्शवादी उत्कृष्टता की मान्यताये जमने लगे तो स्थिति का कायाकल्प हो सकता है, दुर्बुद्धि की आग में भुन रहे ससार को आज भी भारतीय तत्व दर्शन-अध्यात्म बहुत कुछ दे सकता है। इतना दे सकता है कि मरण को जीवन में बदला जा सके।

स्वामी विवेकानन्द से एक बार अमेरिका मे पूछा गया कि भारत छोडकर आप वेदान्त की शिक्षा देने इतनी दूर क्यो आये? इसके उत्तर मे यही कहा भारत अभी लघन से उठ रहा है। उसे पुरुषार्थ करने और रोटी-रोजी कमाने की शिक्षा ही हजम हो सकेगी। आप लोग शिक्षा और दूसरे क्षेत्रो मे काफी आगे बढकर इस योग्य बन चुके है कि वेदान्त की शिक्षा को समझ सके और उपयोग मे ला सके। ठीक इसी से मिलता-जुलता उत्तर एक बार स्वामी रामतीर्थ ने जापान के लोगो को दिया था। यह उचित ही है। हम स्थानीय परिस्थितियो के अनुसार अपने देश की भी सेवा करे, पर जो लोग इससे अपरिचित है किन्तु अति उपयोगी तत्वदर्शन को पचा सकते है, वहाँ तक प्रकाश क्यो न पहुँचाये। विवेकानन्द और रामतीर्थ ने अपनी सूक्ष्म बुद्धि से व्यापक क्षेत्रों मे अपनी गतिविधियाँ विस्तृत की थी। सुभाष चन्द्र बोस, वल्लभ भाई पटेल ने अपनी सम्पत्ति का इसलिये ट्रस्ट बनाया था कि उससे विदेशों मे प्रचार कार्य किया जाय। यह स्वस्थ परम्परा है। भारत की प्राचीन रीति-नीति में यह तत्व गहराई के साथ घुसा हुआ है। कोई कारण नहीं कि वह प्रयास निरर्थक ठहराये जायें।

ईसाई देशो की अपनी आवश्यकतायें है। वहाँ प्रगति के सारे काम समाप्त हो गये है, ऐसी बात नही है, फिर भी वे इस बात का घोर प्रयत्न करते है कि विदेशो मे उनकी सस्कृति फैले। इसके लिये वे प्रचुर परिणाम मे जन-शक्ति और धन-शक्ति भी नियोजित करते है।

इन दिनों भारत मे ५४ विदेशी राष्ट्रो के धर्म प्रचारक काम करते है। इनमे विदेशी पादरी ९७२७, भारतीय पादरी ५४ हजार और महिला पादरी २५ हजार है। भारत मे २४४९४ गिरिजाघर स्थापित हो चुके है।

रोमन कैथोलिक और प्रोटेस्टेण्ट, दोनो वर्गो के ईसाइयों की जो सस्थाये भारत मे चलती हैं, उनका विवरण इस प्रकार है—प्राथमिक विद्यालय ७३७९, मिडिल स्कूल १९४०, हाई स्कूल १२३४, कॉलेज १०२, छात्रावास ६५५, अस्पताल ११९६, अनाथालय ६८८।

विदेशो के मुस्लिम धर्म प्रचारक भी बहुत संख्या मे इस देश मे रहते है और प्रयत्न करते है कि इनका धर्म किसी न किसी प्रकार वैसी ही तेजी से फैले जैसा कि पिछली शताब्दियो मे फैला। अपने देश मे आजादी मिलने के समय ७० लाख ईसाई थे। इन दिनो उनकी संख्या दो करोड से अधिक है। यह उस प्रचार-प्रक्रिया का ही परिणाम है।

सयुक्त राष्ट्र संघ के एक अनुमानानुसार सन् २००० मे भारत की आबादी एक अरब होगी, जिनमें ४५ करोड हिन्दू, ४० करोड मुसलमान और १५ करोड ईसाई होगे।

यह ऑकड़े बताते है कि अन्य देशवासी, अन्य धर्मावलम्बी किस प्रकार अपने देश की सीमा से बाहर

भी सांस्कृतिक प्रसार मे दिलचस्पी रखते हैं। ईसाई धर्म को जन्मे २००० से भी कम वर्ष बीते हैं। इतने मे उसने संसार की एक तिहाई जनता को अपने प्रभाव क्षेत्र मे ले लिया है। अब चार सौ करोड़ की आबादी इस संसार की है। इसमे से प्रायः डेढ़ सौ करोड़ ईसाई है। यह उनके धर्म प्रचार का परिणाम है। क्रिश्चियन मिशन के लोग प्रचुर धन-शक्ति और जन-शक्ति इस प्रयोजन के लिये झोकते है यह देखते ही बनता है। संसार के दो-तिहाई भाग पर ईसाई लोग राज्य करते है। इसमे जनता का समर्थन प्राप्त करने के लिये उन्होने अपना सांस्कृतिक साम्राज्य पहले से ही कायम किया। वे आगे-आगे बाईबिल और पीछे-पीछे बन्दूक लेकर बढ़े हैं। धर्म को भले ही आदर्शों की गहनता के कारण उपेक्षणीय माना जाय पर उसका सास्कृतिक पक्ष इतना सामर्थ्यवान है कि उसे राजनीति से भी अधिक महत्त्वपूर्ण कहा जा सकता है।

मुसलमानी धर्म का जन्म तेरहवी शताब्दी पूर्व हुआ पर उनका विस्तार भी सौ करोड के करीब पहुँच गया है। वे भी निरन्तर बढ़ते जाते है। उनने पहले तलवार से अधिकार किया किन्तु पीछे यह आवश्यक समझा कि यदि अपना अस्तित्व रखना है तो उन विजित देशो को सास्कृतिक-बन्धनो मे दृढता से बाँधा जाय। राजसत्ता को बढाने और जमाने के उनने जितने प्रयत्न किये उससे ज्यादा शक्ति इस बात पर खर्च की कि अपनी जडे सास्कृतिक आधार पर मजबूत बनायी जाये जो गहरी धँस जाये। इसका परिणाम प्रत्यक्ष है। जहाँ अब मुसलमानी राज्य नहीं है, वहाँ के लोग भी अपनी धर्म भूमि की, जाति भाइयो की उचित-अनुचित हिमायत करते है। इसकी एक झाँकी असहयोग आन्दोलन के दिनो मिली, भारत मे खिलाफात के समर्थन मे जो लहर चही थी-बगला और काश्मीर के सम्बन्ध मे अधिकाश मुसलमानो का जो रुख देखा गया, उससे विदित होता है कि इन लोगो मे देश-भक्ति से भी सास्कृतिक भक्ति की जडे अधिक गहरी है।

हम इन तथ्यो की ओर से आँखे मूँदे हुए है। हिन्दुओ की संख्या निरन्तर घट रही है। जिस अनुपात मे आवादी बढ़ रही है उसकी तुलना मे सास्कृतिक प्रभाव क्षेत्र दुःखद स्थिति मे घट रहा है। भारत में जो स्थिति है, उसे देखते हुए लगता है कि अन्य संस्कृतियाँ अगली आधी शताब्दी में ही उसकी अपनी संस्कृति को पछाड़ देगी और बहुमत से हटाकर अल्प संख्यकों में बदल देगी। उपेक्षा और अन्य मनस्कता का यही स्वाभाविक परिणाम है।

प्रवासी भारतीयों की स्थिति और भी दयनीय है। वे अपनी मातृभूमि से बहुत दूर पड़ गये हैं। ईसाई और इस्लामी प्रभाव से वे घिरे हुए हैं। अपना आकर्षण और पाचन उनने गँवा दिया। वे दूसरे धर्मानुयायियो को अपने धर्म मे लाने का साहस नही कर पाते। कोई भी भूले-भटके आ भी जायें तो उसे पचा नही पाते। उलटे अपने लोग दूसरे के प्रभाव मे द्रुतगति से जा रहे है। अपनी ओर से कोई पोषण नहीं उनका भावनात्मक सिंचन नही। वहाँ ऐसी परिस्थितियाँ नही जिनसे उन्हें अपनी आस्थाये यथावत बनाये रहने एवं उन्हे सुदृढ़ परिपक्व बनाये रहने की प्रेरणा मिले। इस स्थिति में अपनी सास्कृतिक गरिमा को भूल जाने वाले लोग यदि अन्य धर्म सस्कृतियो मे विलीन होते चले जाये तो इसमें कुछ भी आश्चर्य की बात नही है। जो नाम मात्र के हिन्दू रह गये है, उनकी आस्थाये भी क्रमशः दुर्बल होती चली जा रही है और यह सभावना स्पष्ट दिखाई पड़ रही है। प्रवासी भारतीयो मे से अधिकाश एक शताब्दी के भीतर ही अन्य धर्मानुयायी बन जायेगे।

हमारे कन्धो पर इन विषम परिस्थितियो के दो तकाजे है। एक तो मरणोन्मुख मानवीय-सभ्यता की प्राण रक्षा के लिये भोगवादी अनास्थाओ के काल-गाल मे प्रवेश करती हुई आदर्शवादिता को जीवित रखने के लिये उस धर्म अध्यात्म की संजीवन बूटी अपेक्षित है, जो भूतकाल मे समस्त विश्व को प्रकाश और प्राण प्रदान करती रही है। विज्ञान और बुद्धिवाद के अस्त्र मनुष्य के लिये आत्मघाती भस्मासुर बन रहे है। इन उन्मत्त गज-कुजरो को यदि धर्म के अंकुश से नियन्त्रित न किया गया तो वे स्वय मरेगे और अपने ऊपर बैठी सवारी को चीर-फाडकर रख देगे। आज मानवी जाति की विशेषतया प्रगति सम्पन्न देशो की सबसे बड़ी आवश्यकता यह है कि उन्हे मदोन्मत मन. स्थिति से उबारने के लिये अध्यात्म का शामक अमृत जल

पिलाया जाय। विनाशकारी विभीषिकाओ को उज्जवल साहित्य की संभावनाओ में परिणत करने का उपाय है। भावनावादी तत्व दर्शन के प्रभाव क्षेत्र में समस्त मनुष्य को लाया जाय। इस प्रयोजन को संसार की श्रेष्ठतम वह संस्कृति ही पूरा कर सकती है, जिसे भारतीय संस्कृति कहते हैं। वस्तुतः वह मानवी सस्कृति है। सार्वभौम सर्वजनीन और सर्वकालिक है। उसकी जानकारी लोगो को मिलती रही होती तो नि.संदेह समस्त संसार उसी की छाँह में बैठकर मोद मना रहा होता।

पूर्वजो के महान् उत्तराधिकार का तकाजा यह है कि हम अपने महान् पूर्वजों के उन चरण—चिन्हों पर चलने का प्रयास करें, जिनके अनुसार उन्होने घर बनाने के अतिरिक्त बाहर प्रकाश फैलाने का भी प्रयत्न किया था। आज के विश्व मे सबसे बड़ी आवश्यकता उस अमृत वर्षा की है जिससे उसके मूर्च्छित प्राणो मे पुनः नव जीवन संचार हो सके। यह कार्य भारतीय तत्वज्ञान का आलोक सुदूर संसार मे फैलाने का ही हो सकता है। यह उद्‌बोधन अपने देश मे तो होना ही चाहिये, पर उसे किसी क्षेत्र विशेष तक प्रतिबंधित न किया जाय, उसे जहाँ भी उपजाऊ भूमि मिले वही बोया जाय। आपत्ति धर्म के अनुसार उसे अधिक बदहवास लोगो को पहले देने की बात भी सोची जा सकती है, ताकि वे विकृतियो के उन्माद मे अपना और पड़ौसियों का सर्वनाश कर डालने से रुक सकें। ससार भर मे भारतीय सस्कृति के अध्यात्म तत्वज्ञान का विस्तार करना आज का हमारा एक परम पवित्र सास्कृतिक कर्तव्य है।

इस कर्तव्य मे एक छोटी-सी कड़ी और जुड जाती है, जब हम प्रवासी भारतीयो की स्थिति को देखते है। समुद्र पार उनकी संख्या ३५० लाख के करीब है। समुद्री सीमाओ से भीतर नेपाल, भूटान, सिक्किम, बगलादेश, पाकिस्तान, लंका, वर्मा आदि देशो मे भारत मूल के हिन्दी धर्मानुयायियो की संख्या प्राय दस करोड तक जा पहुँची है। वे राजनैतिक दृष्टि से किसी देश के नागरिक क्यो न हो वस्तुत. वे सांस्कृतिक दृष्टि से भारत के ही नागरिक हैं। उनकी नसों मे भारतीय रक्त ही प्रवाहित हो रहा है। उनका सांस्कृतिक पोषण करना बड़े भाई के नाते हमारा कर्तव्य है। सूत्र टूट जाने से वे दाने आज नही तो कल बिखर ही जायेगे।

जलते ससार पर तत्व-ज्ञान का अमृत छिड़कने और प्रवासी भारतीयों का सांस्कृतिक पोषण करने के दोनों उत्तरदायित्व एक ही योजना के अंग बनाये जा सकते है और हमारी भावी सांस्कृतिक सेवा योजना की दोनों आवश्यकताओ को पूरी करने योग्य समन्वित बनाया जा सकता है। प्रवासी भारतीयो को पृथक् सम्पर्क मे ले। उनसे घनिष्ठता बढ़ाये उत्साह पैदा करें और पैर जमाने योग्य सुविधा प्राप्त करके उन-उन क्षेत्रो मे सरलतापूर्वक तत्व-ज्ञान की प्रकाश किरणों का विस्तार करना आरम्भ कर दें। यह अपेक्षाकृत सरल है।

एकागी प्रचार उथला रहेगा जब तक ईसाई मिशनरियों की तरह डेरा डालकर कही रहा नही जायेगा, तब तक कोई ठोस काम नही हो सकेगा। यदा-कदा जा पहुँचना और लैक्चर झाडकर वापस चले आना एक मनोविनोद मात्र है। उससे क्षणिक उत्साह मात्र भले ही पैदा हो, कहने लायक परिणाम नही निकल सकता। काम तो स्थिर और अथक प्रयत्नो से ही होता है। विश्वव्यापी सांस्कृतिक प्रसार के लिये हमारी सुगठित योजनाये इसी स्तर की होनी चाहिये। इसी आधार पर बननी चाहिये।

इस सदर्भ मे हमे प्रवासी भारतीयो के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध बनाने और उन्हे सांस्कृतिक पोषण देने की बात को प्रथम चरण की तरह हाथ मे लेना चाहिये। दूसरा कदम उठाने मे हमे उसी आधार के सहारे सुगमता होगी। विश्व के कौने-कौने मे कुछ एक को छोडकर प्राय सभी देशो मे भारतीय मूल के भारतीय धर्मानुयायी बसे हुए हैं। यदि उनका सास्कृतिक पोषण करने को, उनको अपने धर्म और आध्यात्म की आदर्शवादी परम्पराओ का उद्‌बोधन कराने का लक्ष्य लेकर वहाँ जाया जाय तो हमारी सद्‌भावना उन्हे अवश्य ही प्रभावित करेगी। वे हमारे सहयोग का लाभ लेना चाहेगे और अपना सहयोग देना चाहेगे। इस उभय पक्षीय अनुदान के सहारे वे सरजाम खड़े हो सकते है, जिनसे उन देशो के जनमानस मे

भारतीय धर्म की मानव धर्म की प्रकाश किरणों का प्रवेश कराया जा सके।

प्रवासी भारतीयों में काम करते हुए हमें एक दृष्टिकोण और विकसित करना होगा कि हिन्दू धर्म और बौद्ध धर्म को एक ही वस्तु के दो पक्ष माना जाय। रुपये में एक तरह कुछ अलग अंकन होता है और दूसरी तरफ कुछ और। इस भिन्नता के रहते हुए भी दोनो की अविच्छिन्न एकता मे कोई अन्तर नही आता। बौद्ध धर्म हिन्दू धर्म की अनेकानेक शाखा, पल्लवो में से एक है। हम अपनी ओर से एकता के प्रयास न करेगे और थोड़ी-सी प्रथा मान्यताओं के कारण उन्हे भिन्न धर्मानुयायी मानेगे तो फिर एक संकीर्णता जाति-उपजाति और गोत्र-उपगोत्रों मे विभाजित करते-करते हमें सर्वथा एकांगी बना देगी।

अपने विशाल सांस्कृतिक परिवार को हमे एक समझना होगा और पृथकतावाद का विष जहाँ भी घुस गया है, वहाँ से उसे उखाड़ फेकना होगा। बौद्ध धर्म हिन्दू धर्म से अलग हुआ। अब सिख सम्प्रदाय की ओर से भी ऐसी ही बातें कही जाने लगी है। कुछ समय पूर्व जैन समाज से भी ऐसी ही हलकी-पतली आवाजे उठी थी। जाति-पॉति के नाम पर देश के टुकड़े-टुकडे कर डालना जितना बुरा है, उससे भी बुरा सम्प्रदाय के आधार पर विशाल भारतीय सस्कृति को क्षत-विक्षत करना है। पिछले दिनो हमने गलतियाँ करके बौद्धो को यह सोचने का अवसर दिया कि वे हिन्दू धर्म से अलग है। अब उस भूल को सुधारने का उपयुक्त अवसर है। हमारी विश्व संस्कृति सेवा अभियान का एक अग यह होना चाहिये कि सम्प्रदाय विभेदो को महत्त्व तनिक भी न दे। सांस्कृतिक मूल के समस्त मत-मतान्तरो को एक मानकर चले। शरीर मे कई तरह के कई आकार-प्रकार के अवयव होते है, पर इस कारण उन्हे शरीर से अलग तो नही समझा जा सकता। इण्डोनेशिया, मलेशिया के एक बड़े भाग मे इस्लाम ने जड़े जमा ली। जापान, सिगापुर, हॉगकॉंग आदि मे ईसाई बढ़ रहे है। इतना सब होते हुए भी बौद्ध धर्मानुयायियो की सख्या इतनी अधिक है कि इन्हे हिन्दू धर्म के साथ जोडा जा सके तो विश्व की सबसे अधिक जनसख्या भारतीय धर्मानुयायियों की हो जायेगी।

विदेशों मे गये भारतीय सिखों की संख्या भी कम नही है। उनमे श्रद्धा और विश्वास कहीं अधिक है। उनके गुरुद्वारे संसार के हर कौने मे वहाँ बसे प्रवासी सिखो द्वारा बनाये गये हैं। उनके क्रिया-कलाप अपेक्षाकृत अधिक श्रद्धा, जागरूकता, उत्साह से भरे रहते है। उन्हे जीवन की उपयोगिता प्रत्यक्ष दिखाई पड़ती है। इन सिखों मे जो अलगाव की भावना प्रवेश करती जा रही है, उसे हमारी उदार और विशाल दृष्टि द्वारा सहज ही हलका किया जा सकता है। यह खाई आसानी से पाटी जा सकती है। अभी भी इसके लिये अधिक देर नही हुई है।

हमे हिन्दू धर्म का ऐसा ढॉचा खड़ा करना चाहिये, जिसमे बौद्ध, सिख ही नही प्रत्येक भारतीय सांस्कृतिक मूल को लेकर उत्पन्न हुए सभी सम्प्रदायों को एकता के सूत्र में बाँधा जा सके। थोड़ा साहस करने पर पारसी धर्म भी इसी श्रृंखला में आ जाता है। उसमे अग्नि पूजा से लेकर अन्य अनेक परम्परायें एवं मान्यताये ऐसी है जिन्हे देखकर सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है कि इस सम्प्रदाय का मूल हिन्दू धर्म का स्वरूप ही देश मे और विदेशो में भारतीय संस्कृति के क्षत-विक्षत अवयवो को एक सूत्र मे बाँध सकेगा, एक परिवार के अविच्छिन्न सदस्य बना सकेगा। हमे ऐसी समन्वित सार्वभौम हिन्दू धर्म-संस्कृति का ढॉचा खड़ा करना चाहिये और उसे न केवल देश मे वरन् विदेशों मे भी प्रवासी भारतीयो मे पहुँचाने का प्रयत्न करना चाहिये। तभी उसके अभीष्ट उद्देश्यो की पूर्ति हो सकेगी। तभी वह अन्य धर्मावलम्बी जनता को प्रभावित कर सकेगा। हम हिन्दू धर्म को सार्वभौम मानव धर्म की भूमिका निभा सकने योग्य सर्वसमर्थ बनाना चाहेंगे और वह कार्य कुछ दिनो मे पूरा होकर अपने परिष्कृत रूप में सामने आ जायेगा।

पिछले दिनों भी हमारे तथाकथित धर्म-प्रचारक प्रवासी भारतीयो में कुछ प्रचार करने जाते रहे हैं। उनके जाने से लाभ के स्थान पर हानि अधिक पहुँची है। वे सम्प्रदाय विशेष के प्रतिनिधि बनकर पहुँचते रहे

हैं और अपने मत को ही हिन्दू धर्म बताते रहे हैं। इससे उनके अनुयायी तो प्रसन्न हुए पर अन्य मत वाले रुष्ट हो गये। एकता के स्थान पर पृथकता ही उन्होंने अधिक फैलायी। वहाँ भी अपने सम्प्रदाय विशेष के शिष्य मूँड़े और मन्दिर मठ बनाये. संस्थान खड़े किये। भारत मे कोई मन्दिर आश्रम बनाने के बहाने मोटी दान-दक्षिणा समेटकर वापस चले आये। प्रवासी भारतीयों मे गये धर्म प्रचारकों में से अधिकांश का स्वरूप और क्रिया-कलाप ऐसा ही रहा है।

अध्यात्म के नाम पर भी ऐसे ही खेल-खिलौने खड़े किये जाते रहे हैं। कुछेक आसान, कुछेक प्राणायाम, कुछेक ध्यान और कुछेक कर्मकाण्ड बस इतनी ही उनकी अध्यात्म भूमिका रही है। इसी के लम्बे-चौड़े चमत्कार बताये गये और न जाने क्या मिलने के ढोल पीटे गये। विदेशों में भारतीय तत्वज्ञान और अध्यात्म के प्रति अभी भी कौतूहल भरी जिज्ञासा है। इससे लाभ उठाकर इन योग प्रचारकों ने न जाने क्या से क्या ढकोसले खड़े कर दिये। आरम्भ मे उनका बहुत स्वागत हुआ और समर्थन मिला, पर जब नशा उतरा और ढोल की पोल खुली तो सारा सिराजा बिखर गया। ऐसे भोग प्रचारकों ने विलासिता के बढ़े-चढ़े ढाँचे सहज ही खड़े कर लिये। विदेशों में भावुकता भी है और सम्पन्नता भी। योग के नाम पर उसका दोहन करने से इन तथा कथित योगियो को अनायास ही सफलता मिल गयी है। उनका ढोंग ही पुज गया।

इन धर्म प्रचारकों और योगियों की प्रवासियो मे तथा अन्यान्य धर्मावलम्बी विदेशियो मे अच्छी-खासी धमाचौकड़ी रही है। कुछ लोग राजनैतिक या अन्य महत्त्वाकाक्षाये लेकर भी वहाँ गये हैं। कुछ का सैर सपाटा करना और अपनी विश्व सेवा की विज्ञापनबाजी करना भी एक प्रयोजन रहा है। ऐसे लोग बहुत ही कम गये है, जिनका उद्देश्य भारतीय सस्कृति की प्रकाश किरणें विश्व के कौने-कौने में पहुँचाना और प्रवासी भारतीयों की निष्ठा का परिपोषण करना भर रहा हो और जिनके पीछे कोई क्षुद प्रयोजन न रहा हो। ऐसे लोग रहे हैं, पहुँचे है, पर उनकी संख्या बहुत स्वल्प रही है। अधिकाश लोग ऐसे ही गये हैं, जिन्होने अश्रद्धा उत्पन्न की है, भ्रान्ति फैलायी है और विभेद की खाई चौड़ी की है। इस दिशा में अब तक हुए प्रयासों को इस स्तर का नही माना जा सकता जिस पर पहुँच कर ईसाई मिशनरी संसार भर में जाते है, वहाँ बसते है, आसाधारण कष्ट सहते हैं और अपने आप को अनन्य श्रद्धा के साथ मिशन के लिये समर्पित होकर प्रसन्नतापूर्वक गला दिया करते है। यदि ऐसा रहा होता तो हम प्रवासी भारतीयो को आज की अपेक्षा कही अधिक संस्कृतिनिष्ठ पाते और विदेशों में भारतीय तत्व-ज्ञान के प्रति झुकाव हजारो गुना अधिक पाया जाता। दुर्भाग्य ही है कि हमारे विदेशो मे गये हुए धर्म तथा अध्यात्म प्रचारक कुछ संतोषजनक प्रतिक्रिया उत्पन्न न कर सके।

समय आ गया है कि हमे नये सिरे से इस दिशा मे कुछ सोचना चाहिए और नये साहस के साथ कदम बढ़ाने चाहिये। युग निर्माण योजना के सचालक विदेश यात्रा पर निकले भी और अभीष्ट लक्ष्य के लिये कुछ कदम बढ़ाये भी। उनके थोड़े से प्रयास से यह विश्वास उत्पन्न किया कि यदि सही योजना और उद्देश्य लेकर कोई कुछ करना चाहे तो उसका निश्चित रूप से स्वागत होगा। विश्व-कल्याण और प्रवासी स्नेह सिंचन उभय पक्षीय कार्यक्रमो का समन्वित स्वरूप यदि हमारी भावी योजना बन सके तो उसके दूरगामी परिणाम होंगे। इस आधार पर हमारा सेवा क्षेत्र कायम होगा और उसी अनुपात से हम अनेक प्रकार लाभान्वित भी होगे।

बुद्ध के अनुयायियो ने इसी प्रयोजन के लिये दुस्साहसपूर्ण कदम बढ़ाये थे। उनका त्याग बलिदान निरर्थक नही गया। यदि एशिया में पिछले दिनो नास्तिकवाद की लहर न आती तो वह इस महाद्वीप का सर्वप्रधान धर्म रहा होता। अभी भी उन प्रयासो की प्रतिक्रिया कोटि-कोटि मनुष्यो को शान्तिदायक प्रेरणायें दे रही है। बौद्ध धर्म के प्रसार ने ससार के बडे भाग की धर्म श्रद्धा भारत भूमि के साथ जोड़ी थी। अभी भी लाखों तीर्थयात्री इस देश की पुण्य भूमि की रज अपने मस्तक पर चढ़ाकर धन्य होते है। इस भाव-श्रद्धा का प्रत्यक्ष न सही परोक्ष मूल्य बहुत भारी है। सास्कृतिक परिवार किसी न किसी रूप मे एक-दूसरे के सहयोगी

ही रहते हैं। आड़े वक्त काम आते हैं। कम से कम विपरीत तो नही पड़ते। नेपाल और भारत में कोई राजनैतिक विरोध कभी हो भी जाय तो भी वे सास्कृतिक एकता के प्रगाढ़-बन्धनो में बँधे ही रहेंगे। यही बात अन्य देशों मे भी लागू हो सकती है। जहाँ भी हम अपने दर्शनो की छाप विठा सकेगे वहाँ की सद्‌भावना हम सहज ही उपार्जित कर लेंगे। उसके परोक्ष लाभ कितने हो सकते हैं, यह चर्चा का नही दूरदर्शिता और गहरी दृष्टि से सोचने-समझने का विषय है।

यह तो छोटे और सामयिक लाभ हुए। मूल लक्ष्य इन बातो से वहुत ऊँचा है। लोक चेतना को आदर्शवादी चिन्तन और कर्तृत्व में नियोजित करके हम ससार की, समय की, मनुष्य की कितनी महान् सेवा-साधना करते हैं इस पर जितना अधिक विचार किया जाय उतना ही उसका अधिक महत्त्व सामने आता जायेगा। प्रवासी भारतीयो को भारत माता के बिछुड़े पुत्रो को उनकी धर्म-भूमि का भाव-भरा वात्सल्य मिले यह हर दृष्टि से उचित और आवश्यक है। हमें युग की इस महती माँग पूरा करने के लिये कुछ ठोस प्रयास करना ही चाहिये।

इस सन्दर्भ मे सोचा यह गया है कि युग निर्माण योजना के अगले कदम इस दिशा में भी उठें। प्रस्तुत पुस्तक को इसी दृष्टि से लिखा और छापा गया है कि हम अतीत मे भारतीय तत्वदर्शियो द्वारा किये गये उन महान् कार्यों को देखें और समझे, जो उन्होने देश की सीमित परिधि से बाहर निकलकर समस्त विश्व की सर्वतोमुखी सेवा-सहायता करने के लिये उठाये थे। इस दिशा मे उनने कितने त्याग और बलिदान प्रस्तुत किये थे और उन उत्कट प्रयासो को कितनी सफलता मिली थी, उसे एक दृष्टि से फिर देखा जाय और उस महान् परम्परा के निर्वाह के लिये आवश्यक उत्साह प्राप्त किया जाय। आज उन प्रयासो के अनुकरण की, अनुगमन की महती आवश्यकता है। उन दिनों यातायात, भाषा, सिक्का आदि की भारी असुविधा थी। आज की स्थिति अपेक्षाकृत बहुत सुविधाजनक हो गयी है। यदि भीतर से कुछ उमंग उठे तो व्यक्तिगत और सामूहिक रूप से उपरोक्त प्रयोजन के लिये बहुत कुछ किया जा सकता है। समय की चुनौती इस दिशा में साहसिक कदम बढ़ाने के लिये हमें बाध्य करती है।

हमें विदेशों में अपने सांस्कृतिक दूतावास पहुँचाने चाहिये। विवेकानन्द और रामतीर्थ ने जो परम्परायें कायम की थी, उन्हें आगे बढ़ाना चाहिये। भवानी दयाल संन्यासी, सत्यदेव परिव्राजक, टी. एल वास्वानी ने इस दिशा मे पिछले दिनों विदेशों में सास्कृतिक सन्देश सुनाने के लिये महत्वपूर्ण कार्य किये। उस प्रवाह को अवरुद्ध नहीं हो जाना चाहिये। योजनावद्ध रूप से इस दिशा में कार्य किया जाना चाहिये। व्यक्तिगत रूप से जाने वाले धर्म प्रचारकों का क्रम स्वेच्छा संचालित होता है। प्राय: वे सीमित उद्देश्य लेकर जाते हैं। उन्हें आर्थिक व दूसरे साधन भी स्वयं ही जुटाने पड़ते है। ऐसी दशा में उनके चिन्तन और क्रिया-कलाप दोनों में ही अटपटापन आ जाता है। ईसाई पादरियों की तरह हमारे मिशनरी भी निश्चित होकर अभीष्ट कार्य मे अपना पूरा ध्यान और पूरा प्रयास केन्द्रित करें तभी कुछ ठोस काम हो सकता है। युग निर्माण योजना सोचती है कि हमें अपना मिशन बाहर भेजने के लिये भी योजना बनानी चाहिये। अपने देश में जिस बौद्धिक, नैतिक और सामाजिक सुधार की आवश्यकता है, उसकी आवश्यकता समस्त संसार को है। भले ही सुधार के लिये जिस प्रकार कार्य अपने देश मे हमें करना है उससे परिस्थितिवश अन्य देशों मे भिन्न प्रकार का हो।

कहा जा चुका है कि विदेशों की अन्य धर्मावलम्बी और अन्य संस्कृतियों की मान्यता वाली जनता के गले सीधे ही अपना तत्व ज्ञान उतार सकें यह कठिन है। प्रथम चरण में प्रवासी भारतीयों से सम्पर्क साधना पड़ेगा, उनका सांस्कृतिक पोषण करना पडेगा। उनके सहयोग से अपने मिशनो को मिशनरियों को पैर टिकाने की जगह मिल जायेगी और ऐसे लोगों के पते मिल जायेगे, जो पहले से भी भारतीय तत्वज्ञान से परिचित रहे है और उसके प्रति सद्‌भावना रखते रहे हैं। ऐसे लोगो के सम्पर्क को घनिष्ठ बनाकर इस स्तर तक विकसाया जायेगा कि उनका सहयोग भी मिलने लगे। इस प्रकार अन्य देशवासियो में हम अपनी बात

इस प्रकार कह सकेंगे कि उनके गले में उसे उतारना सरल और सम्भव हो जाय।

इस सन्दर्भ में हमे एक बार समस्त विश्व मे फैले हुए प्रवासी भारतीयों का पर्यवेक्षण करना पड़ेगा कि उनकी इन दिनों क्या स्थिति है, इस जानकारी के आधार पर ही उनके साथ सम्पर्क बनाने की आधारों और कार्यक्रमो की योजना बनायी जा सकेगी। सब भेड़ें एक लाठी से नही हाँकी जा सकती हैं। हर देश में प्रवासियों की भिन्न परिस्थितियाँ हैं, उन्ही के अनुरूप प्रचारक की योग्यता तथा तैयारी होनी चाहिये, अन्यथा वह असफल होकर वापस लौटेगा।

ईसाई मिशनरियों ने इस सम्बन्ध में पूरी-पूरी जानकारियाँ एकत्रित कर रखी हैं। जहाँ उनके कार्य हो रहे हैं, वहाँ भेजे गये पादरियों को कार्यक्षेत्र की पूरी जानकारी दी गयी है। इसके लिये उन लोगों ने सुविस्तृत खोजबीन की है और आवश्यक जानकारी देने वाले ग्रन्थ छापे हैं। उसी ज्ञान के सहारे पादरी लोग अन्य देशों में जाकर वहाँ की परिस्थिति के अनुसार कुछ काम कर सकने में समर्थ होते है। उसी पद्धति का अनुकरण हमें भी करना होगा। हर देश की अलग न सही एक ही स्थान में सारे संसार में रहने वाले प्रवासियों की स्थिति का, वर्तमान परिस्थितियो का सुविस्तृत चित्रण करने वाला एक ग्रन्थ तो होना ही चाहिये। ऐसा ग्रन्थ किसी दफ्तर मे बैठकर नही लिखा जा सकता वरन् उसके लिये कम से कम एक दौरा तो पर्यवेक्षण के लिये करना ही होगा।

दुर्भाग्य की बात है कि प्रवासी भारतीयों की वर्तमान स्थिति का बोध कराने वाली एक भी सर्वांगपूर्ण पुस्तक उपलब्ध नही है। जो बहुत दिन पहले छपी थी वे अब बहुत पुरानी हो गयी हैं। जो सीमित जानकारियाँ उनमे थी वे वैसे भी अपर्याप्त थी। उनमें भारत से विदेश पहुँचने के कारणों और वहाँ उनकी दुर्दशा का ही प्रधान रूप से चित्रण था। उन्हे पढ़कर कोई इतना ज्ञान प्राप्त नहीं कर सकता कि जिसके द्वारा वहाँ की वर्तमान स्थिति को जाना जा सके और वहाँ क्या किया जाना चाहिये, किस प्रकार किया जाना चाहिये इसकी क्रमबद्ध योजना बनाई जा सके। छुटपुट लेखो का सग्रह किया जाय तो भी कुछ नही बनता, क्योकि परिस्थितियाँ बेतरह बदल रही है। पूर्व अफ्रीका के युगाण्डा देश मे कुछ वर्ष पूर्व भारतीयो की जड़ें बहुत मजबूत थी और उनका उस देश के व्यवसाय मे अच्छा प्रवेश था। अब उन्हें वहाँ की फौजी सरकार ने पूरी तरह उखाड़ दिया है। वियतनाम में चले लम्बे युद्ध ने उस क्षेत्र मे बसे प्रवासी भारतीयो की स्थिति को उलट-पुलट कर रख दिया है। अभी तक लोगो को बाबा आदम के जमाने की जानकारियाँ ही प्राप्त हैं और पुस्तको तथा लेखों मे हमें उसी की झाँकी मिलती है।

सच तो यह है कि इस दिशा में अब तक कुछ सर्वांगपूर्ण कार्य योजनाबद्ध रूप से किया ही नही गया। प्रवासी भारतीयो के सम्बन्ध मे एक अच्छी पुस्तक सी. काण्डाये द्वारा लिखित "आक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस" तथा "इण्डियन कौंसिल ऑफ वर्ल्ड एफेयर्स" द्वारा सयुक्त रुप से प्रकाशित की गयी थी, जिसका नाम था, "इण्डियन ओवरसीज १९३८-१९४९।" उसे पढ़ने से यह जाना जा सकता हैं कि लेखक ने श्रमपूर्वक जानकारियाँ एकत्रित की हैं। दूसरा वैसा ग्रन्थ देखने को नही मिला। सन् ३८ से ४० तक के समय को ५० वर्ष होने को आते हैं। इतने समय मे जो परिस्थितियाँ बदली है, उनकी जानकारी सुदूर नक्षत्रो से चलने वाली प्रकाश किरणों की तरह अभी हम तक नही पहुँच पायी है।

प्रथम प्रयास हमारा धर्म-प्रचार का नही वरन् विदेशों मे प्रवासी भारतीयों की वर्तमान स्थिति, सांस्कृतिक आवश्यकता, उनके लिये अभीष्ट साधन जुटाये जाने की सूचना संग्रह करने की होनी चाहिये। हमें यह ज्ञान होना चाहिये कि प्रथम बार उस देश मे जाने पर किन व्यक्तियो और किन सस्थाओ का सहारा लेकर किस प्रकार वहाँ पैर रखने की जगह बन सकती है और आगे किस प्रकार कहाँ पैर रखने की जगह बन सकती है और आगे किस प्रक्रिया को अपनाकर किस प्रकार क्या कार्य किया जा सकता है? यह प्राथमिक आवश्यकता है, वहाँ कम से कम एक लाख रुपया मार्ग व्यय आदि के लिये भी चाहिये। पर्यवेक्षण का कार्य सुचारु रूप से कर सकने योग्य व्यक्तियों की अपने पास कमी नही, पर मार्ग व्यय के लिये

आवश्यक व्यय तो चाहिये ही। उसे जुटाने का कोई साधन बन जाय तो समझना चाहिये कि आरम्भिक चरण पूरा हो गया। सग्रहीत रिपोर्ट के प्रकाशित होने पर विचारशील लोगो से कहा जा सकेगा कि तैयारी किस प्रकार की जानी है और उसके लिये क्या साधन जुटाये जाने है। सही सूचना उपलब्ध होने पर भारक का विचारशील और उदारवर्ग अवश्य ही उसका महत्व समझेगा और कार्य को आगे बढ़ाने के लिये योगदान देगा।

मोटी रूपरेखा यह है कि प्रवासी भारतीयों के सस्कृतिक पोषण के लिये हर देश की स्थिति के अनुसार उनकी वर्तमान मान्यताओ के साथ तालमेल बिठाता हुआ—वहाँ की प्रचलित भाषा में ऐसा साहित्य छापा जाना चाहिये, जो उनके वर्तमान ज्ञान को ऊँचा उठा सके और भारतीय तत्वज्ञान की विशेषताये, गरिमाये एवं उपयोगितायें उनके गले उतार सकें। अन्य धर्मावलम्बियो के तर्क और आधार आजकल बहुत विकसित हो चुके है, सामान्य बुद्धि को भली प्रकार प्रभावित करते है। उनकी तुलना मे हिन्दू धर्म के पक्ष मे केवल घिसी-पिटी परम्पराये ही शेष है। विचार मंथन का प्रश्न जहाँ आता है वहाँ हिन्दू पिछड जाता है क्योंकि इस प्रकार सोचा और बताया ही नही गया कि वह अपनी विशिष्टताओ को समझ सके और दूसरो को समझा सके। अपनी यथार्थ मान्यताओ एवं परम्पराओं को ही हम भूल गये है। मध्यकालीन अन्धकार युग की मूढ़ मान्यताये और विकृतियाँ हमारे पल्ले बँधी है। उन्हीं को "हिन्दू-धर्म" कहा जाता है। इसमें भी इतने परस्पर विरोध मतान्तर है कि यह समझना कठिन पड़ता है कि वस्तुत· हिन्दू धर्म है क्या? उसकी गणित विरोधी मान्यताओ मे से कौन वास्तविक है और कौन अवास्तविक? इस सदर्भ में कम से कम एक ग्रन्थ तो ऐसा होना चाहिये, जो भारतीय धर्म की महान परम्पराओं को शास्त्र प्रमाण ढंग से प्रस्तुत कर सके और एक सामान्य बुद्धि का हिन्दू समझ सके कि उसके सुविस्तृत शास्त्र समुद्र का सार क्या है? वह सार होना अपेक्षित है, जो आज की परिस्थितियों मे भी सार्वभौम-सार्वजनीन और सर्वकालनी कहा जा सके।

हिन्दू धर्म का सप्रमाण, समग्र परिचय देने वाली एक भी सर्वांगपूर्ण पुस्तक हमारे सामने नहीं है यह कितनी लज्जा की बात है? हम किस प्रकार हिन्दू धर्म का प्रचार प्रवासियों और समस्त विश्व में करें अभी इतना आधार तक नही बन पड़ा है। परस्पर विरोधी मान्यताओ में से किसी एक को लेकर चलने पर तो उलटा विग्रह खडा होता है। अपने ही लोग बिदकते है फिर बाहर वाले उसे क्यों कर प्रमाणित मानेगे?

भारतीय संस्कृति को विश्व संस्कृति के रूप में भारतीय धर्म को मान्य धर्म के रूप मे प्रस्तुत करने वाले एक सर्वागपूर्ण ग्रन्थ की रचना करने मे इन दिनों युग निर्माण योजना के सूत्र संचालक लगे हुए है। यह कार्य पूरा हो जाने पर एक सुनिश्चित पृष्ठ भूमि बन जायेगी और यह कहा जा सकेगा कि भारतीय तत्वज्ञान, धर्म ओर अध्यात्म यह है—हम इसका विश्व व्यापी प्रचार करना चाहते है। इसमे प्राचीनकाल की तरह अर्वाचीन समस्याओ को सुलझाने की पूरी शक्ति है। हर कसौटी पर खरा सिद्ध होने वाला ऐसा भारतीय धर्म आज की जलती आग को बुझा सकने में समर्थ हो सकता है और अगले दिनो विश्वधर्म के रूप मे सार्वभौम मान्यता प्राप्त कर सकता है।

हिन्दू-धर्म एक समुद्र है। इसके आचार–विचार मे प्रथा परम्पराओ. मे पूर्व-पश्चिम जितना भेद है। विदेशो मे हमे अपने धर्म का ऐसा स्वरूप प्रस्तुत करना चाहिये जिसमे सर्वत्र एकरूपता देखी जा सके। मुसलमान, ईसाई, पारसी, बौद्ध आदि धर्मों की कुछ मान्यताये एवं प्रथा परम्पराये है, जिन्हें ससार के किसी भी कौने मे यत्किंचित हेर-फेर के साथ देखा जा सकता है। हमारे देवता, मत्र, ग्रन्थ उपासना विधान, पर्व, त्यौहार, सस्कार प्रचलन इतने बिखरे हुए है कि उनमे एकता की सगति मिलाना अत्यन्त कठिन पड़ता है। समय की माग है कि समस्वरता और एकरूपता वाला ऐसा सर्वांगपूर्ण हिन्दू धर्म सामने लाया जाय जो शास्त्रीय प्रमाणो से समर्थित हो, बुद्धि सगत हो, समय की आवश्यकता पूरी कर सके और पूर्व मान्यताओं के साथ संगति विठाते हुए एकरूपता का आधार बन सके। इस संरचना लिये समन्वयात्मक दूरदर्शिता की आवश्यकता होगी। बहुत क्रान्तिकारी कर देने पर

पुरातन पंथी विदकेंगे और बहुत प्राचीन करने पर वह असामयिक हो जायेगा। वस्तुतः आज की स्थिति के अनुरूप हमे ऐसे धर्म प्रतिपादन की आवश्यकता है। जो चिर प्राचीन और चिर नवीन का कुशलतापूर्वक समन्वय कर सके। धर्म तत्व का आधार श्रद्धा और भावना है। इस सुकोमल मर्म-स्थल को चोट पहुँचाये बिना अस्तव्यस्त किये बिना, यदि ऐसा ढाँचा खड़ा किया जा सके तो ही इसे जन मान्यता प्राप्त होगी, अन्यथा यह एक वर्ग विशेष की मान्यता बनकर रह जायेगी। अभिनव प्रयास वर्तमान शताब्दी में कितने हुए हैं। प्रार्थना समाज, ब्रह्म समाज, आर्य समाज आदि सुधारवादी प्रतिपादनों को जिन कारणों से लोक मान्यता न मिल सकी हमें उन्हें पूरी तरह ध्यान में रखकर चलना होगा।

अगले दिनों आवश्यकता ऐसे आत्मदानियो की पड़ेगी जो अति प्राचीनकाल की विश्व सेवा साधना को बौद्धकालीन धर्म विजय भावना की अवरुद्ध धारा को अग्रगामी बनाने के लिये अपने को समर्पित कर सकें। ईसाई मिशनरी यही करते हैं। वे कौतुक-कौतूहल की पूर्ति के लिये अपने सुसम्पन्न देशो को छोड़कर भारत जैसे पिछड़े देश में लम्बे समय तक आजीवन रहने के लिये नही आते। वरन् उनके पीछे प्रबल भावनाये होती हैं और उन्ही से वे प्रबल नींव के पत्थर बनकर चुपचाप आदि जातियों के साथ घुल-मिलकर आजीवन कष्टसाध्य परिस्थितियो में रहने को तैयार होते है। एक ओर हम है जो केवल सैर-सपाटे के लिये-लैक्चर झाड़ने के लिये-विज्ञापन बाजी के लिये धर्म की आड़ में विदेश भ्रमण की बात सोचते है और उन भोले-भाले लोगो की जेब काटकर पैसा बटोरने की दुरभिसंधियाँ रचते है। ऐसे धूर्त लोग धर्म-ध्वजी और योगियो का कलेवर ओढकर पिछले दिनो भी विदेश यात्रा पर निकलते रहे है, अब भी निकलते रहते हैं, इसी घिनौने मार्ग पर हमारे लोग भी चल पड़े तो समझना चाहिये कि आशा की एक किरण जो बनी थी, वह भी बुझ गयी। तब समझा जायेगा कि हमारी धर्म बुद्धि समाप्त हो गयी है और धूर्तता के अतिरिक्त हमारे पास और कुछ नहीं बचा है। हमे शौकीन तबियत के उथली उछल-कूद करने वाले शेखीखोर लोग नही सुयोग्य आत्मदानी चाहिये, जो ठीक ईसाई मिशनरियो की तरह अपना जीवन ही उस कार्य के लिये समर्पित करदे, अपनी व्यक्तिगत महत्त्वाकाक्षाओं से पूरी तरह हाथ धो ले।

इस वर्ग के अन्तर्गत लोगो को उपरोक्त विशेष प्रयोजन के लिये लम्बे समय तक प्रशिक्षित करना पड़ेगा और यदि वे निश्चित कसौटियों पर खरे उतरे तो उन्हें जहाँ-तहाँ प्रचार करने-फिरने की बन्दर धूम मचाने के लिये नही वरन् किसी देश विशेष में लम्बे समय तक रुकने-बसने की तैयारी के साथ भेजा जायेगा। थाईलैण्ड मे जा बसे स्वामी सत्यानन्द जी का उदाहरण इस सम्बन्ध में हमारा मार्ग दर्शक हो सकता हैं। वे उसी देश मे खप गये और भारत की आत्मा को थाईलैण्ड के रक्त में मिलाने के लिये अनवरत् रूप से बहुमुखी चेष्टायें करते रहे। उनका मिशन बहुत सफल रहा। अन्य देशो में भी ऐसे ही मिशनरी भेजे जाने की आवश्यकता है, जो कम से कम प्रवासी भारतीयो में हिन्दी प्रचार का सास्कृतिक परिचय का धर्म निष्ठा की परिभाषा की परिपक्वता का, पौरोहित्य का प्रयोजन पूरा करते रह सके। इससे आगे बढ़कर उनसे उस देश की जनता को भारतीय धर्म मे दीक्षित करना न बन पड़े, तो वे उस महान् तत्वज्ञान को हृदयंगम कराने की पृष्ठभूमि तो बनाते ही रहे। ऐसे लोग अविवाहित होने चाहिये। उनके पत्नी बच्चो का खर्च वहन करना भारी पड़ेगा और वे इस जंजाल मे उलझे रहने की स्थिति मे कुछ अधिक काम भी न कर सकेंगे।

भारत मे रहकर भी विश्व-प्रसार के लिये बहुत बड़ा काम करने की आवश्यकता है। उन-उन देशों के उपयुक्त साहित्य का निर्माण, पत्र व्यवहार, भारत मे इस प्रयोजन के लिये उत्साह उत्पन्न करने वाला प्रचार, निर्यात किये जाने वाले साधनों की व्यवस्था जुटाना, प्रचारको के प्रशिक्षण की व्यवस्था, विदेशो से भारत आते रहने वाले सस्कृतिप्रेमियों का सम्पर्क, स्वागत एव सहयोग, अभीष्ट प्रयोजनों के लिये विविध विधि परिचय साहित्य का प्रस्तुतिकरण। इन प्रयोजनो के लिये दौड-धूप आदि-आदि अनेको कार्य ऐसे है, जिन्हे भारत में रहकर ही करना पड़ेगा। इसके लिये भी

आवश्यक व्यय तो चाहिये ही। उसे जुटाने का कोई साधन बन जाय तो समझना चाहिये कि आरम्भिक चरण पूरा हो गया। सग्रहीत रिपोर्ट के प्रकाशित होने पर विचारशील लोगो से कहा जा सकेगा कि तैयारी किस प्रकार की जानी है और उसके लिये क्या साधन जुटाये जाने है। सही सूचना उपलब्ध होने पर भारत का विचारशील और उदारवर्ग अवश्य ही उसका महत्व समझेगा और कार्य को आगे बढ़ाने के लिये योगदान देगा।

मोटी रूपरेखा यह है कि प्रवासी भारतीयों के सस्कृतिक पोषण के लिये हर देश की स्थिति के अनुसार उनकी वर्तमान मान्यताओ के साथ तालमेल बिठाता हुआ—वहाँ की प्रचलित भाषा में ऐसा साहित्य छापा जाना चाहिये, जो उनके वर्तमान ज्ञान को ऊँचा उठा सके और भारतीय तत्वज्ञान की विशेषताये, गरिमाये एवं उपयोगिताये उनके गले उतार सकें। अन्य धर्मावलम्बियो के तर्क और आधार आजकल बहुत विकसित हो चुके है, सामान्य बुद्धि को भली प्रकार प्रभावित करते हैं। उनकी तुलना मे हिन्दू धर्म के पक्ष में केवल घिसी-पिटी परम्पराये ही शेष है। विचार मंथन का प्रश्न जहाँ आता है वहाँ हिन्दू पिछड़ जाता है क्योकि इस प्रकार सोचा और बताया ही नही गया कि वह अपनी विशिष्टताओ को समझ सके और दूसरो को समझा सके। अपनी यथार्थ मान्यताओ एवं परम्पराओं को ही हम भूल गये है। मध्यकालीन अन्धकार युग की मूढ़ मान्यताये और विकृतियाँ हमारे पल्ले बँधी है। उन्ही को "हिन्दू-धर्म" कहा जाता है। इसमे भी इतने परस्पर विरोध मतान्तर है कि यह समझना कठिन पडता है कि वस्तुतः हिन्दू धर्म है क्या? उसकी गणित विरोधी मान्यताओ मे से कौन वास्तविक है और कौन अवास्तविक? इस संदर्भ मे कम से कम एक ग्रन्थ तो ऐसा होना चाहिये, जो भारतीय धर्म की महान परम्पराओं को शास्त्र प्रमाण ढंग से प्रस्तुत कर सके और एक सामान्य बुद्धि का हिन्दू समझ सके कि उसके सुविस्तृत शास्त्र समुद्र का सार क्या है? वह सार होना अपेक्षित है, जो आज की परिस्थितियों मे भी सार्वभौम-सार्वजनीन और सर्वकालनी कहा जा सके।

परमपूज्य गुरुदेव की अभिनव पाँच स्थापनाएँ

युगदृष्टा के स्तर की अवतारी सत्ता के रूप में परमपूज्य गुरुदेव ने अपने अस्सी वर्ष के जीवनकाल में जितना भी कुछ किया, उसकी मिसाल कहीं देखने को नहीं मिलती। करोड़ों व्यक्तियों के मनों का निर्माण, उनके सोचने के तरीके में बदलाव एवं युग निर्माण की पृष्ठभूमि बनाकर रख देने का कार्य इन्हीं के स्तर की सत्ता कर सकती थी, जो लाखों वर्षों में कभी-कभी धरती पर आती है। उनके द्वारा की गयी स्थापनाओं का जब प्रसंग आता है तब ईंट-गारे-चूने-सीमेंट से बने भवनों से पहले उनकी स्नेह-संवेदना से सिक्त हुए, ममत्व में स्नानकर उनके अपने हो गये लाखों व्यक्ति दिखाई पड़ते हैं, जिनने उनके एक इशारे पर अपना सब कुछ उनको अर्पित कर दिया। स्वतंत्रता संग्राम के दिनों में कभी ऐसा ही वातावरण भारत के कोने-कोने में दिखाई देता था, जब हर घर से सत्याग्रही निकलकर आ रहे थे। भावनाओं का आवेग चिरस्थायी नहीं रहता। वे ही लोग जो कभी राष्ट्र निर्माण के लिए अपना सब कुछ छोड़, पढ़ना-लिखना छोड़ देश को आजाद बनाने के लिए कूद पड़े थे, कभी गड़बड़ाने न पाएँ, उसी के लिए बापू ने आजादी के बाद काँग्रेस भंग कर देने व सभी को एक आदर्श स्वयं-सेवक की तरह दरिद्र नारायण का उत्थान कर राष्ट्र निर्माण में लग जाने की सलाह दी थी।

सभी इस तथ्य को जानते हैं कि ऐसा नहीं हुआ, राष्ट्र का कीर्ति-स्तम्भ रूपी वह महापुरुष भी एक वर्ष के अंदर ही शहादत को प्राप्त हो चला गया। गिने-चुने उनके आदर्शों पर चलने वाले रह गये, अवसरवादियों को राजनेतृत्व भाने लगा एवं राष्ट्र आजाद होकर भी उनके हाथ में आ गया जो ब्रिटिश तो नहीं थे किन्तु, उसी रंग में रँगे सत्ता के उन्माद में काम करने वाले शासक थे- सृजेता नहीं। जिंदा रहा तो मात्र बापू का दर्शन बुनियादी आधार पर टिका- मानव को बनाने का तंत्र-आश्रम तंत्र जो सेवाग्राम-साबरमती आश्रम के रूप में कार्य करता रहा और वह भी शौर्य-पुरुष के न रहने, बिनोबाजी के चले जाने के बाद अस्तित्व व महत्व की दृष्टि से गौण हो गया। परमपूज्य गुरुदेव ने अपनी दिव्य-दृष्टि से यह सब पूर्व में ही देख लिया था कि कोई भी भव्य निर्माण, आश्रम या तंत्र बनाने से पूर्व राष्ट्र को सांस्कृतिक, भौतिक, आध्यात्मिक आजादी दिलाने वाले अगणित व्यक्ति तैयार करने पड़ेंगे। १९११ में आज से ८४ वर्ष पूर्व वि.संवत् २०८६ में जन्मे, राष्ट्र की आजादी में उन्मत्त बने श्रीराममत्त कहलाने वाले, आचार्यश्री ने पहले स्वयं को तपाया, वैचारिक क्रान्ति के निर्माण का आधारभूत तंत्र स्वयं व परमवंदनीया माताजी के रूप में खड़ा किया, 'अखण्ड ज्योति' पत्रिका अपनी लेखनी से लिखी, ममत्व भरी चिट्ठियों व छोटी-छोटी एक आने की किताबों से जन-जन के मन को छुआ, तब जाकर अपने एक लक्ष के २४ गायत्री महापुरश्चरणों की पूर्णाहुति पर उन्होंने गायत्री तपोभूमि, मथुरा की स्थापना की बात १९५२-५३ में सोची। सबसे पहली मंत्र दीक्षा वहीं पर १९५३ में दी व यह मानते हुए कि बिना आध्यात्मिक आधार बनाये, मनोभूमि में, भावनाओं के स्तर पर बदलाव लाये कोई क्रान्ति सफल नहीं हो सकती, धीमी खुराक देते हुए हर व्यक्ति को गायत्री व यज्ञ के तत्त्वदर्शन से जोड़ते हुए चले गये। गायत्री परिवार रूपी विराट वृक्ष का मूल आधार वह स्थापना है जो जन-जन के मनों में पहले हुई- उनकी भाव संवेदनाओं के उदात्तीकरण के रूप में सम्पन्न हुई व उनके अंदर अपनी गुरुसत्ता को त्याग करने की, यज्ञीय जीवन अपनाने की प्रेरणा बलवती होने लगी। उन्होंने सर्वमेध के रूप में अपना सर्वस्व बलिदान एवं नरमेध के रूप में अपने आप को समाज के हित न्यौछावर करने की भावना से दो यज्ञ किये। अपनी जमींदारी के बाण्ड बेचकर एवं परमवंदनीया माताजी के कीमती सोने के जेवर (ढाई सौ तोले) बेचकर जो स्वेच्छा से सम्पन्न हुआ, एक स्थापना भवन के रूप में जो हुई- वह थी गायत्री तपोभूमि, मथुरा जो वृन्दावन रोड पर ऋषि दुर्वासा की जन्मस्थली पर बनी आज से ४२ वर्ष पूर्व १९५३ में। प्रारंभिक स्थापना यों अखण्ड ज्योति संस्थान को माना जा सकता है जहाँ अखण्ड दीपक अपनी जन्मभूमि आँवलखेड़ा से जो वहाँ से मात्र ४० मील दूर थी, स्थापित किया गया था एवं प्रारंभिक तप-तितिक्षा वहीं पर १९४१ से, तपोभूमि की स्थापना से भी १२ वर्ष पूर्व आरम्भ हो गयी थी। इस प्रकार जन-जन के मनों का निर्माण उनके अंतःस्थल में प्रवेश कर उनके अंदर देवत्व के जागरण की ललक पैदा करने वाली पृष्ठभूमि पर स्थापनाओं का क्रम बना। किराये की ऐसी हवेली जिसे भुतहा हवेली कहा

आत्मदानी ही चाहिये, वे गृहस्थ भी हो सकते हैं। उनका परिवार लम्बा और भार रूप न हो तो वे भी कुछ हाथ बँटा सकते है। ऐसी दशा में उनका भी स्वागत हो सकता है, पर जहाँ तक हो इस प्रकार के मिशनरी प्रयोजनों मे अविवाहित अथवा गृह निवृत वानप्रस्थ स्तर के लोग ही ठीक पड़ते हैं। शर्त यह है कि वे उपरोक्त प्रयोजन के लिये सुयोग्य हो, निर्लोभ हो और शारीरिक मानसिक दृष्टि से स्वस्थ रह रहे हो।

एक कार्य इतने पर भी शेष रह जायेगा वह है इस प्रयोजन के लिये अर्थव्यवस्था का जुटाया जाना। यो इन सब कार्यों को एक धनी भी अपने बलबूते पूरा कर सकता है और धर्म एवं संस्कृति की अत्यन्त महत्त्वपूर्ण आवश्यकता को भामाशाह की तरह एकांकी भी पूरा कर सकता है। यदि प्रयोजन की महत्ता समझी जाय तो अशोक के बुद्ध प्रतिपादित धर्म चक्र प्रवर्तन की और मान्धाता द्वारा शंकराचार्य के धर्म संस्थापन की पुण्य परम्परा को पुनर्जीवित करना किसी एक धनी व्यक्ति के लिये संभव हो सकता है। ऐसे सुसम्पन्न लोगो की भारत मे कमी नही है।

यदि एकाकी साहस न जुट सके तो कितने ही छोटे-छोटे सहयोगी मिलकर भी "कन-कन जोरे मन जुरे" "बूँद-बूँद से घट भरे" वाली उक्तियाँ चरितार्थ की जा सकती है। इसके लिये जन-सहयोग आमन्त्रित किया जा सकता है और यह बात सही रीति से, उपयुक्त व्यक्तियों को समझाई जा सके तो उसकी कुछ न कुछ पूर्ति भी हो सकती है। साधनो के अनुरूप कदम बढ़ाने की बात भी सोची जा सकती है। यों बड़े और दुस्साहस पूर्ण कदम ही बड़े प्रयोजन पूरे कर सकते हैं, पर वैसा न बन पड़े तो न कुछ से कुछ होना भी क्या बुरा है? किसी प्रकार, किसी कदर कुछ कदम तो हमें बढ़ाने ही पड़ेगे। शुभारम्भ श्रीगणेश तो करना ही होगा।

भगवान करे इस पुस्तक का लेखन और प्रकाशन इस प्रकार का उत्साह भारतीय जन-मानस में उत्पन्न करे जैसा कि भूतकाल में हमारे पूर्वजो द्वारा विश्व कल्याण के लिये उमगता-उफनता रहता था। इसी की सक्षिप्त-सी झाँकी प्रस्तुत पुस्तक में है। आशा की जानी चाहिये कि पाठक उससे कुछ ग्रहण करेंगे और सोचेगे कि उस पुण्य-परम्परा को पुनर्जीवित करने में अपनी स्थिति के अनुसार क्या कुछ सहयोग करना संभव है। *युग निर्माण योजना*, इस दिशा मे कुछ कदम उठाने जा रही है। आवश्यकता है इस प्रयास में अन्य कदम भी उठें और कन्धे से कन्धा मिलाकर इस उत्तरदायित्व का बोझ उठाने के लिये अनेक साहसी, भाव-सम्पदा से भरे-पूरे शूरवीर आगे आयें।

परमपूज्य गुरुदेव की अभिनव पाँच स्थापनाएँ

युगदृष्टा के स्तर की अवतारी सत्ता के रूप में परमपूज्य गुरुदेव ने अपने अस्सी वर्ष के जीवनकाल में जितना भी कुछ किया, उसकी मिसाल कहीं देखने को नहीं मिलती। करोड़ों व्यक्तियों के मनों का निर्माण, उनके सोचने के तरीके में बदलाव एवं युग निर्माण की पृष्ठभूमि बनाकर रख देने का कार्य इन्हीं के स्तर की सत्ता कर सकती थी, जो लाखों वर्षों में कभी-कभी धरती पर आती है। उनके द्वारा की गयी स्थापनाओं का जब प्रसंग आता है तब ईंट-गारे-चूने-सीमेंट से बने भवनों से पहले उनकी स्नेह-संवेदना से सिक्त हुए, ममत्व में स्नानकर उनके अपने हो गये लाखों व्यक्ति दिखाई पड़ते हैं, जिनने उनके एक इशारे पर अपना सब कुछ उनको अर्पित कर दिया। स्वतंत्रता संग्राम के दिनों में कभी ऐसा ही वातावरण भारत के कोने-कोने में दिखाई देता था, जब हर घर से सत्याग्रही निकलकर आ रहे थे। भावनाओं का आवेग चिरस्थायी नहीं रहता। वे ही लोग जो कभी राष्ट्र निर्माण के लिए अपना सब कुछ छोड़, पढ़ना-लिखना छोड़ देश को आजाद बनाने के लिए कूद पड़े थे, कभी गड़बड़ाने न पाएँ, उसी के लिए बापू ने आजादी के बाद काँग्रेस भंग कर देने व सभी को एक आदर्श स्वयं-सेवक की तरह दरिद्र नारायण का उत्थान कर राष्ट्र निर्माण में लग जाने की सलाह दी थी।

सभी इस तथ्य को जानते हैं कि ऐसा नहीं हुआ, राष्ट्र का कीर्ति-स्तम्भ रूपी वह महापुरुष भी एक वर्ष के अंदर ही शहादत को प्राप्त हो चला गया। गिने-चुने उनके आदर्शों पर चलने वाले रह गये, अवसरवादियों को राजनेतृत्व भाने लगा एवं राष्ट्र आजाद होकर भी उनके हाथ में आ गया जो ब्रिटिश तो नहीं थे किन्तु, उसी रंग में रँगे सत्ता के उन्माद में काम करने वाले शासक थे- सृजेता नहीं। जिंदा रहा तो मात्र बापू का दर्शन बुनियादी आधार पर टिका- मानव को बनाने का तंत्र-आश्रम तंत्र जो सेवाग्राम-साबरमती आश्रम के रूप में कार्य करता रहा और वह भी शीर्ष-पुरुष के न रहने, विनोबाजी के चले जाने के बाद अस्तित्व व महत्व की दृष्टि से गौण हो गया। परमपूज्य गुरुदेव ने अपनी दिव्य-दृष्टि से यह सब पूर्व में ही देख लिया था कि कोई भी भव्य निर्माण, आश्रम या तंत्र बनाने से पूर्व राष्ट्र को सांस्कृतिक, भौतिक, आध्यात्मिक आजादी दिलाने वाले अगणित व्यक्ति तैयार करने पड़ेंगे। १९११ में आज से ८४ वर्ष पूर्व वि.संवत् २०८६ में जन्मे, राष्ट्र की आजादी में उन्मत्त बने श्रीराममत्त कहलाने वाले, आचार्यश्री ने पहले स्वयं को तपाया, वैचारिक क्रान्ति के निर्माण का आधारभूत तंत्र स्वयं व परमवंदनीया माताजी के रूप में खड़ा किया, 'अखण्ड ज्योति' पत्रिका अपनी लेखनी से लिखी, ममत्व भरी चिट्ठियों व छोटी-छोटी एक आने की किताबों से जन-जन के मन को छुआ, तब जाकर अपने एक लक्ष के २४ गायत्री महापुरश्चरणों की पूर्णाहुति पर उन्होंने गायत्री तपोभूमि, मथुरा की स्थापना की बात १९५२-५३ में सोची। सबसे पहली मंत्र दीक्षा वहीं पर १९५३ में दी व यह मानते हुए कि बिना आध्यात्मिक आधार बनाये, मनोभूमि में, भावनाओं के स्तर पर बदलाव लाये कोई क्रान्ति सफल नहीं हो सकती, धीमी खुराक देते हुए हर व्यक्ति को गायत्री व यज्ञ के तत्वदर्शन से जोड़ते हुए चले गये। गायत्री परिवार रूपी विराट वृक्ष का मूल आधार वह स्थापना है जो जन-जन के मनों में पहले हुई- उनकी भाव संवेदनाओं के उदात्तीकरण के रूप में सम्पन्न हुई व उनके अंदर अपनी गुरुसत्ता को त्याग करने की, यज्ञीय जीवन अपनाने की प्रेरणा बलवती होने लगी। उन्होंने सर्वमेध के रूप में अपना सर्वस्व बलिदान एवं नरमेध के रूप में अपने आप को समाज के हित न्यौछावर करने की भावना से दो यज्ञ किये। अपनी जमींदारी के बाण्ड बेचकर एवं परमवंदनीया माताजी के कीमती सोने के जेवर (ढाई सौ तोले) बेचकर जो स्वेच्छा से सम्पन्न हुआ, एक स्थापना भवन के रूप में जो हुई- वह थी **गायत्री तपोभूमि, मथुरा** जो वृन्दावन रोड पर ऋषि दुर्वासा की जन्मस्थली पर बनी आज से ४२ वर्ष पूर्व १९५३ में। प्रारंभिक स्थापना यों अखण्ड ज्योति संस्थान को माना जा सकता है जहाँ अखण्ड दीपक अपनी जन्मभूमि आँवलखेड़ा से जो वहाँ से मात्र ४० मील दूर थी, स्थापित किया गया था एवं प्रारंभिक तप-तितिक्षा वहीं पर १९४१ से, तपोभूमि की स्थापना से भी १२ वर्ष पूर्व आरम्भ हो गयी थी। इस प्रकार जन-जन के मनों का निर्माण उनके अंतःस्थल में प्रवेश कर उनके अंदर देवत्व के जागरण की ललक पैदा करने वाली पृष्ठभूमि पर स्थापनाओं का क्रम बना। किराये की ऐसी हवेली जिसे भुतहा हवेली कहा

जाता था, में अखण्ड दीपक की स्थापना, उसके समक्ष तप, **अखण्ड ज्योति संस्थान, घीयामण्डी, मथुरा** के रूप में विकसित हुआ एवं एक और दूसरा निर्माण मथुरा में ही गायत्री तपोभूमि के रूप में हुआ जो कि ३ मील दूर वृन्दावन रोड पर १९५३ में बनाई गई। १९५३ में क्रमशः सुसंगठित गायत्री परिवार के बनने की प्रक्रिया चल पड़ी।

इस प्रारंभिक भूमिका को समझने के बाद ही परमपूज्य गुरुदेव की पाँच मूल स्थापनाओं एवं बाद में देश के कोने-कोने में बनी भव्य इमारतों के रूप में शक्तिपीठों, प्रज्ञा संस्थानों, भारत व विश्वभर में घर-घर में स्थापित स्वाध्याय मण्डलों व गायत्री परिवार की शाखाओं, प्रज्ञापीठों, चरणपीठों का महत्त्व समझा जा सकता है। नहीं तो जैसे अन्यान्य आश्रम-संस्थान बनते हैं, ऐसे इनका भी वर्णन किया जा सकता था व यह कहा जा सकता था कि यह वैभवपूर्ण स्थापनाएँ पूज्यवर ने कीं। उनमें यदि प्राण फूँके गये हों, प्राणवान व्यक्ति वहाँ रहते हों व उस शक्ति के महा-अवसान के बाद भी वे सतत् उसी दिशा में चल रहे हों तो माना जाना चाहिए कि प्रारंभिक पुरुषार्थ जो किया गया, वह औचित्यपूर्ण था।

परमपूज्य गुरुदेव की महत्त्वपूर्ण पाँच स्थापनाएँ इस प्रकार हैं—

(१) युगतीर्थ आँवलखेड़ा (२) अखण्ड ज्योति संस्थान, घीयामण्डी, मथुरा (३) गायत्री तपोभूमि, मथुरा (४) शान्तिकुंज, गायत्री तीर्थ, सप्तसरोवर, हरिद्वार तथा (५) ब्रह्मवर्चस शोध संस्थान, सप्तसरोवर, हरिद्वार।

युगतीर्थ आँवलखेड़ा का नाम सबसे पहले इसलिए लिखा कि यहीं पर वह युगपुरुष संवत् १९६८ की आश्विन कृष्ण त्रयोदशी तिथि के दिन, ब्राह्ममुहूर्त में, जो अँग्रेजी तारीख से २० सितम्बर, १९११ के दिन आती थी, में जन्मा। एक श्रीमंत ब्राह्मण परिवार में, जहाँ धन की कोई कमी नहीं थी, पूरा परिवार संस्कारों से अनुप्राणित, पिता भागवत के प्रकाण्ड पंडित, बहुत बड़ी जागीर के मालिक। आज जहाँ पूज्यवर की स्मृति में एक विराट स्तंभ की, एक चबूतरे की तथा उनके कर्तृत्व रूपी शिलालेखों की स्थापना हुई है- वहीं पूज्यवर ने शरीर से जन्म लिया था। समीप बनी दो कोठरियाँ जो काल प्रवाह के क्रम में गिर सी गयी थीं, जीर्णोद्धार कर वैसी ही निर्मित कर दी गयी हैं- जैसी उनके समय में थीं। जन्मभूमि का कण-कण उस दैवीसत्ता की चेतना से अनुप्राणित है। उनके हाथ से खोदा कुँआ जिसे पूरे गाँव का एकमात्र मीठे जल वाला कुँआ माना गया- वह अभी भी है, उनके हाथ से रोपा नीम का पेड़ एवं वह बैठक जहाँ स्वतंत्रता संग्राम के दिनों में सब बैठकर चर्चा करते थे, आज भी उन दिनों की याद दिलाते हैं। पास में ही दो कोठरियाँ हैं जिनमें से एक कक्ष में वह स्थान है जहाँ दीपक के प्रकाश में से सूक्ष्म शरीरधारी गुरुसत्ता प्रकट हुई थी तथा जिसने उनके जीवन की दिशाधारा का १९२६ के बाद के क्रम का निर्धारण कर दिया था। यह सब देखकर मस्तिष्क-पटल पर वह दृश्य उभर आता था, जिसे गुरुसत्ता ने कभी देखा था व जो गायत्री परिवार की स्थापना का मूल आधार बना। आँवलखेड़ा में ही उनकी माताजी की स्मृति में स्थापित माता दानकुँवरि इण्टर कालेज है जो उनके द्वारा दान दी गयी जमीन में प्रदत्त धनराशि द्वारा विनिर्मित है। १९६३ से चल रहे इस इंटर कालेज से कई मेधावी छात्र निकल कर आत्म-निर्भर बने हैं व उच्च पदों पर पहुँचे हैं।

१९७९-८० में गायत्री शक्तिपीठ एवं कन्या इंटर कॉलेज की स्थापना का ताना-बाना बुना जाने लगा जो एक विशाल शक्तिपीठ तथा आसपास के दो सौ ग्रामों की बालिकाओं के पठन-पाठन की व्यवस्था करने वाले, उन्हें सुशिक्षित, संस्कारवान, आत्मावलम्बी बनाने वाले कन्या महाविद्यालय का अब रूप ले चुका है। प्रथम पूर्णाहुति हेतु इसी भूमि को जो शक्तिपीठ-जन्मभूमि-ग्रामीण क्षेत्र के चारों ओर है, इसीलिए चुना गया कि यहाँ से उद्‌भूत प्राण ऊर्जा से यहाँ आने वाला हर संकल्पित साधक अनुप्राणित होकर जाए व राष्ट्र के नव-निर्माण की सांस्कृतिक व भावनात्मक क्रान्ति की पृष्ठभूमि रख सके। यहाँ पूज्यवर १९३६-३७ तक ही रहे, कुछ दिन आगरा रहकर १९४०-४१ में मथुरा चले गये, जहाँ दो-तीन मकान बदलने के बाद वर्तमान मकान किराये पर लिया जिसे आज अखण्ड-ज्योति संस्थान कहते हैं।

अखण्ड ज्योति संस्थान, घीयामण्डी, मथुरा में स्थित है। परमपूज्य गुरुदेव सीमित साधनों में अपने अखण्ड दीपक के साथ यहीं रहने लगे एवं यहीं से क्रमशः आत्मीयता विस्तार की जन-जन तक अपने क्रान्तिकारी चिंतन के विस्तार की प्रक्रिया 'अखण्ड ज्योति' पत्रिका, जो आगरा से ही आरम्भ कर दी गयी थी, की 'गायत्री चर्चा' स्तम्भ व अन्यान्य लेखों की पंक्तियों के माध्यम से सम्पन्न होने लगी। व्यक्तिगत पत्रों द्वारा उनके अंतःस्थल को स्पर्श कर एक महान स्थापना का बीजारोपण होने लगा। यहीं पर अगणित दुःखी, तनावग्रसित

व्यक्तियों ने आकर उनके स्पर्श से नये प्राण पाये तथा उनके व परमवंदनीया माताजी के हाथों से भोजन-प्रसाद पाकर उनके अपने होते चले गये। हाथ से बने कागज पर छोटी ट्रेडिल मशीनों द्वारा यहीं पर अखण्ड ज्योति पत्रिका छापी जाती थी व छोटी-छोटी किताबों द्वारा लागत मूल्य पर उसे निकालने योग्य खर्च निकलता था। बगल की एक छोटी-सी कोठरी में जहाँ अखण्ड दीपक जलता था, आज पूजाघर विनिर्मित है। पूरी बिल्डिंग को खरीद कर उनके सुपुत्र ने एक नया आकार व मजबूत आधार दे दिया है किन्तु यह कोठरी अंदर से वैसी ही रखी गयी है जैसी पूज्यवर के समय में १९४२-४३ में रही होगी। तब से लेकर आगामी ३० वर्ष का साधनाकाल-लेखनकाल पूज्यवर का इसी घीयामण्डी के भवन में छोटी-छोटी दो कोठरियों में गहन तपश्चर्या के साथ बीता। तपोभूमि निर्माण की पृष्ठभूमि यहीं बनी, १९५८ में सहस्र कुण्डी यज्ञ की आधारशिला यहीं रखी गयी, यहीं सारी योजना बनी एवं विधिवत-गायत्री परिवार बनता चला गया। रोज आने वाले पत्रों को स्वयं परमवंदनीया माताजी पढ़ती जातीं एवं पूज्यवर इतनी ही देर में जवाब लिखते जाते, यही सूत्र संबंधों के सुदृढ़ बनने का आधार बना। हर परिजन को तीन दिन में जवाब मिल जाता, शंका-समाधान होता चला जाता एवं देखते-देखते एक विराट गायत्री परिवार बनता चला गया। गायत्री महाविज्ञान के तीनों खण्ड, युग निर्माण परक साहित्य, आर्ष-ग्रन्थों के भाष्य को अंतिम आकार देने का कार्य यहीं सम्पन्न हुआ। जनसम्मेलनों, छोटे-बड़े यज्ञों एवं १००८ कुण्डी पाँच विराट् यज्ञों में पूज्यवर यहीं से गये एवं विदाई सम्मेलन की रूपरेखा बनाकर स्थायी रूप से इस घर से १९७१ की २० जून को विदा लेकर चले गये। इस संस्थान के कण-कण में जहाँ आज १० लाख से अधिक संख्या में हिन्दी सहित सभी भाषाओं में अखण्ड ज्योति पत्रिका के प्रकाशन, विस्तार, डिस्पैच आदि का एक विराट तंत्र स्थापित है, परमपूज्य गुरुदेव की चेतना संव्याप्त अनुभव की जा सकती है। भले ही बहिरंग का कलेवर बदल गया हो, अंदर प्रवेश करते ही परमपूज्य गुरुदेव व परमवंदनीया माताजी की सतत विद्यमान प्राणचेतना के स्पन्दन वहाँ विद्यमान हैं, यह प्रत्यक्षतः देखा जा सकता है।

गायत्री तपोभूमि, मथुरा को परमपूज्य गुरुदेव की चौबीस महापुरश्चरणों की पूर्णाहुति पर की गयी स्थापना माना जा सकता है, जिसे विनिर्मित ही गायत्री परिवार रूपी संगठन के विस्तार के लिए किया गया था। इसकी स्थापना से पूर्व चौबीस सौ तीर्थों के जल व रज को संग्रहीत करके यहाँ उनका पूजन किया गया, एक छोटी किन्तु भव्य यज्ञशाला में अखण्ड अग्नि स्थापित की गयी तथा एक गायत्री महाशक्ति का मन्दिर विनिर्मित किया गया। चौबीस सौ करोड़ गायत्री मंत्रों का लेखन जो श्रद्धापूर्वक नैष्ठिक साधकों द्वारा किया गया था, यहाँ पर संरक्षित कर रखा गया है। पू. गुरुदेव की साधनास्थली व प्रातःकाल की लेखनी की साधना की कोठरी यदि अखण्ड ज्योति संस्थान में थी तो उनकी जन-जन से मिलने, साधनाओं द्वारा मार्गदर्शन देने की कर्म-भूमि गायत्री तपोभूमि थी। यहीं पर १०८ कुण्डी गायत्री महायज्ञ में १९५३ में पहली बार पूज्यवर ने साधकों को मंत्र दीक्षा दी। यहीं पर १९५६ में नरमेध यज्ञ तथा १९५८ में विराट सहस्रकुण्डी यज्ञायोजन सम्पन्न हुए। श्रेष्ठ नररत्नों का चयन कर गायत्री परिवार को विनिर्मित करने का कार्य यहीं व्यक्तिगत मार्गदर्शन द्वारा सम्पन्न हुआ। हिमालय प्रवास से लौटकर पूज्य आचार्यश्री ने युग निर्माण योजना के शत-सूत्री कार्यक्रम एवं सत्संकल्प की तथा युग निर्माण विद्यालय के एक स्वावलम्बन प्रधान शिक्षा देने वाले तंत्र के आरम्भ होने की घोषणा की। यह विधिवत् १९६४ से आरम्भ किया गया एवं अभी भी सफलतापूर्वक चल रहा है। जिस कक्ष में परमपूज्य गुरुदेव सभी से मिला करते थे, अभी भी यहाँ देखा जा सकता है। भव्य निर्माण परमपूज्य गुरुदेव की १९७१ की विदाई के बाद यहाँ हो गया है किन्तु, कण-कण में उनकी प्राणचेतना का दर्शन किया जा सकता है। विराट प्रज्ञानगर, युग निर्माण विद्यालय, साहित्य की छपाई हेतु बड़ी-बड़ी ऑफसेट मशीनें तथा युग निर्माण साहित्य जो पूज्यवर ने जीवन भर लिखा, उसका वितरण-विस्तार तंत्र यहाँ पर देखा जा सकता है।

शान्तिकुंज, हरिद्वार ऋषि परम्परा के बीजारोपण केन्द्र के रूप में १९७१ में स्थापित किया गया था, जब परमपूज्य गुरुदेव मथुरा स्थायी रूप से छोड़कर परमवंदनीया माताजी को अखण्ड ज्योति दीपक की रखवाली हेतु यहाँ छोड़कर हिमालय में चले गये। गुरुसत्ता के निर्देश पर वे पुनः एक वर्ष बाद लौटे व तब शांतिकुंज को उनने एक बड़ा विराट रूप देने, सभी ऋषिगणों की मूलभूत स्थापनाओं को यहाँ साकार बनाने का निश्चय किया। इससे पूर्व परमवंदनीया माताजी ने २४ कुमारी कन्याओं के साथ अखण्ड दीपक के समक्ष २४० करोड़

गायत्री मंत्र का अखण्ड अनुष्ठान आरंभ कर दिया था। पूज्यवर ने प्राण प्रत्यावर्तन सत्र, जीवन साधना सत्र, वानप्रस्थ सत्र आदि के माध्यम से विभिन्न क्षेत्र में सक्रिय कार्य करने वाले कार्यकर्त्ता यहीं गढ़े। यह सत्र शृंखला कल्प साधना, संजीवनी साधना सत्रों के रूप में तब से ही ९ दिवसीय सत्रों व एक माह के युग शिल्पी प्रशिक्षण सत्रों के रूप में चल रही है, अभी भी अनवरत उसमें आने वालों का ताँता लगा रहता है। पहले से ही सब अपनी बुकिंग इसमें करा लेते हैं।

शांतिकुंज को गायत्री तीर्थ का रूप देकर सप्तऋषियों की मूर्तियों की स्थापना १९७८-७९ में की गयी, एक देवात्मा हिमालय विनिर्मित किया गया एवं यहाँ सभी संस्कारों को सम्पन्न करते रहने का क्रम बन गया जो सतत् चल रहा है। नित्य यहाँ दीक्षा, पुंसवन, नामकरण, विद्यारम्भ, यज्ञोपवीत, विवाह, श्राद्ध-तर्पण आदि संस्कार सम्पन्न होते हैं। इस बीच परमवंदनीया माताजी ने जागरण सत्र शृंखलाएँ सम्पन्न करना आरम्भ रखा। देव कन्याओं को प्रशिक्षित कर पूरे भारत में जीप टोलियों में भेजा गया। इनके माध्यम से तीन वर्ष तक भारत के कोने-कोने में तुमुलनाद होता रहा।

शांतिकुंज का गायत्री नगर जो आज एक विराट स्थापना के रूप में, एक एकेडमी के रूप में नजर आता है व जिसमें एक बार में एक साथ दस हजार व्यक्ति एक साथ ठहर सकते हैं, १९८१-८२ में बनना आरम्भ हुआ । विलक्षण, दुर्लभ जड़ी-बूटियों के पौधे यहाँ लगाये गये तथा प्रखर प्रज्ञा-सजल श्रद्धा रूपी तीर्थस्थली का पूज्यवर ने अपने सामने निर्माण कराया। यहीं उनके निर्देशानुसार उनके शरीर छोड़ने पर दोनों सत्ताओं को अग्नि समर्पित की जानी थी। स्वावलम्बन विद्यालय से लेकर एक विशाल चौके का निर्माण एवं गायत्री विद्यापीठ से लेकर भारत के सभी सरकारी विभागों के प्रशिक्षण के तंत्र की स्थापना यहाँ पर की गयी है एवं यह एक जीता-जागता तीर्थ अब बन गया है, जहाँ पर उज्ज्वल भविष्य की पूर्व झलक देखी जा सकती है कम्प्यूटरों से सज्जित विशाल कार्यालय से लेकर पत्राचार विद्यालय जहाँ नित्य हजारों पत्रों के द्वारा पूरे तंत्र क मार्गदर्शन किया जाता है, यहाँ की विशेषता है।

ब्रह्मवर्चस शोध संस्थान परमपूज्य गुरुदेव की अभिनव पाँचवीं स्थापना है, जहाँ पर विज्ञान औ अध्यात्म के समन्वय का अभिनव शोध कार्य चल रहा है। इसे १९७१ की गायत्री जयंती पर आरम्भ किया गय था। वर्तमान शांतिकुंज- गायत्री तीर्थ से आधा किलोमीटर दूरी पर गंगातट पर स्थित यह संस्थान अपनी आकर्षक बनावट के कारण सहज ही सबके मनों को मोहकर आमंत्रित करता रहता है। इसमें तीन मंजिलों में प्रथम तल पर एक विज्ञान के उपकरणों से सुसज्जित यज्ञशाला विनिर्मित है तथा चौबीस कक्षों में गायत्री महाशक्ति की चौबीस मूर्तियाँ बीजमंत्रों व उनकी फलश्रुतियों सहित स्थापित हैं। द्वितीय तल पर एक वैज्ञानिक प्रयोगशाला है, जहाँ ऐसे उपकरण स्थापित हैं जो यह जाँच-पड़ताल करते हैं कि साधना से पूर्व व पश्चात्, यज्ञादि मंत्रोच्चारण के पूर्व व पश्चात् क्या-क्या परिवर्तन शरीर-मन की गतिविधियों व रक्त आदि संघटकों में देखने में आये। इनके आधार पर साधकों को साधना संबंधी परामर्श दिया जाता है। यहाँ पर वनौषधियों का विश्लेषण भी किया जाता है तथा यज्ञ ऊर्जा-मंत्र शक्ति का क्या प्रभाव साधक की मस्तिष्कीय तरंगों, जैव विद्युत आदि पर पड़ा, यह देखा जाता है। विभिन्न प्रकार के मनोवैज्ञानिक परीक्षण भी यहाँ किये जाते हैं। तृतीय तल पर एक विशाल ग्रंथागार स्थापित है, जहाँ विश्वभर के शोध प्रबंध वैज्ञानिक अध्यात्मवाद पर एकत्रित किये गये हैं। यहाँ प्रायः ४५००० से अधिक ग्रंथ हैं, जिनमें कई पुरातन पाण्डुलिपियाँ हैं। यह अपने आप में एक अनूठा संकलन है जो और कहीं एक साथ देखने में नहीं मिलता।

परमपूज्य गुरुदेव की उपरोक्त पाँच स्थापनाएँ किसी को भी यह परिचय दे सकती हैं कि किस विलक्षण दृष्टास्तर की वह महासत्ता थी जो हम सबके बीच अपना लीली संदोह रचकर चली गयी। प्रत्यक्ष तो यह केन्द्रीय पाँच स्थापनाएँ नजर आती हैं किन्तु ४८०० से अधिक अपने भवनों वाले प्रज्ञा संस्थान ४०००० से अधिक प्रज्ञामण्डल व स्वाध्याय मण्डल तथा अगणित गायत्री परिवार की शाखाएँ यदि इनमें मिलाई जाएँ तो इनका मूल्य राशि में आँका नहीं जा सकता। यही वह सब है जो उस महापुरुष को एक अवतारी स्तर की सत्ता के रूप में प्रतिष्ठापित करता है व जिसके कर्तृत्व पर श्रद्धावनत होने का मन करता है। ☐☐☐

पं. श्रीराम शर्मा आचार्य का जीवनदर्शन : समग्र वाङ्मय

परमपूज्य गुरुदेव पं. श्रीराम शर्मा आचार्य ने जीवन भर जो अपनी लेखनी से लिखा, औरों को प्रेरित कर उनसे सृजनात्मक लेखन करवाया, पुस्तकों-पत्रिकाओं में जो प्रकाशित हुआ, समय-समय पर उनने अमृतवाणी के माध्यम से जो विचारों की अभिव्यक्ति की, विचारसार व सूक्तियाँ जो वे लिख गये या अनायास कभी कह गये तथा पत्रों के माध्यम से जो अंतरंग स्पर्श जन-जन को दिया, वह समग्र इस वाङ्मय के खण्डों में है । जिनके नाम इस प्रकार है :-

१. युगद्रष्टा का जीवन-दर्शन समग्र वाङ्मय का परिचय
२. जीवन देवता की साधना-आराधना
३. उपासना-समर्पण योग
४. साधना पद्धतियों का ज्ञान और विज्ञान
५ साधना से सिद्धि-१
६. साधना से सिद्धि-२
७. प्रसुप्ति से जाग्रति की ओर
८. ईश्वर कौन है, कहाँ है, कैसा है ?
९. गायत्री महाविद्या का तत्वदर्शन
१०. गायत्री साधना का गुह्य विवेचन
११. गायत्री साधना के प्रत्यक्ष चमत्कार
१२. गायत्री की दैनिक एवं विशिष्ट अनुष्ठान-परक साधनाएँ
१३. गायत्री की पंचकोशी साधना एवं उपलब्धियाँ
१४. गायत्री साधना की वैज्ञानिक पृष्ठभूमि
१५ सावित्री, कुण्डलिनी एवं तंत्र
१६. मरणोत्तर जीवन : तथ्य एवं सत्य
१७. प्राणशक्ति : एक दिव्य विभूति
१८. चमत्कारी विशेषताओं से भरा मानवी मस्तिष्क
१९. शब्द ब्रह्म-नाद ब्रह्म
२०. व्यक्तित्व विकास हेतु उच्चस्तरीय साधनाएँ
२१. अपरिमित संभावनाओं का आगार मानवी व्यक्तित्व
२२. चेतन, अचेतन एवं सुपर चेतन मन
२३. विज्ञान और अध्यात्म परस्पर पूरक
२४. भविष्य का धर्म : वैज्ञानिक धर्म
२५. यज्ञ का ज्ञान-विज्ञान
२६. यज्ञ : एक समग्र उपचार प्रक्रिया
२७. युग-परिवर्तन कैसे और कब ?
२८. सूक्ष्मीकरण एवं उज्ज्वल भविष्य का अवतरण-१
२९. सूक्ष्मीकरण एवं उज्ज्वल भविष्य का अवतरण-२ (सतयुग की वापसी)
३०. मर्यादा पुरुषोत्तम राम
३१. संस्कृति-संजीवनी श्रीमद्भागवत एव गीता
३२. रामायण की प्रगतिशील प्रेरणाएँ
३३. षोडश संस्कार विवेचन
३४. भारतीय संस्कृति के आधारभुत तत्त्व
३५. समस्त विश्व को भारत के अजस्र अनुदान
३६. धर्मचक्र प्रवर्तन एवं लोकमानस का शिक्षण
३७. तीर्थ सेवन : क्यों और कैसे ?
३८. प्रज्ञोपनिषद्
३९. नीरोग जीवन के महत्त्वपूर्ण सूत्र
४०. चिकित्सा उपचार के विविध आयाम
४१. जीवेम शरदः शतम्
४२. चिरयौवन एवं शाश्वत सौन्दर्य
४३. हमारी संस्कृति : इतिहास के कीर्ति स्तम्भ
४४. मरकर भी अमर हो गये जो
४५. सास्कृतिक चेतना के उन्नायक : सेवाधर्म के उपासक
४६. भव्य समाज का अभिनव निर्माण
४७. यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते, रमन्ते तत्र देवता
४८. समाज का मेरुदण्ड सशक्त परिवार तंत्र
४९. शिक्षा एवं विद्या
५०. महापुरुषों के अविस्मरणीय जीवन प्रसंग-१
५१. महापुरुषों के अविस्मरणीय जीवन प्रसंग-२
५२. विश्व वसुधा जिनकी सदा ऋणी रहेगी
५३. धर्मतत्त्व का दर्शन व मर्म
५४. मनुष्य में देवत्व का उदय
५५. दृश्य जगत् की अदृश्य पहेलियाँ
५६. ईश्वर विश्वास और उसकी फलश्रुतियाँ
५७. मनस्विता प्रखरता और तेजस्विता
५८. आत्मोत्कर्ष का आधार- ज्ञान
५९. प्रतिगामिता का कुचक्र ऐसे टूटेगा
६०. विवाहोन्माद : समस्या और समाधान
६१. गृहस्थ : एक तपोवन
६२. इक्कीसवीं सदी : नारी सदी
६३. हमारी भावी पीढ़ी और उसका नवनिर्माण
६४. राष्ट्र समर्थ और सशक्त कैसे बने ?
६५. सामाजिक, नैतिक एवं बौद्धिक क्रान्ति कैसे ?
६६. युग निर्माण योजना-दर्शन, स्वरूप व कार्यक्रम
६७. प्रेरणाप्रद दृष्टान्त
६८. पूज्यवर की अमृतवाणी (भाग एक)
६९. विचारसार एवं सूक्तियाँ (प्रथम खण्ड)
७०. विचारसार एवं सूक्तियाँ (द्वितीय खण्ड)

वाङ्मय के आगे प्रकाशित होने वाले ३८ खण्ड निम्न विषयों पर होंगे—

७१. मनोविकारों की मनोवैज्ञानिक पृष्ठभूमि
७२. तनाव के कारण एवं उनके निवारण के उपाय
७३ चिन्तन का विधेयात्मक-निषेधात्मक स्वरूप
७४. पुरुषार्थ और मानवी जिजीविषा
७५. संकल्प बल का अनूठा प्रभाव
७६. बाल-विकास के विविध सोपान
७७. बाल मनोविज्ञान का सही उपयोग
७८ पारिवारिकता में सुसस्कारों का योगदान
७९ पारिवारिक पंचशील और परिवार-निर्माण
८० व्यक्तित्व के विकास की प्रक्रिया
८१ विचार-विज्ञान का महत्त्व
८२. सामाजिक समस्याएँ और उनका समाधान
८३. समाज-निर्माण के विभिन्न चरण
८४. सामाजिक जीवन मे सद्गुणों की भूमिका
८५ नर-नारी की सामान्य समस्याएँ और उनका समाधान
८६. नारी जागृति की बाधाएँ एवं उनके निराकरण के उपाय
८७ पारिवारिक जीवनः एक तप-साधना
८८. दाम्पत्य जीवन के संयुक्त दायित्व
८९. नीति-विज्ञान और नैतिकता
९० कृषि, व्यवसाय और उद्योग की उन्नति के आधार
९१. पूज्य गुरुदेव के स्फुट विचार
९२. पूज्यवर की अमृतवाणी-२
९३. पूज्य गुरुदेव की दिव्य अनुभूतियाँ
९४. पूज्य गुरुदेव के लिखे स्मरणीय पत्र
९५. तंत्र महाविज्ञान विवेचन
९६. मंत्र महाविज्ञान विवेचन
९७. महापुरुषो के प्रेरक जीवन-प्रसंग
९८. प्रेरणाप्रद कथा एव गाथाएँ
९९. हृदयस्पर्शी विविध कथाएँ
१००. शान्तिकुंज का प्रज्ञा अभियान
१०१. युग निर्माण मिशन का क्रमिक इतिहास
१०२. वेद-सार-चिन्तन
१०३. पुराण-शोध-सार
१०४. उपनिषद् और आरण्यकों की दार्शनिक विषयवस्तु
१०५ काव्य-गीत-मंजूषा
१०६. मिशन के रचनात्मक कार्यक्रमों का क्रमिक इतिहास
१०७ मिशन की लोक-व्यवहार संहिता
१०८. गुरुदेव की अपने आत्मीय जनो से अपनी बातें

□□□